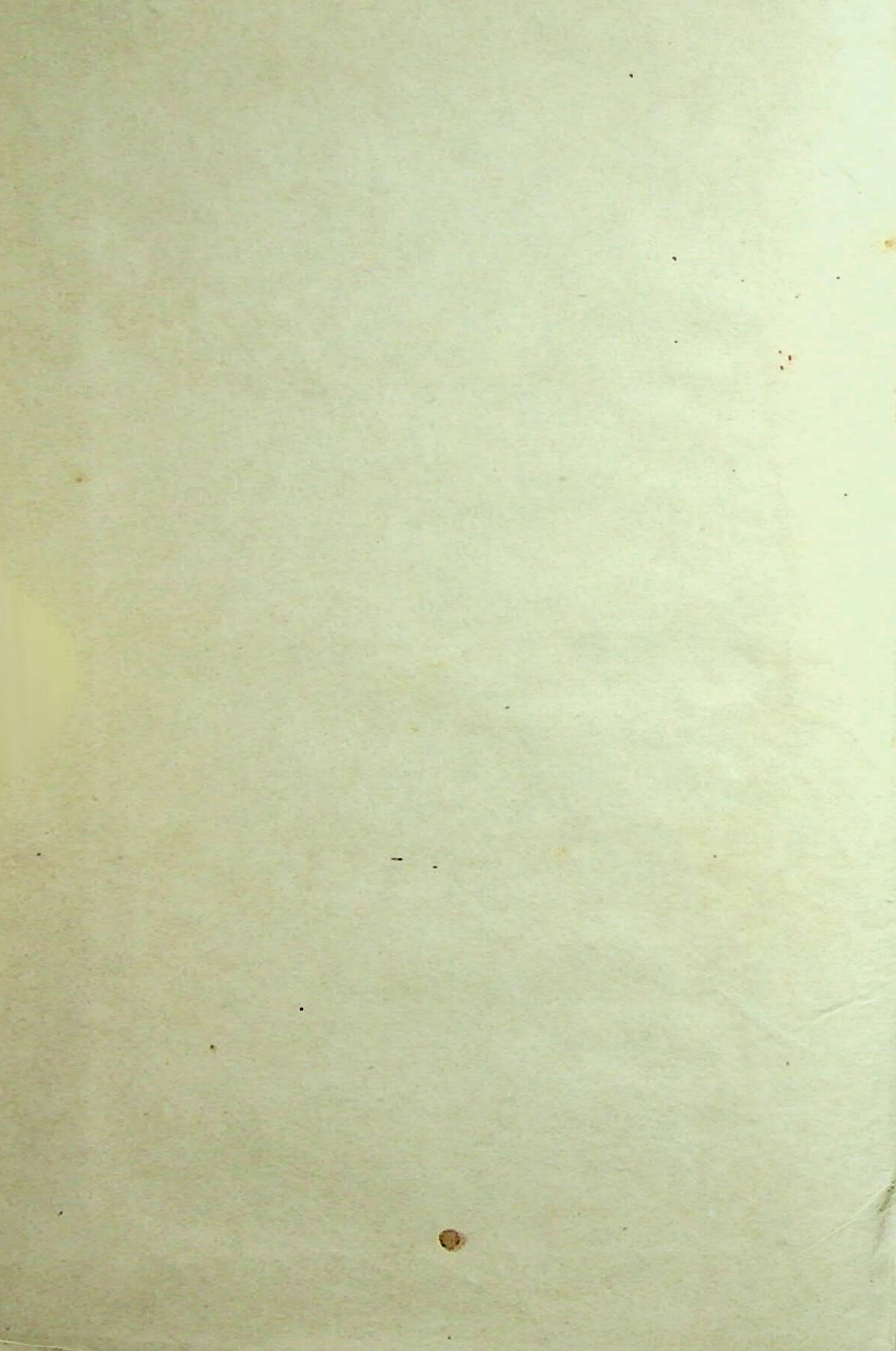


श्री शिवनाथ झारखंडी





भारतीय ज्योतिष

हिन्दी समिति ग्रन्थमाला – ९

भारतीय ज्योतिष

[स्वर्गीय श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित की मराठी पुस्तक का अनुवाद]

●

अनुवादक

श्री शिवनाथ झारखण्डी

●



उत्तर प्रदेश शासन

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन

महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ

● प्रथम संस्करण १९५७
● द्वितीय संस्करण १९६३
● तृतीय संस्करण १९७५

● मूल्य
आठ रुपये

● मुद्रक
विक्रम प्रिंटर्स, इलाहाबाद

प्रकाशक की ओर से

भारतीय विद्याविशारद अपने भूमण्डल की अपेक्षा बाहर के लोक-लोकान्तरों के चिन्तन-मनन में अधिक संलग्न रहे हैं। वे यह निर्णय कर चुके थे कि हमारी भौतिक गति-विधि, उत्पादन-क्रिया और जीवन-व्यापार कहीं अन्यत्र से नियमित होते हैं। उन्होंने एक ऋतुचक्र के बीच द्वादश स्थितियों में सूर्य को देखा, सत्ताईस नक्षत्ररूपी पत्नियों के समीप धावमान चन्द्रमा को निहारा और बृहस्पति के पाँच भचक्रों के भीतर साठ संवत्सर मानकर पंचवर्षात्मक युग निर्धारित किया। उन्होंने यह अनुभव देव की स्तुतियों में पिरो कर शिष्यों को सुना दिया और स्वयं "वेदांगज्योतिष" जैसे सूत्र-निबन्धों के अन्तर्गत काल-निर्धारण की सूक्ष्म व्याख्या करने लगे। यह सभ्यता के प्रथम युग का वृत्तान्त है। आगे चलकर पारस्परिक सम्पर्क से ज्ञान का व्यापक प्रसार हुआ और दजला-फरात की घाटी के निवासियों ने भी उक्त अनुभव को निरख-परखकर उपयोगी काल-विभाजन चलाया। स्पष्ट है, भारतीय चिन्तन इनका पूर्ववर्ती था।

कालान्तर में इस देश के चिन्तक कुछ और ऊँचे अज्ञात तत्व के अन्वेषण में लगे और इने-गिने विद्वान् ही ज्योतिषीय परम्परा के निर्वाहक रह गये। यही नहीं, क्रमशः इधर आकर स्थिति यहाँ तक शोचनीय हो गयी कि वराहमिहिर, भास्कराचार्य जैसे एक-दो नामों के सिवा विख्यात प्राचीन ज्योतिर्विदों के ग्रन्थों, सिद्धान्तों और ग्रह-गणितीय चमत्कारों से हम अनभिज्ञ रह गये। यह आक्षेप होने लगा कि भारतीय ज्योतिष में मौलिकता नहीं है और वह यूनान का आभारी है।

ऐसी अनेक भ्रमात्मक धारणाओं का निराकरण करने के लिए ही स्वर्गीय श्री बालकृष्ण शंकर दीक्षित ने मराठी भाषा में **"भारतीय ज्योतिष शास्त्रा चा इतिहास आणि परिचय"** नामक विख्यात ग्रन्थ लिखा। जब यह ग्रन्थ पहले पहल मराठी में प्रकाशित हुआ तो इसमें संगृहीत प्राचीन ज्योतिष की बहुमूल्य और प्रचुर सामग्री से विद्वान् आश्चर्यचकित रह गये। इसमें संकलित विविध ज्योतिष-ग्रंथों की चर्चा और विवेचन ने एक नयी आधार-भूमि प्रस्तुत की।

उत्तर प्रदेश शासन की हिन्दी समिति ने मराठी के इस अप्रतिम ज्ञानवर्धक ज्योतिष-ग्रन्थ के हिन्दी अनुवाद के प्रकाशन का निश्चय किया और इसका पहला संस्करण १९५७ ई० में प्रकाशित हुआ।

यह बड़े ही सुख और सन्तोष का विषय है कि हिन्दी पाठकों में यह ग्रन्थ लोकप्रिय सिद्ध हुआ और तत्काल इसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित करना पड़ा और अब पाठकों की मांग का समादर करते हुए तृतीय संस्करण भी हिन्दी जगत् को भेंट किया जा रहा है। आशा है, पूर्व संस्करणों की भाँति इस तृतीय संस्करण का भी सम्मान होगा। यह कहने की आवश्यकता नहीं, यह ग्रन्थ न केवल ज्योतिष-शास्त्र में अभिरुचि रखने वालों के लिए आवश्यक है, अपितु सभी हिन्दी प्रेमी पाठक इससे लाभान्वित हो सकते हैं।

काशीनाथ उपाध्याय 'भ्रमर'
सचिव,
हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश शासन

दीपावली, २०३२ वि०
नवम्बर, १९७५ ई०

प्रस्तावना

इस ग्रन्थ में वर्णित विषय आरम्भ में ही उपोद्घात में संक्षेपतः बतला दिये गये हैं। अनुक्रमणिका और विषयानुसार सूची द्वारा उनका विस्तृत ज्ञान होगा। इस ग्रन्थ की उपयोगिता सिद्ध करने की हमें विशेष आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। ज्योतिष-शास्त्र मनुष्य की स्वाभाविक जिज्ञासा द्वारा उत्पन्न हुआ है। अत्यन्त प्राचीन काल से ही मनुष्य का ध्यान इसकी ओर गया होगा। इतना ही नहीं, हम इसे मनुष्य विरचित शास्त्रों में आद्यशास्त्र कह सकते हैं, अतः यह जानना आवश्यक है कि हमारे देश में इसकी अभिवृद्धि क्रमशः कैसे हुई। इस ग्रन्थ में इन्हीं सब विषयों का विवेचन किया गया है, अतः इसकी उपयोगिता स्पष्ट है।

ऐसा ग्रन्थ संस्कृत में नहीं है। कालपरम्परानुसार ग्रन्थों की उपयोगिता इत्यादि का विचार करने की ओर हम लोग ध्यान कम देते हैं; सौ दो सौ वर्ष पूर्व और हजार पांच सौ वर्ष पूर्व के ग्रन्थकार की योग्यता प्रायः समान ही समझते हैं; किसी शास्त्र का इतिहास जानने की चेष्टा कम करते हैं। फिर हमारे यहाँ लौकिक पुरुषों का उत्कर्ष वर्णन करने का प्रचार भी बहुत कम है। मालूम होता है, इन्हीं कारणों से आज तक ऐसा ग्रन्थ नहीं बना।

अब इस ग्रन्थ की रचना का इतिहास थोड़े में बतलाऊंगा। लगभग शक १८०२ से हमारा ध्यान सायन पंचांग की ओर और उसके द्वारा ज्योतिष शास्त्र की ओर गया। प्राचीन ग्रन्थों को देखते देखते तारतम्य पूर्वक उनकी योग्यता, उनके समय का पौर्वापर्य और ज्योतिषशास्त्र की वृद्धि का क्रम जानने की प्रवृत्ति हुई और मन में यह विचार आने लगा कि प्रस्तुत ग्रन्थ सरीखा यदि कोई ग्रन्थ बन जाता तो बड़ा अच्छा होता। शक १८०६ में इस प्रान्त में पंचांग के विषय में विशेष आन्दोलन हो रहा था। उस समय पूना की 'दक्षिणा प्राइज कमेटी' की ओर से सन् १८८४ के दिसम्बर में इस आशय की विज्ञप्ति निकली कि हमारे पंचांगों की वर्तमान दुरवस्था का विचार हमारे ज्योतिषशास्त्र के इतिहास सहित किसी ग्रन्थ के रूप में होना चाहिए। अपनी रुचि का विषय सामने आने पर ग्रन्थ लिखने की और भी अधिक इच्छा हुई। ग्रन्थ के लिए पारितोषिक ४५० रुपया रखा था। लिखने की अवधि सन् १८८६ के अन्त तक थी परन्तु उस समय तक ग्रन्थ लिखने के साधन, मुख्यतः प्राचीन ज्योतिष

ग्रन्थ उतने नहीं मिले जितने कि आवश्यक थे, इसलिए उस समय ग्रन्थ नहीं लिखा जा सका। 'दक्षिणा प्राइज़ कमेटी' से मैंने समय बढ़ाने का निवेदन किया। समय मिला भी परन्तु उसके बाद के पांच छ: महीने आवश्यक जानकारी इकट्ठी करने में ही बीत गये। अन्त में १८८७ के नवम्बर में ग्रन्थ लिखना आरम्भ किया और १८८८ के शुरू में ग्रन्थ का प्रथम भाग कमेटी के पास भेजा। ग्रन्थ लिखते समय भी अन्वेषण का काम जारी था और उसमें कुछ विघ्न भी आये। अन्त में १८८८ के अक्टूबर पर्यन्त तीन सप्ताह में सम्पूर्ण ग्रन्थ कमेटी के पास भेज दिया। उसमें इस ग्रन्थ के सांचे के लगभग ४२५ पृष्ठ होते थे। कमेटी ने जिन विषयों का विवेचन करने को कहा था उनकी अपेक्षा बहुत अधिक विषयों का विस्तृत वर्णन उसमें था। कमेटी ने ग्रन्थ पसन्द किया और हमें १८९१ में पूर्ण पारितोषिक मिला। उसे छपवाने की भी इच्छा हुई परन्तु वह अधिक व्यय का कार्य मुझसे निभने योग्य नहीं था। कुछ दिनों बाद आर्यभूषण प्रेस के मालिक ने उसे छापना स्वीकार किया। इसी बीच में गायकवाड़ सरकार की ओर से पंचांग विवेचन सम्बन्धी ग्रन्थ लिखने का एक विज्ञापन निकला। उसके लिए एक सहस्र रुपये का बाबाशाही पारितोषिक रखा था। तदनुसार मैंने शक १८१५ के आरम्भ में अर्थात् सन् १८९३ में इस ग्रन्थ का आवश्यक भाग वहां भेजा। ग्रन्थ छपवाने की सूचना बहुत से लोग दे रहे थे पर मेरी दृष्टि से वह पूर्ण नहीं हुआ था। बाद में ज्ञात हुए बहुत से नवीन विषय उसमें स्थान स्थान पर जोड़ने थे, बहुत सी बातें जाननी थीं और गायकवाड़ सरकार के यहां भेजे हुए ग्रन्थ के सम्बन्ध में वहां से निर्णय हो जाने पर छपवाने का विचार था।[1] सन् १८९४ की जुलाई में हम पूना आये, उस समय लोगों ने छपवाने का विशेष आग्रह किया इसलिए १८९५ के मार्च में आर्यभूषण प्रेस के मालिक ने ग्रन्थ छपवाना आरम्भ कर दिया। छपते समय भी पहिले न देखे हुए ग्रन्थों का वाचन तथा अन्वेषण का काम हो ही रहा था। बीच में आये हुए कितने ही उल्लेखों द्वारा यह ज्ञात होगा।

दक्षिणा प्राइज़ कमेटी में भेजे हुए ग्रन्थ के कुछ लेख प्रस्तुत ग्रन्थ में संक्षिप्त कर दिये और कुछ निकाल दिये हैं। इससे ४२५ में से लगभग ४० पृष्ठ कम हो गये, फिर भी इसके मुख्य भाग में सूचीपत्र के अतिरिक्त लगभग १४० पृष्ठ (मूल मराठी ग्रन्थ में) बढ़ गये हैं।

आज हम लोगों को इसकी कल्पना भी नहीं है कि हमारे देश में ज्योतिषशास्त्र-

---

१. उसका फैसला शीघ्र ही हुआ। ग्रन्थ पसन्द आया और मुझे पारितोषिक मिला।

ज्ञान और ज्योतिषग्रन्थों की सम्पत्ति कितनी है। सामान्य लोग बहुत हुआ तो भास्कराचार्य प्रभृति दो एक ज्योतिषियों के तथा चार छः ग्रन्थों के नाम जानते हैं, परन्तु इस ग्रन्थ में अनेकों ज्योतिष ग्रन्थकारों और ग्रन्थों के वर्णन आये हैं और अनुक्रमणिका में केवल उनके नामों की दो सूचियां दी हैं। यह विलक्षण ज्ञान-सम्पत्ति देखकर पाठक आश्चर्य-चकित हुए बिना नहीं रहेंगे और इस ग्रन्थ में वर्णित ज्योतिषशास्त्र की वृद्धि का सम्पूर्ण इतिहास पढ़ने से अपने पूर्वजों के विलक्षण प्रयत्न, अन्वेषण जिज्ञासा और तदनुसार उनकी योग्यता का ज्ञान होने पर वे अतिशय आनन्द में मग्न हो जायंगे।

स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ शास्त्रीय होने के कारण उपन्यास की तरह सुबोध नहीं होगा पर सभी भाग दुर्बोध नहीं हैं। यदि इसमें आठ-आठ पृष्ठों के भाग किये जायँ तो प्रत्येक में कुछ ऐसी बातें मिलेंगी जो कि सबके लिए सुबोध हों। अतः पाठक को चाहिए कि गहन भाग आने पर वह निराश न हो बल्कि आगे पढ़ता जाय। इसमें अनेकों विषय हैं। जिसको जो मनोरंजक प्रतीत हो अनुक्रमणिका और विषयानुसार सूची द्वारा उसे निकालकर देख सकता है। कहीं कहीं पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है। उनका अर्थ समझ में न आये तो विषय-सूची देखनी चाहिए। कुछ शब्दों के अर्थ मेरे ज्योतिर्विलास नामक ग्रन्थ में मिलेंगे।

कुछ लोग इस ग्रन्थ को बहुत बड़ा और कुछ बिलकुल संक्षिप्त बतलाते हैं। एक सभ्य पुरुष का कथन है कि इतने विषयों के लिए कम से कम एक सहस्र पृष्ठ चाहिए थे। दोनों कथन ठीक हैं और इसी लिए मैंने बीच का मार्ग ग्रहण किया है। विस्तार करना चाहें तो एक एक पृष्ठ के चार चार हो सकते हैं और इससे अधिक संक्षेप उसी स्थिति में किया जा सकता है जब कि कुछ विषय निकाल दिये जायँ। परन्तु ऐसा ग्रन्थ बनने का सुयोग बार बार नहीं आता इसलिए मुझे उपलब्ध विषयों में से जितने इसमें रखने योग्य प्रतीत हुए सब रखे हैं।

यह ग्रन्थ पूर्ण नहीं कहा जा सकता। इसमें वाल्मीकि-रामायण और अठारह पुराणों में से एक का भी ज्योतिष सम्बन्धी वर्णन नहीं है। इन सबका समावेश करने की सूचना भी बहुतों ने दी पर मैं अकेला क्या क्या कर सकता था। ज्योतिष के ही अनेकों ग्रन्थ मैंने नहीं देखे हैं। केवल पूना के आनन्दाश्रम में भिन्न भिन्न लगभग ५०० ज्योतिष-ग्रन्थ हैं। मैंने वे सब देखे हैं परन्तु इस ग्रन्थ में उनमें से बहुतों का वर्णन नहीं आया है। पृ० ३४० में उल्लिखित आफ्रेक्त्र सूची में लगभग २००० ज्योतिष ग्रन्थ हैं। वे सब मिलें कैसे और उन्हें देखा कब जाय! फिर भी ज्योतिष तथा अन्य ग्रन्थों की ज्योतिष सम्बन्धी महत्त्व-पूर्ण सभी बातें इसमें आ गयी हैं। हम लोगों के भाग्य से हमारे देश में

मेरी अपेक्षा बहुत अधिक योग्य उनके विद्वान् विद्यमान हैं। अवशिष्ट कार्य उन्हें अपने हाथ में लेना चाहिए। मेरे श्रम का वे कुछ उपयोग कर सकें तो अच्छा ही है।

इस ग्रन्थ में परशुराम, राम इत्यादि अवतारी पुरुषों के समय का विवेचन करने का सुझाव कुछ लोगों ने दिया था, परन्तु ज्योतिष सम्बन्धी विश्वसनीय प्रमाण, जिनके द्वारा उनका समय निश्चित किया जा सके, मुझे आज तक नहीं मिले और न तो भविष्य में मिलने की आशा है, फिर भी काल निरवधि है और वसुन्धरा विपुला है, न जाने कब क्या होगा। इस विषय में मेरा मत सम्पूर्ण ग्रन्थ देखने से ज्ञात होगा। ग्रन्थों के रचनाकाल का विवेचन प्रथम भाग के उपसंहार में किया है।

इस ग्रन्थ में कौन कौन से विषय हैं अथवा होने चाहिए, इस विषय में लोगों की भिन्न भिन्न धारणाएँ देखी गयी हैं। कुछ लोग तो यहाँ तक समझते हैं कि पंचांग बनाने की सारणियाँ, प्रत्येक सिद्धान्तानुसार ग्रहगणित करने के प्रकार, उनकी उपपत्तियां, नाटिकल अल्मनाक द्वारा बनने वाले पंचांगों सरीखे सूक्ष्म पंचांग बनाने की पद्धति, जिनके द्वारा उत्तम जन्मपत्र बनाये जाते हैं वे उत्तम जातक ग्रन्थ, इतना ही नहीं ज्योतिष शास्त्र का सर्वस्व इसमें है। स्पष्ट है कि इसमें इतनी बातों का समावेश होना असम्भव है परन्तु इससे हमारे देश के लोगों की प्रबल जिज्ञासा व्यक्त होती है और यह देखकर बड़ा आनन्द होता है।

संस्कृत में ऐसा ग्रन्थ नहीं है यह तो पहिले बता ही चुके हैं। अंग्रेजी में कुछ बातें भिन्न भिन्न स्थानों में मिलती हैं पर वे सब मिलकर इस ग्रन्थ के चतुर्थांश के बराबर भी न होगी। उपसंहार द्वारा ज्ञात होगा कि उत्तम विद्वानों ने अंग्रेजी में बहुत से लेख लिखे हैं पर आज तक किसी ने इतना व्यापक विचार नहीं किया है और जो कुछ किया है वह भी एतद्देशीय दृष्टि से नहीं हुआ है।

कुछ ग्रन्थ मुझे स्वतः पढ़ने को नहीं मिल सके अतः कहीं कहीं उनकी बातें अन्य ग्रन्थ या ग्रन्थकार के आधार पर लिखनी पड़ी हैं। ऐसे स्थलों में उस ग्रन्थ या ग्रन्थकार का नाम लिख दिया है। अन्य ग्रन्थों के तात्पर्यार्थ या उद्धरण स्वतः उन ग्रन्थों को पढ़कर लिखे हैं और उनके नाम सर्वत्र दे दिये हैं। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में एक भी पंक्ति दूसरे ग्रंथ के अनुवाद स्वरूप अथवा दूसरों के आधार पर नहीं लिखी है। महत्त्व के बहुत से ज्योतिष ग्रन्थों का मैंने स्वतः संग्रह किया है। जहाँ कहीं यह लिखा है कि अमुक बात गणित द्वारा सिद्ध होती है वहाँ स्वतः ध्यानपूर्वक गणित किया है और मेरा विश्वास है कि वह ठीक है तथापि भ्रम मनुष्य का धर्म है इसलिए उसमें दृष्टिदोष हो सकता है।

दक्षिणा प्राइज़ कमेटी के सभासदों ने मूलग्रन्थ के संशोधन के सम्बन्ध में दो तीन

सुझाव दिये थे। उनमें से एक संक्षेप करने के सुझाव को छोड़ शेष सब इसमें स्वीकार कर लिये गये हैं। मूलग्रन्थ में यूरोपियन विद्वानों की कहीं-कहीं कड़ी टीका की गयी थी। कमेटी ने उसका कड़ापन बिलकुल निकाल देने की सूचना दी थी, तदनुसार विषय ज्यों के त्यों रखते हुए कड़ाई बिलकुल निकाल दी गयी है। फिर भी एक बात कहे बिना नहीं रहा जाता कि हमारे देश के कुछ बड़े बड़े विद्वान् भी यूरोपियनों की बातें चाहे जैसी हों उन्हें वेद-वाक्य समझते हैं। इससे यह विदित होता है कि उन्हें अपनी योग्यता का भरोसा नहीं है।

रायबहादुर म० गो० रानाडे का कथन था कि यूरोपियन विद्वानों के मत और उनकी टीका इत्यादि विवादास्पद विषय इस ग्रन्थ में न रखकर इनका विचार किसी अंग्रेजी मासिक द्वारा होना चाहिए। ऐसा करने से ग्रन्थ बहुत बड़ा नहीं होगा। तदनुसार कुछ बातों की चर्चा मैंने अंग्रेजी पुस्तकों द्वारा की है। यह सब होते हुए भी मुझे यह भाग इस ग्रन्थ से निकाल देना उचित नहीं प्रतीत हुआ। सब वाचकों को नहीं तो कुछ को तो यह अवश्य उपयोगी जान पड़ेगा। यदि इसका इंगलिश में अनुवाद होने का सुअवसर आया तो मेरा विस्तृत कथन यूरोपियन विद्वानों के सामने जायगा और उसका योग्य विचार होगा। एक यूरोपियन विद्वान् ने मुझसे कहा भी है कि यदि इस ग्रन्थ का अंग्रेजी में शीघ्र अनुवाद नहीं हुआ तो इसके कुछ भागों का अनुवाद तो करवाना ही पड़ेगा।

वाचकों से मेरी प्राचीन ग्रन्थों के अन्वेषण की ओर ध्यान देने की आग्रहपूर्वक प्रार्थना है। मेरा न देखा हुआ कोई ग्रन्थ यदि किसी महाशय को मिले तो कृपया मुझे उसकी सूचना दें। ऐसा करने से मुझ पर और देश पर उनके बड़े उपकार होंगे। तैलंग, द्रविड़ और बंगाल प्रान्त के ग्रन्थों का वर्णन इस ग्रन्थ में विशेषतः नहीं है। वहाँ के विशिष्ट ग्रन्थों की और पृ० ६३६ में लिखे हुए नाड़ीग्रन्थ सरीखे ग्रन्थों की जनता को जितनी अधिक जानकारी होगी उतना ही अच्छा होगा। मैंने जिन ग्रन्थकारों का वर्णन किया है उनमें से बहुतों के वंशज विद्यमान होंगे। यदि वे उनके विषय में कुछ विशेष बतलायेंगे तो अच्छा होगा।

ग्रन्थप्रचार के विषय में देखा गया कि तैलंग और द्रविड़ प्रान्त के ग्रन्थों की अन्य प्रान्तों में विशेष प्रसिद्धि नहीं है। लिपिभेद के कारण ऐसा हुआ होगा। बंगाल के ग्रन्थ भी इधर विशेष प्रचलित नहीं हैं तथापि प्राचीन काल की यात्रा इत्यादि अड़चनों का विचार करते हैं तो यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता है कि बड़े बड़े ग्रन्थों का प्रचार भारत के कोने कोने तक है, ग्रहलाघव इत्यादि ग्रन्थ शीघ्र ही चारों ओर प्रचलित हो गये और मध्यम ग्रन्थ भी प्रचलित हैं। ज्योतिष के विद्वानों को इस देश के राजाओं

का आश्रय तो था ही पर मुसलमान बादशाहों का आश्रय भी पहिले ही से था। इसके अतिरिक्त काशी के विद्याक्षेत्र में भी बहुतों की उपस्थिति होती थी। इन्हीं कारणों से सर्वत्र ग्रन्थों का प्रचार हुआ होगा।

ज्योतिष ग्रन्थों की संख्या बहुत अधिक है। इसका कारण यह है कि इस देश के बहुत बड़े होने के कारण सदा उपयोग में आने वाले एक ही विषय के भिन्न भिन्न प्रान्तों में भिन्न भिन्न ग्रन्थ बने। कुछ ग्रन्थ, विशेषतः करणग्रन्थ, प्राचीन होने पर निरुपयोगी हो जाया करते हैं इसलिए कालक्रमानुसार नये नये ग्रन्थ बनते गये, क्योंकि एक ही विषय ग्रन्थकार के चातुर्यानुसार न्यूनाधिक सुबोध हो जाता है इसलिए अनेक आचार्यों ने अनेक ग्रन्थ बनाये।

इस ग्रन्थ में जितने वेदमन्त्र और संस्कृत श्लोक आये हैं उन सबों का अर्थ लिखने से ग्रन्थ बहुत बड़ा हो जाता इसलिए अत्यन्त आवश्यक स्थलों में ही अर्थ लिखा गया है। कहीं कहीं केवल भावार्थ लिखा है और जहाँ पूर्वापर सन्दर्भ द्वारा कुछ समझ में आने योग्य है वहाँ भावार्थ भी नहीं लिखा है।

वेदमन्त्रों का अर्थ सर्वत्र मूल का अनुसरण करते हुए लिखा है। अन्वय के लिए जो शब्द ऊपर से लेने आवश्यक थे वे [ ] इस कोष्ठ में और पर्याय शब्द या वाक्यांशों के अर्थ ( ) इस कोष्ठ में लिखे हैं। जो बात मूल में नहीं है वह उपर से बिलकुल नहीं ली गयी है। वेदमन्त्र और संस्कृत श्लोक छापने में प्रायः अशुद्धि नहीं हुई है। छापने के लिए भेजी हुई सम्पूर्ण प्रति स्वयं लिखना अशक्य था अतः सम्भव है उसकी कुछ अशुद्धियां प्रूफ संशोधन के समय भी ध्यान में न आकर ज्यों की त्यों रह गयी हों पर इसे दूर करने का कोई उपाय नहीं है।

मध्यमाधिकार में जिन ज्योतिषियों के जीवनचरित्र लिखे हैं वे विशेषतः ज्योतिष-गणित ग्रन्थकार हैं। उनमें से यदि किसी ने संहिता या जातक ग्रन्थ बनाया है तो उसका भी विवरण वहाँ लिखा है। जिन्होंने केवल संहिता या जातकग्रन्थ बनाये हैं अर्थात् गणितग्रन्थ एक भी नहीं बनाया है उनका जीवनचरित्र तत्तत् स्कन्धों में लिखा है।

ज्योतिषियों के जीवनचरित्र में प्रायः उनके समय, स्थान, ग्रन्थ, उनकी टीकाओं और ग्रन्थकार की योग्यता का वर्णन है। उनके वंश में उनके पूर्व या पश्चात् यदि कोई ग्रन्थकार हुआ है तो उसका भी वर्णन किया है। किसी के जीवनचरित्र में यदि कोई विशेष बात है तो वह विषयसूची में लिखी है। विषयसूची में ग्रन्थकारों के नाम के आगे लिखा हुआ शक, यदि स्पष्ट न किया गया हो तो, उनका जन्मशक नहीं बल्कि ग्रन्थरचनाकाल है।

मेरे मतानुसार प्राचीन ग्रन्थकारों का नाम लिखते समय आदरार्थ बहुवचन का प्रयोग नहीं करना चाहिए और मैंने प्रायः सर्वत्र ऐसा ही किया भी है। भास्कराचार्य

में अधिक पूज्यबुद्धि व्यक्त करने के लिए 'भास्कराचार्य कहते हैं' लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है जब कि हम ईश्वर के नाम का उल्लेख भी एकवचन में ही करते हैं। संस्कृत और इंगलिश में भी आदरप्रदर्शन के लिए बहुवचन का प्रयोग नहीं किया जाता, ऐसा कह सकते हैं। कुछ आधुनिक और विद्यमान विद्वानों के विषय में बोलचाल में सर्वदा बहुवचन का प्रयोग किया जाता है। उसे निकाल देने से भाषा शायद कर्ण-कटु हो जायगी इसलिए उनके लिए मैंने बहुवचन का ही प्रयोग किया है।

आज हम लोग शक की अपेक्षा ईसवी सन् से अधिक परिचित हैं इसलिए शक द्वारा किसी बात का काल सम्बन्धी विचार करने की अपेक्षा ईसवी द्वारा करने में सुविधा मालूम होती है परन्तु हमारे ज्योतिषगणितग्रन्थकारों ने सर्वत्र शक का ही उपयोग किया है। भारत के किसी भी प्रान्त का ग्रन्थ लीजिए, वहां व्यवहार में शक का प्रचार न रहते हुए भी ग्रन्थ में शक ही मिलेगा, इसलिए मैंने भी उसी का उपयोग किया है परन्तु 'शककालपूर्व' के स्थान में 'ईसवी सन् पूर्व' कह सकते हैं। इतने प्राचीन काल के सम्बन्ध में शक और ईसवी सनों के अन्तर स्वरूप ७८ वर्षों की उपेक्षा की जा सकती है। इस ग्रन्थ में जहाँ शकवर्ष को जानबूझकर वर्तमान न कहा हो वहाँ उसे गतवर्ष समझना चाहिए (पृ० ४८९ देखिए)। ग्रहस्थिति इत्यादिकों के लिए जहाँ जानबूझ कर सायन विशेषण न लगाया हो वहां उन्हें निरयन अथवा ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्गानुसार समझना चाहिए। जहां केवल सूर्यसिद्धान्त, आर्यसिद्धान्त और ब्रह्मसिद्धान्त लिखा हो वहां क्रमशः वर्तमान सूर्यसिद्धान्त, प्रथम आर्यसिद्धान्त और ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त समझना चाहिए।

यह तो स्पष्ट है कि अनुक्रमणिका से ग्रन्थ देखने में बड़ी सुविधा होती है पर उसे बनाना कितना कठिन है, इसका ज्ञान अनुभव द्वारा ही होगा। एक मनुष्य को उसे बनाने में बहुत अधिक समय लगेगा। विषयानुसार सूची मैंने स्वयं बनायी है। शेष सूचियाँ बनाने में पूना ट्रेनिंग कालेज के वर्तमान विद्यार्थियों ने बड़ी सहायता की है। यह कार्य अनेक मनुष्यों द्वारा हुआ है और सूचीपत्र छपने पर्यन्त उसकी पांच प्रतियां बनी हैं इसलिए कहीं कहीं अशुद्धियां रह गयी होंगी और कुछ नाम बिलकुल छट गये होंगे पर इसमें कोई वश नहीं है। हमारे ग्रन्थकार अंकगणित, बीजगणित इत्यादि गणित ग्रन्थों का भी समावेश ज्योतिष ग्रन्थों में ही करते हैं, तदनुसार सूचीपत्र में मैंने भी ऐसा ही किया है। पञ्चाङ्ग और संस्कृत-मराठी ग्रन्थ तथा उनके कर्ताओं के नाम भी संस्कृत ग्रन्थ और ग्रन्थकारों में ही लिखे हैं। सूचीपत्र में पृष्ठांकों के सामने 'टि' (टिप्पणी) लिखना कहीं कहीं भूल से रह गया है।

यह ग्रन्थ लिखते समय ज्योतिष के प्राचीन ग्रन्थों का संग्रह करने में कितना परिश्रम हुआ, लोगों की कितनी प्रार्थनाएँ करनी पड़ीं; ग्रन्थों के वाचन का कार्य कितनी शीघ्र-

तापूर्वक करना पड़ा, ग्रन्थ लिखने और छपने के समय कितना शारीरिक और मानसिक श्रम करना पड़ा, पाठक इसकी कल्पना नहीं कर सकेंगे। इस व्यासंग द्वारा होने वाला आनन्द ही इस कार्य का एक मात्र सच्चा पुरस्कार हो सकता है।

इसे छापने का कार्य मुझसे होने योग्य नहीं था क्योंकि इसमें व्यय अधिक था और शास्त्रीय ग्रन्थ होने के कारण इसकी बिक्री कम होना भी निश्चित था। आर्यभूषण प्रेस के मालिक मेरे ग्रामस्थ तथा बालमित्र रा० रा० हरिनारायण गोखले ने इसे छपवा कर मेरा ही नहीं सम्पूर्ण महाराष्ट्र का बड़ा उपकार किया है। पुस्तक छपाने और छपना आरम्भ होने के बाद उसे पूर्ण करने का उन्होंने यदि बार बार आग्रह न किया होता तो यह ग्रन्थ कभी भी प्रकाशित न हो पाता क्योंकि मेरी दृष्टि से कदाचित् यह मेरे जीवन भर में पूर्ण न होता। मैं समझता हूँ ऐसे ग्रन्थों के पूर्ण होने का कार्य भविष्य पर ही छोड़ देना चाहिए, फिर भी अब तक जितने कार्य हाथ में लिये हैं यथाशक्ति उन्हें पूर्ण किया है। यदि किन्ही महाशय को इसमें कोई दोष दिखाई दे अथवा इसके विषय में कुछ वक्तव्य हो तो वे मुझे उसकी सूचना दें। मेरे उपर उनके बड़े उपकार होंगे।

यह ग्रन्थ लिखने में आरम्भ से अब तक मुझे अनेक मनुष्यों की सहायता मिली है। ग्रन्थ-विस्तार होने के भय से सब सहायकों के नाम तथा सहायता के प्रकार नहीं लिखता पर अन्तःकरण पूर्वक सबको धन्यवाद देता हूँ।

अपना थोड़ा बहुत जीवनचरित्र लिखने की हमारे ज्योतिषग्रन्थकारों की पद्धति है। यह पद्धति न होती तो इस ग्रन्थ का बहुत सा भाग मैं न लिख पाता। उसी का अनुसरण करते हुए अपना थोड़ा सा वृत्तान्त लिखकर प्रस्तावना समाप्त करता हूँ। रत्नागिरि जिले में दापोली तालुके के मुरुड़ नामक गाँव में शक १७७५ में ग्रह-लाघवीय पञ्चाङ्गनुसार आषाढ़ शुक्ल १४ युक्त १५ मंगलवार (तदनुसार २०।२१ जुलाई सन् १८५३) को मिथुन लग्न में मेरा जन्म हुआ। मेरे पिता इत्यादि के नाम क्रमशः बालकृष्ण, रामचन्द्र, बल्लाल और शंकर तथा माता का नाम दुर्गा था। मैं नित्युन्दनगोत्रीय हिरण्यकेशी शाखाध्यायी चितपावन ब्राह्मण हूँ। मेरे कुल का मूल उपनाम वैशम्पायन है। वैशम्पायन घराना मुरुड़ गाँव का पुरोहित और धर्माधिकारी है। कुछ शताब्दी पूर्व एक सिद्ध पुरुष ने मुरुड़ गाँव बसाया। हमारा मूलपुरुष उनका शिष्य था। उसी सिद्ध द्वारा मेरे मूल पुरुष को उपर्युक्त वृत्ति मिली। लड़कपन में मेरा अध्ययन लगभग दो वर्ष मुरुड़ की ग्रामीण पाठशाला में और उसके बाद सन् १८६२ के अप्रैल से १८६८ के अक्टूबर तक वहीं सरकारी स्कूल में हुआ। उसी समय थोड़ा सा संस्कृत और वेद का भी अभ्यास किया। उसके बाद के दो वर्षों में से कुछ समय दापोली कोर्ट में उम्मेदवारी करने में और कुछ अंग्रेजी पढ़ने में बीता। १८७०

के नवम्बर से आरम्भ कर तीन वर्ष तक मैं पूना ट्रेनिंग कालेज रहा। अन्तिम परीक्षा में उस कालेज के तृतीय वर्ष का प्रथम श्रेणी का सर्टिफिकेट मिला। वहां पढ़ते समय लगभग दो वर्ष तक सवेरे एक घंटा अंग्रेजी स्कूल में जाया करता था। सन् १८७४ में मैट्रिकुलेशन परीक्षा पास की। उसके बाद अनेक अड़चनों के कारण कालेज में न जा सका। सन् १८७४ की फरवरी से १८८० की फरवरी तक रेवदण्डा के मराठी स्कूल में और उसके बाद १८८२ के अगस्त तक थाना के नम्बर एक के मराठीस्कूल में हेडमास्टर था। उसके बाद १८८९ के अक्टूबर तक बार्शी के अंग्रेजी स्कूल में असिस्टेंट मास्टर था। उसके बाद १८९४ के जून तक धुलिया के ट्रेनिग स्कूल में असिस्टेंट था। इस समय पूना के ट्रेनिंग कालेज में असिस्टेंट मास्टर हूँ। मैंने विद्यार्थी बुद्धिवर्धिनी, सृष्टिचमत्कार, ज्योतिर्विलास और धर्ममीमांसा नामक मराठी पुस्तकें क्रमशः १८७६, १८८२, १८९२ और १८९५ ईसवी में लिखी हैं और ये छप चुकी हैं। मैंने और मि० सेवेल ने मिलकर Indian Calendar नामक ग्रन्थ अंग्रेजी में लिखा है। वह हाल ही में छपा है। मेरा भारतीय '**प्राचीन भूवर्णन**' नामक ग्रन्थ अपूर्ण होने के कारण अभी नहीं छपा है। ज्योतिष मेरा वंश-परम्परागत विषय नहीं है। सर्वदा विद्याव्यासंग में रहने का स्वभाव और समाचारपत्र पढ़ने का व्यसन होने के कारण मेरा ध्यान सायनवाद की ओर और उसके द्वारा ज्योतिषशास्त्र में लगा। इस विषय का मुझे थोड़ा बहुत जो कुछ ज्ञान है सब स्वसम्पादित है। कुछ लोग समझते हैं कि मुझे ज्योतिष का कुछ ऐसा ज्ञान है जो कि औरों के लिए दुष्प्राप्य है परन्तु साधारण मराठी संस्कृत और इंग्लिश जाननेवाला बुद्धिमान् गणितज्ञ और जिज्ञासु मनुष्य मेरे जितना ज्योतिष-ज्ञान पांच छः महीनों में सहज सम्पादित कर सकता है। आज तक ज्योतिष सीखने की इच्छा से मेरे पास बहुत से लोग आये परन्तु उनमें से अन्त तक कोई भी नहीं टिका, यह दूसरी बात है। संसार का वर्तमान ज्योतिषज्ञानभण्डार बहुत बड़ा है। मेरा ज्ञानसंग्रह उसके सामने कुछ भी नहीं है और मेरी ज्ञानसंग्राहक शक्ति के लिए वह अनेक कारणों से अगम्य है। बुद्धि के स्वयंभू प्रेरक उस सविता से प्रार्थना है कि वह सबको ज्ञानार्जन के लिए प्रेरित करे।

शंकर बालकृष्ण दीक्षित

पूना,

२१ अक्टूबर सन् १८९६ ई०

सायन अमान्त कार्तिक कृष्ण १०

शनौ शक १८१८।

विषय-सूची

प्रथम भाग का उपसंहार

द्वितीय भाग

ज्योतिष सिद्धान्तकालीन ज्योतिषशास्त्र का इतिहास

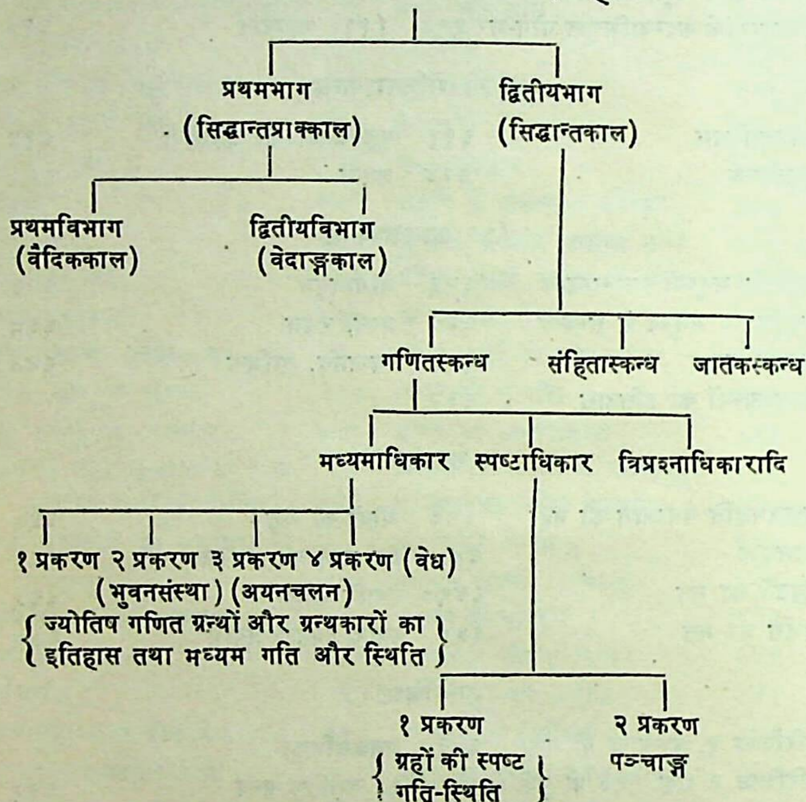
(१) गणितस्कन्ध

(२) संहितास्कन्ध

(३) जातकस्कन्ध

उपसंहार

परिशिष्ट


भारतीय ज्योतिष शास्त्र का इतिहास
प्रथमभाग
(सिद्धान्तप्राक्काल)
द्वितीयभाग
(सिद्धान्तकाल)
प्रथमविभाग
(वैदिककाल)
द्वितीयविभाग
(वेदाङ्गकाल)
गणितस्कन्ध
संहितास्कन्ध
जातकस्कन्ध
मध्यमाधिकार
स्पष्टाधिकार
त्रिप्रश्नाधिकारादि
१ प्रकरण २ प्रकरण ३ प्रकरण ४ प्रकरण (वेध)
(भुवनसंस्था) (अयनचलन)
ज्योतिष गणित ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का
इतिहास तथा मध्यम गति और स्थिति
१ प्रकरण
ग्रहों की स्पष्ट
गति-स्थिति
२ प्रकरण
पञ्चाङ्ग

भारतीय ज्योतिष







उपोद्घात

शरद् या हेमन्त ऋतु में रात को घर से बाहर किसी खुली जगह में बैठने पर स्वभावत: आकाश की ओर ध्यान जाता है और चारों ओर सहस्रों तारे चमकते हुए दिखाई देते हैं। उनमें कुछ बहुत छोटे होते हैं और कुछ बड़े। थोड़ा ध्यानपूर्वक देखने से मालूम होने लगता है कि वे स्थिर नहीं हैं। कुछ एक ओर नीचे से ऊपर जाते रहते हैं और कुछ दूसरी ओर ऊपर से नीचे आते हुए दिखाई देते हैं। देखते-देखते थोड़ी देर में कोई बड़े आकार का और विशेष प्रकाश वाला तारा उग आता है। हम उसकी ओर आश्चर्यपूर्वक देख रहे हैं, इसी बीच में एक ओर पृथ्वी से लगे हुए आकाशभाग में जगमगाता हुआ प्रकाश दिखाई देने लगता है और हमारा चित्त उधर आकृष्ट हो जाता है। वह प्रकाश भी उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। क्रमश: उस ओर से तारों का प्रकाश कम होने लगता है और थोड़ी देर में चारों ओर से किञ्चित लाल चन्द्रबिम्ब दिखाई देने लगता है। उसे देखकर हमें बड़ा आनन्द होता है। वह ज्यों-ज्यों ऊपर आता है बहुत से तारों को छिपाते हुए अपना आनन्द-दायक प्रकाश पृथ्वी पर फैलाता जाता है। इस प्रकार जब कि हम आनन्द में मग्न रहते हैं अकस्मात् एक चमक होने के बाद कोई तारा आकाश से टूटता हुआ-सा मालूम होता है। कभी-कभी थोड़े ही समय में ऐसे छोटे बड़े दस-पांच तारे टूटते-से दिखाई देते हैं। यह दृश्य देखकर हम चौंक पड़ते हैं।

इस प्रकार के स्वाभाविक चमत्कारों की ओर मनुष्य का ध्यान अपने आप जाता है। उसमें भी पृथ्वी के चमत्कारों की अपेक्षा आकाश के चमत्कार स्वभावत: ही भव्य और चित्ताकर्षक होते हैं, इसलिए उनकी ओर ध्यान अधिक जाता है। जिन मनुष्यों का लक्ष्य किसी विशेष कारण से अनेक प्रापञ्चिक व्यवहारों की ओर कम है उनका ध्यान आकाश की ओर लगने की अधिक सम्भावना है। जान-बूझकर सदा इसकी ओर ध्यान देनेवालों को छोड़ दीजिए पर यदि सामान्यत: शेष जन-समूह को देखा जाय तो रात को भेड़ बकरियों के साथ जंगल या किसी खुली जगह में रहने वाले गड़रिये इत्यादिकों को या सबेरे जल्दी उठकर खेती का काम करने वाले किसानों को तथा साधारणत: नक्षत्र-चिह्नों से ही दिशा पहचानकर रात को समुद्र में नावें चलानेवाले मल्लाहों को अन्य लोगों की अपेक्षा नक्षत्रों का ज्ञान बहुत अधिक होता है। और लोग भी थोड़ा बहुत

जानते ही हैं। ऐसे मनुष्य हमारे देश में कम मिलेंगे जिन्हें आकाश का ज्ञान कुछ भी न हो।

सूर्य और चन्द्रमा प्रति दिन नियम पूर्वक उगते और अस्त होते हैं तथा ग्रीष्म, वर्षा इत्यादि ऋतुएं क्रमश: आती हैं। इन बातों का अत्यन्त परिचय हो जाने के कारण इस समय हमें इनके विषय में विशेष चमत्कार नहीं मालूम हो रहा है, पर जगत् के आरम्भ में इन्होंने मनुष्य को चकित कर दिया होगा और आकाश के तेजों के विचार की ओर अर्थात् ज्योतिषशास्त्र की ओर मनुष्य का ध्यान उसके उत्पत्ति-काल से ही लगा होगा। सूर्य सवेरे उगता है, धीरे-धीरे ऊपर आता है, उसकी किरणें क्रमश: प्रखर होती जाती हैं। कुछ समय में वह आकाश के उच्चतम भाग में आ जाता है और फिर धीरे-धीरे नीचे जाने लगता है। उसका तेज कम होने लगता है। अन्त में वह अदृश्य हो जाता है। उसके अदृश्य होने के बाद बहुत देर तक अँधेरा रहता है। दूसरे दिन वह फिर प्राय: पहले ही स्थान में उगता है, किसी अप्रस्तुत अत्यन्त भिन्न स्थान में नहीं उगता। यह जो सूर्य उगता है वह पिछले दिन वाला ही प्रति दिन रहता है या नया आता है, यदि वही है तो रात को कहां रहता है, वह आकाश में किसी अकल्पित ऊटपटांग स्थान में क्यों नहीं उगता, उसकी किरणें न्यूनाधिक प्रखर क्यों होती हैं, वह जहां उगता है और अस्त होता है वहां आकाश तो पृथ्वी से लगा हुआ दिखाई देता है फिर सूर्य उसी में से ऊपर कैसे आता है। पूर्व-पश्चिम भागों में यदि समुद्र हो तो वह समुद्र में से आता है और समुद्र ही में डूबता हुआ दिखाई देता है, तो क्या सचमुच वह समुद्र में डूबता है? इत्यादि बातों में हमें आज कोई महत्व नहीं मालूम होता, परन्तु सृष्टि के आरम्भ में इन्होंने मनुष्य को बड़ी उलझन में डाल दिया होगा और किसी बात का ठीक निश्चय होने में बड़ा समय लगा होगा। पीछे का अनुभव भविष्य में उपयोगी सिद्ध होता है और इस प्रकार परम्परया मनुष्य का ज्ञान बढ़ता रहता है। जो बातें भविष्य में बिल्कुल सामान्य-सी समझी जाने लगती हैं उनका भी अन्वेषण करके उन्हें सिद्धान्त रूप में रखने में अनेकों वर्ष लग जाते हैं, तो फिर सृष्टि के आरम्भ में सामान्य विषयों के भी सच्चे तत्वों को जानने में बहुत समय लगा होगा इसे कहना ही क्या है।

ऊपर सूर्य के विषय में जो बातें बतलायी गयीं वे कपोल-कल्पित नहीं हैं। जैनों ने दो सूर्य माने थे। ग्रन्थों में इसके प्रमाण मिलते हैं। पुराणादिकों में भी बारह मासों के बारह भिन्न-भिन्न सूर्य माने गये हैं। वेदों में तो द्वादश आदित्य प्रसिद्ध ही हैं। ये बातें यद्यपि इस समय कल्पित जान पड़ती हैं परन्तु कभी न कभी मनुष्य इन्हें बिलकुल सत्य समझते रहे होंगे। 'सूर्य उगने के पहले समुद्र में डूबा रहता है, इस विषय में ऋग्वेद की निम्नलिखित ऋचा देखिये—

यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत।
अत्रा समुद्र आगूल्हमासूर्यमजभर्तन ।।

ऋ० सं० १०।७२।७

हे देवताओं! आप लोगों ने......समुद्र में डूबे हुए सूर्य को [प्रातःकाल उदित होने के लिए] ऊपर निकाला।

इसी प्रकार तैत्तिरीय वेद में कहा है--

य उदगान्महतोर्णवाद्विभ्राजमानः सलिलस्य मध्यात्।
स मा वृषभो रोहिताक्षः सूर्यो विपश्चिन्मनसा पुनातु ।।

महान् समुद्र में से जल के मध्य से जो देदीप्यमान सूर्य ऊपर आया वह हमें पवित्र करे।

सूर्य प्रातःकाल उगता है। मध्याह्न में अत्यन्त उच्च स्थान में आता है और सायंकाल में अस्त हो जाता है। मानो वह तीन पगों में सम्पूर्ण आकाश पार कर जाता है। इस चमत्कार का वर्णन ऋग्वेदादिकों में बहुत-से-स्थानों में है। ऐसे वर्णन भी कि रात को सूर्य अपना तेज अग्नि में स्थापित करता है बहुत हैं।

अग्नि वावादित्यः सायं प्रविशति। तस्मादग्निर्दूरान्नक्तं ददृशे ।।

तैत्ति० ब्राह्मण २।१।२।८

इस मन्त्र में कहा है कि सूर्य रात को अग्नि में प्रवेश करता है। चन्द्रमा की ओर मनुष्य का ध्यान सूर्य की अपेक्षा कुछ अधिक ही लगा होगा। चन्द्रमा का उदय रात्रि में सूर्य की भांति नियमित रूप से नहीं होता। कभी-कभी वह सूर्यास्त के समय उगता है और उस समय पूर्ण दिखाई देता है। इसके बाद क्रमशः देर से उगने लगता है और छोटा दिखाई देने लगता है। तारों में उसका स्थान बहुत शीघ्र परिवर्तित होता रहता है। वह सूर्य के पास आने लगता है और एक दिन बिलकुल अदृश्य हो जाता है। उसके बाद दूसरे, तीसरे दिन सूर्यास्त के बाद तुरन्त ही पश्चिम में दिखाई देने लगता है, परन्तु उस समय उसकी छोटी-सी कोर मात्र दिखाई देती है और ऐसा मालूम पड़ता है मानो वह नवीन ही उत्पन्न हुआ है। आज भी उस दिन प्रायः चारों वेदों में उपलब्ध

नवो नवो भवति जायमानोह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्।
भागं देवेभ्यो विदधात्यायन्प्रचन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः।।

ऋ० सं० १०।८५।१९

यह मन्त्र पढ़कर उसका दर्शन कर वन्दना करते हुए उसे वस्त्र का सूत्र अर्पण करते हैं और उससे प्रार्थना करते हैं कि हमें नवीन वस्त्र और दीर्घायु दे। इसके बाद बढ़ते-बढ़ते वह एक दिन पहले की भांति पूर्ण हो जाता है। उसके इस न्यूनाधिक्य का अर्थात् उसकी कलाओं की क्षय-वृद्धि का हमारे प्राचीन और अर्वाचीन ग्रन्थों में पर्याप्त वर्णन है। किं-बहुना, चन्द्रमा की कलाएँ, उसका काला धब्बा, सौम्य दर्शन और आह्लादकारक चन्द्रिका इत्यादि बातें सभी देशों में सर्वदा कवि-कल्पना-सृष्टि का एक प्रधान विषय रही हैं।

चन्द्रमा एक बार पूर्ण होने के लगभग २९½ दिनों बाद फिर पूर्ण होता है और आगे भी पुनः-पुनः इतने ही दिनों में पूर्ण हुआ करता है। अतः पहले मनुष्य के ध्यान में यह बात आयी होगी कि एक बार सूर्य का उदय होने के बाद पुनः द्वितीय उदय होने तक प्रायः सर्वदा समान काल लगता है। तत्पश्चात् वही काल अर्थात् एक अहोरात्र मनुष्य की काल-गणना का स्वाभाविक परिमाण हुआ होगा। इसी प्रकार चन्द्रमा के विषय में भी उपर्युक्त नियम दिखलाई पड़ने पर, उसके एक बार पूर्ण होने से लेकर दूसरी बार पूर्ण होने तक का समय, मनुष्य की काल-गणना का दूसरा दिन से बड़ा स्वाभाविक परि-माण निश्चित हुआ होगा। बहुत-सी भाषाओं में चन्द्रमा का नाम ही इस काल का भी द्योतक माना हुआ पाया जाता है। वेदों में चन्द्रमा का मास नाम मिलता है। उदा-हरणार्थ—

'सूर्यमासा मिथ उच्चरातः'

ऋ० सं० १०।६८।१०, अथ० सं० २०।१६।१०

'सूर्यमासा विचरन्ता दिवि'

ऋ० सं० १०।९२।१२

इससे स्पष्ट है कि चन्द्रमा का मास नाम उपर्युक्त काल का वाचक है।

दिन और मास के मानों का निश्चय हो जाने पर मनुष्य को कुछ दिनों बाद ज्ञात हुआ होगा कि ग्रीष्म, वर्षा इत्यादि ऋतुएं एक नियमित समय के भीतर अर्थात् चन्द्रमा द्वारा ज्ञात होनेवाले मासात्मक काल की बारह संख्याएं बीतने पर, पुनः-पुनः आया करती हैं। वेदों में इस काल के लिए शरद्, हेमन्त इत्यादि ऋतुओं के ही नामों का प्रयोग किया गया है। ऋक्संहिता में वर्ष अर्थ में शरद् शब्द बीस से अधिक बार और हिम शब्द दस से अधिक बार आया है। अन्य वेदभागों में भी ये शब्द अनेकों बार आये हैं। वर्ष शब्द भी मूल में ऋतुविशेष का ही वाचक है।

शतञ्जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्तांच्छतमुवसन्तान्॥

ऋ० सं० १०।१६१।४, अथ० सं० २०।९६।९

इस ऋचा में वर्ष अर्थ में शरद, हेमन्त और वसन्त तीनों शब्द साथ आये हैं। वर्ष अर्थ में संवत्सर शब्द भी अनेकों जगह मिलता है।.

अस्तु, दिवस और मास से बड़ा कालगणना का तीसरा स्वाभाविक परिमाण वर्ष हुआ। इन तीनों की उत्पत्ति का सामान्य दिग्दर्शन ऊपर करा दिया गया। यहाँ ज्योतिष-शास्त्र सम्बन्धी विचारों की क्रमशः वृद्धि का सूक्ष्म वर्णन नहीं करते, क्योंकि ऐसा करने से विस्तार होगा और उतने की यहाँ आवश्यकता भी नहीं है। मुख्य विषयों का वर्णन आगे यथास्थान किया ही जायगा।

जैसे सूर्यादिकों को देखने से चमत्कार मालूम होता है, उसी प्रकार उनकी नियमित स्थिति देखकर भी अत्यन्त आश्चर्य होता है और उनके विषय में एक प्रकार की पूज्य बुद्धि उत्पन्न होती है। इस स्थिति में यह आकाश का सम्पूर्ण व्यवहार किसी अप्रतिहत सत्य द्वारा चल रहा है और उस सत्य की महत्ता अवर्णनीय है इत्यादि विचारों का मन में आना स्वाभाविक है। ऋग्वेद की निम्नलिखित ऋचा देखिये—

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधिश्रितः।।
ऋ० सं० १०।८५।१, अथ० सं० १४।१।१

सत्य ने भूमि संभाल रखी है। सूर्य ने आकाश संभाला है। सत्य से आदित्य रहते हैं [और सत्य से ही] सोम आकाश में स्थित हैं।

'इस पापी कलियुग में सभी ने अपना सत्य छोड़ दिया पर सूर्य और चन्द्रमा ने नहीं छोड़ा' ये उद्गार आज भी बहुतों के मुख से सुनाई देते हैं।

आकाश के कुछ चमत्कारों को देखकर आनन्द होता है, कुछ आश्चर्योत्पादक और कुछ डरावने भी होते हैं। ग्रहण, उल्कापात और धूमकेतुओं को देखने से आज भी बहुत से लोगों को विलक्षण विस्मय ही नहीं भय भी मालूम होता है। इससे स्पष्ट है कि सृष्टि के आरम्भ में लोग इनसे अत्यन्त भयभीत हुए होंगे और इन्हें ईश्वरीय क्षोभ के द्योतक समझते रहे होंगे। कोलम्बस ने एक टापू के निवासियों से कहा कि सूर्य तुम पर क्रुद्ध है और वह अमुक दिन तुम्हें दिखाई नहीं देगा। बाद में वैसी ही स्थिति देखकर उनके अत्यन्त भयभीत होने का वर्णन बहुतों ने पढ़ा होगा। ई० स० पूर्व ५८४ के लगभग लीडिया और मीडिया वालों का युद्ध ५ वर्ष तक जारी रहा। ई० स० पूर्व ५८४ में, जब कि युद्ध हो रहा था, खग्रास सूर्यग्रहण हुआ और अकस्मात् दिन से रात हो गयी., यह देख कर दोनों पक्ष अत्यन्त भयभीत हुए और उन्होंने आपस में समझौता करके युद्ध बन्द किया। यह बात इतिहास-प्रसिद्ध है। कौरव-पाण्डवों का घोर युद्ध होने के पहले एक ही मास में सूर्य और चन्द्रमा दोनों के ग्रहण लगे थे। उसके बाद वह घोर संग्राम हुआ

जिसमें अतिशय मनुष्य-संहार हुआ। इसका वर्णन हमारे महाभारत में है ही। इसी प्रकार अनेकों प्रसंगों में उल्कापात और केतु-दर्शन होने के वर्णन पुराणादिकों में बहुत से हैं।

मनुष्य-व्यवहार के साधनीभूत तथा कालगणना के स्वाभाविक मान दिन, मास और वर्ष आकाशीय चमत्कारों पर ही अवलम्वित हैं। खेती के लिए ऋतुओं का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है और ऋतुज्ञान सूर्य पर अवलम्वित है। वर्षा भी सूर्य के ही कारण होती है। ज्वार-भाटे का कारण चन्द्रमा है। मालूम होता है ईश्वर अपने क्षोभों को भी आकाशस्थ तेजों की ही कुछ विशिष्ट स्थितियों द्वारा उनके आने के पूर्व सूचित करता है। इन सब हेतुओं से स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य का ध्यान उसके उत्पत्तिकाल से ही ज्योतिषशास्त्र में लगा होगा और प्राचीनकाल से ही उसकी ये धारणाएं होंगी कि चन्द्रमा और सूर्य की अमुक स्थिति में खेती इत्यादि के अमुकामुक कार्य करने पड़ते हैं और उसमें भी अमुक विशिष्ट स्थिति में करने से वे अधिक लाभप्रद होते हैं, उदाहरणार्थ चन्द्रमा की अमुक स्थिति में बीज बोया जाय तो उपज अच्छी होगी और उसके अमुक नक्षत्र में रहने पर बोने से नष्ट हो जायगी। सूर्य जब दक्षिण से उत्तर या उत्तर से दक्षिण की ओर मुड़ता है उस समय अर्थात् अयन-संक्रान्ति के दिन अमुक-अमुक कार्य हिताहित-प्रद होंगे, विवाहादि कार्य अमुक समय करने से मंगल-प्रद होंगे, अमुक कर्म करने से ग्रहण, उल्कापात और केतु इत्यादिकों के दर्शन-जन्य अरिष्ट शान्त होंगे। आकाश में दो ग्रह आमने-सामने आ जाने पर उनका युद्ध समझकर, उनकी न्यूनाधिक तेजस्विता द्वारा जय-पराजय मानकर पृथ्वी के राजाओं की जय-पराजय का निश्चय करते रहे होंगे। इसी प्रकार कुछ समय बाद उनकी यह कल्पना होना भी स्वाभाविक है कि आकाशस्थ ज्योतियों का सम्बन्ध यदि सम्पूर्ण जगत् के व्यवहार और शुभाशुभ से है, तो प्रत्येक मनुष्य की जन्मकालीन घटनाओं से भी उनका सम्बन्ध अवश्य होगा और मनुष्य के जन्मकाल की तथा अन्य समयों की सूर्य-चन्द्रादि ग्रहों की स्थिति द्वारा उसके जीवन में होनेवाले सुख-दुःख का निश्चय किया जा सकेगा।

उपर्युक्त विषयों के तीन भेद होते हैं। प्रथम भेद में गणित-सम्बन्धी बातें आती हैं, जैसे कितने दिनों का महीना होता है, कितने महीनों का वर्ष होता है, वर्ष में कितने दिन होते हैं, सूर्य का दक्षिणायन या उत्तरायण अमुक दिन से कितने दिनों बाद होगा, अमुक ग्रह अमुक दिन कहां रहेगा, ग्रहण कब होगा इत्यादि। ग्रहण, केतु तथा ग्रह-युद्धा-दिकों द्वारा जगत् के शुभाशुभ का ज्ञान और अमुक दिन विवाहादि कर्म करने से शुभ या अशुभ फल होंगे इत्यादि बातें द्वितीय भेद में आती हैं। किसी व्यक्ति की जन्म-कालीन तथा अन्य समयों की ग्रहस्थिति के अनुसार उसके जीवन में होने वाले सुख-

दु:ख का विचार तृतीय भेद में किया जाता है। ये ज्योतिषशास्त्र की तीन शाखाएँ (स्कन्ध) कही जा सकती हैं।

हमारे ज्योतिषशास्त्र के प्राचीन और अर्वाचीन ग्रन्थों में ज्योतिष के यही तीन स्कन्ध माने गये हैं। पहले को गणित, दूसरे को संहिता और तीसरे को जातक या होरा कहते हैं। गणित को सिद्धान्त भी कहा जाता है। नारद का वचन है—

सिद्धान्तसंहिताहोरारूपं स्कन्धत्रयात्मकम्।
वेदस्य निर्मलं चक्षुर्ज्योतिःशास्त्रमनूत्तमम्।।

नारदसंहिता १।४

श्रीपतिकृत रत्नमाला के टीकाकार महादेव (शक ११८५) का कथन है—

'ग्रहगणितपाटीगणितबीजगणितरूपसुनिश्चलमलस्य बहुविधविततहोरातन्त्रशाखस्य ज्योतिःशास्त्रवनस्पतेः संहितार्था एव फलानीत्यवधार्य जातकर्मनामकरणमौञ्जीवन्धनविवाहयात्रादौ निखिलसंहितार्थमल्पग्रन्थेनाभिधातुमिच्छुः. . . .आह।'

केशवकृत मुहूर्ततत्त्व नामक ग्रन्थ की टीका में (लगभग शक १४४०) गणेश दैवज्ञ ने कहा है—

"श्री केशवो . . . . . . .गणितस्कन्धं. . . . . .जातकस्कन्धं चोक्त्वा . . . . .संहितास्कन्धं चिकीर्षुः. . . . . .प्रतिजानीते।"

आकाशस्थ ज्योतियों के विचार की ओर हम लोगों का ध्यान बहुत प्राचीन काल से ही लगा था। परन्तु किसी विषय का शास्त्र बनने में बहुत समय लगता है, इसलिए ज्योतिषशास्त्र के भी ग्रन्थ बनने में बहुत समय व्यतीत हुआ होगा और सर्वप्रथम जो ग्रन्थ बने होंगे उनमें तो कम-से-कम इस शास्त्र का विवेचन कुछ मूलभूत विषयों के ही रूप में रहा होगा और वह भी कुछ स्थूल ही। हमारे यहां के सम्प्रति उपलब्ध ज्योतिषग्रन्थों में अति प्राचीन ग्रन्थ वेदाङ्गज्योतिष है। उसमें गणित द्वारा केवल सूर्य और चन्द्रमा की ही स्थिति का विचार हुआ है। उसके बाद का ग्रन्थ अथर्ववेदाङ्गज्योतिष होना चाहिए।[1] इसमें संहिता और होरा स्कन्धों का थोड़ा विचार हुआ है। इसके बाद के ग्रन्थ गर्ग, पराशर इत्यादि की संहिताएं जान पड़ते हैं। ज्योतिषशास्त्र का कुछ विस्तृत ज्ञान हो जाने पर उसकी गणितादि तीन शाखाएँ हुई होंगी। इसके पहले कुछ ऐसे भी ग्रन्थ बने होंगे जिनमें तीनों शाखाओं का एकत्र विवेचन हो। मालूम होता है उस समय ऐसे ग्रन्थ थे और उन्हें लोग संहिता ही कहते थे। वराहमिहिर ने अपनी संहिता में लिखा है—

१. इन ग्रन्थों का स्वरूप थोड़े में दिखाने के लिए बहुत-सी बातों का यहाँ दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। आगे इनका विस्तृत विवेचन किया जायगा।

ज्योतिःशास्त्रमनेकभेदविषयं स्कन्धत्रयाधिष्ठितं।
तत्कात्स्न्योपनयस्य नाम मुनिभिः संकीर्त्यते संहिता।। अध्याय १

वेदाङ्गज्योतिष और गर्गादि की संहिताओं से प्राचीन ग्रन्थ पहले थे या नहीं इसे जानने का सम्प्रति कोई साधन उपलब्ध नहीं है। गर्गादिकों के जो संहिताग्रन्थ इस समय उपलब्ध हैं उनका मूल जैसा था वैसा ही आज भी है, अथवा नहीं, यह निश्चिय-पूर्वक कहना कठिन है। सम्प्रति गर्ग-संहिताएं भी दो-तीन प्रकार की उपलब्ध हैं। उपर्युक्त वराहमिहिर के वचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पहले ऐसा संहिता-ग्रन्थ अवश्य रहा होगा जिसमें तीनों स्कन्धों का विवेचन एकत्र हो, वह विवेचन चाहे पूर्ण हो अथवा अंशतः। जैसे-जैसे ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान वढ़ता गया और प्रत्येक शाखा पूर्ण होती गयी वैसे-वैसे भविष्य में प्रत्येक शाखा के भिन्न-भिन्न ग्रन्थ बने होंगे और संहिता नाम केवल एक स्कन्ध का पड़ गया होगा। वराहमिहिर की पञ्चसिद्धान्तिका से ज्ञात होता है कि उसके (शक ४२७) पूर्व भिन्न-भिन्न शाखाओं के स्वतन्त्र ग्रन्थ वन चुके थे। केवल गणितस्कन्ध विषयक आर्यभट का ग्रन्थ वराहमिहिर के कुछ पहले का है, परन्तु उसके भी पहले गणित स्वतन्त्र स्कन्ध वन चुका था, यह आगे चलकर सिद्ध करेंगे। स्वयं वराह-मिहिर के तो तीनों शाखाओं के भिन्न-भिन्न ग्रन्थ हैं ही।

प्रत्येक स्कन्ध के ग्रन्थों के विषय

गणित स्कन्ध के ग्रन्थों में सिद्धान्त, तन्त्र और करण तीन भेद हैं। करण ग्रन्थ में केवल ग्रहगणित रहता है। सिद्धान्त का लक्षण भास्कराचार्य ने इस प्रकार किया है—

त्रुट्यादिप्रलयान्तकालकलना मानप्रभेदः क्रमा-
च्चारश्च द्युसदां द्विधा च गणितं प्रश्नास्तथा सोत्तराः।
भूधिष्ण्यग्रहसंस्थितेश्च कथनं यन्त्रादि यत्रोच्यते
सिद्धान्तः सः उदाहृतोऽत्र गणितस्कन्धप्रबन्धे वुधैः ।।६।।
—सिद्धान्त शिरोमणि, मध्यमाधिकार ।।

सिद्धान्त या तन्त्र में मुख्यतः दो अङ्ग होते हैं। एक में केवल ग्रहादिकों का गणित और दूसरे में प्राधान्यतः सृष्टि-रचना का वर्णन, गोलविचार, यन्त्ररचना और काल-गणना के मान इत्यादि विषय रहते हैं, ये दोनों अङ्ग विल्कुल पृथक् नहीं रहते और न तो रखे जा सकते हैं। अधिकांश सिद्धान्तों में दोनों का सम्मिश्रण ही पाया जाता है। सिद्धान्त, तन्त्र और करणों के लक्षण कोई-कोई यों करते हैं कि जिसमें ग्रहगणित का विचार कल्पादि से हो वह सिद्धान्त, जिसमें महायुग से हो वह तन्त्र और जिसमें किसी इष्ट शक से हो वह करण है। केवल ग्रहगणित की दृष्टि से देखा जाय तो इसमें इसके

अतिरिक्त अन्य कोई भेद नहीं है, अर्थात् यह कह सकते हैं कि वस्तुत: इसमें कोई भेद नहीं है। तीनों प्रकार के ग्रन्थों में जिन भिन्न-भिन्न प्रकरणों में ग्रहगणित का विचार किया रहता है, उन्हें अधिकार या अध्याय कहते हैं। उनके नाम ये हैं—

१ मध्यमाधिकार	५ सूर्यग्रहण	९ ग्रहयुति
२ स्पष्टाधिकार	६ छायाधिकार	१० भग्रहयुति
३ त्रिप्रश्नाधिकार	७ उदयास्ताधिकार	११ महापात
४ चन्द्रग्रहण	८ शृङ्गोन्नति	

कुछ ग्रन्थों में अधिकार-संख्या इससे कुछ कम है, और कुछ में अधिक और उनका क्रम भी प्रत्येक में भिन्न-भिन्न है, फिर भी इन ग्यारहों में उन सबका समावेश हो जाता है।

संहिता के विषयों के सम्बन्ध में सबकी एकवाक्यता नहीं है। सामान्यत: संहिता के दो अङ्ग माने जा सकते हैं। एक तो वह जिसमें ग्रहचार अर्थात् नक्षत्र-मण्डल में ग्रहों के गमन और उनके परस्पर युद्धादि के धूमकेतु, उलकापात और शकुनादिकों द्वारा संसार के लिए शुभाशुभ फल का विवेचन रहता है और दूसरा वह जिसमें मुहूर्त अर्थात् विवाह और यात्रादि कर्मों के शुभाशुभ फलप्रद समय का विचार रहता है। वराहमिहिर की संहिता से विदित होता है कि उनके समय दोनों अङ्गों का महत्व समान था, परन्तु श्रीपति के समय (शक ९६०) से क्रमश: प्रथम अङ्ग का महत्व कम होने लगा और लगभग शक १४५० से दूसरे अङ्ग का प्राधान्य हो गया। किंवहुना, मुहूर्ततत्त्व मुहूर्तमार्तण्ड, मुहूर्तचिन्तामणि, मुहूर्तचूडामणि, मुहूर्तदीपक और मुहूर्तगणपति इत्यादि ग्रन्थों के नाम से तथा तदन्तर्गत विषयों को देखने से पता चलता है कि आगे जाकर मुहूर्त विषय ही तीसरा स्कन्ध बन बैठा। मुहूर्तग्रन्थों में वराहमिहिर की संहिता के कुछ विषय रहते हैं, पर उनका प्राधान्य नहीं रहता।

किसी मनुष्य के जन्मकालीन लग्न द्वारा उसके जीवन के सम्पूर्ण सुख-दु:खों का निश्चय पहले ही कर देना होरास्कन्ध का सामान्यत: मूल स्वरूप है। होरास्कन्ध का ही दूसरा नाम पहले जातक था। आगे चलकर इसके दो विभाग हो गये। उपर्युक्त विषय जिस अङ्ग में आया उसे जातक कहने लगे और दूसरा अङ्ग ताजिक हुआ। किसी मनुष्य के जन्मकाल से आरम्भ कर जिस समय सौरवर्ष की कोई संख्या समाप्त होकर नवीन वर्ष लगता है उस समय के लग्न द्वारा उस वर्ष के सुख-दु:ख का निश्चय करना सामान्यत: ताजिक का मुख्य विषय है। इस पद्धति में जन्मलग्न का मुथहा नाम रख कर उसे भी एक ग्रह मान लिया गया है। कुछ ग्रन्थकारों ने ताजिक शब्द का संस्कृत रूप 'तार्तीयिक' बताया है। मुसलमानों का प्राबल्य होने के समय (लगभग शक १२००) से हमारे देश में ताजिक अङ्ग उनके ग्रन्थों से आया।

इस ब्रह्माण्ड में पृथ्वी, चन्द्र और सूर्यादिकों की स्थिति कहां है, कैसी है, उन्हें गति कैसे मिलती है, वह किस प्रकार की होती है, इत्यादि प्रश्नों का सामान्य विवरण हमारे ज्योतिषग्रन्थों के जिस प्रकरण में रहता है, उसके भुवनकोश, भुवनसंस्था, जगत्संस्था इत्यादि अर्थों के नाम भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में हैं। यद्यपि इन बातों का विस्तृत विवेचन आगे यथास्थान हुआ है तथापि विषय-प्रवेश होने के लिए यहाँ भुवनसंस्था, ग्रहगति, अयनचलन और कालगणना करने की युगपद्धति के विषय में संक्षेप में कुछ कहूँगा।

भुवनसंस्था

हमारे ज्योतिषशास्त्र के मतानुसार विश्व के मध्यभाग में पृथ्वी है। उसके चारों ओर क्रमशः चन्द्र, बुध, शुक्र, सूर्य, मंगल, गुरु, शनि और तारकामण्डल घूम रहे हैं। यह घूमता हुआ नक्षत्र-मण्डल दोनों ध्रुवों में बँधा हुआ है। पृथ्वी गोल और निराधार है। उसके चारों ओर वायु है, जिसे भूवायु कहते हैं। उसके ऊपर आकाश में प्रवह नाम का वायु सञ्चार करता है। उसी की प्रेरणा से चन्द्रादि तेजों को गति मिलती है, और वे पृथ्वी के चारों ओर घूमते हैं। यह वर्णन सभी सिद्धान्त और तन्त्र ग्रन्थों में रहता है, करण ग्रन्थों में नहीं रहता पर पञ्चसिद्धान्तिका में है। ज्योतिष के पौरुष ग्रन्थों में पञ्चसिद्धान्तिका में दिये हुए मतों में से प्राचीन मत सम्प्रति उपलब्ध नहीं हैं, इसलिए उसके उपर्युक्त अर्थों के सूचक वचन नीचे उद्धृत करते हैं।

पञ्चमहाभूतमयस्तारागणपञ्जरे महीगोलः।
खेऽयस्कान्तान्तःस्थो लोह इवावस्थितो वृत्तः ॥१॥
मेरोः समोपरि वियत्यक्षो व्योम्नि स्थितो ध्रुवोऽधोऽन्यः।
तत्र निबद्धो मरुता प्रवहेण भ्राम्यते भगणः ॥५॥
चन्द्रादूर्ध्वं बुधसितरविकुजजीवार्कजास्ततो भानि ॥३०॥

अध्याय १३ त्रैलोक्यसंस्थान

आधुनिक ज्योतिषियों की भांति प्रथम आर्यभट का मत है कि "ग्रहों के साथ सम्पूर्ण तारका-मण्डल लगभग एक दिन में हमें पृथ्वी की एक प्रदक्षिणा करता हुआ दिखाई देता है, परन्तु यह गति वास्तविक नहीं है। पृथ्वी की दैनन्दिन गति के कारण हमें ऐसा भास होता है।" बहुत से पौरुष सिद्धान्तकारों ने आर्यभट के इस मत में दोष दिखलाये हैं।

नक्षत्रों के सम्बन्ध से देखने पर ग्रह पश्चिम से पूर्व की ओर जाते हुए दिखाई देते हैं। ज्योतिषशास्त्र में ग्रहों की इसी गति का विचार किया गया है। ग्रहों की पूर्वाभिमुख गति की उपपत्ति सूर्यसिद्धान्त में इस प्रकार है—

पश्चाद् व्रजन्तोऽतिजवान्नक्षत्रैः सततं ग्रहाः ।
जीयमानास्तु लम्बन्ते तुल्यमेव स्वमार्गगाः ।।२५।।

मध्यमाधिकार

अर्थ—ग्रह नक्षत्रों के साथ पश्चिम में जाते समय नक्षत्रों के वेग से अत्यन्त पराजित होने के कारण अपने मार्ग में नियमित रूप से पीछे रह जाते हैं, इसलिए उन्हें पूर्वाभिमुख गति प्राप्त होती है।

इसका तात्पर्य इतना ही है, कि नक्षत्रों की गति की अपेक्षा ग्रहों की दैनन्दिन गति कम होने के कारण वे पीछे रह जाते हैं, अतः नक्षत्रों से पूर्व में जाते हुए दिखाई देते हैं।

प्रथम आर्यभट के मतानुसार नक्षत्रों की दैनन्दिन गति वास्तविक नहीं है, इसलिए उन्हें ग्रहों की पूर्वाभिमुख गति के विषय में उपर्युक्त कल्पना नहीं करनी पड़ी। उनका कथन है कि ग्रहों की वस्तुतः पूर्वाभिमुख गति है।

ग्रहगति के विषय में एक और ऐसी कल्पना की गयी है, कि सब ग्रहों की पूर्वाभिमुख (योजनात्मक) गति उनके कक्षा-मण्डल में समान ही है, परन्तु पृथ्वी से ग्रहों के अन्तर समान न होने के कारण दूर की कक्षाएं निकट की कक्षाओं की अपेक्षा बड़ी पड़ती हैं, इसलिए दृक्प्रत्यय में आनेवाली उनकी पूर्वाभिमुख गतियां भिन्न-भिन्न दिखाई देती हैं। चन्द्रमा अत्यन्त पास है, इसलिए उसकी गति सबसे अधिक है और शनि की कक्षा सब ग्रहों से बाहर है, इसलिए उसकी गति सबसे कम है। पञ्चसिद्धान्तिका में कहा है—

प्राग्गतयस्तुल्यजवा ग्रहास्तु सर्वे स्वमण्डलगाः ।।३९।।
पर्येति शशी शीघ्रं स्वल्पं नक्षत्रमण्डलमधस्थः ।
ऊर्ध्वस्थस्तुल्यजवो विचरति महदर्कजो मन्दम् ।।४१।।

अध्याय १३ त्रैलोक्यसंस्थान

सम्पूर्ण नक्षत्रमण्डल में ग्रह की एक प्रदक्षिणा को भगण कहते हैं। भगण-पूर्ति का काल अनेकों प्रदक्षिणाओं का अवलोकन करने के बाद निश्चित किया गया होगा। गणित ग्रन्थों में प्रत्येक ग्रह की कल्पीय या महायुगीय भगण-संख्या लिखी रहती है। उसके द्वारा लायी हुई और उपर्युक्त पञ्चसिद्धान्तिका के वाक्य में बतलायी हुई गति प्रति-दिन समान रहती है। उसे मध्यम गति कहते हैं। परन्तु प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली प्रत्येक ग्रह की गति सर्वदा समान नहीं रहती। उदाहरणार्थ, गुरु को लीजिये, उसकी भगण-पूर्ति का काल लगभग १२ वर्ष है। इस मान से गुरु की मध्यम गति ५ कला के लगभग आती है, परन्तु प्रत्यक्ष देखा जाय तो गुरु कभी इससे कम चलता है और कभी अधिक। कभी-कभी उसकी गति १५ कला के लगभग रहती है और कभी १ कला से

भी कम। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो वह उलटा (पूर्व से पश्चिम की ओर) चलता है। इसे वक्र गति कहते हैं। प्रति दिन की इस प्रकार की गति स्पष्ट गति कहलाती है। मध्यम गति द्वारा ग्रह का जो स्थान निश्चित होता है, स्पष्टग्रह उससे कुछ आगे या पीछे रहता है। जो स्थिति प्रत्यक्ष दिखाई देती है, उसे स्पष्ट स्थिति कहते हैं और मध्यगति द्वारा लायी हुई स्थिति मध्यमस्थिति कही जाती है। इष्टकाल में गणित द्वारा किसी ग्रह की स्पष्ट स्थिति निकालना, अर्थात् इष्ट समय में आकाश में किसी ग्रह का स्थान जानना हमारे ज्योतिषशास्त्र के गणितस्कन्ध का प्रधान विषय है।

अयन-चलन

सूर्य किसी नक्षत्र में आने के बाद, पुनः जितने समय में वहां आता है उसे नाक्षत्र सौर वर्ष कहते हैं। विषुववृत्त और क्रान्तिवृत्त का संयोग दो स्थानों में होता है। उन दोनों बिन्दुओं को सम्पात या क्रान्तिपात कहते हैं। सूर्य जब सम्पात में आने के बाद विषुववृत्त के उत्तर की ओर जाता है, और जब कि उस समय वसन्त ऋतु रहती है, उस सम्पात को मेषसम्पात या वसन्तसम्पात कहते हैं। मान लीजिये किसी समय वसन्त-सम्पात में एक तारा है। उसी समय सूर्य भी वहां आया और वर्ष का आरम्भ हुआ। सम्पात में गति है। वह प्रति वर्ष लगभग ५० विकला पीछे हटता है, इसलिये नक्षत्र-मण्डल उतना ही आगे खिसका हुआ दिखाई देता है। सम्पात से चलकर सूर्य को पुनः सम्पात तक आने में जो समय लगता है, उसे साम्पातिक सौर वर्ष कहते हैं। इसी का नाम आर्तव वर्ष या सायन वर्ष भी है। सूर्य जब सम्पात में आता है उस समय पहले का नक्षत्र ५० विकला आगे गया रहता है। उसे वहां तक जाने में लगभग ५० पल अधिक लगते हैं, अतः सिद्ध हुआ कि साम्पातिक सौर वर्ष की अपेक्षा नाक्षत्र सौर वर्ष लगभग ५० पल अधिक है। ऋतुएं साम्पातिक सौर वर्ष पर अवलम्बित हैं। जब-जब सूर्य सम्पात में आयेगा सर्वदा एक ही ऋतु रहेगी, परन्तु एक बार किसी नक्षत्र में सूर्य के रहने पर जो ऋतु होगी वही सर्वदा उस नक्षत्र में आने पर नहीं होगी, यह स्पष्ट है। वृत्त का एक बिन्दु हिलने पर उसके सभी बिन्दु हिल जाते हैं, इसलिए सम्पात-बिन्दु की भांति अयन-बिन्दु भी पीछे खिसकते हैं। अतः एक बार जिस नक्षत्र में सूर्य के आने पर उत्तरायण होता है, बाद में उसमें नहीं होता, बल्कि पीछे-पीछे हटने लगता है। अयन-बिन्दु की गति सम्पात-बिन्दु के समान ही होती है। सूर्य के अयन नक्षत्रों में क्रमशः पीछे हटने के कारण वह गति पहले ज्ञात हुई, इसलिए उसे अयन-चलन कहने लगे।

कालगणना की युगपद्धति

कलियुग का मान ४३२००० वर्ष है। द्वापर, त्रेता और कृतयुग क्रमशः इससे द्विगुणित, त्रिगुणित और चतुर्गुणित होते हैं। इन चारों युगों का एक महायुग होता है।

वह कलियुग का दसगुना होता है। उसका मान ४३२०००० वर्ष है। एक सहस्र महायुगों का कल्प होता है। यही ब्रह्मा का दिन है। कल्प में १४ मनु होते हैं। कल्पारम्भ से लेकर वर्तमान महायुग के आरम्भ पर्यन्त ६ मनु और २७ महायुग बीत गये। २८वें महायुग के कृत, त्रेता और द्वापर तीन युग बीत गये। इस समय कलियुग है। प्रत्येक मनु ७१ महायुगों का होता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक मनु के आरम्भ में कृतयुग-तुल्य सन्धि होती है। इस प्रकार ब्रह्मदिन के आरम्भ से लेकर वर्तमान कलियुग के आरम्भ तक ४५६७ कलियुगों जितना समय बीता। इस विषय में एक प्रथम आर्यभट को छोड़, अन्य सब सिद्धान्तों का मत एक है। अन्य विषयों में थोड़ा मतभेद है। सूर्यसिद्धान्त और प्रथम आर्यभट के सिद्धान्तानुसार वर्तमान कलियुग के आरम्भ में सब ग्रह अर्थात् सूर्यादि सात ग्रह एक स्थान में आते हैं अर्थात् उनका मध्यम भोग शून्य आता है। ब्रह्मगुप्त और द्वितीय आर्यभट के सिद्धान्तानुसार वे केवल कल्पारम्भ में एक स्थान में आते हैं। कलियुगारम्भ में पास-पास तीन-चार अंशों के भीतर रहते हैं। और भी एक मतभेद है। उसे आगे कहूँगा।

हमारे देश में आकाशस्थित ज्योतियों की गति-स्थिति इत्यादि का तथा ज्योतिषशास्त्र के अन्य सब अङ्गों का विचार उत्पन्न होने के बाद, तत्सम्बन्धी ज्ञान क्रमशः कैसे बढ़ता गया इसका इतिहास इस पुस्तक में लिखा गया है। हमारे देश का प्राचीन नाम भारतवर्ष, भरतखण्ड या भारत है। इसमें भारतवर्ष के ज्योतिषशास्त्र का इतिहास है, इसलिए इसका नाम 'भारतीय ज्योतिषशास्त्र अथवा भारतीय ज्योतिषशास्त्र का प्राचीन और अर्वाचीन इतिहास' रखा है।

ज्योतिषशास्त्र के संहिता और जातक अङ्ग ग्रहादि ज्योतिषों की गति पर अवलम्बित हैं। ग्रहादिकों की स्पष्ट स्थिति अर्थात् अमुक समय ग्रह आकाश में अमुक स्थान में रहेगा, पहले बता देना हमारे ज्योतिषशास्त्र का अत्यन्त महत्व का विषय है, और वह उतना ही कठिन भी है। स्पष्ट गति-स्थिति से सूक्ष्म ज्ञान द्वारा मध्यम गति-स्थिति का सूक्ष्म ज्ञान होता है, तथापि सूक्ष्म स्पष्ट स्थिति का ज्ञान होने के पहले भी सामान्यतः मध्यम गति-स्थिति का बहुत कुछ सूक्ष्म ज्ञान हो जाता है। यह पहले की सीढ़ी है। ज्योतिषशास्त्र के सम्प्रति उपलब्ध सिद्धान्त-ग्रन्थों में स्पष्ट-गति-स्थिति का गणित है, परन्तु मनुष्य का ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान इस स्थिति तक पहुँचने में समय बहुत लगा होगा, इसलिए हम ज्योतिषशास्त्र के इतिहास के दो विभाग 'ज्योतिषसिद्धान्तकाल' और 'सिद्धान्तप्राक्काल' करते हैं और इसी के अनुसार इस ग्रन्थ के भी दो विभाग किये हैं। सिद्धान्तप्राक्काल में हम लोगों का ध्यान ज्योतिष की ओर कैसे लगा, तत्सम्बन्धी ज्ञान क्रमशः कैसे बढ़ता गया और वह स्पष्ट स्थिति जानने वाली सीढ़ी तक कैसे पहुँचा, इसका इतिहास हमें वेद, वेदाङ्ग, स्मृति और महाभारत इत्यादि ग्रन्थों में प्रसंगवशात् आये हुए

ज्योतिषसम्बन्धी लेखों द्वारा मालूम होता है। वह इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में है और उसके बाद का आज तक का इतिहास द्वितीय भाग में दिया गया है। मैंने सिद्धान्तप्राक्काल के और तदनुसार इस ग्रन्थ के प्रथम भाग के दो विभाग वैदिक-काल और वेदाङ्ग-काल किये हैं। प्रथम में वेदों की संहिताओं, ब्राह्मणों और क्वचित् उपनिषदों में आये हुए ज्योतिष सम्बन्धी विषयों का इतिहास है और द्वितीय विभाग में वेदाङ्ग, स्मृति और महाभारतादिकों में वर्णित विषयों का वर्णन है। वेदाङ्गों में ज्योतिष के दो ग्रन्थ हैं। उनमें केवल ज्योतिष विषय ही है, परन्तु मध्यम गति-स्थिति भी है। चूंकि वे दोनों ज्योतिष-सिद्धान्तग्रन्थों में प्राचीन हैं, इसलिए उनका विवेचन प्रथम भाग में ही किया है। वैदिक-काल, वेदाङ्गकाल और ज्योतिष-सिद्धान्तकाल की मर्यादा का विचार प्रथम भाग के अन्त में किया है।

द्वितीय भाग में ज्योतिष के तीनों स्कन्धों का इतिहास है। उसमें गणितस्कन्ध का इतिहास, पूर्वोक्त, मध्यम, स्पष्ट इत्यादि अधिकारों के क्रम से दिया है। भुवनसंस्था, वेध और अयन-चलन का विवेचन भी उसी में है। इस विवेचन में अनेक ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के नाम आयेंगे। चूँकि उनके इतिहास का ज्ञान न रहने से उपर्युक्त विवेचन समझने में अड़चन होने की सम्भावना है, इसलिए दूसरे विभाग के आरम्भ में ही मध्यमाधिकार में ज्योतिष-गणित-ग्रन्थकार और उनके ग्रन्थों का इतिहास लिखा है और उसी में ग्रहों की मध्यम गति-स्थिति का विचार किया गया है। स्पष्टाधिकार में स्पष्ट गति-स्थिति का विवेचन है। पञ्चाङ्ग के अङ्गों का और इस देश के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में प्रचलित भिन्न-भिन्न पञ्चाङ्गों का वर्णन भी उसी में है। दोनों भागों के विषयक्रम का विस्तृत स्वरूप अनुक्रमणिका द्वारा ज्ञात होगा।



प्रथम भाग

वैदिक काल तथा वेदाङ्ग काल में ज्योतिष का विकास

प्रथम विभाग

वैदिक काल

इस प्रकरण में वेदों में आये हुए ज्योतिषशास्त्र सम्बन्धी उल्लेखों का विचार किया जायगा। वेद केवल ज्योतिषशास्त्र के ग्रन्थ नहीं हैं, अतः स्पष्ट है कि उनमें कोई भी बात ज्योतिष-विषयक विवेचन के लिए नहीं कही गयी होगी, बल्कि इतर विषयों का विचार करते समय प्रसंगवशात् उसके सम्बन्ध में कुछ बातें आ गयी होंगी। हमें चाहिए कि जहां उनके द्वारा कुछ अनुमान किये जा सकते हों, वहां करें, और जहां अनुमानोपयोगी सब सुसंगत उपकरण न हों, वहां उपलब्ध बातें ही ज्यों-की-त्यों उद्धृत कर दें।

यह तो बिलकुल स्पष्ट है कि हमारे पूर्वज सृष्टि के और विशेषतः आकाश के चमत्कारों का अवलोकन करने में सदा सचेष्ट रहते थे। कोई भी वेद या वेदभाग अथवा उसका कोई प्रपाठक ही लीजिए, उसमें आकाश, चन्द्र और सूर्य, उषा और सूर्य, रश्मि, नक्षत्र और तारे, ऋतु और मास, दिन और रात, वायु और मेघ—इनके विषय में कुछ न कुछ वर्णन अवश्य मिलेगा और वह भी बड़ा ही मनोहर, स्वाभाविक, सुन्दर, चमत्कारिक और आश्चर्यकारक। मैं यहां इसके कुछ उदाहरण देता पर ऐसा करने से ग्रन्थविस्तार होगा और कुछ अंश में विषयान्तर भी होगा।

विश्वोत्पत्ति

अब पहले यह विचार करें कि जगत् की उत्पत्ति के विषय में वेदों में क्या लिखा है। ऋग्वेदसंहिता में एक स्थान पर निम्नलिखित वर्णन है—

देवानां नु वयं जाना प्रवोचाम विपन्यया।
उक्थेषु शस्यमानेषु यः पश्यादुत्तरे युगे ॥१॥
ब्रह्मणस्पतिरेतासं कर्मार इवाधमत्।
देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत ॥२॥
देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत।
तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि ॥३॥

भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त ।
अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि ।।४।।
अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्षया दुहिता तव ।
तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतबन्धवः ।।५।।

ऋ० सं० १०।७२

हम देवों के जन्म स्पष्ट वाणी से कहते हैं; जो [देवगण पूर्वयुग में उत्पन्न होते हुए भी] उत्तर युग में [यज्ञों में] शस्त्र गाते समय [स्तोता को] देखता है ।।१।। कर्मार की भाँति ब्रह्मणस्पति ने देवों को जन्म दिया। देवों के पूर्वयुग में असत् (सर्वाभाव) से सत् हुआ ।।२।। देवों के प्रथम युग में असत् से सत् हुआ, उससे दिशाएँ हुईं और उसके पश्चात् उत्तानपद हुआ ।।३।। उत्तानपद से पृथ्वी हुई, पृथ्वी से आशाएं हुईं, अदिति से दक्ष हुआ, दक्ष से अदिति हुई ।।४।। हे दक्ष ! तुम्हारी दुहिता अदिति से उत्पन्न होने के बाद स्तुत्य तथा अमर देव उत्पन्न हुए ।।५।।

इस वर्णन के आधार पर सामान्यतः कह सकते हैं कि पहले कोई अस्तित्व उत्पन्न हुआ, उसके बाद दिशाएँ और तदनन्तर पृथ्वी उत्पन्न हुई ।

ऋक् संहिता में एक स्थान पर लिखा है—

ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ।।१।। समुद्रादर्णवादधिसंवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ।।२।। सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ।।३।।

ऋ० सं० १०।१९०

ये मन्त्र अन्य वेदों में भी हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक स्थान पर निम्नलिखित वर्णन है—

आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्। तेन प्रजापतिरश्राम्यत। कथमिदं स्यादिति। सोऽपश्यत्पुष्करपर्णं तिष्ठत्। सोमन्यत। अस्ति वै तत्। यस्मिन्निदमधितिष्ठति। स वराहो रूपं कृत्वोपन्यमज्जत्। स पृथिवीमध आर्छत्। तस्या उपहत्योदमज्जत्। तत्पुष्करपर्णेऽप्रथयत्। यदप्रथयत्। तत्पृथिव्यै पृथिवीत्वम् ।।

अष्टक १ अध्याय १ अनुवाक ३

इसमें "पहले जल था, उसके बाद पृथ्वी उत्पन्न हुई इत्यादि" वर्णन है। तैत्तिरीय संहिता के भी निम्नलिखित वाक्यों में इसी प्रकार उदक के पश्चात् वायु और उसके बाद पृथ्वी की उत्पत्ति बतायी गयी है।

> आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत् तस्मिन् प्रजापतिर्वायुर्भूत्वा-
> चरत् स इमामपश्यत् तां वराहो भूत्वाऽहरत् तां विश्वकर्मा
> भूत्वा व्यमार्ट् सा प्रथत सा पृथिव्यभवत्। तत् पृथिव्यै पृथिवित्वम्॥
>
> अष्टक ७ अध्याय १ अनुवाक ५

इसमें उदक के बाद वायु और वायु के बाद पृथ्वी यह क्रम है।

निम्नलिखित उपनिषद्भाग में बतायी हुई उत्पत्ति का क्रम अधिक सुव्यवस्थित ज्ञात होता है।

> तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः।
> वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः।
> ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात् पुरुषः॥
>
> तैत्तिरीयोपनिषद् २।१ (ब्रह्मवल्ली प्रथमखण्ड)

अन्य भी अनेक स्थलों में सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन है।

यद्यपि वेदों में सृष्टि की उत्पत्ति, उसका क्रम इत्यादि बातें बतलायी हैं, तथापि तैत्तिरीयब्राह्मण में एक स्थान पर बड़ा चमत्कारिक वर्णन यह है, कि सृष्टि-उत्पत्ति का वास्तविक कारण बतलाना असम्भव है और उसे कोई भी नहीं जानता।

> नासदासीन्नोसदासीत्तदानीम्। नासीद्रजो नो व्योमा परो
> यत्। किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्। अम्भः किमासीद् गहनं
> गभीरम्। न मृत्युरमृतं तर्हि न। रात्रिया अह्न आसीत् प्रकेतः।
> आनीदवात ँ स्वधया तदेकम्। तस्माद्धान्यं न परः किञ्च
> नास। तम आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकेतम्। सलिलं ँ सर्वं मा
> इदम्। तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत्। तमसस्तन्महिमा.
> जायतैकम्। कामस्तदग्रे समवर्तताधि। मनसो रेतः प्रथमं
> यदासीत्। सतो बन्धुमसति। निरविन्दन्। हृदि प्रतीष्या
> कवयो मनीषा। तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषाम्। अध-
> स्विदासी ३दुपरिस्वदासी ३त्। रेतोधा आसन् महिमान आसन्
> स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्॥
>
> तै० ब्रा० २।८।९

"पूर्व सृष्टि का प्रलय होकर उत्तर सृष्टि उत्पन्न होने के पहले सत् नहीं था, असत् भी नहीं था, आकाश नहीं था, उदक नहीं था, मृत्यु नहीं थी, अमृत नहीं था, रात और दिन को प्रकाशित करने वाले कोई (सूर्य-चन्द्र) न थे। केवल ब्रह्म था। उसके मन में सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा हुई। उसके बाद सारा संसार उत्पन्न हुआ, इत्यादि" वर्णन इन वाक्यों में है। इसके बाद आगे कहा है—

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्। कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनाय। अथो को वेद यत आवभूव।
इयं विसृष्टिर्यत आवभूव। यदि वा दधे यदि वा न। यो
अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्। सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद।
किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आसीत्[1]। यतो द्यावापृथिवी
निष्टतक्षुः॥

तै० ब्रा० २।८।९

यह विविध सृष्टि किससे उत्पन्न हुई, किसलिए हुई, इसे वस्तुतः कौन जानता है? अथवा कौन कह सकता है? देवता भी पीछे से हुए, फिर जिससे यह सृष्टि उत्पन्न हुई, उसे कौन जानता है। जिससे द्यावापृथ्वी बनी वह वृक्ष कौन सा था, और किस वन में था, इसे कौन जानता है? इन सब का अध्यक्ष परमाकाश में है, वही इसे जानता है, अथवा वह भी जानता है या नहीं, इसे कौन जाने?

उपर्युक्त विचारों में यह अभिप्राय भी स्पष्ट है कि जगदुत्पत्ति का कारण जानने वाला तो कोई नहीं है, पर उत्पत्तिक्रम भी किसी को ज्ञात नहीं है। ऋग्वेद में भी एक स्थान में लिखा है—

तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थां एका यमस्य भुवने
विराषाट्। आणिं न रथ्यममृताधितस्थुः॥

ऋ० सं० १।३५।६

"द्युलोक तीन हैं। उनमें से दो सविता के उदर में [और] एक यम के भुवन में.......[है].......[चन्द्रतारादि] अमर [उस] पर बैठे हैं", ऐसा कहने के बाद ऋषि फिर उसी ऋचा में कहते हैं—

१. "किं स्विद्वनं" मन्त्र वाजसनेयीसंहिता (१७।२०) में भी है। इसी प्रकार इसके पहले के सब मन्त्र ऋक्संहिता (१०।१२९) में भी हैं। 'किं स्विद्वनं' मन्त्र १०।३१ में है।

इह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत् ।

यह सब जाननेवाला यदि कोई है, तो वह यहां आकर बतावे। यहां ऋषि का आशय यह है कि वस्तुतः इसे जानने वाला कोई नहीं है।

यह सब होते हुए भी मालूम होता है जगत्संस्थान का—कम-से-कम पृथ्वी-संस्थिति का तो वेदकाल में भी अच्छा ज्ञान था।

विश्वसंस्था

सम्पूर्ण जगत् के विषय में कुछ कहते समय रोदसि, द्यावापृथ्वी अथवा इसी अर्थ के दूसरे शब्दों द्वारा आकाश और पृथ्वी के समुच्चय को लक्षित करके किया हुआ वर्णन बहुत से स्थलों में पाया जाता है। इससे ज्ञात होता है, जगत् के द्यौ और पृथ्वी दो भाग माने गये हैं। कहीं-कहीं द्युलोक तीन बतलाये हैं। ऋक्संहिता में तीन द्युलोकों का निर्देश बहुत से स्थलों में है। कहीं-कहीं दिव् का पृष्ठभाग अथवा अत्यन्त उच्च भाग स्वर्ग बतलाया है, पर अधिकांश स्थानों पर द्यौ, अन्तरिक्ष और पृथ्वी जगत् के तीन भाग माने गये हैं। द्यौ और पृथ्वी के बीच के भाग का नाम अन्तरिक्ष है। वही वायु, मेघ और विद्युत् का स्थान है। पक्षी उसी में उड़ते हैं।

'नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णोद्यौः समवर्तत, पद्भ्यां भूमिः।'

पुरुषसूक्त की इस प्रसिद्ध ऋचा में ये तीन भाग स्पष्ट हैं। मालूम होता है इनकी ऊर्ध्वाधः स्थिति का ध्यान रखकर ही विराट् पुरुष के मस्तक, नाभि और पादों से उनकी उत्पत्ति की कल्पना की गयी है।

यः पृथिवीं व्यथमानमदंहद्यः पर्वतान् प्रकुपितां अरम्णात् ।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात् स जनास इन्द्रः ।।

ऋ० सं० २।१२।१ अथ० सं० २०।३४।२

जिसने कांपती हुई पृथ्वी दृढ़ की.....जिसने विस्तीर्ण अन्तरिक्ष व्यवस्थापित किया, जिसने द्यौ को धारण किया, हे मनुष्यो! वह इन्द्र है।

त्रिर्नो अश्विना दिव्यानि भेषजा त्रिः पार्थिवानि त्रिरुदत्तमद्भ्यः ।।

ऋ० सं० १।३४।६

हे अश्विनो! आप हमें तीन बार द्युलोक की, तीन बार पृथ्वी पर की और तीन बार अन्तरिक्ष की ओषधियां दीजिये।

यहां मूलोक्त 'अद्भ्यः' शब्द का अर्थ है 'जिसमें मेघोदक रहता है उस प्रदेश से

अर्थात् अन्तरिक्ष से।' इसके अनेकों प्रमाण हैं और इस शब्द से भी ज्ञात होता है कि अन्तरिक्ष उसी को कहते हैं जिसमें मेघोदक रहता है।

ये महीं रजसो विदुर्विश्वेदेवासो अद्रुहः। मरुद्भिरग्न आगहि।।

ऋ० सं० १।१९।३

'हे अग्ने ! जो देवता महान् अन्तरिक्ष में रहते हैं उन सब मरुतों (देवताओं) के साथ तुम यहां आओ।' इससे मरुत् (वायु) का स्थान अन्तरिक्ष ज्ञात होता है।

वेदा योवीनाम्पदमन्तरिक्षेण पतताम्। ऋ० सं० १।२५।७

'जो (वरुण) अन्तरिक्ष में उड़नेवाले पक्षियों का मार्ग जानता है।' इससे पक्षियों का गमनमार्ग अन्तरिक्ष सिद्ध होता है।

द्यौरन्तरिक्षे प्रतिष्ठितान्तरिक्षि पृथिव्याम्।

ऐ० ब्रा० ११।६

इस ऐतरेयब्राह्मण के वाक्य में तो यह स्पष्ट है कि पृथ्वी और द्यौ के बीच में अन्तरिक्ष है। बहुत से स्थलों में यह वर्णन है कि सूर्य द्युलोक के अत्यन्त उच्च प्रदेश में सञ्चार करता है। अग्रिम ऋचा देखिये—

उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम्। हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय।।

ऋ० सं० १।५०।११

हे अनुकूल-तेज सूर्य ! तू.....परम उच्च द्युलोक पर चढ़कर मेरा हृद्रोग... नाश कर।

निम्नलिखित कुछ वाक्यों में भी यह कल्पना दिखाई देगी कि सूर्य पृथ्वी से अत्यन्त दूर प्रकाशित होता है।

यथाग्निः पृथिव्या समनमदेवं मह्यं भद्राः सन्नतयः सन्नमन्तु
वायवे समनमदन्तरिक्षाय समनमद् यथा वायुरन्तरिक्षेण सूर्याय
समनमद् दिवे समनमद् यथा सूर्यो दिवा चन्द्रमसे समनमन्न-
क्षत्रेभ्यः समनमद् यथा चन्द्रमा नक्षत्रैर्वरुणाय समनमत्।।

तै० सं० ७।५।२३

इसमें कहा है कि अग्नि पृथ्वी से वायु और अन्तरिक्ष को नत हुआ, वायु अन्तरिक्ष से सूर्य और द्यु को, इसी प्रकार सूर्य द्यु से चन्द्रमा और नक्षत्रों को तथा चन्द्रमा नक्षत्रों से वरुण को नत हुआ। इसका अभिप्राय यह जान पड़ता है कि अग्नि पृथ्वी पर है, वायु अन्तरिक्ष के आश्रय में रहता है, सूर्य द्युलोक में परिक्रमण करता है और चन्द्रमा नक्षत्र-मण्डल में सञ्चार करता है। मालूम होता है यहां चन्द्रमा सूर्य से ऊपर समझा गया है।

लोकोसि स्वर्गोसि। अनन्तोस्यपारोसि। अक्षितोस्यक्षय्योसि। तपसः प्रतिष्ठा।[1] त्वयीदमन्तः। विश्वं यक्षं विश्वं भूतं विश्व ँ् सुभूतम्। विश्वस्य भर्ता विश्वस्य जनयिता। तन्त्वोपदधे कामदुघमक्षितम्। प्रजापतिस्त्वासादयतु। तया देवतयांगिरस्वध्रुवासीद। तपोसि लोके श्रितम्। तेजसः प्रतिष्ठा। त्वयीद......। तेजोसि तपसि श्रितम्। समुद्रस्य प्रतिष्ठा......। समुद्रोसि तेजसि श्रितः। अपां प्रतिष्ठा। आपः स्थ समुद्रे श्रिताः। पृथिव्याः प्रतिष्ठा युष्मासु। ......। पृथिव्यस्यप्सु श्रिता। अग्नेः प्रतिष्ठा। ......। अग्निरसि पृथिव्या ँ् श्रितः। अन्तरिक्षस्य प्रतिष्ठा।......। अन्तरिक्षमस्यग्नौ श्रितम्। वायोः प्रतिष्ठा। ......। वायुरस्यन्तरिक्षे श्रितः। दिवः प्रतिष्ठा। ......। द्यौरसि वायौ श्रिता। आदित्यस्य प्रतिष्ठा। ......। आदित्योसि दिवि श्रितः। चन्द्रमसः प्रतिष्ठा। ......। चन्द्रमा अस्यादित्ये श्रितः। नक्षत्राणां प्रतिष्ठा।......। नक्षत्राणि स्थ चन्द्रमसि श्रितानि। संवत्सरस्य प्रतिष्ठा युष्मासु। ......।[2] संवत्सरोसि नक्षत्रेषु श्रितः। ऋतूनां प्रतिष्ठा। ......। ऋतवः स्थ संवत्सरे श्रिताः। मासानां प्रतिष्ठा युष्मासु।......। मासाः स्थर्तुषु श्रिताः। अर्धमासानां प्रतिष्ठा युष्मासु। ......।

१. यहां से आरम्भ कर ६ वाक्य मूलोक्त तेज, समुद्र इत्यादि प्रत्येक शब्द के आगे उनके लिंग-वचनानुसार परिवर्तित होकर आये हैं। यहाँ उन्हें बार-बार नहीं लिखा गया।

२. 'संवत्सरोसि' इत्यादि आगे के वाक्य यहाँ आवश्यकता न रहते हुए भी लिखे हैं, इसका कारण यह है कि पूर्ण अनुवाक देने से पूर्वापर सन्दर्भ द्वारा उसमें बतलायी हुई सब बातें ठीक समझ में आ जायँगी। दूसरी बात यह है कि ज्योतिष शास्त्र सम्बन्धी महत्त्व के मान संवत्सर, ऋतु, मास, पक्ष और अहोरात्र यहाँ एकत्र पठित हैं तथा जैसा कि उनका उत्तरोत्तर अवयवावयवी सम्बन्ध है उसी क्रम से आये हैं और आगे भी इनका उपयोग है।

अर्धमासाः स्थ मासु श्रिताः। अहोरात्रयोः प्रतिष्ठा युष्मासु।
......। अहोरात्रे स्थोर्धमासेषु श्रिते। भूतस्य प्रतिष्ठे
भव्यस्य प्रतिष्ठे। पौर्णमास्यष्टकामावास्या। अन्नादाः
स्थान्नदुघो युष्मासु। राडसि वृहती श्रीरसीन्द्रपत्नी
धर्मपत्नी ओजोसि सहोसि बलमसि भ्राजोसि।
देवानां धामामृतम्। अमर्त्यस्तपोजाः।........।

तै० ब्रा० ३।११।१

यहां प्रथम तीन वाक्यों में कहा है—तुम लोक हो, स्वर्ग हो, अनन्त हो, अपार हो, अक्षित हो, अक्षय्य हो। इसमें लोक शब्द सम्पूर्ण विश्व के उद्देश्य से कहा गया है। इन वाक्यों में सर्वत्र ऊर्ध्वाधोभाव विवक्षित नही है। कहीं कार्यकारणभाव, कहीं व्याप्य-व्यापकभाव और कहीं अङ्गाङ्गीभाव है। "पृथ्वी के ऊपर अन्तरिक्ष और उसके ऊपर द्यौ है" यह पूर्वोक्त परम्परा तथा सूर्य द्युलोक के आश्रय में है यह कल्पना भी यहां है।

पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ

उपर्युक्त विवेचन से विदित होता है कि विश्व के पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ (आकाश) ये तीन विभाग माने जाते थे। वेदों में इस बात का भी स्पष्ट निर्देश है कि मेघ, विद्युत् और वायु जिस प्रदेश में घूमते हैं वह पृथ्वी के पास है और सूर्य, चन्द्र तथा नक्षत्रों का परिक्रमण-प्रदेश पृथ्वी से बहुत दूर है। स्वर्ग, मृत्यु (पृथ्वी) और पातालात्मक विभाग वेदों में नहीं मिलते।

"चन्द्रमा सूर्य से ऊपर है"—यह वास्तविक स्थिति और वेदोत्तरकालीन ज्योतिष-सिद्धांत-विरुद्ध धारणा ऊपर दो स्थानों में दिखाई देती है, पर 'नक्षत्र सूर्य से ऊपर हैं' इस वास्तव स्थिति का भी वर्णन है। चन्द्रमा को सूर्य से ऊपर मानने का कारण हम समझते हैं, यह है कि जब सूर्य दिखाई देता है उस समय नक्षत्र नहीं दीखते, इसलिए स्वभावतः ऐसा ज्ञात होता है कि उसका नक्षत्रों से कोई सम्बन्ध नहीं है। पर चन्द्रमा की स्थिति ऐसी नहीं है, वह अत्यन्त शीघ्रगामी है और उसके पास के नक्षत्र दिखाई देते हैं इसलिए वह नक्षत्रों में से होकर जाता हुआ स्पष्ट दिखाई देता है। अतः उसके विषय में यह धारणा होना स्वाभाविक है कि वह नक्षत्रों के प्रदेश में तथा उनकी जितनी ही ऊंचाई पर है और चूंकि नक्षत्र सूर्य से ऊपर हैं इसलिए वह भी सूर्य से ऊपर होगा—ऐसा लोगों ने समझ लिया होगा, तथापि निम्नलिखित मन्त्र में 'चन्द्रमा सूर्य से नीचे हमारे पास है' इस वास्तविक स्थिति का भी वर्णन है।

सुपर्णा एत आसते मध्य अरोधने दिवः। ते सेधन्ति
पथो वृकं तरन्तं यह्वतीरपो वित्तं मे अस्य रोदसी॥

ऋ० सं० १।१०५।११

इसके भाष्य में सायणाचार्य लिखते हैं—"यास्कपक्षे त्वाप इत्यन्तरिक्षनाम यह्वतीरपो महदन्तरिक्षं ......तरन्तं वृकं चन्द्रमसं.....।" अतः यास्क और सायणाचार्य के मतानुसार उपर्युक्त ऋचा का आशय यह है कि चन्द्रमा अन्तरिक्ष में अर्थात् सूर्य से नीचे है। इसी सूक्त की पहली ऋचा में चन्द्रमा को पक्षी अर्थात् अन्तरिक्ष में सञ्चार करने वाला कहा गया है। उससे भी इस कथन की पुष्टि होती है।

विश्व का अपारत्व

निम्नलिखित ऋचा में कहा है कि विश्व पृथ्वी से बहुत बड़ा है।

यदिन्विन्द्र पृथ्वी दशभुजिरहानि विश्वा ततनन्त कृष्टयः।
अत्राह ते मघवन् विश्रुतं सहोद्यामनु शवसा बर्हणा भुवत्॥

ऋ० सं० १।५२।११

[हे इन्द्र] यदि पृथ्वी दशगुणित बड़ी होगी [और] मनुष्य सर्वदा शाश्वत [रहेंगे] तभी हे मघवन्! [तुम्हारी] शक्ति [और] पराक्रम द्वारा प्रख्यात तुम्हारा प्रभाव द्युलोक जितना बड़ा होगा।

यहां 'दशगुणित' उपलक्षण है, उसका अर्थ 'अनेकगुणित' समझना चाहिये। इस ऋचा में ऋषि के कहने का तात्पर्य यह है कि इन्द्र का प्रभाव बहुत बड़ा है और वह द्युलोक जितना बड़ा होने योग्य है परन्तु उसका वर्णन करनेवाले मनुष्य की आयु बहुत थोड़ी है और पृथ्वी भी छोटी है। यदि पृथ्वी बड़ी हो जायगी और उस पर रहनेवाले मनुष्य दीर्घजीवी होंगे तो इन्द्र के प्रभाव का विस्तारपूर्वक वर्णन किया जा सकेगा और वह अनन्त विश्व में फैलेगा। यहां हमें इतना ही देखना है कि यह विश्व पृथ्वी से अनन्त-गुणित बड़ा है, यह बात इस ऋचा में स्पष्ट है। विश्व के आनन्त्य का वर्णन अन्य भी बहुत से स्थलों में है। उदाहरणार्थ तैत्तिरीय ब्राह्मण का उपर्युक्त (३।११।१) अनुवाक देखिये।

सब भुवनों का आधार सूर्य

सब भुवन सूर्य के आधार पर हैं, इस विषय में अग्रिम वाक्य देखिये।

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनाम।
त्रिनाभिचक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनानि तस्थुः॥

ऋ० सं० १।१६४।२

उस एक चक्रवाले रथ में सात [घोड़े] जोड़े जाते हैं [परन्तु] सात नामों का एक ही घोड़ा [रथ] खींचता है। उस चक्र में तीन नाभियां हैं। वह अक्षय और अप्रतिबन्ध है और उसी के आधार पर सब भुवन स्थित हैं।

यद्यपि यहां सूर्य शब्द नहीं है तो भी यह निश्चित है कि यह ऋचा सूर्य-विषयक है।

सनेमि चक्रमजरं विवावृत उत्तानायां दशयुक्ता वहन्ति।
सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं तस्मिन्नार्पिता भुवनानि विश्वा।।
ऋ० सं० १।१६४।१४

जिसका सदा एक ही मार्ग है [और] जो अविनाशी है वह चक्र घूमता ही रहता है, ...सूर्य का चक्षु......घूमता रहता है। उस पर सकल भुवन स्थित हैं।

मित्रो जनान् यातयति प्रजानन् मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम्।
मित्रः कृष्टीरनिमिषाभिचष्टे ....।।
तै० सं० ३।४।११

मित्र [प्रत्येक की योग्यता जानकर] मनुष्यों को प्रेरित करता है। मित्र द्युलोक और पृथ्वी को धारण करता है। मित्र मनुष्य और देवताओं को देखता है।

यह ऋचा ऋग्वेद में भी कुछ परिवर्तित होकर आयी है। इसी प्रकार और भी बहुत से प्रमाण दिखाये जा सकते हैं।

ऋतुओं का कारण सूर्य

ऋतुओं का कारण सूर्य है। इस विषय में अग्रिम ऋचा देखिये।

पूर्वामनु प्रदिशं पार्थिवानामृतून् प्रशासद्विदधावनुष्ठु।
ऋ० सं० १।९५।३

[वह सूर्य] ऋतुओं का नियमन करके क्रमशः पृथ्वी की पूर्वादि दिशाओं का निर्माण करता है।

ऋतुओं का उत्पादक सूर्य है, इसके और भी बहुत से प्रमाण हैं पर ग्रन्थविस्तार होने के भय से वे यहां नहीं लिखे हैं। आगे कालमान में ऋतुओं का विचार हुआ है, वहां कुछ वाक्य दिये गये हैं।

वायु का कारण सूर्य

निम्नलिखित वाक्य में वायु चलने का कारण भी सूर्य ही बतलाया गया है।

सवितारं यजति यत्सवितारं यजति तस्मादुत्तरतः पश्चादयं
भूयिष्ठं पवमानः पवते सवितृप्रसूतो ह्येष एतत्पवते ।।

ऐ० ब्रा० २।७

वह [होता] सविता के लिये याज्य कहता है। सविता का यजन करने से उत्तर पश्चिम की ओर से बहुत वायु चलता है क्योंकि वह सविता से उत्पन्न होकर बहता है।

मेरा उद्देश्य यह प्रतिपादित करने का नहीं है कि पृथ्वी और अन्य ग्रह सूर्य के आकर्षण के कारण उस पर अवलम्बित हैं और उसके चारों ओर घूमते हैं ऐसा वेदों में लिखा है, परन्तु यह कल्पना वेदों में है कि प्रकाश, उष्णता तथा पर्जन्यादि के विषय में सब भुवन सूर्य के आश्रित हैं और ऋतुओं की उत्पत्ति भी उसी से होती है अर्थात् वह विश्व का आधारभूत है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

सूर्य के सात घोड़े

'सूर्य के रथ में[1] सात घोड़े हैं' यह वर्णन यद्यपि बहुत से स्थानों में आता है पर वह अलंकारिक है। वस्तुतः उसके पास रथ, घोड़ा इत्यादि कुछ नहीं है, यह बात भी वेदों में लिखी है।

अनश्वो जातो अनभीशुरर्वा कनिक्रदत् पतयदूर्ध्वसानुः।

ऋ० सं० १।१५२।५

अश्व-रहित ही उत्पन्न हुआ [यह सूर्य उत्पन्न होते ही]......बड़ी शीघ्रता से ऊपर उड़ जाता है।

सूर्य और उषा एक एक ही हैं

सूर्य एक ही है, दो, बारह या अनेक नहीं हैं। इस विषय में ऋक्संहिता में लिखा है—

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः। एकैवोषा सर्वमिदं विभाति......।

ऋ० सं० ८।५८।२

१. 'ऋ० १।१०५।६ 'अमी ये सप्तरश्मयः' के विषय में वेदार्थयत्नकार शंकर पाण्डुरंग पण्डित ने (पु० २ पृ० ६८३ अप्रैल १८७८ के अंक में) लिखा है—"ऋ० ८।७२।१६ में स्पष्ट कहा है कि (सूर्यस्य सप्त रश्मिभिः) सूर्य की सात किरणें हैं। इससे ज्ञात होता है, प्राचीनकाल में आर्य इस आधुनिक सिद्धान्त से कि 'सूर्य-किरणों कें सात रंग हैं' अपरिचित नहीं थे।"

एक ही सूर्य विश्व का प्रभु है। एक ही उषा विश्व को प्रकाशित करती है।

'उषा एक ही है' वाक्य ध्यान देने योग्य है। सूर्योदय के पूर्व होने वाले सन्धिप्रकाश को उषा कहते हैं। ऋग्वेद में बहुत से स्थलों में चमत्कारपूर्वक कहा है कि नित्य सूर्योदय के पूर्व प्रकाशित होनेवाली उषाएं अनेक हैं परन्तु वस्तुतः जैसे सूर्य एक है उसी प्रकार सूर्य से नित्य सम्बद्ध रहनेवाली उषा भी एक ही है।

पृथ्वी का गोलत्व, निराधारत्व और दिन-रात

स वा एष न कदाचनास्तमेति नोदेति तं यदस्तमेतीति मन्यन्तेह्न एव तदन्तमित्वाथात्मानं विपर्यस्यते रात्रिमेवावस्तात् कुरुतेहः परस्तादथ यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यते रात्रेरेव तदन्तमित्वाथात्मानं विपर्यस्यतेऽहरेवावस्तात् कुरुते रात्रिं परस्तात् स वा एष न कदाचन निम्नोचति।

ऐ० ब्रा० १४।६

वह (सूर्य) न तो कभी अस्त होता है न उगता है। यह जो अस्त होता है वह (सचमुच) दिन के अन्त में जाकर अपने को उलटा घुमता है। इधर रात करता है और उधर दिन। इसी प्रकार यह जो सवेरे उगता है वह (वस्तुतः) रात्रि का अन्त करके अपने को उलटा घुमता है। इधर दिन करता है और उधर रात्रि। [वस्तुतः] यह [सूर्य] कभी भी अस्त नहीं होता।[1]

उपर्युक्त ब्राह्मण वाक्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि "पृथ्वी गोल है, आकाश से अलग है और आकाश में निराधार स्थित है"—इन बातों का ज्ञान यहां था। अथर्ववेद के गोपथब्राह्मण (६।१०) में भी इस अर्थ के बहुत से ऐसे ही वाक्य हैं।

मालूम होता है ऋग्वेदसंहिताकाल में भी यह बात ज्ञात थी, कि पृथ्वी का आकार गोल है और वह निराधार है। निम्नलिखित ऋचाएँ देखिये—

चक्राणासः परीणहं पृथिव्या हिरण्येन मणिना शुम्भमानाः।
न हिन्वानासस्तितिरुस्त इन्द्रं परिस्पशो अदधात् सूर्येण।।

ऋ० सं० १।३३।८

१. वक्ता अपने स्थान को लक्षित करक बोल रहा है। इधर का अर्थ है वक्ता सूर्य के जिस ओर है। अपने को उलटा घुमाता है अर्थात् सायंकाल तक सीधा जाकर अस्त के बाद नीचे उलटा घुम जाता है।

सुवर्णमय अलंकारों से सुशोभित [वृत्र के] दूत पृथ्वी की परिधि के चारों ओर चक्कर लगाते हुए तथा आवेश से दौड़ते हुए भी इन्द्र को जीतने में समर्थ नहीं हुए। [फिर उसने उन] दूतों को सूर्य (प्रकाश) से आच्छादित किया।[1]

पृथ्वी यदि समधरातल होती तो सूर्य के उगते ही उसकी किरणें सम्पूर्ण पृथ्वी पर—कम-से-कम उसके आधे भाग पर एक ही साथ पड़तीं परन्तु वे इस प्रकार न पड़कर क्रमशः पड़ती हैं, ऐसे निर्देश अनेकों स्थलों में हैं। निम्नलिखित ऋचा देखिये—

आप्रा रजांसि दिव्यानि पार्थिवा श्लोकं देवः कृणुते स्वाय धर्मणे।
प्रबाहू अस्राक् सविता सवीमनि निवेशयन् प्रसुवन्नक्तुभिर्जगत्॥

ऋ० सं० ४।५३।३

देदीप्यमान [सविता ने] अन्तरिक्ष के, द्युलोक के [और] पृथ्वी पर के प्रदेश [तेज से] भर डाले हैं......अपनी कांति से जगत् को सुलाते और जाग्रत करते हुए सविता ने उदित होकर अपनी बाहें फैला दी हैं।

"सूर्य सुलाते और जाग्रत करते हुए उगता है"—इसका अर्थ यह है कि वह जैसे-जैसे आकाश में ऊपर चढ़ता जाता है वैसे-वैसे जगत् के कुछ भागों में रात्रि होने लगती है और कुछ भागों में दिन। इससे पृथ्वी का गोलत्व व्यक्त होता है।[2]

१. वेदार्थयत्नकार श्री शंकर पाण्डुरंग पंडित इस ऋचा की व्याख्या (वेदार्थयत्न, पु० १ पृ० ३८०) में लिखते हैं—

इस ऋचा के 'परीणहं चक्राणासः' शब्दों से स्पष्ट विदित होता है कि इस सूक्त की रचना के समय हमारे आर्य पूर्वजों को यह ज्ञान था कि पृथ्वी की आकृति सपाट नहीं बल्कि गोल है।

२. स्पष्ट है कि सब वेदों की संहिताएँ, ब्राह्मण और उपनिषद् एक ही समय में नहीं बने हैं। उनके रचनाकाल की अवधि निश्चित करना बड़ा कठिन है। भाग करना हो तो संहिताकाल, ब्राह्मणकाल और उपनिषत्काल, ये तीन भाग करने पड़ेंगे और इनके अन्तर्विभाग तो अनेकों होंगे। वैदिककालीन ज्योतिष-ज्ञान सम्बन्धी थोड़े से अनुमानों के लिए उनके अनेक विभाग न करके मैंने यही दिखलाया है कि वे वाक्य किस ग्रन्थ के हैं। इसके द्वारा विभाग करने का कार्य मुझे वाचकों को ही सौंप देने में सुभीता दिखाई दे रहा है और इसीलिए सब वाक्यों का समावेश वैदिककाल में किया गया है। यह तो स्पष्ट ही है कि उपनिषदों से ब्राह्मण और ब्राह्मणों से संहिताएँ प्राचीन हैं और उनमें भी ऋक्संहिता सबसे प्राचीन है।

मेरु पर्वत, जम्बू प्रभृति सप्त द्वीप इत्यादि जो पृथ्वी के कुछ विभाग माने जाते हैं, उनका वर्णन हमें वेदों में कहीं नहीं मिला।

जगदुत्पत्ति, सृष्टिसंस्था इत्यादि सम्बन्धी वैदिक उल्लेखों का विवेचन यहां तक हुआ। अब यह देखना है कि वर्ष मासादि कालमान, सूर्य-चन्द्रमा की गतिस्थिति और नक्षत्र, ग्रहण, ग्रह इत्यादिकों के विषय में उनमें क्या लिखा है।

कल्प

वेदोत्तरकालीन ज्योतिषग्रन्थों का कल्प नामक कालमान तो वेदों में नहीं ही है, पर अन्य किसी भी कालमान के अर्थ में हमें उनमें कल्प शब्द नहीं मिला।

युग

किसी कालमान के अर्थ में युग शब्द वेदों में अनेकों बार आया है। केवल युग शब्द या कृतादि चार युगों में से कोई एक जिन मन्त्रों में आया हैं उन्हें पहले यहां उद्धृत करते हैं, क्योंकि ऐसा करने से उनके विषय में विचार करने में सुविधा होगी।

देवानां पूर्व्ये युगे सतः सदजायत।

ऋ० सं० १०।७२।२

इसका अर्थ पहले लिख चुके हैं।

तदूचुषे मानुषेमा युगानि कीर्तेन्यं मघवा नाम बिभ्रत्।
उपप्रयन्दस्युहत्याय वज्री यद्धसूनुः श्रवसे नाम दधे।।

ऋ० सं० १।१०३।४

अति प्रबल इन्द्र ने हाथ में वज्र लेकर दस्यु को मारने के लिए जाते समय जो नाम धारण किया उसी प्रख्यात नाम को इस मानवयुग[1] में स्तोता के लिए मघवा धारण करता है।

[1]. वेदमन्त्रों का अर्थ सर्वत्र मूल का अनुसरण करते हुए लिखा गया है। ऊपर से एक भी बात ऐसी नहीं लायी गयी है जो कि मूल में नहीं है।

सायणाचार्य का कथन है कि यहां युग शब्द से कृतत्रेतादि युगों का ग्रहण करना चाहिये।

विश्वे ये मानुषा युगा पान्ति मर्त्यं रिषः।

ऋ० सं० ५।५२।४

ईर्मान्यिद्वपुषे वपुश्चक्रं रथस्य ये मथुः। पर्यन्या नाहुषा युगा मह्ला—
रजांसि दीयथः।। ऋ० सं० ५।७३।३

अर्थ—[हे अश्विनो] मानवयुग में तुम अपने रथ के दूसरे चक्र से..... भुवन के चारों ओर घूमते हो।

दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान दशमे युगे। अपामर्थं यतीनां ब्रह्मा
भवति सारथिः।। ऋ० सं० १।१५८।६

ममता का पुत्र दीर्घतमा दशम युग में वृद्ध होता हुआ परिणाम के प्रति जानेवाले कर्म का ऋत्विक् रूप सारथी हुआ है।

इसके भाष्य में सायणाचार्य ने लिखा है—अश्वियों के प्रभाव से दीर्घतमा दस युग पर्यन्त सुखी रहते हुए कालक्रमण करने के बाद वृद्ध हुआ। युग शब्द से क्या ग्रहण करना है, इसे उन्होंने स्पष्ट नहीं किया है परन्तु लेख के पूर्वापर सन्दर्भानुसार यहां उनका अभिप्राय कृतादि दस युग ग्रहण करने का ज्ञात होता है।

युगे युगे विदथ्यं गृणद्भ्योग्नेरयिं यशसं धेहि नव्यसीम्।

ऋ० सं० ६।८।५

हे अग्ने! प्रत्येक युग में यज्ञार्थ तुम्हारे उद्देश्य से नयी स्तुति करनेवाले हमको द्रव्य और यश दो।

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।

ऋ० सं० १०।९७।१

अर्थ—जो औषधियां पहिले तीन युगों में देवों से उत्पन्न हुईं।

इसके भाष्य में सायणाचार्य ने त्रियुगं शब्द का अर्थ "कृत, त्रेता, द्वापर तीन युगों में अथवा वसन्त, वर्षा, शरद् तीन ऋतुओं में" किया है। तैत्तिरीय संहिता में यह

मन्त्र "या जाता ओषधयो देवेभ्यस्त्रियुगम्पुरा"—इस प्रकार है। वाजसनेयिसंहिता (१२।७५) में भी "या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगम्पुरा"—इस प्रकार है। भाष्यकार महीधर ने यहां त्रियुग शब्द से वसन्त, वर्षा और शरद् ऋतुओं का ग्रहण किया है। वाजसनेयिसंहिता में युगनिर्देश इस प्रकार है—

श्रुत्कर्ण ८० सप्रथस्तमं त्वागिरा दैव्यं मानुषा युगा।

वा० सं० १२।१११

यह निश्चित है कि इन वाक्यों में युग शब्द किसी काल का वाचक है परन्तु वह कितने वर्षों का है, यह किसी भी वाक्य से स्पष्ट नहीं होता। वेदाङ्गज्योतिष में पांच वर्षों का एक युग माना गया है। उपर्युक्त वाक्य में युग का यही अर्थ है, यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता परन्तु यह भी नहीं कह सकते कि यह अर्थ नहीं है, क्योंकि वेदाङ्गज्योतिष-प्रोक्त युग के अङ्गभूत पांच संवत्सरों के नाम वेदों में आये हैं, यह आगे दिखायेंगे। स्पष्ट है कि 'दीर्घतमा दसवें युग में वृद्ध हुआ'—इस अर्थ के उपर्युक्त मन्त्र में दीर्घतमा का न्यूनत्व सिद्ध करने का नहीं बल्कि उसका कुछ न कुछ वैशिष्ट्य दिखाने का अभिप्राय है और यदि युग पांच वर्ष का मानते हैं तो पचासवें वर्ष में वृद्धत्व आता है जो कि दीर्घतमा के न्यूनत्व का द्योतक है। अतः मनुष्य की आयु सहस्रों वर्ष न मानकर बिलकुल मर्यादित १०० वर्ष मानें तो भी युग कम से कम १० वर्षों का मानना पड़ता है। "प्रत्येक युग में हम तुम्हारी नवीन स्तुति करते हैं" इस अर्थ के द्योतक उपर्युक्त ऋग्वेद के मन्त्र से भी युग मनुष्य की आयु के भीतर आनेवाला एक कालपरिमाण अर्थात् १०० वर्षों से न्यून ज्ञात होता है, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह एक दीर्घकाल का बोधक नहीं था। वह किसी दीर्घकाल का बोधक है, यह कल्पना वक्ता के मन में आये बिना "पहिले देवयुग में अमुक हुआ, वर्तमान मानवी युग" ये उद्‌गार निकलने असम्भव हैं, अतः मानना पड़ता है कि युग शब्द का कोई नियमित अर्थ नहीं था और इससे ज्ञात होता है कि कोई बात किसी क्रम से एक होकर उसी काल क्रमानुसार पुनः जितने समय में होती है वह युग है, यह युग शब्द का ज्योतिषोक्त अर्थ वेदकाल में भी रहा होगा। सूर्य-चन्द्रमा के ग्रहण जिस क्रम से और जितने समय के अन्तर से होते हैं, लगभग १८ वर्षों के बाद वे उसी क्रम से और उतने ही काल के अन्तर से पृथ्वी पर कहीं न कहीं पुनः

युग शब्द का ज्योतिषोक्त सामान्य अर्थ

दृश्य होते हैं अतः यह एक प्रकार का १८ वर्षों का ग्रहण युग कहा जा सकता है। इसी अर्थ के तत्वों का अनुसरण करते हुए युग शब्द प्रवृत्त हुआ है, यह बात वेदाङ्गज्योतिष के युग शब्द और अन्य उदाहरणों से स्पष्ट हो जाती है। कलियुगादि प्रत्येक युग या महायुग के आरम्भ में सब ग्रह एक स्थान में रहते हैं और युग में वे अनेकों प्रदक्षिणाएं करके दूसरे युग के आरंभ में पुनः एक स्थान में आ जाते हैं। इस काल को युग कहते हैं। यद्यपि ज्योतिष ग्रन्थों में युग शब्द का प्रयोग ४३२००० अथवा इसके कुछ गुणित वर्षों के अर्थ में ही पाया जाता है तथापि उपर्युक्त अर्थ के अनुकूल भी मिलता है। उदाहरणार्थ प्रथम आर्यभट के ग्रन्थ की सूर्यदेवयज्वकृत भटप्रकाशिका टीका में लिखा है—

खाकाशाष्टकृतद्विद्विव्योमेष्वद्रोषुवह्नयः ३५७५०२२४८०० । युगं बुधादिपातानां. . ।।
रव्युच्चस्य रसैकांकगिर्यष्टिनवशंकराः सहस्रघ्ना ११६१६७६१६००० युगं प्रोक्तं. . ।

इन वाक्यों में पात और उच्चों के युग परिमाण दिये हैं और उनकी वर्ष संख्याएं भिन्न-भिन्न हैं। इनमें युग शब्द बार-बार आवृत्ति करनेवाले किसी पदार्थ की एक आवृति के काल परिमाण अर्थ में आया है। इससे ज्ञात होता है कि उपर्युक्त वेदवाक्यों में युग शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ होगा और युग के परिमाण भिन्न भिन्न होंगे परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि यह काल कितना है और किस बात की आवत्ति का ध्यान रखकर निश्चित किया गया है तथापि उस समय महायुग यदि ४३२०००० वर्षों का न माना जाता रहा हो तो भी वेदकाल में युग को किसी दीर्घकाल का मान अवश्य समझते थे। इतना ही नहीं, वेदत्रयी-संहिताकाल में चार युगों की भी कल्पना थी, यह बात "या जाता ओषधयो देवेभ्यस्त्रियुगम्पुरा" वाक्य से स्पष्ट हो जाती है।

कृतादि शब्द

अब यहाँ उन वाक्यों को उद्धृत करेंगे जिनमें कृतत्रेतादि शब्द हैं।

प्राची दिशां वसन्त ऋतूनामग्निर्देवता ब्रह्म द्रविणं त्रिवृत्सोमः
स उ पञ्चदश वर्तनिस्त्र्यविर्वयः कृतमयानां. . .त्रेतायानां. .
द्वापरोयानां. . .आस्कन्दोयानां. . .अभिभूरयानां पितरः

१ आर्यभटीय की परमादीश्वरकृत भटदीपिका टीका, गीतिकापाद की सातवी आर्या देखिए।

पितामहाः परेवरेते नः पान्तु तेनोवन्त्वस्मिन् ब्रह्मन्नस्मिन्क्षत्रस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मन्नस्यां देवहूत्याम् ।

तै० सं० ४।३।३

इस अनुवाक के अन्त में यह प्रार्थना है कि पितर इत्यादि हमारा रक्षण करें। इसी प्रकार 'कृतत्रेताद्वापर रक्षण करें' यह भी है।

वाजसनेयिसंहिता में पुरुषमेध का वर्णन है। उसमें कृतादिकों को अर्पण करने के लिए पुरुष इस प्रकार बताये हैं—

कृतयादिनवदर्शं त्रेतायै कल्पिनं द्वापरायाधिकल्पिनमा स्कन्दाय सभास्थाणुम। वा० सं० ३०।१८

अर्थ—कृत को आदि नवदर्श त्रेता को कल्पी और आस्कन्द को सभास्थाणु

आदिनव नामक दोष को देखने वाले को आदिनवदर्श और कल्पक को कल्पी कहते हैं, ऐसा अर्थ भाष्यकार महीधर ने किया है। इससे किञ्चिद् भिन्न एक वाक्य तैत्तिरीय ब्राह्मण में —

कृताय सभाविनं। त्रेताया आदिनवदर्शम्। द्वापराय वहिःसदम्। कलये सभास्थाणुम्। तै० ब्रा० ३।४।१

कृत के लिए सभावी का (आलम्भन किया जाय)। त्रेता (देवता) को आदिनवदर्श, द्वापर को वहिःसद और कल को सभास्थाणु देना चाहिये।

यहां यह बताया है कि भिन्न-भिन्न देवताओं को अमुकामुक मेध्यपुरुष देने चाहिये। माधवीय भाष्य में सभावी का अर्थ द्यूतसभा में वैठनेवाला, आदिनवदर्श का द्यूतद्रष्टा, वहिःसद का स्वयं न खेलते हुए बाहर बैठ कर खेल देखने वाला और सभास्थाणु का खेल बन्द हो जाने पर भी सभास्थान को न छोड़नेवाला किया है।

ऐतरेय ब्राह्मण में हरिश्चन्द्र की कथा है। हरिश्चन्द्र पुत्रविहीन था। उसने वरुण से प्रार्थना की कि यदि आप मुझे पुत्र दें तो मैं आपको उसकी बलि चढ़ाऊँगा। उसके बाद पुत्र हुआ। उसका नाम रोहित था। कुछ वर्षों बाद जब उसे बलि देने लगे, वह भाग कर अरण्य में चला गया। एक वर्ष अरण्य में भ्रमण करने के बाद गाँव में आया। उस समय इन्द्र ने मनष्य रूप धारण कर आकर कहा कि तू लौट जा। चार वर्ष के बाद रोहित फिर लौट आया। उस समय इन्द्र वहां आया और उससे कहने लगा—

कलिः शयानो भवति सञ्जिहानस्तु द्वापरः। उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरँश्चरँवेति चरँवेति ।। ऐ० ब्रा० ३३।१५

सोनेवाला कलि, बैठनेवाला द्वापर और उठनेवाला त्रेता होता है। घूमनेवाला (होने पर) कृत सम्पन्न होता है (अतः) घूमता ही रह, घूमता ही रह।

ये वै चत्वार : स्तोमाः। कृतं तत्। अथ ये पञ्च कलिः सः। तस्माच्चष्तुष्टोमः।
तै० ब्रा० १।५।११

चार स्तोम कृत और पांच कलि है अतः (ज्योतिष्टोम यज्ञ) चतुष्टोम (होना चाहिए) यहां ज्योतिष्टोम सम्बन्धी स्तोमों की संख्या बतायी है। कोई पांच बतलाता है और कोई चार। पांच का होना कलि अर्थात् अशुभ और चार होना कृत अर्थात् शुभ है इसलिए चार ही रखने का निश्चय किया है।

यद्यपि यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि उपर्युक्त वालों में कृतादि शब्द किसी कालपरिमाण के ही अर्थ में आये हैं पर उनमें यह कल्पना स्तष्ट है कि वे चार देवता हैं और कृत की अपेक्षा त्रेतादिकों की योग्यता उत्तरोत्तर कम है तथा कलियुग अत्यन्त अशुभ है। युग कालपरिमाण-दर्शक हैं और चार हैं, यह बात यदि वेदों में है तो वेदोत्तरकाल मे अत्यन्त प्रबल हो गयी हुई युग कल्पना का मूल भी उन्हीं वेदवाक्यों में होगा जिनमें कृतादि नाम हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं है। गोपथ ब्राह्मण (१।२८) में द्वापर शब्द एक काल परिमाण अर्थ में आया है।

पञ्चसंवत्सरात्मक युग

वेदाङ्गज्योतिष में पांच वर्ष का युग माना गया है। उसके नाम हैं संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर और इद्वत्सर। ये नाम यद्यपि वेदाङ्ग ज्योतिष में नहीं हैं पर वेदों से ज्ञात होता है कि उन पांचों के नाम ये ही हैं। गर्गादिकों ने भी इस युग संवत्सरों के ये ही नाम लिखे हैं। अब देखना है कि इस विषय में वेदों में क्या लिखा है।

संवत्सरस्य तदहः परिषष्ठयन्मण्डूकाः प्रावृषीणं बभूव।
ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्मकृण्वन्तः परिवत्सरीणम्॥
ऋ० सं० ७।१०३।७

यह नहीं कहा जा सकता कि संवत्सर, परिवत्सर इत्यादिकों का जो क्रम है उसी के अनुसार कहने के उद्देश्य से यहां संवत्सर और परिवत्सर शब्द रखे गये हैं पर वे हैं उसी क्रम से। केवल वर्ष के विषय में जो कुछ कहना होता है उस स्थिति में ऋग्वेद में प्रायः शरद्,हेमन्त सरीखा कोई ऋतुवाचक शब्द आता है। इससे ज्ञात होता है कि ये दोनों

नाम कदाचित् पञ्चवर्षात्मक युग के अङ्गभूत दो पदार्थों के होंगे। परिवत्सर शब्द ऋग्वेद में और एक स्थान पर (१०।६२।२) आया है पर शेष तीन नाम उसमें नहीं हैं।

संवत्सरोसि परिवत्सरोसीदावत्सरोसीद्वत्सरोसि वत्सरोसि

वा० सं० २६।४५

संवत्सराय पर्यायिणीं परिवत्सरायाविजातामिदावत्सरायातीत्वरीमि—
द्वत्सरायातिष्कद्वरीं वत्सराय विजर्जरा, संवत्सराय पलिक्नीम् ॥

वा० सं० ३०।१६

यह मन्त्र पुरुषमेध का है। इसमें संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, इद्वत्सर और वत्सर को पर्यायिणी प्रभृति स्त्रियां देने के लिए कहा है। वाजसनेयिसंहिता के इन दोनों मन्त्रों में नामों का क्रम एक ही है। द्वितीय मन्त्र में संवत्सरादि पांच नामों के बाद संवत्सर शब्द एक बार फिर आया है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में लिखा है—

अग्निर्वा संवत्सरः। आदित्यः परिवत्सरः। चन्द्रमा इदावत्सरः। वायुरनुवत्सरः।

तै० ब्रा० १।४।१०

अग्नि ही संवत्सर है। आदित्य परिवत्सर है। चन्द्रमा इदावत्सर और वायु अनुवत्सर है। यहां चार ही नाम हैं। इनमें से प्रथम तीन वाजसनेयिसंहिता के ही क्रमानुसार हैं। चौथा अनुवत्सर उनसे भिन्न है।

संवत्सराय पर्यायिणीं। परिवत्सरायाविजातां। इदावत्सरायापस्कद्वरीं। इद्वत्सरायातीत्वरीं। वत्सराया विजर्जरां। संवत्सराय पलिक्नीम् ॥

तै० ब्रा० ३।४।१

यह वाक्य उपर्युक्त वाजसनेयिसंहितान्तर्गत वाक्य सदृश ही है। दोनों में संवत्सरों के नामों का क्रम एक ही है। मेध्य पशुओं में थोड़ा अन्तर है। यहां भी पांच नामों के बाद अन्त में संवत्सर शब्द पुनः आया है।

संवत्सरोसि परिवत्सरोसि। इदावत्सरोसीदुवत्सरोसि। इद्वत्सरोसि वत्सरोसि।

तै० ब्रा० ३।१०।४

वाजसनेयिसंहिता का ऐसा ही एक वाक्य ऊपर लिखा है परन्तु उसकी अपेक्षा यहां चतुर्थ स्थान में 'इदुवत्सर' एक अधिक नाम है और सब मिलकर छ हैं। यहां माधवा-

चार्य ने इदुवत्सर का अर्थ अनुवत्सर किया है। तैत्तिरीय और वाजसनेयि संहिताओं में संवत्सर, परिवत्सर इत्यादि नाम अन्य भी बहुत से स्थानों में आये हैं।

इस प्रकार कहीं पांच, कहीं छ और कहीं चार ही नाम आये हैं और वे भी भिन्न-भिन्न प्रकार से। अतः निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि ये वेदाङ्गज्योतिष के पञ्चसंवत्सरात्मक युग के ही प्रचारदर्शक हैं तथापि वेदोत्तरकालीन बहुत से ग्रंथों में पञ्चसंवत्सरात्मक युग तथा उसके अवयवी भूत संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर और इद्वत्सर, इन पांच संवत्सरों का निर्देश अनेकों स्थानों में है, अतः उसका पूर्वपरम्परागत कोई न कोई आधार अवश्य होना चाहिए। सारांश यह कि वैदिककाल में प्रचलित युगपद्धति सर्वथा वेदाङ्गज्योतिषोक्त पंचसंवत्सरात्मक युगपद्धति सरीखी न रही हो तो भी उसका कुछ अंशों में इससे साम्य अवश्य रहा होगा।

वर्ष

अब वर्ष और तदङ्गभूत मास का विवेचन करेंगे। ३५४ दिन या ३६५ दिन अथवा अन्य किसी काल का वाचक वर्ष शब्द ऋग्यजुःसंहिता, ऐतरेय, तैत्तिरीय, ताण्ड्य और गोपथ ब्राह्मणों में नहीं है। शतपथब्राह्मण (२।२।३) में है। ऋग्वेद में शरद् प्रभृति ऋतुवाचक शब्द वर्ष अर्थ में अनेकों बार आये है। कुछ स्थलों में संवत्सर और परिवत्सर शब्द भी हैं। दोनों यजुर्वेदों में वर्ष अर्थ में शरद् और हेमन्त इत्यादि शब्द तो अनेकों बार आये ही हैं परन्तु संवत्सर शब्द उनकी अपेक्षा अधिक बार आया है। गोपथ ब्राह्मण (६।१७) में वर्ष अर्थ में हायन और वाजसनेयिसंहिता के निम्नलिखित मन्त्रों में समा शब्द आया है।

इदे॑ श्रीर्मयिकल्प्यतामस्मिन्लोके शत॑ समाः। वा० सं० १६।४६
कुर्वन्नेवेहकर्माणि जिजीविषे शत॑ समाः। वा० सं० ४०।२
ऋक्संहिता (१०।८५।५) के "समानां मास आकृतिः" वाक्य में भी संवत्सर अर्थ में समा शब्द आया है।

वेदकाल में मास चान्द्र थे[1] और ऐसा ही होना स्वाभाविक भी है। यहां इसका

१. संवत्सर का विचार करना है, इसलिए यहां इसका स्पष्टीकरण नहीं किया है। सावन, चान्द्र और सौर मासों का विवेचन आगे किया है।

प्रमाण देने की आव यकता नहीं है। आगे मास का विचार किया है, वहां कुछ प्रमाण दिये हैं। पूर्णिमा को पूर्णमासी कहते हैं। अर्थात् वहां मास की समाप्ति समझी जाती है और चन्द्रवाचक मास शब्द से मास का ग्रहण किया जाता है, यह पहले ही बता चुके हैं। इन दोनों हेतुओं से यह सिद्ध होता है कि वेदकाल में मास चान्द्र थे। चान्द्र, मास गिनने के लिए जैसे चन्द्रमा स्वाभाविक साधन है उस प्रकार सौर मास गिनने का कोई सहज साधन नहीं है। उसका मान केवल गणित द्वारा ही जाना जा सकता है, अतः सृष्ट्युत्पत्ति के पचात् प्रथम-प्रथम सब लोगों के मास चान्द्र ही रहे। सौरमास बाद में प्रचलित हुए होंगे। आपाततः ऐसा ज्ञात होता है कि यदि मास चान्द्र थे तो वर्ष भी चान्द्र ही रहा होगा पर इसका विचार करना होगा कि वर्ष चान्द्र था या सौर और यदि सौर था तो नाक्षत्र (Sidereal) सौर था या साम्पातिक (Tropical) सौर। अतः यहां पहिले उन वाक्यों को उद्धृत करते हैं जिनमें वर्ष के मास या दिन का निर्देश है।

मास-चान्द्र

वर्ष-सौर

वेदमासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः। वेदा य उपजायते।

ऋ० सं० १।२५।८

धृतव्रत [वरुण] बारह महीनों [और] उनमें उत्पन्न होनेवाले प्राणियों को जानता है [और उन बारह महीनों के] पास उत्पन्न होने वाले [अधिमास] को जानता है। यद्यपि यहां प्रत्यक्ष अधिमास शब्द नहीं है पर वह विवक्षित है, यह बात सन्दर्भ से स्पष्ट हो जाती है और इस ऋचा की परम्परागत व्याख्या भी यही है। यूरोपियन विद्वानों को भी यही अर्थ मान्य है। इस ऋचा में यह भी बतलाया है कि वर्ष में मास सामान्यतः १२ होते हैं।

द्वादशारं न हि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परिद्यामृतस्य। आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः।।

ऋ० सं० १।१६४।११

सत्यभूत [आदित्य] का बारह अरों वाला चक्र द्युलोक के चारों ओर सतत भ्रमण करते हुए भी नष्ट नहीं होता है। हे अग्ने इस [चक्र] पर पुत्रों के ७२० जोड़े आरूढ़ हुए रहते हैं।

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत। तस्मिन्त्साकं त्रिशता न न शंकवोऽर्पिताःषष्टिर्न चलाचलासः।। ऋ० सं० १।१६४।४८

बारह परिधि, एक चक्र और तीन नाभि—इन्हें कौन जानता है? उस चक्र में शंकु की तरह ३६० चञ्चल अरे लगाये हुए हैं।

इन दोनों ऋचाओं के चमत्कारिक वर्णन का तात्पर्य यह है कि संवत्सर रूप एक चक्र है, बारह मास ही उसके बारह अरे हैं और ३६० दिवस ३६० कांटे हैं। रात्रि-दिन ही एक मिथुन है और ऐसे मिथुन ३६० हैं अर्थात् दिन रात मिलाकर सब ७२० हैं।

मधुश्च माधवश्च शुक्रश्च शुचिश्च नभश्च नभस्यश्चेषश्चोर्जश्च सहश्च सहस्यश्च तपश्च तपस्यश्चोपयामगृहीतोसि ँ् स सर्पोस्य ँ् हस्पत्याय त्वा ।।

तै० सं० १।४।१४

[हे सोम तुम] उपयाम (स्थाली) द्वारा गृहीत हुए हो। मधु हो, माधव हो..।

यहां मधु, माधव, शुक्र, शुचि, नभस्, नभस्य, इष,ऊर्ज, सहस् सहस्य, तपस् तपस्या —ये मासों के १२ नाम आये हैं और संसर्प नाम अधिमास के लिए आया है। इसके भाष्य में माधवाचार्य ने अंहस्पति का अर्थ क्षयमास किया है।

मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृत् शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृत् नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृत् इषश्चोर्जश्च शरदावृतूसहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू। तै०सं० ४।४।११

मधु और माधव वसन्त ऋतु के, शुक्र और शुचि ग्रीष्म के, नभस् और नभस्य वर्षा के, इष और ऊर्ज शरद् के, सहस् और सहस्य हेमन्त के एवं तपस् और तपस्या शिशिर के मास हैं।

षड्रात्रीर्दीक्षितः स्यात् षड् वा ऋतवः संवत्सरः..............
द्वादशरात्रीर्दीक्षितः स्यात् द्वादश मासाः संवत्सरः...........
त्रयोदशरात्रीर्दीक्षितः स्यात् त्रयोदशमासाः संवत्सरः.........
पञ्चदशरात्रीर्दीक्षितः स्यात्पञ्चदश वा अर्धमासस्य रात्रयोर्धमासशः संवत्सर आप्यते....चतुर्वि ँ् शति ँ् रात्रिर्दीक्षितः स्याच्चतुर्वि ँ् शतिरर्ध-मासाः संवत्सरः.....त्रि ँ् शत ँ् रात्रीर्दीक्षितः स्यात् त्रि ँ् शदक्षरा विराट्... मासं दीक्षितः स्याद्यो मासः स संवत्सरः ।।

तै० सं० ५।६।७

१. मालूम होता है यहां ऋतु शब्द का प्रयोग मास अर्थ में किया गया है।

छ रात्रि दीक्षित रहना चाहिए [क्योंकि] छ ऋतुओं का संवत्सर [होता है]। बारह रात्रि दीक्षित रहना चाहिए , संवत्सर में १२ मास होते हैं। १३ रात्रि दीक्षित रहना चाहिए, १३ मासों का संवत्सर होता है। १५ रात्रि दीक्षित रहना चाहिए, अर्धमास में १५ रातें होती हैं। अर्धमासों से संवत्सर होता है। २५ रात्रि दीक्षित रहें, संवत्सर में २४ अर्धमास होते हैं। ३० रात्रि दीक्षित रहें, ३० अक्षरों का विराट् होता है। मासभर दीक्षित रहना चाहिए, मास ही संवत्सर है।[1]

तस्य त्रीणि च शतानि षष्टिश्च स्तोत्रीयास्तावती: संवत्सरस्य रात्रय:।
तै० सं० ७।५।१

उसमें ३६० स्तोत्रीय रहते हैं [क्योंकि] संवत्सर में उतनी ही रातें होती हैं।

उपयामगृहीतोसि। मधवे त्वोपयामगृहीतोसि माधवाय त्वोपयामगृहीतोसि शुक्राय त्वोपयामगृहीतोसि शुचये...नभसे... नभस्याय...इषे..ऊर्जे ...सहसे ...सहस्याय...तपसे...तपस्याय...अ ँ हसस्पतये त्वा।
वा० सं० ७।३०

[हे ऋतुग्रह तुम] उपयाम [स्थाली] से मधु के लिए गृहीत हुए हो......।

यह वाक्य प्राय: उपर्युक्त तैत्तिरीयसंहितोक्त वाक्यों सरीखा ही है। इसमें मधु माधवादि १२ नाम वे ही हैं परन्तु अहंसस्पति एक अधिक है।

उपर्युक्त तैत्तिरीय संहिता के "मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृत" इत्यादि सदृश ही वाक्य वाजसनेयिसंहिता में भी हैं (१३।२५, १४।६, १५, १६, २७ और १५।५७ देखिये)।

स ँ सर्पाय स्वाहा चन्द्राय स्वाहा ज्योतिषे स्वाहा मलिम्लुचाय स्वाहा दिवापतये स्वाहा।।
वा० सं० २२।३०

मधवे स्वाहा माधवाय स्वाहा शुक्राय स्वाहा शुचये स्वाहा नभसे स्वाहा नभस्याय स्वाहे षाय स्वाहोर्जाय स्वाहा सहसे स्वाहा सहस्याय स्वाहा तपसे स्वाहा तपस्याय स्वाहा ँ हसपतये स्वाहा।।
वा० सं० २२।३१

१. यहां ३० दिन और मास में भेद मालूम होता है क्योंकि दीक्षित रहने की रातों की संख्या के हेतुओं के अनुसार ३० रात्रि दीक्षित रहने का कारण यह यह बतलाना चाहिए था कि मास में ३० रातें होती हैं परन्तु ऐसा नहीं कहा है। इससे यह निःसंशय सिद्ध होता है कि वेदकाल में भी यह बात ज्ञात थी कि चान्द्र मास में ३० से कुछ कम सावन-दिन होते हैं।

यहां संसर्प और मलिम्लुच नाम आये हैं जिनका प्रयोग सम्प्रति अधिमास अर्थ में किया जाता है। इसके बाद मधु माधवादि १२ नाम हैं और तनन्तर तेरहवां नाम अंहस्पति है। इससे ज्ञात होता है कि संसर्प, मलिम्लुच और अंहस्पति में कुछ भेद है।

तं त्रयोदशान्मासादक्रीणँस्तस्मात् त्रयोदशोमासो नानुविद्यते।

ऐ० ब्रा० ३।१

उन्होंने उस (सोम) को तेरहवें मास से मोल लिया अतः १३वां मास निन्द्य है।

त्रीणिच वैशतानि षष्टिश्च संवत्सरस्याहानि ... सप्त च वै शतानि विंशतिश्च संवत्सरस्याहोरात्रयः।। 'ऐ० ब्रा० ७।१७

संवत्सर में ३६० दिन और दिनरात [मिलकर] सब ७२० होते हैं।

द्वादशरत्नी रशना कर्त्तव्या ३ त्रयोदशरत्नी ३ रिति। ऋषभो वा एष ऋतूनां। यत्संवत्सरः। तस्य त्रयोदशो मासो विष्टपं। ऋषभ एष यज्ञानां। यदश्वमेधः। यथा वा ऋषभस्य विष्टपं। एवमतस्य विष्टपम्।।

तै० ब्रा० ३।८।३

[अश्वमेध में] रशना १२ अरत्नी की करनी चाहिए या १३ की? संवत्सर ऋतुओं का ऋषभ (श्रेष्ठ) है। १३वाँ मास उसका विष्टप है। अश्वमेध यज्ञों में श्रेष्ठ है। जैसे ऋषभ (वृषभ) का विष्टप है उसी प्रकार उसका भी है।

उपर्युक्त वाक्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदकाल में वर्ष सौर था। जैसे दिन का मान जानने का स्वाभाविक साधन दो सूर्योदयों के बीच का काल और मास जानने का साधन चन्द्रमा के दो बार पूर्ण होने के मध्य का काल है उसी प्रकार वर्ष जानने का सहज साधन ऋतुओं की एक परिक्रमा है। ऋतुएं न होतीं तो वर्ष एक कालमान न बना होता। ऋतुएं सूर्य द्वारा होती हैं, अतः वर्ष सौर ही रहा होगा। वस्तुतः १२ चान्द्र मास और लगभग ११ दिनों में ऋतुओं की एक प्रदक्षिणा होती है पर सर्वप्रथम इतना सूक्ष्म ज्ञान होना कठिन है। प्रथम-प्रथम लोग बहुत दिनों तक १२ चान्द्रमासों में ही ऋतुओं की एक प्रदक्षिणा अर्थात् वर्ष मानते रहे होंगे पर इस पद्धति में जो प्रथम मास माना गया रहा होगा वह कुछ दिनों तक ग्रीष्म में, उसके बाद शिशिर में और तत्पश्चात् वर्षा में अर्थात् उत्तरोत्तर पीछे आता रहा होगा और सम्प्रति प्रचलित मुसलमानों के मुहर्रम की तरह लगभग ३३ वर्षों में उसका सब ऋतुओं में भ्रमण होता रहा होगा। इस प्रकार ३३ वर्षों के कई पर्याय समाप्त होने पर अधिकमास प्रक्षेपण की कल्पना ध्यान में आयी होगी और वह थी। इससे सिद्ध होता है कि उस समय वर्ष सौर था। यद्यपि

सम्प्रति इसमें कोई विशेषता नहीं मालूम होती परन्तु इतने प्राचीन काल में हमारे यहां अधिकमास की कल्पना का प्रादुर्भाव हुआ, यह बड़े महत्व का विषय है। प्राचीन रोमन राष्ट्र में, जो कि किसी समय अत्यन्त प्रबल राष्ट्र समझा जाता था, बहुत दिनों तक वर्ष में १० ही मास माने जाते थे। हमारे जिन वेदों में अधिक मास का उल्लेख है उनके कुछ भाग ई० पू० १५०० के कुछ पूर्व ही बने हैं, इसे यूरोपियन विद्वान् भी मानते हैं। उपर्युक्त वाक्य में अधिक मास का उल्लेख इस ढंग से नहीं किया गया है जिससे यह प्रतीत हो कि उसे लोग कोई विलक्षण पदार्थ समझते थे। इससे सिद्ध होता है कि उस वेदभाग की रचना के अनेकों वर्ष पूर्व ही उसका ज्ञान हो चुका था और उसे लोग बिलकुल साधारण विषय समझने लगे थे।

उस समय अधिकमास कितने मासों के बाद मानते थे, यह जानने का कोई साधन नहीं है। आजकल मध्यम मान से लगभग ३२-३३ महीनों के बाद मानते हैं, यद्यपि स्पष्ट मान से कुछ न्यून या अधिक मासों में ही पड़ जाता है। वेदाङ्गज्योतिष में ३० मास के बाद एक अधिमास बताया है अतः वेदकाल में भी इसके विषय में कोई न कोई नियम अवश्य रहा होगा, पर इस समय वह ज्ञात नहीं है।

उपर्युक्त वाक्यों में मलिम्लुच, संसर्प, और अंहस्पति नाम आये हैं। आजकल मलिम्लुच अधिमास को कहते हैं।

रविणा लंघितो मासश्चान्द्रः ख्यातो मलिम्लुचः। व्यासः

मासद्वये यदाप्येकराशिं संक्रमेतादित्यस्तत्राद्यो मलिम्लुचः शुद्धोन्यः।

मैत्रेयसूत्र

नारदसंहिता के निम्नलिखित श्लोक में अधिमास को संसर्प और क्षयमास को अंहस्पति कहा है।

असंक्रान्तिद्विसंक्रान्ती संसर्पांहस्पती समौ।

मुहूर्तचिन्तामणिकार का कथन है कि जब किसी मास का क्षय होता है उस समय अधिमास दो होते हैं। उनमें से पूर्व के अधिमास को संसर्प और क्षयमास के बाद आनेवाले को अंहस्पति कहते हैं (प्रकरण १ श्लोक ४७ की टीका देखिये)। पता नहीं चलता, वेदकाल में इनका क्या अर्थ करते थे।

यह तो निश्चित है कि वर्ष सौर था परन्तु वह नाक्षत्रिक सौर था कि साम्पातिक सौर, इसका विचार आगे करेंगे।

सावन चान्द्र और सौर मान

अब यह देखना है कि सौर की तरह अन्य मानों के भी वर्ष थे या नहीं। सावन, चान्द्र, सौर, नाक्षत्र और बार्हस्पत्य, इन पाँच ज्योतिषशास्त्रोक्त मानों में से नाक्षत्र और बार्हस्पत्य मानों का स्पष्ट या अस्पष्ट वर्णन वेदों में मुझे कहीं नहीं मिला। शेष तीन का विचार करेंगे।

एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक के काल को सावन दिन कहते हैं। सावन संज्ञा यज्ञों के सम्बन्ध से उत्पन्न हुई है। सोमयाग में एक अहोरात्र में सोम के तीन सावन होते हैं। कालमाधव में माधवाचार्य नें लिखा है—सावनशब्दोऽहोरात्रोपलक्षकः सोमयागे सवनत्रयस्याहोरात्रसम्पाद्यत्वात्, अतः सवन के सम्बन्ध से सावन हुआ। इसी प्रकार चन्द्रमा और सूर्य सम्बन्धी कालों को क्रमशः चान्द्र और सौर कहा है।

अहोरात्र में होनेवाले एक सोमयाग को (और सम्भवतः उस दिन को भी) वेद में अह कहते हैं। ६ अहों के समूह को षडह और पांच षडहसमूह को मास कहते हैं। संवत्सर सत्र इत्यादिकों में ऐसे कई षडह और मास करने पड़ते हैं। ये सब मिलकर ३६० दिवस होते हैं (इसके अतिरिक्त बीच में एक विषुवान् दिवस होता है। माधवाचार्य ने लिखा है—

अहोरात्रसाध्य एकः सोमयागो वेदेष्वहः शब्देनाभिधीयते तादृशानामहर्विशेषाणां गणः षडहः......षडहेन पञ्चकेन एको मासः सम्पद्यते तादृशैर्द्वादशिभिर्मासैः साध्यं संवत्सरसत्रम्।

इससे और अन्यान्य अनेक प्रमाणों से ज्ञात होता है कि यज्ञकृत्यों में वर्ष सावन लिया जाता था। हम समझते हैं गणना में सौर और चान्द्र वर्षों की अपेक्षा सुगम होने के कारण व्यवहार में भी उसका प्रचार अवश्य रहा होगा। मास चान्द्र थे, यह पहिने सिद्ध कर चुके हैं, अतः चान्द्र वर्ष भी अवश्य रहा होगा। परन्तु उसमें अधिकमास डालकर सौर वर्ष से उसका मेल रखते रहे होंगे।

मालूम होता है, चान्द्र वर्ष में दिन ३६० से कुछ कम होते हैं, यह बात ज्ञात हो चुकी थी। ऊपर पृष्ठ की टिप्पणी में बता चुके हैं कि चान्द्र मास में ठीक ३० दिन नहीं होते हैं, यह जानते थे। उत्सर्गिणामयन नामक एक सत्र है। वह गवामयन की विकृति है। तैत्तिरीयसंहिता ७।५।६ मे उसके विषय में लिखा है—षडहैर्मासांत्सम्पाद्याहरुत्सृजन्ति। इस अनुवाक में सत्र होते समय बीच में तदङ्गभूत कुछ अह छोड़ने कहा है। एक चान्द्र मास में लगभग २९॥ अर्थात् दो मासों में ५९ दिन होते हैं, अतः यदि चान्द्र मास के

आरम्भ में षडह का आरम्भ किया जाय तो यज्ञ सम्बन्धी दो मास (६० दिन) समाप्त होने के एक दिन पहिले चान्द्र मास समाप्त हो जायगा, ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होने पर याज्ञिक लोगों को ज्ञात हुआ होगा कि षडह में एकाध दिवस[1] छोड़ने होंगे और इसी कारण उत्सर्गिणामयन की प्रवृत्ति हुई होगी। ताण्ड्यब्राह्मण ५।१०।२ में इस उत्सर्ग का कारण बतलाया है—यदि [दिवस] छोड़ा नहीं गया तो संवत्सर चमड़े के भाथे की तरह फूल जायगा।

यथा वै दृतिराध्मात एव संवत्सरोनुत्सृष्टः

उपर्युक्त वाक्य जिस अनुवाक में है उसी के आगेवाले अनुवाक में कहा है—उत्सृज्यां ३ नोत्सृज्यां ३ मिति मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनः। इससे अनुमान होता है कि याज्ञिक लोगों में बहुत दिनों तक इस विषय में मीमांसा होती रही होगी कि एक दिन छोड़ा या न छोड़ा जाय। यद्यपि उपर्युक्त वाक्यों से यह स्पष्ट नहीं होता कि एक वर्ष में कितने दिन छोड़ते थे पर उनमें यह कल्पना स्पष्ट है कि १२ चान्द्र मासों में अर्थात् एक चान्द्र वर्ष में दिन ३६० से कम होते हैं। सारांश यह कि उस समय सावन, चान्द्र और सौर वर्षों का प्रचार था।

अयन

अयन दो हैं। उत्तरायण और दक्षिणायन। इन शब्दों से किस काल और सूर्य स्थिति का ग्रहण करना चाहिए, इस विषय में दो मत ज्ञात होते हैं। ज्योतिषसिद्धान्त ग्रन्थों में ये दो मत नहीं है। उनमें सायन मकरारम्भ से सायन कर्कारम्भ पर्यन्त उत्तरायण और सायन कर्कारम्भ से मकरारम्भ पर्यन्त दक्षिणायन होता है—यह अर्थ निश्चित हो चुका है। सूर्य विषुवृत्त के चाहे जिस ओर हो, उत्तरायण में प्रतिदिन क्रमशः उत्तर और दक्षिणायन में दक्षिण ओर खिसकता रहता है। कुछ ग्रन्थकारों ने उत्तर गोलार्द्ध में शिशिर के आरम्भ से ग्रीष्म के अन्त पर्यन्त और कुछ ने हेमन्त के मध्य से ग्रीष्म के मध्य पर्यन्त उदगयन माना है। ज्योतिषगणितग्रन्थोंक्त अयन का यह अर्थ व्यवहार में भी बहुधा सर्वमान्य है पर मालूम होता है उसका एक और अर्थ प्रचलित था। शतपथ ब्राह्मण २।१।३ में लिखा है—

१. इस उत्सर्ग के विषय में कालमाधव में माधवाचार्य ने लिखा है—

द्वादशमासेष्वनुष्ठेयायां प्रकृतौ चैकस्मिन् मासे त्रिंशस्त्वहस्सु सोमयागविशेषाणां त्रिंशतामनुष्ठेयत्वात् न किञ्चिदहरुत्स्रष्टुं शक्यते तद्वद्विकृतावपि प्राप्ते प्रतिमास-मेकस्मिन्नहनि सोमयागपरित्यागो विधीयते। तत्र कतमदहस्त्यज्यतामिति वीक्षाया-मिदं (अमावस्याया मासान् सम्पाद्याहरुत्सृजन्ति...) उच्यते॥

> वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः । ते देवा ऋतवः शरद्धेमन्तः शिशिरस्ते पितरो......स (सूर्यः) यत्रोदगावर्तते । देवेषु तर्हि भवति.......यत्र दक्षिणावर्तते पितृषु तर्हि भवति ।

यद्यपि इन वाक्यों में उदगयन और दक्षिणायन शब्द नहीं है पर कहा है——जहां सूर्य उत्तर ओर आवर्तित होता है (मुड़ता है या रहता है) वहां देवताओं में रहता है और वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा ये देवताओं की ऋतुएं हैं। इससे ज्ञात होता है कि उस समय सूर्य जब तक विषुवत्त के उत्तर रहता था तब तक उत्तरायण और जब तक दक्षिण रहता था तब तक दक्षिणायन मानते थे। कुछ ज्योतिष-संहिताग्रन्थों में उत्तरायण को देवताओं का दिन कहा है। जब कि सूर्य विषुवत्त से उत्तर रहता है, वह मेरु पर रहनेवाले देवताओं को छ मास तक सतत दिखाई देता रहता है, अतः इस कथन से भी सूर्य का विषुवत्त से उत्तर रहने का काल ही उत्तरायण सिद्ध होता है। भावगत में भी यही परिभाषा है।

> तस्मादित्यः षण्मासो दक्षिणेनैति षडुत्तरेण
>
> तै० सं० ६।५।३

यहां अस्पष्ट रूप में बताया है कि सूर्य ६ मास दक्षिण और ६ मास उत्तर चलता है। मरने के बाद जीव के गन्तव्य स्थान के विषय में आगे निरुक्त प्रकरण में निरुक्त का एक वचन उद्धृत किया है, उसमें सूर्य की उत्तर-दक्षिण गति का वर्णन है। वैसा वर्णन प्रायः उपनिषदों में मिलता है परन्तु वह स्पष्ट नहीं है। अयन शब्द का प्रयोग किस काल के लिए किया गया है, इस बात का स्पष्ट उल्लेख मुझे वेदों में उपर्युक्त शतपथ-ब्राह्मणवाक्य के अतिरिक्त और कहीं नहीं मिला।

> य......उदगयने प्रमीयते देवानामेव महिमानं गत्वा-दित्यस्य सायुज्यं गच्छत्यथयो दक्षिणे प्रमीयते पितृणामेव महिमानं गत्वा चन्द्रमसः सायुज्य सलोकतामाप्नोति ।
>
> नारायण उ नि० अनु० ८०

इसमें और मैत्रायण्युपनिषद् में उद्गयन और उत्तरायण शब्द हैं। अन्यत्र बहुधा उदगयन के लिए देवयान और देवलोक तथा दक्षिणायन के लिए पितृयाण और पितृलोक शब्द का प्रयोग किया गया है। शतपथब्राह्मणोक्त अयन शब्द का उपर्युक्त अर्थ ही सब वेदवाक्यों में है या दूसरा भी कहीं है, दोनों में कौन सा प्राचीन है, दूसरा कब प्रचलित

हुआ इसका निश्चय नहीं होता। योतिषग्रन्थों का उपर्युक्त अर्थ ही सब ज्योतिष-गणितग्रन्थों में है, इसमें सन्देह नहीं है और वही बहुधा सर्वत्र प्रचलित भी है।

ऋतु

ऋतुओं का थोड़ा सा विवेचन ऊपर कर चुके हैं। ऋग्वेद संहिता में शरद् हेमन्त इत्यादि ऋतुओं के नाम अनेकों स्थानों में आये हैं परन्तु केवल ऋतु शब्द जैसे बह्मच-ब्राह्मण और दोनों यजुर्वेदों में अनेकों बार आया है उस प्रकार ऋक्संहिता में नहीं है। उसमें ऋतुओं का विशेष माहात्म्य नहीं दीखता। ऋक्संहिता के पांचवे अष्टक के तृतीयाध्याय के २८ और २९ वें वर्गों के "शन्न इन्द्राग्नी भवतां" इत्यादि ५०, ६० वाक्यों में कहा है कि अमुकामुक देवता कल्याणकारक हों परन्तु उनमें से एक भी वाक्य में यह नहीं कहा है कि संवत्सर, ऋतु, मास और नक्षत्र हमारा कल्याण करें। यजुर्वेद में यदि एक साथ इतने देवताओं की प्रार्थना की गयी होती तो ऋतुओं का नाम आये बिना न रहता।

ऋतु-संख्या

ऋक्संहिता को छोड़ अन्य वदग्रन्थों मे ६ ऋतुओं और उनक नामों का उल्लेख अनेकों स्थानों में है (तैत्तिरीयसंहिता ४।३।२, ५।६।२३, ७।५।१४ इत्यादि देखिये। कुछ वचन ऊपर लिखे भी हैं)। बहुत से स्थलों में पांच ऋतुओं का भी विधान मिलता है। उदाहरणार्थ—

पञ्च शारदीयेन यजेत।......पञ्च वा ऋतवः संवत्सरः।

तै० ब्रा० २।७।१०

पञ्चशारदीय से यजन करना चाहिए......[क्योंकि] संवत्सर में पांच ऋतुएं [होती हैं]। जिस समय पांच ऋतुएं मानी जाती थीं उस समय मालूम होता है हेमन्त और शिशिर दोनों को मिला कर एक ही ऋतु मानते थे। अग्रिम वाक्य देखिये—

द्वादशमासाः पञ्चर्तवो हेमन्तशिशिरयोः समासेन

ऐ० ब्रा० १।१

तैत्तिरीयसंहिता, तैत्तिरीयब्राह्मणों में भी जहां ऋतुएं पांच हैं वहां हेमन्त और शिशिर मिल कर एक ही ऋतु मानी गयी हैं। कई प्रमाण देकर माधवाचार्य ने भी लिखा है कि इस स्थिति में हेमन्त में शिशिर का अन्तर्भाव करना चाहिए (कालमाधव

का ऋतुनिर्णय देखिये)। कहीं कहीं (शतपथब्राह्मण ३।४।४।१७) तीन ऋतुओं का भी वर्णन मिलता है।

प्रथम ऋतु

वेदों में जहां छ ऋतुओं का एकत्र निर्देश है वहां आरम्भ वसन्त से है। इसके अतिरिक्त "ऋतुओं में वसन्त मुख्य है", इसके स्वतन्त्र विधान भी हैं। निम्नलिखित वाक्य में वसन्त को ऋतुओं का मुख कहा है।

मुखं वा एतदृतूनां। यद्वसन्तः तै० ब्रा० १।१।२।६,७

तस्य ते (संवत्सस्य) वसन्तः शिरः। ग्रीष्मो दक्षिणः पक्षः।
वर्षा पुच्छं। शरदुत्तरः पक्षः। हेमन्तो मध्यम्।
तै० ब्रा० ३।१०।४।१

इन्हीं सरीखे वाक्य और भी दो स्थानों में आये हैं। यहां हेमन्त को संवत्सर का मध्य और वर्षा को पुच्छ कहा है। संवत्सर को एक पक्षी मानने से इसकी इस प्रकार ठीक संगति लगती है।

(मुख-वसन्त)
(उत्तरपक्ष-शरद्) | हेमन्त | (दक्षिण-ग्रीष्म)
(पुच्छ-वर्षा)

ऋत्वारम्भ

उमयतो मुखमृतुपात्रं भवति को हि तद्वेद यदृतूनां मुखम्।
तै० सं० ६।५।३

ऋतुपात्र में दोनों ओर मुख होते हैं। कौन जानता है कि ऋतु का मुख कौन-सा है। इस उद्गार का अभिप्राय यह ज्ञात होता है कि किसी विवक्षित ऋतु का आरम्भ कहां से होता है, इसका पता नहीं चलता और यह ठीक भी है क्योंकि ऋतुएं सूर्य की स्थिति पर अवलम्बित हैं पर सौरमास की तिथि सदा अनिश्चित रहती है। यदि किसी वर्ष में सौर मास का आरम्भ चान्द्र मास के साथ हुआ तो अग्रिम वर्ष में वह शुक्ल द्वादशी के लगभग और उसके आगे वाले वर्ष में कृष्णाष्टमी के आसपास होगा। अतः ऋत्वारम्भ की तिथि निश्चित नहीं की जा सकती। इतना ही नहीं, सौर मासों मासों से भी उनका सम्बन्ध थोड़ा अनियमित ही है। सम्प्रति वर्षा निरयण मृगशीर्ष-

नक्षत्र के आरम्भ से चार-छः दिन पूर्व या पश्चात् आरम्भ होती है। स्थलभेद से भी ऋत्वारम्भ में दस-पांच दिन का अन्तर पड़ता है, अतः प्राचीन काल में इसकी अनियमित स्थिति के सम्बन्ध में उपर्युक्त उद्गार निकलना अस्वाभाविक नहीं है।

चन्द्रमा और सूर्य की गति के सूक्ष्म ज्ञान और कालमापन के साधनों के अभाव में पक्षसन्धि और ऋतुसन्धि का सूक्ष्म ज्ञान होना अत्यन्त कठिन है। निम्नलिखित आख्यायिका से ज्ञात होता है कि मनुष्य की आद्यस्थिति में पूर्णिमान्त और अमान्त तथा ऋत्वारम्भ का जानना कितना कठिन था।

> प्रजापतेर्ह वै प्रजाः ससृजानस्य पर्वाणि विसस्र ँ सुः स वै संवत्सर एव प्रजापतिस्तस्यैतानि पर्वाण्यहोरात्रयोः सन्धी पौर्णमासी चामावास्या चतुर्मुखानि ।।३५।। स विस्रस्तैः पर्वभिः। न शशाक स ँ हातुँ तमेतैर्हविर्यज्ञैर्देवा आभष-ज्यन्नग्निहोत्रेणैवाहोरात्रयोः सन्धी तत्पर्वाभिषज्यँस्तत्समदधुः पौर्णमासेन चैवामास्येन च पौर्णमासी चामावास्यां चतत्पर्वाभियज्यंस्तत्समदधुश्चातुर्मास्यैरेवर्तुमुखानि तत्पर्वाभिषज्यँस्तत्समदधुः ।।३६।।

शतपथब्राह्मण १।६।३

तात्पर्यार्थ—प्रजा उत्पन्न करने के बाद प्रजापति के पर्व शिथिल हो गये। संवत्सर ही प्रजापति हैं। अहोरात्र की दो सन्धियाँ, पौर्णमासीं, अमावस्या और ऋत्वारम्भ ही उसके पर्व हैं। देवताओं ने उनकी चिकित्सा की। अग्निहोत्र द्वारा अहोरात्र की सन्धियां, पौर्णमासेष्टि और दर्शेष्टि यज्ञों द्वारा पौर्णमासी और अमावस्या पर्व तथा चातुर्मास्य यज्ञ द्वारा ऋतुसन्धियां व्यवस्थित कीं। इस कथा मे यज्ञ और काल-ज्ञान का भी थोड़ा सम्बन्ध दिखाई देता है।

मास

ऊपर संवत्सरविचार में मासों का बहुत विचार हो चुका है उपर्युक्त मधुमाधव इत्यादि संज्ञाओं के अतिरिक्त तैत्तिरीयब्राह्मण के निम्नलिखित वाक्यों में उनके और भी नाम आये हैं। इन्हीं में अर्द्धमास और ऋतुओं के भी अन्य नाम हैं।

> अथ यदाह। पवित्रन् पवयिष्यन्त्सहस्वान्त्सहीयानरुणोरुणरजा इति। एष एव तत्। ए ह्येव तेर्धमासाः। एष मासाः। अथ यदाह। अग्निष्टोम उक्थ्योग्निर्ऋतुः

प्रजापतिः संवत्सर इति। एष एव तत्। एषह्येव ते यज्ञ-
ऋतवः। एष ऋतवः। एष संवत्सरः।

तै० ब्रा० ३।१०।९

संवत्सर के २४ अर्धमासों के नाम ये हैं—

पवित्रन् पवयिष्यन् पूतो मेध्यः। यशो यशस्वानायुरमृतः।
जीवो जीविष्यन्त्स्वर्गो लोकः। सहस्वान् सहीयानोजस्वान्
सहमानः। जयन्नभिजयन्त्सुद्रविणो द्रविणोदाः। आर्द्रपवित्रो
हरिकेशो मोदः प्रमोदः ॥

तै० ब्रा० ३।१०।१

अरुणोरुणरजाः पुण्डरीको विश्वजिदभिजित्। आर्द्रः
पिन्वमानोन्नवान् रसवानिरावान्। सर्वोषधः सम्भरो
महस्वान् ॥

तै० ब्रा० ३।१०:१

ये १३ नाम मासों के हैं। मालूम होता है, इनमें एक नाम अधिमास का है।

अग्निर्ऋतुः सूर्यऋतुश्चन्द्रमा ऋतुः। प्रजापतिः संवत्सरो महान्कः।

तै० ब्रा० ३।१०।१

ये छः नाम ऋतुओं के हैं। यह भी सम्भव है कि तीन ही ऋतुएं मानकर उनके अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा नाम रखे गये हों। अन्त में संवत्सर को प्रजापति कहा है।

मध्वादि और चैत्रादि नाम

स्पष्ट है कि मध्वादि और अरुणादि संज्ञाओं का सम्बन्ध नक्षत्रों से नहीं, ऋतुओं से है। ऋग्वेदसंहिता में ये नाम नहीं हैं। ऐतरेयब्राह्मण, तैत्तिरीयसंहिताब्राह्मण और वाजसनेयिसंहिता-ब्राह्मणों में मध्वादि नामों का विशेष माहात्म्य है पर उनमें चित्रा नक्षत्र युक्त पूर्णिमा को चैत्री और चैत्री जिस मास में हो वह चैत्र है—इस व्युत्पत्ति के नक्षत्रप्रयुक्त चैत्रादि नाम नहीं हैं। चन्द्रमा नियमित नक्षत्रों में पूर्ण होता है, उसका ज्ञान होने के कुछ दिनों बाद पूर्णिमाओं के चैत्री, वैशाखी नाम पड़े होंगे और इसके कुछ समय बाद "सास्मिन् पौर्णमासीति (पाणिनि ४।२।२१)" सूत्र की प्रवृत्ति हो कर चैत्रादि नाम सिद्ध हुए होंगे। सब वेदों में नक्षत्रों के नाम अनेक स्थानों में हैं (इसका विवेचन आगे किया है) परन्तु नक्षत्रों में चन्द्रमा के पूर्ण होने का वर्णन मुझे केवल दो

स्थानों में मिला है। उनमें से एक तैत्तिरीयसंहिता के निम्नलिखित अनुवाक में है। इसमें कालमान सम्बन्धी कुछ और बातें भी हैं, इसलिए यहां सम्पूर्ण अनुवाक लिख दिया है। इसमें गवामयन (संवत्सरसत्र) की दीक्षा के समय का भी विचार किया है।

> संवत्सराय दीक्षिष्यमाणा एकाष्टकायां दीक्षेरन्नेषा वै संवत्सस्य पत्नी यदैकाष्टकैतस्यां वा एष एतां रात्रिं वसति साक्षादेव संवत्सरमारभ्य दीक्षन्त आर्तं वा एते संवत्सरस्याभिदीक्षन्ते य एकाष्टकायां दीक्षन्तेऽन्तनामानावृतू भवतो व्यस्तं व एते संवत्सरस्याभिदीक्षन्ते य एकाष्टकायां दीक्षन्तेऽन्तनामानावृतू भवतः फल्गुनीपूर्णमासे दीक्षेरन् मुखं वा एतत् ॥१॥ संवत्सरस्य यत्फल्गुनीपूर्णमासो मुखत एव संवत्सरमारभ्य दीक्षन्ते तस्यैकैव निर्या यत्सांमेध्ये विषूवांत्सम्पद्यते चित्रापूर्णमासे दीक्षेरन्मुखं वा एतत्संवत्सरस्य यच्चित्रापूर्णमासो मुखत एव संवत्सरमारभ्य दीक्षन्ते तस्य न काचन निर्या भवति चतुरहे पुरस्तात् पौर्णमास्यै दीक्षेरन् तेषामेकाष्टकायां क्रयः सम्पद्यते तेनैकाष्टकां न छंवट् कुर्वन्ति तेषाम् ॥२॥ पूर्वपक्षे सुत्या सम्पद्यते पूर्वपक्षं मासा अभिसम्पद्यन्ते ते पूर्वपक्षे उत्तिष्ठन्ति तानुत्तिष्ठत ओषधयो वनस्पतयोनुत्तिष्ठन्ति तान् कल्याणी कीर्तिरनूत्तिष्ठत्यरात्सुरिमे यजमाना इति तदनु सर्वे राध्नुवन्ति ॥
>
> तै० सं० ७।४।८

अर्थ

संवत्सर (सत्र) के लिए दीक्षा लेनेवाले को एकाष्टका में (उस दिन) दीक्षा लेनी चाहिए। एकाष्टका संवत्सर की पत्नी है। वह उस रात्रि में उसके पास रहता है (अतः एकाष्टका के दिन दीक्षा लेनेवाले) साक्षात् संवत्सर के आरम्भ में ही दीक्षित होते हैं। एकाष्टका में दीक्षा लेने वाले, संवत्सर की पीड़ा के प्रति दीक्षित होते हैं। [उनकी] अन्तिम नामों की दो ऋतुएं होती हैं। जो एकाष्टका को दीक्षा लेते हैं वे संवत्सर के व्यस्त के प्रति दीक्षित होते हैं (उनका संवत्सर व्यस्त होता है)। (उनकी) दो ऋतुएं अन्तिम नामों की होती हैं। फल्गुनी पूर्णमासी को दीक्षा लेनी चाहिए।

फल्गुनी पूर्णमासी संवत्सर का मुख है [अतः उस दिन दीक्षित होनेवाले] मुख से ही संवत्सर का आरम्भ करके दीक्षित होते हैं [परन्तु] उसमें एक ही निर्या (दोष) है कि सामेध्य के स्थान में विषुवान् आ जाता है, इसलिए चित्रापूर्णमासी को दीक्षा लेनी चाहिए। चित्रापूर्णमास संवत्सर का मुख है [अतः उस दिन यज्ञ का आरम्भ करने-वाले] मुख से ही संवत्सर का आरम्भ करके दीक्षित होते हैं। इसमें एक भी दोष नहीं है। पूर्णिमा के चार दिन पूर्व दीक्षा लेनी चाहिए। उनका एकाष्टका में (सोम का) क्रय होता है। इससे [वे] एकाष्टका को निष्फल नहीं करते। पूर्वपक्ष में उनकी सुत्या होती है। पूर्वपक्ष में मास होते हैं। वे पूर्वपक्ष में उठते हैं। उनके उठने के बाद औषधि और वनस्पतियाँ उठती हैं। ये यजमान (यज्ञ करने वाले) समृद्ध हो गये —इस प्रकार उनकी कल्याणदायिनी कीर्ति होती है। उसके बाद सब समृद्ध होते हैं।

यह अनुवाक सामवेद के ताण्ड्यब्राह्मण (५।९) में भी है पर उसमें कुछ शब्द और दो एक वाक्य भिन्न हैं।

यहाँ फलगुनीपूर्णमास और चित्रापूर्णमास शब्दों का अर्थ फल्गुनी और चित्रायुक्त पूर्णिमा—इतना ही है। यहाँ फाल्गुन और चैत्र शब्द तो नहीं ही हैं पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि फाल्गुनी और चैत्री नाम भी नहीं हैं।

> न पूर्वयोः फल्गुन्योरग्निमादधीत। एषा वै जघन्या रात्रिः संवत्सरस्य। यत्पूर्वे फल्गुनी। पृष्टितएव संवत्सरस्याग्निमाधाय। पापीयान् भवति। उत्तरयोरादधीत। एषा वै प्रथमा रात्रिः संवत्सरस्य। यदुत्तरे फल्गुनी। मुखत एव संवत्सरस्याग्निमाधाय। वसीयान् भवति।
>
> तै० ब्रा० १।१।२।८

पूर्वफल्गुनी में अग्न्याधान नहीं करना चाहिए। पूर्वफल्गुनी संवत्सर की अन्तिम रात्रि है......। उत्तरफल्गुनी में आधान करना चाहिए। यह संवत्सर की प्रथम रात्रि है।

१. ताण्ड्यब्राह्मण में एकाष्टका का एक और दोष यह बतलाया है कि "अपोनभिनन्दन्तोभ्यवयंति" अर्थात् यज्ञ करनेवाले अवभृथस्नान करने जाते समय उदक का अभिनन्दन नहीं करते। उसमें सांमेध्य के स्थान में संमेध पाठ है। सायण ने उसका अर्थ 'मेघ-युक्त दिन' किया है।

यद्यपि यहां पौर्णिमा शब्द नहीं है पर मालूम होता है पूर्वफल्गुनीयुक्त पूर्णिमा ही उद्दिष्टार्थ है अर्थात् यह कल्पना है कि फल्गुनी में चन्द्रमा पूर्ण होता है पर ऐसा होते हुई भी यहां फाल्गुन शब्द नहीं आया है। इतना ही नहीं, फल्गुनी पूर्णमास शब्द भी नहीं है जो कि उपर्युक्त संहितावाक्य में आ चुका है।

उपर्युक्त वाक्यों से ज्ञात होता है कि तैत्तिरीयसंहिताब्राह्मणकाल में यह बात ध्यान में आ चुकी थी कि चन्द्रमा नक्षत्रों में पूर्ण होता है पर उस समय तक चैत्रादि नाम नहीं पड़े थे, यह निश्कित है। शतपथ-गोपथब्राह्मणों के निम्नलिखित वाक्यों में फाल्गुनी पूर्णमासी शब्द हैं।

एषाह संवत्सरस्य प्रथमा रात्रिर्या फाल्गुनीपूर्णमासी।

शतपथब्राह्मण ६।२।२।१८

फाल्गुन्यां पौर्णमास्यां चातुर्मास्यानि प्रयुञ्जीत।
मुखं वा एतत्संवत्सरस्य यत्फाल्गुनीपौर्णमासी॥

गोपथब्राह्मण ६।१९

सुनते हैं कि सांख्यायनब्राह्मण में भी "या वैषा फाल्गुनी पौर्णमासी संवत्सरस्य प्रथमा रात्रिः" वाक्य है पर मैंने वह ब्राह्मण नहीं देखा है। इन सब वाक्यों में फाल्गुनी का अर्थ 'फाल्गुनीनक्षत्रयुक्त' ही है। शतपथब्राह्मण २।६।३ में फाल्गुनी पूर्णमासी शब्द है। सायणाचार्य ने उनकी व्याख्या 'फल्गुनीभ्यां युक्ता पौर्णमासी फाल्गुनी' यही की है। सामविधानब्राह्मण २।४ में कहा है—या रौहिणी वा पौषी वा पूर्णमासी। यहाँ रौहिणी का अर्थ रौहिणमास सम्वन्धी नहीं बल्कि रोहिणीयुक्त है। इसी प्रकार पौषी, फाल्गुनी इत्यादिकों का भी अर्थ तन्नक्षत्रयुक्त ही है। सारांश यह कि ब्राह्मण-काल में फाल्गुनी इत्यादि नाम प्रचलित थे पर फाल्गुन, चैत्र इत्यादि मास-नाम नहीं। संहिताब्राह्मणों में वे कहीं भी नहीं मिलते। शास्त्रीय-सिद्धान्त स्थापित होने में कितना समय लगता है, इसका सूक्ष्म विचार करने से यह बात सहज ही ध्यान में आ जायगी कि फाल्गुनी इत्यादि नामों का प्रचार होने के बहुत दिनों बाद फाल्गुनादि नाम प्रचलित हुए होंगे। अतः ऐतिहासिक रीति से यह सिद्ध होता है कि मध्वादि नामों के बहुत दिनों बाद चैत्रादि संज्ञाएँ प्रचलित हुई। अब यह सिद्ध करेंगे कि स्वाभाविक क्रम भी ऐसा ही है।

मनुष्य प्रथम चन्द्रमा द्वारा मास गिनने लगा होगा और सूर्य-चन्द्रमा आकाश में जिस मार्ग में घूमते हुए दिखलायी पड़े होंगे उस मार्ग के नक्षत्रविशेषों के अर्थात् २७ नक्षत्रों के नाम शीघ्र पड़े होंगे परन्तु चन्द्रमा की गति नियमित नक्षत्रों में होती है और

वह उनमें से कुछ में पूर्ण होता है, इसका सूक्ष्म ज्ञान होने में और उसके द्वारा 'चैत्री-पूर्णिमा' इत्यादि संज्ञाओं के प्रवृत्त होने में और उनके बाद चैत्रादि संज्ञा स्थापित होने में मध्वादिकों की प्रवृत्ति और २७ नक्षत्रों के नाम पड़ने के पश्चात् बहुत समय लगा होगा क्योंकि क्रान्तिवृत्त से नक्षत्रों का दूरत्व प्रायः सदा एक सा रहता है। उदाहरणार्थ रोहिणी-योगतारा क्रान्तिवृत्त से लगभग ५½ अंश दक्षिण है और वह सहस्रों वर्षों तक वहीं रहेगा परन्तु चन्द्रमा का भ्रमणमार्ग क्रान्तिवृत्त नहीं है। वह कभी-कभी क्रान्तिवृत्त से पाँच, साढ़े पाँच अंश उत्तर और कभी-कभी उतना ही दक्षिण चला जाता है। उसकी कक्षा क्रान्तिवृत्त को दो स्थानों में काटती है। उन दोनों छेदनबिन्दुओं को चन्द्रपात या राहु-केतु कहते हैं। यदि चन्द्रपात अचल होता तो किसी नक्षत्रविशेष से चन्द्रमा का सम्बन्ध सदा एक सा रहता पर पात में भी गति है। लगभग १८½ वर्षो में उसका एक भगण होता है अतः १८½ वर्षो में कभी-कभी चन्द्रमा रोहिणी को आच्छादित कर देता है और कभी-कभी दोनों में ११ अंश का अन्तर पड़ जाता है। इस कारण नक्षत्रों में चन्द्रमा के पूर्ण होने का नियम जानने में बड़ी अड़चन पड़ी होगी। साथ ही साथ एक और छोटी सी अड़चन है। सन् १८८४ के सितम्बर से १८८८ के मार्च तक किसी एक ही स्थान में नहीं पर कहीं न कहीं रोहिणी चन्द्रमा की प्रत्येक प्रदक्षिणा में उससे आच्छादित दिखाई पड़ी थी। इस प्रान्त में यह मनोहर दृश्य देखने का अवसर तीन ही चार बार आया। कई बार यह चमत्कार उस समय हुआ जब कि चन्द्रमा क्षितिज के नीचे था या हमारे यहाँ दिन था। कई बार वह रोहिणी के बिलकुल पास दिखायी पड़ा था। पात की प्रत्येक प्रदक्षिणा में प्रत्येक नक्षत्र के साथ चन्द्रमा की यह स्थिति नहीं होती अर्थात् वह प्रत्येक नक्षत्र से पाँच अंश उत्तर और दक्षिण नहीं जाता कुछ के बिलकुल पास आ जाता है, किसी किसी से दूर रहता है, कुछ के केवल उत्तर और किसी किसी से केवल दक्षिण जाता है। नियमित नक्षत्रों में उसके पूर्ण होने का नियम बनाने में कुछ अन्य अड़चनें भी हैं। चन्द्रमा किसी मास में किसी नक्षत्र पर पूर्ण होने के बाद अग्रिम मास में उससे दूसरे या तीसरे नक्षत्र में पूर्ण होता है। इस प्रकार १२ चान्द्रमास समाप्त होने पर, प्रथम पर्याय के प्रथम चान्द्र मास में जिस नक्षत्र पर पूर्ण हुआ था उसी पर यदि द्वितीय पर्याय के प्रथम मास में भी पूर्ण होता तो उसके विषय में नियम बनाने में सुविधा होती, पर प्रथम पर्याय के प्रथम मास में यदि अश्विनी में पूर्ण हुआ तो द्वितीय पर्याय अर्थात् द्वितीय चान्द्र वर्ष के प्रथम मास में रेवती में पूर्ण होता है। चैत्रादि १२ नामों के कारणीभूत चित्रा प्रभृति द्वादश ही नक्षत्रों में उसके पूर्ण होने का

१. यहाँ थोड़े में इसका सूक्ष्म विचार करना कठिन है। सायन पञ्चाङ्गों में तारा-चन्द्रयुति नामक एक कोष्ठक दिया रहता है। उसमें पांच-सात वर्षों की युति का विचार करने से यह बात समझ में आ जायगी।

नियम नहीं है, कभी न कभी सब में पूर्ण होता है। दूसरी बहुत बड़ी अड़चन यह है कि २७ में से मघा, जयेष्ठा, चित्रा और रोहिणी चार ही नक्षत्र ऐसे हैं जिनके पास पूर्णचन्द्र के आने पर तारे दिखाई देते हैं। कुछ नक्षत्र चन्द्रमा से सात आठ अंश और कुछ उससे भी अधिक दूर रहने पर ही अदृश्य हो जाते हैं। सारांश यह कि नक्षत्रों का नामकरण होने के बहुत दिनों बाद इस बात का निश्चित ज्ञान हुआ होगा कि चन्द्रमा नियमित नक्षत्रों नक्षत्रों में पूर्ण होता है। इसके बाद पूर्णिमाओं के चैत्री, वैशाखी इत्यादि नाम पड़े होंगे और तदनन्तर चैत्र, वैशाख इत्यादि नाम प्रचलित हुए होंगे। अतः ऐतिहासिक और नैसर्गिक दृष्ट्या सिद्ध हुआ कि मध्वादि संज्ञाओं के बहुत दिनों बाद चैत्रादि संज्ञाएँ प्रचलित हुईं।

सौरमास

सावन और चान्द्र मास तो वेदों में हैं पर उनमें सौर मास का स्पष्ट उल्लेख मुझे नहीं मिला। भचक्र का एक द्वादशांश भोगने में सूर्य को जितना समय लगता है उसे सौर मास कहते हैं। मेषादि १२ राशियों के नाम तो वेदों में नहीं ही हैं पर भचक्र के १२ तुल्य भागों के उन सरीखे अन्य नाम भी नहीं हैं। वेदोक्त मधु-माधवादि नाम सौर मासों के नहीं हैं—यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनके अर्थ का सम्बन्ध ऋतुओं से अर्थात् सूर्य से है, इतना ही नहीं, मध्वादिकों को ऋतु भी कहा है, परन्तु वेदों में ऐसा विधान कहीं नहीं मिलता जिससे यह प्रकट हो कि उन मासों की समाप्ति पूर्णिमा या अमावस्या के अतिरिक्त किसी अन्य दिवस में भी होती थी। पूर्णिमा और अमावास्या में मासान्त होने का निर्देश है। इससे सिद्ध होता है कि ये नाम पूर्णिमा या अमावास्या में समाप्त होने वाले चान्द्र मास के ही हैं तथापि वर्ष सौर था, यह निर्विवाद सिद्ध है। अतः चान्द्र मास से भिन्न मान के सौर मास भी अवश्य रहे होंगे और मध्वादि संज्ञाओं का प्रयोग दोनों के लिए किया जाता रहा होगा।

पूर्णिमान्त और अमान्त मास

पूर्णिमा और अमावास्या में समाप्त होने वाले मासों को क्रमशः पूर्णिमान्त और अमान्त मास कहते हैं। वेदों में ये दोनों मिलते हैं। पूर्णिमान्त मान था, यह बात पूर्णमासी शब्द से ही सिद्ध हो जाती है, क्योंकि जिसमें मास पूर्ण होता है वही पूर्णमासी है। तैत्तिरीयसंहिता १।६।७ में लिखा है—

बर्हिषा पूर्णमासे व्रतमुपैति वत्सैरमावास्यायाम्।

यहाँ अमावास्या की जोड़ी में पूर्णमास ही शब्द आया है, इससे सिद्ध होता है कि पौर्णमासी में मासान्त मानते थे।

अमावास्यया मासान्सम्पाद्याहरुत्सृजन्ति अमावास्यया हि मासान् सम्पश्यन्ति पौर्णमास्या मासान्सम्पाद्याहरुत्सृजन्ति पौर्णमास्या हि मासान्सम्पश्यन्ति ।।

पैं० सं० ७।५।६।१

उत्सर्गिणामयन सम्बन्धी अनुवाक के इन वाक्यों से विदित होता है कि अमावास्या और पूर्णिमा दोनों में मास की समाप्ति मानते थे[1]। उसमें भी इन वाक्यों के आगे के निम्नलिखित वाक्यों में पूर्णिमान्त मान के विषय में ही वशिष कटाक्ष दिखायी देता है।

> यो वै पूर्ण आसिञ्चति परा स सिञ्चति यः पूर्णादुदचति प्राणमस्मिन्त्सदधाति यत्पौर्णमास्या मासांत्सम्पाद्याहरुत्सृजन्ति संवत्सरायैव तत्प्राणं दधति तदनु सत्रिणः प्राणन्ति यदहर्नो संवत्सरायैव तत्प्राणं द.त तदनु स.त्रण: प्राणन्ति यदहर्नो-त्सृजेयुर्यथा दृतिरुपनद्धो विपतत्येव ँ संवत्सरो विपतेदार्ति-मार्छेयुर्यत्पौर्णमास्या मासान्सम्पाद्याहरुत्सृजन्ति संवत्सरायैव तदुदानं दधति तदनु सत्रिण उदनन्ति नार्तिमार्छांति पूर्णमासे वै देवाना ँ सुतो यत्पौर्णमास्या मासान्त्सम्पाद्याहरुत्सृजन्ति देवानामेव तद्यज्ञेन यज्ञं प्रत्यवरोहन्ति ।।

तै० सं० ७।५।६

अथर्वश्रुति के सृष्टिप्रकरण में सवत्सरादिकों की उत्पत्ति बतलाने के बाद मास और पक्ष के विषय में कहा है--

> मासो वै प्रजापतिः । तस्य कृष्णपक्ष एव रविः शुक्लः प्राणः ।।

यहां कृष्णपक्ष का नाम पहिले आया है। इससे भी पूर्णिमान्त ही मास सिद्ध होता है, परन्तु तैत्तिरीय ब्राह्मण में शुक्लपक्षान्तर्गत दिनों के बाद कृष्णपक्ष के दिन पठित हैं। इससे अमान्त मान का भी प्रचार सिद्ध होता है।

पूर्वापर पक्ष

पूर्णिमान्त मानने से कृष्णपक्ष पहिले और शुक्ल पक्ष उसके बाद आता है, अतः कृष्णपक्ष की पूर्व और शुक्लपक्ष की पर संज्ञा होनी चाहिए। परन्तु वर्णन ऐसा नहीं है। शुक्लपक्ष को पूर्व और कृष्ण पक्ष को पर कहा है।

१. माधवाचार्य ने कालमाधव में शङ्का-समाधानपूर्वक निश्चय किया है कि इन वाक्यों में पूर्णिमान्त और अमान्त दोनों मान माने गये हैं।

पूर्वपक्षं देवान्वसृज्यन्त। अपरपक्षमन्वसुराः। ततो देवा अभवन्। परासुराः॥
तै० ब्रा० २।२।३।१

पूर्वपक्ष में देवता उत्पन्न हुए और अपर पक्ष में असुर, इसलिए देवताओं की जय हुई और असुरों की पराजय।

पूर्वपक्षाश्चितयः। अपरपक्षाः पुरीषम्॥
तै० ब्रा० ३।१०।४।१

इन दोनों वाक्यों में शुक्ल और कृष्ण शब्द नहीं हैं, पर शुक्लपक्ष को शुभ और कृष्ण को अशुभ मानने से शुक्लपक्ष पूर्व और कृष्णपक्ष पर ज्ञात होता है। पूर्व और अपर पक्षों के १५ दिनों के नाम नीचे लिखे हैं। वहाँ पूर्व और अपर संज्ञाओं का प्रयोग शुक्ल और कृष्ण अर्थ में किया गया है। चन्द्रमा सम्बन्धी "नवो नवो भवति" मन्त्र के निरुक्त (११।६) में कहा है—

नवो नवो भवति जांयमान इति पूर्वपक्षादिमभिप्रेत्याह्नां
केतुरुषसामेत्यग्रमित्यपरपक्षान्तमभिप्रेत्य. . . . .॥

स्पष्ट है कि यहाँ पूर्व पक्ष और अपरपक्ष शब्दों का प्रयोग शुक्ल और कृष्ण पक्षों के उद्देश्य से किया गया है। वेदोत्तरकालीन अन्य ग्रन्थों में भी पूर्वापरपक्षों का यही अर्थ मिलता है।

दिवस

अब सावन दिन, सौर दिन और चान्द्र दिन अर्थात् तिथि का विवेचन करेंगे। वेदों में सौर मास का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, अतः सौर दिन का न होना भी स्पष्ट ही है। सावन दिन है। वह बड़ा व्यवहारोपयोगी है। यज्ञ उसी के अनुसार किये जाते थे, यह ऊपर बता चुके हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण के निम्नलिखित वाक्यों में शुक्ल और कृष्णपक्षों के दिन और रातों के भिन्न-भिन्न नाम पठित हैं।

सञ्ज्ञानं विज्ञानं दर्शा दृष्टेति। एतावनुवाकौ पूर्वपक्षस्याहोरात्राणां नामधेयानि।
प्रस्तुतं विष्टुतँ सुता सुन्वतीति। एतावनुवाकावपरपक्षस्याहोरात्राणां नामधेयानि॥
तै० ब्रा० ३।१०।१०।२

संज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं जानदभिजानत्। संकल्पमानं प्रकल्पमानमुपकल्पमानमुपक्लृप्तं क्लृप्तं। श्रेयोवसीय आयत् सम्भूतं भूतम्।।

तै० ब्रा० ३।१०।१।१

ये पूर्वपक्ष के अहों (दिवसों) के प्रत्येक वाक्य में पाँच-पाँच और सबमिलकर १५ नाम हैं।

दर्शा दृष्टा दर्शता विश्वरूपा सुदर्शना। अप्यायमाना प्यायमाना प्याया सूनृतेरा। आपूर्यमाणा पूर्यमाणा पूरयन्ति पूर्णा पौर्णमासी।।

तै० ब्रा० ३।१०।१।१

ये पूर्वपक्ष की १५ रात्रियों के १५ नाम हैं। पौर्णमासी इत्यादि शब्दों से स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ पूर्वपक्ष का अर्थ शुक्लपक्ष है।

प्रस्तुतं विष्टुतं ँस ँस्तुतं कल्याणं विश्वरूपं। शुक्रममृतं तेजस्वि तेजः समृद्धं। अरुणं भानुमन् मरीचिमदभितपत् तेजस्वि तेजः समृद्धं अरुणं भानुमन् मरीचिमदभितपत् तपस्वत्।

तै० ब्रा० ३।१०।१।२

ये अपरपक्ष अर्थात् कृष्णपक्ष के १५ दिनों के नाम हैं।

सुता सुन्वती प्रसुता सूयनामाऽभिषूयमाणा। पीति प्रपा सम्पा तृप्तिस्तर्पयन्ती। कान्ता काम्या कामजाताऽयुष्मती कामदुघा।।

तै० ब्रा० ३।१०।१।२,३

ये कृष्णपक्ष की १५ रात्रियों के नाम हैं।

यहाँ दिवसों के नाम नपुंसकलिङ्गी और रात्रियों के स्त्रीलिङ्गी हैं। दिवसवाची अह शब्द नपुंसकलिङ्गी और रात्रिशब्द स्त्रीलिङ्गी है। मालूम होता है इसी कारण यहाँ ऐसा प्रयोग किया गया है। उपर्युक्त वाक्य में कृष्णपक्ष की अन्तिम रात्रि को अमावास्या न कहकर कामदुघा कहा है, परन्तु शुक्लपक्ष की अन्तिम रात्रि का नाम पौर्णमासी ही है।

इन वाक्यों और अन्य लेखों से ज्ञात होता है कि पौर्णमासी और अमावास्या किसी तिथि के विशेषण नहीं हैं बल्कि रात्रि के हैं। तैत्तिरीयसंहिता—ब्राह्मण में अमावास्या

और पूर्णिमा नाम अनेकों स्थानों में हैं परन्तु तिथि शब्द नहीं है. अतः इनका किसी तिथि का विशेषण होना सर्वथा असम्भव है।

तिथि

चान्द्रमास का तीसवाँ भाग अथवा सूर्य और चन्द्रमा में १२ अंश अन्तर पड़ने में जितना समय लगता है—इस अर्थ में मुझे वेदों में तिथि शब्द कहीं नहीं मिला। यद्यपि उस समय चान्द्र मास था पर उसमें २९½ सावन दिन होने के कारण उसका तीसवाँ भाग सावन दिन से छोटा होता है। स्पष्ट सूर्य और चन्द्रमा सम्बन्धी तिथि कभी सावन दिन से बड़ी और कभी छोटी होती है और उसका मध्यममान सावन दिन से सदा न्यून रहता है इन दोनों को नापने का कोई भी नैसर्गिक सुलभ साधन नहीं है, अतः वेदों में आधुनिक मध्यम और स्पष्ट दोनों तिथियाँ नहीं हैं। बह्वृच ब्राह्मण में तिथि शब्द दो एक स्थानों में है। उसमें तिथि का लक्षण यह है—

यां पर्यस्तमियादभ्युदियादिति सा तिथिः।

जिसमें (चन्द्रमा) उगता है और अस्त होता है उसे तिथि कहते हैं। चन्द्रमा के एक उदय से दूसरे उदय पर्यन्त एक सावन दिन से लगभग एक मुहूर्त अधिक समय लगता है। एक चान्द्र मास में सूर्य के उदय कभी २९, कभी ३० और चन्द्रमा के उससे एक कम अर्थात् २८ या २९ होते हैं, अतः तिथि के उपर्युक्त लक्षणानुसार चान्द्र मास में ३० तिथियाँ कभी नहीं होंगी। यह लक्षण अन्य वेदों या वेदोत्तरकालीन ग्रन्थों में नहीं मिलता, अतः उसका विशेष प्रचार नहीं रहा होगा। सम्भव है, उपर्युक्त वाक्य का भावार्थ दूसरा हो। कुछ भी हो, ज्योतिषग्रन्थोक्त अर्थ में वेदों में तिथि शब्द और प्रतिपदादि तिथियां नहीं मिलतीं तथापि पूर्णिमा और अमावास्या को पञ्चदशी कहा है।

चन्द्रमा वै पञ्चदशः। एष हि पञ्चदश्यामपक्षीयते । पञ्चदश्यामापूर्यते ।।
तै० ब्रा० १।५।१०

इसमें कहा है, पञ्चदशी में चन्द्रमा क्षीण होता है और पञ्चदशी में पूर्ण होता है। पञ्चदशी शब्द से ज्ञात होता है कि उस समय प्रथमा, द्वितीया अर्थात् प्रतिपदा, द्वितीया इत्यादि संज्ञाएँ प्रचलित रही होंगीं। वे पहिले रात्रि की वाचक रही होंगी और बाद में तिथिवाचक हुई होंगी। सामविधानब्राह्मण (२।६, २।८, ३।३) में कृष्णचतुर्दशी, कृष्णपञ्चमी और शुक्लचतुर्दशी शब्द आये हैं।

अष्टका-एकाष्टका

अमावास्या और पौर्णिमा के अतिरिक्त एक अष्टका शब्द भी वेदों में आया है।

द्वादश पौर्णमास्यः। द्वादशाष्टकाः। द्वादशामावास्याः।।
तै० ब्रा० १।५।१२

शतपथब्राह्मण (६।४।२।१०) में भी इसी अर्थ का एक वाक्य है। इससे ज्ञात होता है कि १२ पौर्णमासी और १२ अमावास्याओं की भाँति १२ अष्टकाएं भी होती हैं। वर्ष में वे १२ वें, २४ नहीं हैं। इससे ज्ञात होता है कि शुक्लपक्ष या कृष्णपक्ष की आठवीं रात को अष्टका कहा होगा। उपर्युक्त वाक्य में पूर्णिमा के बाद अष्टाका आयी है। तैत्तिरीयब्राह्मण ३।११।१।१९ में कहा है—

पौर्णकास्यष्टकामावास्या

इस वाक्य में भी पूर्णिमा के बाद अष्टका है, अतः कृष्णपक्ष की आठवीं रात्रि को अष्टका कहते रहे होंगे। आश्वलायनादि सूत्रों में इसका स्पष्ट उल्लेख है।

द्वादश पौर्णमास्यो द्वादशैकाष्टका द्वादशामावास्याः।
ताण्ड्यब्राह्मण १०।३।११

यहाँ कृष्णाष्टमी को एकाष्टका कहा है। अपस्तम्बसूत्र में माघी पूर्णिमा के बाद की अष्टमी को एकाष्टका कहा है।

व्यष्टका-उदृष्ट

पौर्णमास्यां पूर्वमहभवति। व्यष्टकायामुत्तरं।....अमावास्यायां पूर्वमहर्भति। उदृष्ट उत्तरम्।।
तै० ब्रा० १।८।१०।२

ये वाक्य ताड्यब्राह्मण (१८।११।८) में भी हैं। यहाँ कृष्ण प्रतिपदा को व्यष्टका और शुक्लप्रतिपदा को उदृष्ट कहा है।

चन्द्रकला

वेदों में चन्द्रमा की कला के न्यूनाधिक्य का कारण यह बताया है कि देव उसका प्राशन करते हैं।

यत्वा देव प्रपिवन्ति तत आप्यायसे पुनः। वायुः सोमस्य रक्षितां समानां मास आकृतिः।।
ऋ० सं० १०।८५।५

हे देव [सोम] तुम्हारा प्राशन करते हैं। उसके बाद तुम पुनः तेजस्वी होते हो। वायु सोम का रक्षक है और तुम समों (संवत्सरों) और मासों के कर्त्ता हो। निरुक्त में यह ऋचा सोमवल्ली पर और चन्द्र पर है।

यमादित्या अ ँ शुमाप्यायन्ति यमक्षितमक्षितयः पिवन्ति।। तै० सं० २।४।१४

इसका अर्थ यह है कि आदित्य चन्द्रमा को तेजस्वी करते हैं और पूर्ण हो जाने के बाद उसका प्राशन करते हैं। यहाँ आदित्याः शब्द बहुवचन में है। पहिले यह प्रयोग द्वादश आदित्यों के उद्देश्य से किया गया होगा अर्थात् लोगों की यह धारणा रही होगी कि चन्द्रमा की कलाओं का क्षयवृद्धिकारक सूर्य ही है परन्तु आदित्य शब्द सब देवताओं का वाचक होने के कारण लोग समझने लगे होंगे कि देवता चन्द्रकला का प्राशन करते हैं।

चन्द्र प्रकाश

सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः। तै० सं० ३।४।७।१

इसमें चन्द्रमा को सूर्यरश्मि अर्थात् सूर्य द्वारा प्रकाश प्राप्त करनेवाला कहा है। निम्नलिखित वाक्यों में यह कल्पना है कि चन्द्रमा अमावास्या की रात्रि में जो आकाश में नहीं दीखता उसका कारण यह है कि वह पृथ्वी पर आकर, प्राणी, औषधी और वनस्पति इत्यादिकों में प्रवेश करता है।

सोमावास्यायां रात्रिमेतया षोडश्या कलया सर्वमिदं प्राणभृदनु प्रविश्य ततः प्रातर्जायते।। बृहदा,० शत० ब्रा० १४।४।३।२२

एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः स यत्रैष एता ँ रात्रिं न पुरस्तान्न पश्चाद्दृशे तदिमं लोकमागच्छति स इहैवापश्चौषधीश्च प्रविशति स वै देवानां वस्वन्न ँ ह्येषां तद्यदेष एता ँ रात्रिमिहामावसति तस्मादमावास्या नाम।।

शत० ब्रा० १।६।४।५

अग्रिमवाक्य में यह वर्णन भी है कि अमावास्या को सूर्य-चन्द्रमा एकत्र रहते हैं। इसमें कहा है कि अमावास्या को चन्द्रमा सूर्य में प्रवेश करता है। आदित्य से चन्द्रमा उत्पन्न होता है।

चन्द्रमा अमावास्यायामादित्यमनुप्रविशति...आदित्याद्वै चन्द्रमा जायते।

ऐ० ब्रा० ४०।५

यहाँ सूर्य से चन्द्रमा उत्पन्न होने का अभिप्राय यह है कि शुक्लप्रतिपदा को वह पुनः दिखायी देता है।

दर्श, पर्व, अनुमति इत्यादि

अमावास्या को दर्श[१] और अमावास्या तथा पूर्णिमा को पर्व कहा है। पूर्णिमा को अनुमति और राका तथा अमावास्या को सिनीवाली और कुहू भी कहा है। ऋक्-संहिता के मण्डल २ सूक्त में राका और सिनीवाली शब्द हैं। वहाँ वे कदाचित् देवता-वाचक होंगे। ऐतरेयब्राह्मण ३२।१० और गोपथब्राह्मण ६।१० में लिखा है—

या पूर्वा पौर्णमासी सानुमतिर्योत्तरा सा राका या पूर्वामावास्या सा सिनीवाली योत्तरा सा कुहूः ।।

कठशाखा के वेद में भी यह वाक्य है। निरुक्त ११।३१ में कहा है—
सिनीवाली कुहूरिति देवपत्नयाविति नैरुक्ता अमावास्येति यज्ञिकाः ।।

चन्द्रसूर्यगति

यज्ञों के विषय में वेदों में अमावास्या और पूर्णिमा का बड़ा प्राधान्य है। वेदकालीन सूर्य-चन्द्रमा का गतिविषयक आविष्यकार—जो कि प्रसङ्गाभाव के कारण वेदों में नहीं आये हैं, परन्तु जिनका परिणत स्वरूप वेदाङ्गज्योतिष में दिखायी देता है—दर्शपूर्णमासेष्टियों के कारण ही प्रादुर्भूत हुए होंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। वेदों में "सन्धौ यजेत, सन्धिमभितो यजेत" इत्यादि वाक्यों में बताया है कि पर्व की सन्धि में अर्थात् पर्व और प्रतिपदा की सन्धि में अथवा उसके आस-पास यज्ञ करना चाहिये। अतः उस समय लोगों ने पर्वसन्धि जानने का प्रयत्न किया होगा और उन्हें इस विषय का कुछ न कुछ ज्ञान भी अवश्य रहा होगा।

वार

वारों के सात नाम वेदों में नहीं मिलते। सात वारों का सामान्य नाम 'वासर' ऋक्संहिता में दो स्थानों में आया है।

आदिप्रत्नस्य रेतसो ज्योतिष्पश्यन्ति वासरम्। परो यदिध्यते दिवा ।।
ऋ० सं० ८।६।३०

१ अमावास्या को सूर्य-चन्द्रमा एकत्र हो जाते हैं, यह कल्पना पुराणों में भी है। मत्स्यपुराण और वायुपुराण में दर्श के विषय में कहा है—

आश्रित्य ताममावास्यां पश्यतः सुसमागतौ।
अन्योन्यं चन्द्रसूर्यौ तौ यदा तद्दर्श उच्यते ।।

जब यह इन्द्र द्युलोक पर सूर्यरूप से प्रकाशित होता है उस समय चिरन्तन उदकवान् इस सूर्य रूपी इन्द्र के तेज को सब दिन भर देखते हैं—इस प्रकार सायणाचार्य ने यहाँ वासर का अर्थ दिवस किया है। इसके अतिरिक्त उसे ज्योतिः का विशेषण मानकर "निवासकं" "निवासस्य हेतुभूतं"—ये दो अर्थ किये हैं।

दिनमान

निम्नलिखित ऋचा में दिनमान के न्यूनाधिक होने का वर्णन है। इसमें कहा है कि सूर्य दिन को बढ़ाता है।

सोमराजन् प्रण आयूंषि तारीरहानीव सूर्यो वासराणि ।। ऋ० सं० ८।४८।७

हे सोमराजन् (वासर) (जगद्वासक) जैसे दिवस सूर्य बढ़ाता है उसी प्रकार तुम हमारी आयु बढ़ाओ। यहाँ वासर शब्द का अर्थ दिवस नहीं है।

विषुव

विषुव-दिवस का उल्लेख वेदों में अनेकों स्थानों में है। संवत्सरसत्रविषयक तैत्तिरीयसंहिता का एक अनुवाक ऊपर पृष्ठ में लिखा है, उसमें विषुव का वर्णन है। अब यहाँ एक दूसरा वर्णन उद्धृत करते हैं। संवत्सरारम्भ के विवेचन में भी इसकी आवश्यकता पड़ेगी।

एकविंशमेतदहरुपयन्ति विषुवन्तं मध्ये संवत्सरस्यैतेन वै देवा एकविंशेनादित्यं स्वर्गाय लोकायोदयच्छन्त्स एष इत एकविंशस्तस्य दशावस्तादहानि दिवाकीर्त्यस्य भवन्ति दश परस्तान्मध्य एष एकविंश उभयतो विराजि प्रतिष्ठितस्तस्मादेषोन्तरेमां लोकान्यन् न व्यथते तस्य वै देवा आदित्यस्य स्वर्गाल्लोकादवपातादविभयुस्तं त्रिभिः स्वर्गलोकैरवस्तात्प्रत्युत्तभ्नुवन् स्तोमा वै त्रयः स्वर्गा लोकास्तस्य पराचोतिपातादविभयुस्तं त्रिभिः स्वर्गैर्लोकैः परस्तात्प्रत्यस्तभ्नुवंस्तोमा वै त्रयः स्वर्गा लोका स्तत्र योऽवस्तात्सप्तदशा भवन्ति त्रयः परस्तान्मध्य एष एकविंशः ।। ऐ० ब्रा० १८।१८

अर्थ—संवत्सर के मध्य भाग में विषुव-दिन में एकविंशाह करते हैं। इस एकविंश द्वारा देवताओं ने सूर्य को स्वर्ग में चढ़ाया। यह वह एकविंश है। उस दिवाकीर्त्य के पूर्व १० दिन होते हैं, १० दिन पीछे होते हैं और बीच में यह एकविंश रहता है। इस प्रकार दोनों ओर से दस-दस के बीच में होने के कारण यह [एकविंश अर्थात् आदित्य]

इस लोक में चलते समय व्यथा नहीं पाता। देवता डरे कि वह आदित्य कदाचित स्वर्ग से नीचे गिरेगा। [उन्होंने] इधर तीन स्वर्ग लोकों का आधार देकर उसे सँभाल रखा। [विषुवादिवस के पूर्व तीन स्वरसाम दिवस होते हैं। उस दिन कहे जाने वाले तीन] स्तोम ही तीन स्वर्गलोक हैं। वह [सूर्य] उनकी उस ओर गिरेगा, इस भय से [देवता] डरे। उन्होंने उस ओर तीन स्वर्ग लोक रखकर उसे तौल रखा। [विषुव के वाद के तीन दिनों के तीन] स्तोम ही तीन स्वर्ग हैं। उनमें इस ओर १७ और उस ओर तीन रहते हैं। वीच में यह एकविंश [२१ वां रहता है।]

तैत्तिरीयब्राह्मण (१।२।४) में भी प्रायः ऐसा ही वर्णन है। इसमें विषुव-संवत्सर के मध्यभाग में बतलाया है। इसके अतिरिक्त मालूम होता है यहां कुछ कल्पनाएं इस आधार पर भी की गई हैं कि सूर्य आकाश में कभी अधिक और कभी कम ऊँचाई पर रहता है।

यथा वै पुरुष एवं विषुवांस्तस्य यथा दक्षिणोर्ध एवं पूर्वार्धो विषुवतो यथोत्तरोर्ध एवमुत्तरोर्धो विषुवतस्तस्मादुत्तर इत्याचक्षते प्रबाहुक्सतः शिर एव विषुवान्।।
ऐ० ब्रा० १८।।२२

जैसा पुरुष वैसा विषुवान्। उस (पुरुष) का जैसा दक्षिणार्ध (दाहिना अङ्ग) वैसा इसका पूर्वार्ध। जैसा उसका उत्तरार्ध (बाया अङ्ग) वैसा इसका उत्तरार्ध। इसीलिए [विषुव के बाद छ मास तक सत्र होता रहता है। उसे] उत्तर [अर्ध] कहते हैं। [वाम-दक्षिण] भाग समान [करके बैठे] हुए [पुरुष] के शिर के समान विषुवान है। तैत्तिरीयब्राह्मण में भी इसी प्रकार का अग्रिम वर्णन है।

सन्ततिर्वा एते ग्रहाः। यत्परः सामानः। विषुवान् दिवा कीर्त्यं। यथा शालायै पक्षसी। एव ँ संवत्सरस्य पक्षसी। तै० ब्रा० १।२।३

इसमें संवत्सरसत्र का वर्णन है। कहा है—जिस प्रकार शाला अर्थात् घर के दो पक्ष होते हैं उसी प्रकार संवत्सर के भी दो पक्ष हैं और विषुवान् उसका मध्यभाग है। इसी प्रकार विषुवान् शब्द अनेकों स्थानों में आया है और वहुत से स्थलों में वह दिवस संवत्सर-सत्र या तदङ्गभूत परःसामन् इत्यादि अहों के मध्यभाग में बतलाया है।

जिस दिन दिनरात्रिमान समान होते हैं वह विषुवान् [दिवस है—ऐसा स्पष्ट उल्लेख वेदों में नहीं है। सत्र अथवा षडह इत्यादि अहों के मध्य का इतिहास, इतना ही उसका अर्थ है, चाहे वह सत्र वर्ष भर होता रहे या कुछ ही दिनों तक (ताण्ड्यब्राह्मण १३।४।१६ और उसका सायणभाष्य देखिये)। जिनमें दिन-रात्रि समान होती हैं।

ऐसे विषवान् वर्ष में दो होते हैं। उनमें से प्रथम में संवत्सरसत्र का आरम्भ करने से दूसरा उसके मध्य में आता है।

दिवस-विभाग

धर्मशास्त्रग्रन्थों में दिन के अर्थात् सूर्योदय से सूर्यास्त पर्यन्त तक के काल के २, ३, ४, ५ और १५ विभाग किये गये हैं। दो विभाग पूर्वाह्न और अपराह्न नामक हैं। तीन विभाग पूर्वाह्न मध्याह्न और अपराह्न हैं। चार पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्न और सायाह्न हैं। ये दिन के चार प्रहर हैं। पांच विभाग प्रातः, संगव, मध्याह्न, अपराह्न और सायं हैं। १५ विभाग मुहूर्त्त नामक हैं। प्रथम दो विभाग स्वाभाविक हैं। वे वेदकाल में थे। तीन विभाग निम्नलिखित दो वाक्यों में हैं।

ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते। यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अह्नः। सामवेदेनास्तमये महीयते। वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः।। तै० ब्रा० ३।१२।९।१

पूर्वाह्णे वै देवानां मध्यन्दिनो मनुष्याणामपराह्णः पितृणाम्।।
शत० ब्रा० २।४।२।८

अग्रिम ऋचा में पांच विभागों में से प्रातः, संगव और मध्याह्न, इन तीन के नाम आये हैं। इससे अनुमान होता है कि उस समय पांच विभाग थे।

उतायातं संगवे प्रातरह्नो मध्यन्दिन उदिता सूर्यस्य। दिवानक्तमवसा शन्तमेन नेदानीं पीतिरश्विना ततान।। ऋ० सं० ५।७६।३

देवस्य सवितुः प्रातः प्रसवः प्राणः। वरुणस्य सायमासवोपानः। यत्प्रतीचीनं प्रातस्तनात्। प्राचीन ँ संगवात्। ततो देवा अग्निष्टोमं निरमिमत। तत्तदात-वीर्यं निर्मार्गं। मित्रस्य संगवः। तत्पुण्यं तेजस्व्यहः। तस्मात्तर्हि पशवः समायन्ति। यत्प्रतीचीन् ँ संगवात्। प्राचीनं मध्यन्दिनात्। ततो देवा उक्थ्यं निरमिमत। तत्०। बृहस्पतेर्मध्यन्दिनः। तत्पु०। तस्मात्तर्हि तेक्ष्णिष्ठं तपति। यत्प्रतीचीनं मध्यन्दिनात्। प्राचीनमपराह्णात्। ततो देवाः षोडशिनं निरमिमत। ततदा०। भगस्यपराह्णः। तत्पु०। तस्मादपराह्णे कुमार्यो भगमिच्छमानाश्चरन्ति। यत्प्रतीचीनमपराह्णात्। प्राचीन ँसायात्। ततो देवा अतिरात्रं निरमिमत। तत्तदा०। वरुणस्य सायं। तत्पु० तस्मात्तर्हि नानृतं वदेत्।।
तै० ब्रा० १।५।३

यहां प्रातः, संगव, मध्याह्न, अपराह्न और सायं, ये पांच विभाग हैं।

आदित्यस्त्वेव सर्व ऋतवः। यदैवोदेत्यथ वसन्तो यदा संगवोथ ग्रीष्मो यदा मध्यन्दिनोथ वर्षा यदापराह्णोथ शरद्यदैवास्तमेत्यथ हेमन्तः ।।

शत० ब्रा० २।२।३।६

तस्मा उद्यन्त्सूर्यो हिंकृणोति संगवः प्रस्तौति मध्यन्दिन उद्गायत्यपराह्णः प्रतिहरत्यस्तं यन्निधनम् ।। अथ सं० ६।६।४६

यहां संगव, मध्यन्दिन और अपराह्ण तीन विभाग नहीं बल्कि दिन के चार विभागों (प्रहरों) की सन्धियां ज्ञात होती हैं।

माधवाचार्य ने कालमाधव में दिवस के पञ्चधा विभाग के विषय में तैत्तिरीय-ब्राह्मण का उपर्युक्त अनुवाक देकर लिखा है—इसमें प्रातरादि पांच विभागों की सन्धियों में अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशि और अतिरात्र इन चार सोमसंस्थाओं की निर्मिति का वर्णन है। सब विभागों के विषय में उन्होंने लिखा है, पञ्चधा विभाग श्रुति-स्मृतियों में बहुत मिलता है। आश्वलायनसूत्र (श्रौतसूत्र ३।१२) में लिखा है, 'प्रदोषान्तो होमकालः संगवान्तः प्रातः।' इससे ज्ञात होता है कि संगव सन्धि नहीं प्रत्युत एक विभाग ही है।

१५ मुहूर्त

तैत्तिरीयब्राह्मण में दिवस और रात्रि दोनों के मुहूर्त संज्ञक १५ विभाग बताये हैं।

अथ यदाह। चित्रः केतुर्दाता प्रदाता सविता प्रसविताभिशास्तानुमन्तेति। एष एव तत्। एष ह्येव तेह्नो मुहूर्ताः। एष रात्रेः।

तै० ब्रा० ३।१०।६

उपर्युक्त अनुवाक उसी ब्राह्मण में एक ही अनुवाक में आये हैं। वे ये हैं—

चित्रः केतुः प्रभानाभात्संभान्। ज्योतिष्मा ँ स्तेजस्वानातप ँ स्तपन्निभितपन्। रोचनो रोचमानः शोभनः शोभमानः कल्याणः।। तै० ब्रा० ३।१०।१

यहां प्रत्येक वाक्य में पांच और सब मिलाकर १५ मुहूर्त हैं। पूर्वापर सन्दर्भ से स्पष्ट है कि ये मुहूर्त शुक्लपक्ष के हैं और निम्नलिखित १५ मुहूर्त शुक्लपक्ष की रात्रि के हैं।

दाता प्रदाताऽनन्दो मोदः प्रमोदः। आवेशन्निवेशयन् संवेशनः सं ँ शान्तः शान्तः। आभवन् प्रभवन् सम्भवन् सम्भूतो भूतः।।

तै० ब्रा० ३।१०।११,२

सविता प्रसविता दीप्तो दीपयन् दीप्यमानः। ज्वलन् ज्वलिता तपन् वितपन् सन्तपन्। रोचनो रोचमानः शुंभूः शुंभमानो वामः।।

तै० ब्रा० ३।१०।१।२

ये कृष्णपक्ष के दिन के १५ मुहूर्तों के नाम हैं।

अभिशास्तानुमन्तानन्दो मोदः प्रमोदः। आसादयन् निषादयन् स ्ँ सादनः स ् सन्नः सन्नः। आभूर्विभूः प्रभूः शंभूर्भुवः।। तै० ब्रा० ३।१०।१।३

ये कृष्णपक्ष की रात्रि के १५ मुहूर्तों के नाम हैं।

मास में ३० दिवस की भाँति अहोरात्र में ३० मुहूर्त माने गये होंगे। वेदोत्तरकालीन ग्रन्थों में मुहूर्त नामक ये विभाग तो हैं पर उपर्युक्त नाम नहीं हैं। मुहूर्तों के भिन्न-भिन्न अन्य भी बहुत से नाम हैं।

प्रतिमुहूर्त

एक मुहूर्त में १५ सूक्ष्म मुहूर्त माने गये हैं। कहा है—

अथ यदाह। इदानीं तदानीमिति। एष एव तत्। एषह्येव ते मुहूर्तानां मुहूर्ताः।

तै० ब्रा० ३।१०।६।६

वे प्रतिमुहूर्त ये हैं—

इदानीं तदानीमेतर्हि क्षिप्रमजिरं। आशुर्निमेष फणोद्रवन्नतिद्रवन्। त्वर ्ँ स्त्वरमाण आशुरशीयान् जवः।। तै० ब्रा० ३।१०:१।४

कला-काष्ठा

सर्वे निकेपा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि। कला मुहूर्ताः काष्ठाश्चाहोरात्रश्च सर्वशः।। नारायण उपनिषद् अनु० १

इस उपनिषद् वाक्य म मुहूर्त, कला और काष्ठ नामक कालमानों के नाम आये हैं, पर पता नहीं चलता इनका परस्पर या अन्य मानों से क्या सम्बन्ध है। घटी और पल नामक दिन के भाग-प्रभाग वेदों में नहीं हैं।

नक्षत्र

अब यहां ऋग्वेद संहिता के कुछ ऐसे वाक्य उद्धृत करते हैं जिनमें किसी नक्षत्र विशेष का नहीं बल्कि आकाश में इतस्ततः सर्वत्र फैले हुए तारों का वर्णन है। इनमें के

कुछ मन्त्र अथर्वसंहिता में भी हैं। निम्नलिखित मन्त्र में कहा है कि विश्वदर्शी सूर्य के आते ही नक्षत्र और रात्रि चोर की तरह भाग जाती हैं।

अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः। सूराय विश्वचक्षसे।।
ऋ० सं० १।५०।२ अथ० सं० १३।२।१७, २०।४७।१४

अभि श्यावं न कृशनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन्।।
ऋ० सं० १०।६८।११

इन दोनों वाक्यों में तारों को नक्षत्र कहा है। "द्यौरिव स्मयमानो नभोभिः" वाक्य में तारका अर्थ में नभः शब्द का प्रयोग किया गया है। कहीं-कहीं तारका अर्थ में रोचना शब्द आया है।"द्यावो न स्तृभिश्चितयन्त (ऋ० सं० २।३४।२)" और "ऋतावानं विचेतसं पश्यन्तो द्यामिव स्तृभिः (ऋ० सं० ४।७।३)" इन दो मन्त्रों में तारा अर्थ में 'स्तृ' शब्द आया है। यहां पहिली दो ऋचाओं में नक्षत्र शब्द केवल चन्द्र-मार्ग में आनेवाले नक्षत्रों के लिए ही नहीं, सब तारों के लिए आया है। वेदोत्तर-कालीन संस्कृत ग्रन्थों में भी नक्षत्र संज्ञा चन्द्रमार्ग में आये हुए नक्षत्रों के साथ-साथ सब तारों के लिए भी आयी है।

अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः।।
ऋ० सं० १०।८५।२ अथ० सं० १४।१।२

इसमें लिखा है—नक्षत्रों में सोम रखा है। मालूम होता है यहां नक्षत्र शब्द केवल चन्द्रमार्गान्तर्गत नक्षत्रों के लिए ही आया है। ऋक्संहिता में चन्द्रमार्ग के सत्ताईसों नक्षत्रों के नहीं, पर कुछ के नाम हैं। ५।५४।१३ और १०।६४।८ में तिष्य शब्द है। वह पुष्यनक्षत्रवाचक होगा। ४।५१।२ में चित्रा नक्षत्र है। ४।५१।४७ में रेवती शब्द है। वह रेवती नक्षत्र के ही अर्थ में आया हुआ ज्ञात होता है। अग्रिम ऋचा में क्रमशः दो नक्षत्र हैं।

सूर्याया वहतुः प्रागात् सवितायमवासृजत्। अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते।।
ऋ० सं० १०।८५।१३

सविता ने जो [दहेज] दिया वह दहेज सूर्या के पहिले ही आगे गया। अघा [मघा] नक्षत्र में गायों को मारते हैं। अर्जुनी (फल्गुनी) नक्षत्र में [कन्या] ले जाते हैं। सविता की कन्या सूर्या सोम को दी गयी। उस समय सूर्य ने दहेज में जो गायें दीं

१. यहाँ हन् धातु का अर्थ मार डालना नहीं, केवल ताडन मात्र है।

वे पहिले ही दिन अर्थात् मघा नक्षत्र में ही हांक कर ले जायी गयीं और कन्या अर्जुनी नक्षत्र में गयीं, इस कथा के उद्देश्य से यह ऋचा कही गयी है। यहां फाल्गुनी के लिए अर्जुनी और मघा के लिए अघा शब्द आया है। वेदोत्तरकालीन ज्योतिषग्रन्थों में ये शब्द प्रायः नहीं मिलते, पर ये उन नक्षत्रों के द्योतक हैं, इसमें सन्देह नहीं है क्योंकि अथर्वसंहिता (१४।१।१३) में इसी ऋचा में मघा और फाल्गुनी ही शब्द हैं। वह ऋचा इस प्रकार है।

> सूर्याया वहतुः प्रागात् सवितायमवासृजत्।
> मघासु हन्यन्ते गावः फल्गुनीषु व्युह्यते।।
> एता वा इन्द्रनक्षत्रं यत्फल्गुन्योप्यस्य प्रतिनाम्न्मोर्जुनो ह्वै
> नामेन्द्रो यदस्य गुह्यं नामार्जुन्यो वै नामैतास्ताः।।

शत० ब्रा० २।१।२।११

इससे भी अर्जुनी का अर्थ फल्गुनी ही सिद्ध होता है। यजुर्वेद में मघासु प्रयोग स्त्रीलिंग—बहुवचन में और फल्गुन्योः स्त्रीलिंग -द्विवचन में आता है। यहां भी आघासु और फल्गुन्योः प्रयोग उसी प्रकार हैं। मघा और फाल्गुनी नक्षत्रों के क्रमानुसार ही क्रमशः होनेवाली दो क्रियाएँ इनमें बतलायी हैं।[1] यहां अघासु और फल्गुन्योः शब्द के वचन, लिङ्ग और क्रम तैत्तिरीयवेद और वेदोत्तरकालीन योतिषग्रन्थोक्त नक्षत्रों के अनुसार हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि यजुर्वेद की नक्षत्रपद्धति ऋग्वेदकाल में पूर्ण प्रचलित थी।

ऋक्संहिता में (७।५।२५) चन्द्रमार्गान्तर्गत और उनसे भिन्न तारों के लिए एक ही शब्द है परन्तु तैत्तिरीयसंहिता में एक स्थान पर दोनों में भेद किया है। मेध्य अश्व के विषय में कहा है—

> यो वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरो वेद शीर्षण्वान्मेध्यो भवत्युषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणश्चन्द्रमाः श्रोत्रं दिशः पादा अवान्तरदिशः पर्शवोऽहोरात्रे निमेषोर्धमासाः पर्वाणि मासाः सन्धानान्यृतवोंऽगानि संवत्सर आत्मा रश्मयः केशा नक्षत्राणि रूपं तारका अस्थीनि नभो मा ँ सानि . . .।।

जो मेध्य अश्व का शिर जानता है वह शीर्षण्वान् और पवित्र होता है। उषा मेध्य अश्व का शिर है। सूर्य चक्षु, वात प्राण, चन्द्रमा कर्ण, दिशाएं पैर, अवान्तर दिशाएँ पर्शु, अहोरात्र निमेष, अर्धमास पर्व, मास सन्धान, ऋतु अङ्ग, संवत्सर आत्मा, रश्मि कश, नक्षत्र रूप और तारे अस्थियां हैं।

१. इस विषय में पृष्ठ के "अर्यम्णः पूर्वे फाल्गुनी। जाया परस्तादृषभोवस्तात्। भगस्योतरे वहतवः परस्ताद्वहमाना अवस्तात्।" वाक्य ध्यान देने योग्य हैं।

तैत्तिरीय श्रुति में नक्षत्रसम्बन्धी बहुत सी बातें हैं। कहीं सब नक्षत्रों के नाम और उनके देवता पठित हैं, कहीं उनके विषय में अन्य प्रकार के बहुत से वर्णन हैं, कहीं उनके नामों की व्युत्पत्ति बतायी है और कहीं कुछ बीच के ही नक्षत्रों के नाम प्रसंगवशात् आये हैं। तैत्तिरीयसंहिता के निम्नलिखित अनुवाक में सब नक्षत्र हैं।

कृत्तिकानक्षत्रमग्निर्देवताग्नेरुचस्थ प्रजापतेर्धातुः सोमस्यर्चे त्वा रुचे त्वा भासे त्वा ज्योतिषे त्वा रोहिणी नक्षत्रं प्रजापतिर्देवता मृगशीर्ष नक्षत्र ँ सोमो देवताद्रीनक्षत्र ँ रुद्रो देवता पुनर्वसूनक्षत्रमदितिर्देवता तिष्यो नक्षत्रं बृहस्पतिर्देवताश्रेषा नक्षत्र सर्पा देवता मघा नक्षत्रं पितरो देवता फल्गुनी नक्षत्रमर्यमा देवता फल्गुनी नक्षत्रं भगो देवता हस्तो नक्षत्र ँ सविता देवता चित्रानक्षत्रमिन्द्रो देवता स्वाती नक्षत्रं वायुर्देवता विशाखे नक्षत्रमिन्द्राग्नीदेवतानुराधा नक्षत्रं मित्रो देवता रोहिणी नक्षत्रमिन्द्रो देवता विचृतौ नक्षत्रं पितरो देवताषाढ़ानक्षत्रमापो देवताषाढ़ा नक्षत्रं विश्वेदेवा देवता श्रोणा नक्षत्रं विष्णुर्देवता श्रविष्ठा नक्षत्रं वसवो देवता शतभिषङ्नक्षत्रमिन्द्रो देवता प्रोष्ठपदानक्षत्रमजएकपाद्देवता प्रोष्ठपदा नक्षत्रमहिर्बुध्नियो देवता रेवती नक्षत्रं पूषा देवताऽश्वयुजौ नक्षत्रमश्विनौ देवतापभरणीर्नक्षत्रं यमो देवता पूर्णापश्चाद्यते देवा अदधुः॥

तै० सं० ४।४।१०

तैत्तिरीय ब्राह्मण में तीन स्थानों पर सब नक्षत्रों के नाम और उनके देवता पठित हैं। उनमें से अग्रिम अनुवाक में बड़ा चमत्कारिक वर्णन है इसलिए उसे यहां उद्धृत करते हैं।

अग्नेः कृत्तिकाः। शुक्रं परस्ताज्ज्योतिरवस्तात्। प्रजापते रोहिणी। आपः परस्तादोषधयोवस्तात्। सोमस्येन्वका विततानि। परस्तात् वयन्तोवस्तात्। रुद्रस्य बाहू। मृगयवः परस्ताद्विक्षारोऽवस्तात्। आदित्यै पुनर्वसू। बातः परदार्द्रमवस्तात्। बृहस्पतेस्तिष्यः। जुह्वतः परस्ताद्यजमाना अवस्तात्। सर्पाणामाश्रेषाः। अभ्यागच्छन्तः परस्ताद्भ्यानृत्यन्तोवस्तात्। पितृणां मघाः। रुदन्तः परस्तादपभ्रंशोवस्तात्। अर्यम्णः पूर्वेफल्गुनी। जाया परस्तादृषभोवस्तात्। भगस्योत्तरे। वहतवः परस्ताद्वहमाना अवस्तात्। देवस्य सवितुर्हस्तः। प्रसवः परस्तात्सनिरवस्तात्। इन्द्रस्य चित्रा। ऋतं परस्तात्सत्यमवस्तात्। वायोर्निष्ट्या व्रततिः। परस्तादसिद्धिरवस्तात्। इन्द्राग्नियोर्विशाखे। युगानि परस्तात् कृषमाणा अवस्तात्। मित्रस्यानूराधाः। अभ्यारोहत्परस्तादभ्यारूढमवस्तात्। इन्द्रस्य रोहिणी। शृणत्परस्तात्प्रतिशृणदवस्तात्। निर्ऋत्यै मूलबर्हणी। प्रति-

भञ्जन्तः परस्तात्प्रतिशृणन्तोवस्तात्। अपां पूर्व अषाढ़ाः। वर्चः परस्तात्समितिरवस्तात्। विश्वेषां देवानामुत्तराः। अभिजयत्परस्तादभिजितमवस्तात। विष्णोः श्रोणा। पृच्छमानाः परस्तात्पन्था अवस्तात्। वसूना ँ श्रविष्ठाः। भतं परस्ताद्भूतिरवस्तात्। इन्द्रस्य शतभिषक। विश्वव्यचाः परस्ताद्विश्वक्षितिरवस्तात्। अजस्यैकपदः पूर्वे प्रोष्ठपदाः। वैश्वानरं परस्ताद्वैश्वावसवमवस्तात्। अहेर्बुध्नियस्योत्तरे। अभिषिञ्चन्तः परस्तादभिशृण्वन्तोवस्तात्। पूष्णो रेवती गावः परस्तात् वत्सा अवस्तात्। अश्विनोरश्वयुजौ। ग्रामः परस्तात्सेनावस्तात्। यमस्यापभरणीः। अपकर्षन्तः परस्तादपवहन्तोवस्तात्। पूर्णा पश्चाद्यते देवा अदधुः।।

तै० ब्रा० १।५।१

यहां "अग्नि की कृत्तिकाएं, शुक्र उस ओर और ज्योति इस ओर है"—इस प्रकार प्रत्येक नक्षत्र का वर्णन है। इस ओर अमुक और उस ओर अमुक है, यह कहने का हेतु और उसकी उत्पत्ति पूर्णतया समझ में नहीं आती। मालूम होता है, कुछ बातें नक्षत्र के शुभाशुभ फल के उद्देश्य से और कुछ उनकी आकृति इत्यादि के विषय में कही गयी हैं। फल्गुनी विषयक उपर्युक्त ऋग्वेद की ऋचा और यहां के फल्गुनी सम्बन्धी वाक्यों में बहुत साम्य है। इसी प्रकार आगे एक वाक्य (मैत्रेण कृषन्ते) में कहा है— अनुराधा नक्षत्र में हल चलाते हैं। अनुराधा के पूर्व नक्षत्र विशाखा के विषय में कहा है कि इस ओर युग (हलों की जोड़ियां) और उस ओर कृषमाणा (हल जोतनेवाले) हैं। अनुराधा में हल चलाने का कुछ न कुछ कारण इस कथन में है। युग और कृषमाण का आकृति सम्बन्धी सम्बन्ध ज्ञात होता है।

तैत्तिरीयब्राह्मण—तृतीयाष्टक के प्रपाठक १ के अनुवाक १ और २ में सब नक्षत्र, उनके देवता और नक्षत्र विषयक कुछ चमत्कारिक और मनोरंजक वर्णन है। परन्तु ग्रन्थविस्तार होने के भय से वह अनुवाक यहां नहीं लिखा है। यद्यपि उसमें स्पष्टतया यह नहीं लिखा है कि अमुक नक्षत्र की अमुक देवता है पर "अग्निर्नः पातु कृत्तिकाः, आर्द्रया रुद्रः प्रथमान एति"—इस प्रकार किसी न किसी सम्बन्ध से नक्षत्र और उनके देवता पठित हैं। उस प्रपाठक के ४ और ५ अनुवाकों में भी नक्षत्रों और देवताओं के नाम हैं। ये दोनों भी बहुत विस्तृत हैं। उनमें से एक नक्षत्र के वाक्य यहां उद्धृत करते हैं। अन्य नक्षत्रों के वाक्य भी प्रायः इसी ढंग के हैं।

बृहस्पतिर्वा अकामयत। ब्रह्मवर्चसी स्यामिति। स एतं बृहस्पतये तिष्याय नैवारं चरुं पयसि निरवपत्। ततो वै स ब्रह्मवर्चस्य भवत्। ब्रह्मवर्चसी ह वै

भवति। य एतेन हविषा यजते। य उ चैनदेवं वेद। सोत्र जुहोति। बृहस्पतये स्वाहा तिष्याय स्वाहा। ब्रह्मवर्चसाय स्वाहेति ।। तै० ब्रा० ३।१।४।६

बृहस्पति से ब्रह्मवर्चसी होना चाहा। उसने बृहस्पति और तृष्य (पुष्य) को पय में नीवार का चरू दिया। इस कारण वह ब्रह्मवर्चसी हुआ। जो इस हवि से यज्ञ करता है और इसे जानता है वह ब्रह्मवर्चसी होता है। वह हवन इस प्रकार करता है—बृहस्पतये स्वाहा, तिष्याय स्वाहा, ब्रह्मवर्चसाय स्वाहा।

इस प्रकार नक्षत्रों और देवताओं के नाम चार स्थानों में आये हैं। अग्रिम पृष्ठ में नक्षत्रों और देवताओं के लिङ्ग—वचन एकत्र लिखे हैं। नक्षत्रों और देवताओं के नाम उन चारों स्थानों में कहीं-कहीं भिन्न हैं, इसलिए उन स्थानों के लिए यहां क्रमशः १, २, ३ ४, अंक लिखे हैं। जहां चारों की एकवाक्यता है वहां कोई अंक नहीं लिखा है। तैत्तिरीयसंहिता के अनुवाकों के पदों को देखने से ज्ञात होता है कि तदन्तर्गत नक्षत्रों के लिङ्ग और वचन इतर तीन स्थलों के समान ही हैं। अथर्वसंहिता मे नक्षत्रों के नाम इस प्रकार हैं—

चित्राणि साकं दिवि रोचनानि सरीसृपाणि भुवने जवानि।
अष्टविंशं सुमतिमिच्छमानो अहानि गीर्भिः सपर्यामि नाकम् ।।१।।
सुहवं मे कृत्तिका रोहिणी चास्तु भद्रं मृगशिरः शमार्द्रा।
पुनर्वसू सूनृता चारु पुष्यो भानुराश्लेषा अयनं मघा मे ।।२।।
पुण्यं पूर्वाफल्गुन्यौ चात्र हस्तश्चित्रा शिवा स्वातिः सुखो मे अस्तु।
राधो विशाखे सुहवानुराधा ज्येष्ठा सुनक्षत्रमरिष्टं मूलम् ।।३।।
अन्नं पूर्वा रासतां मे अषाढा ऊर्जं ज्ये द्युत्तर आ वहन्तु।
अभिजिन्मे रासतां पुण्यमेव श्रवणः श्रविष्ठाः कुर्वतां सुपुष्टिम् ।।४।।
आ मे महच्छतभिषग्वरीय आ मे द्वया प्रोष्ठपदा सुशर्म।
आ रेवती चाश्वयुजौ भगं म आ मे रयिं भरण्य आ वहन्तु ।।५।।

अथ० सं० १६।७

यहां नक्षत्रों के देवता नहीं बतलाये हैं। प्रथम मन्त्र से ज्ञात होता है कि नक्षत्र २८ माने हैं। तैत्तिरीयश्रुति में उन चारों स्थानों में से दो स्थलों में अभिजित नक्षत्र का नाम आया है परन्तु स्पष्टतया कहीं भी यह नहीं बताया है कि नक्षत्र २७ हैं या २८। शतपथब्राह्मण में एक स्थान (१०।५।४५) पर २७ नक्षत्र और २७ उपनक्षत्र बतलाये हैं। अथर्वसंहिता के उपर्युक्त वाक्य में कृत्तिका शब्द एकवचनान्त ज्ञात होता है, मृगशिरः और पुष्य शब्द हैं, स्वाति शब्द ह्रस्वान्त और पुल्लिङ्गी ज्ञात होता है, अनुराधा शब्द एकवचनी है और उसके द्वितीय अक्षर नु में उ ह्रस्व ज्ञात होता है, श्रवण और

भरण्यः शब्द हैं—यहां इतनी बातें तैत्तिरीयश्रुति से भिन्न हैं। शेष बातों में दोनों की एकवाक्यता है। कुछ नक्षत्रों के लिङ्ग-वचन अस्पष्ट हैं पर वे तैत्तिरीयश्रुति सरीखे ही होंगे तथापि प्रोष्ठप्रदा के विषय में सन्देह है। कहीं-कहीं (२।८।१, ३।७।४) कहा है—"विचृतौ नाम तारके।" मालूम होता है यह मूल नक्षत्र के उद्देश्य से कहा गया है।

तैत्तिरीयश्रुति के नक्षत्र

अंक	नक्षत्र-नाम	देवता	लिङ्ग	वचन
१	कृत्तिका	अग्नि	स्त्री०	बहु०
२	रोहिणी	प्रजापति	स्त्री०	एक०
३	१, ३, ४ मृगशीर्ष	सोम	नपुंसक	एक०
	२ इन्वका	सोम	स्त्री०	बहु०
४	१, ३, ४ आर्द्रा	रुद्र	स्त्री०	एक०
	२. बाहू	रुद्र	पु०	द्वि०
५	पुनर्वसु	अदिति	पु०	द्वि०
६	तिष्य	बृहस्पति	पु०	एक०
७	आश्लेषा	सर्प	स्त्री०	बहु०
८	मघा	पितृ०	स्त्री०	बहु०
९	१, ३, ४ फल्गुनी	अर्यमा	स्त्री०	द्वि०
	२ पूर्वफल्गुनी	अर्यमा	स्त्री०	द्वि०
१०	१, ३, ४ फल्गुनी	भग	स्त्री०	द्वि०
	२ उत्तरफल्गुनी	भग	स्त्री०	द्वि०
११	हस्त	सविता	पु०	एक०
१२	चित्रा	१, २ इन्द्र	स्त्री०	एक०
		३, ४ त्वष्टा		
१३	१ स्वाती			
	२, ३, ४ निष्ट्या	वायु	स्त्री०	एक०
१४	विशाखा	इन्द्राग्नि	स्त्री०	द्वि०
१५	अनुराधा	मित्र	स्त्री०	बहु०
१६	१, २ रोहिणी	इन्द्र	स्त्री०	एक०
	३, ४ ज्येष्ठा			

अंक	नक्षत्र-नाम	देवता	लिङ्ग	वचन
१७	१ विचृतौ	पितृ	पु०	द्वि०
	२ मूलबर्हणी	निर्ऋति	स्त्री०	एक०
	३ मूल	निर्ऋति	नपुं०	एक०
	४ मूल	प्रजापति	नपुं०	एक०
१८	१, ३, ४ अषाढा	आपः	स्त्री०	बहु०
	२ पूर्वाषाढा	आपः	स्त्री०	बहु०
१९	१, ३, ४ अषाढा	विवेश्वेदेव	स्त्री०	बहु०
	२ उत्तराषाढा	विश्वेदेव	स्त्री०	बहु०
×	३, ४ अभिजित्	ब्रह्म	नपुं०	एक०
२०	श्रोणा	विष्णु	स्त्री०	एक०
२१	श्रविष्ठा	वसु	स्त्री०	बहु०
२२	शतभिषक्	१, २ इन्द्र	पु०	एक०
		३, ४ वरुण	पु०	एक०
२३	१, ३, ४ प्रोष्ठपद	अजएकपाद्	पु०	बहु०
	२ पूर्व प्रोष्ठपद	अजएकपाद्	पु०	बहु०
२४	१, ३, ४ प्रोष्ठपद	अहिर्बुध्निय	पु०	बहु०
	२ उत्तर प्रोष्ठपद	अहिर्बुध्निय	पु०	बहु०
२५	रेवती	पूषा	स्त्री०	एक०
२६	अश्वयुज	अश्विन्	स्त्री०	द्वि०
२७	अपभरणी	यम	स्त्री०	बहु०

तैत्तिरीयब्राह्मण में नक्षत्र शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

प्रबाहुर्वा अग्रे क्षत्राण्यातेपुः। तेषामिन्द्रः क्षत्राण्यादत्त।
न वा इमानि क्षत्राण्यभूवन्निति। तन्नक्षत्राणां नक्षत्रत्वम्॥
तै० ब्रा० २।७।१८।३

इसका तात्पर्य इतना ही ज्ञात होता है कि जो क्षत नहीं हैं वे नक्षत्र हैं। निरुक्त में नक्षत्र शब्द का "नक्षत्राणि नक्षतेर्गतिकर्मणः" इस प्रकार निरूपण करते हुए आगे कहा है—

नेमानि क्षत्राणीति च ब्राह्मणम् ।

तैत्तिरीयब्राह्मण में अन्यत्र एक जगह लिखा है—

सलिलं वा इदमन्तरासीत् । यदतरन् । तत्तारकाणां तारकत्वम् । यो वा इह यजते । अमुं सलोकं नक्षते । तन्नक्षत्राणां नक्षत्रत्वम् । देवगृहा वै नक्षत्राणि । य एवं वेद । गृह्येव भवति । यानि वा इमानि पृथिव्याश्चित्राणि । तानि नक्षत्राणि । तस्मादश्लीलनाम् ँ श्चित्रे नावस्येन्न यजेत । यथा पापाहे कुरुते । तादृगेव तत् ।।

तै० ब्रा० १।५।२

बीच में जल था। चूंकि [उसे तैर गयी] इसलिए तारकाओं को तारकत्व प्राप्त हुआ। जो यहां यज्ञ करता है वह उस लोक में जाता है, इसलिए नक्षत्रों का नक्षत्रत्व है। नक्षत्र देवताओं के गृह हैं। जो यह जानता है वह गृही होता है। ये जो पृथिवी के चित्र हैं वे नक्षत्र हैं। अतः अशुभ नामवाले नक्षत्रों में [कोई कार्य] समाप्त नहीं करना चाहिए और न तो यज्ञ ही करना चाहिए। उसमें कार्य करना पापकारक दिन में करने के समान ही है।

ये वाक्य बड़े महत्व के हैं। तारका शब्द की व्युत्पत्ति केवल शाब्दिक कोटि ज्ञात होती है। दूसरी व्युत्पत्ति गत्यर्थक नक्ष धातु द्वारा बतलायी है। उसकी यह कल्पना कि इस लोक के पुण्यात्मा स्वर्ग में नक्षत्र हो जाया करते हैं, ध्यान देने योग्य है। आज भी संसार के बहुत से राष्ट्रों की यही धारणा होगी। नक्षत्र देवों के गृह हैं, यह वाक्य बड़े महत्व का है। यहां नक्षत्रों में संचार करनेवाले प्रत्यक्ष प्रकाशमान ग्रहों को ही देव कहा गया है। मालूम होता है "देवगृहा वै नक्षत्राणि" वाक्य के आधार पर ही "गृह्णतीति ग्रहः" व्युत्पत्ति द्वारा शुक्रादि तेजोमय देवताओं को ग्रह कहने लगे होंगे।

पृथ्वी के अर्थात् पृथ्वीस्थ पदार्थों के चित्र नक्षत्र हैं, इस व्युत्पत्ति से ज्ञात होता है कि नक्षत्रों के नाम उनकी आकृतियों द्वारा पड़े होंगे, पर इसके कुछ अन्य कारण भी ज्ञात होते हैं। अब यह देखना है कि प्रत्येक नक्षत्र की व्युत्पत्ति इत्यादि के विषय में वेदों में क्या कहा है। नक्षत्रवाचक शब्दों में से पुनर्वसु, चित्रा, मघा और रेवती शब्द ऋक्संहिता में नक्षत्र-भिन्न अर्थ में आये हैं। वे वाक्य ये हैं—

अग्नीषोमा पुनर्वसू । अस्मे धारयतं रयिम् ।।

ऋ० सं० १०।१९।१

सायणाचार्य ने यहां पुनर्वसु का अर्थ "पुनः पुनर्वस्तारौ स्तोतृणामाच्छादयितारौ (देवौ)" किया है। नक्षत्रवाचक पुनर्वसु शब्द द्विवचन में आया करता है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि वह यहां भी द्विवचन में ही है।

वाजिनीवती सूर्यस्य योषा चित्रामघा राय इश वसूनाम् ।।

ऋ० सं० ७।७५।५

उषा अदर्शि रश्मिभिर्व्यक्ता चित्रामघा विश्वमनुप्रभूता ।।

ऋ० सं० ७।७७।३

यहां चित्रामघा का अर्थ विचित्रधना है। मघ शब्द के विषय में यास्क ने लिखा है–

मघमिति धननामधेयं महतेर्दानकर्मणः ।

निरुक्त १।७

स्वस्ति पथ्ये रेवती ।

ऋ० सं० ५।५१।१४

उपमास्ववृहती रेवतीरिषोधि स्तोत्रस्य पवमान नोगहि ।

ऋ० सं० ६।७२।६

यहां रेवती का अर्थ धनवती है।

इन चारों में से कुछ शब्द उपर्युक्त अथवा तत्सदृश अर्थ में कुछ अन्य स्थलों में भी आये हैं। इससे अनुमान होता है कि पुनर्वसु, मघा, चित्रा और रेवती शब्द भाषा में पहिले ही से प्रचलित थे पर बाद में तत्तत् नक्षत्रों के दर्शनीयत्व, धनदातृत्व इत्यादि प्रत्यक्ष, कल्पित या अनुभूत गुणों के आधार पर उनका प्रयोग नक्षत्र अर्थ में किया जाने लगा। कुछ अन्य नक्षत्रों के विषय में भी ऐसा कहा जा सकता है।

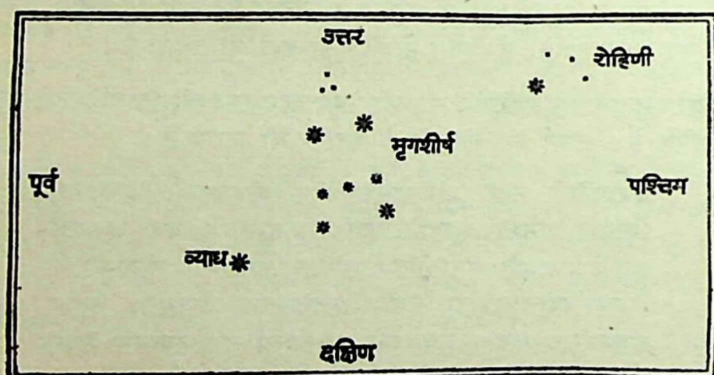
ऐतरेयब्राह्मण की रोहिणी, मृग और मृगव्याध सम्बन्धी निम्नलिखित कथा बड़ी चमत्कारिक है। उसमें इन संज्ञाओं के कारण भी बताये हैं।

> प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायद्दिवमित्यन्य आहुरुषसमित्यन्ये तामृश्यो भूत्वा रोहितं भूत्तामभ्यैत् तं देवा अपश्यन्नकृतं वै प्रजापतिः करोतीति ते तमैछन्य एनमारिष्यत्येतमन्योन्यस्मिन्नाविदंस्तेषां या एव घोरतमास्तन्व आसंस्ता एकधा समभरंस्ता संभृता एष देवो भवत्तदस्यै तद्भतवन्नाम भवति वै स योस्यैतदेवन्नाम वेद तं देवा अब्रुवन्नयं वै प्रजापतिरकृतमकरिमं विध्येति स तथेत्यब्रवीत्स वै वो वरं वृणा इति वृणीष्वेति स

एतमेव वरमवृणीत पशूनामाधिपत्यं तदस्यैतत्पशुमन्नाम
पशुमान्भवति योस्यै तदेवं नाम वेद तमभ्यायत्याविध्यत्स
विद्ध उर्ध्व उदप्रपत तमेतं मृगइत्याचक्षते पर उ एव मृगव्याधः
स उ एव स या रोहित् सा रोहिणी यो एवेषु स्त्रिकाण्डासो एवेषु
त्रिकाण्डा तद्वा इदं प्रजापतेरेतत् सिक्तमधावत्तत् सरोभवत् ।।

ऐ० ब्रा० १३।९

प्रजापति ने अपनी कन्या की अभिलाषा की। कोई कहता है उसने द्यू की अभिलाषा की और कोई कहता है उषा की। वह रोहित हो गयी। प्रजापति ऋश्य बनकर उसके पास गया। उसे देवताओं ने देखा [और वे कहने लगे कि] प्रजापति अकृत करता है। वे उसे मारनेवाला ढूंढ़ने लगे, पर उनमें कोई वैसा न मिला तब उन्होंने अपने अत्यन्त घोर तनु एकत्र किये। उनसे भूतवत् नामक एक देव हुआ। जो उसके इस नाम को जानता है वही उत्पन्न हुआ। देवताओं ने उससे कहा कि इस प्रजापति ने अकृत किया है। इसे विद्ध करो। उसने कहा, अच्छा। उसने कहा, हम आपसे वर मांगते हैं। उन्होंने कहा मांगो। उसने पशुओं का आधिपत्य मांगा, इसलिए उसका नाम पशुमान् [हुआ]। जो उसका यह नाम जानता है वह पशुमान होता है। [उसने] जाकर उसे वेधित किया। वह विद्ध होकर ऊपर गया। उसे मृग कहते हैं और मृगव्याध वह है [जिसने विद्ध किया]। वह विद्ध होकर ऊपर गया। उसे मृग कहते हैं और मृगव्याध वह है [जिसने विद्ध किया]। जो रोहित [हुई थी] वह रोहिणी और जो तीन काण्डों का बाण था वही यह [आकाशस्थ] त्रिकाण्ड बाण है।



इस चित्र में मृगनक्षत्र में सब १० तारे दिखाये हैं। उनमें बीच में एक सीधी

रेखा में जो तीन तारे हैं वह त्रिकाण्ड बाण हैं। उसके चारों ओर के चार तारे मृग के चार पैर हैं और इन सब के उत्तर पास-पास जो तीन तारे हैं वह मृग का शीर्ष है।[1] इन दस तारों के पास आकाश में छोटे-छोटे कुछ और भी तारे दिखायी देते हैं। इन सबों के संयोग से एक पुञ्ज बनता है उसे यूरोपियन ज्योतिष में ओरायन कहते हैं। चित्र के इन तारों को देखने से अनुमान होता है कि रोहिणी, मृग और मृगशीर्ष नाम आकृति द्वारा पड़े होंगे। जब ये तारे खमध्य में आकर पश्चिम ओर लटकने लगते हैं उस समय रोहिणी को मृग और मृग को व्याध खदेड़ता हुआ ज्ञात होता है। रोहिणीप्रजापतिकथा की कल्पना सम्भवतः इसी आधार पर हुई होगी।

तैत्तिरीयब्राह्मण (१।१।१०) में यह कथा कुछ भिन्न है। उसका सारांश यह है कि "प्रजापति ने प्रजाएं उत्पन्न कीं। उसके वीर्य से विराट् उत्पन्न हुई। देवासुरों ने उसका ग्रहण किया। प्रजापति ने कहा कि यह मेरी है। वह पूर्व दिशा में गयी। प्रजापति उधर गया। इस प्रकार वह संरक्षण के लिये अनेकों स्थानों में घूमी"। अन्त में कहा है कि—

> सा तत ऊर्ध्वारोहत्। सा रोहिण्यभवत्। तद्रोहिण्यै रोहिणित्वम्।
> रोहिण्यामग्निमादधीत। स्व एवैनं योनौ प्रतिष्ठितमाधत्ते।
> ऋध्नोत्येतेन॥
>
> तै० ब्रा० १।१।१०।६

आकाश में आरोहण करने के कारण रोहिणी में रोहिणीत्व आया। दूसरे स्थान में रोहिणी शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

> प्रजापति रोहिण्यामग्निमसृजत। तं देवा रोहिण्यामादधत।
> ततो वै ते सर्वान् रोहानरोहन्। तद्रोहिण्यै रोहिणित्वम्।
> रोहिण्यामग्निमाधत्ते। ऋध्नोत्येव। सर्वान् रोहान् रोहति॥
>
> तै० ब्रा० १।१।२

१. मैंने यहां उत्तर के छोटे-छोटे तीन तारों को ऐतरेयब्राह्मणानुसार शीर्ष कहा है और ज्योतिषसिद्धान्तों में भी इन्हीं को शीर्ष कहा है (आगे नक्षत्राधिकार देखिये)। श्री बाल गंगाधर तिलक ने अपने ओरायन (Orion) नामक इंगलिश ग्रन्थ में बाण के तीन, उसके दक्षिण के दो तारों में से पश्चिमस्थित एक और इस चित्र में न दिखाये हुए इनके आस-पास के कुछ अन्य तारों को मिलाकर मृगशीर्ष की आकृति बतलायी है।

तैत्तिरीयब्राह्मण में कुछ अन्य नक्षत्रों की व्युत्पत्ति इस प्रकार है--

> दैवा वै भद्राः सन्तोग्निमाधित्संग। तेषामनाहितोग्निरासीत्। अथैभ्यो वामं वस्वपाक्रामत्। ते पुनर्वस्वोरादधत। ततो वै तान् वामं वसुपावर्तत। यः पुरा भद्रः सन् पापीयान्स्यात्। सपुनर्वस्वोरग्निमा धीत। पुनरेवैनं वामं वसुपावर्तते। भद्रो भवति ।।
>
> तै० ब्रा० १।१।२

"भद्र रहते हुए देवताओं ने अग्नि का आधान करने की इच्छा की [परन्तु] उनकी अग्नि अनाहित ही रह गयी। इस कारण उत्तम वसु उनके पास से निकल गये। उन्होंने पुनर्वसु [नक्षत्र] में आधान किया। उस समय उत्तम वसु पुनः उनके पास आये"। पुनर्वसु शब्द के पुनः और वसु द्वारा अन्य दो-तीन स्थानों में कुछ और कल्पनाएं की हुई हैं। अनुराधादि कुछ नक्षत्रसंज्ञाओं की व्युत्पत्ति निम्नलिखित वाक्यों में है--

> अन्वेषामरात्स्मेति। तदनूराधाः। ज्येष्ठमेषामवधिष्मेति। तत् ज्येष्ठघ्नी। मूलमेषामवृक्षामेति। तन्मूलबर्हणी। यन्नासहन्त। तदषाढाः। यदश्रोणत्। तच्छ्रोणा। यदशृणोत् तच्छ्रविष्ठाः। यच्छतमभिषज्यन्। तच्छतभिषक्। प्रोष्ठपदेपूदयच्छन्त। रेवत्यामरवन्त। अश्वयुजोरयुञ्जत। अपभरणीष्वपावहन्।
>
> तै० ब्रा० १।५।२

इसके भाष्य में सायणाचार्य ने लिखा है कि देवासुरयुद्ध के विषय में देवताओं का कथन है कि "ज्येष्ठा नक्षत्र में हमने इनमें का ज्येष्ठ मारा, इसलिए ज्येष्ठघ्नी. . . ." इत्यादि।

हस्त नक्षत्र के पांच तारों के संयोग से हाथ के पञ्जे सरीखी आकृति बनती है, इसलिए उसका नाम हस्त पड़ा। निम्नलिखित तैत्तिरीयब्राह्मणोक्त नक्षत्रीय प्रजापति की आकृति की कल्पना ध्यान देने योग्य है।

> यो वै नक्षत्रियं प्रजापतिं वेद। उभयोरेनं लोकयोर्विदुः। हस्त एवास्य हस्तः। चित्रा शिरः। निष्ट्यां हृदयं। ऊरू विशाखे। प्रतिष्ठानूराधाः। एष वै नक्षत्रियः प्रजापतिः।।
>
> तै० ब्रा० १।५।२।२

......हस्त (नक्षत्र) उसका हाथ, चित्रा शिर, निष्ट्या हृदय, विशाखा के दो तारे दो जंघा और अनुराधा खड़ा रहने का स्थान है। यह नक्षत्रिय प्रजापति है।

यदि कल्पना करें कि इस पुरुष ने मस्तक की एक ओर हाथ उठाया है तो वर्तमान आकाशस्थिति से यह आकृति ठीक मिलती है, केवल स्वाती हृदयस्थान में नहीं आती पर स्वाती तारा की निजगति Proper motion अन्य तारों की अपेक्षा बहुत अधिक है, अतः वह प्राचीन काल में किसी समय हृदयस्थान में अवश्य रहा होगा।

नक्षत्र विषयक उपर्युक्त वचनों से नक्षत्रों की तारासंख्या जानने में बड़ी सहायता मिलती है। मृग के शीर्षादि स्थानों में स्थित सब तारों के संयोग से जो पुञ्ज बनता है उसका नाम मृग है और हस्त के पांच तारों के समूह का नाम हस्त है, इसलिए मृग और हस्त शब्दों के एकवचनीय होते हुए भी उनमें तारों की संख्या अधिक है। मृगशीर्ष की उपर्युक्त इन्वकाः संज्ञा बहुवचन में ही है। शेष नक्षत्रों में से रोहिणी, आर्द्रा, तिष्य चित्रा, स्वाती, ज्येष्ठा, मूल, श्रोणा, शतभिषक् और रेवती, ये १० एकवचन में हैं। इससे उनकी तारासंख्या एक-एक ही सिद्ध होती है। पुनर्वसु, पूर्वफल्गुनी, उत्तरफल्गुनी, विशाखा और अश्वयुज, ये पांच द्विवचनी हैं, अतः इनमें दो-दो तारे हैं। शेष कृत्तिका आश्लेषा, मघा, अनूराधा, पूर्वाषाढ़ा, उत्तराषाढ़ा, श्रविष्ठा, पूर्वप्रोष्ठपद, उत्तरप्रोष्ठपद, और अपभरणी, ये १० नाम बहुवचन में हैं, अतः इनके तारों की संख्या दो से अधिक होनी चाहिए। इनमें से निम्नलिखित वाक्य द्वारा कृत्तिका नक्षत्र के ७ तारे सिद्ध होते हैं।

अम्बायै स्वाहा दुलायै स्वाहा। नितत्न्यै स्वाहा भ्रयन्त्यै स्वाहा।
मेघयन्त्यै स्वाहा वर्षयन्त्यै स्वाहा। चुपुणीकायै स्वाहा॥

तै० ब्रा० ३।१।४

नक्षत्रेष्टि के कृत्तिकेष्टि में ये वाक्य आये हैं। उन सातों के अम्बा, दुला, नितत्नी, अभ्रयन्ती, मेघयन्ती, वर्षयन्ती और चुपुणीका, ये सात नाम हैं।

चतस्रो देवीरजराः श्रविष्ठाः॥

तै० ब्रा० ३।१।२

इससे श्रविष्ठा के चार तारे ज्ञात होते हैं। तैत्तिरीयब्राह्मण ३।१।२ के निम्न-लिखित वाक्य से उत्तर प्रोष्ठपदा के चार तारे ज्ञात होते हैं।

प्रोष्ठपदासो अभिरक्षन्ति सर्वे। चत्वार एकमभि कर्म देवाः।
प्रोष्ठादास इति यान् वदन्ति। ते बुध्नियं परिषद्यꣳ स्तुवन्तः।
अहिꣳ रक्षन्ति नमसोपसद्य॥

तै० ब्रा० ३।१।२

शतपथब्राह्मण में लिखा है कि अन्य नक्षत्र एक, दो, तीन या चार हैं पर ये कृत्तिकाएं बहुत हैं।

एकं द्वेत्रीणि चत्वारीति वा अन्यानि नक्षत्राण्यथैता एव भूयिष्ठा यत्कृत्तिकाः ।।
शत० ब्रा० २।१।२।२

इससे सिद्ध होता है कि कृत्तिका को छोड़ अन्य किसी भी नक्षत्र के तारे चार से अधिक नहीं हैं, कम से कम कृत्तिका से अधिक तो नहीं ही हैं। वेदोत्तरकालीन ज्योतिष-ग्रन्थोक्त और तैत्तिरीयश्रुति में बतायी हुई तारों की संख्या और देवताओं की तुलना आगे द्वितीय भाग में करेंगे।

वेदों में २७ नक्षत्रों के अतिरिक्त कुछ अन्य तारों का भी उल्लेख है।

अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तन्ददृशे कुहचिद्दिवेयुः ।।
ऋ० सं० १।२४।१०

ये जो ऋक्ष[1] [आकाश के] उच्च प्रदेश में रखे हुए रात को दिखाई देते हैं वे दिन में कहीं चले जाते हैं। शतपथब्राह्मण २।१।२।४ में लिखा है--

सप्तर्षीनु ह स्म वै पुरर्क्षा इत्याचक्षते।

प्राचीनकाल में सप्तर्षियों को ऋक्ष कहते थे। ताण्ड्यब्राह्मण (१।५।५) के निम्नलिखित वाक्य में भी सप्तर्षियों का उल्लेख है।

ऊर्ध्वं सप्तऋषीनुपतिष्ठस्व।

तैत्तिरीयब्राह्मण में एक स्थान पर कृत्तिकादि कुछ नक्षत्रों में अग्न्याधान करने को कहा है और उसके बाद चित्रा नक्षत्र सम्बन्धी कुछ बातें हैं। वह इस प्रकार हैं--

कालकञ्जा वै नामासुरा आसन्। ते सुवर्गाय लोकायाग्नि-
मचिन्वत। पुरुष इष्टकामुपादधात् पुरुष इष्टकाम्।
स इन्द्रो ब्राह्मणो ब्रुवाण इष्टकामुपाधत्त। एषा
मे चित्रानामेति। ते सुवर्गं लोकमाप्प्रारोहन्। स इन्द्र इष्ट-
कामावृहत्। ते वाकीर्यन्त। ये वाकीर्यन्त। त ऊर्णावभयोभवन्
द्वावुदपतताम्। तौ दिव्यौ श्वानावभवताम् ।।
तै० ब्रा० १।१।२

१. यूरोपिअन ज्योतिष में सप्तर्षि नामक नक्षत्रपुञ्ज का ऋक्ष (रीछ) इस अर्थ का ही नाम है।

स्पष्ट है कि यहां किसी दो तारों या तारकापुञ्जों के विषय में कहा है कि दो ऊपर गये और वे दिव्य श्वान हो गये।

शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम ।।२।। ये त्रयः कालकञ्जा दिवि देवा इव श्रिताः। तान् सर्वानह्व ऊतये ।।

अथ० सं० ६।८०

यहां एक दिव्य (आकाशीय) श्वा और आकाश में देवताओं के समान तीन कालकञ्ज बताये हैं।

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ ।।

ऋ० सं० १०।१४।११

यहां दो श्वानों का उल्लेख है। यह मन्त्र अथर्वसंहिता (१८।२।१२) में भी "यौ० पथिषदि नृचक्षसा"—इस प्रकार है।

मृग नक्षत्र के पूर्व में आकाशगङ्गा की दोनों ओर दो तारकापुञ्ज हैं। यूरोपिअन ज्योतिष में उन्हें Canis major (वृहल्लुब्धक) और Canis minor (लघु लुब्धक) कहते हैं। प्रथम में लुब्धक (व्याध) और द्वितीय में पुनर्वसु के चार तारों में से दक्षिण के दो तारे बड़े हैं। मालूम होता है ये ही दोनों पुञ्ज वेदोक्त दो श्वान हैं।

दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमारुहेमा स्वस्तये।

ऋ० सं० १०।६३।१०

इस ऋचा में आकाशनौका का उल्लेख है। यह मन्त्र अथर्वसंहिता ७।६।३ में भी है।

हिरण्मयी नौचरद्धिरण्यबन्धना दिवि। तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्टमवन्वत ।।

अथ० सं० ५।४।४, ६।९५।२

अथर्वसंहिता के इस मन्त्र में भी आकाश की सुवर्ण नौका का उल्लेख है। यहां पुष्य शब्द का सम्बन्ध पुष्य नक्षत्र से दिखायी देता है। यूरोपियन ज्योतिष में पुनर्वसु और पुष्य के दक्षिण ओर के पासवाले ही एक तारकापुञ्ज का नाम Navis (नौ) है। मालूम होता है यही वेदोक्त नौ है।

अब वेदों में वर्णित ज्योतिष सम्बन्धी अन्य विषयों का विवेचन करेंगे। ऋक्-संहिता में ग्रहण के विषय में लिखा है—

यत्वा सूर्यं स्वर्भानुस्तमसा विध्यदासुरः। अक्षेत्रविद्यथामुग्धो भुवनान्यदीधयुः ।५।

ग्रहण

स्वर्भानोरधयीन्द्र मायाऽअवो दिवो वर्तमाना अवाहन् ।
गूळ्हं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाऽविन्ददत्रिः ।।६।।

मामामिमं तव सन्तमत्र इरस्या द्रुग्धो भियसा निगारित्। त्वं मित्रो असि सत्य-राधास्तौ मेहावतं वरुणश्च राजा ।।७।। ग्राव्णो ब्रह्मा युयुजानः सपर्यन् कीरिणा देवान्नमसोपशिक्षन् । अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात् स्वर्भानोरपमाया अधुक्षत।।८।। यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसा विध्यदासुरः । अत्रयस्तमन्वविन्दन्नह्यन्ये अशक्नुवन्।।९।।
ऋ० सं० ५।४०

हे सूर्य, जब आसुर स्वर्भानु ने तम से तुम्हें आच्छादित किया उस समय सब भुवन ऐसे दिखलायी पड़े मानो [वहां का] सम्पूर्ण जनसमूह [अपना-अपना] स्थान भूलकर मुग्ध हो गया है ।।५।। हे इन्द्र ! तुम द्यू के नीचे रहनेवाली स्वर्भानु की मायाओं का नाश करते हो। अपव्रत तम से आच्छादित सूर्य को अत्रि ने तुरीय ब्रह्म द्वारा प्राप्त किया ।।६।। हे अत्रे ! अन्न की इच्छा से द्रोह करनेवाला वह आसुर इस [अवस्था को प्राप्त हुए] मुझे भयोत्पादक अन्धकार द्वारा निगल न जाय। तुम मित्र हो और सत्यधन हो। तुम और वरुण दोनों यहां मेरा रक्षण करो ।।७।। अत्रि ने ब्राह्मण ग्रावा की योजना करके [देवताओं के लिए सोम निकाल कर] और इस प्रकार स्तोत्रों से देवताओं की पूजा कर और नमस्कार कर स्वर्भानु की मायाएं दूर कीं और सूर्य के प्रकाश के स्थान में [अपना] नेत्र रख दिया (उसने देखा कि सूर्य निस्तमस्क हो गया है) ।[1] जिस सूर्य को स्वर्भानु ने अन्धकार से आच्छादित किया उसे अत्रि ने प्राप्त किया। दूसरा कोई प्राप्त न कर सका ।।९।।

इस वर्णन में दो तीन बातें बड़े महत्व की हैं । पहिली यह कि ग्रहण का यह वर्णन अत्यन्तभीतिदर्शक नहीं है। सूर्यग्रहण यद्यपि बहुत होते हैं परन्तु एक स्थान में उनमें से कुछ ही दिखायी देते हैं और उसमें भी खग्रास बहुत कम होता है । इंगलैण्ड में सन् ११४० की २०वीं मार्च को खग्रास सूर्य ग्रहण हुआ था। उसके बाद पुनः सन् १७१५ के अप्रैल की २२वीं तारीख को हुआ अर्थात् बीच के ५७५ वर्षों में खग्रास नहीं हुआ। भारत-वर्ष में खग्रास सूर्यग्रहण हुए बिना इतना समय बीतना असम्भव है तथापि यह प्रसङ्ग एक मनुष्य के जीवन में एक दो बार ही आता है। उपर्युक्त ऋचा में खग्रास सूर्यग्रहण का

१. सायण ने तृतीय पद का एक अन्य अर्थ किया है। ऋचा के शेष भाग का भी उनका अर्थ कुछ भिन्न है।

वर्णन है पर वह अत्यन्त आश्चर्य या भीति दर्शक नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय लोग ग्रहण से पूर्ण परिचित हो चुके थे और उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार की भीति नहीं रह गयी थी। दूसरी बात यह है कि केवल अत्रि ने ही सूर्य को प्राप्त किया, अन्य कोई प्राप्त न कर सका, इस कथन से ज्ञात होता है कि उस समय केवल अत्रिकुल के पुरुषों को ही सूर्यग्रहण का ज्ञान था। अब यहां प्रश्न यह है कि ग्रहण लगने पर एक छोटा सा बच्चा भी जान सकता है कि ग्रहण लगा है, फिर अत्रि के अतिरिक्त अन्य कोई सूर्य को नहीं छुड़ा सका—इसका अर्थ क्या है? इसका उत्तर यह हो सकता है कि ग्रहण-मोक्षकाल केवल अत्रि ही जानते थे अर्थात् औरों की अपेक्षा उनका ग्रहणसम्बन्धी ज्ञान अधिक था। इससे ज्ञात होता है कि ग्रहण के स्पर्श-मोक्ष-काल का सूक्ष्मतर ज्ञान न रहा हो, पर जैसा कि प्राचीन खाल्डियन लोगों के विषय में कहा जाता है कि वे यह जानते थे कि ६५८६ दिनों में अर्थात् २२३ चान्द्रमासों में पहिले के ही ग्रहण पुनः-पुनः आते हैं, उसी प्रकार अत्रिकुल के पुरुषों को भी इतना ज्ञान अवश्य रहा होगा। तीसरी बात यह कि यद्यपि उपर्युक्त ऋचा में एक बार कहा है कि स्वर्भानु सूर्य को न निगले तथापि उसने तम से सूर्य को आच्छादित किया, ऐसा तीन-चार बार कहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि स्वर्भानु तम से भिन्न है। अमावस्या को चन्द्रमा सूर्य में प्रवेश करता है—इस अर्थ का द्योतक ऐतरेयब्राह्मण का एक वाक्य ऊपर पृष्ठ में लिखा है। उससे ज्ञात होता है कि उस समय कदाचित् लोग ग्रहण का वास्तविक कारण न जानते रहे हों, पर उस ओर उनका झुकाव हो चुका था, इसमें सन्देह नहीं है। चन्द्रमा और सूर्य को स्वर्भानु निगल जाता है, यह कल्पना पीछे से प्रबल हुई होगी।

ताण्ड्यब्राह्मण में ग्रहण का उल्लेख ४।५।२; ४।६।१३; ६।६।८; १४।११।१४, १५; २३।१६।२ इन पांच स्थानों में है। उनमें यह वर्णन है कि स्वर्भानु ने तम से सूर्य को वेधित किया। उन पांचों में से ६।६।८ और १४।११।१४, १५ इन दो स्थानों में कहा है कि अत्रि ने भास (तेज) द्वारा अन्धकार का नाश किया और शेष तीन स्थानों में देवों को अन्धकार का नाशक कहा है पर वहां भी देव शब्द का अर्थ सूर्यरश्मि ज्ञात होता है। गोपथब्राह्मण ८।१९ में यह वर्णन है कि स्वर्भानु ने तम से सूर्य को वेधित किया और अत्रि ने उसका अपनोद किया। शतपथब्राह्मण ५।३।२२ में कहा है कि स्वर्भानु ने तम से सूर्य को वेधित किया और सोम तथा रुद्र ने उस तम का नाश किया।

ग्रह

नव ग्रहों में से सूर्य-चन्द्रमा का उल्लेख वेदों में सैकड़ों स्थानों में है और राहु-केतु अदृश्य ही हैं, अवशिष्ट भौमादि पांच ग्रह ही वास्तविक सूर्यमाला के ग्रह हैं, परन्तु वेदों

में हमें इन पांचों अथवा इनमें से कुछ के विषय में स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिला, फिर भी अनुमान करने योग्य स्थल बहुत से हैं। ऋक्संहिता १।१०५।१० में लिखा है—

अमी ये पञ्चोक्षणो मध्ये तस्थुर्महो दिवः। देवत्रा नु प्रावच्यं सध्रीचीनानि वावृदुवित्तं मे अस्य रोदसी ।।

ये जो महाप्रबल पांच [देव] विस्तीर्ण द्युलोक के मध्य में रहते हैं उनका मैं स्तोत्र बना रहा हूँ। एक साथ आनेवाले होते हुए भी [आज] वे सब चले गये हैं।

यद्यपि यहां देव शब्द प्रत्यक्ष नहीं है तथापि पूर्वापर-सन्दर्भ से ज्ञात होता है कि वह विवक्षित अवश्य है। यहाँ ये एक साथ आनेवाले कहे हैं, पर आकाश में इन पांचों के एक साथ दिखायी देने का प्रसङ्ग बहुत कम आता है और बुध-शुक्र तो आकाश के मध्य भाग में कभी भी दिखायी नहीं देते पर 'दिवः मध्ये' का अर्थ "आकाश में" भी हो सकता है और केवल उस स्थिति को छोड़ कर जब कि कोई ग्रह अस्त रहता है, रात भर में किसी न किसी समय उन पांचों का दर्शन हो ही जाता है। सृष्टिचमत्कार और प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाले तेज ही वेदोक्त देव हैं और देव शब्द का धात्वर्थ भी 'प्रकाश करनेवाला' ही है। जैसे दो देव कहने से अश्विनों का और ३३ देव कहने से द्वादश आदित्य इत्यादिकों का ग्रहण होता है उस प्रकार कोई पांच देव प्रसिद्ध नहीं हैं। ऋक्संहिता में एक अन्य स्थान (१०।५५।३) में भी पञ्चदेव शब्द आया है, अतः पञ्चदेव का अर्थ ग्रह हो सकता है। उपर्युक्त "देवगृहा वै नक्षत्राणि" अर्थात् नक्षत्र देवों के गृह हैं, वाक्य से भी इस कथन की पुष्टि होती है और इसी वाक्य से यह भी ज्ञात होता है कि वेदकाल में ग्रहों का ज्ञान था।

हमारे यहां वृद्ध से वालक तक प्रायः गुरु और शुक्र को और उसमें भी शुक्र को विशेषतः पहचानते हैं। कभी तो वह प्रातःकाल पूर्व में बहुत दिनों तक दिखायी देता रहता है और कभी सायंकाल में पश्चिम ओर। वह लगभग प्रति २० मासों में ६ मास पूर्व में प्रातःकाल दिखायी देता है। हमारे प्राचीन ऋषि जो कि उषाकाल के पहिले ही जाग्रत हो स्नानादि से निवृत्त हो कर यजन करने लग जाते थे उन्हें प्रत्येक २० मासों में आठ नौ मास दिखाई देनेवाला और शेष महीनो में दिखाई न देनेवाला तथा आकाश की ओर देखने से ध्यान को बलात् अपनी ओर आकर्षित कर लेनेवाला शुक्र सरीखा तेज आश्चर्य और आनन्ददायक न हुआ होगा एवञ्च इतर तारों की अपेक्षा इसकी गति कुछ भिन्न है अर्थात् ज्योतिषशास्त्र की भाषानुसार वह ग्रह है, यह बात उनके ध्यान में नहीं आयी होगी—यह सर्वथा असम्भव है। वस्तुतः प्राचीनतम वेदसूक्तों के रचनाकाल में ही इसका ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद उन्होंने गुरु और शुक्र

में देवत्व की कल्पना की[1]। वेदों में अश्विनौ नाम के जो दो देवता प्रसिद्ध हैं उनकी कल्पना गुरु और शुक्र द्वारा ही हुई है—यह मेरा मत है। शुक्र प्रत्येक २० मास में ९ मास प्रातः-काल पूर्व में दिखायी देता है और प्रायः हर बार लगभग दो-तीन मास तक गुरु उसके साथ रहता है। उसमें भी कुछ दिनों तक तो वह बहुत ही पास रहता है। उसके बाद शुक्र की गति अधिक होने के कारण गुरु उसके पीछे अर्थात् पश्चिम ओर रह जाता है और उसका उदय क्रमशः शुक्र के पहिले होने लगता है। कुछ दिनों में यह परिस्थिति आ जाती है कि प्रातःकाल पूर्वक्षितिज में शुक्रोदय के समय गुरु पश्चिम-क्षितिज के पास तक पहुंचा रहता है और उस समय ऐसा ज्ञात होता है कि मानो गुरु ने सम्पूर्ण आकाश पार कर लिया है। गुरु और शुक्र के आश्विनत्व की कल्पना उस समय हुई होगी जब कि वे एकत्र रहे होंगे। कुछ दिनों बाद उनमें से एक (शुक्र) को सदा सूर्य के पास और दूसरे (गुरु) को सम्पूर्ण आकाश में भ्रमण करते हुए देखकर निम्नलिखित कल्पना हुई होगी।

ईमान्यद्वपुषे वपुश्चक्रं रथस्य येमथुः।
पर्यन्या नाहुषा युगा मह्ना रजांसि दीयथः।।

ऋ० सं० ५।७३।१

हे अश्विनो! आपने अपने रथ का एक तेजस्वी चक्र सूर्य के पास उसकी शोभा के लिए नियमित कर रखा है [और] दूसरे चक्र में ......आप......लोकों की प्रदक्षिणा करते हैं।

यहां सूर्य के पास वाले चक्र की शुक्र से और दूसरे चक्र की गुरु से बड़ी उत्तम सङ्गति लगती है।

१. पुस्तक का यह भाग मैंने ३० दिसम्बर सन् १८८७ को लिखा है। यह टिप्पणी भी उसी समय की है। गत २६ सितम्बर को पूर्व में शुक्र का और २१ नवम्बर को गुरु का उदय हुआ अर्थात् २१ नवम्बर से वे दोनों प्रातःकाल पूर्व में एक साथ दिखायी देने लगे। इधर दो-तीन दिनों से वे बिलकुल पास-पास दिखायी दे रहे हैं। सन् १८८८ की दूसरी जनवरी को उनका अन्तर परमाल्प होगा अर्थात् युति होगी। पहिली जून के लगभग पूर्व में शुक्र का उदय होने के समय गुरु पश्चिम में डूबता हुआ दिखायी देगा और उसी के आसपास शुक्र पूर्व में अस्त होगा। कल प्रातः एक ज्योतिषानभिज्ञ मनुष्य मुझसे कहने लगा कि देखिये ये दो ग्रह पास-पास दिखायी दे रहे हैं, अतः इस परिस्थिति में हमारे प्राचीन ऋषियों का ध्यान गुरु-शुक्र की ओर आकर्षित नहीं हुआ होगा, यह सर्वथा असम्भव है।

निरुक्त में अश्विनों की गणना द्युस्थानीय देवों में है और उनका समय अर्थात् उनकी स्तुति इत्यादि का काल मध्यरात्रि के बाद बताया है। ऋग्वेद के आश्विनसूक्त में भी उषा का कुछ न कुछ सम्बन्ध आता है और हमारे ऋषि उषःकाल में जाग्रत होते थे। अतः उस समय उनका ध्यान आकाश की ओर अवश्य जाता रहा होगा। इससे भी उपर्युक्त कल्पना की पुष्टि होती है। इन हेतुओं से मुझे निःसंशय प्रतीत होता है कि गुरु-शुक्र ही वेदोक्त अश्विनौ हैं।

बृहस्पति के ग्रहत्व के विषय में स्वतन्त्र कल्पना भी मिलती है।

बृहस्पतिः प्रथमञ्जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन्।

ऋ० सं० ४।५०।४ अथ० सं० २०।८८।४

बृहस्पति प्रथम महान् प्रकाश के अत्यन्त उच्च स्वर्ग में उत्पन्न हुआ। यह वाक्य तैत्तिरीयब्राह्मण (२।८।२) में भी है। मालूम होता है, इसमें बृहस्पति तारा रूपी देवता माना गया है। तैत्तिरीयब्राह्मण (३।१।१) के निम्नलिखित वाक्य में कहा है कि बृहस्पति प्रथम तिष्य नक्षत्र के पास उत्पन्न हुआ।

बृहस्पतिः प्रथमञ्जायमानो तिष्यं नक्षत्रमभिसम्बभूव ॥

बृहस्पति का परमशर लगभग १ अंश ३० कला है अतः उसकी निकटयुति २७ नक्षत्रों में से केवल पुष्य, मघा, विशाखा (आल्फालिब्रा), अनुराधा, शतभिषक् और रेवती, इन छः के साथ ही हो सकती है। बृहस्पति और पुष्य नक्षत्र के योगतारे की कभी-कभी इतनी निकटयुति हो जाती है कि वे दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। इससे ज्ञात होता है कि गुरु जब पुष्य के योगतारा से इस प्रकार युति करके थोड़ा आगे बढ़ा होगा और उससे भिन्न दिखायी देने लगा होगा उस समय लोगों ने यह कल्पना की होगी कि बृहस्पति तिष्य नक्षत्र के पास उत्पन्न हुआ। इस प्रकार उसकी गति अर्थात् उसके ग्रहत्व का ज्ञान हुआ होगा। तिष्य नक्षत्र का देवता बृहस्पति है। आजकल भी गुरु-पुष्य-योग बड़ा उत्तम माना जाता है।

शुक्र

ऋक्संहिता १०।१२३ में लिखा है कि—यह वेन उदित हुआ है।

अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसोविमाने ॥

यह सूत्र वेनदेवतात्मक है। वर्णन के ढंग से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह सूक्त आकाशस्थ किसी बृहत् ज्योति अर्थात् तारा या ग्रह के उद्देश्य से कहा गया है। वेद के कुछ अन्य वर्णनों से ज्ञात होता है कि यह सूक्त शुक्र विषयक है। यज्ञों में जिन पात्रों में सोमरस रखा जाता है उन्हें सोमरस ग्रहण करने के कारण ग्रह कहते हैं। यज्ञ के समय पहिले सोम को ग्रह में रखते हैं और बाद में उसकी आहुति देते हैं। उस आहुति को भी शायद ग्रह ही कहते हैं। अग्निष्टोम यज्ञ में शुक्र और मन्थी नाम के दो ग्रह रहते हैं। शतपथब्राह्मण (४।२।१) में उनके विषय में कहा है--

चक्षुषी हवा अस्य शुक्रामन्थिनौ। तद्वा एष एव शुक्रो य एष तपति तद्यदेष एतत्तपति तेनैषशुक्रश्चन्द्रमा एव मन्थी ॥१॥.....इमामु हैके शुक्रस्य पुरोरुचं कुर्वन्ति। अयं वेनश्चोदयात् पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमान इति तदेतस्य रूपं कुर्मो य एष तपतीति यदाह ज्योतिर्जरायूरिति ॥८॥

शुक्र और मन्थी इसके चक्षु हैं। यह जो प्रकाशित होता है वही शुक्र है। यह प्रकाशित होता है इसलिए शुक्र है। चन्द्रमा ही मन्थी है। 'अयं वेनश्चोदयत्......' ऋचा को ही कोई-कोई शुक्र की पुरोरुच् करते हैं। 'ज्योतिर्जरायुः' कहा है। 'य एष तपति' ऐसा इसका रूप करते हैं अर्थात् इसके रूप का वर्णन करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि वेन और शुक्र एक ही पदार्थ है। यहां चन्द्रमा को मन्थिन कहा है परन्तु मन्थिन् शब्द से शनि का भी ग्रहण करने का सम्प्रदाय है।

लैटिन भाषा में शुक्र का एक नाम वीनस् Venus है। शुक्र का ग्रीक रूप Kupros था। ग्रीक लोग शुक्र देवता को स्त्रीलिङ्गी मानते थे इसलिए उनका रूप Kupris हुआ। इसका लैटिन रूप Cypris है। Venus और Kupris अथवा Cypris शब्द का एक ही अर्थ के द्योतक हैं और इसका वेन और शुक्र से सादृश्य है[1] इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में जिस समय यूरोपीय और भारतीय आर्य एकत्र रहते थे उसी समय उन्हें शुक्र के ग्रहत्व का ज्ञान हो चुका था।

वस्व्यसि रुद्रास्यदितिरस्यादित्यासि शुक्रासि चन्द्रासि बृहस्पतिस्त्वा सुम्ने रण्वतु ॥
तै० सं० १।२।५

[हे सोमक्रयणि] तू वस्वी (वस्वादि देव रूप) है, रुद्रा है, अदिति है, आदित्या है, शुक्रा है, चन्द्रा है। बृहस्पति तुझे [इस] सुखप्रदेश में रमण करावे।

१. यह सादृश्य भी बाल गंगाधर तिलक ने सुझाया।

यह कथन उस गाय के विषय में है जिसे देकर सोम मोल लेना पड़ता है। आदित्य सम्बन्धी गाय का नाम आदित्या है। गायों के विशेषण होने के कारण यहां आदित्या, शुक्रा और चन्द्रा प्रयोग स्त्रीलिङ्गी हैं। मालूम होता है यहां भी शुक्रा प्रयोग शुक्र ग्रह के ही उद्देश्य से किया गया है।

उत्पाताः पार्थिवान्तरिक्षाच्छं नो दिविचरा ग्रहाः ॥७॥ शन्नो भूमिर्वेपमाना शमुल्कानिर्हतञ्च यत् ॥८॥ नक्षत्रमुल्काभिहतं शमस्तु ॥९॥ शन्नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्याश्च राहुणा ॥ शन्नो मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्म तेजसः ॥१०॥

अथ० सं० १९।९

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अथर्वसंहिताकाल में कुछ आकाशस्थ पदार्थों के लिए ग्रह शब्द का प्रयोग किये जाने लगा था। राहुसहित चान्द्रमस ग्रह कल्याणकारण हों, यह वाक्य चन्द्रसूर्य ग्रहणकारक ग्रहों के उद्देश्य से और 'दिविचर ग्रह कल्याणकारक हों' वाक्य शुक्रादि ग्रहों के उद्देश्य से कहा गया होगा।

जर्मन प्रो० वेबर का कथन है कि हिन्दुओं ने नक्षत्र भी बाबिलोनिअन लोगों से लिये हैं पर उन्होंने भी लिखा है कि—ग्रहों के नामों से ज्ञात होता है कि हिन्दुओं ने उनका अन्वेषण स्वयं किया है।[1]

हम समझते हैं, वेदकाल में भारतीयों को बृहस्पति और शुक्र ग्रहों का ज्ञान रहा होगा और यह यदि सत्य है तो उन्हें कभी-कभी बृहस्पति इतना ही तेजस्वी दिखाई देनेवाले मंगल तथा सदा सूर्य के पास दिखाई देनेवाले बुध और मन्दगति शनि का भी ज्ञान अवश्य रहा होगा।

उल्का और धूमकेतु

अथर्वसंहिता के उपर्युक्त (१९।९) वाक्यों में उल्का और धूमकेतु का वर्णन है। उल्का से ताड़ित नक्षत्र का फल वराहमिहिर ने विस्तारपूर्वक लिखा है।

शुभकाल

मालूम होता है, वेदकाल में भी लोगों की यह धारणा थी कि प्रत्येक कर्म के लिए शुभ मुहूर्त आवश्यक है। ऋक्संहिता ७।८८।४ में लिखा है—

स्तोतारं विप्रः सुदितत्वे आह्नां या यान्नुद्यावस्ततनन्यादुषासः।

१. Weber's History of the Indian Literature, p. 251

विप्र (मेधावी) [वरुण] ने बीतनेवाले दिन और रात्रि को विस्तृत करते हुए स्तोता को दिवसों के सुदिनत्व में [स्थापित किया]।

तैत्तिरीयश्रुति में अग्न्याधान प्रभृति कर्मोपयोगी नक्षत्र सूचक अनेकों वचन हैं, उनमें से कुछ प्रसङ्गवशात् ऊपर लिखे जा चुके हैं, कुछ यहां लिखते हैं।

उदितेषु नक्षत्रेषु व्रतं कृणुतेति वाचं विसृजति।
तै० सं० ६।१।४।४

नक्षत्र उगने पर मौनत्याग करता है। धर्मशास्त्रग्रन्थों में "अमुक व्रत नक्षत्रदर्शन पर्यन्त करना चाहिए, नक्षत्रदर्शन होने पर अमुक की शुद्धि होती है" इत्यादि विषय प्रसिद्ध हैं।

यः कामयेत दानकामा मे प्रजाः स्युरिति। स पूर्वयोः फल्गुन्योरग्निमादधीत। अर्यम्णो वा एतन्नक्षत्रम्। यत्पूर्वे फल्गुनी। अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति। दानकामा अस्मै प्रजा भवन्ति।। तै० ब्रा० १।१।२

यान्येव देवनक्षत्राणि। तेषु कुर्वीत यत्कारी स्यात्।
पुण्याह एव कुरुते।। तै० ब्रा० १।५।२

यां कामयेत दुहितरं प्रिया स्यादिति। तां निष्ट्यायां दद्यात्।
प्रियैव भवति।। तै० ब्रा० १।५।२

यदि यह इच्छा हो कि कन्या [पति को] प्रिय हो तो निष्ट्या [स्वाती] नक्षत्र में उसका दान करना चाहिए। इससे वह प्रिय हो जाती है।

पौष्णेन व्यवस्यन्ति। मैत्रेण कृषन्ते। वारुणेन विधृता आसते।
क्षैत्रपत्येन पाचयन्ते। आदित्येनादधते। तै० ब्रा० १।८।४

'अश्लीलनामश्चित्रे। नावस्येत् न यजेत। यथा पापाहे कुरुते। तादृगेव तत्।' ये वाक्य ऊपर पृष्ठ में लिखे हैं। इससे ज्ञात होता है कि नक्षत्रों की भाँति दिवस के शुभत्वाशुभत्व की भी कल्पना की गयी थी। इन्हीं वाक्यों से यह भी सिद्ध होता है कि नक्षत्रों का शुभत्वाशुभत्व उनके नाम इत्यादि के अनुसार माना जाता था, पर पता नहीं चलता, कि दिवस के शुभत्वाशुभत्व का क्या हेतु निश्चित किया गया था। नक्षत्रों के नाम उनकी आकृति, तेजस्विता और कल्पित या अनुभूत उनके शुभाशुभकारित्व के अनुसार पड़े होंगे (इसमें थोड़ा अन्योन्याश्रय आता है)। वेदोत्तरकालीन ज्योतिष-

ग्रन्थों में भी वधू-वर के गणनासम्बन्धी तथा अन्यान्य बहुत से नियम मेष, सिंहादि नामोत्पन्न अर्थों के ही आधार पर बनाये गये हैं।

वर्ष का आरम्भ

ऋग्वेदसंहिता में सब ऋतुओं के नाम एकत्र कहीं नहीं हैं और संवत्सर अर्थ में अनेकों स्थानों में शरद् और हेमन्त शब्दों का ही प्रयोग किया गया है पर अन्य सभी वेदों में जहां-जहां सब ऋतुओं के नाम आये हैं, सर्वत्र आरम्भ वसन्त से है। दोनों यजुर्वेदों में वसन्त संवत्सर का मुख कहा है, मास मध्वादि हैं और मधु-माधव वसन्त के मास बतलाये हैं। इससे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि यजुर्वेदसंहिताकाल में और तदनुसार आगे भी सभी वैदिक समयों में वर्ष का आरम्भ वसन्तारम्भ और मधुमास के आरम्भ में मानते थे। व्यवहारार्थ क्वचित् अन्य ऋतुओं में भी मानते रहे हों, पर मुख्यतः वर्षारम्भ वसन्त के ही साथ होता था। चूंकि उस समय मास चान्द्र थे और ऋतुएं मुख्यतः सौरवर्षानुसार होती हैं, अतः एक बार यदि सौर चान्द्र वर्षों का आरम्भ एक साथ हुआ तो आगे दोनों में लगभग ११ दिन का अन्तर पड़ जाने के कारण प्रतिवर्ष चान्द्रवर्षारम्भ में वसन्तारम्भ नहीं होता रहा होगा तथापि अधिकमास प्रक्षेपण की पद्धति के कारण मधुमास में ही किसी समय वसन्तारम्भ होता रहा होगा। मधुमासारम्भ में वर्षारम्भ मानने की पद्धति यजुर्वेदसंहिताकाल में और उसके बाद भी थी, इसमें सन्देह नहीं है। वैदिककालीन कुछ अन्य विषयों का विवेचन इस (प्रथम) भाग के उपसंहार में करेंगे।

ज्योतिषशास्त्र

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि वेदकाल में ज्योतिषशास्त्र ने बहुत कुछ स्वरूप प्राप्त कर लिया था। वाजसनेयिसंहिता में लिखा है—

प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शनम्। वा० सं० ३०।१०, तै० ब्रा० ३।४।१

यादसे गणकम्। वा० सं० ३०।२०

इन वाक्यों में नक्षत्रदर्श और गणक शब्द आये हैं। इसी प्रकार तैत्तिरीयब्राह्मण में कुछ ऋषियों के भी नाम आये हैं जो कि इस विद्या में प्रवीण थे। एक स्थान (१।५।२) में लिखा है कि मात्स्य नामक ऋषि ने एक शुभ समय में एक कार्य किसी द्वारा कराया और वह श्रेयस्कर हुआ। वर्षान्तर्गत मास, मासों के दिन, रात्रि, मुहूर्त और प्रतिमुहूर्तों के नाम ऊपर लिखे हैं। वे जिस अनुवाक में हैं उसी के अन्त में लिखा है :—

जनको ह वैदेहः। अहोरात्रैः समाजगाम। त ँ होचुः। यो वा अस्मान् वेद। विजहत्पाप्मानमेति ॥९॥....अभिस्वर्गं लोकं जयति।.....अहीनाह्वश्वत्थ्यः। सावित्रं विदाञ्चकार ॥१०॥ स ह हँ सो...भूत्वा। स्वर्गं लोकमियाय।....देवभागो ह श्रौतर्षः। सावित्रं विदाञ्चकार ॥११॥... शूषो ह वार्ष्णेयः आदित्येन समाजगाम ॥

तै० ब्रा० ३।१०।९

वैदेह जनक अहोरात्रों के साथ गया। उन्होंने उससे कहा। जो हमें जानता है वह पापरहित होता है। स्वर्गलोक में जाता है। अश्वत्थ के पुत्र अहीन ने सावित्र विद्या जानी। वह हंस होकर स्वर्ग गया। श्रौतर्ष देवभाग ने सावित्र विद्या जानी। वार्ष्णेय शूष आदित्य से सङ्गत हुआ।

यह वर्णन वेदान्तविषयक ज्ञात होता है पर पूर्वापरसन्दर्भ से यह भी स्पष्ट है कि इसमें ज्योतिषशास्त्र का भी कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य है। इससे अनुमान होता है कि वेदकाल में ज्योतिष एक स्वतन्त्र शास्त्र बन चुका था।

यद्यपि ऊपर सब वेदवाक्यों का विवेचन एकत्र किया गया है तथापि वे लोक में साथ ही नहीं, बल्कि क्रमशः प्रकट हुए होंगे अर्थात् उनमें वर्णित ज्योतिषज्ञान कालक्रमानुसार क्रमशः बढ़ा होगा। और भी एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि जिन पदार्थों का वर्णन वेदों में नहीं है उनके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय लोग उन्हें जानते ही नहीं रहे होंगे। ऐसा अनुमान करना अनुचित होगा। ऋक्संहिता में ग्रहण का उल्लेख है, पर सब नक्षत्रों के नाम नहीं हैं और तैत्तिरीयश्रुति में नक्षत्रों का उल्लेख अनेकों स्थानों में है, पर ग्रहण का नाम तक नहीं है अतः केवल इसी आधार पर यह कह देना कि उस समय ग्रहण का ज्ञान नहीं था, अविवेकपूर्ण होगा। अब अन्त में एक महत्वपूर्ण वाक्य दिखाकर यह प्रकरण समाप्त करते हैं।

[देवदिन] एकं वा एतद्देवानामहः। यत्संवत्सरः ॥

तै० ब्रा० ३।९।२२

इसमें संवत्सर, को देवताओं का एक दिवस कहा है। वेदोत्तरकालीन ज्योतिष में यह प्रसिद्ध है कि देवता उत्तरध्रुवस्थान में मेरु पर रहते हैं और वहां ६ मास का दिन और ६ मास की रात्रि होती है। पता नहीं चलता, यहां उपपत्ति समझकर संवत्सर को देवों का दिवस कहा है या बिना समझे। कुछ भी हो, वेदोत्तरकालीन ग्रन्थों में युगमान जिस वर्ष द्वारा बताया है उसकी बहुत कुछ उपपत्ति इस वाक्य में है। इसका अधिक विवेचन आगे करेंगे।

द्वितीय विभाग

वेदाङ्गकाल

प्रथम प्रकरण-वेदाङ्ग

१ ज्योतिष

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्दःशास्त्र वेद के छः अङ्ग माने जाते हैं। सम्प्रति प्रत्येक वेद के पृथक्-पृथक् केवल सूत्र (कल्प) उपलब्ध हैं और तत्तत् शाखाओं के वैदिक ब्राह्मण उन्हें पढ़ते हैं। शेष पांच अङ्ग सबके एक ही हैं और उनके पठन-पाठन का प्रचार केवल ऋग्वेदियों में है। अन्य वेदों वाले उन्हें नहीं पढ़ते। इन छः अङ्गों में ज्योतिष का ग्रन्थ, जिसे कि आजकल वैदिक ब्राह्मण पढ़ते हैं, ३६ श्लोकात्मक हैं, परन्तु इसके अतिरिक्त एक और भी वेदाङ्गज्योतिष नाम का ग्रन्थ उपलब्ध है जिस पर कि सोमाकर की टीका है। सोमाकर कृत टीका के अन्त में 'शेष-कृत यजुर्वेदाङ्गज्योतिष' इस अर्थ के कुछ शब्द लिखे हैं। इन दोनों ग्रन्थों में कुछ पाठ-भेद भी है। इनसे भिन्न तीसरा एक अथर्वज्योतिष नाम का ग्रन्थ भी प्रसिद्ध है। आरम्भ में ये तीनों तीन वेदों के भिन्न-भिन्न ज्योतिष चाहे न रहे हों, पर पारस्परिक भेद समझने में सौकर्य होने के लिए इनका पृथक्-पृथक् तीन नाम रखना आवश्यक है। अतः जिसे ऋग्वेदी पढ़ते हैं उसे यहां ऋग्वेदज्योतिष कहेंगे और जिस पर सोमाकर की टीका है उसे यजुर्वेदज्योतिष कहेंगे। अथर्ववेदज्योतिष तो बिलकुल भिन्न ही है। पहिले दोनों में बड़ा साम्य है। ऋग्ज्योतिष के ३६ श्लोकों में से ३० श्लोक यजुर्वेद-ज्योतिष में आये हैं और इसके अतिरिक्त १३ श्लोक और भी हैं। इस प्रकार दोनों ग्रन्थों में सब (३६+१३)=४९ श्लोक हैं। समान बतलाये हुए श्लोकों में से एक श्लोक अर्थ की दृष्टि से उभयत्र समान होते हुए भी शब्द रचना और छन्द में बिलकुल भिन्न है।

टीकाकार सोमाकर के उत्पत्तिकाल इत्यादि का कुछ भी पता नहीं चलता। अन्य किसी भी ग्रन्थ या टीका में उनका नाम नहीं है। उनकी विस्तृत और संक्षिप्त दो टीकाएं हैं। विस्तृत टीका के आरम्भ में उनका नाम है और अन्त में लिखा है 'शेष-

कृत वेदाङ्ग ज्योतिष, समाप्त'। दूसरी टीका पहिली का ही संक्षिप्त स्वरूप है। उसमें सोमाकर का नाम या शेषकृत इत्यादि शब्द बिलकुल नहीं हैं। सोमाकर की टीका केवल नाममात्र की टीका है। जो श्लोक बिलकुल सरल हैं और जिनका गणित से कोई सम्बन्ध नहीं है, उनको छोड़ शेष श्लोकों का अर्थ सोमाकर को बिलकुल नहीं लगा है। अन्य किसी ज्योतिषी ने गणित दृष्ट्या वेदाङ्गज्योतिष का विचार नहीं किया है। ज्योतिष के अन्य ग्रन्थों से प्रायः भिन्न होने के कारण इसका वर्णन अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। जो कुछ मिला वह यथाप्रसङ्ग आगे लिखा है। प्राचीन होने के कारण ज्योतिषशास्त्र के इतिहास में इस ग्रन्थ की योग्यता बहुत बड़ी है। अतः इसका विचार करना अत्यन्त आवश्यक है।

सन् १८७९ के लगभग प्रो० थीबो ने यजुर्वेदज्योतिष पर विचार किया। उन्होंने उसका अनुवाद भी किया जिसकी एक छोटी-सी किताब छपी है। सोमाकर से अधिक लगभग ६ श्लोकों का अर्थ उन्होंने लगाया है। जितने श्लोकों का अर्थ लग चुका था उन सबका मैंने सन् १८८१ में मराठी अनुवाद किया था। कैलासवासी कृष्णशास्त्री गोडबोले ने इसकी व्याख्या करने का प्रयत्न किया था, पर वे भी थीबो साहब की अपेक्षा अधिक श्लोक नहीं लगा सके। कै० वा० जनार्दन बालाजी मोडक बी० ए० ने सन् १८८५ में ऋग्वेदज्योतिष और यजुर्वेद ज्योतिष का मराठी अनुवाद छपवाया। उन्होंने और भी दो तीन श्लोकों की व्याख्या की जिनका अर्थ थीबो साहब को नहीं लगा था। सारांश यह है कि अब तक दोनों ग्रन्थों के ४९ श्लोकों में से २८ की व्याख्या हो चुकी थी पर अब मैंने ३६ श्लोक लगा लिये हैं।

आजकल ब्राह्मण केवल ऋग्वेदज्योतिष पढ़ते हैं। यजुर्वेदज्योतिष भारत के प्रायः किसी भी प्रान्त में नहीं पढ़ा जाता। पहिले भी इसका अध्ययन होता था या नहीं, इसका ठीक पता नहीं लगता। आजकल जो वेदाङ्गज्योतिष प्रचलित है उसके बहुत से श्लोक अर्थ की दृष्टि से अशुद्ध मालूम होते हैं, पर विचित्रता यह है कि अशुद्ध होते हुए भी भारत के सभी प्रान्तों में ब्राह्मणों का पाठ एक है और वैदिक लोग इसे साक्षात् वेद से कम नहीं समझते हैं। उनसे यदि कहा जाय कि अमुक पाठ अशुद्ध है, उसके स्थान में अमुक शुद्ध प्रयोग किया कीजिए तो वे इस बात को मानने के लिए कभी भी तैयार न होंगे। इतना तो निश्चित है कि यह ग्रन्थ आरम्भ में शुद्ध ही रहा होगा और अशुद्धियां इसमें बाद में आयी होंगी पर पता नहीं लगता, ये कब और कैसे आईं। इसका अन्वेषण करना वेद और वेदाङ्ग के इतिहास का एक महत्वशाली कार्य होगा। हम तो समझते हैं, मूल वेदाङ्गज्योतिष किसी समय लुप्त हो गया होगा और बाद में किसी के संग्रह में रखी हुई अशुद्ध अथवा पढ़ने में कठिन हस्तलिखित पुस्तक द्वारा किसी अर्था-

नभिज्ञ ने सर्वप्रथम उसका अध्ययन आरम्भ किया होगा और तत्पश्चात् सर्वत्र उसी का प्रचार हो गया होगा। अन्य किसी भी वेद-वेदाङ्ग की ऐसी स्थिति नहीं है अतः संस्कृतवाङमय के इतिहास-शोधकों को इसका विचार करना चाहिए। मैंने कुछ श्लोकों का विचार किया है और उनके सम्बन्ध में जो कुछ ज्ञात हुआ है आगे लिखा है। वेदाङ्गों में जैसे व्याकरण के आचार्य पाणिनि और छन्दःशास्त्र के पिङ्गल हैं उसी प्रकार ऋग्वेदज्योतिष के आचार्य लगध हैं। इसके द्वितीय श्लोक में लिखा भी है 'कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मनः'। अष्टाध्यायी आरम्भ करने के पहिले दो श्लोक पढ़े जाते हैं जिनमें पाणिनि की वन्दना की है। यह कथन भी वैसा ही ज्ञात होता है। सम्भव है सम्पूर्ण वेदाङ्गज्योतिष लगध ने न बनाया हो। उनके बाद अन्य किसी ने उनके मतानुसार शेष भाग की रचना की हो। यूरोपियन लोग लगध को लगड़ या लगढ़ कहते हैं, परन्तु मैं समझता हूँ रोमनलिपि में 'ध' ठीक न लिखा जाने के कारण यह गड़बड़ी हुई होगी। मालूम होता है इसी कारण प्रो० वेबर को सन्देह हुआ है कि 'लगड़' यदि 'लाट' है तो उसका समय ईसवी सन् की पांचवीं शताब्दी होगी, पर बात ऐसी नहीं है। हमारे वैदिकों का पाठ निःसंशय लगध ही है।[1]

दोनों ज्योतिष ग्रन्थों के जिन श्लोकों का अर्थ लग चुका है उनमें कुछ बड़े महत्व के हैं। आगे उनका अर्थ लिखा है। पहिले ऋग्ज्योतिष का वह पाठ लिखा है जो कि सम्प्रति वैदिक समाज में प्रचलित है। वही श्लोक यदि यजुर्वेदज्योतिष में भी है और सोमाकर पाठ भिन्न होते हुए भी अर्थ की दृष्टि से उपयोगी है तो वह पाठान्तर भी लिखा है। आवश्यकतानुसार कहीं-कहीं उसमें भी पाठभेद किया गया है। यजुर्वेद ज्योतिष में जो अधिक श्लोक हैं उनमें से जिनका अर्थ लगा है वे भी यहां लिखे हैं। ऋग्वेदज्योतिष की व्याख्या करते समय जहां तक बन पड़ा वैदिकपाठ ज्यों का त्यों रखने का प्रयत्न किया है।

१. डाक्टर कर्न ने आर्यभटीय सिद्धान्त छपाया है। उसकी प्रस्तावना में उन्होंने उस सिद्धान्त को 'भट प्रकाशिका' टीका का कुछ उद्धरण मूल की मलयालम लिपि की पुस्तक के अनुसार दिया है। उसमें टीकाकार ने एक जगह 'तथा च लगड़ाचार्यः' कहते हुए वेदाङ्ग ज्योतिष के दो श्लोक लिखे हैं। उसमें लगड़ शब्द आया है। देखना चाहिए उस प्रान्त में वैदिक ब्राह्मण ऋग्वेदज्योतिष पढ़ते समय लगड़ कहते हैं या और कुछ। कदाचित् मलाबारी लिपि में 'ड' और 'ध' का अत्यन्त साम्य होने के कारण यह गड़बड़ हुई हो।

खोजने में सुभीता होने के लिए ऋक्‌पाठ और यजु:पाठ के श्लोक क्रमशः लिखकर अंकों द्वारा दिखा दिया है कि एक पाठ का प्रत्येक श्लोक दूसरे पाठ का कौन-सा श्लोक पड़ता है।

ऋक्	यजु:	ऋक्	यजु:	ऋक्	यजु:
१	१	१३	०	२५	३२
२	०	१४	१८	२६	३३
३	२	१५	१७	२७	३४
४	१३	१६	३८	२८	३५
५	६	१७	२४	२९	०
६	७	१८	३९	३०	४३
७	८	१९	०	३१	२३
८	९	२०	२२	३२	५
९	१०	२१	२१	३३	०
१०	१५	२२	४०	३४	०
११	१९	२३	४१	३५	४
१२	२७	२४	४२	३६	३

यजु:	ऋक्	यजु:	ऋक्	यजु:	ऋक्
१	१	१५	१०	३०	०
२	३	१६	०	३१	०
३	३६	१७	१५	३२	२५
४	३५	१८	१४	३३	२६
५	३२	१९	११	३४	२७
६	५	२०	०	३५	२८
७	६	२१	२१	३६	०
८	७	२२	२०	३७	०
९	८	२३	३१	३८	१६
१०	९	२४	१७	३९	१८
		२५	०		
११	०	२६	०	४०	२२
१२	०	२७	१२	४१	२३
१३	४	२८	०	४२	२४
१४	०	२९	०	४३	३०

१. ऋग्वेदज्योतिष—

पञ्चसंवत्सरमयं युगाध्यक्षं प्रजापतिम् ।
दिनर्त्वयनमासाङ्गं प्रणम्य शिरसा शुचिः ।।१।।
प्रणम्य शिरसा कालमभिवाद्य सरस्वतीम् ।
कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मनः ।।२।।

अर्थ—दिवस, ऋतु, अयन, और मास जिसके अङ्ग हैं ऐसे पञ्चसंवत्सरमय युगाध्यक्ष प्रजापति को शिरसा नमस्कार कर शुद्ध होता हुआ [मैं] काल को नमस्कार कर और सरस्वती का अभिवादन कर महात्मा लगध के बतलाये हुए कालज्ञान का वर्णन करता हूं।

वेदाङ्गज्योतिष में पञ्चवर्षात्मक युग के पांचों संवत्सरों का नाम न होना थोड़ा आश्चर्यजनक मालूम होता है, परन्तु आगे ८वें श्लोक की व्याख्या में प्रसङ्गवशात् सोमाकर द्वारा उद्धृत कुछ गर्ग के वचन लिखे हैं, उनमें पञ्चसंवत्सरात्मक युग के स्वरूप का थोड़ा सा वर्णन आया है और वह वेदाङ्गज्योतिष सरीखा ही है। उसमें पांचों संवत्सरों के नाम हैं। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में संवत्सरों के नाम और उनके अधिप लिखे हैं। उनके कुछ अधिप गर्गोक्त अधिपों से भिन्न हैं। ऊपर पृष्ठ.....में लिखे हुए तैत्तिरीय ब्राह्मण के 'अग्निर्वाव संवत्सर......'मन्त्र में अग्नि आदित्य इत्यादि शब्द संवत्सरों के अधिप सरीखे मालूम होते हैं, पर वे चार ही हैं और उनके नाम भी कुछ भिन्न हैं। उन सबों को यहां एकत्र लिखते हैं।

संवत्सरनाम	स्वामी		
	(तै० ब्रा०)	(गर्ग)	(वराह)
१. संवत्सर	अग्नि	अग्नि	अग्नि
२. परिवत्सर	आदित्य	आदित्य	आदित्य
३. इदावत्सर	चन्द्रमा	वायु	चन्द्रमा
४. अनुवत्सर	वायु	चन्द्रमा	प्रजापति
५. इद्वत्सर	×	मृत्यु	रुद्र

निरेकं द्वादशार्धाब्दं द्विगुणं गतसंज्ञिकम् ।
षष्ट्या षष्ट्या युतं द्वाभ्यां पर्वणां राशिरुच्यते ।।४।।

यहां ऋक्पाठोक्त 'द्वादशार्धाब्दं' और 'संज्ञिकं' के स्थान में यजुःपाठोक्त क्रमशः 'द्वादशाभ्यस्तं' और 'संयुतं' लेने से ठीक अर्थ लगता है।

अर्थ--[पञ्चसंवत्सरात्मक युग की वर्तमान संवत्सरसंख्या में से] एक निकाल दो। शेष में १२ का गुणा करो। गत [मास] जोड़ दो। योग को द्विगुणित करो। ६० के प्रत्येक पर्यय में दो-दो जोड़ते जाओ। [योग को] पर्वों की राशि कहते हैं।

उदाहरण--युग के द्वितीय वर्ष के आरम्भ में पर्वसंख्या लानी है, अतः यहां गत संवत्सर हुआ एक। इसलिए पर्वसंख्या हुई $१ \times १२ \times २ = २४$। इसी प्रकार तृतीय वर्ष के सप्तम मास के अन्त में पर्वसंख्या $(२ \times १२ + ७) \times २ + २ = ६४$ होगी।

करण ग्रन्थों के आरम्भ में जैसे अहर्गण लाना पड़ता है उसी प्रकार यहां पर्वगण लाये हैं।

इस श्लोक से सिद्ध होता है कि ६० पर्व अर्थात् ३० चान्द्रमास के बाद एक अधिमास होता है। ऋक्पाठ के कुछ अन्य श्लोकों द्वारा भी ऐसा अनुमान होता है। यजुःपाठ के ३७वें श्लोक में तो इसका स्पष्ट उल्लेख है।

स्वरार्कमेके सोमार्कौ यदा साकं सवासवौ ।
स्यात्तदादियुगं माघस्तपः शुक्लो दिनंत्यचः ।।५।।

यहां निम्नलिखित यजुः-पाठ द्वारा ठीक अर्थ लगता है।

स्वराक्रमेते सोमार्कौ यदा साकं सवासवौ ।
स्यात्तदादि युगं माघस्तपः शुक्लोऽयनं ह्युदक् ।।

अर्थ--जब कि चन्द्रमा और सूर्य एकत्र वासव (धनिष्ठा) नक्षत्र में प्राप्त होकर आकाश में आक्रमण करते हैं उस समय युग, माघ [मास], तपस् [ऋतु], शुक्ल [पक्ष और] उदगयन का आरम्भ होता है।

प्रपद्येते श्रविष्ठादौ सूर्याचान्द्रमसावुदक् ।
सार्पार्धे दक्षिणार्कस्तु माघश्रावणयोः सदा ।।६।।

'चान्द्रमसौ' के स्थान में यजुःपाठ 'चन्द्रमसौ' है और वही शुद्ध भी है।

अर्थ--श्रविष्ठा के आरम्भ में सूर्य और चन्द्रमा उत्तर की ओर मुड़ते हैं और आश्लेषा के आधे पर दक्षिण की ओर। सूर्य सर्वदा माघ और श्रावण [मासों में] [क्रमशः उत्तर और दक्षिण की ओर मुड़ता है] ।।६।।

इस अयनस्थिति का समय निश्चित किया जा सकता है। अन्त में इसका सवि-स्तर विवेचन किया है।

> धर्मवृद्धिरपां प्रस्थः क्षपाह्रास उदग्गतौ।
> दक्षिणे तौ विपर्यस्तौ षण्मुहूर्त्यंयनेन तु ।।७।।

(सूर्य के) उत्तरायण में उदक के एक प्रस्थ इतना दिन बढ़ता है और रात्रि घटती है। दक्षिणायन की स्थिति इसके विपरीत होती है। अयन में ६ मुहूर्त [वृद्धि होती है] ।।७।।

एक प्रस्थ दिनमान वृद्धि का अर्थ है २ $\frac{४}{६१}$ नाड़ी वृद्धि। आगे १७वें श्लोक में इसका विचार किया गया है। ६ मुहूर्त दिनमानवृद्धि किस स्थान में होती है, इसका विचार अन्त में किया है।

> द्विगुणं सप्तमं चाहुरयनाद्यं त्रयोदश।
> चतुर्थं दशमञ्चैव द्विर्युग्माद्यं बहुलेप्यृतौ ।।८।।

यजुःपाठ—प्रथमं सप्तमं चाहुरयनाद्यं त्रयोदशम्।

यहां अर्थ की दृष्टि से यजुःपाठ ही ठीक मालूम होता है।

अर्थ—प्रतिपदा, सप्तमी, त्रयोदशी, चतुर्थी और दशमी (तिथियां) दो बार अयनादि (होती थीं। वे क्रमशः) दो-दो (अयनों की) आदि (होती थीं)। कृष्णपक्ष में भी (अयन होता था) ।।८।।

शुक्लपक्ष की प्रतिपदा, सप्तमी और त्रयोदशी तथा कृष्णपक्ष की चतुर्थी और दशमी एवं पुनः शुक्लपक्ष की प्रतिपदा, सप्तमी, त्रयोदशी तथा कृष्णपक्ष की चतुर्थी और दशमी ये १० तिथियां पांच संवत्सरों में होनेवाले सूर्य के १० अयनों की आद्य तिथियां हैं। ऊपर बतला चुके हैं कि अयन माघ और श्रावण में होते हैं अतः ये क्रमशः माघ और श्रावण की तिथियां हैं अर्थात् पहिली माघ की और दूसरी श्रावण की है। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिए।

वेदाङ्गज्योतिष-पद्धति[1] के अनुसार इस श्लोक का यही अर्थ ठीक मालूम होता है। अग्रिम गर्ग के वचनों से भी यही अर्थ निकलता है।

यहां प्रथमं, सप्तमं इत्यादि प्रयोग नपुंसकलिङ्गी हैं। यह बड़ी अड़चन है क्योंकि तिथि शब्द का प्रयोग नपुंसकलिङ्ग में कहीं नहीं मिलता। प्रायः स्त्रीलिङ्ग में और

१. जहाँ केवल 'वेदाङ्गज्योतिष' लिखा हो अर्थात् ऋग्ज्योतिष या यजुः-ज्योतिष का स्पष्ट नाम न हो वहाँ ऋग्यजुर्वेदाङ्गज्योतिष समझना चाहिए।

क्वचित् पुलिङ्ग में पाया जाता है। यदि इसका अर्थ यह करें कि 'प्रथमं इत्यादि शब्द नपुंसकलिङ्गी हैं अतः इन्हें दिन का विशेषण मान कर यह बतलाया है कि मास के अमुक सावन दिन में अयन होता है, तो यह पद्धति के विरुद्ध मालूम होता है। अतः इन्हें तिथि ही मानना पड़ता है।

वसुस्त्वष्टाभगोऽजश्च मित्रः सर्पाश्विनौ जलम्।
धाता कश्चायनाद्याश्चार्धपञ्चनभस्त्वृतुः ।।६।।
यजुःपाठ— वसुस्त्वष्टाभवोऽजश्च मित्रः सर्पाश्विनौ जलम्।
धाता कश्चायनाद्याः स्युरर्धपञ्चनभस्त्वृतुः ।।

यजुः पाठ द्वारा ठीक अर्थ लगता है। वह इस प्रकार है——

वसु, त्वष्टा, भव, अज, मित्र, सर्प, अश्विनौ, जल, धाता और ब्रह्मा (जिनके स्वामी हैं वे नक्षत्र धनिष्ठा, चित्रा, आर्द्रा, पूर्वभाद्रपदा, अनुराधा, आश्लेषा, अश्वयुज्, पूर्वाषाढ़ा, उत्तरफल्गुनी और रोहिणी) अयनादि थे। साढ़े चार नक्षत्रों की ऋतु होती है।।६।।

पांचवें संवत्सर में प्रथम अयनारम्भ के दिन उत्तरफल्गुनी नक्षत्र आता है और वेदाङ्गज्योतिष में उसका देवता अर्यमा बतलाया है, इसलिए यहां धाता शब्द का अर्थ नक्षत्र हैं।

उपर्युक्त दोनों श्लोकों का अर्थ सोमाकर द्वारा उद्धृत निम्नलिखित गर्गवचनों से स्पष्ट हो जाता है।

अयनान्यृतवो मासाः पक्षास्त्वृक्षं तिथिर्दिनम्।
तत्वतो नाधिगम्यन्ते यदाब्दो नाधिगम्यते ।।१।।
यदा तु तत्त्वतोऽब्दस्य क्रियतेऽधिगमो बुधैः।
तदैवैषाममोहः स्यात्क्रियाणाञ्चापि सर्वशः ।।२।।
तस्मात्संवत्सराणान्तु पञ्चानां लक्षणानि च।
कर्माणि च पृथकत्वेन दैवतानि च वक्ष्यति ।।३।।
यदा माघस्य शुक्लस्य प्रतिपद्युत्तरायणम्।
सहोदयं श्रविष्ठाभिः सोमार्कौ प्रतिपद्यतः ।।४।।

तदात्र नभसः शुक्लसप्तम्यां दक्षिणायनम्।
सार्पार्धे कुरुते युक्ति चित्रायां च निशाकरे ॥५॥

प्रथमः सोऽग्निर्दैवत्यो नाम्ना संवत्सरः स्मृतः।
यदा माघस्य शुक्लस्य त्रयोदश्यामुदग्रविः ॥६॥

युक्ते चन्द्रमसा रौद्रे वासवं प्रतिपद्यते।
चतुर्थ्यां नभसः कृष्णे तदार्को दक्षिणायनम् ॥७॥

सार्पार्धे कुरुते सूर्यस्त्वजयुक्ते निशाकरे।
द्वितीयश्चार्कदैवत्यः स नाम्ना परिवत्सरः ॥८॥

कृष्णे माघस्य दशमीं वासवादौ दिवाकरः।
उदीचीं दिशमातिष्ठन् मैत्रस्थेऽनुष्णतेजसि ॥९॥

नभसश्च निवर्तेत शुक्लस्य प्रथमे तिथौ॥
चन्द्रार्काभ्यां सुयुक्ताभ्यां सार्पार्धे वायुदैवतम् ॥१०॥

तदा तृतीयञ्च तं प्राहुरिदासंवत्सरं जनाः।
सप्तम्यां माघशुक्लस्य वासवादौ दिवाकरः ॥११॥

अश्विनीसहिते सोमे यदाशामुत्तरं व्रजेत्।
सोमे चाप्येनसंयुक्ते सार्पार्धस्थो दिवाकरः ॥१२॥

व्रजेद् याम्यां शुक्लस्य श्रावणस्य त्रयोदशीम्।
चतुर्थमिन्दुदैवत्यमाहुश्चाथानुवत्सरम् ॥१३॥

फल्गुनीमुत्तरां प्राप्ते सोमे सूर्ये च वासवे।
यद्युत्तरायणं कृष्णचतुर्थ्यां तपसो भवेत् ॥१४॥

श्रावणस्य च कृष्णस्य सार्पार्धे दशमीं पुनः।
रोहिणीसहिते सोमे रवेः स्याद्दक्षिणायनम् ॥१५॥

इद्वत्सरः स विज्ञेयः पञ्चमो मृत्युदैवतः।
एवमेतद्विजानीयात् पञ्चवर्षस्य लक्षणम् ॥१६॥

इन गर्गवचनों द्वारा तथा वेदाङ्गज्योतिष के उपर्युक्त दो श्लोकों द्वारा निष्पन्न अर्थ अगले पृष्ठ पर दिये कोष्ठक में लिखा है।

अङ्क	संवत्सर	उत्तरायणारम्भ			दक्षिणायनारम्भ		
		तिथि	सूर्य-नक्षत्र	चन्द्र-नक्षत्र	तिथि	सूर्य-नक्षत्र	चन्द्र नक्षत्र
१	संवत्सर	माघ. शु. १	धनिष्ठा	धनिष्ठा	श्रा.शु.७	आश्लेषार्ध	चित्रा
२	परिवत्सर	,, शु. १३	,,	आर्द्रा	,, कृ. ४	,,	पूर्वाभाद्र
३	इदावत्सर	,, कृ. १०	,,	अनुराधा	,, शु. १	,,	आश्लेषा
४	अनुवत्सर	,, शु. ७	,,	अश्विनी	,, शु. १३	,,	पूर्वाषाढ़ा
५	इद्वत्सर	,, कृ. ४	,,	उत्तरा-फल्गुनी	,, कृ.१०	,,	रोहिणी

जौद्राघः खेश्वेहीरोषाचिन्मूषण्यः सोमाधानः।
रेमघ्राश्वाओजः स्तृष्वोहर्ज्येष्ठा इत्यृक्षा लिङ्गैः।।१४।।

इस श्लोक में निम्नलिखित पाठभेद करना ही पड़ेगा।

जौद्रागः खेश्वेहीरोषाचिन्मूषण्यः सूमाधानः।।
रेमृघास्वापोजः कृष्योह ज्येष्ठा इत्यृक्षा लिङ्ग।।

यजुः पाठ इसी प्रकार हैं, ऐसा कह सकते हैं। यहां २७ नक्षत्रों के नाम संकेत द्वारा बतलाये हैं। वे इस प्रकार—

१ जौ=अश्वयुजौ अश्विनी।
२ द्रा=आर्द्रा।
३ गः=भगः पूर्वाफल्गुनी।
४ खे=विशाखे।
५ श्वे=विश्वे (देव)=उत्तराषाढ़ा।
६ हिः=अहिर्बुध्नयः=उत्तराभाद्रपदा।
७ रो=रोहिणी।
८ षा=आश्लेषा।
९ चित्=चित्रा।
१० मू=मूल।
११ षक्=शतभिषक्।
१२ ण्यः=भरण्यः।
१३ सू=पुनर्वसू।
१४ मा=अर्यमा=उत्तराफाल्गुनी।
१५ धाः=अनुराधा।
१६ नः=श्रवणः।
१७ रे=रेवती।
१८ मृ=मृगशीर्ष।
१९ घा=मघा।

२० स्वा=स्वाती।	२४ ष्य=पुष्यः।
२१ प=आपः पूर्वाषाढ़ा।	२५ ह=हस्तः।
२२ अजः=अजएकपाद=पूर्वाभाद्रपदा।	२६ ज्ये=ज्येष्ठा।
२३ कृ=कृत्तिका	२७ ष्ठा=श्रविष्ठा।

यहां संकेत के लिए कुछ नक्षत्रों के आद्य और कुछ के अन्त्य अक्षर और किसी-किसी के देवताओं के अन्त्य अक्षर लिये हैं। अश्विनी से आरम्भ कर पांच-पांच नक्षत्रों के अन्तर से आगे के नक्षत्र लिये हैं। अश्विनी के बाद उससे छठा नक्षत्र आर्द्रा और तत्पश्चात् आर्द्रा से छठा नक्षत्र पूर्वाफाल्गुनी लिया है। अग्रिम नक्षत्रों में भी यही क्रम है। इस नियम की उपपत्ति इस प्रकार है—

युग में पर्व १२४ होते हैं। इसीलिए वेदाङ्गज्योतिष में नक्षत्रों के १२४ अंश माने गये हैं।[1] यह श्लोक और यजुःपाठ का २५ वां श्लोक इस कल्पना के आधार हैं। युग में तिथियां १८६० होती हैं और सूर्य नक्षत्रों की ५ परिक्रमा करता है (यजुः-पाठ का श्लोक २८ और ३१ देखिए) अर्थात् एक तिथि में नक्षत्र का $\frac{२७ \times ५}{१८६०} = \frac{६}{१२४}$ भाग भोगता है। आगे के कोष्ठक में इसी नियम के अनुसार दिखाया गया है कि सूर्य प्रत्येक पर्व के अन्त में किस नक्षत्र के किस अंश पर रहता है।[2] उससे विदित होता है कि उपर्युक्त श्लोक में जो नक्षत्र (अश्विनी) सर्वप्रथम लियागया है उसमें सूर्य जब-जब (५, ३०, ५५, ७९, १०४ पर्वों के अन्त में) आता है तब-तब या तो अश्विनी के प्रथम अंश में रहता है या किसी संख्या में २७ का गुणा कर गुणनफल में १ जोड़ने से जो संख्या आती है, तत्तुल्य अंश पर रहता है। इसी प्रकारजो नक्षत्र (आर्द्रा) दूसरी बार आया है, पर्वान्त में सूर्य उसके द्वितीय अंश पर अथवा किसी संख्या से गुणित २७ में २ जोड़ देने से जो संख्या आती है (२९, ५६, ८३, ११० इत्यादि) तत्तुल्य अंश पर आता है। नक्षत्र के अंश में २७ का भाग देने से जो शेष बचता है वही अंक कोष्ठक के अन्तिम खाने में लिखा है। इसके तुल्य ही उपर्युक्त श्लोक में उस नक्षत्र का क्रमांक भी है। वेदाङ्गज्योतिष के सब श्लोकों का ठीक अर्थ न लगने के कारण इस पद्धति की योजना का ठीक हेतु समझ में नहीं आता। हम समझते हैं, इससे सम्बन्ध रखनेवाले कुछ श्लोक लुप्त भी हो गये होंगे।

१. ऋक्पाठ के १८वें और २१ वें श्लोकों में जो कलाएं मानी गयी हैं उनका सम्बन्ध चन्द्रमा की गति से है।

२. यहां नक्षत्र का १२४वां भाग अंश समझना चाहिए।

पञ्चवर्षात्मक युग में पर्वान्त के समय सूर्य की स्थिति

संवत्सर

मास	पर्वक्रम	गतनक्षत्र	वर्तमान नक्षत्र			मास	पर्वक्रम	गतनक्षत्र	वर्तमान नक्षत्र नाम		
			अंश	नाम	२७भा. शेष				अंश	नाम	२७भा. शेष
माघ	१	१	११	शतभिषक्	११	श्रावण	१३	१४	१६	मघा	१६
,,	२	२	२२	पू० भाद्रपदा	२२	,,	१४	१५	३०	पू० फल्गुनी	३
फाल्गुन	३	३	३३	उ० भाद्रपदा	६	भाद्रपद	१५	१६	४१	उ० फल्गुनी	१४
,,	४	४	४४	रेवती	१७	,,	१६	१७	५२	हस्त	२५
चैत्र	५	५	५५	अश्वयुज	१	आश्विन	१७	१८	६३	चित्रा	९
,,	६	६	६६	भरणी	१२	,,	१८	१९	७४	स्वाती	२०
वैशाख	७	७	७७	कृत्तिका	२३	कार्तिक	१९	२०	८५	विशाखा	४
,,	८	८	८८	रोहिणी	७	,,	२०	२१	९६	अनुराधा	१५
ज्येष्ठ	९	९	९९	मृग	१८	मार्गशीर्ष	२१	२२	१०७	ज्येष्ठा	२६
,,	१०	१०	११०	आर्द्रा	२	,,	२२	२३	११८	मूल	१०
आषाढ़	११	११	१२१	पुनर्वसू	१३	पौष	२३	२५	५	उ० अषाढा	५
,,	१२	१३	८	आश्लेषा	८	,,	२४	२६	१६	श्रवण	१६

परिवत्सर

मास	पर्व-क्रम	गत-नक्षत्र	वर्तमान नक्षत्र		
			अंश	नाम	२७ भा. शेष
माघ	२५	२७	२७	श्रविष्ठा	२७
,,	२६	१	३८	शतभिषक्	११
फाल्गुन	२७	२	४९	पू० भाद्रपदा	२२
,,	२८	३	६०	उ० ,,	६
चैत्र	२९	४	७१	रेवती	१७
,,	३०	५	८२	अश्वयुज	१
वैशाखा	३१	६	९३	भरणी	१२
,,	३२	७	१०४	कृत्तिका	२३
ज्येष्ठ	३३	८	११५	रोहिणी	७
,,	३४	१०	२	आर्द्रा	२
आषाढ़	३५	११	१३	पुनर्वसु	१३
,,	३६	१२	२४	पुष्य	२४
श्रावण	३७	१३	३५	आश्लेषा	८
,,	३८	१४	४६	मघा	१९
भाद्रपद	३९	१५	५७	पूर्वाफाल्गुनी	३
,,	४०	१६	६८	उ० ,,	१४
आश्विन	४१	१७	७९	हस्त	२५
,,	४२	१८	९०	चित्रा	९
कार्तिक	४३	१९	१०१	स्वाती	२०
,,	४४	२०	११२	विशाखा	४
मार्गशीर्ष	४५	२१	१२३	अनुराधा	१५
,,	४६	२३	१०	मूल	१०
माघ	४७	२४	२१	पूर्वाषाढ़ा	२१
,,	४८	२५	३२	उत्तराषाढ़ा	५

(इदावत्सर)

मास	पर्वक्रम	गतनक्षत्र	वर्तमान नक्षत्र			मास	पर्वक्रम	गतनक्षत्र	वर्तमान नक्षत्र		
			अंश	नाम	२७भा. शेष				अंश	नाम	२७भा. शेष
माघ	४९	२६	४३	श्रवण	१६						
,,	५०	०	५४	श्रविष्ठा	२७	श्रावण	६३	१४	७३	मघा	१९
फाल्गुन	५१	१	६५	शतभिषक्	११	,,	६४	१५	८४	पू० फल्गुनी	३
,	५२	२	७६	पूर्वाभाद्रपदा	२२	भाद्रपद	६५	१६	९५	उ० फल्गुनी	१४
चैत्र	५३	३	८७	उ० भाद्रपदा	६	,,	६६	१७	१०६	हस्त	२५
,,	५४	४	९८	रेवती	१७	आश्विन	६७	१८	११७	चित्रा	९
वैशाख	५५	५	१०९	अश्वयुज्	१	,,	६८	२०	४	विशाखा	४
,,	५६	६	१२०	भरणी	१२	कार्तिक	६९	२१	१५	अनुराधा	१५
ज्येष्ठ	५७	८	७	रोहिणी	७	,,	७०	२२	२६	ज्येष्ठा	२६
,,	५८	९	१८	मृग	१८	मार्गशीर्ष	७१	२३	३७	मूल	१०
आषाढ़	५९	१०	२९	आर्द्रा	२	,,	७२	२४	४८	पूर्वाषाढ़ा	२१
,,	६०	११	४०	पुनर्वसू	१३	पौष	७३	२५	५९	उत्तराषाढ़ा	५
अ. श्रावण	६१	१२	५१	पुष्य	२४	,,	७४	२६	७०	श्रवण	१६
,,	६२	१३	६२	आश्लेपा	८						

अनुवत्सर

मास	पर्व-क्रम	गत-नक्षत्र	वर्तमान नक्षत्र		
			अंश	नाम	२७ भा. शेष
माघ	७५	०	८१	श्रविष्ठा	२७
,,	७६	१	९२	शतभिषक्	११
फाल्गुन	७७	२	१०३	पूर्वा भाद्रपदा	२२
,,	७८	३	११४	उत्तरा० ,,	६
चैत्र	७९	५	१	अश्वयुज्	१
,,	८०	६	१२	भरणी	१२
वैशाख	८१	७	२३	कृत्तिका	२३
,,	८२	८	३४	रोहिणी	७
ज्येष्ठ	८३	९	४५	मृग	१८
,,	८४	१०	५६	आर्द्रा	२
आषाढ़	८५	११	६७	पुनर्वसू	१३
,,	८६	१२	७८	पुष्य	२४
श्रावण	८७	१३	८९	आश्लेषा	८
,,	८८	१४	१००	मघा	१९
भाद्रपद	८९	१५	१११	पूर्व फल्गुनी	३
,,	९०	१६	१२२	उत्तर फल्गुनी	१४
आश्विन	९१	१८	९	चित्रा	९
,,	९२	१९	२०	स्वाती	२०
कार्तिक	९३	२०	३१	विशाखा	४
,,	९४	२१	४२	अनुराधा	१५
मार्गशीर्ष	९५	२२	५३	ज्येष्ठा	२६
,,	९६	२३	६४	मूल	१०
पौष	९७	२४	७५	पूर्वाषाढ़ा	२१
,,	९८	२५	८६	उत्तराषाढ़ा	५

(इद्वत्सर)

मासनाम	पर्व-क्रम	गत-नक्षत्र	वर्तमान नक्षत्र		
			अंश	नाम	२७मा. शेष
माघ	९९	२६	९७	श्रवण	
,,	१००	०	१०८	श्रविष्ठा	
फाल्गुन	१०१	१	११९	शतभिषक्	
,,	१०२	३	६	उ० भाद्रपदा	
चैत्र	१०३	४	१७	रेवती	
,,	१०४	५	२८	अश्वयुज्	
वैशाख	१०५	६	३९	भरणी	
,,	१०६	७	५०	कृत्तिका	
ज्येष्ठ	१०७	८	६१	रोहिणी	
,,	१०८	९	७२	मृग	
आषाढ़	१०९	१०	८३	आर्द्रा	
,,	११०	११	९४	पुनर्वसु	
श्रावण	१११	१२	१०५	पुष्य	
,,	११२	१३	११६	आश्लेषा	
भाद्रपद	११३	१५	३	पूर्वा फाल्गुनी	
,,	११४	१६	१४	उत्तरा फाल्गुनी	
आश्विन	११५	१७	२५	हस्त	
,,	११६	१८	३६	चित्रा	
कार्त्तिक	११७	१९	४७	स्वाती	
,,	११८	२०	५८	विशाखा	
मार्गशीर्ष	११९	२१	६९	अनुराधा	
,,	१२०	२२	८०	ज्येष्ठा	
पौष	१२१	२३	९१	मूल	
,,	१२२	२४	१०२	पूर्वाषाढ़ा	
अ० माघ	१२३	२५	११३	उत्तराषाढ़ा	
,,	१२४	२६	१२४	श्रवण	

कला दश च विंशा स्याद् द्विमुहूर्तस्तु नाडिके ।
द्विस्त्रिशस्तत् कलानां तु षट्शती त्र्यधिकं भवेत् ॥१६॥

यजुःपाठ—कला दश सविंशा . . .। द्युत्रिंशत् तत् . . .॥

अर्थ—नाड़ी=$१०+\frac{१}{२०}$ कला। मुहूर्त=२ नाड़ी।

दिन=३० मुहूर्त=६०३ कला।

नाड़िके द्वे मुहूर्तस्तु पञ्चाशत्पलमापकम् ।
माषकात् कुम्भको द्रोणः कुटपैर्वर्धते त्रिभिः ॥१७॥

द्रोण कितने आढ़कों का होता है, यह बात यहां नहीं बतायी है और इसके बिना श्लोक का कोई उपयोग नहीं है। यजुःपाठ के २४वें श्लोक की शब्दरचना इससे कुछ भिन्न है, पर उसका भी अर्थ इस श्लोक सरीखा ही है। उसमें भी द्रोण का कोई मान नहीं बताया है। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता के वर्षणाध्याय में लिखा है—

'पञ्चाशत्पलमाढकमनेन मिनुयाज्जलं पतितम् ।'

बृहत्संहिता २३।२

मालूम होता है यह श्लोक लिखते समय वेदाङ्गज्योतिष का उपर्युक्त श्लोक उनके ध्यान में था। इसके आगे के श्लोक में उन्होंने द्रोण शब्द का प्रयोग किया है, पर द्रोण और आढ़क के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में कुछ नहीं लिखा है। आर्या के चारों चरण समाप्त हो जाने के कारण कदाचित् उन्हें यह लिखने का अवसर न मिला हो, पर टीकाकार भटोत्पल ने लिखा है—

'यत उक्तं पञ्चाशत्पलमाढकं, चतुर्भिराढकैर्द्रोणः'

इन दोनों चरणों का उपर्युक्त श्लोक के द्वितीय और तृतीय चरणों से बड़ा साम्य है और निःसंशय प्रतीत होता है कि भटोत्पल ने ये वेदाङ्गज्योतिष से ही लिये हैं। भास्कराचार्यादिकों ने भी ४ आढ़क का द्रोण बतलाया है। अतः भटोत्पल के लेखानुसार वेदाङ्गज्योतिष का उपर्युक्त श्लोक इस प्रकार होना चाहिए—

नाडिके द्वे मुहूर्तस्तु पञ्चाशत्पलमाढ़कम् ।
चतुर्भिराढकैर्द्रोणः कुटपैर्वर्धते त्रिभिः ॥१७॥

यही पाठ पूर्वापर संगत भी है।

अर्थ—दो नाड़िका का मुहूर्त, ५० पलों का आढ़क और ४ आढ़कों का द्रोण होता है। [यह नाड़ी से] ३ कुड़व बड़ा होता है ॥१७॥

यहां 'यह नाड़ी से' शब्द ऊपर से लेने पड़ते हैं, परन्तु प्रथम पाद में नाड़िका शब्द आ चुका है अतः ऐसा करने में कोई अड़चन नहीं है। यजुःपाठ के निम्नलिखित श्लोक में यह अर्थ बिलकुल स्पष्ट है।

पलानि पञ्चदशपां धृतानि तदाढकं द्रोणमतः प्रमेयम् ।
त्रिभिर्विहीनं कुडवैस्तु कार्यं तन्नाडिकायास्तु भवेत्प्रमाणम् ।।२४।।

अर्थ--५० पल पानी का जितना वजन होता है उसे आढ़क कहते हैं। उससे एक द्रोण पानी नापो। द्रोण में से ३ कुड़व निकाल दो। शेष पानी को [घटिका पात्र के छिद्र द्वारा बाहर निकलने में जितना समय लगता है उसे] नाड़िका कहते हैं।

इस श्लोक का कुटप (कुड़व) नामक माप जानना आवश्यक है। इसी प्रकार ऊपर सातवें श्लोक में प्रस्थ शब्द भी कालमान का ही द्योतक है, परन्तु वेदाङ्गज्योतिष में उसका नाड़िका से कोई सम्बन्ध नहीं दिखलाया है, अतः यहां इसका विचार करेंगे।

भास्कराचार्य ने लिखा है--

द्रोणस्तु खार्याः खलु षोडशांशः स्यादाढको द्रोणचतुर्थभागः ।
प्रस्थश्चतुर्यांश इहाढकस्य प्रस्थाङ्घ्रिराद्यैः कुडवः प्रदिष्टः ।।८।।

लीलावती

अर्थ—

४ कुड़व=प्रस्थ
४ प्रस्थ=आढ़क
४ आढ़क=द्रोण

वेदाङ्गज्योतिष में ५० पलों का आढ़क बतलाया है, अतः
द्रोण = २०० पल=६४ कुड़व। आढ़क=५० पल]
प्रस्थ=१२$\frac{१}{२}$ पल। कुड़व=३$\frac{१}{८}$ पल।

वेदाङ्गज्योतिषपद्धति के अनुसार द्रोण में से ३ कुड़व निकाल देने से नाड़िका होती है, अतः—

नाड़िका=६१ कुड़व=२०० पल=३$\frac{१}{८}$ × ३ पल
=१९०$\frac{५}{८}$ पल
प्रस्थ=१२$\frac{१}{२}$ पल=१२$\frac{१}{२}$ ÷ १९०$\frac{५}{८}$ नाड़िका
=$\frac{४}{६१}$ नाड़िका।

ऊपर सातवें श्लोक में दिनमान की वृद्धि १ प्रस्थ बतलायी है। यहां प्रस्थ का मान $\frac{४}{६१}$ घड़ी सिद्ध किया है और वह बिलकुल शुद्ध है क्योंकि आगे २२वें श्लोक में बतलायी हुई दिनमान लाने की रीति से भी इसकी ठीक संगति लगती है। घटिका पात्र में १९०$\frac{५}{८}$

पल पानी आने में जो समय लगता है वह एक नाड़ी का मान सिद्ध हुआ, परन्तु कुछ नियमित पलों में पानी आने के लिए पात्र के छिद्र के विषय में भी कोई नियम बतलाना चाहिए था। मालूम होता है पात्र का विशेष प्रचार होने के कारण छिद्र के विषय में कुछ नहीं लिखा है। अमरकोष और लीलावती इत्यादि ग्रन्थों में पल ४ कर्ष अर्थात् ४ तोले के बराबर बताया है। अतः घटिका पात्र में १९०$\frac{५}{८}$ पल × ४ = ७६२$\frac{१}{२}$ तोले अर्थात् ९ सेर से कुछ अधिक पानी अटना चाहिए, परन्तु आजकल की प्रचलित घटिकाओं में १।। सेर से अधिक पानी नहीं समा सकता। पात्र बड़ा होना अच्छा है क्योंकि पात्र जितना बड़ा होगा उतना ही सूक्ष्म कालज्ञान होगा।

कालवाचक पल शब्द पानी के पल से ही निकला होगा। जितने समय में घटिका पात्र में एक पल पानी आता है उसे कालत्मक पल कहते रहे होंगे। ज्योतिष ग्रन्थों में अनेकों जगह कालात्मक पल के लिए 'पानीयपल' शब्द का प्रयोग किया गया है (सिद्धान्त शिरोमणि देखिये)। वेदाङ्गज्योतिष में '६० पल = १ घटी' यह मान नहीं है, बल्कि नाड़ी में १९०$\frac{५}{८}$ पानीय पल बतलाये हैं। यह मान गणित के लिए अनुकूल नहीं है अतः इसका विशेष उपयोग नहीं करते रहे होंगे, परन्तु दिन में ६० नाड़ियां बतलायी हैं, अतः उसी के अनुसार आगे नाड़ी में ६० पल मान लिये होंगे और जैसे १९०$\frac{५}{८}$ पल सम्बन्धी काल को घटिका कहते थे उसी प्रकार घटिका पात्र में छिद्र द्वारा ६० पल पानी आने में जितना समय लगता था उसे घटिका कहने लगे होंगे। नाड़ी में पल चाहे जितने मानिए उसके मान में कोई परिवर्तन नहीं होगा। पल ही छोटे बड़े हुआ करेंगे। सारांश यह कि पात्र का छिद्र ऐसा होना चाहिए जिससे एक घटी में ६० पल पानी आवे। आजकल भी घटिकापात्र के विषय में केवल इतना ही विचार किया जाता है कि उसका छिद्र ऐसा हो जिससे एक घटी में पात्र भर जाय। पानी के वजन का कोई विचार नहीं किया जाता। वेदाङ्गज्योतिष-काल के बाद भी ऐसा ही करने लगे होंगे। वेदाङ्गज्योतिषोक्त नाड़ीमान थोड़ा असुविधाजनक मालूम होता है, पर वस्तुतः वह सयुक्तिक और अनुकूल है (२२वां श्लोक देखिए)।

ससप्तकुम्भयुक्स्योन　　सूर्याधोनि　　त्रयोदश।
नवमानि च पञ्चाह्नः काष्ठाः पञ्चाक्षराः स्मृता ।।१८।।

यजुःपाठ—ससप्तमं भयुक् सोमः सूर्यो धूनि त्रयोदश।

ऋक्पाठ के पूर्वार्ध में 'स्योन' शब्द है। उसके स्थान में चन्द्रवाचक श्येन शब्द रखने से बहुत थोड़ा पाठभेद होता है।

अर्थ—[कलाओं के] एक सप्तक [और एक सावन दिन] तुल्य (समय तक) चन्द्रमा एक नक्षत्र में रहता है। सूर्य १३ दिन और दिन के ५/९ भाग (अर्थात् १३५/९ दिन) [तक एक नक्षत्र में रहता है]। ५ अक्षरों की एक काष्ठा होती है ॥१८॥

सौरवर्ष में ३६६ और एक युग में ३६६ × ५=१८३० सावन दिन होते हैं (यजुः पाठ श्लो. २८)। एक युग में चन्द्रमा सम्पूर्ण नक्षत्र-मण्डल की ६७ प्रदक्षिणा करता है (यजुः पाठ श्लो. ३१) अर्थात् ६७ × २७ नक्षत्र चलता है। एक दिन में ६०३ कलाएं होती हैं (उपर्युक्त १६वां श्लोक देखिए) अतः युग में १८३० × ६०३ कलाएं होंगी और चन्द्रमा को एक नक्षत्र भोगने में (१८३० × ६०३) ÷ (२७ × ६७)= ६१० कला अर्थात् १ दिन ७ कला तुल्य समय लगेगा। सूर्य ३६६ दिनों में २७ नक्षत्रों की एक प्रदक्षिणा करता है। इसलिए उसे एक नक्षत्र भोगने में ३६६ ÷ २७ = १३५/९ दिन लगेंगे।

> श्रविष्ठाभ्यां गुणाभ्यस्तान्प्राग्विलग्नान् विनिर्दिशेत्।
> सूर्यान् मासान् षळभ्यस्तान् विद्याच्चान्द्रमसानृतून् ॥१९॥

[इस श्लोक का पूर्वार्ध दुर्बोध है] उत्तरार्ध का अर्थ है—सौरमास की ६ गुनी चान्द्र ऋतुएं होती हैं।

जैसे सूर्य की एक परिक्रमा अर्थात् एक वर्ष में ६ ऋतुएं होती हैं उसी प्रकार चन्द्रमा की भी एक परिक्रमा में उसकी ६ ऋतुएं मानी जा सकती हैं। उसे नक्षत्रों की एक परिक्रमा करने में एक सौर मास तुल्य समय लगता है, अतः ऋतुएं सौर मास से ६ गुनी होंगी। यह मान कुछ स्थूल है क्योंकि वेदाङ्गज्योतिष के अनुसार चन्द्रमा ६० सौर मासों में नक्षत्र-मण्डल की ६७ प्रदक्षिणा करता है। इसलिये एक सौरमास में वास्तव चान्द्र ऋतुसंख्या $\frac{६७ \times ६}{६०}$ = ६७/१० होगी।

> याः पर्वभादानकलास्तासु सप्तगुणां तिथिम्।
> प्रक्षिपेत् कलासमूहस्तु विद्यादादानकीः कलाः ॥२१॥

पर्वान्तकालीन भ (नक्षत्र) की आदान (भोग्य) कलाओं में तिथि का सातगुना मिलाने से [उस दिन के अन्त की] आदान कलाएं आती हैं।

प्रत्येक सावन दिन में ६०३ कलाएं होती हैं। एक नक्षत्र में ६१० कला मानने से सावन दिन में चन्द्रमा के ६०३ कला भोगने के बाद दिन के अन्त में ७ कलाएं शेष रह जायंगी। इसी प्रकार दूसरे दिन के अन्त में १४ शेष रहेंगी अर्थात् क्रमशः

सात-सात बढ़ती जायेंगी। इसीलिए कहा है 'सप्तगुणां तिथिम्'। यहां एक अड़चन यह है कि तिथि शब्द से सावन दिन का ग्रहण करना पड़ता है।

यदुत्तरस्यायनतोयनं स्याच्छेषं तु यद्दक्षिणतोयनस्य।
तदेव षष्ट्या द्विगुणं विभक्तं सद्वादशं स्याद्दिवसप्रमाणम् ।।२२।।

यजु:पाठ

यदुत्तरस्यायनतो गतं स्याच्छेषं तथा दक्षिणतोयनस्य।
तदेव षष्ट्या द्विगुणं विभक्तं सद्वादशं स्याद्दिवसप्रमाणम् ।।

इन दोनों पाठों में तदेवषष्ट्या के स्थान में तदेकषष्ट्या करना ही पड़ेगा।

अर्थ—उत्तरायण होने के बाद जितने दिन व्यतीत हुए हों अथवा दक्षिणायन के बाद [अयन की समाप्ति होने में] जितने दिन शेष रह गये हों उनमें दो का गुणा कर गुणनफल में ६१ का भाग दे। जो लब्धि आवे उसमें १२ जोड़ देने से एक दिन का [मुहूर्तात्मक] मान आता है।।२२।।

उपपत्ति—वर्ष में ३६६ दिन होते हैं, इसलिए एक अयन में १८३ दिन होंगे। १८३ दिनों में दिनमान ६ मुहूर्त बढ़ता है, इसलिए एक दिन में (१२ मुहूर्त से) $\frac{६}{१८३} = \frac{२}{६१}$ मुहूर्त बढ़ेगा।

उदाहरण—उत्तरायणारम्भ के एक दिन बाद दिनमान $१२ + \frac{१ \times २}{६१} १२\frac{२}{६१}$ मुहूर्त $२४\frac{४}{६१}$ नाड़ी होगा।

सातवें श्लोक में एक दिन में एक प्रस्थ वृद्धि बतलायी है और १७वें श्लोक में प्रस्थ का मान $\frac{४}{६१}$ नाड़ी तुल्य सिद्ध किया है। यहां भी वही $\frac{४}{६१}$ नाड़ी वृद्धि आती है। गुणन-भजनादि में सुभीता होने के लिए यहां ६१ कुड़व की एक नाड़ी मानी गयी है, अतः यह संख्या अनुकूल ही है।

तदर्धं दिनभागानां सदा पर्वणि पर्वणि।
ऋतुशेषंतु तद्विद्यात् संख्याय पर्वणाम् ।।२३।।

यजु:पाठ—यदर्धं दिनभागानां....। ऋतु.... संख्याय....।।
'यदर्धं' पाठ द्वारा यह अर्थ होता है—

प्रत्येक पर्व में दिन भाग में से जो [तिथि का] आधा शेष रह जाता है वह [सब पर्वों का शेष] एकत्र होने पर ऋतुशेष होता है।

एक पर्व से दूसरे पर्व पर्यन्त आधा चान्द्रमास होता है। एक युग में १८३० सावन दिन, १२० अर्ध-सौरमास और १२४ पर्व होते हैं। अर्ध-चान्द्रमास का मान $१८३० \div १२४ = १४\frac{६४}{१२४}$ सावन दिन और अर्ध-सौरमास का मान $१८३० \div १२० = १५\frac{१}{४} = १५\frac{३१}{१२४}$ सावन दिन होता है। अतः प्रत्येक पर्व में $१५\frac{३१}{१२४} = १४\frac{६४}{१२४} = \frac{६१}{१२४}$ सावन दिन अर्थात् आधी तिथि शेष रह जाती है। ऋतुएं सौरमास के अनुसार होती हैं अतः इसे अर्ध-चान्द्रमास का शेष मानते हैं। अन्य ज्योतिषग्रन्थों में इसे अधिमास-शेष कहा है। यह ३० चान्द्रमासों में $\frac{६१ \times ६०}{१२४} = २९\frac{६४}{१२४}$ सावन दिन अर्थात् ठीक एक चान्द्रमास के बराबर हो जाता है। इसीलिए ३० चान्द्रमास के बाद एक अधिमास होता है। यही उपर्युक्त श्लोक और अधिमास की उपपत्ति है।

> अग्निः प्रजापतिः सोमो रुद्रोदितिवृहस्पतिः।
> सर्पाश्च पितरश्चैव भगश्चैवार्यमापि च।।२५।।
> सविता त्वष्टाथ वायुश्चेन्द्राग्नो मित्र एव च।
> इन्द्रो निर्ऋतिरापो वै विश्वेदेवास्तथैव च।।२६।।
> विष्णुर्वरुणो वसवोऽजएकपात्तथैव च।
> अहिर्वुध्न्यस्तथा पूषाश्विनौ यम एव च।।२७।।

इसमें २७ नक्षत्र के देवताओं के नाम बतलाये हैं। नक्षत्रों के नाम यद्यपि नहीं हैं तथापि यह निर्विवाद सिद्ध है कि देवताओं का आरम्भ कृत्तिका से है। २७ वें श्लोक के 'विष्णुर्वरुणो वसवो' लेखानुसार श्रविष्ठा का देवता वरुण और शत्भिषक् का वसु सिद्ध होता है, पर तैत्तिरीय श्रुति और अन्य ज्योतिष ग्रन्थों में इसके ठीक विपरीत अर्थात् श्रविष्ठा का देवता वसु और शतभिषक् का वरुण बतलाया है। यहां यजुःपाठ 'विष्णुर्वसवो वरुणो' ठीक मालूम होता है अतः उसका ग्रहण करना ही पड़ेगा।

नक्षत्र और उनके देवता अगले पृष्ठ के कोष्ठक में लिखे हैं।

श्रविष्ठादि	कृत्तिकादि	नाम	देवता		श्रविष्ठादि	कृत्तिकादि	नाम	देवता
८	१	कृत्तिका	अग्नि		२२	१५	अनुराधा	मित्र
९	२	रोहिणी	प्रजापति		२३	१६	ज्येष्ठा	इन्द्र
१०	३	मृगशीर्ष	सोम		२४	१७	मूल	निर्ऋति
११	४	आर्द्रा	रुद्र		२५	१८	पूर्वाषाढ़ा	आप:
१२	५	पुनर्वसु	अदिति		२६	१९	उत्तराषाढ़ा	विश्वेदेव
१३	६	पुष्य	बृहस्पति		२७	२०	श्रवण	विष्णु
१४	७	आश्लेषा	सर्प		१	२१	श्रविष्ठा	वसु
१५	८	मघा	पितर		२	२२	शतभिषक्	वरुण
१६	९	पूर्वफल्गुनी	भग		३	२३	पूर्वभाद्रपदा	अजएकपाद
१७	१०	उत्तरफल्गु०	अर्यमा		४	२४	उत्तरभाद्रपदा	अहिर्बुध्न्य
१८	११	हस्त	सविता		५	२५	रेवती	पूषा
१९	१२	चित्रा	त्वष्टा		६	२६	अश्वयुज्	अश्विनौ
२०	१३	स्वाती	वायु		७	२७	भरणी	यम
२१	१४	विशाखा	इन्द्राग्नी					

नक्षत्रदेवता एता एताभिर्यज्ञकर्मणि ।
यजमानस्य शास्त्रज्ञैर्नाम नक्षत्रजं स्मृतम् ।।२८।।

अर्थ--[ये नक्षत्रों के देवता हैं]। शास्त्रज्ञों ने कहा है कि यज्ञ-कर्म में इनके द्वारा यजमान का नक्षत्र-नाम [रखना चाहिए]।

जिस नक्षत्र में मनुष्य का जन्म होता है उसके चरण के अनुसार नाम रखने की रीति इधर ज्योतिष-ग्रन्थों में है और सम्प्रति उसका प्रचार भी है।

विषुवं तद्गुणं द्वाभ्यां रूपहीनं तु षड्गुणम् ।
यल्लब्धं तानि पर्वाणि तथोर्ध्वं सा तिथिर्भवेत् ।।३१।।

अर्थ--[प्रथम विषुव से आरम्भ कर अन्य किसी विषुव पर्यन्त पर्व और तिथि संख्या लानी हो तो] विषुवसंख्या में से एक निकालकर शेष को पृथक्-पृथक् दो और एक से गुणा करो। फिर दोनों में ६ का गुणा करो। पहिले ६ गुने तुल्य पर्व और दूसरे ६ गुने तुल्य तिथियां होंगी अर्थात् इतना समय व्यतीत होने पर वह विषुव आवेगा।

उदाहरणार्थ मान लीजिए १०वां विषुव लाना है तो विषुव संख्या में से एक घटा देने से शेष बचा ९। अतः पर्वसंख्या हुई ९×२×६=१०८ और तिथियां हुईं ९×१×६=५४। इन दोनों का योग हुआ १०८ पर्व ५४ तिथिया १११ पर्व ९ तिथि इसमें युगादि से प्रथम विषुव पर्यन्त के ६ पर्व और ३ तिथियां जोड़ देने से फल हुआ ११७ पर्व १२ तिथि। अतः युगारम्भ के बाद ११७ पर्व १२ तिथि वीत जाने पर अर्थात् पांचवें संवत्सर की कार्तिक-कृष्ण-द्वादशी के अन्त में दसवां विषुव होगा।

इस श्लोक का यजुःपाठ है--

विषुवन्तं द्विरभ्यस्तं रूपोनं षड्गुणी कृतम् ।
पक्षा यदर्धं पक्षाणां तिथिः स विषुवान् स्मृतः ।।

यहाँ बिना खींचातानी किये ही उपर्युक्त अर्थ ज्यों का त्यों निकल आता है वह इस प्रकार है--

विषुवसंख्या में से एक निकाल कर [शेष को] द्विगुणित कर पुनः ६ का गुणा करने से पक्षसंख्या [आती है]। पक्षों की आधी तिथियां होती हैं। वही तिथि विषुवान् होती है।

माघशुक्लप्रवृत्तस्तु पौषकृष्णसमापिनः ।
युगश्च पञ्चवर्षाणि कालज्ञानं प्रचक्षते ।।३२।।

यजु:पाठ

माघशुक्लप्रपन्नस्य पौषकृष्णसमापिन:।
युगस्य पञ्चवर्षस्य कालज्ञानं प्रचक्षते ।।

यहां 'प्रपन्न' के स्थान में ऋक्पाठ 'प्रवृत्त' और शेष स्थान में यजु:पाठ लेने से अर्थ इस प्रकार होता है––

माघशुक्ल में प्रवृत्त और पौषकृष्ण में समाप्त होनेवाले पञ्चवर्षात्मक युग को कालज्ञान कहते हैं।

तृतीयां नवमीञ्चैव पौर्णमासीं त्रयोदशीम।
षष्ठीञ्च विषुवान् प्रोक्तो द्वादश्या च समंभवेत् ।।३३।।

तृतीया, नवमी, पूर्णिमा, षष्ठी, और द्वादशी तिथियों में [और फिर क्रमशः इन्हीं तिथियों में] विषुवान् होता है।

वेदों में विषुवान् दिवस का नाम आया है और पहले इसका कुछ विचार कर चुके हैं। एक विषुवान् उत्तरायणारम्भ के ३ सौरमास बाद और दूसरा उसके ६ मास बाद आता है। इस प्रकार वर्ष में २ विषुव होते हैं। वेदाङ्गज्योतिष की पद्धति के अनुसार, ३ सौरमासों में ९३ तिथियां होती हैं और युगप्रवृत्ति माघारम्भ में होती है, अतः माघ, फाल्गुन और चैत्र, तीनों महीनों के व्यतीत हो जाने पर वैशाखशुक्ल तृतीया के अन्त में प्रथम विषुवान् होता है। तत्पश्चात् ६ सौरमास अर्थात् ६ चान्द्रमास और ६ तिथियों के व्यतीत होने पर द्वितीय विषुवान् आता है। युग के सब विषुवान् आगे कोष्ठक में एकत्र लिखे हैं।

यहां मूलोक्त 'त्रयोदशी' शब्द का अर्थ नहीं लगता। शेष श्लोक का उपर्युक्त अर्थ ठीक है।

चतुर्दशीमुपवसथः तस्तथा भवेद्यथोदितो दिनमुपैति चन्द्रमा:।
माघशुक्लाह्निको युक्ते श्रविष्ठायाञ्च वार्षिकीम् ।।३४।।

इसमें से नवें अक्षर 'थ:' को निकाल देने से निम्नलिखित अर्थ निकलता है––

(कृष्ण) चतुर्दशी के दिन (सूर्य और चन्द्रमा) पास पास रहते हैं। चन्द्रमा उदित होने पर दिन के पास चला आता है। माघशुक्ल [प्रतिपदा] के दिन श्रविष्ठा नक्षत्र में सूर्य से संयुक्त होता है। इसी प्रकार वर्षा ऋतु का [आरम्भ होने के पूर्ववाली अमावस्या के अन्त में संयुक्त होता है]।।३४।।

चन्द्रमा का दिन के पास चले आने का अर्थ यह है कि उसका उदय होने के बाद शीघ्र ही सूर्योदय होता है अर्थात् दिन का आरम्भ हो जाता है। यहां माघशुक्ल प्रति-

पदा शब्द से अमावस्या और प्रतिपदा की सन्धि का ग्रहण करना चाहिए। सूर्य और चन्द्रमा का योग प्रत्येक अमावस्या में होते हुए भी यहां दो ही अमावास्याओं के निर्देश का कारण यह है कि अमान्त में उत्तरायण और दक्षिणायन आरम्भ होने का प्रसंग युग में दो ही बार आता है। प्रथम संवत्सर के प्रथम मास माघ के आरम्भ में उत्तरायण की प्रवृत्ति होती है और तृतीय संवत्सर के श्रावणारम्भ में दक्षिणायन प्रारम्भ होता है।

२. यजुर्वेदज्योतिष

एकान्तरेऽह्नि मासे च पूर्वादृत्वादिरुत्तरः॥११॥

पूर्व ऋतु का आरम्भ होने के बाद एकदिन और एक मास के अन्तर से अर्थात् बीच में एक मास और एक तिथि छोड़कर उत्तर ऋतु का आरम्भ [होता है]। दो सौरमासों की एक ऋतु होती है। आगे कोष्ठक में पांचों संवत्सरों की ऋतुओं के आरम्भमास और तिथियां लिखी हैं। उनसे पता चलता है कि मूलोक्त 'एकान्तरेऽह्नि' (एक दिन का अन्तर) शब्द तिथि से सम्बन्ध रखता है।

एकादशभिरभ्यस्य पर्वाणि नवभिस्तिथिम्।
युगलब्धं सपर्व स्यात् वर्तमानार्कभं क्रमात्॥२५॥

गतपर्वसंख्या में ११ का गुणा करें, उसमें ९ से गुणित तिथिसंख्या जोड़कर, योगफल में १२४ का भाग दें। लब्धि में गतपर्वसंख्या जोड़ दें तो (इष्ट तिथि के अन्त में) वर्तमान सूर्यनक्षत्र आवेगा। यह क्रमशः आता है। युग में १२४ पर्व होने के कारण यहां युग शब्द का अर्थ १२४ किया गया है। नक्षत्र के १२४ विभाग माने गये हैं। कुछ अन्य श्लोकों द्वारा भी नक्षत्र के १२४ विभागों की कल्पना सिद्ध होती है। सूर्य एक तिथि में इस प्रकार के ९ भागों को भोगता है।

उदाहरण—

प्रथमसंवत्सर की माघशुक्ल १५ के अन्त में सूर्यनक्षत्र लाना है, अतः यहां तिथि ×९=१५×९=१३५ में १२४ का भाग दिया। लब्धि आयी १। गतपर्व शून्य है, इसलिए एक नक्षत्र बीतने के पश्चात् दूसरे के ११ भाग बीते हैं। यदि तीसरे पर्व के अन्त का नक्षत्र लाना है तो गतपर्व ३ में ११ का गुणा किया। फल हुआ ३३। इसमें १२४ का भाग दिया। भजनफल में ३ जोड़ दिया। योगफल हुआ ३$\frac{३३}{१२४}$। अतः तीन नक्षत्र समाप्त हो जाने के बाद चतुर्थ के ३३ भाग बीते हैं।

त्रिंशत्यह्नां सषट् षष्ठिरब्दः षड् ऋतवोऽयने।
मासा द्वादश सूर्याः स्युरेतत्पञ्चगुणं युगम्॥२७॥

अर्थ—वर्ष में ३६६ दिन, ६ ऋतुएं, दो अयन [और] १२ सौरमास [होते हैं] युग इसका पञ्चगुणित होता है।

उदया वासवस्य स्युर्दिनराशिः स्वपञ्चकः।
ऋषेर्द्विषष्टिहीनं स्यात् विंशत्या चैकया स्तृणाम् ।।२६।।

अर्थ—[युग में वर्ष की] दिन संख्या के पञ्चगुणित (१८३०) वासव (सूर्य) के उदय होते हैं। ऋषि (चन्द्रमा) के उससे ६२ कम होते हैं।

एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय पर्यन्त जितना समय होता है, उसे सावन दिन कहते हैं, इसलिये एक सौरवर्ष में जितने सावन दिन होंगे उतने ही सूर्योदय होंगे और युग में उसके पांच गुने अर्थात् १८३० होंगे।

यदि सूर्य नक्षत्रों की भाँति स्थिर होता तो उसके भी उदय उतने ही होते जितने कि नक्षत्रों के होते हैं, परन्तु वह प्रतिदिन थोड़ा थोड़ा नक्षत्रों से पूर्व की ओर हटता जाता है, अतः आज सूर्य जिस नक्षत्र के साथ उगा है, कल उसके साथ नहीं उगता वल्कि उसका उदय नक्षत्रोदय के कुछ देर वाद होता है। वर्ष भर में वह एक बार सभी नक्षत्रों में घूम आता है। इसी कारण एक वर्ष में सूर्योदय की अपेक्षा नक्षत्रोदय १ अधिक अर्थात् ३६७ होते हैं। अतः युग में सूर्योदय से नक्षत्रोदय ५ अधिक होंगे। एक युग में चन्द्रमा नक्षत्रों की ६७ प्रदक्षिणा करता है (आगे ३१ वां श्लोक देखिए) इसलिए युग में नक्षत्रोंदय की अपेक्षा चन्द्रोदय ६७ कम होते हैं, अतः सूर्योदय से ६२ कम होंगे। इस श्लोक के चतुर्थचरण का अर्थ नहीं लगता। कदाचित् मूलपाठ में "सूर्योदय से नक्षत्रोदय ५ अधिक होते हैं" इस अर्थ के सूचक कुछ शव्द रहे हों।

पञ्चत्रिंशच्छतं १३५ पौष्णमेकोनमयनान्यृषेः।
पर्वणां स्याच्चतुष्पादी काष्ठानां चैव ताः कलाः।।३०।।

(एक युग में) चन्द्रमा के १३४ अयन और १२४ पर्व होते हैं। १२४ काष्ठाओं की एक कला होती है।

मूलोक्त "पौष्णं' शव्द का ठीक अर्थ नहीं लगता परन्तु श्लोक का इससे भिन्न अर्थ होने की भी सम्भावना नहीं है। युग में चन्द्रमा के ६७ पर्याय होते हैं, अतः ६७ × २= १३४ अयनों का होना स्पष्ट ही है। १२ वें श्लोक के अनुसार पाद का अर्थ ३१ होता है, अतः चतुष्पदी ३१ × ४ अर्थात् १२४ के वरावर होगी।

सावनेन्दुस्तृमासानां षष्टिः सैका द्विसप्तिका।
द्युत्रिंशत् सावनः सार्धः सूर्यः स्तृणां सपर्ययः ।।३१।।

[युग में] सावनमास ६१, चान्द्रमास ६२ और (स्तृमास) नाक्षत्रमास (षष्टिःसस-

प्तिका) ६७ होते हैं। ३० दिनों का सावन [मास] और ३० दिनों का सौरमास होता है। [नक्षत्रमण्डल में चन्द्रमा के एक] पर्याय को नाक्षत्रमास कहते हैं।

एक वर्ष में १२ और एक युग में ६० सौरमास होते हैं। (यजु:पाठ २८वां श्लोक देखिए)। युग की सावनदिन संख्या १८३० में युग की सावन मास संख्या ६१ का भाग देने से लब्धि ३० आती है। इसलिए सावन मास में ३० दिन होते हैं। इसी प्रकार १८३० में युगसौरमास ६० का भाग देने से एक सौरमास में सावनदिन ३०½ आते हैं।

उग्राण्यार्द्रा च चित्रा च विशाखा श्रवणाश्वयुक्।
क्रूराणि तु मघा स्वाती ज्येष्ठा मूलं यमस्य यत् ।।३३।।

आर्द्रा, चित्रा, विशाखा, श्रवण और अश्वयुज् [नक्षत्र] उग्र हैं। मघा, स्वाती, ज्येष्ठा, मूल और यमनक्षत्र (भरणी) क्रूर हैं।

आधुनिक मुहूर्तग्रन्थों में उग्रनक्षत्रों को ही क्रूर भी कहा है। उपर्युक्त नक्षत्रों में से आजकल केवल मघा और भरणी की गणना उग्र या क्रूर में की जाती है। आर्द्रा, मूल और ज्येष्ठा को तीक्ष्ण या दारुण कहते हैं। पर इन्हें उग्र या क्रूर भी कह सकते हैं। शेष नक्षत्रों में से चित्रा को मृदु, विशाखा को मिश्र, श्रवण और स्वाती को चल तथा अश्विनी को लघु या क्षिप्र कहते हैं।

द्यूनं द्विषष्टि भागेन हेयं सूर्यात् सपार्वणम्।
यत्कृतावुपजायेते मध्ये चान्ते चाधिमासकौ।।३७।।

इस पाठ द्वारा यह अर्थ निष्पन्न होता है—

[सावन] दिन में से उसका ६२वां भाग घटा देने पर जो शेष रहता है उसे चान्द्र [दिन अर्थात् तिथि] कहते हैं। [६०वां भाग जोड़ देने से सौरदिन होता है[1]] सौर-दिन से तिथि छोटी होने के कारण [युग के] मध्य और अन्त में अधिमास आते हैं।।३७।।

१. युगीयसावनदिनसंख्या=१८३०। युगीयचान्द्रमाससंख्या=६२

$$\therefore १ \text{ तिथि} = \frac{१८३०}{६२\times ३०} \text{ सावनदिन} = \frac{६१}{६२} = १ - \frac{१}{६२} \text{सावनदिन।}$$

$$१ \text{ सौरमास} = ३० \frac{१}{२} \text{सावनदिन।} \therefore १ \text{ सौरदिन} = ३० \frac{१}{२} \div ३० \text{ सा० दि०}$$

$$= \frac{६१}{६०} \text{ सावनदिन} = १ + \frac{१}{६०} \text{ सावनदिन। (अनुवादक)}$$

सोमाकर ने गर्ग के कुछ वचन उद्धृत किये हैं। उनमें वेदाङ्गज्योतिषोक्त पञ्च-संवत्सरात्मक युगपद्धति का पूर्णवर्णन है। गर्ग ने लव नाम के एक नवीन दिवसभाग की कल्पना की है। उससे समझने में बड़ा सुभीता होता है। वे गर्ग के वचन ये हैं—

सावनञ्चापि सौरञ्च चान्द्रं नाक्षत्रमेव च।
चत्वार्येतानि मानानि यैर्युगं प्रविभज्यते ॥१॥
अहोरात्रात्मकं लौक्यं मानञ्च सावनं स्मृतम्।
अतश्चैतानि मानानि प्राकृतानीह सावनात् ॥२॥
ततः सिद्धान्यहोरात्राण्युदयाश्चाप्यथार्कजाः।
त्रिंशच्चाष्टादशशतं १८३० दिनानाञ्चयुगं स्मृतम् ॥३॥
मासस्त्रिंशदहोरात्रः पक्षोर्धं सावनं स्मृतम्।
अहोरात्रं लवानान्तु चतुर्विंशशतात्मकम् ॥४॥
सौर्यं तु सूर्यसंभूतं परिसर्पति भास्करे।
यावता ह्युत्तरां काष्ठां गत्वा गच्छति दक्षिणाम् ॥५॥
कालेन सोब्दस्तस्यार्धं अयनन्तु त्रयोर्त्तवः।
ऋतोरर्धं भवेन्मासस्त्रिंशद्भागं दिनोऽर्कजः ॥६॥
तस्यार्धमर्कजः पक्षस्तस्मात्पञ्चदशं दिनम्।
शतं लवानां षड्विंशं १२६ लवाः पञ्चदश $\frac{१}{१५}$ स्तथा ॥७॥
[1]त्रिंशच्चाष्टादशशतं १८३० युगमार्कदिनैः स्मृतम्।
वृद्धिक्षयाभ्यां संभूतं चान्द्रं मानं हि चन्द्रतः ॥८॥
लवं लवमथोनेन सावनेन निशाकरः।
क्षयवृद्धिमवाप्नोति स चान्द्रो मास उच्यते ॥९॥
तस्यार्धं पार्वणः पक्षस्तस्मात्पञ्चदशी तिथिः।
प्रमाणेन लवानान्तु द्वाविंशं शत १२२ मुच्यते ॥१०॥
सोमस्याष्टादशशती युगे षष्ट्याधिका १८६० स्मृता।
यावतात्वेव कालेन भवर्गं त्रिणवात्मकम् ॥११॥
भुंक्ते चन्द्रः स आर्क्षो मासस्तस्यार्धं पक्ष उच्यते।
आर्क्षात्पक्षात्पञ्चदशं नाक्षत्रं दिनमुच्यते ॥१२॥

१. यह पाठ कुछ अशुद्ध है। १८३० के स्थान में १८०० होना चाहिए।

प्रमाणेन लवानान्तु द्वादशं शत ११२ मुच्यते।
षष्ट्यातु सप्तषष्ट्यंशे नाधिकोऽस्मिन् परोलवः।१३।।
दशोत्तरैर्द्विसहस्त्रै २०१० र्युगमार्क्षैर्दिनैः स्मृतम् ।।

ऋग्यजुर्वेदाङ्गज्योतिषविचार

रचनाकाल

अब वेदाङ्गज्योतिष के रचनाकाल का विचार करेंगे । ऋक्पाठ के छठे श्लोक में कहा है कि आश्लेषा के आधे से सूर्य की दक्षिणायन-प्रवृत्ति और श्रविष्ठा के आरम्भ से उत्तरायणप्रवृत्ति होती है। आजकल सूर्य और चन्द्रमा का उत्तरायण तब होता है जब कि वे पूर्वाषाढ़ा के तारों के पास आते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि अयनारम्भ उत्तरोत्तर पीछे हटता आ रहा है। इसी को अयनचलन कहते हैं। आजकल सूक्ष्म अयनचलन या सम्पातगति ज्ञात हो चुकी है। उसके द्वारा वेदाङ्गज्योतिषोक्त अयन-स्थिति का समय लाया जा सकता है।

कोलब्रूक इत्यादि यूरोपियन विद्वानों ने वेदाङ्गज्योतिष का समय इस आधार पर निश्चित किया है कि 'रेवती तारा से नक्षत्रचक्र का आरम्भ मानने से धनिष्ठा का जो विभागात्मक स्थान होता है उसके आरम्भ में सूर्य और चन्द्रमा के आने पर वेदाङ्ग-ज्योतिषकाल में उत्तरायण मानते थे।' इससे आधुनिक धनिष्ठा विभाग के आरम्भ में ही धनिष्ठा तारा मानना सिद्ध हुआ, परन्तु वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं है। विभागात्मक धनिष्ठा के आरम्भस्थान से धनिष्ठा की योगतारा ४ अंश ११ कला आगे है। ४ अंश ११ कला सम्पातगति होने में ३०० वर्ष लगते हैं, अतः उनका निश्चित किया हुआ समय लगभग ३०० वर्ष आगे आ जाता है। धनिष्ठा के आरम्भ में उत्तरायण होने का अभिप्राय यह कैसे मान लिया जाय कि धनिष्ठा के किसी कल्पित स्थान के पास चन्द्रमा के आने पर उत्तरायणारम्भ मान लेते थे क्योंकि विभागात्मक धनिष्ठा का आरम्भ स्थान कल्पित ही है।

दूसरी मुख्य बात यह है कि वेदाङ्गज्योतिष चाहे जब बना हो, पर यह निर्विवाद सिद्ध है कि उसके रचनाकाल में अश्विन्यादि गणना का प्रचार नहीं हुआ था, अतः यह भी स्पष्ट है कि अश्विन्यादि गणना के अनुसार कल्पित आजकल के विभागात्मक धनिष्ठा-रम्भस्थान को भी वे नहीं जानते रहे होंगे, अतः गणितज्ञों को यह स्वीकार करना चाहिए कि विभागात्मक धनिष्ठारम्भ में सूर्य के आने पर उत्तरायणारम्भ मान कर वेदाङ्गज्योतिष का समय निश्चित करना भूल है। प्रत्यक्ष दिखलायी देनेवाले धनिष्ठा के चार या पांच तारों के पास चन्द्र और सूर्य के आने पर ही उत्तरायणारम्भ मानना उचित होगा।

सूर्य चन्द्र का सायनभोग ६ राशि होने पर उत्तरायण होता है । चूंकि उत्तरायण धनिष्ठा-रम्भ में होता था इसलिए धनिष्ठा का सायन भोग ६ राशि होना चाहिए। केरोपन्त धनिष्ठा के तारों में आल्फा डेल्फिनी को योगतारा मानते हैं। कोलब्रूक के मत में भी योगतारा[1] यही है। ईसवी सन् १८८७ में मैंने इसका सूक्ष्मभोग निकाला था। व; १० राशि १५ अंश ४८ कला २६ विकला आता है[2] अर्थात् ६ राशि से ४५ अंश ४८ कला बढ़ जाता है। सम्पातगति यदि प्रतिवर्ष ५० विकला मानें तो इतनी वृद्धि होने में ३२६७ वर्ष लगेंगे। इसमें से १८८७ घटा देने से ईसवी सन् पूर्व १४१० में धनिष्ठा का भोग ६ राशि आता है। इससे सिद्ध हुआ कि उस वर्ष धनिष्ठा के आरम्भ में उत्तरायण हुआ था । इस प्रकार वेदाङ्गज्योतिष का यही समय निश्चित होता है। प्रो० ह्विटनी के मतानुसार योगतारा बीटाडेल्फिनी मान लेने से ७२ वर्ष आगे आना पड़ेगा, अर्थात् वेदाङ्गज्योतिष का रचनाकाल ई० स० पूर्व १३३८ मानना होगा। धनिष्ठा नक्षत्र के सब तारे एक अंश के भीतर हैं अतः यह समय न्यून या अधिक नहीं किया जा सकता। सामान्यतः ई० स० पूर्व १४०० मानना ठीक होगा। कोलब्रूक इत्यादि लिखते हैं कि "सन् ५७२ के लगभग रेवतीतारा सम्पात में था, अर्थात् उस समय विभागात्मक उत्तराषाढ़ा के प्रथम चरण के अन्त में उत्तरायण होता था। वेदाङ्गज्योतिष में धनिष्ठा के आरम्भ में बताया है अतः दोनों में २३ अंश २० कला अन्तर पड़ा। सम्पातगति प्रतिवर्ष ५० विकला मानने से इतना अन्तर पड़ने में १६८० वर्ष लगेंगे अतः ई० स० पूर्व (१६८०–५७२=११०८ के लगभग धनिष्ठारम्भ में उत्तरायण होता था" परन्तु विभागात्मक धनिष्ठारम्भ में उत्तरायणारम्भ मानकर लाया हुआ यह समय वास्तव समय से ३०० वर्ष आगे चला आया। वस्तुतः धनिष्ठा के प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले तारों से गणना करनी चाहिए।

१. पण्डित बापूदेव शास्त्री ने सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद में इसी को योगतारा माना है (Bibliothika Indica New series. No 1. 1860) परन्तु मालूम होता है अपने पञ्चाङ्ग में वे बीटाडेल्फिनी को मानते हैं। उनका यह मतभेद पीछे शायद ह्विटनी के अनुकरण से हुआ होगा। प्रो० ह्विटनी बीटाडेल्फिनी को ही योगतारा मानते हैं। (सूर्यसिद्धान्त का बर्जेसकृत अनुवाद पृ० २११ देखिए) । इसका भोज आल्फा-डेल्फिनी से १ अंश कम है।

२. केरोपन्त ने ग्रहसाधनकोष्ठक में सन् १८५० का भोग १०।२१।१७ लिखा है पर वह अशुद्ध है। उसके स्थान में १०।१५।१७ होना चाहिए।

३. सम्पातगति क्रमशः थोड़ी-थोड़ी बढ़ रही है। ई० स० पूर्व १४०० के आसपास कदाचित् ५० विकला से कम रही होगी। ४८ विकला मानने से उपर्युक्त सभी समय

गणित द्वारा निश्चित किया हुआ वेदाङ्गज्योतिष का उपर्युक्त रचनाकाल बिलकुल निःसंशय है परन्तु कुछ यूरोपियन पण्डित कहते हैं कि भाषासरणी इत्यादि का अवलोकन करने से वह इतना प्राचीन नहीं मालूम होता। जहां तक हो सकता है ये लोग हमारे ग्रन्थों को नवीन सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। मोक्षमूलर ने एक जगह इसे ई० स० पूर्व तृतीय शताब्दी का बताया है और प्रो० वेबर को तो यहां तक सन्देह है कि यह ईसवी सन् की पांचवीं शताब्दी में बना है, अतः इसका थोड़ा विचार करेंगे।

वराहमिहिर लिखते हैं—

आश्लेषार्धाद्दक्षिणमुत्तरमयनं रवेर्धनिष्ठाद्यम्।
नूनं कदाचिदासीद्येनोक्तं पूर्वशास्त्रेषु ॥१॥
साम्प्रतमयनं सवितुः कर्कटकाद्यं मृगादितश्चान्यत्।
उक्ताभावो विकृतिः प्रत्यक्षपरीक्षणैर्व्यक्तिः ॥२॥
बृहत्संहिता ३ अध्याय

आश्लेषार्धादासीद्यदा निवृत्तिः किलोष्णकिरणस्य।
युक्तमयन तदासीत् साम्प्रतमयनं पुनर्वसुतः ॥
पञ्चसिद्धान्तिका।

यहां वेदाङ्गज्योतिषोक्त अयनप्रवृत्ति का वर्णन करते हुए वराहमिहिर लिखते हैं कि प्राचीन शास्त्रों में ऐसा कहा है। इससे मालूम होता है कि उनके समय (शके ४२७) वेदाङ्गज्योतिष बहुत प्राचीन समझा जाता था।

वराहमिहिर ने पञ्चसिद्धान्तिका में पितामहसिद्धान्त का कुछ गणित लिखा है। लेखनशैली से ज्ञात होता है कि उनके समय वह अत्यन्त प्राचीन हो जाने के कारण निरुपयोगी हो गया था। ब्रह्मगुप्त ने भी लिखा है—

ब्रह्मोक्तं ग्रहगणितं महता कालेन यत् खिलीभूतम् ॥
ब्रह्मसिद्धान्त, १ अध्याय, २ आर्या

इससे सिद्ध होता है कि पितामहसिद्धान्त वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त के बहुत पहिले बना था। मैंने द्वितीय भाग में दिखलाया है कि पितामहसिद्धान्त का

लगभग १३५ वर्ष पीछे चले जायेंगे। कोलब्रुक इत्यादिकों की रीति से लाया हुआ इस समय (ई० स० पूर्व ११०८) उनके निश्चित किये हुए समय से किञ्चित् भिन्न है। सम्पातगति न्यूनाधिक मानने से तथा रेवतीतारा सम्पातस्थ होने के समय में मतभेद होने के कारण यह अन्तर पड़ा है।

वेदाङ्गज्योतिषपद्धति से कुछ साम्य है, अतः वेदाङ्ग ज्योतिष भी अत्यन्त प्राचीन होना चाहिए।

ऊपर गर्गाचार्य के कुछ श्लोक लिखे हैं। उनसे ज्ञात होता है कि गर्ग के समय वेदाङ्गज्योतिषपद्धति का बड़ा महत्व था।

पराशर का वचन है—

श्रविष्ठाद्यात् पौष्णार्धं चरतः शिशिरो वसन्तः।
बृहत्संहिता ३. १ भटोत्पलटीका।

इसमें भी वेदाङ्गज्योतिषोक्त अयनप्रवृत्ति का वर्णन है। इससे सिद्ध होता है कि वेदाङ्गज्योतिष गर्ग ओर पराशर से प्राचीन है। उनकी संहिताओं में वेदाङ्ग-ज्योतिषपद्धति मिलती अवश्य है, परन्तु मालूम होता है उस समय उत्तरायण ठीक धनिष्ठारम्भ में नहीं होता था। उसमें कुछ अन्तर पड़ गया था।

भटोत्पल ने बृहत्संहिता के तृतीयाध्याय में "अप्राप्तमकर" श्लोक की टीका में गर्ग का निम्नलिखित वचन उद्धृत किया है—

यदा निवर्ततेऽप्राप्तः श्रविष्ठामुत्तरायणे।
आश्लेषां दक्षिणेऽप्राप्तस्तदा विन्द्यान्महद्भयम्॥

इसी प्रकार पराशर का भी वचन लिखा है। इससे विदित होता है कि वेदाङ्ग-ज्योतिष गर्ग और पराशर से बहुत पहिले बन चुका था। इन गर्ग और पराशर का समय निश्चित करना बड़ा कठिन है, परन्तु महाभारत में गर्ग नाम के ज्योतिषी बड़े प्रसिद्ध हैं (गदापर्व, अध्याय ८, श्लोक १४ तथा आगे के श्लोकों को देखिए)। पातञ्जलिमहाभाष्य में भी गर्ग का नाम अनेकों बार आया है। पाणिनीय में भी गर्ग और पराशर के नाम आये हैं (४।३।११०, ४।१०।१०५)। इससे सिद्ध हुआ कि गर्ग और पराशर पाणिनि से प्राचीन हैं और वेदाङ्गज्योतिष उनसे भी प्राचीन है। डा० भाण्डारकर के मतानुसार पाणिनि का समय ई० स० पूर्व सातवीं शताब्दी का आरम्भ काल है। कैलासवासी कुंटे ने ई० स० पूर्व नवीं शताब्दी का आरम्भ बताया है। पाणिनीय में संवत्सर और परिवत्सर शब्द आये हैं (५।१।९२)। वेदाङ्गज्योतिषोक्त आढ़क और तत्कालीन खारी इत्यादि मान भी पाणिनि के समय प्रचलित थे (५।१।५३ इत्यादि)। इन सब हेतुओं से भी यही अनुमान होता है कि वेदाङ्गज्योतिष पाणिनि से प्राचीन है।

एक और उल्लेखनीय बात यह है कि ऐतरेयब्राह्मण और तैत्तिरीय संहिता ब्राह्मणोक्त विषुवान् दिवस जो कि बड़ा महत्वशाली पदार्थ है, उसे लाने की रीति वेदाङ्ग-

ज्योतिष की भाँति अन्य किसी ज्योतिषग्रन्थ में जानबूझ कर नहीं बतायी है। दूसरी बात यह कि वेदाङ्गज्योतिष का मुख्य उद्देश्य पर्वज्ञान करना है, अतः वह उस समय बना होगा जब कि भारत में वेदोक्त यज्ञमार्ग पूर्ण प्रचलित था। भाषा की दृष्टि से 'यथा शिखा मयूराणां' इत्यादि कुछ श्लोक कदाचित् अर्वाचीन हों परन्तु सब श्लोकों के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता।

मार्टिन हौ ने अपने वेद विषयक व्याख्यान में लिखा है कि "वेदाङ्गज्योतिष (ऋ० श्लो० ७) में धर्म शब्द दिवस अर्थ में आया है परन्तु धर्म शब्द का इस भाँति प्रयोग पाणिनि के पूर्व यास्काचार्य के समय भी बन्द था। श्रौतस्मार्त सूत्र ईसवी सन् पूर्व १२०० से ६०० पर्यन्त बने। वेदाङ्गज्योतिष भी उसी समय बना होगा।" ज्योतिष की परिभाषाओं का विचार करने से ज्ञात होता है कि वेदाङ्गज्योतिष को अर्वाचीन कहना निराधार है। 'वेद चार हैं' इस प्रकार संख्या इत्यादि का निर्देश करने के विषय में उसकी भाषा अन्य ज्योतिष ग्रन्थों से बिलकुल भिन्न है।

प्रो० वेबर का कथन है कि "वेदाङ्गज्योतिष में नक्षत्रों के नाम अर्वाचीन ग्रन्थों के हैं और मेषादि राशियों के नाम भी आये हैं।" राशि शब्द जिस श्लोक में आया है उसका अर्थ मैंने ऊपर लिखा है। वेदाङ्गज्योतिष में राशियों के नाम तो नहीं ही हैं पर नक्षत्रों के भी अर्वाचीन नाम नहीं हैं। नक्षत्रों में से स्पष्टतया ऋक्पाठ में केवल श्रविष्ठा का नाम आया है। वह भी अर्वाचीन ग्रन्थोक्त धनिष्ठा नहीं है। यजुःपाठ के ३३वें श्लोक में नक्षत्रों के ६ नाम हैं। उनमें अश्वयुक् प्राचीन है। नवीन अश्विनी शब्द नहीं आया है। शेष प्राचीन और नवीन नाम समान ही हैं। ऋक्पाठ के १४वें श्लोक में नक्षत्र चिह्नों द्वारा बतलाये हैं। उनमें अश्वयुक् और शतभिषक् दो नाम ऐसे हैं जिनमें प्राचीन और नवीन का भेद पहिचाना जा सकता है। ये दोनों प्राचीन हैं। एक नाम श्रवण भी है। यद्यपि तैत्तिरीयब्राह्मण की भाँति यहां श्रोणा शब्द नहीं आया है तथापि श्रवण नाम अथर्वसंहिताकाल और पाणिनिकाल में भी प्रचलित था (पाणिनीय ४।२।५, ४।२।२३)। अतः वेबर का कथन बिलकुल हेय है और गणित द्वारा जो समय लाया गया है वही वेदाङ्गज्योतिष का ठीक रचनाकाल है।

रचनास्थल

अब वेदाङ्गज्योतिषोक्त दिनमान के स्थान का विचार करेंगे। ऋक्पाठ के ७वें और २२वें श्लोकों से दिनमान की दैनन्दिन वृद्धि ४/६१ घटी और अयनान्त के समय दिन-

मान २४ या ३६ घटी आता है। इस प्रकार रवि की परमक्रान्ति के समय दिनार्ध १२ या १८ घटी और चरसंस्कार ३ घटी हुआ। ई० सं० पूर्व १४०० के लगभग रवि की परम क्रान्ति २३ अंश ५३ कला थी (केरोपन्ती ग्रहसाधनकोष्ठक का पृ० ५५ देखिए)। हमारे ज्योतिष ग्रन्थकार परम क्रान्ति २४ अंश मानते हैं। यहां दोनों के अनुसार अक्षांश लावेंगे। उसकी रीति इस प्रकार है—

चरभुजज्या × क्रान्तिकोस्पर्शरेखा।
=अक्षांशस्पर्शरेखा।
चर ३ घटी=१८ अंश।
१८° भुजज्या लाग्रथम् ९·४८९९८२
२४° को स्प० रे० लाग्रथम् १०·३५१४१७
३४° । ४५° ८ स्प० रे०= ९·८४१३९९

१८° भुजज्या लाग्रथम् ९·४८९९८२
२३°।५३ कोस्प० ला० १०·३५३८०१
३४°।५४.६ स्प० रे०= ९·८४३७८३

इससे मालूम होता है कि वेदाङ्गज्योतिषोक्त दिनमान ३४।४६ या ३४।५५ अक्षांशवाले स्थल के आसपास का है। दिनमान की वृद्धि सर्वदा एक रूप मानकर ऊपर उसकी दैनन्दिन वृद्धि $\frac{४}{६१}$ घड़ी बतायी है, पर वस्तुतः ऐसा नहीं होता। अयनसन्धि के पास दिनमान की वृद्धि बहुत कम और विषुवसन्धि के पास बहुत अधिक होती है। ३५ अक्षांशवाले प्रदेश में अयनसन्धि के समय दिनमान दो दिनों में अधिकाधिक $\frac{१}{६१}$ घटी बढ़ता है पर विषुवसन्धि के समय एक ही दिन में लगभग $\frac{५\frac{१}{२}}{६१}$ घटी बढ़ जाता है।

(अयनचलन)

वेदाङ्गज्योतिष में युगारम्भ उत्तरायणारम्भ में बतलाया है और धनिष्ठारम्भ में भी। इससे विदित होता है कि उस समय अयनचलन का ज्ञान नहीं था।

वेदाङ्गज्योतिषोक्त वर्षादिकों के मान अगले पृष्ठ के कोष्ठक में लिखे हैं।

युग में	संवत्सर	विषुवान्	ऋत्वारम्भ	क्षयतिथि
		वैशाख	माघ शुक्ल १	चैत्र शुक्ल २
सौरमास	संवत्सर	शुक्ल ३	चैत्र शुक्ल ३	ज्येष्ठ शु० ४
६०	३५५	कार्तिक	ज्येष्ठ शु० ५	श्रावण शु० ६
चान्द्रमास	दिन	शुक्ल ९		
६२				
अधिमास			श्रावण शु० ७	आश्विन शु० ८
२				
सावनदिन			आश्विन शु० ९	मार्गशी. शु० १०
१८३०				
			मार्गशी. शु० ११	
तिथि			माघ शु० १३	माघ शु० १२
१८६०	परिवत्सर	वैशाख		
क्षयतिथि			चैत्र शु० १५	चैत्र शु० १४
३०	३५४	शुक्ल १५		
			ज्येष्ठ कृ० २	ज्येष्ठ कृ० १
नाक्षत्रमास	दिन	पूर्णिमा		
६७			श्रावण कृ० ४	श्रावण कृ० ३
नक्षत्र				
१८०९		कार्तिक	आश्विन कृ० ६	आश्विन कृ० ५
वृद्धनक्षत्र		कृष्ण ६		
२१			मार्गशी. कृ० ८	मार्गशी. कृ० ७

संवत्सर	विषुवान्	ऋत्वारम्भ	क्षयतिथि
		माघ कृ० १०	माघ कृ० ९
इदावत्सर	वैशाख	चैत्र कृ० १२	चैत्र कृ० ११
३८४	कृष्ण १२	ज्येष्ठ कृ० १४	ज्येष्ठ कृ० १३
		श्रावण शु० १	अ० श्राव० ३०
	कार्तिक शु० तृतीया	आश्विन शु० ३	आश्विन शु० २
		मार्गशीर्ष शु० ५	मार्गशीर्ष शु० ४
		माघ शु० ७	माघ शुक्ल ६
अनुवत्सर	वैशाख	चैत्र शुक्ल ९	चैत्र शु० ८
३५४	शुक्ल ९	ज्येष्ठ शुक्ल ११	ज्येष्ठ शुक्ल १०
		श्रावण शुक्ल १३	श्रावण शु० १२
	कार्तिक शुक्ल	आश्विन शु० १५	आश्विन शु० १४
	पूर्णिमा १५	मार्गशीर्ष कृ० २	मार्ग कृ० १

संवत्सर	विपुवान्	ऋत्वारम्भ	क्षयतिथि
इद्वत्सर	वैशाख	माघ कृष्ण ४	माघ कृ० ३
३८३	कृष्ण ६	चैत्र कृ० ६	चैत्र कृ० ५
		ज्येष्ठ कृ० ८	ज्येष्ठ कृ० ७
	कार्तिक	श्रावण कृ० १०	श्रावण कृ० ९
	कृष्ण १२	आश्विन कृ० १२	आश्विन कृ० ११
			मार्गशीर्ष कृ० १३
		मार्गशीर्ष कृ० १४	
			अधि० माघ कृ. ३०
१८३०	१०	३०	३०

युगान्तर्गत अयनों के आरम्भकाल पीछे पृष्ठ में लिखे हैं। इस कोष्ठक में युग की ३० ऋतुओं के आरम्भ दिन लिखे हैं। इनमें से प्रत्येक दो-दो ऋत्वारम्भ कालों के बीच में एक सौरमास आरम्भ होता है। इस प्रकार ६० मासारम्भ होते हैं। यही पांच वर्षों की ६० सूर्य संक्रान्तियां हैं। युगादि से ३० चान्द्रमास बीतने पर तृतीय वर्ष के आषाढ़ और श्रावण के मध्य में एक अधिमास होता है और इसके बाद पुनः ३० चान्द्र-मास व्यतीत होने पर पांचवें वर्ष में पौष के बाद दूसरा अधिमास आता है। इस प्रकार प्रत्येक युग में श्रावण और माघ अधिमास होते हैं। एक युग में १८३० सावन दिन और १८६० तिथियां होती हैं, इसलिए क्षयतिथियां ३० मानी जाती हैं। युग में चन्द्रमा की ६७ प्रदक्षिणा होती है, इसलिए नक्षत्र (६७ × २७) १८०९ होते हैं अर्थात् १८३० सावनदिनों में २१ नक्षत्रों की वृद्धि होती है। नक्षत्रों का आरम्भ श्रविष्ठा से होता है, उनके नाम ऊपर ऋग्वेदज्योतिष के २५-२७ श्लोकों में लिखे हैं। वेदाङ्गज्योतिषपद्धति में सूर्य और चन्द्रमा की गति सर्वदा एकरूप मानी गयी है। इसी को अन्य ज्योतिष ग्रन्थों में मध्यम गति कहते हैं। मध्यम तिथि का मान सावन दिन से छोटा होने के कारण तिथि की वृद्धि कभी नहीं होती और मध्यम नक्षत्र का मान सावन दिन से बड़ा होने के कारण नक्षत्र का क्षय भी कभी नहीं होता।

पंचांग

उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि वेदाङ्गज्योतिषपद्धति के अनुसार एक बार यदि पांच वर्ष का पञ्चाङ्ग बना लिया जाय तो वही प्रत्येक युग में काम दे सकेगा। ग्रन्थ विस्तार होने के भय से यहां पञ्चाङ्ग नहीं बनाया, पर उसकी मुख्य बातें ऊपर बतला दी हैं।

अब यह विचार करेंगे कि वेदाङ्गज्योतिषोक्त वर्षादि मानों में त्रुटि कितनी है।

	वेदाङ्गज्योतिष	सूर्यसिद्धान्त	आधुनिक यूरोपियन मान
युगीय सावनदिन	१८३०	१८२६.२९३८	१८२६.२८१९ (नाक्षत्रसौर)
६२ चान्द्रमासों के दिन	१८३०	१८३०.८९६१	१८३०.८९६४
९५ वर्षों में सावन दिन	३४७७०	३४६९९.५८	३४६९९.३६ (नाक्षत्र सौरवर्ष) ३४६९८.०३ (सायन सौरवर्ष)[1]
११७८ चान्द्रमासों में दिन	३४७७०	३४७८७.०३	३४७८७.०३

१. ई० स० पूर्व लगभग १४०० के सायन वर्षमान द्वारा यह संख्यालायी गयी है।

इससे विदित होता है कि चान्द्रमास के मान में बहुत थोड़ी और सौरवर्ष के मान में अधिक[1] अशुद्धि है। अतः अयनारम्भ यदि एक बार माघ शुक्ल प्रतिपदा को हुआ तो द्वितीय युग के आरम्भ में लगभग ४ दिन पहिले होगा और ९५ वर्षों में लगभग ७२ दिन पहिले होने लगेगा। यद्यपि चान्द्रमास में अशुद्धि कम है, तो भी ५ वर्षों में लगभग ५४ घटी की कमी पड़ जाती है। अतः वेदाङ्गज्योतिषपद्धति के अनुसार अमावस्या और पूर्णिमा मानने से उनमें ५ वर्षों में लगभग एक दिन का अन्तर पड़ जायगा में अयन सम्बन्धी अशुद्धि शीघ्र ध्यान में नहीं आती परन्तु अमावस्या और पूर्णिमा की स्थिति ऐसी नहीं है। अतः गणित में सौकर्य होने के लिए युग में १८३० मानते हुए भी उस समय पूर्णिमा का ज्ञान चन्द्रमा की प्रत्यक्ष स्थिति द्वारा ही करते रहे होंगे। यह पद्धति भी १८३१ दिन मानने के समान ही हुई। ९५ वर्षों में ३८ अधिमास मिला कर ११७८ चान्द्रमास ग्रहण करने से वास्तविक दिनसंख्या ३४७८७ होगी। वेदाङ्गज्योतिषानुसार भी कम से कम ३४७७० अवश्य ही होगी अर्थात् पहिली माघ शुक्ल प्रतिपदा के इतने दिनों बाद ९६वें वर्ष की माघ शुक्ल प्रतिपदा आवेगी। अतः ९५ वर्षों का वास्तव सायन सौरमास ३४६९८ दिन होने के कारण वेदाङ्गज्योतिषपद्धति के अनुसार ९६वें वर्ष की जो माघ शुक्ल प्रतिपदा होगी उसके लगभग ८९ दिन या कम से कम ७२ दिन पहिले उत्तरायण होगा। इस प्रकार यहां लगभग ३ या २½ चान्द्रमासों का अन्तर पड़ता है। वेदाङ्गज्योतिषपद्धति में ९५ वर्षों[2] में ३८ अधिमास होते हैं। उसके स्थान में ३५ मान लेने से यह अन्तर नहीं पड़ेगा। यदि ऐसा नहीं करेंगे तो ३०० वर्षों में ३ ऋतुओं का अन्तर पड़ जायगा। यह बहुत अधिक है।

जिस पद्धति में इतनी अशुद्धि है उसका बहुत समय तक सर्वत्र प्रचलित रहना असम्भव है। अतः यह अनुमान करना ही पड़ता है कि वेदाङ्गज्योतिषपद्धति बहुत समय तक सर्वत्र प्रचलित नहीं रही होगी। इस पद्धति से अधिक मास, क्षयतिथि और नक्षत्र-

१. श्री विसाजी रघुनाथ लेले का कथन यह है कि 'यूरोपियन ज्योतिषी भी यह स्वीकार करते हैं कि वर्षमान उत्तरोत्तर कम होता जा रहा है।' अतः सम्पात के इसके पहिलेवाले चक्र में अर्थात् २८ सहस्र वर्ष पूर्व वेदाङ्गज्योतिष बना होगा और उस समय वर्षमान सचमुच ३६६ दिनों का रहा होगा।

२. यहाँ वर्षसंख्या ९५ मानने का कारण यह है कि इससे कम दूसरी कोई ऐसी संख्या नहीं है जिसमें वेदाङ्गज्योतिषपद्धति और आधुनिक सूक्ष्मपद्धति दोनों से अधिक मास संख्या पूर्ण आती हो। वेदाङ्गज्योतिषपद्धति से ९५ वर्षों में अधिमास ३८ आते हैं और आधुनिक सूक्ष्म पद्धति से लगभग ३५।

वृद्धियां सर्वदा एक ही होती हैं और इन बातों का धार्मिक कृत्यों में बड़ा महत्व है। अधिमास तो वेदों में भी निन्द्य माना हुआ दीखता है, अतः वेदाङ्गज्योतिष-पञ्चाङ्ग सर्वत्र अथवा अधिकांश प्रदेशों में बहुत समय तक प्रचलित रहा होता तो उसके नियमित अधिमासादिकों का उल्लेख सूत्रादि ग्रन्थों में कुछ-न-कुछ अवश्य होता परन्तु ऐसा नहीं है। इससे अनुमान होता है कि इसका प्रचार देश के कुछ ही भागों में कुछ समय तक रहा होगा। इस बात का पोषक एक और भी प्रमाण यह है कि वेदाङ्गज्योतिषोक्त दिनमानवृद्धि लगभग ३४ अक्षांशवाले प्रदेशों ही में लागू होती है। परन्तु इन सब बातों से यह न समझना चाहिए कि वेदाङ्गज्योतिष का रचनाकाल ई० स० पूर्व १४०० से भिन्न होगा। तैत्तिरीयश्रुति में संवत्सरों के नाम कहीं चार कहीं पांच और कहीं छः हैं। इसका कारण हमें यह मालूम होता है कि उस समय वेदाङ्गज्योतिष की पञ्च-संवत्सरात्मक पद्धति का पूर्ण प्रचार नहीं हुआ था। पांच वर्षों के बाद उन्हें सामान्यतः यह दिखलाई पड़ा होगा कि पहिले जिन चान्द्रमासों में अयनारम्भ होता था उन्हीं में अब भी हो रहा है। उस समय पांच संवत्सरों के नाम पड़े होंगे परन्तु आगे चलकर जब उसमें अन्तर दिखलाई पड़ा होगा तब कभी चार और कभी छः संवत्सरों का युग माना गया होगा। कुछ दिनों तक व्यवहार में किसी भी युग का प्रचार न रहा होगा। उसके कुछ समय बाद वर्ष में ३६६ दिन मानने से पञ्चवर्षात्मक युग के गणित में सरलता देखकर वेदाङ्गज्योतिषकार ने उसका प्रचार किया होगा और उसकी पद्धति बनायी होगी परन्तु आगे चलकर वह पद्धति बहुत शीघ्र ही छोड़ देनी पड़ी होगी अथवा बिलकुल न छोड़ कर योग्य स्थान में अधिमास मिलाकर अर्थात् लगभग ९५ वर्षों में ३८ नहीं बल्कि ३५ अधिमास मान कर पूर्वापर संगति लगाते हुए उक्त पद्धति स्वीकार की गयी होगी। धर्मकृत्यों का विधान प्रायः चान्द्रमास के अनुसार होने के कारण हमारे यहां अनादिकाल से ही सर्वदा उसका प्रचार रहा है और इस पद्धति में एक बड़ा सुभीता यह है कि चान्द्रमासों में अधिक मास का उचित स्थान में प्रक्षेपण करते हुए सौरमासों से उनका मेल रखा जा सकता है। मैंने अपना यह अनुमान प्रथम विभाग में लिखा ही है कि वेदकाल में भी यही पद्धति प्रचलित रही होगी। लगभग १००० वर्षों तक उत्तरायण धनिष्ठा में ही रहा होगा। अधिक मास मिलाने का नियम बदलने, युगारम्भ-कालीन माघारम्भ में धनिष्ठा में उत्तरायण लाने और, पांच संवत्सरों के नाम स्थिर रखने की पद्धति कई शताब्दियों तक प्रचलित रहने में कोई अड़चन नहीं दिखलाई देती। सारांश यह कि वेदाङ्गज्योतिषपद्धति अपने मूल स्वरूप से च्युत हो जाने पर भी कुछ भिन्न रूप में बहुत दिनों तक चलती रही होगी। यही कारण है कि गर्गादिकों के लेखों में इसके उल्लेख मिलते हैं। साठ संवत्सरों का बार्हस्पत्यसंवत्सरचक्र पञ्चवर्षात्मक

युगपद्धति के अनुकरण द्वारा ही उत्पन्न हुआ है। इसका अधिक विवेचन दूसरे विभाग में किया जायगा। मालूम होता है वेदाङ्गत्व प्राप्त होने के कारण इस पद्धति का महत्व बहुत बढ़ गया था। इसे वेदाङ्गत्व कब प्राप्त हुआ यह निश्चित रूप से तो नहीं बतलाया जा सकता परन्तु अनुमानतः इसकी उत्पत्ति के बाद २०० वर्षों के भीतर अर्थात् धार्मिक और व्यावहारिक कार्यों में इसके मूल स्वरूप का निरुपयोगित्व दिखाई देने के पहिले ही ऐसा हुआ होगा। वराहमिहिर ने यद्यपि इसे कहीं वेदाङ्ग नहीं कहा है तथापि अपने समय में यह (वेदाङ्गज्योतिषपद्धति) वेदाङ्ग अवश्य रही होगी।

ब्रह्मगुप्त (शके ५५०) ने एक जगह लिखा है—

युगमाहुः पञ्चाब्दं रविशशिनोः संहिताङ्गकारा ये।
अधिमासावमरात्रस्फुटतिथ्यज्ञानतस्तदसत् ॥२॥

ब्र० सि० अ० ११

यहां अङ्ग शब्द वेदाङ्गज्योतिष के ही उद्देश्य से कहा हुआ जान पड़ता है। आजकल भी इसे वेदाङ्ग मानते ही हैं।

अपपाठ

निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वेदाङ्गज्योतिष के ऋक्पाठ में अशुद्धियों का प्रवेश कब हुआ परन्तु वराहमिहिर के 'पञ्चाशत्पलमाढ़कं' तथा भटोत्पल के 'चतुर्भिराढ़कैर्द्रोणः' वाक्य से प्रतीत होता है कि उनके समय तक (शके ४२७ और ८८८) अशुद्धियां प्रविष्ट नहीं हुई थीं। भटोत्पल ने बृहत्संहिता के ८वें अध्याय के उपान्त्य श्लोक की टीका में ऋक्पाठ के ३२वें श्लोक का उत्तरार्ध लिखा है। मेरे पास की हस्तलिखित प्रति में वह इस प्रकार है—

युगस्य पञ्चमस्येह कालज्ञानं निबोधत ॥

इसमें 'पञ्चमस्य' पाठ अशुद्ध है। उसके स्थान में 'पञ्चवर्षस्य' होना ही चाहिए। आधुनिक वैदिक पाठ में 'निबोधत' के स्थान में 'प्रचक्षते' है। यजुःपाठ में भी 'निबोधत' नहीं है। यदि भटोत्पल का मूल शब्द 'निबोधत' ही हो तो कहना पड़ेगा कि सम्प्रति बिल्कुल निश्चित समझा जानेवाला वैदिक पाठ शके ८८८ पर्यन्त निश्चित नहीं हुआ था। परन्तु कुछ और प्रमाण मिले बिना यह अनुमान निःसन्देह नहीं कहा जा सकता।

प्रधान पाठ

वराहमिहिर और भटोत्पल द्वारा उद्धृत उपर्युक्त वाक्य ऋक्पाठ के १७वें श्लोक में है। इन्हीं अर्थों का सूचक यजुःपाठ का २४वां श्लोक भी ऊपर लिखा है,

परन्तु उसकी शब्दरचना बिलकुल भिन्न है। इससे ज्ञात होता है कि वैदिक लोग आजकल जो ऋग्ज्योतिष पढ़ते हैं वही वराहमिहिर और भटोत्पल के समय भी शुद्ध रूप में प्रचलित रहा होगा। यजु:पाठ का प्रचार नहीं रहा होगा। कम से कम ऋक्पाठ का उस समय प्राधान्य तो अवश्य रहा होगा। आर्यभटीय के टीकाकार सूर्यदेव यज्वन् ने वेदाङ्गज्योतिष के दो श्लोक टीका में लिखे हैं (डा० केर्न के आर्यभटीय की प्रस्तावना देखिए)। ये ऋग्ज्योतिष के ३५वें और ३६वें श्लोक हैं। इनका क्रम भी ऋक्पाठ के अनुसार ही है। यजु:पाठ में ये क्रमशः चतुर्थ और तृतीय श्लोक हैं। टीका के पूर्वापर सन्दर्भ से मालूम होता है कि वहां प्रथम या अन्तिम श्लोक अभीष्ट था। इससे सूर्यदेव के समय भी ऋक्पाठ का ही प्राधान्य सिद्ध होता है। सूर्यदेव यज्वन् का समय ज्ञात नहीं है, पर वे भटोत्पल से नवीन होंगे।

सूर्यदेव के इसी उल्लेख में ३५वें श्लोक के उत्तरार्ध में 'तद्वत्' के स्थान में 'तथा' पाठ है, परन्तु वह ऋक् और यजु दोनों में भी नहीं मिलता। अतः यह पाठ यदि मूलतः सूर्यदेव का ही है तो कहना पड़ेगा कि सूर्यदेव के समय कम से कम उनके प्रान्त में आजकल की तरह वैदिक पाठ निश्चित नहीं हुआ था।

वराहमिहिर भटोत्पल और सूर्यदेव यज्वन् को यजु:पाठ मालूम था या नहीं, इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता परन्तु यजु:पाठ प्राचीन अवश्य है क्योंकि उसमें ऋक्पाठ के ६ ही श्लोक नहीं हैं और उसमें भी महत्व के केवल तीन श्लोक १३, १९ और ३३ नहीं हैं। दूसरी बात यह कि ऋक्पाठ की अपेक्षा उसमें १३ श्लोक अधिक हैं। तदन्तर्गत विषयों से बिलकुल स्पष्ट है कि ये श्लोक तभी के हैं जब कि वेदाङ्गज्योतिषपद्धति प्रज्वलित थी। हो सकता है लगध के ही हों। यजु:पाठ के ३९वें श्लोक में बतलाये हुए उग्र और क्रूर नक्षत्र अन्य ज्योतिष ग्रन्थों से बिलकुल भिन्न हैं। इससे भी उस की प्राचीनता सिद्ध होती है। परन्तु लगध के मूल श्लोकों के अतिरिक्त कुछ नवीन श्लोक उसमें पीछे से मिश्रित हो गये होंगे क्योंकि इसके २४वें श्लोक की शब्दरचना ऋक्पाठ से बिलकुल भिन्न है। २१ वां श्लोक भी बहुत भिन्न है। दूसरी बात यह है कि दोनों पाठों में जिन श्लोकों का अर्थ नहीं लगा है उनमें से कुछ समानार्थक होंगे और मेरी समझ से कुछ कदाचित् परस्पर विरुद्ध अर्थ के भी होंगे।

वेदाङ्गज्योतिष के दोनों पाठों में श्लोकों का क्रम सुसंगत नहीं है। सब श्लोक विषयों की संगति के अनुसार रखे जायं तो उनका क्रम बहुत बदल जायगा। इससे अनुमान होता है कि आधुनिक क्रम की रचना पीछे से हुई होगी और सम्भवतः रचना के समय छ श्लोक बिलकुल छट गये होंगे। इस कथन की पुष्टि करनेवाला एक

दृढ़ प्रमाण यह है कि काष्ठा और अक्षर नामक परिमाण केवल एक ही श्लोक में लिखे हैं और उनका इतर परिमाणों से सम्बन्ध कहीं भी नहीं दिखाया है। उनका प्रयोग भी कहीं नहीं किया है। यह तो स्पष्ट है कि ये शब्द निष्प्रयोजन नहीं लिखे होंगे, अतः मानना पड़ता है कि इनसे सम्बन्ध रखनेवाले कुछ श्लोक लुप्त हो गये होंगे।

ग्रहगति

वेदाङ्गज्योतिष में केवल सूर्य और चन्द्रमा की गतियां बतायी हैं। ग्रहों के विषय में कुछ नहीं लिखा है। कुछ श्लोकों का अर्थ नहीं लगा है परन्तु हम निश्चयपूर्वक कहते हैं कि जिन श्लोकों का अर्थ लग चुका उनकी अपेक्षा अधिक महत्व का कोई विषय न लगे हुए श्लोकों में नहीं है।

मध्यमगति

सूर्य और चन्द्रमा की सर्वदा एकरूप रहनेवाली अर्थात् मध्यम गतियां बतायी हैं। वस्तुतः ये क्षण-क्षण में न्यूनाधिक हुआ करती हैं। इस कारण सूर्य की स्पष्टस्थिति लगभग २ अंश और चन्द्रमा की लगभग ८ अंश आगे पीछे हो जाती है। स्पष्टस्थिति और मध्यम स्थिति के भिन्नत्व (अन्तर) को ही फल संस्कार कहते हैं। इसका आनयन ज्योतिष का एक बड़ा महत्वशाली विषय है। मालूम नहीं, वेदाङ्गज्योतिष काल में इसका ज्ञान था या नहीं। ब्रह्मगुप्त की पृ० १३४ में लिखी हुई आर्या से उनका कथन ऐसा मालूम होता है कि उस समय स्पष्टस्थिति का ज्ञान नहीं था।

सूर्य चन्द्र की गतिस्थिति का सर्वदा सूक्ष्म अवलोकन और विचार किये विना उनकी मध्यम और स्पष्टस्थिति का भेद समझ में नहीं आ सकता। स्पष्ट गतिस्थिति का ज्ञान न होते हुए भी वेदाङ्गज्योतिषकाल में मध्यमस्थिति का ज्ञान था, यह बात भी भूषणास्पद ही है। ग्रहण पर्वान्त के आसपास होते हैं, यह मालूम रहने पर ही ग्रहण के समय उनके अन्तर का निरीक्षण किया जा सकता है। सूर्य या चन्द्रमा की एक प्रदक्षिणा आरम्भ होने के बाद कुछ प्रदक्षिणाएं समाप्त होने में जो समय लगता है उसकी गणना किये विना उनकी एक प्रदक्षिणा सम्बन्धी काल तथा दैनिक मध्यमगति का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः यह स्पष्ट है कि वेदाङ्गज्योतिष की रचना के पहिले लोगों ने इतना अनुभव अवश्य किया था। सूर्यदर्शन के समय उसके पास के नक्षत्र नहीं दिखाई देते। शायद इसी कारण सौरवर्ष के मान में अधिक अशुद्धि हुई।

मध्यम गति के कारण वेदाङ्गज्योतिष के अयनों और विषुव दिनों में १८३ का

और अयनदिन से विषुव दिन पर्यन्त ९१½ दिन का अन्तर है परन्तु ई० स० पूर्व १४०० के लगभग वे निम्नलिखित अन्तर से हुआ करते थे—

	दिन	घटी
उत्तरायण से प्रथम विषुव पर्यन्त	९१	५
प्रथम विषुव से दक्षिणायन पर्यन्त	९४	५
दक्षिणायन से द्वितीय विषुव पर्यन्त	९१	३०
द्वितीय विषुव से उत्तरायण पर्यन्त	८८	३५
	३६५	१५

ऋग्वेदज्योतिष में वर्ष अर्थ में केवल दो शब्द संवत्सर और वर्ष आये हैं। यजुर्वेदज्योतिष में इन दोनों के अतिरिक्त एक अब्द-शब्द भी है (श्लोक २८)। वेदों मे केवल शतपथ ब्राह्मण में इसके वर्ष और अब्द नाम आये हैं।

अमान्त मास

एक विशेष बात यह है कि इसमें मास अमान्त माना है।

आदिनक्षत्र

वेदाङ्गज्योतिष में आदि नक्षत्र धनिष्ठा है। ऋक्पाठ के २५, २६ और २७ श्लोकों में नक्षत्रों के देवता बतलाये हैं। वेद की भाँति यहां भी उनका आरम्भ कृत्तिका से ही है। महाभारत में धनिष्ठादि गणना का उल्लेख है। ६० और १२ वर्ष के बार्हस्पत्यसंवत्सरचक्रों का आरम्भ धनिष्ठा से है।

अङ्कगणित

वेदाङ्गज्योतिषकाल में पूर्णाङ्कों के परिकर्मचतुष्टय (योग, अन्तर, गुणा और भाग) तथा त्रैराशिक का ज्ञान था। इतना ही नहीं, ऋक्पाठ के श्लोक ७, १७, २२, १४, १६, १८ और यजुःपाठ के ३७वें श्लोक से ज्ञात होता है कि भिन्नपरिकर्मचतुष्टय का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। अपवर्तन (संक्षिप्त करना) की युक्तियों से मालूम होता है कि लोगों ने अङ्कगणित में अच्छा परिश्रम किया था।

लग्न

ऋक्पाठ के १९वें श्लोक में कहा है 'श्रविष्ठाभ्यां गुणाभ्यस्तान् प्राग्विलग्नान् विनिर्दिशेत्'। अन्य ज्योतिष ग्रन्थों में क्रान्तिवृत्त के क्षितिज से लगे हुए (प्राग्वि-

लग्न) भाग को तत्कालीन लग्न कहते हैं। इस श्लोक का भी यदि कुछ ऐसा ही अर्थ हो तो वह बड़े महत्व का होगा।

मेषादि राशियां

इसमें मेषादि १२ राशियां नहीं हैं। क्रान्तिवृत्त के १२ भाग मान कर तदनुसार ग्रहस्थिति लाने की पद्धति भी नहीं है। सूर्य और चन्द्रमा की स्थिति नाक्षत्रिक विभाग के अनुसार बतायी है।

सौरमास

मेषादि राशियों के न होते हुए भी सौरमास हैं। प्रत्यक्ष 'सूर्यमास' शब्द भी आया है। अनेकों जगह सौरमास और चान्द्रमास का सम्बन्ध स्पष्टतया दिखलाया है। ४½ सूर्यनक्षत्र अर्थात् दो सौरमासों की ऋतु बतलायी है। साथ ही साथ प्रत्येक ऋतु का आरम्भ चान्द्रमास की किस तिथि को होता है, यह भी बताया है। सूर्य-सिद्धान्तादि ग्रन्थों में चान्द्र और सौर मास के सम्बन्ध से अधिमासशेष लाने की जैसी रीति है वैसी ही इसमें भी है (ऋक्पाठ श्लोक २३)। सौरमासों के अलग नाम नहीं हैं अतः चैत्रादि नामों का ही प्रयोग उनके लिए भी होता रहा होगा। सम्प्रति बंगाल प्रान्त में सौरमास का प्रचार है, पर उनके नाम चैत्रादि ही हैं।

सूर्यसिद्धान्तादि ग्रन्थों के अहर्गण की भांति इसमें पर्वगण लाने की रीति बतायी है।

अब यहां एक और महत्व की बात बताकर इस प्रकरण को समाप्त करेंगे। वह बात यह है कि क्षेत्र विभाग सरीखे काल विभाग मानने की पद्धति वेदाङ्गज्योतिषकाल में स्थापित हुई थी। सूर्यसिद्धान्तादि ज्योतिष ग्रन्थों में कालविभाग और क्षेत्रविभाग (वृत्त के विभाग) का साम्य इस प्रकार है—

६० पल=घटी।	६० विकला=कला।
६० घटी=दिन।	६० कला=अंश।
३० दिन=मास।	३० अंश=राशि।
१२ मास=वर्ष।	१२ राशि=वृत्तपरिधि।
३६० दिन=वर्ष।	३६० अंश=वृत्तपरिधि।

इसमें कालविभाग और क्षेत्रविभाग एक ही पद्धति के या यों कहिए कि एक ही हैं। इसी प्रकार वेदाङ्गज्योतिष में नक्षत्र में ६१० कलाएं मानी गयी हैं। चन्द्रमा दिन-भर में इनमें से ६०३ कलाएं चलता है। ये दिन की कलाएं मानी हैं। (ऋक्पाठ

का १८वां और २१वां श्लोक देखिए) दिन की ६०३ कलाएं गणित में थोड़ी असुविधे की-सी दीखती हैं, पर नक्षत्र के सम्बन्ध से इनमें बड़ा सुभीता है। यह क्षेत्रानुरूप कालविभाग हुआ। १२४ पर्वों द्वारा नक्षत्र के १२४ अंशों की कल्पना की गयी है। यह कालविभागानुरूप क्षेत्रविभाग हुआ। यह पद्धति यदि वेदाङ्गज्योतिष में है और वेदकाल से लगातार प्रचलित वर्ष के ३६० दिन का भी वर्णन उसमें है तथा वर्ष के समान १२ विभाग अर्थात् १२ सौरमास, मास में ३० दिन, दिन में ६० घटी, ये कालमान भी हैं, तो क्या यह अनुमान नहीं होता कि इनके द्वारा सहज सूचित होनेवाली वृत्त के राश्यंशादि विभाग निश्चित करने की कल्पना भी उन्हीं भारतीय आर्यों की होनी चाहिए जिनके विषय में यह निर्विवाद सिद्ध है कि उन्होंने वेदाङ्गज्योतिषपद्धति की स्थापना स्वतः की है।

३. अथर्वज्योतिष

अथर्वज्योतिष में १६२ श्लोक और १४ प्रकरण हैं। इसे पितामह ने काश्यप से कहा है। इसमें आये हुए विषयों का यहां संक्षेप में वर्णन करेंगे।

सर्वप्रथम निम्नलिखित कालपरिमाण बताये हैं।
१२ निमेष=लव। ३० लव=कला। ३० कला=त्रुटि।
३० त्रुटि=मुहूर्त और ३० मुहूर्त=अहोरात्र।

इसके बाद १५ मुहूर्तों के नाम बतलाये हैं। द्वादशाङ्गुल[1] अङ्क की छाया के भिन्न-भिन्न प्रमाण ही उन मुहूर्तों की अवधियां हैं।

मुहूर्त	छायाङ्गुल	मुहूर्त	छायाङ्गुल
१ रौद्र	९६ परम	५ सावित्र	५
२ श्वेत	६०	६ वैराज	४
३ मैत्र	१२	७ विश्वावसु	३
४ सारभट	६	८ अभिजित्	

'यस्मिंश्छाया प्रतिष्ठिता' अर्थात् जिसमें छाया स्थिर हो जाती है, उसे अभिजित् मुहूर्त कहा है। मध्याह्न के बादके मुहूर्तों की छाया ऊपर लिखी हुई छाया के विपरीत अर्थात् उत्क्रम से होती है। मध्याह्न की छाया शून्य नहीं कही जा सकती पर वह तीन अंगुल से कम होगी। छाया द्वारा स्थलज्ञान करने का प्रयत्न किया जा सकता है, पर

१. यह एक बात ध्यान में रखने योग्य है कि सूर्यसिद्धान्तादि ग्रन्थों में छाया के लिए सर्वत्र द्वादशाङ्गुलशङ्कु ही लिया गया है और इस ज्योतिष में भी यही स्थिति है।

विश्वास नहीं होता कि ये अङ्गुलमान सूक्ष्मतया अवलोकन करके ही लिखे गये होंगे और दूसरी बात यह कि वर्ष-भर सर्वदा छाया भी समान नहीं रहती। और भी बहुत सी अड़चने हैं, अतः गणित में परिश्रम करने के बाद तदनुरूप कोई महत्व की बात निकलने की आशा नहीं है, इसलिए अथर्वज्योतिष के स्थलनिर्णय का विचार नहीं करते।

करण, भ्रमकाल

आगे बतलाया है कि रौद्र मुहूर्त में रौद्रकर्म और मैत्र में मैत्र कर्म करना चाहिए। चतुर्थ प्रकरण में तिथियों के करण बतलाये हैं। उनकी पद्धति वर्तमान सरीखी ही है। नाम भी ये ही हैं, पर स्थिर करणों में किंस्तुघ्न के स्थान में कौस्तुभ नाम है। हो सकता है, यह लेखक का प्रमाद हो। इसके बाद करणों के शुभाशुभत्व का विचार किया गया है अर्थात् अमुक करण में अमुक कर्म करने से शुभ फल होगा और अमुक कर्म करने से अशुभ। आजकल की भाँति उसमें विष्टि के मुखपुच्छादि का भी विचार किया है और उसी प्रसंग में घटिका नामक कालमान का भी वर्णन आया है। इसके बाद करणों के देवता बतलाये हैं। कौस्तुभ का देवता धनाधिप और वाणिज का मणिभद्र है। शेष देवताओं के नाम वेदोक्त ही हैं। इसके बाद तिथियों के शुभाशुभत्व का वर्णन है अर्थात् अमुकामुक तिथियों में अमुकामुक कर्म करने से अमुक-अमुक शुभ या अशुभ फल होते हैं। उस प्रसंग में तिथियों के नन्दा, भद्रा इत्यादि पांच नाम भी आये हैं।

चतुर्भिः कारयेत्कर्म सिद्धिहेतोर्विचक्षणः।
तिथिनक्षत्रकरणमुहूर्तैरिति नित्यशः।।

इस श्लोक में तिथि, नक्षत्र, करण और मुहूर्त, इन चार ही अङ्गों के नाम आये हैं। योग का नाम नहीं है परन्तु आगे कहा है—

तिथिरेक गुणा प्रोक्ता नक्षत्रञ्च चतुर्गुणम्।
वारश्चाष्टगुणः प्रोक्तः करणं षोडशान्वितम्।।९०।।
द्वात्रिंशद् योगस्तारा षष्टिसमन्विता।
चन्द्रः शतगुणः प्रोक्तस्तस्माच्चन्द्रबलाबलम्।।९१।।
समीक्ष्य चन्द्रस्य बला बलानि, ग्रहाः प्रयच्छन्ति शुभाशुभानि।

उपर्युक्त वाक्यों के पहिले कहा है 'न कृष्णपक्षे शशिनः प्रभावः।' इसमें मालूम होता है, उपर्युक्त श्लोक में चन्द्रमा के बलाबल का विचार केवल उसकी कलाओं द्वारा ही किया है।

आदित्यः सोमो भौमश्च तथा बुधबृहस्पती।
भार्गवःशनैश्चरश्चैव एते सप्तदिनाधिपाः।।९३।।

ये सात वारों के नाम हैं। अन्य श्लोकों में वारप्रसंग में ग्रहों के कुछ और नाम भी आये हैं। वे हैं सूर्य, लोहिताङ्ग, सोमसुत, देवगुरु, गुरु, भृगु, शुक्र और सूर्यसुत। १०० श्लोकों के बाद लिखा है।

अल्पग्रन्थं महार्थञ्च प्रवक्ष्यामि भृगोर्मतम्।

इसके बाद शेष ६२ श्लोक हैं। उनमें ज्योतिष की जातकशाखा का बीज है। अतः वह भाग बड़े महत्व का है। उनमें से कुछ श्लोक यहां उद्धृत करते हैं। पहिले नक्षत्रों के ९ विभाग किये हैं। वे हैं—

जन्म सम्पद्विपत्क्षेम्यः प्रत्वरः साधकस्तथा।
नैधनो मित्रवर्गश्च परमो मैत्र एव च ॥१०३॥
दशमं जन्मनक्षत्रात्कर्मनक्षत्रमुच्यते।
एकोनविंशतिञ्चैव गर्भाधानकमुच्यते ॥१०४॥
द्वितीयमेकादशं विंशमेष सम्पत्करो गणः।
तृतीयमेकविंशं तु द्वादशं तु विपत्करम् ॥१०५॥
क्षेम्यं चतुर्थं द्वाविंशं तथा यच्च त्रयोदशम्।
प्रत्वरं पञ्चमं विद्यात् त्रयोविंशं चतुर्दशम् ॥१०६॥
साधकं तु चतुर्विंशं षष्ठं पञ्चदशञ्च यत्।
नैधनं पञ्चविंशं तु षोडशं सप्तमं तथा ॥१०७॥
मैत्रे सप्तदशं विद्यात् षड्विंशमिति चाष्टमम्।
सप्तविंशं परं मैत्रं नवमष्टादशञ्च यत् ॥१०८॥

वर्गक्रम

१.	१ जन्मनक्षत्र	१० कर्मनक्षत्र	१९ आधाननक्षत्र।
२.	२	११	२० सम्पत्करनक्षत्र।
३.	३	१२	२१ विपत्कर।
४.	४	१३	२२ क्षेम्य।
५.	५	१४	२३ प्रत्वर।
६.	६	१५	२४ साधक।
७.	७	१६	२५ नैधन।
८.	८	१७	२६ मैत्र।
९.	९	१८	२७ परममैत्र।

प्रत्येक वर्ग में तीन तीन नक्षत्र हैं और उनमें ९ का अन्तर है। १०४ श्लोक द्वारा यह स्पष्ट है कि इनकी गणना जन्मनक्षत्र से करनी है। इसके बाद यह विचार किया है कि अमुक नक्षत्र में अमुकामुक कर्म करने चाहिए या नहीं। इसके बाद ग्रह, उल्का और विद्युत् इत्यादिकों द्वारा नक्षत्रों से पीड़ित होने से प्रत्येक वर्ग में होनेवाले भय इत्यादि का वर्णन कहा है—

ग्रहोल्काशनिनिर्घातैः　कम्पैर्दाहैश्च　पीड्यते।
यद्यद्भयं　भवति　तत्　तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ।।१२२।।

यहां ग्रह शब्द से सूर्यादि ग्रह ही अभीष्ट मालूम होते हैं। इसके आगे गर्भधारण का थोड़ा सा वर्णन करते हुए अन्त में कहा है—

आत्मज्योतिषमित्युक्तं　स्वयमुक्तं　स्वयंभुवा।
तत्वतः　पृच्छमानस्य　काश्यपस्य　महात्मनः ।।१६१।।
य इदं　पठते　विप्रो　विधिवच्च　समाहितः।
यथोक्तं　लभते　सर्वमाम्नायविधिदर्शनात् ।।१६२।।

ग्रन्थ में यह कहीं भी नहीं लिखा है कि यह अथर्वज्योतिष है, परन्तु इसे अथर्ववेद ज्योतिष कहते अवश्य हैं और अन्तिम श्लोक के 'आम्नायविधिदर्शनात्' वाक्य से भी इस कथन की पुष्टि होती है।

इसमें लिखे हुए विषयों के विवेचन से स्पष्ट विदित होता है कि यह ग्रन्थ ऋग्यजुर्वेदाङ्गज्योतिष या वेद के अन्य किसी भी अङ्ग इतना प्राचीन नहीं है। फिर भी बहुत प्राचीन होना चाहिए क्योंकि इसमें मेषादि द्वादश राशियों के नाम नहीं हैं। यदि मेषादि राशियां ग्रन्थकार के समय प्रचलित रही होतीं तो वे उनके नाम इसमें अवश्य लिखते। इसका नाम अथर्ववेदज्योतिष है, इसलिए इसी प्रसंग में इसका भी विचार किया गया।

मेषादि राशियों का नाम न होते हुए भी इसमें सात वारों के नाम आये हैं, यह एक बड़ी महत्वशाली तथा ध्यान में रखने योग्य बात है। इसका आगे विशेष विवेचन किया जायगा।

मेषादि राशियों से सम्बन्ध रखनेवाली जिस जातकपद्धति का आरम्भ इस देश में हुआ उससे विरुद्ध नहीं बल्कि बहुत अंशों में साम्य रखनेवाली जातकपद्धति इस ग्रन्थ में है और वह स्वतन्त्रतया इसी देश में उत्पन्न हुई है। इसमें सन्देह करने का स्थान बिलकुल नहीं है। हिन्दुओं ने मेषादि राशियां परदेश से ली हों तो भी उसके पहिले

केवल नक्षत्रों से सम्बन्ध रखनेवाली जो जातकपद्धति उनके यहां प्रचलित थी उसी के आधार पर उन्होंने स्वयं उसका विस्तार किया होगा।

२ कल्पसूत्र

आश्वलायनसूत्र

आश्वलायनसूत्र के 'श्रावण्यां पौर्णमास्यां श्रवणकर्म' (गृह्यसूत्र २।१।१) इत्यादि वाक्य में मासों के नक्षत्रप्रयुक्त नाम आये हैं और श्रौतसूत्र (४।१२) में मधु माधव मासनाम भी हैं। एक जगह (श्रौतसूत्र ४।१२) ऋतुओं का भी उल्लेख है। उसमें आरम्भ वसन्त से किया है। तिथि शब्द नहीं आया है, परन्तु 'मार्गशीर्ष्या प्रत्यवरोहणं चतुर्दश्याम्' (गृह्यसूत्र २।३।१), 'हेमन्तशिशिरयोश्चतुर्णामपरपक्षाणामष्टमीष्वष्टकाः' (गृह्यसूत्र २।४।१), 'अध्यायोपाकरणं श्रावणस्य पञ्चम्यां' (३।५) इत्यादि वाक्यों में चतुर्दशी इत्यादि शब्द तिथिवाचक जान पड़ते हैं। अयन और विषुव का उल्लेख अनेकों स्थलों में है। नक्षत्रों के नाम भी हैं। श्रौतसूत्र के 'उत्तरयोः प्रोष्ठपदयोः' (श्रौतसूत्र २।१) वाक्य में प्रोष्ठपदा का प्रयोग द्विवचन में और 'उत्तरैः प्रोष्ठपदैः' (गृह्यसूत्र २।१०।३) में पुलिङ्ग के बहुवचन में हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में दोनों प्रोष्ठपदाओं का प्रयोग पुलिङ्ग में बहुवचन में है। गृह्यसूत्र में 'ध्रुवमरुन्धतीं सप्तर्षीनिति दृष्ट्वा वाचं विसृजेत्' (गृह्यसूत्र १।७।२२) वाक्य में ध्रुव अरुन्धती और सप्तर्षि ताराओं के नाम आये हैं। गृह्यसूत्र २।१०।३ में अग्न्याधान के लिए नक्षत्र बताये हैं। उत्तरप्रोष्ठपद, फल्गुनी और रोहिणी नक्षत्रों में खेत जोतने को कहा है। गृह्यसूत्र १।४।१ में लिखा है कि उपनयनादि कर्म कल्याणकारक नक्षत्रों में करने चाहिए। सीमन्तोन्नयन के लिए कहा है, 'सीमन्तोन्नयनं.....यदा पुंसा नक्षत्रेण चन्द्रमा युक्तः स्यात्' (गृ० १।१४)। पता नहीं चलता, यहां कल्याणकारक और पुरुषनक्षत्र कौन-कौन से माने गये हैं। ज्योतिष के आधुनिक मुहूर्तग्रन्थों में जो पुरुष और स्त्री भेद बतलाये हैं वे पृष्ठोक्त नक्षत्रों के लिंगानुसार ही हैं। हम समझते हैं सूत्रकाल में भी यही नियम रहा होगा।

पारस्करसूत्र

पारस्करसूत्र आश्वलायनसूत्र से नवीन मालूम होता है। इसमें आश्वलायनसूत्रोक्त बहुत से विषय आ गये हैं, पर इसका आग्रहायणी कर्म सम्बन्धी वाक्य "मार्गशीर्ष्यां पौर्णमास्यामाग्रहायणीकर्म (३।१२)" आश्वलायनसूत्र में नहीं है। विवाहनक्षत्रों के विषय में कहा है "त्रिषु त्रिषु उत्तरादिषु स्वातौ मृगशिरसि रोहिण्याम्"।

इसकी व्याख्या में हरदत्त ने 'त्रिषु त्रिषु उत्तरादिषु' का अर्थ 'उत्तराफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, उत्तराषाढ़ा, श्रवण, धनिष्ठा, उत्तराभाद्रपदा, रेवती और अश्विनी' किया है। वर्तमान मुहूर्त ग्रन्थों में चित्रा, श्रवण, धनिष्ठा और अश्विनी की गणना विवाह नक्षत्रों में नहीं है। २।१६ सूत्र में ज्येष्ठानक्षत्र में खेत जोतने के लिए कहा है। सब सूत्रों के विवाहादि नक्षत्र परस्पर समान नहीं हैं। उनमें कुछ भेद हैं। १।२१ सूत्र "मूलांशे प्रथमे पितुर्नेष्टो द्वितीये मातुस्तृतीये धनधान्यस्य चतुर्थे कुलशोकावहः स्वयं पुण्यभागी स्यात्" में मूल नक्षत्र में उत्पन्न हुए मनुष्य का फल बताया है। इसमें नक्षत्र के ४ अंश माने हैं। यह एक ध्यान देने योग्य बात है। क्रान्तिवृत्त के १२ भाग मानने से नक्षत्र के ४ अंश मानने ही पड़ते हैं। मूल नक्षत्र सम्बन्धी अशुभ फल के विषय में भिन्न-भिन्न ग्रन्थों के भिन्न-भिन्न मत हैं। तैत्तिरीयश्रुति में तो मालूम होता है, जन्मकाल में मूल का होना अच्छा समझा गया है (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१।२)। ज्योतिषग्रन्थों में बतलाया हुआ आश्लेषा का नक्षत्रगण्डान्त भी पारस्करसूत्र (१।२१) में है। आश्वलायन और पारस्कर दोनों सूत्रों में अधिमास, तिथि, नक्षत्र और क्षय-वृद्धि का वर्णन नहीं है। सात वार, मेषादि राशियां, योग और करण भी नहीं हैं।

अन्यसूत्र

उपर्युक्त सूत्रों में बतलायी हुई ज्योतिषसम्बन्धी बहुत सी बातें हिरण्यकेशी और आपस्तम्ब सूत्रों में भी आयी हैं, पर उनमें मेषादि राशियों और वारों के नाम नहीं हैं।

उपर्युक्त सभी सूत्रों में चैत्र और वैशाख अथवा मधु और माधव वसन्त के मास माने गये हैं।

बौधायनसूत्र का एक वचन है 'मीनमेषयोर्मेषवृषभयोर्वसन्तः।' इसमें मेषादि राशियों के नाम आये हैं। मैत्रेयसूत्र के एक वाक्य में जो कि ऊपर पृष्ठ में लिखा है, सूर्य का राशिसंक्रमण शब्द भी आया है।

सभी वेदशाखाओं के सूत्र देखे जायं तो उनमें ज्योतिषविषयक महत्व की और भी बहुत सी बातें मिलेंगी, परन्तु हमें अधिक सूत्रग्रन्थ नहीं मिले।

३ निरुक्त

निरुक्त के द्वितीयाध्याय के २५वें खण्ड में मुहूर्त और क्षण नामक काल-परिमाणों के नाम आये हैं। इसके ज्योतिष विषयक कुछ अन्य लेख प्रथम विभाग में दिखला दिये गये हैं।

'सप्तऋषीणानि ज्योतींषि' (१०।२६) वाक्य में सप्तर्षियों का उल्लेख है।

निम्नलिखित वाक्यों में दिन, रात्रि, शुक्लपक्ष, कृष्णपक्ष, उत्तरायण और दक्षिणायन नाम आये हैं। इनके विषय में कुछ चमत्कारिक बातें भी बतायी हैं।[1]

'अथ ये हिंसामाश्रित्य विद्यामुत्सृज्य महत्तपस्तेपिरे चिरेण वेदोक्तानि वा कर्माणि कुर्वन्ति ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणापक्षाद्दक्षिणायनं दक्षिणायनात् पितृलोकं प्रतिपद्यन्ते ।।८।। अथ ये हिंसामुत्सृज्य विद्यामाश्रित्य महत्तपस्तेपिरे ज्ञानोक्तानि वा कर्माणि कुर्वन्ति तेऽर्चिरभिसंभवन्त्यर्चिषाहेरह्नं आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षादुदगयनमुदगयनाद्देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं वैद्युतान्मानसं मानसः पुरुषो भूत्वा ब्रह्मलोकमभिसंभवन्ति ते न पुनरावर्तन्ते शिष्टा दन्दशूका यत इनं न जानन्ति तस्मादिदं वेदितव्यमथाप्याह ।।६।। अध्याय १४

ये महत्वपूर्ण वाक्य देखिए--

आकाशगुणः शब्द आकाशाद्वायुर्द्विगुणः स्पर्शेन वायोर्ज्योतिस्त्रिगुणं रूपेण ज्योतिष आपश्चतुर्गुणा रसेनाद्भ्यः पृथिवी पञ्चगुणा गन्धेन पृथिव्या भूतग्रामस्थावरजंगमास्तदेतदहर्युगसहस्रं जागर्ति तस्यान्ते सुषुप्स्यन्नङ्गानि प्रत्याहरति भूतग्रामाः पृथिवीमपि यन्ति पृथिव्यप आपो ज्योतिष योतिर्वायुं वायुराकाशमाकाशो मनो मनो विद्यां विद्या महान्तमात्मानं महानात्मा प्रतिभां प्रतिभा प्रकृतिं सा स्वपिति युगसहस्रं रात्रिस्तावेतावहोरात्रावजस्रं परिवर्तेते स कालस्तदेतदहर्भवति युगसहस्रपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदु रात्रिं युगसहस्रान्तां तेहोरात्रविदो जना इति ।।४।।

अध्याय १४

इसमें ब्रह्मा के अहोरात्र का परिमाण बताया है। सहस्रयुगों का ब्रह्मा का दिन होता है। इसमें सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति और लय होते हैं। इसके पश्चात् एक सहस्र वर्ष पर्यन्त प्रकृति या ब्रह्मा सुप्त रहता है। यही ब्रह्मदेव की रात्रि है। इस प्रकार अहोरात्रों के पर्याय नित्य हुआ करते हैं। इसी काल को सूर्यसिद्धान्तादि ज्योतिषग्रन्थों ने कल्प कहा है। इन वाक्यों में कल्प शब्द नहीं आया है और यह भी नहीं बताया है कि युग कितने वर्षों का होता है। शेष पद्धति ज्योतिषग्रन्थ तथा मनुस्मृति इत्यादि अन्य ग्रन्थों की युगपद्धति के समान ही है। यह अथवा इस प्रकार की दूसरी युगपद्धति जिन-जिन ग्रन्थों में मिलती है उनमें निरुक्त सबसे प्राचीन है। यद्यपि यहां युग का वर्षात्मक मान नहीं बताया है, पर वाक्यों के सन्दर्भ द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि यह युग पञ्चवर्षात्मक युग नहीं बल्कि किसी दीर्घकाल का बोधक है।

१. याज्ञवल्क्यस्मृति और भगवद्गीता में भी इनका वर्णन है।

४ पाणिनीय व्याकरण

वेदों में कहीं-कहीं संवत्सर अर्थ में आये हुए वर्ष (५।१।८८, ७।३।१६) और हायन (४।१।२७, ५।१।१३०) शब्द पाणिनीय व्याकरण में है। मासों के नक्षत्र-प्रयुक्त चैत्रादि नाम भी हैं। (४।२।२१) दिन के विभागों में से मुहूर्त शब्द आया है (३।३।६)। नाड़ी शब्द शरीर की नाड़ी के अतिरिक्त अन्य एक या कई अर्थों में आया है (५।४।१५९)। इससे मालूम होता है, कालवाचक नाड़ी शब्द भी होगा। तिथि शब्द यद्यपि नहीं है तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि वह पाणिनि के समय रहा ही नहीं होगा। पाणिनीय व्याकरण ज्योतिष विषयक ग्रन्थ नहीं हैं। अमुकामुक नक्षत्रों में अमुक-अमुक कर्म करने चाहिए, ऐसा विधान करनेवाला धर्मशास्त्रग्रन्थ भी नहीं है। अतः ज्योतिष विषयक जो पारिभाषिक शब्द उसमें नहीं हैं उनके विषय में यह कहना अनुचित होगा कि वे पाणिनि के समय थे ही नहीं। कृतादि संज्ञाओं में से उसमें केवल एक कलि शब्द आया है (४।२।२८) और वह भी युग विषयक नहीं है। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि पाणिनिकाल में कृतादि युग संज्ञाएं नहीं थीं। बस, यही स्थिति ज्योतिष संबंधी तिथ्यादि पारिभाषिक शब्दों की भी है।

नक्षत्रों के विषय में 'तिष्य' अर्थ में पुष्य और सिध्य शब्द आये हैं (३।१।११६)। 'श्रोणा' अर्थ में केवल अथर्ववेद में आया हुआ श्रवण शब्द आया है (४।२।२३)। १।२।६१ और १।२।६२ सूत्रों में कहा है 'छन्दसि पुनर्वस्वोरेकवचनम्' 'विशाखयोश्च' परन्तु मुझे श्रुति में पुनर्वसु और विशाखा शब्द एक वचन में कहीं नहीं मिले। हो सकता है, मेरे न पढ़े हुए किसी वेद में हों। प्रोष्ठपदा शब्द द्विवचन और बहुवचन दोनों में पठित है (१।२।६०)। 'विभाषा ग्रहः' (३।१।१४३) सूत्र द्वारा यह अनुमान कर सकते हैं कि पाणिनि के समय तारारूप ग्रह के अर्थ में ग्रह शब्द का प्रयोग होता रहा होगा।

———

द्वितीय प्रकरण

स्मृति महाभारत इत्यादि

स्मृति

युगपद्धति

मनुस्मृति के प्रथमाध्याय में जिस युगपद्धति का वर्णन है वही पुराण ज्योतिष इत्यादि भिन्न-भिन्न विषयों के प्रायः सभी ग्रन्थों में पायी जाती है अतः वह पूर्ण पद्धति यहां एक बार लिख देते हैं।

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः।
एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत ।।६८।।
चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम्।
तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः ।।६९।।
इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु च त्रिषु।
एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च ।।७०।।
यदेतत् परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम्।
एतद्द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते ।।७१।।
दैविकानां युगानान्तु सहस्रपरिसंख्यया।
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीं रात्रिमेव च ।।७२।।
तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः।
रात्रिञ्च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदोजनाः ।।७३।।
तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते।
प्रतिबुद्धश्च सृजति मनस्सदसदात्मकम् ।।७४।।
मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया।
आकाशं जायते तस्मात्तस्य शब्दं गुणं विदुः ।।७५।।
आकाशात्तु विकुर्वाणात् सर्वगन्धवहः शुचिः।
बलवाञ्जायते वायुः स वै स्पर्शगुणो मतः ।।७६।।
वायोरपि विकुर्वाणात् विरोचिष्णु तमोनुदम्।
ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत्तद्रूपगुणमुच्यते ।।७७।।
ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापो रसगुणाः स्मृताः।
अद्भ्यो गन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टिरादितः ।।७८।।
यत्प्राक् द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम्।

तदेक सप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ।।७९।।
मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः संहार एव च।
क्रीडन्निवैतत् कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ।।८०।।
चतुष्पात् सकलो धर्मः सत्यञ्चैव कृते युगे।
नाधर्मेणागमः कश्चित् मनुष्यान्प्रतिवर्तते ।।८१।।
इतरेष्वागमाद्धर्मः पादशस्त्ववरोपितः।
चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादशः ।।८२।।
अरोगाः सर्वसिद्धार्थश्चितुर्वर्षशतायुषः।
कृते त्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसति पादशः ।।८३।।
वेदोक्तमायुर्मर्त्यानामाशिषश्चैव कर्मणाम।
फलन्त्यनुयुगं लोकेप्र भावश्च शरीरिणाम् ।।८४।।
अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः ।।८५।।
तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुदनिमेकं कलौ युगे ।।८६।।

इसमें कृतादि युगों के नाम बतलाये हैं।

युग	वर्ष	युग	वर्ष
कृत	सन्ध्या ४००	द्वापर	सन्ध्या २००
	मुख्यभाग ४०००		मुख्यभाग २०००
	सन्ध्यांश ४००		सन्ध्यांश २००
त्रेता	सन्ध्या ३००	कलि	सन्ध्या १००
	मुख्यभाग ३०००		मुख्यभाग १०००
	सन्ध्यांश ३००		सन्ध्यांश १००

सब मिलकर १२०००=चतुर्युग=दैवयुग।

१००० दैवयुग=१२०००००० वर्ष=ब्राह्म दिन।

यहां १२००० वर्षों का एक दैवयुग तो माना है, पर यह स्पष्ट नहीं बतलाया है कि ये युग देवताओं के हैं। देवताओं का वर्ष यदि ३६० मनुष्यवर्षों के बराबर मान लिया जाय तो एक देवयुग में मनुष्यवर्ष (३६०×१२०००=) ४३२०००० होंगे। प्रो० ह्विटने कहते हैं कि इन १२००० वर्षों को देववर्ष मानने की कल्पना मनु की[1] नहीं है। इसकी उत्पत्ति उनके बहुत दिनों बाद हुई है। परन्तु उनका यह

१. बर्जेस के सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद का दशम पृष्ठ देखिए।

कथन ठीक नहीं मालूम होता, क्योंकि मनु के बहुत पहिले ही इस बात का निश्चय हो चुका था कि देवताओं का दिन मनुष्यदिन से बड़ा होता है। तैत्तिरीयसंहिता के ऊपर लिखे हुए[1] एक वाक्य में यह स्पष्ट उल्लेख है कि मनुष्यों का एक संवत्सर (अर्थात् ३६० दिन) देवताओं के एक दिन के बराबर होता है। अतः मनुष्यों के ३६० वर्ष देवताओं के एकवर्ष के बराबर होंगे ही। यद्यपि मनु के वाक्य में 'देववर्ष' शब्द स्पष्टतया नहीं आया है, पर यह स्पष्ट है कि युग देवताओं का ही है, अतः वर्ष भी देवताओं का ही होना चाहिए। इससे यह बात निःसंशय सिद्ध हो जाती है कि मनुष्यों के (१२००० × ३६० =) ४३२०००० वर्ष तुल्य देवताओं के युग का परिमाण मनुकालीन ही है। मनु ने ही यह भी कहा है कि इस प्रकार के सहस्र युगों का ब्रह्मा का एक दिन होता है, परन्तु उनके वाक्यों में ब्रह्मदिन के अर्थ में कल्पशब्द नहीं आया है। ज्योतिषग्रन्थों में ब्रह्मदिन को ही कल्प कहा है। इससे यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि सूर्य सिद्धान्तादि ज्योतिषग्रन्थों में बतलाये हुए कृतादि युग, महायुग और कल्प के मान मनु के समय ही निश्चित हो चुके थे। इतना ही नहीं, मैं तो समझता हूँ, निरुक्तकार यास्क के समय ही इनके प्रमाणों का निश्चय हो चुका था क्योंकि मनुस्मृति के उपर्युक्त ७२वें और ७३वें श्लोकों का ब्रह्मा के अहोरात्र के सम्बन्ध में ऊपर (पृ० १४५ में) लिखे हुए निरुक्तवचनों के अन्तिम भाग से बड़ा सादृश्य है। निरुक्त में स्पष्ट बताया है कि ब्राह्मदिन सहस्र वर्षों का होता है परन्तु उसमें यह नहीं लिखा है कि ये सहस्र वर्ष देवताओं के हैं और प्रत्येक युग का मान १२००० वर्ष है, परन्तु कृतादि चार युगों का वर्णन वेदों में भी है अतः यह मानना पड़ता है कि युगकल्पना निरुक्त से भी प्राचीन है। यह भी स्पष्ट ही है कि निरुक्त के युग किसी दीर्घकाल के द्योतक हैं। इससे हमें ऐसा मालूम होता है कि सूर्यसिद्धान्तादि ज्योतिष ग्रन्थों में बतलायी हुई युग और कल्पपद्धति का प्रचार निरुक्तकाल में भी था। मनुस्मृतिकाल में उसका प्रचलित होना तो बिलकुल निर्विवाद है। महाभारतोक्त युगपद्धति मनुस्मृति सरीखी ही है। उसका विचार आगे किया जायगा।

यूरोपियन विद्वान् कहते हैं कि महाभारत मनुस्मृति के बाद बना है। यदि मनुस्मृति के पहिले बना होगा तो मेरे इस कथन की कि 'मनु के बहुत पहिले ही युगपद्धति का प्रचार हो चुका था' पुष्टि होगी।

उपर्युक्त मनु के श्लोकों में युगों के लक्षण धर्मस्थिति के सम्बन्ध में बतलाये हैं। अन्य सभी पुराणों में युगलक्षण इसी प्रकार हैं। मन्वन्तरों के मान भी सूर्यसिद्धान्तादि सरीखे ही हैं।

१. एकं वा एतद्देवानामहः। यत्संवत्वरः॥

मनुस्मृति में ग्रह और मेषादि राशियां नहीं हैं। ज्योतिष शास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाली दूसरी भी कोई उल्लेखनीय बात नहीं है।

वार

याज्ञवल्क्यस्मृति में एक स्थान में ग्रहयज्ञ का वर्णन है। उसमें ग्रहों के नाम इस प्रकार हैं :—

सूर्यः सोमो महीपुत्रः सोमपुत्रो बृहस्पतिः।
शुक्रः शनैश्चरो राहुः केतुश्चैते ग्रहाः स्मृताः ।।२९५।।

आचाराध्याय

सात वार और उनके सूर्यादि सात अधिपों का उल्लेख कहीं नहीं है परन्तु इस श्लोक में ग्रहों के नाम वारक्रमानुसार ही हैं अतः याज्ञवल्क्यस्मृतिकाल में सात वारों का प्रचार रहा होगा। अथर्वज्योतिष में सात वारों के सम्बन्ध में केवल सात ग्रहों का निर्देश है। राहु और केतु के नाम नहीं हैं। याज्ञवल्क्यस्मृति में ग्रह ९ बतलाये हैं। उनके मन्त्र भी वही हैं जिनका आजकल प्रचार है (आचाराध्याय के श्लोक २९९-३०१ देखिये)। अन्य बातों के आलोचन द्वारा विद्वानों ने निश्चय किया है कि याज्ञवल्क्यस्मृति मनुस्मृति से नवीन है। उनका यह कथन वार और ग्रहों के उल्लेखानुसार ठीक मालूम होता है।

युगपद्धति

याज्ञवल्क्यस्मृति में कृतादि युगों के नाम और मान नहीं हैं परन्तु (३।१७३ में) लिखा है 'मन्वन्तरैर्युगप्राप्त्या'। इससे मालूम होता है, मनुस्मृति की युगपद्धति उस समय प्रचलित थी।

क्रान्तिवृत्त के १२ भाग

निम्नलिखित श्लोक में श्राद्धकाल बताया है—

अमावास्याष्टका वृद्धिः कृष्णपक्षोऽयनद्वयम्।
द्रव्यं ब्राह्मणसम्पत्तिर्विषुवत्सूर्यसंक्रमः ।।२१७।।
व्यतीपातो गजच्छाया ग्रहणं चन्द्रसूर्ययोः।

आचाराध्याय

इसमें सूर्यसंक्रम शब्द आया है परन्तु इसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय मेषादि राशियों का प्रचार था ही क्योंकि याज्ञवल्क्यस्मृति में मेषादि संज्ञाएं प्रत्यक्ष कहीं भी नहीं मिलतीं और (१।२६७ के) 'कृत्तिकादि भरण्यन्तम्' वाक्य में कृत्तिकादि नक्षत्रों का उल्लेख है। मेषादि विभाग के साथ अश्विन्यादि नक्षत्रों के

नाम होने चाहिए थे न कि कृत्तिकादि के। परन्तु पहिले बता चुके हैं कि वेदाङ्ग ज्योतिष काल में मेषादि द्वादश नामों का प्रचार न होते हुए भी क्रान्तिवृत्त के द्वादश भाग प्रचलित थे अतः याज्ञवल्क्यस्मृतिकाल में भी क्रान्तिवृत्त के १२ भागों का ज्ञान रहा होगा। इसमें सात वारों के नाम आये हैं। यूरोपियन विद्वान् कहते हैं कि हिन्दुओं ने सात वार और १२ राशियां यूरोपियन लोगों से ली हैं। उनके इस कथनानुसार सहज ही यह बात ध्यान में आती है कि जिन संस्कृतग्रन्थों में सात वारों के नाम हैं उनमें मेषादि १२ राशियां भी होनी चाहिए परन्तु पहिले बता चुके हैं कि अथर्वज्योतिष में वारों के होते हुए भी राशियों के नाम नहीं हैं। यही स्थिति यहाँ भी है। आगे महाभारत के विवेचन में यह स्पष्ट हो जायगा कि वार और मेषादि १२ राशियाँ प्रचलित होने के पहिले ही कम से कम सूर्य की गति के सम्बन्ध में ही भारतीयों ने क्रान्तिवृत्त के १२ भाग कल्पित कर लिये थे। क्रान्तिवृत्त के १२ अथवा अथर्वज्योतिषानुसार यदि ९ ही भाग मान लिये जायं तो भी सूर्य के एक भाग से दूसरे भाग में गमन को संक्रमण कह सकते हैं। याज्ञवल्क्यस्मृति के उपर्युक्त वाक्य में दो अयन तथा विषुवत् शब्द के साथ संक्रम शब्द भी आया है। इससे सिद्ध होता है कि उस समय क्रान्तिवृत्त के १२ भाग मानने की पद्धति प्रचलित थी।

अथर्वज्योतिष और याज्ञवल्क्यस्मृति द्वारा यह सिद्ध होता है कि सात वार और मेषादि नामों का प्रचार एक ही काल में नहीं हुआ बल्कि सात वार मेषादि संज्ञाओं के पहिले ही प्रचलित हो चुके थे।

योग

उपर्युक्त श्राद्धकाल सम्बन्धी वाक्य में वृद्धि शब्द आया है। उसके विषय में यह नहीं कह सकते कि वह ज्योतिष सम्बन्धी ही अर्थात् २७ योगों में का वृद्धि शब्द है। हम समझते हैं, जैसे द्रव्य और सम्पत्ति शब्द आये हैं उसी प्रकार धान्यादि की वृद्धि के अर्थ में वृद्धि शब्द आया होगा।

अन्य बातें

उपर्युक्त वाक्य का व्यतीपात शब्द निःसंशय ज्योतिष-सम्बन्धी ही मालूम होता है। प्रायश्चित्ताध्याय के १७१वें श्लोक के 'ग्रहसंयोगजैः फलैः' वाक्य से प्रकट होता है कि उस समय लोगों का ध्यान ग्रहयुति की ओर जा चुका था और उसके अनुसार शुभाशुभ फल का भी विचार करने लगे थे। यहाँ मेरा कथन इतना ही है कि भारतीयों को मेषादि संज्ञाओं का प्रचार होने के पहिले ही राहु, केतु सात वारों का क्रम, व्यतीपात और ग्रहयुति का ज्ञान था। यह बात बड़े महत्व की है। इसका विशेष विचार आगे

करेंगे। यदि याज्ञवल्क्यस्मृति का समय अन्य प्रमाणों द्वारा निश्चित हुआ होता तो इन बातों द्वारा और भी महत्वशाली अनुमान किये जाते। अस्तु।

पितृयानोऽजवीथ्याश्च यदगस्त्यस्य चान्तरम्।
तेनाग्निहोत्रिणो यान्ति स्वर्गकामा दिवं प्रति ।।१८४।।
तत्राष्टाशीतिसाहस्रा मुनयो गृहमेधिनः।
सप्तर्षिनागवीथ्यन्तर्देवलोकं समाश्रिताः ।।१८७।।

प्रायश्चित्ताध्याय

इसमें सप्तर्षि और अगस्त्य तारों का उल्लेख है। गर्गादिकों की संहिताओं में बतलायी हुई नक्षत्रवीथियों में से यहाँ अज और नाग नाम की दो वीथियाँ आयी हैं। वीथी और वीथ्यन्तर्गत नक्षत्रों के विषय में मतभेद है। किसी-किसी के मत में वीथियां ९ हैं और किसी-किसी के मत में तीन। इसके विषय में भटोत्पल ने बृहत्संहिता के शुक्राचार की टीका में गर्ग पराशरादि के मत विस्तार पूर्वक लिखे हैं। ग्रह नक्षत्रों की भिन्न-भिन्न दिशाओं से होते हुए जाते हैं। उसी के अनुसार वीथियों की कल्पना की गयी है। चूंकि उपर्युक्त श्लोकों में वीथी का वर्णन है इसलिए मानना पड़ता है कि याज्ञ-वल्क्यस्मृतिकाल में भारतीयों का ग्रहगति की ओर पूरा ध्यान था।

मालूम होता है, उपर्युक्त श्लोकों में आकाश के उत्तरगोलार्ध में देवलोक और दक्षिण गोलार्ध में पितृयाण माना है। शतपथब्राह्मण की कल्पना से इसका साम्य है।

निरुक्त का अयनसम्बन्धी एक चमत्कारिक वर्णन ऊपर (पृ० १४५ में) लिखा है। उस सरीखा ही वर्णन याज्ञवल्क्यस्मृति के तृतीयाध्याय के १९२ से १९७ श्लोक पर्यन्त है। १।१८० इत्यादि में बताया है कि चन्द्रमा जब अच्छे नक्षत्रों में रहे उस समय अमुकामुक कर्म करने चाहिए। अमुक नक्षत्र में अमुक-अमुक धर्मकृत्य करने चाहिए, इत्यादि भी बताया है। १।३०६ में लिखा है कि 'यस्य यश्च ग्रहो दुष्टः स तं यत्नेन पूजयेत्'। राहुसूतक, तिथि और मुहुर्त भी आये हैं। ज्योतिर्विद् के पूज्यत्व का वर्णन है (१।३१२, ३३२)।

महाभारत

महाभारत में ज्योतिष विषयक लेख इतने अधिक हैं कि उन सबका विचार करने से ग्रन्थ बड़ा विस्तृत हो जायगा। अतः यहाँ उन्हीं वचनों का विवेचन करेंगे जो कि इस ग्रन्थ के विषयों के लिए विशेष उपयोगी हैं।

रचनाकाल

सर्वप्रथम महाभारत के रचनाकाल का विचार करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि काल निश्चित हो जाने से उसके ज्योतिष विषयक वचनों के महत्व में विशेषता आ जायगी। रचनाकाल का निःसन्देह निर्णय करना तो बड़ा कठिन है परन्तु अनुमान द्वारा आसन्न समय लाया जा सकता है। महाभारतोक्त लेखों के अनुसार विचार किया जाय तो उसे व्यास ने बनाया, वैशम्पायन ने जनमेजय से कहा, इत्यादि बातों से ऐसा प्रतीत होता है कि वह पाण्डवकाल में या उसके थोड़े ही दिनों बाद बना। मालूम होता है पाणिनि के समय महाभारत था[1] क्योंकि आश्वलायन सूत्र में उसका उल्लेख प्रत्यक्ष ही है और भाषा के इतिहास से यह सिद्ध हो चुका है कि आश्वलायन पाणिनि से प्राचीन हैं। सारांश यह कि महाभारत अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है। हाँ, यह सत्य है कि आजकल के प्रचलित महाभारत का बहुत सा भाग अर्वाचीन होगा। ज्योतिष प्रमाणों द्वारा भी उसके कुछ भाग भिन्न-भिन्न समयों के दीखते हैं। परन्तु यहाँ प्रक्षिप्त भागों के विषय में एक महत्व की बात यह कहनी है कि 'महाभारत की ग्रन्थसंख्या एक लक्ष है यह लोगों की धारणा आज की नहीं है। Inscriptionum Indicarum नाम की पुस्तकमाला में भारत सरकार की आज्ञा से प्राचीन ताम्रपट और शिलालेख इत्यादि छप रहे हैं। उसकी तीसरी पुस्तक में गुप्त राजाओं के लेख हैं। उसमें उच्च-कल्प के महाराज सर्वनाथ का संवत् १९७ का एक लेख है (ग्रन्थ का १३४वां पृष्ठ देखिए)। उसमें स्पष्ट लिखा है कि व्यासकृत महाभारत की ग्रन्थसंख्या एक लाख है। सम्प्रति यह बात निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है कि इस ग्रन्थ का संवत् चेदि (कल-चुरी) नामक संवत् है (Indian Antiquary, xix 227 of; xvii 215 देखिए)। चेदि संवत् १९७=शके (१९७+१७०=) ३६७ अथवा ईसवी सन् ४४५ होता है (मूलग्रन्थ देखिए)। अतः यह कथन अनुचित न होगा कि शककाल की चतुर्थ शताब्दी के बाद महाभारत में कोई नवीन प्रक्षेपण नहीं हुआ है। हमें तो उसका कुछ भाग पाण्डवों के समय का भी मालूम होता है, पाण्डवों का समय चाहे जो हो। उपाख्यान तथा युद्धादिकों के लम्बे चौड़े वर्णन कदाचित् पीछे से मिला दिये गये हों, परन्तु पाण्डवों की मूलकथा और युद्ध के समय ग्रह अमुक-अमुक नक्षत्रों के पास थे, इत्यादि महत्वपूर्ण बातें कपोलकल्पना मात्र होते हुए महाभारत में मिला ली गयी होंगी, यह प्रायः अस-म्भव है। सम्प्रति महाभारत में ज्योतिष सम्बन्धी जो बातें मिलती हैं, उनके विषय

१. प्रो० कुंटे का मत है कि पाणिनि को महाभारत मालूम था। (Vicissitudes of Aryan Civilization. p 448) देखिए।

में यह भी कहा जा सकता है कि वे पाण्डवों के ही समय से इसी रूप में नहीं चली आ रही होगी। प्रचलित दन्त-कथाएं किसी ने पीछे से मिला दी होंगी। मेरे मत में विशेष महत्व की कुछ न कुछ बातें तो पाण्डवकाल से ही अविच्छिन्न चली आ रही हैं और कुछ उतनी प्राचीन न होने पर भी आश्वलायन और पाणिनि इत्यादिकों की समकालीन हैं।

दूसरी एक महत्व की बात यह है कि मैंने ज्योतिष की दृष्टि से स्वतः सम्पूर्ण महाभारत पढ़ा है। उसमें मुझे सात वार और मेषादि राशियों के नाम कहीं नहीं मिले, अतः निःसंशय कहा जा सकता है कि भारतवर्ष सात वार और मेषादि राशियों का प्रचार चाहे जब हुआ हो, पर महाभारत में बतलायी हुई ज्योतिष विषयक बातें उसके पहिले की हैं।[1] यूरोपियन विद्वान् कहते हैं कि भारतीयों ने ज्योतिष शास्त्र ग्रीक लोगों से लिया है। उनका यह कथन ठीक हो तो भी यह सिद्ध किया जा सकता है कि उन्होंने टालमी (सन् १५०) से नहीं बल्कि उसके पहिले ही लिया है। यूरोपियन विद्वान् भी इसे स्वीकार करते हैं। कोई भी यूरोपियन निश्चयपूर्वक यह नहीं सिद्ध करता कि भारतीयों ने ज्योतिष शास्त्र ग्रीकों से अमुक समय लिया, परन्तु उनका आशय ऐसा मालूम होता है कि प्रसिद्ध ग्रीक ज्योतिषी हिपार्कस के समय अर्थात् ईसा से लगभग १५० वर्ष पूर्व लिया अतः यूरोपियन लोगों को भी यह स्वीकार करना चाहिए

१. निर्णयामृतं नामक धर्मशास्त्र का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उसमें चातुर्मास्य के संबंध में निम्नलिखित वचन आये हैं और उन्हें ग्रन्थकार ने महाभारतोक्त बताया है।

वार्षिकाँश्चतुरो मासान् व्रतं किञ्चित् समाचरेत्॥
असम्भवे तुलार्के तु कन्यायान्तु विशेषतः॥

यह श्लोक हमें महाभारत में कहीं नहीं मिला। घटिकापात्र के विषय में कुछ वाक्य महाभारत के नाम पर लिखे हैं पर वे भी उसमें नहीं मिलते। इसी प्रकार निर्णयसिन्धु के द्वितीय परिच्छेद के महालय प्रकरण में निम्नलिखित श्लोक महाभारत के नाम पर लिखा है जो कि उसमें नहीं मिलता।

यावच्च कन्या तुलयोः क्रमादास्ते दिवाकरः।
शून्यं प्रेतपुरं तावद्वृश्चिकं यावदागतः॥

गणपत जी के छापेखाने में मुद्रित पुस्तक के आधार पर मैंने ये श्लोक लिखे हैं। वे० रा० वामनशास्त्री इसलामपुरकर को कुछ ऐसे प्रकरण मिले हैं जो कि इस महाभारत में नहीं हैं। उन्होंने यह बात प्रकाशित की है।

कि महाभारतोक्त ज्योतिष सम्बन्धी बातें ई० स० पूर्व १५० के बाद प्रक्षिप्त नहीं हुई हैं।

ग्रहगति के कारणों का और ग्रहों की स्पष्टस्थिति के आनयन का ज्ञान होना तथा केवल मेषादि संज्ञा और वारपद्धति की कल्पना करना, इन दोनों बातों के महत्व में बड़ा अन्तर है। पहिली बात का महत्व बहुत अधिक है। यूरोपियन विद्वान् भी स्वीकार करते हैं कि ग्रीक ज्योतिषी हिपार्कस (ई० स० पूर्व १५०) के पहिले यह यूरोप में किसी को मालूम नहीं थी। इसके सम्बन्ध में यदि भारतीयों को ग्रीकों की सहायता मिली भी हो तो वह बहुत थोड़ी होनी चाहिए। दूसरी बात उतने महत्व की नहीं है।

अब महाभारत के ज्योतिष विषयक उल्लेखों का विचार करेंगे।

युगपद्धति

महाभारत में युगमान मनुस्मृति सरीखे ही हैं (वनपर्व अध्याय १४९, १८८ भगवद्गीता ८, १७, शान्तिपर्व अध्याय २३२, २३३ इत्यादि देखिए)। कृतादि युगों के नाम तथा उनमें होनेवाली घटनाएँ इत्यादि प्रसंगवशात् अनेकों स्थलों में आयी हैं। कल्प नामक कालमान भी (शान्तिपर्व, अध्याय १८३ इत्यादि) अनेकों जगह आया है।

वेदाङ्ग ज्योतिषपद्धति

पाँच संवत्सरों का अथवा पञ्चसंवत्सरात्मक युगपद्धति का उल्लेख कुछ स्थलों में है। पाँचों पाण्डवों का जन्म क्रमशः एक-एक वर्ष के अन्तर से हुआ था। उसके विषय में लिखा है:—

अनुसंवत्सरं जाता अपि ते कुरुसत्तमाः।
पाण्डुपुत्रा व्यराजन्त पञ्चसंवत्सरा इव ।।२२।।

आदिपर्व, अध्याय १२४।

पाण्डवों को वन गये कितने दिन हुए, इसके विषय में गोग्रहण के समय भीष्म दुर्योधन से कहते हैं:—

तेषां कालातिरेकेण ज्योतिषाञ्च व्यतिक्रमात्।
पञ्चमे पञ्चमे वर्षे द्वौ मासानुपजायतः ।।३।।
एषामभ्यधिकाः मासाः पञ्च च द्वादशक्षपाः।
त्रयोदशानां वर्षाणामिति मे वर्तते मतिः ।।४।।

विराट पर्व, अध्याय ५२

यहाँ पाँच वर्षों में दो अधिमास बतलाये हैं। यह वेदाङ्ग-ज्योतिष की पद्धति है। वेदाङ्ग-ज्योतिष में नक्षत्रारम्भ धनिष्ठा से किया है, अर्थात् ग्रहस्थिति बतलाने के लिए आरम्भस्थान धनिष्ठा माना है। उसके पहिले एक बार आदि नक्षत्र कृत्तिका थी। धनिष्ठादि गणना के विषय में महाभारत में निम्नलिखित एक बड़ी विचित्र कथा है।

अभिजित् स्पर्धमाना तु रोहिण्या कन्यसी स्वसा।
इच्छन्ती ज्येष्ठतां देवी तपस्तप्तुं वनं गता ।।८।।
तत्र मूढोऽस्मि भद्रं ते नक्षत्रं गगनात् च्युतम्।
कालं त्विमं परं स्कन्द ब्रह्मणा सह चिन्तय ।।९।।
धनिष्ठादिस्तदा कालो ब्रह्मणा परिकल्पितः।
रोहिणी ह्यभवत्पूर्वमेवं संख्या समाभवत् ।।१०।।
एवमुक्ते तु शक्रेण कृत्तिकास्त्रिदिवं गताः।
नक्षत्रं सप्तशीर्षाभं भाति तद्वह्निदैवतम् ।।११।।

वनपर्व, अध्याय २३०।

ये श्लोक स्कन्दाख्यान के हैं। सब वाक्यों का भावार्थ ठीक समझ में नहीं आता। अभिजित्, धनिष्ठा, रोहिणी और कृत्तिका नक्षत्रों से सम्बन्ध रखनेवाली भिन्न-भिन्न प्रचलित कथाएं यहाँ गूँथी हुई-सी दिखाई देती हैं। इससे उनके पारस्परिक सम्बन्ध का ठीक पता नहीं लगता। कहा है 'धनिष्ठादि काल की कल्पना ब्रह्मा ने की'। इसकी उपपत्ति स्पष्ट ही है। अग्रिम वाक्य में है 'पहिले रोहिणी थी।' पता नहीं चलता, किसी समय रोहिण्यादि गणना प्रचलित थी उसी के अनुसार ऐसा कहा है या और कोई बात है। रोहिण्यादि गणना कृत्तिकादि गणना के पहिले रही होगी। अभिजित् नक्षत्र के आकाश से गिरने की कथा बड़े महत्व की है। उसका शर लगभग ६१ अंश उत्तर है। अतः नक्षत्र-मण्डल के भ्रमण में जो कि सम्पातगति के कारण हुआ करता है वह कभी-कभी ध्रुवस्थान में आ ही जाया करेगा। यूरोपियन ज्योतिष में यह बात प्रसिद्ध है कि लगभग १२ सहस्र वर्षों में वह ध्रुव होनेवाला है।[1] ध्रुवस्थान में आ जाने से वह अत्यन्त नीचे आ जायगा और कभी-कभी क्षितिज पर्यन्त भी आ सकेगा। पता नहीं चलता, अभिजित् नक्षत्र के आकाश से गिरने की कथा इसी प्रकार की किसी प्रत्यक्ष घटना का अनुभव होने के बाद प्रचलित हुई है या इसमें और कोई रहस्य है। लगभग

१. Newcomb's Popular Astronomy नामक पुस्तक में एक नक्शे में यह दिखलाया है कि भिन्न-भिन्न समयों में कौन कौन से नक्षत्र ध्रुवस्थान में आयेंगे।

१३ सहस्र वर्ष पूर्व ऐसा होने की सम्भावना है। 'कृत्तिकाएं आकाश में चली गयीं' इसका अभिप्राय समझ में नहीं आता।

वेदाङ्गज्योतिषकाल में उत्तरायण धनिष्ठारम्भ में होता था और आजकल पूर्वाषाढ़ा के लगभग होता है। कुछ काल पहिले उत्तराषाढ़ा में होता था अतः बीच में कभी श्रवण में भी होता रहा होगा। इसका प्रमाण महाभारत में मिलता है। अतः वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। विश्वामित्र की प्रतिसृष्टि के विषय में लिखा है :—

चकारान्यञ्च लोकं वै क्रुद्धो नक्षत्रसम्पदा।
प्रतिश्रवणपूर्वाणि नक्षत्राणि चकार यः ।।३४।।

आदिपर्व, अध्याय ७१।

इसी प्रकार अग्रिम वाक्य में कहा है :—

अहः पूर्वं ततो रात्रिर्मासाः शुक्लादयः स्मृताः।
श्रवणादीनि ऋक्षाणि ऋतवः शिशिरादयः ।।२।।

अश्वमेधपर्व, अध्याय ४४।

यद्यपि यहाँ उत्तरायण श्रवणारम्भ में नहीं बताया है तथापि श्रवणादि नक्षत्र कहने का दूसरा कोई अभिप्राय नहीं है। वेदाङ्गज्योतिष में जैसे धनिष्ठादि नक्षत्रों के साथ मास शुक्लादि हैं उसी प्रकार की स्थिति इसकी भी है, अतः यह अनुमान कर सकते हैं कि वेदाङ्गज्योतिषपद्धति का मूल स्वरूप कुछ परिवर्तित होकर आगे भी चलता रहा। वेदाङ्गज्योतिषविचार में यह बतला चुके हैं कि ईसवी सन् पूर्व १४०० के लगभग धनिष्ठारम्भ में उत्तरायण होता था। आगे चलकर ई० स० पूर्व ३५० के आसपास श्रवणारम्भ में होने लगा।

अन्य बातें

महाभारत में ऋतु, अयन, मध्वादिमास और तिथियों का उल्लेख अनेकों स्थलों में है। उसे यहाँ लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है। ऊपर के ही श्लोक में कहा है 'ऋतवः शिशिरादयः'। 'वसन्तादि ऋतु' का भी उल्लेख अन्य अनेकों स्थलों में है। वर्षारम्भ यदि उत्तरायणारम्भ में मानें तो ऋतुएँ हेमन्तादि या शिशिरादि माननी पड़ेंगी। निम्नलिखित श्लोकों द्वारा तथा अन्य भी अनेक स्थलों के वर्णनों से सिद्ध होता है कि उस समय चैत्र और वैशाख को ही वसन्त ऋतु मानने की पद्धति प्रचलित थी।

कौमुदे मासि रेवत्यां शरदन्ते हिमागमे।
स्फीतसस्यसुखे काले ।।७।।

उद्योगपर्व, अध्याय ८३।

तेषां पुण्यतमा रात्रिः पर्वसन्धौ स्म शारदी।
तत्रैव वसतामासीत् कार्तिकी जनमेजय ॥१६॥

वनपर्व, अध्याय १८२।

अनुशासन पर्व के १०६ और १०९ अध्यायों में दो जगह सब मासों के नाम बतलाये हैं। उनमें आरम्भ मास मार्गशीर्ष है।

उपर्युक्त श्रवण सम्बन्धी श्लोक में मास शुक्लादि माने हैं पर कृष्णादि (पूर्णिमान्त) मास का भी उल्लेख है। उदाहरणार्थ--

कृष्णशुक्लावुभौ पक्षौ गयायां यो वसेन्नरः ॥९६॥

वनपर्व, अध्याय ८४।

दिन के विभागों के विषय में अग्रिम वाक्य देखिए।

काष्ठा कला मुहूर्ताश्च दिवा रात्रिस्तथा लवाः ॥२१॥

शान्तिपर्व, आपद्ध, अध्याय ७।

दिन के विभागों में से यहां काष्ठा, कला, मुहूर्त और लव नामक मान आये हैं।

संवत्सरान् ऋतून् मासान् पक्षानथ लवान् क्षणान् ॥१४॥

शान्तिपर्व, आप, अध्याय १६।

इसमें क्षण का भी नाम है, पर इन सब का परस्पर सम्बन्ध कहीं नहीं बताया है। मुहूर्त का नाम तो सैकड़ों जगह आया है।

स भवान् पुष्ययोगेन मुहूर्तेन जयेन च ॥१७॥
कौरवेयान् प्रयात्वाशु . . . ॥

उद्योगपर्व, अध्याय ६।

इस श्लोक में जय नामक मुहूर्त का उल्लेख है। अथर्वज्योतिष में दिन के ११वें मुहूर्त का नाम विजय है।

ऐन्द्रे चन्द्रसमायुक्ते मुहूर्तेभिजितेष्टमे।
दिवा मध्यगते सूर्ये तिथौ पूर्णेतिपूजिते ॥६॥
समृद्धयशसं कुन्ती सुषाव प्रवरं सुतम्।

आदिपर्व, अध्याय १२३।

यहां दिन के आठवें मुहूर्त का नाम अभिजित् बतलाया है। अथर्वज्योतिष तथा अन्य सभी ज्योतिषग्रन्थों में दिन का आठवां मुहूर्त अभिजित् प्रसिद्ध है। यहां तिथि

शब्द पुंलिङ्गी है। घटी और पल नामक मान कहीं नहीं मिले परन्तु निश्चित नहीं कहते बनता कि उसमें नहीं ही होंगे क्योंकि इस विषय का अन्वेषण मैंने ध्यानपूर्वक नहीं किया है।

वार

सात वारों के नाम तो कहीं नहीं मिले, पर वार शब्द भी केवल एक ही स्थान में मिला। द्रौपदी-स्वयम्वर के पहिले पाण्डव कुछ दिन तक एकचक्रा नामक नगरी में एक ब्राह्मण के यहां रहते थे। उस नगरी में एक राक्षस रहता था। उसे प्रतिदिन एक मनुष्य दिया जाता था। एक दिन ब्राह्मण के यहां भी वारी आयी। उसके विषय में कहा है—

एकैकश्चापि पुरुषस्तत्प्रयच्छति भोजनम्।
स वारो बहुभिर्वर्षैर्भवत्यसुकरो नरैः ॥७॥

आदिपर्व, अध्याय १६०।

'आज का वार एक के यहां, कल का दूसरे के यहां' इस अर्थ में यहां वार शब्द का प्रयोग किया गया है। ऋग्वेद में वासर शब्द आया है, यह पहिले ही बता चुके हैं। इससे ज्ञात होता है कि सात वारों का प्रचार होने के पहिले ही दिन अर्थ में वार या वासर शब्द का प्रयोग होने लगा था।

नक्षत्र

अनुशासन पर्व में दो जगह (अध्याय ६४, ६९) सत्ताईसों नक्षत्रों के नाम एकत्र लिखे हैं। उनका आरम्भ कृत्तिका से है। भिन्न-भिन्न नक्षत्रों के नाम अनेकों स्थलों में आये हैं। उन सब को यहां लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है। केवल कुछ विशेष ध्यान देने योग्य श्लोक यहां लिखते हैं।

इस वैदिक कथा का कि तारारूप मृग के पीछे रुद्र दौड़ा, उल्लेख अनेकों स्थलों में है। उदाहरणार्थ—

अन्वधावन्मृगं रामो रुद्रस्तारामृगं यथा ॥२०॥

वनपर्व, अध्याय २७८।

अन्य संस्कृत ग्रन्थों में भी इस बात का उल्लेख अनेकों जगह है कि रुद्र मृग के पीछे लगा था। सौप्तिक पर्व में इस कथा का स्वरूप कुछ भिन्न है। वह इस प्रकार है—

ततो दैवयुगेऽतीते देवा वै समकल्पयन्।
यज्ञं वेदप्रमाणेन विधिवद्यष्टुमीप्सवः ॥१॥

इसके बाद वहां रुद्र आया और--

ततः स यज्ञं विव्याध रौद्रेण हृदि पत्रिणा ।
अपक्रान्तस्ततो यज्ञो मृगो भूत्वा सपावकः ।।१३।।
स तु तेनैव रूपेण दिवं प्राप्य व्यराजत ।
अन्वीयमानो रुद्रेण युधिष्ठिर नभःस्थले ।।१४।।

अध्याय १८

शान्तिपर्व, अध्याय २८३, मोक्षपर्व में भी यह कथा इसी प्रकार है।

पुनर्वसु के विषय में लिखा है--

तावुभौ धर्मराजस्य प्रवीरौ परिवार्श्वतः ।
रथाभ्यासे चकाशेते चन्द्रस्येव पुनर्वसू ।।२८।।

कर्णपर्व, अध्याय ४६।

अर्थात् दोनों पुनर्वसुएं चन्द्रमा के दोनों ओर शोभित हैं।

पञ्चभिर्भ्रातृभिः पार्थैर्द्रोणः परिवृतो बभौ ।
पञ्चतारेण संयुक्तः सावित्रेणेव चन्द्रमाः ।।३०।।

आदिपर्व, अध्याय १३५।

इसमें हस्त के पांच तारों का वर्णन है।

क्षितावपि भ्राजति तत् (कस्यचिद्राज्ञो मुखं) सकुण्डलं
विशाखयोर्मध्यगतः शशी यथा ।।४८।।

कर्णपर्व, अध्याय २१।

इसमें विशाखा के दो तारे[1] बतलाये हैं।

अन्य तारे

२७ नक्षत्रों के अतिरिक्त अन्य तारों में से व्याध का नाम ऊपर मृग के साथ आया है।

१. कुछ ज्योतिष ग्रन्थों में विशाखा के ४ तारे लतलाये हैं। वस्तुतः इनमें पूर्ण तेजस्वी दो ही (आल्फा और बीटा लिखा) हैं। पूर्ण चन्द्रमा पास रहने पर वे भी पूर्ण तेजस्वी नहीं दिखाई देते परन्तु शुक्ल पञ्चमी के पहिले और कृष्ण दशमी के बाद जब चन्द्रमा
नहीं दिखाई देते परन्तु शुक्ल पञ्चमी के पहिले और कृष्ण दशमी के बाद जब चन्द्रमा
उनके मध्य में आता है उस समय का दृश्य सचमुच बड़ा ही मनोहर होता है। (ज्योतिर्विलास, आवृत्ति २, पृ० ३७ देखिए)

सप्तर्षीन् पृष्ठतः कृत्वा युद्धयेयुरचला इव ।।१९९।।
शान्तिपर्व, राजधर्म, अध्याय १०० ।
अत्र ते ऋषयः सप्त देवी चारुन्धती तथा ।।१४।।
उद्योगपर्व, अध्याय १११ ।

यहां द्वितीय वाक्य में अरुन्धति सहित सप्तर्षियों का उल्लेख है।

अगस्त्यशास्तां च दिशं प्रयाताः स्म जनार्दन ।।४४।।
उद्योगपर्व, अध्याय १४३ ।

इसमें अगस्त्य का नाम आया है।

योग और करण

योग और करणों का उल्लेख कहीं नहीं है।

मेषादि नाम

महाभारत में मेषादि नाम कहीं नहीं हैं। जिसने सम्पूर्ण महाभारत पढ़ा है उसे इस बात का निश्चय अवश्य हो जायगा कि उसके किसी भी भाग के रचनाकाल में यदि मेषादि संज्ञाएं प्रचलित रही होतीं तो उनके नाम उसमें अवश्य आते। इससे सिद्ध होता है कि महाभारत के रचनाकाल में मेषादि द्वादश राशियों का प्रचार नहीं था। क्रान्तिवृत्त के १२ भाग मानकर उसके अनुसार ग्रहस्थिति लाने की पद्धति भी महाभारत में नहीं है। ग्रहों और चन्द्रमा की स्थिति सर्वत्र नक्षत्रों द्वारा बतलायी है।

सौरमास

सूर्यस्थिति का कहीं विशेष वर्णन नहीं है तथापि वेदाङ्गज्योतिष की भाँति उस समय सौरमास का प्रचार अवश्य रहा होगा। इतना ही नहीं—

पर्वसु द्विगुणं दानमृतौ दशगुणं भवेत् ।।२४।।
अयने विषुवे चैव षडशीतिमुखेषु च ।
चन्द्रसूर्योपरागे च दत्तमक्षयमुच्यते ।।२५।।
वनपर्व, अध्याय २०० ।

इन श्लोकों में भिन्न-भिन्न पुण्यकालों में दान देने का माहात्म्य बतलाने के प्रसंग में आठ संक्रान्तियों का वर्णन भी आया है। सूर्यसिद्धान्तादि ज्योतिष ग्रन्थों में दोनों अयनों के नाम कर्क और मकर हैं। दोनों विषुवों के नाम मेष और तुला हैं। षडशीति संज्ञा भी उनमें है और उससे मिथुन, कन्या, धन और मीन चार राशियों का ग्रहण

किया गया है। उपर्युक्त श्लोक में 'षडशीतिमुखेषु' प्रयोग बहुवचनात्मक है। इससे ज्ञात होता है कि मिथुनादि चार नामों से बोधित होनेवाले क्रान्तिवृत्त के चार भाग को षडशीति कहते थे। अतः सिद्ध हुआ कि महाभारत-काल में कम से कम सूर्य के ही सम्बन्ध से क्रान्तिवृत्त के १२ भागों की कल्पना हो चुकी थी।

ग्रहण

चन्द्रमा और सूर्य के ग्रहणों का सामान्य वर्णन अनेकों स्थलों में है। ग्रहण के समय और विशेषतः सूर्यग्रहण के समय श्राद्ध करने और भूम्यादि दान देने का फल अनेकों जगह लिखा है। ऐसे भी उल्लेख बहुत से हैं जिनमें बताया है कि अमुक समय ग्रहण लगा, जैसे पाण्डवों के वनवास के समय सूर्य-ग्रहण हुआ था। उसके विषय में लिखा है--

राहुग्रसदादित्यमपर्वणि विशांपते ।।१६।।

सभापर्व, अध्याय ७६।

कौरव-पाण्डवों के युद्ध के पूर्व धृतराष्ट्र को उपदेश देने के लिए व्यास जी आये थे। उनके भाषण में निम्नलिखित वाक्य आये है--

अलक्ष्यः प्रभया हीनः पौर्णमासीञ्च कार्तिकीम् ।
चन्द्रोभूदग्निवर्णश्च पद्मवर्णे नभस्तले ।।

भीष्मपर्व, अध्याय २।

चतुर्दशीं पञ्चदशीं भूतपूर्वां तु षोडशीम् ।
इमां तु नाभिजानेहममावास्यां त्रयोदशीम् ।।
चन्द्रसूर्याविभौ ग्रस्तौ एकमासीं त्रयोदशीम् ।।३२।।

भीष्मपर्व, अध्याय ३।

इन वाक्यों से और पूर्वापर सन्दर्भ द्वारा ज्ञात होता है कि युद्ध के पूर्व कार्तिकी पूर्णिमा में चन्द्रग्रहण और उसके आगेवाली अमावास्या में सूर्यग्रहण हुआ था। एक मास में दो ग्रहण होते हैं, पर उन दोनों की एक स्थान में दिखलाई देने की संभावना कम होती है, इसीलिए ज्योतिष के संहिता ग्रन्थों मे यह बड़ा भारी उत्पात माना गया है। इसके विषय में भटोत्पल ने बृहत्संहिता की टीका (राहुचार) में महाभारतोक्त इन ग्रहणों का विचार किया है।

विश्वघस्र पक्ष

उपर्युक्त वाक्यों में १३ दिन के पक्ष का वर्णन आया है। १३ दिन का पक्ष होने का प्रसंग क्वचित् ही आता है और उसे भी उत्पात सरीखा ही मानते हैं। उसे क्षयपक्ष

कहते हैं। सूर्यसिद्धान्तादि गणित ग्रन्थों द्वारा चन्द्रमा और सूर्य की स्पष्ट स्थिति का गणित करके तिथि लाने से १३ दिन का पक्ष, आता है परन्तु वेदाङ्गज्योतिषोक्त मध्यम मान द्वारा या अन्य किसी भी सूक्ष्म मध्यम मान से पक्ष में १३ दिन कभी नहीं आते। वेदाङ्गज्योतिषानुसार अर्धचान्द्रमास (पक्ष) का मान १४ दिन ४५ घटी २९ $\frac{१}{३१}$ पल और सूर्यसिद्धान्तादि गणित ग्रन्थ तथा यूरोपियन सूक्ष्म मानों द्वारा पक्ष का मध्यम मान १४ दिन ४५ घटी ५५ $\frac{३}{५०}$ पल आता है। मध्यम मान से पक्ष में दिन १४ से कम कभी नहीं आते। इसलिए १३ दिन का पक्ष होना असम्भव है पर स्पष्टमान से हो सकता है। उदाहरणार्थ, शके १७९३ फाल्गुन कृष्णपक्ष तेरह दिनों का था। शके १८०० का ज्येष्ठ-शुक्लपक्ष भी १३ दिन का था। इन दोनों में ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्गानुसार और इंगलिश नाटिकल आल्मनाक द्वारा बनाये हुए सूक्ष्म केरोपन्तीय पञ्चाङ्गानुसार भी पक्ष १४ दिन से कुछ घटी कम था। ऐसा प्रसंग बहुत कम आता है और इस स्थिति में भी पक्ष सर्वदा १३ दिन का ही नहीं हुआ करता। उदाहरणार्थ मान लीजिए किसी मेषमास के प्रथम दिन सूर्योदय के ४ घटी बाद अमावास्या या पूर्णिमा समाप्त हुई है और स्पष्ट तिथिमान से अर्धमास का मान १३ दिन ५५ घटी है तो उस मास के १४ वें दिन सूर्योदय से ५९ घटी पर अग्रिम अमावास्या या पूर्णिमा समाप्त होगी। प्रथम दिन सूर्योदय के बाद पर्वान्त होने के कारण उस दिन की गणना पिछले पक्ष में होगी और वर्तमान पक्ष में केवल १३ दिन रह जायेंगे। इसी उदाहरण में मेषमास के प्रथम दिन सूर्योदय के १० घटी बाद पर्वान्त मान लेने से अग्रिम पर्वान्त मेष के १५ वें दिन सूर्योदय के ५ घटी बाद होगा अर्थात् पक्ष में १३ के बदले १४ दिन हो जायेंगे। इससे ज्ञात होता है कि स्पष्टमान से पक्ष में १३ दिन हो सकते हैं, पर मध्यम मान से कभी भी नहीं होंगे। इससे सिद्ध हुआ कि महाभारत-काल में हमारे देश के लोग स्पष्ट-तिथि का गणित जानते थे अर्थात् उन्हें सूर्य और चन्द्रमा की स्पष्ट गतिस्थिति का ज्ञान था। यह बात बड़े महत्व की है।

महाभारतोक्त १३ दिन का पक्ष स्पष्ट या मध्यम तिथि द्वारा न लाया गया हो बल्कि केवल चन्द्रमा की प्रत्यक्ष स्थिति देखकर गिनकर लिख दिये गये हों, यह भी असम्भव है क्योंकि अमावास्या को चन्द्रमा दिखाई नहीं देता और १३ दिन का पक्ष उसी स्थिति में होता है जब कि तिथियों की घटियां उपर्युक्त उदाहरण सरीखी हों परन्तु पूर्णिमा और अमावास्या के पास की चन्द्र-स्थिति का थोड़ा विचार करने से अथवा उसका प्रत्यक्ष अवलोकन करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि बिना गणित किये चन्द्रमा की प्रत्यक्ष स्थिति के अवलोकन मात्र से १३ दिन के पक्ष का ज्ञान होना अशक्य है। इस विषय का यहां थोड़े में विवेचन करना कठिन है।

उपर्युक्त वचनों से ज्ञात होता है कि कार्तिकी पूर्णिमा को चन्द्रग्रहण और उससे आगेवाली अमावास्या में सूर्यग्रहण हुआ था और यही पक्ष १३ दिनों का था। शुक्ल-पक्ष १३ दिन का हो तो उसके आरम्भ में सूर्यग्रहण और अन्त में चन्द्रग्रहण हो सकता है। यह बात शके १८१७ के निरयण वैशाख-शुक्लपक्ष की तिथियों का अवलोकन करने से समझ में आ जाती है परन्तु कृष्णपक्ष १३ दिनों का होने पर उसके आरम्भ में चन्द्रग्रहण और समाप्ति में सूर्यग्रहण होना असम्भव है। पञ्चाङ्ग में कोई १३ दिन का कृष्ण-पक्ष निकालकर देखिए, इसकी स्पष्ट प्रतीति हो जायगी। यदि ऐसा मान भी लें तो दोनों पर्वान्तों का अन्तर अधिकाधिक लगभग १३ दिन ३० घटी होगा, पर पक्ष का स्पष्टमान १३ दिन ५० घटी से कम कभी होता ही नहीं। अतः यह स्थिति सर्वथा असम्भव ही है। आधुनिक स्पष्टमान से १३ दिन का ऐसा कृष्णपक्ष कभी नहीं आता जिसके आरम्भ में चन्द्रग्रहण और अन्त में सूर्यग्रहण लगता हो और मध्यम मान से तो १३ दिन का पक्ष ही नहीं होता परन्तु महाभारत में इसका वर्णन आया है अतः मानना पड़ता है कि पाण्डवों के समय चन्द्रमा और सूर्य की स्पष्ट गति का गणित था तो अवश्य, पर वह आधुनिक पद्धति से भिन्न अर्थात् कम सूक्ष्म था।

दुर्योधन-वध के समय सूर्यग्रहण हुआ था। उसके विषय में लिखा है—

राहुश्चाग्रसदादित्यमपर्वणि विशांपते ।।१०।।

गदापर्व, अध्याय २७।

यह अतिशयोक्ति मालूम होती है क्योंकि युद्ध के एक मास पूर्व सूर्यग्रहण का वर्णन आ चुका है, अतः उसके एक मास बाद तुरन्त दूसरा सूर्यग्रहण होना असम्भव है। इस श्लोक में भी यही कहा है कि पर्व के अभाव में ही ग्रहण हुआ। १३वें दिन अमावास्या हुई और उस दिन सूर्यग्रहण लगा, यह कथन भी अतिशयोक्ति हो सकता है परन्तु वह वचन हमें बतलाता है कि उस समय लोग १३ दिन के पक्ष से परिचित नहीं थे, यह नहीं कहा जा सकता। इससे सिद्ध हुआ कि उपर्युक्त कथन बिलकुल ठीक है।

ग्रह-ज्ञान

अब हमें यह विचार करना है कि महाभारत में ग्रहों के विषय में क्या लिखा है। वनपर्व में एक जगह सूर्य का वर्णन किया है। वह इस प्रकार है—

सोमो बृहस्पतिः शुक्रो बुधोङ्गारक एव च ।।१७।।

इन्द्रो विवस्वान् दीप्तांशुः शुचिः शौरिः शनैश्चरः ।।

वनपर्व, अध्याय ३।

इसमें बुधादि पांच ग्रहों के नाम आये हैं।

निम्नलिखित श्लोक में बतलाया है कि ग्रह पांच हैं।

ते तु क्रुद्धा महेष्वासा द्रौपदेयाः प्रहारिणः ।।
राक्षसं दुद्रुवुः संख्ये ग्रहाः पञ्च रविं यथा ।।३७।।

भीष्मपर्व, अध्याय १०० ।

नीचे के श्लोक में सात ग्रहों का वर्णन है।

प्रजासंहरणे राजन् सोमं सप्तग्रहा इव ।।२२।।

द्रोणपर्व, अध्याय ३७ ।

यहां पूर्व सन्दर्भ यह है कि सात ग्रह चन्द्रमा को कष्ट देते हैं।

निःसरन्तो व्यदृश्यन्त सूर्यात्सप्त महाग्रहाः ।।४।।

कर्णपर्व, अध्याय ३७ ।

इसमें सात ग्रहों का उल्लेख है। ऐसे वर्णन और भी कई जगह आये हैं। इन सात ग्रहों में राहु और केतु की भी गणना है। वस्तुतः राहु और केतु दृश्य ग्रह नहीं हैं। उनका ज्ञान ग्रहण या चन्द्रमा के शर द्वारा होना सम्भव है। इससे मालूम होता है कि लोग उस समय ग्रहण की वास्तविक उपपत्ति जानते थे।

कहा जाता है कि हमारे ज्योतिष ग्रन्थों में बतलाये हुए ग्रहों के कुछ नाम अन्य भाषाओं के हैं, मूलतः संस्कृत के नहीं हैं परन्तु महाभारतोक्त सब नाम संस्कृत के ही हैं।

वक्रगति

महाभारत में ग्रहों के वक्रत्व का वर्णन अनेकों स्थलों में है। यथा—

लोकत्रासकरावास्तां (द्रोण्यर्जुनौ) विमार्गस्थौ ग्रहाविव ।।२२।।

कर्णपर्व, अध्याय १८ ।

प्रत्यागत्य पुनर्जिष्णुर्जघ्ने संसप्तकान् बहून् ।
वक्रातिवक्रगमनादंगारक इव ग्रहः ।।१।।

कर्णपर्व, अध्याय २० ।

त्रेता द्वापरयोः सन्धौ तदा दैवविधिक्रमात् ।।१३।।
न ववर्ष सहस्राक्षः प्रतिलोमोभवद्गुरुः ।।१५।।

शान्तिपर्व, आपद्धर्म, अध्याय ११ ।

ग्रहयुति

ग्रहों के युद्ध अर्थात् अत्यन्त निकट योग का वर्णन भी अनेकों स्थानों में है। यथा—

ततः समभवद्युद्धं शुक्रांगिरसवर्चसोः (द्रौण्यर्जुनयोः)।
नक्षत्रमभितो व्योम्नि शुक्रांगिरसयोरिव ॥१॥

कर्णपर्व, अध्याय १८।

भृगुसूनुधरापुत्रौ शशिजेन समन्वितौ ॥१८॥

शल्यपर्व, अध्याय ११।

युद्धकालीन-ग्रहस्थिति

महाभारतीय—युद्धकालीन और उससे एक दो मास पूर्व या पश्चात् की ग्रह-स्थिति का वर्णन महाभारत में है। कार्तिक शुक्ला १२ के लगभग भगवान् श्रीकृष्ण कौरवों के यहां शिष्टाचार के लिए गये थे। अग्रिम अमावास्या के पूर्व सातवें दिन उधर से लौटते समय कर्ण ने उनसे कहा था—

प्राजापत्यं हि नक्षत्रं ग्रहस्तीक्ष्णो महाद्युतिः।
शनैश्चरः पीडयति पीडयन् प्राणिनोऽधिकम् ॥८॥
कृत्वा चांगारको वक्रं ज्येष्ठायां मधुसूदन।
अनुराधां प्रार्थयते मैत्रं संगमयन्निव ॥९॥
विशेषेण हि वार्ष्णेय चित्रां पीडयते ग्रहः।
सोमस्य लक्ष्म व्यावृत्तं राहुरर्कमुपैति च ॥१०॥

उद्योगपर्व, अध्याय १४३।

कर्ण के कथन का अभिप्राय यह है कि ये सब बहुत बड़े दुश्चिह्न दिखाई दे रहे हैं। अतः लोकसंहार होने की संभावना है।

युद्ध के पूर्व व्यास जी धृतराष्ट्र से कहते हैं —

श्वेतो ग्रहस्तथा चित्रां समतिक्रम्य तिष्ठति ॥१२॥
धूमकेतुर्महाघोरः पुष्यं चाक्रम्य तिष्ठति ॥१३॥
मघास्वंगारको वक्रः श्रवणे च बृहस्पतिः।
भगं नक्षत्रमाक्रम्य सूर्यपुत्रेण पीड्यते ॥१४॥
शुक्रः प्रोष्ठपदे पूर्वे समारुह्य विरोचते ॥१५॥
रोहिणीं पीडयत्येवमुभौ च शशिभास्करौ।
चित्रास्वात्यन्तरे चैव विष्टितः परुषोग्रहः ॥१७॥
वक्रानुवक्रं कृत्वा च श्रवणं पावकप्रभः।
ब्रह्मराशिं समावृत्य लोहितांगो व्यवस्थितः ॥१८८॥

संवत्सरस्थायिनौ च ग्रहौ प्रज्वलितावुभौ।
विशाखायाः समीपस्थौ बृहस्पतिशनैश्चरौ ।।२७।।

भीष्मपर्व, अध्याय ३।

व्यास ने इन चिह्नों को लोकसंहार-दर्शक बतलाया है।

ग्रहज्ञान

पहिले बता चुके हैं कि उपर्युक्त व्यास और कर्ण के भाषणों में जिस ग्रहस्थिति का वर्णन किया गया है वह ठीक पाण्डवों के समय की है। इससे सिद्ध होता है कि पाण्डवों का समय चाहे जो हो पर उस समय लोगों को ग्रहों का ज्ञान था और ग्रहस्थिति का निर्देश नक्षत्रों द्वारा किया जाता था।

पाण्डवकाल

महाभारत के कुछ वचनों से सिद्ध होता है कि पाण्डवों का समय द्वापर और कलियुग की सन्धि है। यथा—

अन्तरे चैव सम्प्राप्ते कलिद्वापरयोरभूत्।
स्यमन्तपञ्चके युद्धं कुरुपाण्डवसेनयोः ।।१३।।

आदिपर्व, अध्याय २।

मारुति ने भीम से कहा है—

एतत्कलियुगं नाम अचिराद्यत्प्रवर्तते ।।३८।।

वनपर्व, अध्याय १४९।

वनपर्व के १८८वें अध्याय में युगों के मान बतलाये हैं। उसमें कलियुग के विषय में भविष्य रूप में बहुत सी बातें बतायी हैं। वनवास के समय धर्मराज ने कहा है—

अस्मिन् कलियुगे त्वस्ति पुनः कौतूहलं मम।
यदा सूर्यश्च चन्द्रश्च तथा तिष्यबृहस्पती ।।९०।।
एकराशौ समेष्यन्ति प्रपत्स्यति तदा कृतम् ।।९१।।

वनपर्व, अध्याय १९०।

दुर्योधन का वध होने के बाद श्रीकृष्ण ने बलराम से कहा है—

प्राप्तं कलियुगं विद्धि प्रतिज्ञां पाण्डवस्य च।
आनृण्यं यातु वैरस्य प्रतिज्ञायाश्च पाण्डवः ।।२३।।

गदापर्व, अध्याय ३१।

इन वचनों से सिद्ध होता है कि पाण्डव द्वापर और कलियुग की सन्धि में हुए। हमारे सभी ज्योतिषग्रन्थ शकारम्भ के ३१७९ वर्ष पूर्व कलियुग का आरम्भ मानते हैं अतः उनके मतानुसार शके १८१७ में पाण्डवों को हुए ४९९६ अर्थात् लगभग ५००० वर्ष बीत चुके। कलियुगारम्भ के विषय में हमारे सब ज्योतिष ग्रन्थों का मत एक है परन्तु ये सभी ग्रन्थ कलियुग का आरम्भ होने के लगभग ३६०० वर्ष बाद बने हैं। उनसे प्राचीन वैदिककाल[1] और वेदाङ्गकाल में बने हुए अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं परन्तु उनमें कलियुग का आरम्भकाल निश्चित करने का कोई साधन नहीं मिलता। यूरोपियन विद्वानों का कथन है कि ज्योतिष ग्रन्थों में केवल ग्रहस्थिति के आधार पर कल्पना द्वारा कलियुग का आरम्भकाल निश्चित किया गया है और उनका यह कथन विचारणीय है। इसका विचार आगे करेंगे। ज्योतिष-ग्रन्थोक्त कलियुगारम्भ-काल यदि ठीक है और पाण्डव यदि सचमुच द्वापर के अन्त में हुए हैं तो उनका समय शकपूर्व लगभग ३२०० वर्ष होगा।

प्रसिद्ध ज्योतिषी प्रथम आर्यभट (शके ४२१) ने स्पष्ट कहा है कि महाभारतीय युद्ध द्वापर के अन्त में हुआ (द्वितीय भाग में आर्यभट का वर्णन देखिए) और उनके ग्रन्थ से सिद्ध होता है कि शकारम्भ के ३१७९ वर्ष पूर्व कलियुग का आरम्भ हुआ है।

वराहमिहिर शके (४२७) ने लिखा है—

> आसन् मघासु मुनयः शासति पृथ्वीं युधिष्ठिरे नृपतौ।
> षड्द्विकपञ्चद्वि २५२६ युतः शककालस्तस्य राज्ञश्च॥
>
> बृहत्संहिता, सप्तर्षिचार।

जब कि पृथ्वी पर युधिष्ठिर राजा का राज्य था मुनि (सप्तर्षि) मघा में थे। शककाल में २५२६ जोड़ देने से उस राजा (युधिष्ठिर) का (समय) आता है।

इससे वराहमिहिर का मत ऐसा मालूम होता है कि शक के २५२६ वर्ष पूर्व अर्थात् कलियुगारम्भ के ६५३ वर्ष बाद पाण्डव हुए। वराह ने सप्तर्षिचार वृद्धगर्ग के मतानुसार लिखा है अतः उनका भी मत यही होना चाहिए। राजतरङ्गिणी नामक काश्मीर का इतिहास कल्हण ने वराहमिहिर के लगभग सात-आठ सौ वर्ष बाद लिखा है। उसके प्रथम उल्लास में गर्ग और वराह के मतानुसार पाण्डवों का काल गतकलि ६५३ ही लिखा है।

गर्गवराहोक्त यह काल कल्पित मात्र है। वराहमिहिर ने सप्तर्षिचार में लिखा है कि सप्तर्षि गतिमान् हैं और वे प्रत्येक नक्षत्र में १०० वर्ष रहते हैं। उसी के अनुसार

१. वैदिक काल की अवधि इस भाग के उपसंहार में निश्चित की गयी है।

उन्होंने यह काल भी निश्चित किया है, परन्तु हम समझते हैं सप्तर्षियों में गति बिलकुल नहीं है। वे युधिष्ठिर के समय मघा में थे और अब भी मघा में ही हैं। यदि यह कथन ठीक मान लिया जाय कि वे प्रत्येक नक्षत्र में १०० वर्ष रहते हैं तो उन्हें सम्पूर्ण नक्षत्र मण्डल की एक प्रदक्षिणा करने में २७०० वर्ष लगेंगे और उससे यह निष्पन्न होगा कि युधिष्ठिर को हुए २७०० या ५४०० अथवा किसी संख्या से गुणित २७०० तुल्य वर्ष बीते हैं परन्तु वस्तुतः सप्तर्षि गतिमान् नहीं हैं और यह सब व्यर्थ की कल्पना है। इसी प्रकार गर्ग और वराहोक्त काल भी निरर्थक हैं। इन गर्ग का समय शक की प्रथम या द्वितीय शताब्दी होनी चाहिए। उन्हें सप्तर्षि मघा के आसपास दिखलाई पड़े, इसलिए उन्होंने निश्चय किया कि शकारम्भ के समय युधिष्ठिर को हुए २५२६ वर्ष बीत चुके थे। आकाश में सप्तर्षि जिस प्रदेश में हैं वह बहुत बड़ा है। सम्प्रति सप्तर्षियों को मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी, हस्त और चित्रा में से चाहे जिस नक्षत्र में कह सकते हैं। यही स्थिति गर्ग और वराह के समय भी थी। हम समझते हैं, इसी कारण उन्हें ऐसा मालूम हुआ होगा कि सप्तर्षि गतिमान् हैं। पहले उनकी स्थिति किसी ने मघा में बतलायी है और इस समय पूर्वाफाल्गुनी में दिखाई दे रहे हैं तो हम उन्हें गतिमान् अवश्य कहेंगे। वराहमिहिर गर्ग के लगभग दो-तीन सौ वर्ष बाद हुए। उन्हें भी यह काल उचित मालूम पड़ा, परन्तु वस्तुतः है कल्पित ही।

महाभारत में पाण्डवों का प्रादुर्भावकाल द्वापर के अन्त में बतलाया है और वराहमिहिर के समय भी लोगों की यह धारणा अवश्य रही होगी। वराहमिहिर के समकालीन अथवा उनसे थोड़े ही प्राचीन आर्यभट ने यह बात स्वीकार की है परन्तु गर्ग और वराह सरीखे ज्योतिषियों ने नहीं मानी है। इससे महाभारत का यह कथन कि पाण्डव द्वापर के अन्त में हुए संशयग्रस्त मालूम होने लगता है।

महाभारतीय युद्धकालीन उपर्युक्त ग्रहस्थिति के आधार पर रा० रा० विसाजी रघुनाथ लेले ने गणित द्वारा पाण्डवों का समय निश्चित कर उसे शके १८०३ में समाचार पत्रों में प्रकाशित किया था। यहां उसका विचार करेंगे।

लेले के कथन का सारांश यह है—

कर्ण और व्यास के वार्तालाप सम्बन्धी ग्रहस्थिति में कुछ ग्रह दो नक्षत्रों में बतलाये हैं। चन्द्रमा भी दो नक्षत्रों में बताया है। युद्ध के आरम्भ दिन की चन्द्रस्थिति के विषय में लिखा है—

मघाविषयगः सोमस्तद्दिनं प्रत्यपद्यत ।।२।।

भीष्मपर्व, अध्याय १७।

युद्ध के अन्तिम अर्थात् १८वें दिन बलराम तीर्थयात्रा करके लौटे। उस समय का उनका कथन है—

चत्वारिंशदहान्यद्य द्वे च मे निःसृतस्य वै।
पुष्येण सम्प्रयातोऽस्मि श्रवणे पुनरागतः॥६॥

गदापर्व, अध्याय ५

इससे युद्ध के प्रथम दिन रोहिणी या मृगशीर्ष नक्षत्र सिद्ध होता है। इस प्रकार महाभारत में युद्धकाल के आसपास ग्रहों की स्थिति दो दो नक्षत्रों में दिखाई देती है। चन्द्रमा रोहिणी या मृगशीर्ष और मघा में, मंगल मघा और अनुराधा या ज्येष्ठा में तथा गुरु विशाखा के समीप और श्रवण में बतलाया है। इससे ज्ञात होता है कि इन दो नक्षत्रों में से एक सायन विभागात्मक और दूसरा तारारूप अर्थात् निरयण है। इन दोनों में सात या आठ नक्षत्रों का अन्तर है। गणितानुसार सायन और निरयण नक्षत्रों में इतना अन्तर शकारम्भ के ५३०६ वर्ष पूर्व अर्थात् कलियुग का आरम्भ होने के २१२७ वर्ष पूर्व आता है। उस वर्ष सायन मार्गशीर्ष में युद्ध हुआ। उसके लगभग २२ दिन पूर्व की स्थिति व्यास और कर्ण के भाषण में है। कार्तिक की अमावस्या के ग्रह केरोपन्तीय ग्रहसाधन कोष्टक द्वारा स्पष्ट किये केरोपन्त ने वर्षमान सूर्यसिद्धान्त का लिया है। उसके ग्रन्थानुसार मेष संक्रान्ति उसी मान की चैत्र शुक्ल एकादशी शनिवार को १२ घटी २७ पल पर आती है। उस समय का राश्यादि स्पष्ट सायन रवि ८।२५।१ है अर्थात् वह चैत्र सावनमास से पौष होता है। उस वर्ष अयनांश ३ राशि ४ अंश ५६ कला आता है अर्थात् सायन ग्रह में ३।४।५६ अयनांश जोड़ देने से निरयण ग्रह आते हैं। उस वर्ष का सायन कार्तिक निरयण माघ था। मेष संक्रान्ति के ३१३ दिन बाद निरयण माघ की अमावास्या हुई। उस दिन के बम्बई के मध्यम सूर्योदय से १२ घटी २७ पल के सायन ग्रह नीचे लिखे हैं।

	रा०	अं०	क०	सायन-नक्षत्र	निरयण-नक्षत्र
सूर्य	७	३	१६	विशाखा	शमभिषक्
चन्द्रमा	७	३	२७	अनुराधा	शतभिषक्
बुध	७	१	८	विशाखा	घनिष्ठा
शुक्र	७	२१	१	ज्येष्ठा	पूर्वाभाद्रपदा
मंगल	४	६	३४	मघा	अनुराधा
गुरु	६	१७	४७	स्वाती	श्रवण
शनि	६	१	८	चित्रा	उत्तराभाद्रपदा
राहु	७	१०	४३	अनुराधा	शतभिषक्

चन्द्रमा इसके आगेवाली पूर्णिमा के दिन लगभग १ राशि १८ अंश अर्थात् सायन रोहिणी और निरयण पूर्वाफाल्गुनी में था।

अङ्गारक (मंगल) मघा में बतलाया है और तदनुसार वह सायन मघा में आता है। गुरु और शनि विशाखा के समीप बतलाये हैं। तदनुसार गणित द्वारा गुरु विशाखा के पास सायन स्वाती में और शनि उसके पास सायन चित्रा में आता है। पाण्डवकाल में निरयण मान की प्रवृत्ति ही नहीं थी। ग्रह के विषय में केवल इतना ही कहा जाता था कि वह अमुक सायन नक्षत्र में और अमुक तारा के पास है। उसी पद्धति के अनुसार मंगल ज्येष्ठा तारा के पास बतलाया है। आजकल की भाँति ही उस समय भी नक्षत्रों के तारे निरयण-विभागात्मक नक्षत्र के पास ही थोड़ा आगे या पीछे रहते थे। तदनुसार ज्येष्ठा का तारा निरयण अनुराधाविभाग[1] में था और उससे मंगल का योग हुआ था। 'अङ्गारकः ज्यष्ठायां वक्रं कृत्वा' वाक्य में वक्र का अर्थ विलोम-गति नहीं है बल्कि उसका अभिप्राय यह है कि मंगल ज्येष्ठा से शर तुल्य अन्तर पर था अर्थात् दूर गया था। बृहस्पति श्रवण में बतलाया है और गणित से श्रवण तारा के पास आता भी है। युद्धारम्भ के दिन चन्द्रमा रोहिणी में बतलाया है और गणित से भी रोहिणी ही में आता है। मघा के पास भी बतलाया है। तदनुसार पूर्वाफाल्गुनी विभाग में मघा तारा के पास आता है। शुक्र पूर्वाभाद्रपदा के पास बतलाया है और गणित से वह पूर्वभाद्रपदा में आता है। 'राहुः अर्कं उपैति" में राहु सूर्य के पास बतलाया है और वह भी सूर्य के पास आता है। सारांश यह कि महाभारत में ग्रहस्थिति के सम्बन्ध में ग्रहों के सायन नक्षत्र और उनके पास के तारे बतलाये हैं। उसके अनुसार युद्ध का समय शकपूर्व ५३०६वां वर्ष आता है।

यह लेले के कथन का सारांश हुआ। उनके गणित पर निम्नलिखित बहुत बड़े बड़े आक्षेप हैं।

(१) उन्होंने महाभारत की ग्रहस्थिति सायन बतलायी है, पर वस्तुतः वह सायन नहीं है। आधुनिक ज्योतिष ग्रन्थों में नक्षत्रचक्र का आरम्भ अश्विनी से माना है। उसके अनुसार उन्होने वसन्तसम्पात से प्रथम नक्षत्र को अश्विनी मानकर महाभारतोक्त सायन-ग्रहस्थिति की संगति लगायी है, पर यहां प्रश्न यह है कि सम्पात से प्रथम नक्षत्र को अश्विनी मानने का नियम आया कहां से? दूसरी बात यह कि नक्षत्रों के अश्विन्यादि नाम दृश्य

१. उपर्युक्त निरयण विभागात्मक नक्षत्र लेले ने नहीं लिखे हैं। उनका यह कथन कि ग्रह अमुक तारा के पास है, शीघ्र समझ में आने के लिए उनके गणितानुसार ये मैंने लिखे हैं।

तारों के ही हैं, यह बात बिल्कुल स्पष्ट है। सायन अश्विनी नक्षत्र कोई दृश्य तारा नहीं है, अतः लेले को यह स्वीकार करना चाहिए कि उनकी बतलायी हुई सायन गणना जब प्रचलित थी उस समय सम्पात जिस तारात्मक नक्षत्र में था उसी का नाम सम्पात से आगे वाले प्रथम नक्षत्र का भी रहा होगा और उनके मत में महाभारत के सायन नक्षत्र अश्विन्यादि हैं। अतः सायन अश्विन्यादि गणना का प्रचार उस समय हुआ होगा जब कि सम्पात अश्विनी तारा के पास था। शकपूर्व ८०० से ५०० वर्ष पर्यन्त सम्पात अश्विनी नक्षत्र के किसी न किसी तारे के पास था परन्तु पाण्डवों का समय इससे प्राचीन है, अतः लेले के कथनानुसार सायन अश्विन्यादि गणना का आरम्भकाल शकपूर्व लगभग २६ सहस्र वर्ष (अथवा किसी पूर्णांक से गुणित २६००० वर्ष) सिद्ध होता है परन्तु महाभारत में अश्विन्यादि गणना कहीं नहीं है। नक्षत्रों का आरम्भ कृत्तिका से है। धनिष्ठादि और श्रवणादि गणना का उल्लेख भी कई जगह है (पृष्ठ १५५ देखिए)। इतना ही नहीं, अश्विन्यादि गणना वेदों में भी कहीं नहीं है। वेदाङ्गज्योतिष में भी नक्षत्रों का आरम्भ धनिष्ठा से है और उनके देवता वेदानुसार कृत्तिकादि हैं। ऋक्पाठ के १४वें श्लोक में प्रथम नक्षत्र अश्विनी है परतु उसका कारण दूसरा है। वह वहीं लिखा है। शकपूर्व ५०० वर्ष के पहिले अश्विनी आरम्भ नक्षत्र नहीं था। सूर्यसिद्धान्तादि जिन ग्रन्थों में अश्विन्यादि गणना है उनमें से कोई भी शकपूर्व ५०० से प्राचीन नहीं है। इस बात को आगे सिद्ध करेंगे। आधुनिक सभी ज्योतिष ग्रन्थों में नक्षत्र अश्विन्यादि ही हैं। वैदिक काल और वेदाङ्गकाल के जिन ग्रन्थों में मेषादि संज्ञाएं नहीं हैं उनमें अश्विन्यादि गणना बिलकुल नहीं है।

(२) सायन गणना उस समय आरम्भ हुई जब कि सम्पात कृत्तिका तारा के पास था, सम्पात स्थान से ही सायन कृत्तिका नक्षत्र आरम्भ होता है और महाभारतोक्त ग्रह-स्थिति सायन है, ये तीन बातें मान कर पाण्डवों का समय निश्चित किया जा सकता है। महाभारत में ग्रहों के जो दो दो नक्षत्र बतलाये हैं उनमें लगभग सात या आठ का अन्तर है। इसलिए अश्विन्यादि गणना द्वारा पाण्डवों के समय सम्पात लगभग पुनर्वसु में आता है। शक के लगभग ५३०६ वर्ष पूर्व पुनर्वसु में सम्पात था। कृत्तिकादि गणना द्वारा मघा के लगभग सम्पात मानकर महाभारत की ग्रहस्थिति मिलायी जा सकती है पर ऐसा करने से पाण्डवों का समय और भी लगभग दो सहस्र वर्ष पीछे चला जायगा अर्थात् शकपूर्व लगभग ७३०० वर्ष होगा। शकपूर्व २४०० के लगभग सम्पात कृत्तिका तारा में था। पाण्डवों का समय इससे भी प्राचीन है। अतः लेले को यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि शकपूर्व २४०० के २६ सहस्र वर्ष पहिले अर्थात् शक के लगभग २८ सहस्र वर्ष पूर्व जब कि सम्पात कृत्तिका में था सायन कृत्तिकादि गणना आरम्भ हुई

और उसके बाद पाण्डवों के समय तक अर्थात् लगभग २१ सहस्र वर्ष पर्यन्त प्रचलित रही। परन्तु शक के २६ या २८ सहस्र वर्ष पूर्व सायन गणना का आरम्भ निश्चित करना गणित के कितने आडम्बरों से व्याप्त है, इसका ज्ञान उसी को होगा जो कि पञ्चाङ्ग के गणित से भली भाँति परिचित है। कम से कम मुझे तो विश्वास नहीं होता कि आज के २८ सहस्र वर्ष पूर्व हमारे देश के लोग इतना ज्योतिष गणित जानते रहे होंगे। लेले का कथन है[1] कि भारतीयों को गत २६ सहस्र वर्षों से ही नहीं बल्कि उसके भी पहिले से ज्योतिष गणित का अच्छा ज्ञान है और प्राचीन लोग वेध करना अच्छी तरह जानते थे। उस समय के ग्रन्थ सम्प्रति लुप्त हो गये हैं।

मुझे इस बात का कारण मालूम नहीं होता कि जो पद्धति २५ सहस्र वर्षों तक प्रचलित थी उसका एकाएक समूल लोप कैसे हो गया। उस समय का गणित ज्ञान और ग्रन्थ समुदाय एकबारगी नष्ट कैसे हो गया। आज लगभग गत दो सहस्र वर्ष के सैकड़ों ज्योतिष ग्रन्थों का इतिहास ज्ञात है। इतना ही नहीं, बिलकुल सूक्ष्मतया यह भी मालूम है कि एक के बाद दूसरा ग्रन्थ किस प्रकार बना।[2] इतना होते हुए भी सम्प्रति प्राचीन पद्धति का एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है और प्राचीन गणित का नाम शेष तक नहीं रहा है। शकपूर्व ५०० वर्ष से प्राचीन अनेकों ग्रन्थ उपलब्ध होते हुए भी उनमें इस सूक्ष्म गणित पद्धति की चर्चा बिलकुल नहीं है। लेले को यह अवश्य स्वीकार करना चाहिए कि वेद और वेदाङ्गज्योतिष पाण्डवों से प्राचीन हैं। वेद, वेदाङ्गज्योतिष और पाण्डवों के बाद के ग्रन्थ उपलब्ध होते हुए बीच का ज्योतिष ज्ञान और ज्योतिष ग्रन्थ लुप्त हो गये, उसका रहस्य मेरी समझ में नहीं आता।

सारांश यह कि वैदिककालीन किसी भी ग्रन्थ में अश्विनी प्रथम नक्षत्र नहीं है और अनेक प्रमाणों द्वारा यह बात सिद्ध होती है कि २८ सहस्र वर्ष पूर्व सायन और निरयण का सूक्ष्म भेद समझकर उसका प्रचार होने योग्य ज्योतिष गणित का ज्ञान हमारे देश में नहीं था। इन दो कारणों से सिद्ध होता है कि महाभारत में बतलायी हुई ग्रहस्थिति सायन नहीं है। अतः उसके आधार पर लाया हुआ समय भी शुद्ध नहीं है।

महाभारतोक्त ग्रहस्थिति के सायनत्व पर इन दो बड़े आक्षेपों के अतिरिक्त निम्न-लिखित कुछ फुटकर आक्षेप भी हैं।

(३) महाभारत में बृहस्पति और शनि विशाखा के समीप बतलाये हैं। गणित द्वारा गुरु सायन स्वाती में और शनि चित्रा में आता है। लेले ने दोनों को सायन

१. उन्होंने अपने ये मत मुझे २१ मई सन् १८९५ के अपने पत्रों द्वारा बतलाये हैं।
२. इन सबका विवेचन द्वितीय भाग में किया है।

विशाखा के समीप माना है। वस्तुतः सायन विशाखा कोई दृश्य तारा नहीं है। अतः महाभारतकार को चित्रा और स्वाती में स्थित ग्रहों को विशाखा के समीप बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं थी। स्पष्टतया यही कहना चाहिए था कि गुरु स्वाती में और शनि चित्रा में था ।

(४) कर्णवध के समय की स्थिति बतायी है—

बृहस्पतिः संपरिवार्य रोहिणीं बभूव चन्द्रार्कसमो विशांपते ।।६।।

यहाँ बृहस्पति रोहिणी में बतलाया है। लेले के गणितानुसार वह स्वाती या श्रवण में आता है अर्थात् रोहिणी की कोई व्यवस्था नहीं लगती। (५) एक जगह लिखा है—'शनि रोहिणी को पीड़ित करता है और सूर्यपुत्र भग (फल्गुनी) नक्षत्र पर आक्रमण कर उसे पीड़ित करता है'। यहां शनि के नक्षत्र चित्रा और उत्तराभाद्रपदा से भिन्न हैं। लेले ने इसका विचार नहीं किया है। किसी न किसी तरह समाधान करना ही हो तो कह सकते हैं कि 'ग्रह जिस नक्षत्र में बैठा है उससे भिन्न नक्षत्र को पीड़ा दे सकता है। इसलिए शनि चित्रा में रहते हुए रोहिणी को पीड़ित कर सकता है और भग को पीड़ित करनेवाला यह सूर्यपुत्र शनि नहीं है बल्कि आकाश में ग्रहों के पुत्र जो बहुत से धूमकेतु घूमा करते हैं उन्हीं में से एक यह भी है' परन्तु इससे ठीक समाधान नहीं होता। (६) 'वक्रानुवक्रं कृत्वा च श्रवणं पावकप्रभाः' श्लोक में पावकप्रभ लोहिताङ्ग श्रवण में बतलाया है। लेले को इसका विचार नहीं करने आया। उन्हें पावकप्रभ लोहिताङ्ग कोई धूमकेतु मानना पड़ता है। उसका अर्थ मंगल करने से संगति नहीं लगती क्योंकि गणित द्वारा मंगल सायन मघा या निरयण अनुराधा में आता है। सारांश यह कि जिन ग्रहों की स्थिति दो से अधिक नक्षत्रों में बतलायी है उनकी लेले के गणितानुसार ठीक व्यवस्था नहीं लगती। (७) 'मघास्वङ्गारको वक्रः श्रवणे च बृहस्पतिः' श्लोक में मघा और श्रवण नक्षत्र एक जाति के होने चाहिए अर्थात् यदि मघा सायन है तो श्रवण भी सायन ही होना चाहिए। परन्तु लेले को मघा सायन और श्रवण तारात्मक मानना पड़ता है। दूसरी विचित्रता यह है कि सायन होते हुए यहां मघा का प्रयोग बहुवचनान्त है। वस्तुतः सायन नक्षत्रों का प्रयोग बहुवचनान्त नहीं होना चाहिए क्योंकि उनका तारों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। (८) जिस दिन शल्य का वध हुआ उसके प्रातःकाल का वर्णन है—

भृगुसूनुधरापुत्रौ शशिजेन समन्वितौ ।।१८।।

शल्यपर्व, अध्याय ११।

इसमें शुक्र, मंगल और बुध एकत्र बतलाये हैं। लेले ने इसका विचार बिलकुल

नहीं किया है। (९) 'कृत्वा चाङ्गारको वक्रं...' में कहा है कि मंगल ज्येष्ठा में वक्री होकर अनुराधा की प्रार्थना कर रहा है। लेले के गणित में मंगल वक्री नहीं आता इसलिए उन्हें वक्र शब्द का दूसरा अर्थ करना पड़ता है। (१०) उनका कथन है कि मेरे अयनांश और सायन ग्रहों द्वारा ग्रहों के निरयण नक्षत्र लाने से चन्द्रमा पूर्वाफाल्गुनी में आता है। महाभारत में वह मघा के पास बतलाया है। मंगल अनुराधा में आता है। महाभारत में वह ज्येष्ठा के पास बतलाया है। वे यह भी कहते हैं कि महाभारतोक्त ग्रहस्थिति में निरयण विभागात्मक नक्षत्र हैं ही नहीं। ग्रह तारों के पास बतलाये हैं। यदि ऐसा है तो इस बात का पता लगाना चाहिए कि उनके निश्चित किये हुए समय में उन तारों की स्थिति कहाँ थी। अयन गति प्रति वर्ष ५० विकला मानने से शकपूर्व ५३०६वें वर्ष में पूर्वाभाद्रपदा-योगतारा का राश्यादि सायन भोग ८।१३।५ आता है। शुक्र इससे २२ अंश कम है अर्थात् वह शतभिषक् तारा के भी पीछे चला जाता है। अतः उसे पूर्वाभाद्रपदा के पास कहना शोभा नहीं देता। ज्येष्ठा का भोग ४।२९।२२ आता है। मंगल उससे २३ अंश पीछे अर्थात् विशाखा तारा के पास है। अतः उसे भी ज्येष्ठा के पास बतलाना उचित नहीं प्रतीत होता। सम्पातगति ५० विकला से कुछ न्यून या अधिक मानें, तारों की निज गति की भी गणना करें और ग्रहस्थिति भोग द्वारा न लेते हुए विषुवांश द्वारा लें तो भी इन दो ग्रहों की स्थिति महाभारतोक्त ग्रहस्थिति से नहीं मिलेगी। लेले के निश्चित किये हुए काल से थोड़ा आगे या पीछे कदाचित् ऐसी स्थिति हो सकती है जिसमें अन्तिम दो तीन आक्षेप लागू न हों परन्तु शेष ज्यों के त्यों बने रहेंगे।

सारांश यह कि महाभारतोक्त ग्रहस्थिति में सायन और निरयण दोनों पद्धतियों का संमिश्रण नहीं है और लेले का निश्चित किया हुआ समय अशुद्ध है।[1]

रा० रा० व्यंकटेश बापू जी केतकर ने उपर्युक्त सप्तर्षि सम्बन्धी 'आसन्मघासु मुनयः शासति पृथ्वीं युधिष्ठिरे नृपतौ' श्लोक का अर्थ यह किया है कि विक्रम के २५२६ वर्ष पूर्व युधिष्ठिर शक प्रचलित था और तदनुसार उन्होंने पाण्डवों का समय शकपूर्व (२५२६+१३५=) २६६१वां वर्ष माना है। शकपूर्व २६६२वें वर्ष के मार्गशीर्ष मास में अर्थात् ई० पू० २५८५वें वर्ष के नवम्बर की ८वीं तारीख को युद्धारम्भ और २५वीं को युद्ध की समाप्ति बतलायी है। केरोपन्तीय 'ग्रहसाधन कोष्ठक' नामक

१. इससे यह नहीं समझना चाहिए कि मुझे सायन गणना मान्य नहीं है। मेरा कथन केवल इतना ही है कि महाभारतोक्त ग्रहस्थिति सायन नहीं है। महाभारत से अत्यन्त प्राचीन वेदों को सायन गणना मान्य है। आगे इसका विस्तृत विवेचन किया जायगा।

पुस्तक द्वारा कार्तिक कृष्ण अमावास्या गुरुवार के प्रातःकालीन ग्रह ला कर उनमें १।१३।५७ अयनांश का संस्कार कर निम्नलिखित राश्यादि निरयण ग्रह लाये हैं।

ग्रह	रा० अं० क०	नक्षत्र	ग्रह	रा० अं० क०	नक्षत्र।
सूर्य	७।२४।०	......	शुक्र	७।१०।३३	अनुराधा।
मंगल	३।८।३०	पुष्य	शनि	६।७।५१	स्वाती।
गुरु	७।२४।४८	ज्येष्ठा	राहु	८।१६।३६	......

मार्गशीर्ष शुक्ल पूर्णिमा शुक्रवार का चन्द्रमा १ राशि २७ अंश ३० कला अर्थात् मृगशीर्ष नक्षत्र में लाया है। वे कहते हैं कि शुक्र की स्थिति महाभारतोक्त 'श्वेतो ग्रह प्रज्वलितो ज्येष्ठामाक्रम्य तिष्ठति' श्लोक के अनुसार है। गणित द्वारा युद्धारम्भ और युद्ध समाप्ति दोनों समयों में ग्रहण दिखलाये हैं और अन्तिम ग्रहण के समय जयद्रथ का वध बतलाया है।

यह कथन महाभारत के विरुद्ध है और उपर्युक्त ग्रहस्थिति उससे नहीं मिलती अतः केतकर का निश्चित किया हुआ यह समय त्याज्य है।[1]

महाभारतोक्त ग्रहस्थिति द्वारा अभी तक पाण्डवों का समय निश्चित नहीं हो सका है परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वह ग्रहस्थिति ही झूठी है। कर्ण और व्यास के भाषणों में वर्णित ग्रहस्थिति सत्य है और मैं समझता हूँ वह पाण्डवों के समय से लेकर आज तक सभी महाभारतों में बराबर चली आ रही है। मुझे तो यही कहना उचित जान पड़ता है कि हम लोगों को उसकी संगति ही लगाने नहीं आती। रा० रा० जनार्दन हरी आठले ने लेले के मत का खण्डन किया है और निरयण मान से ही फल-ज्योतिष के अनुसार उस स्थिति की संगति लगाने का प्रयत्न किया है पर मुझे वह बहुत कुछ सिद्ध हुआ-सा नहीं मालूम होता। जिसकी जैसी इच्छा हो वैसा अर्थ लगावे।

पाण्डवों के समय चैत्रादि नाम प्रचलित थे और उनका शकपूर्व ४ सहस्र वर्ष[2] से प्राचीन होना बिलकुल असम्भव है। यह बात आगे सिद्ध की है, अतः पाण्डवों का समय शकपूर्व ४ सहस्र वर्ष से प्राचीन कभी भी नहीं हो सकता।

१. सन् १८८४ के मई और जून मासों के इन्दुप्रकाश और पुणे-वैभव पत्रों में केतकर का गणित और उस पर किये हुए आक्षेप विस्तारपूर्वक लिखे हैं। उन्हें वहीं देखिये।

२. शक और ईसवी सन् में ७८ वर्ष का अन्तर है। ज्योतिष गणित द्वारा यदि किसी स्थिति विशेष का समय शकारम्भ के कुछ वर्ष पूर्व निश्चित होता है तो उसमें ७८ वर्षों का अन्तर पड़ना असम्भव नहीं है। इसके अनेक कारण हैं। अतः मैंने जहाँ शकपूर्व कोई वर्षसंख्या लिखी है वहाँ ईसवी पूर्व उतने वर्ष भी कह सकते हैं।

विष्णुपुराण और श्रीमद्भागवत् द्वारा भी पाण्डवों के समय का कुछ पता लगता है। प्रसङ्गवसात् उन स्थलों को यहाँ लिखते हैं।

महानन्दिसुत: शूद्रागर्भोद्भवोऽतिलुब्धो महापद्मो नन्द: परशुराम इवापरोऽखिल-क्षत्रियान्तकारी भविता ।।४।। तस्याप्यष्टौ सुता: सुमाल्याद्या भवितारस्तस्य च महापद्मस्यानु पृथ्वीं मोक्ष्यन्ति। महापद्मस्तु पुत्राश्च एकं वर्षशतमवनीपतयो भविष्यन्ति। नवैतान्नन्दान् कौटिल्यो ब्राह्मण: समुद्धरिष्यति ।।६।। तेषामभावे मौर्य्याश्च पृथ्वीं भोक्ष्यन्ति। कौटिल्य एवं चन्द्रगुप्तं राज्येऽभिषेक्ष्यति ।।७।।

यावत्परीक्षितो जन्म यावन्नन्दाभिषेचनम् ।
एतद्वर्षसहस्रं तु ज्ञेयं पञ्चदशोत्तरम् ।।३२।।

विष्णुपुराण, अंश ४, अध्याय २४।

यहाँ भविष्य रूप में बतलाया है कि युधिष्ठिर के पौत्र परीक्षित के जन्म से १०१५ वर्ष बाद नन्द का राज्याभिषेक हुआ। तत्पश्चात् नव नन्दों ने १०० वर्ष राज्य किया। उसके बाद चाणक्य का शिष्य मौर्य चन्द्रगुप्त गद्दी पर बैठा। भागवत द्वादश स्कन्ध के प्रथम और द्वितीय अध्यायों में भी यही कथा है। 'यावत् परीक्षितो जन्म... श्लोक भी उसमें है। वहाँ ज्ञेय के स्थान में शतं पाठ है। इस प्रकार परीक्षित से नन्द पर्यन्त १११५ वर्ष होते हैं। जब अलेक्ज़ेण्डर हिन्दुस्तान में आया उस समय चन्द्रगुप्त उससे मिलने गया था। ई० पू० ३१६ में वह पाटलिपुत्र में गद्दी पर बैठा। अलेक्ज़ेण्डर के बाद जब उसका सरदार सिल्यूकस प्रबल हो गया था चन्द्रगुप्त हिन्दुस्तान का अत्यन्त शक्तिशाली राजा समझा जाता था। अशोक उसका पौत्र था। ये बातें इतिहास-प्रसिद्ध और निर्विवाद सिद्ध हैं। अलेक्ज़ेण्डर और सिल्यूकस इत्यादिकों के समय द्वारा चन्द्रगुप्त का उपर्युक्त समय बिलकुल निश्चित हो चुका है। यदि भागवत और विष्णु पुराण का यह वर्णन कि परीक्षित के जन्म के १०१५ या १११५ वर्ष बाद नन्द का राज्याभिषेक हुआ सत्य है, तो पाण्डवों का समय ई० पू० लगभग १४३१ या १५३१ है। यूरोपियन विद्वान् भी प्राय: यही समय मानते हैं।

मेरे मतानुसार पाण्डवों का समय शकपूर्व १५०० और ३००० के मध्य में है। इससे प्राचीन नहीं हो सकता।

ग्रहगतिज्ञान

महाभारतोक्त ग्रहस्थिति से ज्ञात होता है कि उसके रचनाकाल में लोगों को ग्रहगति का अच्छा ज्ञान था। उदाहरणार्थ निम्नलिखित श्लोक देखिए।

क्षयं संवत्सराणाञ्च मासानाञ्च क्षयं तथा ।।४६।।
पक्षक्षयं तथा दृष्ट्वा दिवसानाञ्च संक्षयम् ।।

शान्तिपर्व, अध्याय ३०१, मोक्षधर्म ।

इसमें संवत्सर, मास, पक्ष और दिवस क्षय के नाम आये हैं। दिवसक्षय वेदाङ्ग-ज्योतिष में भी है। महाभारत में पक्षक्षय का वर्णन दूसरी जगह भी आया है। ऊपर विश्वघस्रपक्ष के प्रसंङ्ग में उसका विवेचन कर चुके हैं। संवत्सर का क्षय लगभग ८५ वर्षों के बाद होता है (द्वितीय भाग के पञ्चाङ्ग विचारान्तर्गत संवत्सर विचार में उदय-पद्धति और मध्यमराशि पद्धति देखिए) परन्तु उसमें ऐसी पद्धति की आवश्यकता है जिसमें गुरुगति की गणना राशि के अनुसार हो। महाभारत में मेषादि राशियों के नाम अथवा क्रान्तिवृत्त के १२ भागों के अनुसार ग्रहस्थिति बतलाने की पद्धति नहीं है अतः उस समय मध्यमराशि-भोग द्वारा संवत्सर निश्चित करने की पद्धति भी नहीं रही होगी। द्वादशसंवत्सरपद्धति इससे प्राचीन है। वह गुरु के उदयास्त पर अवलम्बित है। उसमें संवत्सर का क्षय बार-बार होता है। अनुमानतः महाभारत-काल में उसका प्रचार रहा होगा। मध्यमराशि पद्धति यदि थी तो गुरु की सूक्ष्म मध्यमगति का भी ज्ञान रहा होगा। सम्प्रति सूर्य और चन्द्रमा की स्पष्ट गति का सूक्ष्म ज्ञान हुए बिना क्षयमास नहीं लाया जा सकता। नक्षत्रों द्वारा महीनों का नाम रखने की पद्धति द्वितीय भाग में बतलायी है (पञ्चाङ्ग चार में मासनामविचार देखिए)। उसमें मासक्षय बार-बार आता है अतः महाभारतकाल में उसका प्रचार रहा होगा। उपर्युक्त पक्षक्षय के विवेचन से ज्ञात होता है कि उस समय आजकल की तरह सूर्य-चन्द्र की स्पष्टगति का सूक्ष्म ज्ञान नहीं था। मासक्षय, पक्षक्षय और दिवसक्षय यदि आजकल से ही थे तो सूर्य और चन्द्रमा के फलसंस्कार तथा स्पष्टगति का ज्ञान भी आजकल सरीखा ही रहा होगा।

सृष्टिचमत्कार

महाभारत में धूमकेतु और उल्कापातादि का वर्णन अनेकों जगह है। निम्नलिखित श्लोक में स्पष्ट कहा है कि वर्षा का कारण सूर्य है।

त्वमादायांशुभिस्तेजो निदाघे सर्वदेहिनाम् ।।
सर्वौषधिरसानाञ्च पुनर्वर्षासु मुञ्चसि ।।४६।।

वनपर्व, अध्याय ३।

कहीं-कहीं ज्वारभाटे का सम्बन्ध चन्द्रमा से बतलाया है। कई जगह पृथ्वी के

गोलत्व का भी वर्णन है। निम्नलिखित श्लोक में कहा है कि चन्द्रमा का पृष्ठ कभी भी दिखाई नहीं देता।

यथा हिमवतः पार्श्वं पृष्ठं चन्द्रमसो यथा।
न दृष्टपूर्वं मनुजैः .... ॥

शान्तिपर्व, अध्याय २०३, मोक्षधर्म।

सारांश यह कि उस समय लोगों की प्रवृत्ति आकाश और पृथ्वी के चमत्कारों का कारण जानने की थी।

संहिता-स्कन्ध

महाभारत में ऐसी बातें बहुत-सी हैं जिनका सम्बन्ध ज्योतिष के संहिता-स्कन्धान्तर्गत मुहूर्त ग्रन्थों में बतलाये हुए फलादिकों से है। युद्ध के समय की सम्पूर्ण ग्रहादिस्थिति फल के उद्देश्य से ही कही गयी है। भीष्म ने धर्मराज से कहा है—

यतो वायुर्यतः सूर्यो यतः शुक्रस्ततो जयः॥२०॥
एवं संचिन्त्य यो याति तिथिनक्षत्रपूजितः॥२५॥
विजयं लभते नित्यं सेनां सम्यक् प्रयोजनम्॥

शान्तिपर्व, अध्याय १००।

युद्धादि यात्रा के लिए पुष्य-योग का शुभत्व तो अनेकों जगह बतलाया है। एक जगह भगदेवताक नक्षत्र को विवाह नक्षत्र कहा है। केवल वेद में भग उत्तराफाल्गुनी का देवता है। और सभी ग्रन्थों में वह पूर्वाफाल्गुनी का देवता माना गया है, परन्तु मुहूर्तग्रन्थों में पूर्वाफाल्गुनी की गणना विवाह नक्षत्रों में नहीं है।

द्रौपदी के विवाह के विषय में कहा है—

अद्य पौष्यं योगमुपैति चन्द्रमाः पाणिं कृष्णा-
यास्त्वं (धर्मराज) गृहाणाद्य पूर्वम्॥५॥

आदिपर्व, अध्याय १९८।

पुष्य विवाहनक्षत्र न होने के कारण टीकाकार चतुर्धर ने लिखा है 'पुष्यत्यनेनेति तं, न तु पुष्यम्। पौष्यमिति पाठे पुष्याय हितम्' परन्तु यह ठीक नहीं मालूम होता। आगे बतलाया है कि पाँचों पाण्डवों ने क्रमशः पांच दिन द्रौपदी का पाणिग्रहण किया परन्तु आधुनिक विवाह नक्षत्रों में कोई भी पाँच नक्षत्र क्रमशः नहीं हैं।

सारांश

महाभारत की ज्योतिष सम्बन्धी बातें सामान्यतः बतला दी गयीं। कुछ लोगों का

कथन है कि उसमें वारों और मेषादि राशियों के नाम नहीं हैं, अतः भारतीयों ने ग्रीक इत्यादिकों से लिये हैं। इस संशय को दूर करने के लिए यहाँ महाभारत की कुछ विशेष महत्व की वातें लिखते हैं।

(१) पाण्डवों का समय किसी भी मत में शकपूर्व १५०० वर्ष से अर्वाचीन नहीं है। इससे चाहे जितना प्राचीन हो पर यह निश्चित है कि पाण्डव-काल में ग्रह का ज्ञान था। मेषादि संज्ञाओं और सात वारों का प्रचार होने के पहिले अर्थात् ग्रीक ज्योतिष का हमारे ज्योतिष से यदि कुछ सम्बन्ध है तो वह होने के पूर्व, (२) क्रान्तिवृत्त के १२ भाग मानने की पद्धति कम से कम सूर्य के सम्बन्ध से तो अवश्य ही थी। (३) १३ दिन के पक्ष से ज्ञात होता है कि सूर्य और चन्द्रमा की स्पष्ट गतिस्थिति का कुछ न कुछ ज्ञान अवश्य था। (४) पक्ष, मास और संवत्सर के क्षय का भी उल्लेख है। यदि वे आजकल सरीखे थे तो मानना पड़ेगा कि सूर्य और चन्द्रमा की स्पष्ट गतिस्थिति का आजकल जैसा ही सूक्ष्म ज्ञान था और गुरु प्रभृति ग्रहों की मध्यम गति भी जानते थे। (५) आकाश के अन्य चमत्कारों का अवलोकन होता था। इतना ही नहीं, स्पष्ट-गति-ज्ञान में उपयोगी पड़नेवाले ग्रहोदयास्त और वक्रगति इत्यादि का भी अवलोकन और विचार करते थे।

महाभारत की भाँति पुराणों द्वारा उपर्युक्त बातों का निश्चित विधान नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनका समय निश्चित नहीं है और सब पुराणों को पढ़ने के लिए दीर्घकाल की आवश्यकता भी है। इसलिए मैंने उसका विवेचन नहीं किया। रामायण का कुछ भाग वैदिककाल और वेदाङ्गकाल से अर्वाचीन है, क्योंकि उसमें मेषादि राशियों के नाम आये हैं। कुछ महाभारत से प्राचीन भी हो सकता है, परन्तु उसे पृथक् कर दिखाना कठिन है, इसलिए रामायण का भी विवेचन नहीं किया।

प्रथम भाग का उपसंहार

शतपथब्राह्मण काल

यहाँ प्रसङ्गानुसार कुछ और कथनीय विषयों तथा महत्व के अनुमानों का वर्णन करते हुए प्रथम भाग का उपसंहार करेंगे।

शतपथब्राह्मण में लिखा है—

एकं द्वे त्रीणि चत्वारिति वा अन्यानि नक्षत्राण्यथैता एव भूयिष्ठा यत्कृत्तिका-स्तद्भूमानमेवैतदुपैति तस्मात् कृत्तिकास्वादधीत ॥२॥ एता ह वै प्राच्यै दिशो

नं च्यवन्ते सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्चयवन्ते तत्प्राच्यामेवास्यै तद्दिश्याहितौ भवतस्तस्मात् कृत्तिकास्वादधीत ।।३।।

शतपथब्राह्मण २।१।२

अर्थ--अन्य नक्षत्र, एक, दो, तीन या चार हैं, पर ये कृत्तिकाएँ बहुत सी हैं। (जो इनमें अग्न्याधान करता है वह) उनका बहुत्व प्राप्त करता है, अतः कृत्तिका में आधान करना चाहिए। ये पूर्व दिशा से विचलित नहीं होतीं पर अन्य सब नक्षत्र पूर्व दिशा से च्युत हो जाते हैं। (जो इनमें आधान करता है) उसकी दो अग्नियां पूर्व में आहित हो जाती हैं। अतः कृत्तिका में आधान करना चाहिए।

कृत्तिकाओं के पूर्व दिशा से च्युत न होने का अर्थ यह है कि उनका सर्वदा पूर्व में उदय होता है अर्थात् वे विषुववृत्त में हैं और उनकी क्रान्ति शून्य है। सम्प्रति उनका उदय ठीक पूर्व में नहीं, बल्कि पूर्वविन्दु से किञ्चित् उत्तर की ओर हटकर होता है। इस परिवर्तन का कारण अयनगति है। अयनगति प्रतिवर्ष ५० विकला मानने से कृत्तिकायोगतारा की क्रान्ति शून्य होने का समय शकपूर्व ३०६८वां वर्ष और ४८ विकला मानने से उससे भी लगभग १५० वर्ष पूर्व अर्थात् कलियुगारम्भ के पास का समय आता है। उस समय के अन्य नक्षत्रों की क्रान्ति का विचार करने से रोहिणी का सबसे उत्तरवाला तारा, हस्त के दक्षिण ओर के तीन तारे, अनुराधा का एक, ज्येष्ठा का एक और अश्विनी का एक तारा विषुववृत्त के पास आता है। ठीक विषुववृत्त पर कदाचित् हस्त का कोई तारा रहा हो पर अन्य कोई नहीं था।

उपर्युक्त वाक्य में 'कृत्तिकाएँ पूर्व में उगती हैं' यह वर्तमानकालिक प्रयोग है, परन्तु अयनचलन के कारण उनका सर्वदा पूर्व में उदय होना असम्भव है। आजकल उत्तर में उगती हैं। शकपूर्व ३१०० वर्ष के पहिले दक्षिण में उगती थीं। इससे यह सिद्ध होता है कि शतपथ ब्राह्मण के जिस भाग में वे वाक्य आये हैं उसका रचनाकाल शकपूर्व ३१०० वर्ष के आसपास होगा।

कृत्तिकादिगणनाकाल

वेदों में नक्षत्रारम्भ कृत्तिका से किया गया है। वेटली इत्यादि यूरोपियन विद्वान् कहते हैं कि वेदाङ्गज्योतिषकाल में सम्पात भरणी के चतुर्थ चरण में था, अतः उसके पहिले कृत्तिका में रहा होगा, इसलिए नक्षत्रारम्भ कृत्तिका से किया गया और वे कृत्तिका में सम्पात होने का समय ईसवी सन् पूर्व १५वीं शताब्दी बतलाते हैं, परन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है। वेदाङ्गज्योतिष का समय लाने में जो त्रुटि हुई वही इसमें भी है। कृत्तिका में सम्पात होने के कारण उसका सायन भोग शून्य होना चाहिए। सन् १८५०

में ५७ अंश ५४ कला था, अतः ईसवी सन् के लगभग (५७।५४×७२–१८५० =४१७०–१८५०=) २३२०[1] वर्ष पूर्व सम्पात कृत्तिका में रहा होगा। चीन में भी किसी समय नक्षत्रारम्भ कृत्तिका से होता था। बायो ने उनकी इस पद्धति का समय लगभग इतना ही अर्थात् ई० स० पूर्व २३५७ बतलाया है।[2] स्पष्ट है कि बायो ने हमारी ही रीति से यह समय निश्चित किया है। मैंने बायो के मूल लेख नहीं पढ़े हैं पर आश्चर्य है कि उन्होंने चीनी नक्षत्रों के विषय में इस रीति का उपयोग किया और हिन्दुओं के विषय में इसका कुछ भी विचार नहीं किया।

वेबर महोदय लिखते हैं कि इसमें कृत्तिका प्रथम नक्षत्र माना है, अतः इसका समय ईसवी सन् पूर्व २७८० और १८२० के मध्य में है। डा० थीबो भारतीय ज्योतिष के अच्छे जानकार हैं। उनका मत अभी हाल ही में प्रकाशित हुआ है। उसका सारांश यह है कि "कृत्तिका को प्रथम नक्षत्र मानने का कारण जो कृत्तिका में सम्पात होना बतलाया जाता है, वह बिलकुल निराधार है। वेदाङ्गज्योतिष में बतलायी हुई अयन स्थिति द्वारा जो समय आता है उससे प्राचीनकाल दिखलानेवाली आकाशस्थिति वेदों मे आज तक कहीं भी नहीं पायी गयी। वेदाङ्गज्योतिषोक्त धनिष्ठारम्भ में उत्तरायण होना भी बिलकुल अस्पष्ट ही है। धनिष्ठा का शर बहुत उत्तर है और सूर्य जिस नक्षत्र में रहता है वह दिखाई नहीं देता इत्यादि अनेक कारणों से यह बात निश्चित रूप से समझ में नहीं आती कि क्रान्तिवृत्त के किस बिन्दु में सूर्य के रहने पर वेदाङ्गज्योतिष का उत्तरायण होता था। अतः उसके अनुसार लाये हुए समय में १००० वर्षों की त्रुटि हो सकती है।"[3]

मैंने ऊपर जो शतपथब्राह्मण का वाक्य लिखा है, वह अभी तक यूरोपियन लोगों के ध्यान में नहीं आया है। कृत्तिकाएँ वर्ष में कम से कम १०, ११ मास दिखाई देती हैं। उनका उदय जब पूर्व में होता है उस समय उदयकाल में वे पृथ्वी के प्रत्येक भाग पर पूर्व में ही दिखाई देती हैं। इसमें कोई बात शंकास्पद नहीं है। ठीक पूर्व जानने में यदि एक अंश की त्रुटि हुई तो निर्णीत समय में लगभग २०० वर्षों का अन्तर पड़ जायगा। इससे अधिक अशुद्धि होने की सम्भावना नहीं है। सारांश यह कि कृत्तिकाओं का पूर्व

१. सम्पातगति प्रतिवर्ष ५० विकला मानने से ७२ वर्षों में १ अंश होती है।
२. बर्जेसकृत सूर्यसिद्धान्त का अनुवाद देखिए।
३. Indian Antiquary XXIV.
सन् १८९५ के अप्रैल का अंक देखिए।

में उदय होना ही कृत्तिकादि गणना का हेतु है और इस परिस्थिति का काल शकपूर्व लगभग ३००० वर्ष निर्विवाद सिद्ध है।

वेदकाल

तैत्तिरीयसंहिता शतपथब्राह्मण से प्राचीन होनी चाहिए। उसमें नक्षत्रों का आरम्भ कृत्तिका से है, अतः उसके भी उस भाग का रचनाकाल यही अथवा इससे सौ दो सौ वर्ष पूर्व होगा। शतपथब्राह्मण का उपर्युक्त वाक्य प्रत्यक्ष ही है, अतः वह भी इतना ही प्राचीन अथवा इससे १००, २०० वर्ष नवीन होगा। सामान्यतः यह कथन असङ्गत न होगा कि वेदों की जिन-जिन संहिताओं और ब्राह्मणों में नक्षत्रारम्भ कृत्तिका से है उनके तत्तद् भागों का रचनाकाल शक पूर्व लगभग ३००० वर्ष अथवा उसके १००–२०० वर्ष आगे या पीछे होगा। ऋग्वेदसंहिता शतपथब्राह्मण से प्राचीन है। उसमें कृत्तिकादि नक्षत्र नहीं हैं, अतः उसका समय शकपूर्व ३००० वर्ष से प्राचीन है। वेदकाल का विशेष विचार आगे किया जायगा।

नक्षत्रपद्धति

कुछ यूरोपियन कहते हैं कि वेदों में कथित नक्षत्रपद्धति का मूल भारतीयों का नहीं है। हम तो समझते हैं पृथ्वीतल पर एक भी ऐसी जाति नहीं है जिसमें नक्षत्रों के कुछ न कुछ नाम न हों और जिसे इस बात का ज्ञान न हो कि चन्द्रमा का नक्षत्रों से कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य है। जंगली से जंगली जातियां भी इसे जानती हैं।

चन्द्रमा रोहिणी को आच्छादित करता है। इसी आधार से उत्पन्न हुई एक कथा वेद में है कि चन्द्रमा की रोहिणी पर अत्यन्त प्रीति है इत्यादि।[1] वेदों में बतलायी हुई नक्षत्रपद्धति मूलतः भारतीयों की ही है। इस बात को सिद्ध करनेवाले अन्य प्रमाण न हों तो भी यह कथा इसे सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। जिन यूरोपियन लोगों का यह कथन है कि हिन्दुओं ने नक्षत्र चीन, बाबिलोन या अन्य किसी अज्ञात राष्ट्र से लिये हैं उनमें से कुछ के मत में इसका समय ई० स० पूर्व ११०० से प्राचीन नहीं है। बेबर ने स्पष्ट नहीं बताया है परन्तु, उनके मत में इसका समय ई० स० पूर्व २७८० से प्राचीन कदापि न होगा। ऊपर सिद्ध कर चुके हैं कि ईसा के ३००० वर्ष पूर्व भारतीयों को नक्षत्र-ज्ञान था और उससे भी प्राचीन ऋग्वेदसंहिता में नक्षत्रों के नाम हैं, अतः यह कहने का अवसर ही नहीं प्राप्त होता कि भारतीयों ने नक्षत्र दूसरों से लिये। निष्पक्षपात

१. तैत्तिरीयसंहिता २।३।५ ज्योतिर्विलास आ० २ पृ० ५५ (रजनीवल्लभ देखिए)

बुद्धि से विचार करनेवाले को मालूम होना चाहिए कि यदि चीनी लोगों ने नक्षत्रपद्धति की स्थापना स्वतः की है तो भारतीय भी ऐसा कर सकते हैं।

चैत्रादिनाम

ऊपर चैत्रादि संज्ञाओं के विषय में लिखा है कि वे वेदों में कहीं नहीं मिलतीं। पर बाद में कुछ ग्रन्थों में मिलीं।

शतपथब्राह्मण में लिखा है—

योऽसौ वैशाखस्यामावास्या तस्यामादधीत...
...आत्मन्येवैतत् प्रजायां पशुपु प्रतितिष्ठति'

शतपथ ब्राह्मण ११।१।१।७

शतपथब्राह्मण में १४ काण्ड हैं। आरम्भ के १० काण्डों को पूर्वशतपथ और शेष चार को उत्तरशतपथ कहते हैं। पूर्वशतपथ में ६६ और उत्तर में ३४ अध्याय हैं। उपर्युक्त वाक्य ११वें काण्ड में है। इसके पूर्व

तस्मान्न नक्षत्र आदधीत'

शतपथब्राह्मण ११।१।१।३

में कहा है कि नक्षत्र में आधान नहीं करना चाहिए। परन्तु पूर्वशतपथ में नक्षत्र में ही आधान करना कहा है। एकादश काण्ड में वेदान्त नामक वेदभाग का जिसमें कि उपनिषद् होते हैं दो-तीन जगह उल्लेख है। चतुर्दश काण्ड तो वेदान्तप्रतिपादक ही है। वह बृहदारण्यक नाम से सर्वत्र प्रसिद्ध है। इससे यह बात सहज ही सिद्ध होती है कि शतपथब्राह्मण का उत्तरभाग पूर्वभाग से नवीन है। यह कथन भी असंगत न होगा कि चैत्रादि संज्ञाओं का प्रचार ब्राह्मणकाल के बिलकुल उत्तरभाग में हुआ। उसके पूर्व नहीं था।

कौषीतकी (सांख्यायन) ब्राह्मण में लिखा है—

'तैषस्यामावास्याया एकाह उपरिष्टाद्दीक्षेरन् माघस्य वेत्याहुः

कौ० ब्रा० १६।२।३

यहां तैष (पौष) और माघ नाम आये हैं। इसी के आगेवाले वाक्य में कहा है कि माघ के आरम्भ में उत्तरायण होता है, अतः कौषीतकी ब्राह्मण के इस भाग का रचनाकाल वेदाङ्गज्योतिष इतना ही अर्थात् शकपूर्व लगभग १५०० वर्ष है।

पञ्चविंश ब्राह्मण में लिखा है—

'मुखं वा एतत् संवत्सरस्य यत् फाल्गुनः'
पञ्चविंशब्राह्मण ५।६।६।

इस वाक्य में फाल्गुन शब्द आया है।

सारांश यह कि वेद की संहिताओं में चैत्रादि नाम बिलकुल नहीं हैं। ब्राह्मणों में भी बहुत कम हैं। अतः उपर्युक्त कथनानुसार उनका प्रचार ब्राह्मणकाल के अन्त में हुआ होगा।

चैत्रादि संज्ञाओं का प्रचारकाल

आर्तव सौरवर्ष की अपेक्षा नाक्षत्र सौरवर्ष लगभग ५० पल बड़ा होता है। ऋतु आर्तव सौरवर्ष पर अवलम्बित हैं। सूर्य सम्पात में रहने पर आज जो ऋतु होगी वही सहस्रों वर्ष बाद भी होगी, परन्तु नाक्षत्र सौरवर्ष की स्थिति ऐसी नहीं है। किसी नक्षत्र में सूर्य के स्थित रहने पर आज जो ऋतु है वही उस नक्षत्र में प्रत्येक बार सूर्य के आने पर नहीं होगी, अपितु लगभग ४३०० वर्षों में दो मास (एक ऋतु) का और २००० वर्षों में एक मास का अन्तर पड़ जायगा[1], अर्थात् अश्विनी नक्षत्र में सूर्य के रहने पर एक बार यदि वसन्त हुआ तो सवा चार सहस्र वर्षों के बाद ग्रीष्म और ८½ सहस्र वर्षों के बाद वर्षा ऋतु होगी। सूर्य को अश्विनी से आरम्भ कर पुनः अश्विनी तक आने में जो समय लगता है उसे नाक्षत्र सौरवर्ष कहते हैं। सूर्य जब अश्विनी में रहता है उस समय चन्द्रमा पूर्णिमा के दिन लगभग चित्रा में रहता है और उस चान्द्रमास को चैत्र कहते हैं। नक्षत्र के सम्बन्ध से जिसे चैत्र कहते हैं उसमें यदि एक बार वसन्त ऋतु आयी तो सवा चार सहस्र वर्षों के बाद ग्रीष्म ऋतु होने लगेगी। सारांश यह कि वसन्तारम्भ एक बार चैत्र में होने के बाद लगभग २१५० वर्षों तक चैत्र ही में होता रहेगा। तत्पश्चात् फाल्गुन में होगा और उसके २१५० वर्षों बाद माघ में आ जायेगा, अर्थात् चैत्र में वसन्तारम्भ होने के सवा चार सहस्र वर्षों बाद ग्रीष्मारम्भ होने लगेगा। अतः सिद्ध हुआ कि लगभग २००० वर्षों तक ही चैत्र वसन्त का प्रथम मास रह सकेगा।

सभी ग्रन्थों में चैत्र और वैशाख ही वसन्तमास माने गये हैं। यह पद्धति स्थापित होने के बहुत दिनों बाद ऋत्वारम्भ पीछे खिसक आया। इसी कारण कुछ ग्रन्थों में मीन और मेष अर्थात् फाल्गुन और चैत्र को वसन्तमास माना है। आजकल कुछ

१. अयनचलन और सायन गणना का सविस्तर विवेचन द्वितीय भाग में किया जायगा। इस प्रकरण का विचार सम्पात की पूर्व प्रदक्षिणा मान कर किया गया है। उसे पूर्ण होने में लगभग २६००० वर्ष लगते हैं।

पञ्चाङ्गों में ऋतुएं इसी पद्धति के अनुसार लिखी जाती हैं। सम्प्रति वसन्त माघ और फाल्गुन में होते हुए भी प्रायः चैत्र और वैशाख ही वसन्तमास माने जाते हैं। इस पद्धति का प्राचीन काल से ही इतना प्राबल्य है कि चैत्र का ही नाम मधु पड़ गया। सचमुच मधु और माधव नाम नक्षत्र मासों के नहीं हैं बल्कि इनका सम्बन्ध ऋतुओं से है। वसन्त का आरम्भ मास मधु और द्वितीय मास माधव कहलाता है। कुछ दिनों तक वसन्तारम्भ चैत्र में होता था। उसी समय से चैत्र को ही मधु कहने लगे। जब वसन्तारम्भ चैत्र से पीछे खिसका उस समय कुछ ग्रन्थों में फाल्गुन और चैत्र वासन्तिक मास लिखे गये। किसी भी ग्रन्थकार ने वैशाख और ज्येष्ठ को वसन्तमास तथा चैत्र को शिशिरमास नहीं लिखा है। इन सब बातों का विचार करने से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि चैत्रादि संज्ञाएं उस समय प्रचलित हुईं जब कि वसन्तारम्भ चैत्र में होता था। अतः उसका प्रवृत्तिकाल निश्चित किया जा सकता है। वह इस प्रकार--

वसन्तसम्पात में सूर्य के आने के लगभग १ मास पूर्व अर्थात् सायनसूर्य का भोग ११ राशि होने पर वसन्तारम्भ होता है। उस समय चित्रा नक्षत्र का सायनभोग सूर्य से ६ राशि अधिक अर्थात् ५ राशि होने से निरयण[1] चैत्र मास होगा। चित्रा का सायन-भोग सन् १८५० में ६ राशि २१ अंश था, अर्थात् ५१ अंश बढ़ गया था अतः सिद्ध हुआ कि ई० स० पूर्व (५१×७२–१८५०=) १८२२[2] के लगभग चैत्र में वसन्तारम्भ होने लगा था। अनुमानतः चैत्रादि संज्ञाएं उसी समय प्रचलित हुई होंगी। किसी प्रान्त में वसन्तारम्भ देर से होता है और कहीं जल्दी। देरवाले पक्ष में उपर्युक्त समय थोड़ा आगे चला आवेगा। किसी-किसी प्रान्त में वसन्त सम्पात में सूर्य आने के लगभग १॥ मास पूर्व वसन्तारम्भ होता है। इससे पहिले प्रायः नहीं होता। १॥ मास पूर्व मानने से चैत्रादि संज्ञाओं का प्रवृत्ति काल ई० पू० २९०० होगा।

वसन्तारम्भकाल निःसंशय नहीं है और जिन नक्षत्रों के नाम पर मासों के नाम पड़े हैं उनके भोगों में सर्वत्र समान अन्तर नहीं है। और भी कुछ ऐसी बातें हैं जिनसे उपर्युक्त काल के विषय में संशय होता है, पर सभी सन्देहात्मक विषयों का विचार करने से भी प्रवृत्तिकाल अधिकाधिक शकपूर्व ४००० वर्ष सिद्ध होगा। इससे प्राचीन होना सर्वथा असम्भव है। वेदाङ्ग ज्योतिष में चैत्रादि नाम हैं और उसका समय शकपूर्व

१. साम्पातिक या सायन सौरवर्ष के मासों को सायनमास तथा नक्षत्र सौरवर्ष के मासों को निरयनमास कहने में कोई आपत्ति नहीं है अतः सुभीते के लिए यहाँ इन्हीं नामों का प्रयोग किया है।

२. सम्पातगति प्रतिवर्ष ५० विकला मानने से ७२ वर्षों में १ अंश होती है।

लगभग १४०० वर्ष है। तैत्तिरीयसंहिता में ये नाम नहीं हैं और ऊपर यह सिद्ध कर चुके हैं कि उसका कुछ भाग शकपूर्व ३००० वर्ष के आसपास बना है। तैत्तिरीयसंहिता की यज्ञ-क्रिया तथा ऋतु और मासादि कालावयवों का विचार करने से स्पष्ट विदित होता है कि यदि उस समय चैत्रादिक संज्ञाओं का प्रचार होता तो उनका वर्णन इस संहिता में अवश्य होता। अतः यह कथन असंगत न होगा कि शकपूर्व ३००० वर्ष के पहिले चैत्रादि नामों का प्रचार नहीं था। ऐसे बहुत से (कम से कम चार) बड़े-बड़े ब्राह्मण ग्रन्थ हैं जिनमें चैत्रादि संज्ञाएं नहीं मिलतीं और यह भी स्पष्ट है कि वे तैत्तिरीय-संहिता से नवीन हैं। अतः मुझे इनका प्रवृत्तिकाल सामान्यतः शकपूर्व २००० वर्ष उचित मालूम होता है। कौषीतकी, शतपथ और पञ्चविंश ब्राह्मणों के जिन भागों में चैत्रादि संज्ञाओं का उल्लेख है उनका रचनाकाल शकपूर्व २००० और १५०० के मध्य में है।

वर्षारम्भ

ऋग्वेदसंहिता में प्रत्यक्ष कहीं नहीं बतलाया है कि प्रथम ऋतु अमुक है और इस बात का ज्ञापक वचन भी उसमें कहीं नहीं मिलता। ऋतुवाचक शरद्, हेमन्त और वसन्त शब्द अनेकों जगह संवत्सर अर्थ में आये हैं, अतः यह कह सकते हैं कि ऋग्वेद संहिताकाल में इन ऋतुओं में वर्षारम्भ होता था। ग्रीष्म, वर्षा और शिशिर शब्द संवत्सर अर्थ में प्रायः कहीं भी नहीं आये हैं।

पहिले पृष्ठ में बता चुके हैं कि यजुर्वेदसंहिताकाल में और तदनुसार सामान्यतः आगे के भी सभी वैदिक समयों में वर्ष का आरम्भ वसन्तऋतु और मधुमास में होता था। अन्य ऋतुओं में होने का प्रत्यक्ष प्रमाण तो वेदों में नहीं ही है, पर मेरे मत में उत्त-रायण के साथ वर्षारम्भ होने का सूचक भी कोई वाक्य नहीं है। प्रो० तिलक इत्यादिकों का मत है कि वर्ष का आरम्भ उत्तरायण के साथ होता था। उनके मत का विचार आगे किया है। वेदाङ्गज्योतिष में भी उत्तरायणारम्भ ही में बताया है, पर महाभारत और सूत्रादिकों में प्रथम ऋतु वसन्त मानी है और चैत्र तथा वैशाख वसन्त के मास बतलाये गये हैं। अतः वैदिक काल के बाद दोनों पद्धतियों का प्रचार रहा होगा और वसन्तारम्भ में वर्षारम्भ माननेवाली पद्धति का प्राधान्य रहा होगा, क्योंकि वेदाङ्ग-ज्योतिष के अतिरिक्त अन्य किसी भी ग्रन्थ में उत्तरायण में वर्षारम्भ होने का उल्लेख नहीं है। ज्योतिष के भी सभी सिद्धान्त ग्रन्थों में चैत्र ही में माना गया है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि उन ग्रन्थों की रचना के पूर्व जो पद्धति प्रचलित थी, वह ग्रन्थकारों को बाध्य होकर स्वीकार करनी पड़ी।

ऊपर पृष्ठ में वतला चुके हैं कि महाभारत में दो जगह मासों का आरम्भ मार्गशीर्ष से किया है। महमूद ग़जनवी के साथ अलवेरूनी नाम का एक यात्री आया था। उसने लिखा है कि सिन्ध इत्यादि प्रान्तों में वर्षारम्भ मार्गशीर्ष से होता है।[1] इससे यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि कुछ समय तक किसी-किसी प्रान्त में मार्ग-शीर्ष ही में वर्षारम्भ माना जाता था। इस वात का यहां थोड़ा विचार करेंगे।

शकपूर्व ३००० के लगभग कृत्तिकादि गणना प्रचलित हुई। मालूम होता है उसके कुछ दिनों वाद किसी-किसी प्रान्त में मार्गशीर्ष को वर्ष का प्रथम मास मानने लगे। मृगनक्षत्र का नाम आग्रहायणी है। जिसके (जिस नक्षत्र की रात्रि के) अग्रभाग में हायन अर्थात् वर्ष हो उसे आग्रहायणी कहते हैं। 'वेद में पूर्वफाल्गुनी संवत्सर की अन्तिम रात्रि है और उत्तरा-फाल्गुनी प्रथम रात्रि है' इस अर्थ के सूचक वाक्य पाये जाते हैं।[2] वस यही स्थिति आग्रहायणी की है। वेदकाल में मास चान्द्र होने के कारण वर्षारम्भ चान्द्रमास के आरम्भ में होता था, अतः यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त वाक्य में पूर्वाफाल्गुनी चान्द्रमास का अन्तिम नक्षत्र है और उत्तराफाल्गुनी उसके आगेवाले मास का प्रथम नक्षत्र है। ये दोनों दैनन्दिन (चन्द्रमा सम्वन्धी) नक्षत्र हैं। मास के अन्त में जिस दिन चन्द्रमा मृगशीर्ष नक्षत्र में आता था उसके दूसरे दिन वर्षारम्भ होने के कारण उस नक्षत्र का नाम आग्रहायणी पड़ा होगा और यह पद्धति उस समय प्रचलित रही होगी जव कि मृगशीर्ष प्रथम नक्षत्र माना जाता था। इसी प्रकार जव प्रथम नक्षत्र कृत्तिका रही होगी उस समय जिस दिन चन्द्रमा कृत्तिका में आता रहा होगा उसके दूसरे दिन मार्गशीर्ष में वर्षारम्भ होता रहा होगा। इस प्रकार यह मास पूर्णिमान्त सिद्ध होता है। कृत्तिका नक्षत्र में चन्द्रमा के पूर्ण हो जाने पर दूसरे दिन जो पूर्णिमान्त मास आरम्भ होता है, उसे आजकल मार्गशीर्ष कहते हैं। यही पद्धति उस समय भी रही होगी। जैसे एक समय वर्षारम्भ कृत्तिकायुक्त पूर्णिमा के दूसरे दिन होता था उसी प्रकार उसके पहिले किसी समय मृगशीर्षयुक्त पूर्णिमा के दूसरे दिन भी होता रहा होगा। यहां यह प्रश्न हो सकता है कि मृगशीर्षयुक्त पूर्णिमा के दूसरे दिन जो मास आरम्भ होगा उसे आजकल की पद्धति के अनुसार पौष कहना चाहिए, परन्तु पौष में वर्षारम्भ होने के प्रमाण कहीं नहीं मिलता, इसका कारण क्या है? इसका उत्तर यह है कि कृत्तिका के पहिले प्रथम नक्षत्र मृगशीर्ष होने का कारण मृगशीर्ष में वसन्तसम्पात होने के अतिरिक्त कोई अन्य नहीं दिखाई देता। शक के लगभग ४००० वर्ष पूर्व मृगशीर्ष में वसन्तसम्पात था। उस समय

१. Alberuni India vol. ii p. 8.

२. ये वाक्य आगे लिखे हैं। (तै० ब्रा० १।१।२)।

मासों के नक्षत्रप्रयुक्त नाम ही नहीं पड़े थे। इस कारण नक्षत्र का नाम तो आग्रहायण या आग्रहायणी पड़ गया परन्तु पौष में वर्षारम्भ नहीं बतलाया गया। कभी-कभी यह भी कल्पना होती है कि कदाचित कृत्तिकायुक्त पूर्णिमा के दूसरे दिन प्रारम्भ होनेवाले मास को कार्तिक और मृगशीर्षयुक्त पूर्णिमा के दूसरे दिन आरम्भ होने वाले मास को मार्गशीर्ष कहते रहे हों, परन्तु सम्प्रति यह पद्धति प्रचलित नहीं है और प्राचीन काल में भी इसका प्रचार सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण नहीं मिलता। पूर्णिमा पूर्णिमान्तमास या शुक्लपक्ष की अन्तिम तिथि मानी जाती है, पर उसे उत्तरमास या उत्तरपक्ष की तिथि नहीं कहते। यह बात अनेक वैदिक प्रमाणों द्वारा सिद्ध होती है और सम्प्रति प्रचार भी ऐसा ही है। अतः पाणिनि के ४।२।२१ सूत्र 'सास्मिन्पौर्णमासीति संज्ञायाम्' द्वारा भी यही परिभाषा सिद्ध होती है कि जिस मास में पूर्णिमा कृत्तिका युक्त हो वह कार्तिक है और उसके दूसरे दिन आरम्भ होनेवाले मास की पूर्णिमा मृगशीर्षयुक्त होती है, इसलिए वह मार्गशीर्ष है। सारांश यह कि कृत्तिकादि गणना आरम्भ होने के बाद अर्थात् शकपूर्व ३००० वर्ष के पश्चात् कुछ प्रान्तों में वर्षारम्भ मार्गशीर्ष में माना जाने लगा।

प्रो० तिलक का कथन यह है कि (Orion ch. IV.) मार्गशीर्ष का नाम आग्रहायणिक इसलिए नहीं है कि वह वर्ष का आरम्भ है, बल्कि अग्रहायण नक्षत्र के नाम पर उसका यह नाम पड़ा है। अग्रहायण के अर्थ के विषय में वे लिखते हैं कि 'जिसके आगे वर्षारम्भ होता है अर्थात् सूर्य जिस नक्षत्र में आने में सम्पात में रहता है और वर्ष का आरम्भ होता है उसे अग्रहायण कहते हैं।' इस अर्थ में मेरा कोई विरोध नहीं, पर वे कहते हैं कि मार्गशीर्ष में वर्षारम्भ करने का प्रचार नहीं था और मार्गशीर्ष पूर्णिमा के दूसरे दिन वर्ष का आरम्भ नहीं होता था। स्पष्टतया यों न भी कहें, पर उनके प्रतिपादन में ये बातें गर्भित अवश्य हैं। इन दोनों बातों को न मानने से भी उपर्युक्त अर्थ बाधित नहीं होता। मार्गशीर्ष को वर्षारम्भ मास मानने के विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण मिलते हैं, अतः इसे अमान्य नहीं कर सकते। मृगशीर्षयुक्त पूर्णिमा के दूसरे दिन वर्षारम्भ होना भी असम्भव नहीं है। ऊपर सिद्ध कर चुके हैं कि पहिले ऐसा होता था।

मृगशीर्षादि गणना

अमरकोष में आग्रहायणी नाम मृगशीर्ष नक्षत्र का है। पाणिनीय में भी यह शब्द तीन जगह (४।२।२२, ४।३।५०, ५।४।११०) आया है। उसमें आग्रहायणी शब्द द्वारा मार्गशीर्ष का आग्रहायणिक नाम सिद्ध किया है (४।२।२२)। वैयाकरण प्रायः आग्रहायणी का अर्थ मार्गशीर्षी पौर्णमासी करते हैं। इस अर्थ में भी आग्रहायणिक नाम मार्गशीर्ग का ही होता है। इस प्रकार आग्रहायणी पूर्णिमा में मृगशीर्ष नक्षत्र अपने आप

सिद्ध हो जाता है। दूसरी बात यह जिसके कि दूसरे दिन वर्षारम्भ होता है उसे सर्वदा से आग्रहायणी कहते आ रहे हैं। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि मार्गशीर्ष की पूर्णिमा में आग्रहायणी (मृगशीर्ष) नक्षत्र आने पर उसके दूसरे दिन वर्षारम्भ मानने की पद्धति थी। ऊपर बता चुके हैं कि आधुनिक ज्योतिष पद्धति और पाणिनीय पद्धति दोनों से उस वर्ष के प्रथम मास का नाम पौष होना चाहिए। यह भी सिद्ध कर चुके हैं कि शकपूर्व ३००० वर्ष के बाद मार्गशीर्ष में वर्षारम्भ होने लगा था, अतः यह मानना ही पड़ता है कि पौष में वर्षारम्भ होने की पद्धति उससे प्राचीन होनी चाहिए। उस समय विषुववृत्त पर मृगशीर्ष नक्षत्र होना असम्भव है। शकपूर्व ४००० में वसन्तसम्पात मृगशीर्ष में था। मृगशीर्षादि गणना का इसके अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं दिखाई देता।

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने सन् १८९३ में इंगलिश में ओरायन (Orion) नाम का एक ग्रन्थ लिखा है। उसमें उन्होंने ऋग्वेदसंहिता के अनेक प्रमाणों द्वारा विशेषतः १।१६३।३ ऋचा और १०।८६ सूक्त द्वारा सिद्ध किया है कि उस समय वसन्तसम्पात मृगशीर्ष में था और यह भी दिखलाया है कि इस बात को स्वीकार करने से भारत, ईरान और ग्रीस इत्यादि देशों की अनेक पौराणिक तथा अन्यान्य कथाओं का अर्थ ठीक लगता है। इस मृगादि गणना द्वारा ऋग्वेदसंहिता के कुछ सूक्तों का रचनाकाल शकपूर्व ४००० वर्ष सिद्ध होता है। मृगशीर्ष के आग्रहायणी नाम से भी यही बात सिद्ध होती है।

श्री तिलक ने यह भी लिखा है कि 'पुनर्वसु में सम्पात रहा होगा, ऐसा वेद से ज्ञात होता है।' इस बात को सिद्ध करने के लिए मृगशीर्ष सरीखे स्पष्ट और अधिक प्रमाण तो नहीं हैं, परन्तु यह असम्भव भी नहीं है। गणित द्वारा पुनर्वसु में सम्पात होने का समय शकपूर्व ६००० वर्ष आता है। ऋग्वेद के कुछ सूक्त इस समय के हो सकते हैं।

संवत्सरसत्र का अनुवाक ऊपर पृष्ठों में लिखा है। उसके आधार पर प्रो० तिलक ने लिखा है कि "फल्गुनी पूर्णमासी और चित्रा पूर्णमासी में उत्तरायण होता था। ये दोनों समय क्रमशः मृग और पुनर्वसु में वसन्तसम्पात होने के समय से मिलते हैं।" वस्तुतः ऋतुसंहिताकाल में मृगशीर्ष में वसन्त सम्पात होना स्वतन्त्र रूप से सिद्ध होता है। उसे सिद्ध करने के लिए पूर्वोक्त अनुवाक का यह अर्थ करने की कोई आवश्यकता नहीं है कि फाल्गुन में उत्तरायण होता था। ऐसा अर्थ करने में अड़चनें भी हैं। पहिली बात तो यह है कि उसमें स्पष्टतया फाल्गुन में उत्तरायण होने का उल्लेख बिलकुल नहीं है। दूसरे फल्गुनी पूर्णमास को संवत्सर का मुख कहा है। तैत्तिरीय श्रुति में भी इस प्रकार के निम्नलिखित वाक्य आये हैं।

"वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत। वसन्तो वै ब्राह्मस्यर्तुः। मुख वा एतदृतू-

नाम् ।।६६।। यद्वसन्तः। यो वसन्तेऽग्निमाधत्ते। मुख्य एव भवति।... न पूर्वयोः फल्गुन्योराग्निमादधीत। एव वै जघन्या रात्रिः संवत्सरस्य। यत् पूर्वे फल्गुनी।...उत्तरयोरादधीत। एषा वै प्रथमा रात्रिः संवत्सरस्य। यदुत्तरे फल्गुनी। मुखत एव संवत्सरस्याग्निमाधाय। वसीयान् भवति।...।।८।।"
तै० ब्रा० १।१।२

यहां फल्गुनी शब्द से फल्गुनी नक्षत्र युक्त पूर्णमासी का ग्रहण करना है। जैसे आजकल फाल्गुनी पूर्णिमा के अन्त में पूर्णिमान्त मान का फाल्गुन समाप्त हो जाता है और उसके बाद चैत्र लगता है, उसी प्रकार उपर्युक्त वाक्य में पूर्वफल्गुनी युक्त पूर्णिमा को वर्ष का अन्तिम दिन और उसके आगेवाली रात्रि को वर्ष का मुख बताया है। वर्ष का मुख होने के कारण उसमें आधान करने के लिए कहा है और ऋतुओं का मुख वसन्त होने के कारण पूर्व वाक्य में वसन्त में आधान करने के लिए कहा है। ये वाक्य एक ही अनुवाक में हैं। अतः इनमें एकवाक्यता अवश्य होनी चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि फल्गुनी पूर्णमास का सम्बन्ध वसन्त से है।

संवत्सरसत्र के विषय में आश्वलायन श्रौतसूत्र (१।२।१४।३) में कहा है :—

"अत ऊर्ध्वमिष्टचयनानि सांवत्सरिकाणि तेषां।
फाल्गुन्यां पौर्णमास्यां चैत्र्यां वा प्रयोगः"

और आश्वलायन सूत्र में फाल्गुन और चैत्र महीनों का सम्वन्ध शिशिर और वसन्त से दिखलाया है। इनमें उत्तरायणारम्भ मानने से उस समय हेमन्त ऋतु आ जायगी परन्तु आश्वलायन सूत्र में फाल्गुन का सम्बन्ध हेमन्त ऋतु से कहीं नहीं मिलता। कुछ प्रान्तों में सम्पात में सूय आने के लगभग २ मास पूर्व वसन्तारम्भ होता है। ऐसा मानने से सिद्ध होता है कि ईसा के लगभग ४००० वर्ष पूर्व चित्रापूर्णमास में वसन्तारम्भ होने लगा था। लगभग २००० वर्षों तक वसन्तारम्भ एक ही मास में होता रहता है, अतः ई० पू० २००० के लगभग फल्गुनीपूर्णमास के साथ वसन्तारम्भ और संवत्सरारम्भ मानने का विचार स्वभावतः उत्पन्न होता है और इस रीति में किसी प्रकार की असम्बद्धता भी नहीं दिखाई देती। संवत्सर के मध्यभाग में विषुवान् दिवस आता था परन्तु उसका अर्थ यह नहीं मालूम होता कि उस दिन, दिन और रात्रि के मान तुल्य ही होने चाहिए। पूर्णिमा के दिन संवत्सरसत्र आरम्भ करने के लिए कहा है। यदि उसके मध्य में ऐसा विषुवान् दिन आता है जिसके दिन और रात्रि समान हैं तो सत्र का आरम्भ भी उसी अर्थ के विषुवान् दिन में या उससे एक दो दिन आगे या पीछे होना चाहिए। परन्तु ऐसा करने से सत्रारम्भ सर्वदा पूर्णिमा में ही नहीं हो सकेगा क्योंकि यदि इस वर्ष पूर्णिमा के दिन, दिन और रात्रि समान हैं तो अग्रिम वर्ष में पूर्णिमा के ११

दिन बाद और उसके आगेवाले वर्ष में २२ दिनों बाद ऐसा होगा। अतः संवत्सरसत्र सम्बन्धी विषुवान् दिवस का अर्थ, कम से कम तैत्तिरीयसंहिता के विषुवान् दिवस का अर्थ, 'संवत्सरसत्र या किसी भी सत्र का मध्यदिन' इतना ही था। बाद में जिस दिन दिनरात्रि-मान समान होते हैं उसे विषुव दिवस कहने लगे होंगे और तदनुसार संवत्सर-सत्र का आरम्भ भी होने लगा होगा। इसलिए वेदाङ्गज्योतिष में विषुवदिन लाने की रीति बतायी है। लो० तिलक के कथनानुसार भी ३० घटिकात्मक दिनमान का विषुवदिन संवत्सरसत्र के मध्यभाग में नहीं बल्कि तृतीय और नवम मासों के अन्त में आता है। ऐसी शंका हो ही नहीं सकती कि 'संवत्सरारम्भ सम्बन्धी तैत्तिरीयसंहितोक्त अनुवाक के रचनाकाल में फाल्गुन में ऐसा विषुवान दिन आता रहा होगा जिसके दिनरात्रि-मान समान हों।' ऊपर यह बात लिख चुके हैं।

वैदिककाल की मर्यादा

अब तक जो विवेचन किया गया है उससे वैदिककाल की उत्तरमर्यादा स्थूलरूप में निश्चित की जा सकती है। पूर्वमर्यादा का निश्चय कौन करे! उसके विषय में इतना कह सकते हैं कि वह शक पूर्व ६००० वर्ष से नवीन नहीं है। श० पू० ६००० के पहले वेद मन्त्र किस समय प्रकट हुए, यह कोई भी नहीं बता सकता अर्थात् एक प्रकार से वह काल आनादि है। वैदिक काल की उत्तर अवधि शकपूर्व लगभग १५०० वर्ष है। इसके बाद वेदाङ्गकाल का आरम्भ होता है। सब वेदों की संहितायें, ब्राह्मण और कुछ उपनिषद् वैदिककाल के हैं। कुछ उपनिषद् वेदाङ्गकाल में भी बने होंगे, पर वैदिककाल की उत्तरसीमा उपर्युक्त ही है। ऋक्संहिता के कुछ भाग का रचनाकाल लगभग शकपूर्व ४००० वर्ष है। तैत्तिरीयसंहिता के कुछ भाग का रचनाकाल शकपूर्व ३००० वर्ष है। ब्राह्मण शकपूर्व ३००० से १५०० पर्यन्त बने हैं। उनके जिन भागों में चैत्रादि संज्ञाएँ हैं वे शकपूर्व २००० के बाद की और शेष उससे पहले की हैं। उपनिषदों के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ कहते नहीं बनता, परन्तु बहुत से उपनिषद् ग्रन्थ शकपूर्व २००० और १५०० के मध्य के हैं। संहिताओं और ब्राह्मणों के सब मन्त्र एकत्र हो कर आज जिस रूप में दृष्टिगोचर हो रहे हैं उनकी वैसी पूर्ण रचना उपर्युक्त काल में नहीं हुई होगी तथापि यह स्वरूप शकपूर्व १५०० से प्राचीन है।

वेदकाल के विषय में प्रो० मैक्समूलर का मत यह है कि "ई० पू० ४७७ में बुद्ध को निर्वाण-प्राप्ति हुई। उसके पूर्व लगभग १०० वर्षों में बुद्धधर्म का उदय हुआ। ई० पू० ६०० के पहिले वैदिक ग्रन्थों की रचना पूर्ण हो चुकी थी। सूत्रकाल, ब्राह्मणकाल और मन्त्रकाल उसके तीन भेद ज्ञात होते हैं। ई० पू० ६०० से ई० पू० ८०० पर्यन्त

सूत्रकाल और ई० पू० ८०० से १००० पर्यन्त ब्राह्मणकाल है। इसके पूर्व ऋग्वेद के सब मण्डलों का संग्रह हो चुका था। इसका कोई निर्णय नहीं कर सकता कि ऋग्वेदसूत्रों की प्रत्यक्ष रचना ई० पू० १००० में हुई या १५०० में या २००० में या ३००० में अथवा किसी अन्य समय में हुई।"[१] मैक्समूलर का यह मत बहुत से यूरोपियन विद्वानों को मान्य है। ये अनुमान केवल इतिहास और भाषाशास्त्र के आधार पर किये गये हैं। इस मत से यह भी विदित होता ही है कि ऋग्वेद की प्राचीनता का निर्णय नहीं किया जा सकता। सूत्रादि तीन कालों के मध्य में दो-दो-सौ वर्ष का अन्तर भी बहुत थोड़ा है। इन दोनों बातों का विचार करने से गणित द्वारा निश्चित की हुई वैदिक काल की उपर्युक्त मर्यादा ही ठीक मालूम होती है।

वेदाङ्गकालमर्यादा

शकपूर्व १५०० वर्ष वेदाङ्गकाल की पूर्वसीमा है। सात वार और मेषादि राशियों का विचार करने से उसकी उत्तरसीमा निश्चित हो सकती है। सात वार और मेषादि राशियां वेदों में नहीं हैं। शेष जिन ग्रन्थों का विचार इस भाग में किया गया है उनमें से अथर्वज्योतिष और याज्ञवल्क्यस्मृति के अतिरिक्त, वार किसी में भी नहीं हैं। मेषादि राशियां बौधायन सूत्र के अतिरिक्त किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं हैं।

सूर्यसिद्धान्तादि ग्रन्थों में इन दोनों का अस्तित्व स्पष्ट ही है। यदि ये दोनों बातें मूलतः हमारी ही हों तो यह निर्विवाद सिद्ध है कि ये वैदिककाल की नहीं हैं।

सात वारों के क्रम की उत्पत्ति इस प्रकार है :—

ग्रह पृथ्वी के चारों ओर घूमते हैं। सबसे ऊपर शनि और उसके नीचे क्रमशः गुरु, मंगल, सूर्य, शुक्र, बुध और चन्द्रमा हैं। अहोरात्र के होरा नामक २४ विभाग माने हैं। ये सातों ग्रह क्रमशः उनके अधिप हैं। अहोरात्र में इनकी तीन आवृत्ति समाप्त हो जाने के बाद ३ होराएं बच जाती हैं। इस प्रकार चतुर्थ ग्रह द्वितीय दिन की प्रथम होरा का स्वामी होता है। प्रथम दिन प्रथम होरा का स्वामी यदि शनि है तो द्वितीय दिन प्रथम होरा का स्वामी रवि और तृतीय दिन चन्द्रमा होता है। दिन की प्रथम होरा का स्वामी ही उस वार का स्वामी माना जाता है। इस प्रकार शनि, रवि, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु और शुक्र क्रमशः वार होते हैं अर्थात् पृथ्वी के चारों ओर घूमनेवाले ग्रह में सबसे ऊपर का ग्रह वाराधिप होने के बाद उसके नीचे का चतुर्थ ग्रह वाराधिप होता है। इसी प्रकार आगे भी चतुर्थ ग्रह वाराधिप हुआ करते हैं। इसके विषय में सूर्यसिद्धान्त में लिखा है :—

१. Physical Religion, pp. 91–96 (सन् १८९१ ई०)।

मन्दादधः क्रमेण स्युश्चतुर्था दिवसाधिपाः ।।७८।।
होरेशाः सूर्यतनयादधोऽधः क्रमशस्तथा ।।७९।।

भूगोलाध्याय।

प्रथम आर्यभट ने भी ऐसा ही लिखा है—

शीघ्रक्रमात् चतुर्थाः दिनपाः'

कालक्रिया १६।

ज्योतिष ग्रन्थों में दिन के होरात्मक २४ भाग मानने की पद्धति केवल वारोत्पत्ति और फलज्योतिष के सम्बन्ध में है। होरा नामक कालमान ज्योतिष के सिद्धान्तग्रन्थों में बतलाये हुए कालमानों में नहीं हैं। वैदिककालीन तथा वेदाङ्गकालीन भी किसी ग्रन्थ में नहीं हैं। यह शब्द भी मूलतः संस्कृत का नहीं है। इसकी व्युत्पत्ति के विषय में वराहमिहिर ने लिखा है कि अहोरात्र शब्द के आदि और अन्त्य अक्षरों को छोड़ देने से होरा शब्द बना है, परन्तु इससे समाधान नहीं होता। खाल्डियन लोगों में होरा नामक काल विभाग बहुत प्राचीन काल से प्रचलित था और मालूम होता है सात वार भी इसी प्रकार थे जैसे कि सम्प्रति हमारे यहां हैं। इन सब बातों का विचार करने से हमें ज्ञात होता है कि सात वार मूलतः हमारे नहीं हैं, बल्कि खाल्डियन लोगों द्वारा हमारे यहां आये हैं।

मेषादि नाम संस्कृत भाषा के हैं। वेदाङ्गज्योतिष और महाभारत के विवेचन में बतला चुके हैं कि क्रान्तिवृत्त के १२ भागों के विषय में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे मूलतः हमारे नहीं हैं। तारासमूहों की आकृति द्वारा उनका नाम रखने की कल्पना वेदों में भी है, परन्तु ये नाम वैदिक काल के नहीं हैं। वेदाङ्गज्योतिष में भी नहीं मिलते, अतः शकपूर्व १५०० वर्ष तक हमारे देश में इनका प्रचार नहीं था। अन्य राष्ट्रों के इतिहास के आधार पर कोई-कोई कहते हैं कि ई० पू० २१६० के लगभग ईजिप्ट के लोगों को मेषादि राशियों का ज्ञान था। कोई-कोई ई० पू० ३२८५ का आसन्न-काल बतलाते हैं। किसी-किसी का मत है कि खाल्डियन लोगों को ई० पू० ३८०० के लगभग राशि और वार ज्ञात थे। ई० पू० १००० के पूर्व राशिपद्धति दोनों को मालूम थी, यह बात बिल्कुल निःसदेह है।[1] लेंग ने निश्चयपूर्वक लिखा है कि खाल्डियन लोगों को ई० पू० ३८०० के पूर्व ही वारों का ज्ञान हो चुका था।

१. प्राक्टर, लाकियर का इंगलिश ग्रन्थ Ninteenth Century, जुलाई १८९२ का लाकियर का लेख पृ० ३४ और S. Laing's Human Origins, Chap. V. pp. 144–158. देखिए।

वेदाङ्गज्योतिष से ज्ञात होता है कि हमारे देश में ये दोनों शकपूर्व १५०० वर्ष पर्यन्त विलकुल नहीं थे।

पता नहीं, मेषादि नाम सर्व प्रथम तारापुंजों की कुछ विशेष आकृतियों द्वारा पड़े या किसी अन्य कारणवशात्। यह विषय वादग्रस्त है। हमारे देश में चाहे ये बाहर से आये हों चाहे मूलतः यहीं के हों, पर आकृतियों से इनका कोई सम्बन्ध नहीं दिखाई देता। अश्विनी, भरणी और कृत्तिका के कुछ तारों के संयोग से मेष (भेंड़) की आकृति नहीं बनती। मेष प्रथम राशि है और उसका आरम्भ अश्विनी से होता है। जैसे अश्विन्यादि गणना प्रचलित होने के पूर्व कृत्तिकादि गणना प्रचलित थी उस प्रकार मेष के अतिरिक्त अन्य किसी राशि से राशिगणना करने और अश्विनी के अतिरिक्त अन्य किसी नक्षत्र से मेषारम्भ होने का प्रमाण कहीं नहीं मिलता। मेषादि नाम वेदाङ्गज्योतिष के पहले नहीं थे, यह बात बिलकुल निःसन्देह है। इससे सहज ही प्रतीत होता है कि मेषारम्भ और अश्विनी के आरम्भ में वसन्तसम्पात आने के बाद इनका प्रचार हुआ है। सन् १८५० में अश्विनी के बीटा एरिस नामक तारा का सायन योग ३१°।५३′ और आल्फा एरिस का ३५°।३४′ था अर्थात् प्रथम तारा का सम्पात तुल्य (शून्य) भोग ई० पू० (३१।५३ × ७२−१८५०) ४४६ में था और दूसरे का ई० पू० (३५।३४ × ७२−१८५०) ७११ में था। इसके पूर्व हमारे देश में मेषादि संज्ञाओं का प्रचार होने की संभावना नहीं है। दोनों समयों का मध्यम मान ई० पू० ५७९ आता है।

दूसरी महत्व की बात यह है कि महाभारतोक्त श्रवणादि गणना का समय ई० पू० लगभग ४५० निश्चित किया है और महाभारत में राशियां नहीं हैं। इसमें सिद्ध होता है कि शकपूर्व लगभग ५०० वर्ष पर्यन्त हमारे देश में मेषादि संज्ञाओं का प्रचार नहीं हुआ था। द्वितीय भाग में दिखलाया है कि सूर्यसिद्धान्तादि कुछ सिद्धान्तग्रंथों में, जो कि कम से कम ई० पू० २०० से नवीन नहीं हैं, मेषादि संज्ञाएँ हैं। यह भी निःसंशय है कि ज्योतिष के कुछ संहिता ग्रन्थ इनसे भी प्राचीन हैं और उनमें ये संज्ञाएं हैं। इन सब बातों का विचार करने से सिद्ध होता है कि हमारे यहां मेषादि संज्ञाओं का प्रचार शकपूर्व ५०० के लगभग हुआ। वारों का प्रचार इससे भी लगभग ५०० वर्ष पूर्व हुआ होगा। पहिले भी बता चुके हैं कि वारपद्धति और मेषादि राशियों की कल्पना करना कोई विशेष महत्वशाली बात नहीं है। महत्व की बात है ग्रहों की स्पष्ट गतिस्थिति का आनयन।

सारांश यह कि शकपूर्व ५००वां वर्ष वेदाङ्गकाल की उत्तर मर्यादा है।

किसी भी ग्रन्थ के रचनाकाल में यदि वारों और मेषादि राशियों के नाम प्रचलित हैं तो उनका उल्लेख उसमें अवश्य रहेगा। अतः जिनमें ये दोनों नहीं हैं और चैत्रादि

संज्ञाएं हैं वे सब ग्रंथ वेदाङ्गकालीन हैं। ज्योतिष और धर्मशास्त्र ग्रन्थ इसी श्रेणी में आते हैं अर्थात् कल्पसूत्रों और स्मृतिग्रन्थों की भी गणना इन्हीं में है। प्रथम भाग में जिन ग्रन्थों का वर्णन किया गया है उनमें बौधायन सूत्र को छोड़कर वेद के बाद के अन्य सभी ग्रन्थ वेदाङ्गकालीन हैं। उनमें से जिनमें वार नहीं हैं वे शकपूर्व १००० से भी प्राचीन होंगे। भिन्न-भिन्न ग्रन्थों का कालनिर्णय उनका पृथक्-पृथक् विशेष विचार करके करना चाहिए। महाभारत की श्रवणादि गणना से ज्ञात होता है कि उसमें शकपूर्व ५०० पर्यन्त नयी-नयी बातें प्रक्षिप्त होती रही होंगी। कदाचित् इसके बाद भी कुछ प्रक्षेपण हुआ होगा, परन्तु उसके कुछ भाग अत्यन्त प्राचीन हैं। ज्योतिष के विचार से मुझे उसमें बतलायी हुई ग्रहस्थिति पाण्डवों के समय की मालूम होती है।

वेदाङ्गकाल की उत्तरमर्यादा ही ज्योतिषसिद्धान्तकाल की पूर्वमर्यादा है।

स्पष्ट है कि वैदिककाल और वेदाङ्गकाल की मैंने जो अवधियां निश्चित की हैं वे बिल्कुल सूक्ष्म नहीं हैं। प्राचीन ग्रन्थों का और प्राचीन इतिहास का अभी बहुत अन्वेषण बाकी है। उसके बाद इन अवधियों में कुछ परिवर्तन होने की सम्भावना है परन्तु मेरा यह निश्चय है कि वेदकाल की उत्तर मर्यादा शकपूर्व १५०० से और वेदाङ्गकाल की उत्तर मर्यादा शकपूर्व २०० वर्ष से अर्वाचीन नहीं हो सकती।

सायनवर्ष

अब तक के विवेचन द्वारा सहज ही ध्यान में आ गया होगा कि बिल्कुल अन्त की कुछ शताब्दियों को छोड़कर शेष सम्पूर्ण वैदिक काल में वर्ष आर्तव (सायन) सौर माना जाता था। मास चान्द्र थे और अधिमास मानने की भी पद्धति थी। इससे चान्द्रमासों का ऋतुओं से मेल रखने का उद्देश्य स्पष्ट विदित होता है। ऋग्वेदसंहिता में शरद्, हेमन्त इत्यादि ऋतुवाचक शब्द ही संवत्सरवाचक भी हैं। इससे विदित होता है कि ऋग्वेदसंहिताकाल में ऋतुओं का एक पर्यय समाप्त होने पर वर्ष की पूर्ति समझी जाती थी। शतपथब्राह्मण में लिखा है:—

'ऋतुभिर्हि संवत्सरः शक्नोति स्थातुम्'

श० ब्रा० ६।७।१।१८

अर्थात् ऋतुओं द्वारा संवत्सर खड़ा रह सकता है। संवत्सर शब्द की व्युत्पत्ति है 'संवसन्ति ऋतवो यत्र' अर्थात् जिसमें ऋतुएँ वास करती हैं। इससे स्पष्ट है कि ऋतुओं के एक पर्यय को ही संवत्सर मानते थे।

मधु और माधव संवत्सर के मास हैं। ये शब्द ऋतुदर्शक हैं अर्थात् इनका सम्बन्ध नक्षत्रों से नहीं है। यजुर्वेदसंहिता तथा सभी ब्राह्मण ग्रन्थों में इन मासों का महात्म्य

कितना अधिक है, यह इसी से ज्ञात हो जायगा कि उनमें ये देवता माने गये हैं। अरुणादि जो अन्य मास नाम प्रचलित थे उनका भी सम्बन्ध नक्षत्रों से नहीं बल्कि ऋतुओं सेहै। यह बात उन ग्रन्थों में बतलाये हुए कुछ नामों से स्पष्ट हो जाती है। वैदिककाल में प्रायः मधु इत्यादि मासों का ही प्रचार था। चैत्रादि मास उसके बिलकुल उत्तर भाग में प्रचलित हुए हैं। चैत्रादि नाम नक्षत्रों द्वारा पड़े हैं और इस प्रकार के मासों से सम्बन्ध रखनेवाला वर्ष नाक्षत्र वर्ष कहलाता है, इत्यादि बातें पहिले बता चुके हैं। इससे सिद्ध होता है कि नक्षत्रप्रयुक्त चैत्रादि मास प्रचार में आने के समय ही अर्थात् शकपूर्व २००० के लगभग नाक्षत्र सौरवर्ष में भी प्रचलित हुआ। उसके पूर्व सैकड़ों वर्ष तक मध्वादि नामों का ही व्यवहार होता था। अर्थात् वर्ष आर्तव (सायन) था। ऊपर बतला चुके हैं कि नक्षत्रों के नाम पड़ने के बाद, बहुत-सी अड़चने होने के कारण चैत्रादि संज्ञाएँ बहुत काल व्यतीत होने पर प्रचलित हुईं। अतः यह सन्देह नहीं किया जा सकता कि मध्वादिकों के थोड़े ही दिनों बाद चैत्रादि नामों का प्रचार हुआ होगा। इस बात को सिद्ध करनेवाले अन्य प्रमाण न हों तो भी केवल इतना ही पर्याप्त है कि वेदों में चैत्रादिकों को कहीं भी देवता नहीं कहा है, पर मध्वादिकों को देवतात्व प्राप्त है। सूर्य के पास के नक्षत्र दिखाई नहीं देते, अतः किसी नक्षत्र में सूर्य के आने के बाद पुनः उस नक्षत्र में सूर्य के आने तक का समय 'नाक्षत्रवर्ष' प्रचलित होने के पूर्व आर्तव (ऋतु-पर्ययात्मक) वर्ष का प्रचार होना बिल्कुल स्वाभाविक है। मेरे इस कथन का कि 'पहिले सायन वर्ष बहुत दिनों तक प्रचलित था और नाक्षत्र वर्ष नहीं था' यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि प्राचीन काल में आजकल की भाँति सम्पातगति और दोनों वर्षों के भेद का ज्ञान रखते हुए सूक्ष्म सायन वर्ष का व्यवहार करते थे। मेरा अभिप्राय यह है कि ऋग्वेदसंहिता काल में ही अधिकमास की पद्धति प्रचलित हो चुकी थी। उसी समय से योग्यस्थान में अधिमास डालकर चान्द्रमासों से ऋतुओं का मेल रखते रहे होंगे अर्थात् वसन्त के मास मधु-माधव सर्वदा वसन्त ही में आने की व्यवस्था करते रहे होंगे। वैदिककाल के उत्तर भाग में यद्यपि निरयन वर्ष का प्रचार हुआ तथापि उत्तरायणारम्भ में वर्षारम्भ होना वेदाङ्गज्योतिष में स्पष्ट है। अन्य ग्रन्थों में भी वसन्तारम्भ में बताया है। इन सब हेतुओं का विचार करने से ज्ञात होता है कि उस समय आर्तव वर्ष ही सर्वमान्य था। जैसे आजकल किसी के मन में स्वप्न में भी ऐसी कल्पना नहीं होती कि हमारा व्यवहार आर्तव वर्ष के अनुसार नहीं चल रहा है, यही स्थिति उस समय भी थी। लो० तिलक के कथनानुसार वैदिककाल में उत्तरायणारम्भ में वर्षारम्भ मानने की पद्धति थी। इस प्रकार अयनारम्भ में वर्षारम्भ मानने से भी वर्ष आर्तव अर्थात् सायन ही सिद्ध होता है न कि निरयन।

सारांश यह कि आर्तव वर्ष नाक्षत्र वर्ष के पूर्व बहुत काल पर्यन्त प्रचलित था, अतः ऐतिहासिक दृष्ट्या वह श्रुतिसम्मत है। साथ ही साथ नैसर्गिक भी है। वसन्त को संवत्सर का मुख कहा है। मास मध्वादि बतलाये हैं। मधु माधव को वासन्तिक मास कहा है। इन सब बातों की संगति आर्तव वर्ष विना नहीं लगती। ऋतुएं नाक्षत्र मासों से नहीं सध सकतीं। उनमें कितना अन्तर पड़ता है, यह पहिले पृष्ठ में बता चुके हैं। इससे सिद्ध होता है कि आर्तव सौरवर्ष श्रुति विहित है।

युगपद्धति

उपोद्घात में युगपद्धति का बहुत कुछ वर्णन कर चुके हैं। द्वितीय आर्यभट के मतानुसार वर्तमान कलियुग के आरम्भ में बुध सूर्य से लगभग ९ अंश पीछे था। सूर्य-सिद्धान्त और प्रथम आर्यभट के मत में चन्द्रोच्च ३ राशि और चन्द्रपात (राहु) ६ राशि था। ब्रह्मगुप्त और द्वितीय आर्यभट के मतानुसार चन्द्रोच्च और चन्द्रपात इनसे न्यूनाधिक थे।

मनुस्मृति और महाभारत के विवेचन में बतला चुके हैं कि ज्योतिषसिद्धान्त-ग्रन्थोक्त युगमान उन ग्रन्थों की रचना के पहिले ही निश्चित हो चुके थे, परन्तु ज्योतिष-ग्रन्थों में बतलाया हुआ युगारम्भ का यह लक्षण कि 'कलियुग और प्रत्येक महायुग के आरम्भ में सब ग्रह अश्विनी के आरम्भ में एकत्र हो जाते हैं (कुछ ग्रन्थों के अनुसार कल्पारम्भ में एकत्र होते हैं और युग के आरम्भ में पास-पास रहते हैं)' उनमें नहीं मिलता। पहिले जिन ग्रन्थों का विचार किया गया है उनमें से एक में भी यह लक्षण नहीं है बल्कि इसके विरुद्ध महाभारत में एक जगह (वनपर्व० अ० १९०, श्लोक ९०,९१) लिखा है कि सूर्य, चन्द्रमा, बृहस्पति और तिष्य (पुष्य) जब एक राशि में आते हैं तब कृतयुग होता है। ज्योतिषग्रन्थानुसार कलियुग का आरम्भकाल शकपूर्व ३१७९वां वर्ष है। इसके बाद के बहुत से ग्रन्थों का विवेचन पीछे कर चुके हैं परन्तु प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से यह कलियुगारम्भकाल किसी में भी नहीं मिलता। यह काल और युग का उपर्युक्त लक्षण कदाचित् किसी पुराण में हो, पर वह प्रसिद्ध नहीं है।

वर्तमान शकवर्ष १८१७ कलियुग का ४९९६वां वर्ष है। सूर्यसिद्धान्तानुसार कलियुग का आरम्भकाल मध्यम मान की फाल्गुन कृष्ण ३० के अन्त में गुरुवार की मध्यरात्रि को आता है। कुछ अन्य सिद्धान्तों के अनुसार इसके १५ घटी बाद अर्थात् शुक्रवार के सूर्योदयकाल में आता है। प्रो० ह्विटने ने सूर्यसिद्धान्त के इंगलिश अनुवाद में यूरोपियन सूक्ष्म गणित द्वारा कलियुगारम्भकालीन अर्थात् जुलिअन पीरिअड १७

फरवरी ई० पू० ३१०२ गुरुवार की मध्यरात्रि के मध्यम ग्रह लिखे हैं। मैंने भी प्रो० केरोपन्त छत्रे के 'ग्रहसाधनकोष्टक' नामक ग्रन्थ द्वारा ग्रह स्पष्ट किये हैं। दोनों नीचे के कोष्ठक में लिखे हैं। ग्र० सा० को० ग्रन्थ भी यूरोपियन सूक्ष्म पुस्तकों के आधार पर ही बना है। ह्विटने ने ग्रह यूरोपियन ग्रन्थों द्वारा स्पष्ट किये हैं। नीचे के कोष्ठक में सूर्य-सिद्धान्त द्वारा लाये हुये कलियुगारम्भकालीन स्पष्टग्रह भी लिखे हैं। ह्विटने के मध्यमग्रह और केरोपन्त के उच्च और पातों द्वारा मैंने यह ग्रह स्पष्ट किये हैं। वे भी नीचे लिखे हैं। वर्तमान समय के लिये यूरोपियन कोष्ठक अत्यन्त शुद्ध हैं। उनसे आकाशस्थिति ठीक मिलती है। इसी कोष्ठक द्वारा ५ सहस्र वर्ष पूर्व के भी ग्रह, यदि बिलकुल शुद्ध नहीं तो, बहुत शुद्ध आने चाहिए।

कलियुगारम्भकालीन ग्रह

	मध्यम सायन						स्पष्ट					
	ह्विटनी			ग्र०सा०को०के अनुसार			यूरोपियन सायन			सूर्यसिद्धान्त		
	अं०	क०	वि०	अं०	क०	वि०	अं०	क०	वि०	अं०	क०	वि०
सूर्य	३०१	४५	४३	३०१	१३	४२	३०३	३५	४२	२	७	२७
चन्द्र	३०८	३	५०	३०१	३६	१८	३१२	१५	३०	५	२	४६
चन्द्रोच्च	४४	५६	४२	६७	३२	४२				९०	०	०
राहु	१४८	२	१६	१४५	०	०	१४७	५३	३४	१८०	०	०
बुध	२६८	३४	५	२६७	३६	४२	२८८	३	५४	३५८	७	२७
शुक्र	३३४	३६	३०	३३३	४५	२४	३१६	१२	६	०	५२	१२
मंगल	२८९	४८	५	२८९	११	१८	३००	३४	१८	५	४२	३०
गुरु	३१८	१६	७	३१८	४	६	३१७	४५	५४	०	४२	०
शनि	२८१	३६	१८	२८०	२	१८	२७८	०	१८	३५३	२४	५७

मैंने केरोपन्त के ग्रन्थ द्वारा लाये हुए मध्यम ग्रहों में कालान्तर संस्कार नहीं दिया है। केरोपन्त ने केवल सूर्य, चन्द्र, चन्द्रोच्च और राहु, का कालान्तरसंस्कार लिखा है। इनके संस्कारयुक्त भोग ह्विटने के ग्रहों से प्रायः मिलते हैं। केरोपन्तीय शेष ग्रहों में

कालान्तर संस्कार न देने से भी वे ह्विटनी के ग्रहों से मिलते हैं। इससे ज्ञात होता है कि ह्विटनी के बुधादि पांच ग्रहों में कालान्तरसंस्कार नहीं दिया गया है।

सूर्यसिद्धान्तानुसार राहु के अतिरिक्त सभी ग्रहों का मध्यम भोग शून्य आता है। यूरोपियन ग्रह सायन हैं और सूर्यसिद्धान्त के निरयण, अतः उपर्युक्त यूरोपियन सायन ग्रहों में रवि और किसी इष्ट ग्रह का अन्तर सूर्यसिद्धान्तान्तर्गत रवि और इष्ट ग्रह के अन्तर से जितना न्यून या अधिक हो उतनी हमारे ग्रहों की अशुद्धि कही जा सकती है। ह्विटनी के ग्रहों में बुध सूर्य से लगभग ३३ अंश पीछे और शुक्र ३२ अंश आगे है। यूरोपियन कोष्ठक यदि शुद्ध हों तो हमारे ग्रन्थों द्वारा लाए हुए मध्यम ग्रहों में इतनी अशुद्धि समझनी चाहिए।

आकाश में ग्रह मध्यम भोगानुसार नहीं बल्कि स्पष्ट भोग द्वारा निश्चित किये हुए स्थान में दिखाई देते हैं। उपर्युक्त यूरोपियन स्पष्ट ग्रहों में सूर्य से, सबसे अधिक अन्तरित ग्रह, शनि और गुरु हैं। शनि सूर्य से २५ अंश पीछे है और गुरु १४ अंश आगे। सूर्यसिद्धान्त द्वारा लाए हुए सभी स्पष्ट ग्रह सूर्य से ९ अंश के भीतर हैं। सूर्यसिद्धान्तानुसार सब ग्रह अस्तंगत हैं और गुरुवार को अमावस्या में सूर्यग्रहण लगता है। यूरोपियन गणितानुसार केवल मंगल अस्तंगत होता है। ह्विटनी का राहु १५ अंश कम कर देने से सूर्य ग्रहण आता है। बुध १० अंश अधिक, शुक्र ९ अंश कम, गुरु ४ अंश कम और शनि ११ अंश अधिक मानकर गणित करने से स्पष्ट ग्रह इस प्रकार आते हैं:—

सूर्य	३०३।३५।४२	शुक्र	३१२।२८।४८		
बुध	२९०।४०।६	गुरु	३१४।६।३६	शनि	२८८।१७।३०

अर्थात् सब ग्रह अस्तंगत आते हैं।

हमारे ग्रन्थों के अनुसार कलियुगारम्भ में सब ग्रह एक स्थान में आते हैं, परन्तु उस समय वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं थी। सब ग्रहों के अस्तगंत होने की भी संभावना हो सकती है, पर महाभारतादि में इसका भी वर्णन नहीं है। सूर्यसिद्धान्तादि ग्रन्थ कलियगारम्भ के कम से कम २६०० वर्षों बाद बने हैं। इनके पूर्व मनुस्मृति की युग-पद्धति प्रचलित थी, परन्तु मालूम होता है, कलियुग का आरम्भ काल निश्चित नहीं हुआ था। ऊपर पृष्ठ में "पहिले के तीन युगों में उत्पन्न वनस्पतियां" इस अर्थ के द्योतक ऋग्वेद और यजुर्वेद के वाक्य लिखे हैं। उनसे भी नहीं प्रतीत होता कि वेद-वेदाङ्गकाल में यह निश्चित हो चुका था कि शकपूर्व ३१७९वें वर्ष में कलियुग लगा। अतः यह सन्देह नहीं किया जा सकता कि ज्योतिषग्रन्थकारों ने ग्रन्थरचनाकाल की गति द्वारा गणित करने पर पीछे जहां ग्रहों को एकत्र होते देखा होगा उसी को कलियुगारम्भकाल कह दिया होगा।

रोहिणीशकटभेद

रोहिणी नक्षत्र में पांच तारे हैं। पांचों के संयोग से गाड़ी सरीखी आकृति बनती है। इसलिए उसे रोहिणीशकट कहते हैं। पांचों में सबसे उत्तरवाले तारे (एपसिलान टारि) का दक्षिण शर २ अंश ३४ कला ४३ विकला[1] और योगतारा का दक्षिण शर ५ अंश २८ कला है। जब कोई ग्रह इन तारों के पास रहता है और उसका शर इन दोनों शरों के मध्य में होता है उस समय वह इन पांचों तारों के बीच में आ जाता है और लोग कहते हैं कि अमुक ग्रह ने रोहिणीशकट का भेदन किया। ग्रहों का इतना शर होना उनके पात की स्थिति पर अवलम्बित है। चद्रपात की परिक्रमा लगभग १८ वर्षों में पूर्ण होती है परन्तु इतने समय में चन्द्रमा लगभग ५ या ६ वर्ष ही शकट का भेदन करता है। पूर्व पृष्ठों में हम दिखा चुके हैं कि सन् १८८४ के सितम्बर से १८८८ के मार्च तक वह प्रत्येक परिक्रमा में रोहिणी के योग तारे को आच्छादित कर लेता था। रोहिणी और चन्द्रमा के इस समागम की ओर भारतीयों का ध्यान बहुत प्राचीन काल में ही जा चुका था। पुराणों में यह कथा प्रसिद्ध है कि चन्द्रमा की रोहिणी पर अत्यन्त प्रीति है। तैत्तिरीयसंहिता के द्वितीय अष्टक में तृतीय पाठ के सम्पूर्ण पांचवें अनुवाक में यही कथा है कि प्रजापति की ३३ कन्याएं थीं। उन्होंने वे सब चन्द्रमा को दी थीं। उनमें रोहिणी से वह विशेष प्रेम करता था, इत्यादि।[2] २७ नक्षत्रों के २७ और कृत्तिका के ६ तारे मिलकर ३३ होते हैं। यही ३३ कन्याएं हैं। स्पष्ट है कि आकाश में रोहिणी से चन्द्रमा का निकट समागम दिखाई देने के बाद ही इस कथा का प्रचार हुआ है। गर्गादिकों की संहिताओं में इस योग का विस्तृत वर्णन है। बृहत्संहिता का तो सम्पूर्ण २४वां अध्याय रोहिणी-चन्द्रमा-योग विषयक ही है।

ज्योतिष के संहिता ग्रन्थों में यह बात प्रसिद्ध है कि शनि और मंगल यदि रोहिणी-शकट का भेदन करें तो स्थिति बड़ी भयावह होती है। वराहमिहिर ने लिखा है:—

> रोहिणीशकटमर्कनन्दनो यदि भिनत्ति रुधिरोऽथवा शशी।
> किं वदामि यदि नष्टसागरे जगदशेषमुपयाति संक्षयम् ।।३५।।
>
> बृहत्संहिता, ३४।

१. नाटिकल आलमनाक में लिखी हुई उसकी विषुवांशक्रान्ति द्वारा मैंनें यह सूक्ष्म शर निकाला है।

२. ज्योतिर्विलास ग्रन्थ के रजनीवल्लभ प्रकरण में इस योग का वर्णन विस्तार-पूर्वक है। उसमें इस अनुवाक का अर्थ भी लिखा है। (द्वितीयावृत्ति का पृष्ठ ५५ (देखिए)।

ग्रहलाघवकार गणेशदैवज्ञ ने लिखा है:—

"भौमार्क्योः शकटभिदा युगान्तरे स्यात्'

ग्रहलाघव, ११।१२।

और यह ठीक भी है क्योंकि सम्प्रति इस शकट के पास आने पर शनि का दक्षिण शर लगभग १ अंश ५० कला और मंगल का उत्तर शर लगभग १२ कला रहता है अर्थात् वे दोनों शकट-भेदन नहीं करते। यहां शंका होती है कि यदि वे शकटभेदन ही नहीं करते तो संहिताग्रन्थों में उनके शकट-भेदन सम्बन्धी अनिष्ट फल का वर्णन कैसे लिखा गया, परन्तु यह बात बिलकुल असम्भव नहीं कही जा सकती। गुरु का रोहिणी शकट-भेदन करना सर्वथा असम्भव है क्योंकि उसका शर २ अंश ३५ कला कभी भी नहीं होता और संहिताग्रन्थों में भी गुरुकृत रोहिणी शकट-भेदन का वर्णन कहीं नहीं मिलता परन्तु शनि और मंगल की स्थिति ऐसी नहीं है। शनि का स्पष्ट परमशर लगभग २ अंश ४५ कला और मंगल का २ अंश ५३ कला होता है अतः उनके पात के एक चक्र में रोहिणी पास रहने पर कभी न कभी उनका शर शकटभेदन योग्य हो सकता है। उनके पात का एक भ्रमण होने में ४०,५० सहस्र वर्ष लगते हैं। इतने समय में उन्होंने कभी न कभी शकटभेदन अवश्य किया होगा। इसके विषय में मैंने शनि का गणित किया है। उससे पता चलता है कि शकारम्भ के बाद भेदन कभी भी नहीं हुआ है। उसके पूर्व की भिन्न-भिन्न वर्षसंख्याएं लेकर गणित करने से ज्ञात होता है कि शकपूर्व पांच सहस्र वर्षों के भीतर भी भेद कभी नहीं हुआ। शक पूर्व ५२९४ वें वर्ष में रोहिणी नक्षत्र के उत्तर तारे का सायन भोग १० राशि २८ अंश २ कला आता है और शनि उस स्थान में आने पर उसका दक्षिण शर २ अंश ३४ कला होता है।[1] इससे सिद्ध होता है कि उस समय और उसके पहिले भी बहुत दिनों तक शनि प्रत्येक परिक्रमा में रोहिणी-शकट का भेदन करता था। मंगलकृत शकटभेदन का समय इससे भी बहुत प्राचीन सिद्ध होता है। संहिताग्रन्थों में शनि और मंगलकृत रोहिणीशकट-भेदन के फल लिखे हैं, अतः कभी न कभी शकटभेद अवश्य हुआ होगा। उसका समय शकपूर्व ५ सहस्र वर्ष से अर्वाचीन नहीं हो सकता, अतः सिद्ध हुआ कि कम से कम शकपूर्व ५ सहस्र वर्ष पहिले हमारे देश में ग्रहज्ञान हो चुका था।

नक्षत्रों का ज्ञान इसके पहिले ही हुआ होगा। वैदिककाल तथा ऋग्वेदसंहिताकाल के विषय में ऊपर जो कुछ लिखा है उसकी इन हेतुओं से पुष्टि होती है।

१. मैंने प्रो० छत्रे कृत ग्रहसाधनकोष्ठक द्वारा गणित किया है। ग्रन्थ बहुत बड़ा हो जाने के भय से यहाँ उसका पूरा विवरण नहीं लिखा है।

कृत्तिकादि गणना

कृत्तिकाः प्रथमम्। विशाखे उत्तमम्।
तानि देवनक्षत्राणि। अनुराधाः प्रथमम्।
अपभरणीरुत्तमम्। तानि यमनक्षत्राणि।
यानि देवनक्षत्राणि। तानि दक्षिणेन परियन्ति।
यानि यमनक्षत्राणि ।।७।। तान्युत्तरेण।
तैत्तिरीयब्राह्मण १।५।२।

कृत्तिकाएं प्रथम और विशाखाएं अन्तिम हैं। ये देवनक्षत्र हैं। अनुराधाएं प्रथम और अपभरणियां अन्तिम हैं। ये यम नक्षत्र हैं। देवनक्षत्र दक्षिण से [उत्तर की ओर] और यम नक्षत्र उत्तर से [दक्षिण की ओर] घूमते हैं।

कोष्ठ में लिखे हुए शब्द मूल में नहीं हैं, परन्तु तैत्तिरीयसंहिता के 'तस्मादादित्यः षण्मासो दक्षिणेनैति षडुत्तरेण' (तै० सं० ६।५।३) वाक्य में वेदभाष्यकार माधवाचार्य ने दक्षिणेन का अर्थ 'दक्षिण की ओर से ऊपर की ओर' किया है। 'दक्षिणेन' का अर्थ 'किसी पदार्थ के दक्षिण' भी हो सकता है परन्तु उस वाक्य में दूसरा कोई पदार्थ नहीं दिखाई देता। देवनक्षत्र क्रान्तिवृत्त के दक्षिण और शेष उत्तर भी नहीं माने जा सकते क्योंकि कृत्तिका क्रान्तिवृत्त से उत्तर है। उससे तीन नक्षत्र क्रान्तिवृत्त के दक्षिण और उसके आगे के दो उत्तर ओर हैं। इस प्रकार सभी नक्षत्र अव्यवस्थित हैं। नक्षत्रों के शर कभी नहीं बदल सकते। बदलें भी तो उनमें सहस्रों वर्षों में एकाध कला का अन्तर पड़ेगा, अतः यह वर्णन क्रान्तिवृत्तविषयक नहीं कहा जा सकता। कृत्तिकादि नक्षत्र विषुववृत्त से दक्षिण और शेष उत्तर हों, यह भी असंभव है। सम्पातभ्रमण के कारण नक्षत्रों की क्रान्तियां अर्थात् विषुववृत्तसम्बन्धी स्थान सर्वदा बदलते रहते हैं परन्तु स्वाती, श्रवण धनिष्ठा और उत्तराभाद्रपदा का शर २४ अंश से अधिक उत्तर होने के कारण ये नक्षत्र विषुववृत्त के दक्षिण भाग में कभी भी नहीं आ सकते।[1] अतः लगातार कोई भी १३ नक्षत्र विषुववृत्त के एक पार्श्व में कभी नहीं आ सकेंगे। भूतल के किसी भी स्थान में किसी भी समय ऐसी स्थिति नहीं आ सकती कि आधे नक्षत्र द्रष्टा के एक पार्श्व से चले जायं और आधे दूसरी ओर से। अतः उपर्युक्त वेदवाक्य के

१. मैंने ई० पू० २३५०, १४६२ और सन् ५७०, १८७ की नक्षत्रस्थिति का विचार किया। तदनुसार कोई भी लगातार १३ नक्षत्र विषुववृत्त के एक ओर आने का प्रसङ्ग कभी नहीं आता है। ग्रन्थविस्तार होने के भय से वे सब अंक यहाँ नहीं लिखे हैं।

'दक्षिणेन परियन्ति' का अर्थ 'अमुक के दक्षिण पार्श्व से' होना असम्भव है। यदि इस प्रकार अर्थ किया जाय कि कृत्तिकादि देवनक्षत्र दक्षिण से उत्तर की ओर जाते हैं तो उसका फलितार्थ यह होगा कि वे दक्षिण से उत्तर की ओर हैं अर्थात् सूर्य के दक्षिण से उत्तर ओर जाने के मार्ग में हैं, अतः इस वाक्य से सिद्ध हुआ कि उत्तरायण कृत्तिकारम्भ में होता था। कृत्तिकारम्भ में उत्तरायण होने का समय ई० पू० ८७५० आता है, परन्तु ऐसा अर्थ करने में बहुत सी अड़चने हैं। ऊपर शतपथब्राह्मण का एक वाक्य लिखा है जिसका अर्थ यह है कि 'कृत्तिकाओं का उदय पूर्व में होता है।' उसमें कृतिकाओं की स्थिति का जैसा स्पष्ट वर्णन है वैसा इस वाक्य में नहीं है। यह अर्थ ठीक मानने से शतपथ और तैत्तिरीयब्राह्मणों के समय में लगभग ६००० वर्षों का अन्तर पड़ जाता है जो कि असम्भव है। दूसरी बात यह कि वेदाङ्गज्योतिष में उत्तरायण धनिष्ठा नक्षत्र में बतलाया है अतः धनिष्ठा और कृत्तिका के मध्यवर्ती ६ नक्षत्रों में भी कभी न कभी अवश्य होना चाहिए था, परन्तु इसका उल्लेख किसी भी ग्रन्थ में नहीं मिलता। उपर्युक्त वेदवाक्यों का अर्थ चाहे जो हो पर रोहिणीशकट-भेद के विवेचन से स्पष्ट विदित होता है कि इतने प्राचीन समय में हम लोगों को नक्षत्रज्ञान होना असम्भव नहीं था।

सारांश[1]

यहां तक वेदाङ्गकालीन ज्योतिषशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया। ग्रीक ज्योतिष का हमारे ज्योतिष से यदि कोई सम्बन्ध है तो वह इस काल के बाद का है। इस भाग में बतलायी हुई सभी बातें हमारे देश का निजी ज्ञान हैं। अब यहां ग्रहस्थिति से सम्बन्ध रखनेवाली इस भाग की विशेष महत्व की बातें थोड़े में लिखेंगे। शेष अनेक महत्वशाली बातें पीछे लिखी हैं। उन्हें वहीं देखिए।

भारतीयों को शकपूर्व ५ सहस्र वर्ष के पहिले ही नक्षत्रों का ज्ञान हुआ। अधिमास प्रक्षेपण की रीति का प्रचार भी उसी काल के आसपास हुआ होगा। मास गणना सर्वदा चान्द्रात्मिका रही है। शकारम्भ के पांच सहस्र वर्ष पूर्व ग्रहों का ज्ञान हो चुका था। यद्यपि उस समय ग्रहों की भविष्यकालीन स्थिति का निश्चय नहीं कर सकते थे तथापि इतना जानते थे कि वे गतिमान् हैं और नक्षत्रों के सम्बन्ध से उनकी गति का निरीक्षण करने लगे थे। मध्वादि मासनामों का प्रचार भी उसी समय के आसपास हुआ होगा। शक के लगभग २००० वर्ष पूर्व चैत्रादि नाम पड़े। उस समय तक वर्ष साम्पातिक

१. इस प्रकार बड़े अक्षरों में ऊपर लिखे हुए शब्द सूची में देखिए। उनसे सामान्यतः पता लग जायगा कि इस ग्रन्थ में कौन-कौन से विषय हैं।

(सायन) सौर ही था। बाद में चैत्रादि नामों के कारण नाक्षत्र (निरयन) सौर का प्रचार हुआ फिर भी उपपत्ति-दृष्ट्या वर्ष सायन ही था।

शतपथब्राह्मण के कृत्तिका-स्थिति-सूचक वाक्य द्वारा उस स्थिति का समय शकपूर्व ३००० वर्ष निश्चित होता है। वेदों की संहिताएं इससे भी प्राचीन हैं। इसमें सन्देह का स्थान बिलकुल नहीं है।

वेदाङ्गज्योतिष का रचनाकाल शकपूर्व लगभंग १५०० वर्ष है। उस समय दिन के ६० घटिकात्मक मान का प्रचार था। सूर्य और चन्द्रमा की मध्यम गतियों का बहुत सूक्ष्म ज्ञान हो चुका था। सौरवर्ष-मान अशुद्ध होते हुए भी प्रचलित था, परन्तु केवल अधिमास प्रक्षेपण द्वारा सौर और चान्द्र वर्षों का मेल रखने की एकमात्र स्थूल रीति ही वह नहीं जानते थे, बल्कि उसका विशेष ज्ञान रखते थे। वर्ष के १२ सौरमासों का व्यवहार में उपयोग किया जाता था अर्थात् क्रान्तिवृत्त के १२ भाग और उनमें से प्रत्येक के अंशात्मक ३० विभाग तथा उनके कलात्मक ६० भाग मानने की पद्धति का बीज भी उत्पन्न हो चुका था। कालविभाग और क्षेत्र विभाग के सादृश्य का जो कि एक महत्वशाली पदार्थ है, प्रत्यक्ष प्रचार था। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि वृत्त के राश्यंशादि विभागों की कल्पना सर्वप्रथम हिन्दुओं ने ही की। ग्रहों की भी मध्यम गतिस्थिति का ज्ञान वेदाङ्गकाल के अन्त में हुआ होगा।

दूसरी महत्व की सीढ़ी है स्पष्टगतिस्थिति। १३ दिनात्मक पक्ष के विवेचन में बतला चुके हैं कि सूर्य-चन्द्र की स्पष्ट गतिस्थिति का कुछ ज्ञान हुआ था। ग्रहों की स्पष्ट गतिस्थिति समझना और उसके आनयन की रीति जानना सूर्य और चन्द्रमा की स्पष्टस्थिति की अपेक्षा अधिक कठिन है। इस बात का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता कि प्राचीन काल में उसका ज्ञान था, परन्तु इतना जानते थे कि ग्रहों की मध्यम गति की अपेक्षा स्पष्टगति अनियमित है क्योंकि उस समय ग्रहों के वक्रत्व और मार्गित्व का विचार होता था। इससे अनुमान होता है कि ग्रहों की स्पष्टगति का भी विचार आरम्भ हो गया रहा होगा। वेदाङ्गज्योतिष के सौरमास और महाभारत के संक्रान्तियों के अयन, विषुव और षडशीति नामों से ज्ञात होता है कि वेदाङ्गज्योतिषकाल में ही अथवा उसके बाद थोड़े ही दिनों के भीतर क्रान्तिवृत्त के १२ भागों का प्रचार हुआ, परन्तु ग्रहस्थिति नक्षत्रों के अनुसार बतलायी है। अतः १२ राशियों के अनुसार ग्रहस्थिति बतलाने की पद्धति का आरम्भ नहीं हुआ रहा होगा।

मेषादि संज्ञाएं शकपूर्व १५०० के लगभग प्रचलित हुई। वारों का प्रचार इससे पहिले हुआ। वार भारत में परदेश से आये हैं।

४३२०००० वर्षों का महायुग मानने की पद्धति यास्काचार्य के पहिले की होगी।

अथर्वज्योतिष से ज्ञात होता है कि जातकपद्धति हमारे देश में स्वतन्त्ररूप से उत्पन्न हुई थी अर्थात् हमने जातक पद्धति दूसरों से नहीं ली है।

सारांश यह कि ग्रहों की स्पष्टस्थिति के गणित और जातक का बीज वेदाङ्गकाल के अन्त में उत्पन्न हुआ था। वह ग्रन्थ रूप में किस भाँति परिणत हुआ, इसका विचार आगे द्वितीय भाग में किया जायगा।

द्वितीय भाग

ज्योतिषसिद्धान्तकालीन ज्योतिषशास्त्र का इतिहास

गणितस्कन्ध

मध्यमाधिकार

प्रथम प्रकरण

ज्योतिषग्रन्थों का इतिहास और मध्यमगति इत्यादि

विषयोपक्रम

उपोद्घात में बतलाये हुए क्रम के अनुसार अब इस द्वितीय भाग में ज्योतिष-सिद्धान्तकालीन अर्थात् शकपूर्व लगभग ५०० वर्ष से लेकर आज तक के ज्योतिषशास्त्र का इतिहास लिखा जायगा। उसमें सर्वप्रथम गणितस्कन्ध के मध्यमाधिकार के प्रथम प्रकरण में ग्रहगणितसम्बन्धी ग्रन्थों के इतिहास और मध्यमगति स्थिति इत्यादि का विवेचन करेंगे।

प्रथम विभाग में बतलाया हुआ वैदिककालीन और वेदाङ्गकालीन ज्योतिषज्ञान उस समय की दृष्टि से बहुत है, परन्तु ग्रहों की स्पष्टगतिस्थिति का ज्ञान कराने के लिए वह अपर्याप्त है। कुछ ग्रन्थ इन दोनों के मध्यवर्ती काल के भी होने चाहिए। कुछ संहिताग्रन्थ ऐसे होंगे भी, परन्तु वे सम्प्रति उपलब्ध नहीं हैं। हों तो भी मैंने नहीं देखे हैं। ज्योतिषसिद्धान्तकाल और उससे प्राचीन काल के ज्योतिषज्ञान का कुछ पारस्परिक सम्बन्ध दिखलाया जा सकता है। आगे उसका विवेचन किया भी जायगा, परन्तु इस बात का पता नहीं लगता कि ग्रहों की स्पष्टगतिस्थिति लाने की उच्चस्थिति तक ज्योतिषज्ञान क्रमशः कैसे आया। प्राचीन लोगों ने वेध कैसे किये और प्रत्येक वेध का सूक्ष्म निरीक्षण करते हुए उन्होंने गतिमान किस भाँति निश्चित किये। ज्योतिष के प्राचीन सिद्धान्त ग्रन्थों में यह ज्ञान एकाएक अत्यन्त उच्चस्थिति में पहुँचा हुआ दिखाई देता है। उसे जिन्होंने यहां तक पहुँचाया उन पुरुषों के विषय में एक प्रकार की अलौकिकता मालूम होना बिलकुल स्वाभाविक है और सचमुच इसी कारण ग्रहगणित के अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ अपौरुषेय समझे जाते हैं। अलौकिक मानने के कारण उन ग्रन्थों में वेधादि का वर्णन न होना सयुक्तिक ही है, उसका एक और भी प्रबल कारण यह है कि, उस समय, जहां तक हो सकता था, लोग संक्षिप्त ग्रन्थ लिखने का प्रयत्न करते थे, क्योंकि ऐसा करने से ग्रन्थों को ध्यान में रखना सुगम होता है। इसीलिए गणितग्रन्थों

में केवल ग्रहगति के सिद्धान्त ही लिखे हैं। ग्रन्थ का विस्तार होने के भय से उन सिद्धान्तों की उपपत्ति नहीं लिखी है।

इस मध्यमाधिकार में कालक्रम के अनुसार सब ग्रहगणितग्रन्थों का विचार करेंगे। भिन्न-भिन्न ग्रन्थों के भिन्न-भिन्न अधिकारों में यदि कुछ विशेष बातें होंगी तो वह सब उन-उन अधिकारों में लिखी जायँगी, पर उस ग्रन्थ की और सब सामान्य बातों का विवेचन इसी अधिकार में किया जायगा। गणित के कुछ ग्रन्थ अपौरुषेय माने जाते हैं। कुछ ग्रन्थकर्ताओं के एक से अधिक ग्रन्थ हैं। इसलिए इस प्रकरण में कहीं ग्रन्थों के नाम आवेंगे और कहीं ग्रन्थकारों के।

ज्योतिषगणित के सबसे प्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ सूर्यसिद्धान्तादि पांच सिद्धान्त हैं। वे अपौरुषेय माने जाते हैं। उनमें दो भेद हैं। वराहमिहिर की पञ्चसिद्धान्तिका में जिन सौरादि पांच सिद्धान्तों का वर्णन है, वे सम्प्रति उपलब्ध नहीं हैं। उन ग्रन्थों में आये हुए मानों का पता पञ्चसिद्धान्तिका द्वारा चलता है। इन पांचों को हम 'प्राचीन सिद्धान्तपञ्चक' कहेंगे। आजकल जो सौरादि पांच सिद्धान्त उपलब्ध हैं, उन्हें 'वर्तमान सिद्धान्तपञ्चक' कहेंगे। पहिले प्राचीन सिद्धान्तपञ्चक का विचार किया जायगा। ये सिद्धान्त शकपूर्व पांचवीं शताब्दी में बने हैं। उनमें से एक दो शायद इससे भी प्राचीन होंगे।

प्राचीन सिद्धान्तपञ्चक

वराहमिहिर की पञ्चसिद्धान्तिका में पांच सिद्धान्तों का वर्णन है। कहा है—

पौलिशरोमकवासिष्ठसौरपैतामहास्तु पञ्चसिद्धान्ताः।

पञ्चसिद्धान्तिका में बतलाये हुए पांचों सिद्धान्तों के भगणादि मानों द्वारा वे वर्तमान सूर्यादि पांच सिद्धान्तों से भिन्न मालूम होते हैं। वे ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं हैं। इतना ही नहीं, इस प्रान्त में पञ्चसिद्धान्तिका भी प्रायः कहीं नहीं मिलती। उसे जाननेवाले बहुत कम हैं। डेक्कन कॉलेज के सरकारी पुस्तकसंग्रह में कश्मीर से डाक्टर बुल्हर द्वारा लायी हुई पञ्चसिद्धान्तिका की दो प्रतियां हैं (सन् १८७४–७५, नं० ३७। सन् १८७९–८० नं० ३३८)। वे दोनों बड़ी अशुद्ध और अपूर्ण हैं। कहीं-कहीं तो एक आर्या की समाप्ति के बाद पता नहीं चलता दूसरी का आरम्भ कहां से हुआ है। उसके आधार पर मैंने एक स्वतन्त्र प्रति तैयार की है। तदनुसार गणित करने से पता चला कि उसमें जिन सूर्यादि सिद्धान्तों का वर्णग है, वे वर्तमान सिद्धान्तों से भिन्न हैं। उन दोनों में भेद प्रायः वर्षमान और ग्रहगतिमान में है। वर्तमान ज्योतिषग्रन्थों को देखने से यह नहीं मालूम होता कि वर्तमान सूर्यसिद्धान्त से भिन्न किसी अन्य

सूर्यसिद्धान्त का गत ८०० वर्षों के भीतर किसी को पता रहा होगा। सन् १८८७ ई० में मुझे यह बात मालूम हुई। चूंकि गणित से तथा अन्य प्रमाणों द्वारा यह बात उत्पन्न होती है, अतः इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता। पञ्चसिद्धान्तिका पुस्तक के अत्यन्त अशुद्ध होने से तथा उस पर कोई टीका न होने के कारण उसके बहुत से श्लोकों का अर्थ नहीं लगता। फिर भी जिन बहुत सी महत्वशाली बातों का पता लगा है उनके आधार पर हमें उन सिद्धातों का जो समय उचित मालूम हुआ है, तदनुसार क्रमशः यहां पांचों का संक्षिप्त वर्णन कर रहे हैं।

पञ्चसिद्धान्तिका के प्रथम अध्याय में ही वराहमिहिर ने कहा है:—

पौलशति[२] विस्फुटोऽसौ तस्यासन्नस्तु रोमकः प्रोक्तः।
स्पष्टतरः सावित्रः परिशेषौ दूरविभ्रष्टौ॥

इससे मालूम होता है कि पञ्चसिद्धान्तिका-काल में पौलिशसिद्धान्त बहुत स्पष्ट था अर्थात् उससे दृक्प्रतीति होती थी और रोमक उसके पास-पास था। सूर्यसिद्धान्त उन दोनों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट था और शेष वासिष्ठ तथा पितामह सिद्धान्तों में बहुत अन्तर पड़ गया था अर्थात् उनके गणित द्वारा लायी हुई स्थिति आकाशस्थिति से नहीं मिलती थी। मेरे मतानुसार इन पांचों में पितामह और वासिष्ठ सिद्धान्त औरों की अपेक्षा अधिक प्राचीन और पितामहसिद्धान्त सबसे प्राचीन होना चाहिए। इस कथन के हेतु आगे बतलाये जायंगे। अब यहाँ सर्वप्रथम पितामहसिद्धान्त का विचार करेंगे।

पितामहसिद्धान्त

पितामहसिद्धान्त के मूलतत्वों का वर्णन पञ्चसिद्धान्तिका के १२वें अध्याय में है। इस अध्याय में केवल पांच आर्याएँ हैं। पञ्चसिद्धान्तिका में इस सिद्धान्त की दूसरी बातें और कहीं भी नहीं आयी हैं। पांचों में से प्रथम दो आर्याएँ यह हैं—.

रविशशिनोः पञ्चयुगं वर्षाणि पितामहोपदिष्टानि।
अधिमासस्त्रिंशद्भिर्मासैरवमस्त्रिषष्ट्याह्नाम्॥१॥

१. डा० थीबो ने सन् १८८९ में डेक्कन कॉलेज की प्रति के आधार पर पञ्चसिद्धान्तिका छपवायी है। पं० सुधाकर द्विवेदी ने उस पर नवीन टीका लिखी है। हमें उसे देखने का अवसर अभी तक नहीं मिला। ऊपर पञ्चसिद्धान्तिका की जो महत्व की बातें बतलायी हैं वे सब मैंने स्वतः निकाली हैं।

२. हमारी पुस्तक में पञ्चसिद्धान्तिका की आर्याओं का जो पाठ है, यहाँ वही लिखा है। योग्य मालूम होने पर डाक्टर थीबो के कल्पित पाठों से भी कहीं-कहीं कुछ लिया है।

द्व्यूनं शकेन्द्रकालं पञ्चभिरुद्धृत्य शेषवर्षाणाम्।
द्युगणं माघसिताद्यं कुर्याद्द्युगणस्तदह्न्युदयात्।।

अर्थ—पितामह के कथनानुसार चन्द्रमा और सूर्य के पांच वर्षों का एक युग, तीस महीनों के बाद एक अधिमास और ६३ दिनों के बाद एक क्षयदिवस (होता है)। शकेन्द्रकाल में से दो घटाकर शेष में पांच का भाग दे। अवशिष्ट वर्षों का अहर्गण माघशुक्लादि से बनावे (तो) उस (इष्ट) दिन (जो अहर्गण होगा वह) उदयकाल से (होगा)।

पांचवीं आर्या में दिनमान लाने की रीति बतायी है—

द्विघ्नं शशिरस ६१ भक्तं द्वादशहीनं दिवसमानम्।।[1]

[उत्तरायण के जितने दिन व्यतीत हो गये हों अथवा दक्षिणायन में जितने दिन शेष रह गये हों उनमें] दो का गुणा कर, ६१ का भाग दो। उसमें १२ (मुहूर्त) जोड़ दो। दिनमान हो जायगा।

दूसरी आर्या में नक्षत्र लाने की रीति बतलायी है। उसमें धनिष्ठा से नक्षत्रारम्भ किया है। इन दोनों बातों से पितामहसिद्धान्त का वेदाङ्गज्योतिषपद्धति से बहुत साम्य मालूम होता है।

रचनाकाल

वराहमिहिर ने पितामहसिद्धान्त की गणितपद्धति शककाल के हिसाब से लिखी है, पर उन्होंने अहर्गणसाधन के लिए ऐसा किया है। अन्य सिद्धान्तों की पद्धतियों में भी अहर्गण की गणना शके ४२७ से की है। जैसे शके ४२७ में अहर्गण लाने के कारण यह नहीं सिद्ध किया जा सकता कि वे ग्रन्थ शके ४२७ में बने हैं (या वे वराह रचित हैं) उसी प्रकार पितामहसिद्धान्त का भी रचनाकाल शकारम्भ के पश्चात् होना असम्भव है। वेदाङ्गज्योतिष की पद्धति से साम्य होने के कारण उसका निर्माणकाल शकारम्भ से बहुत प्राचीन होना चाहिए, पर उसे ठीक निश्चित करने का कोई साधन नहीं दिखाई देता।

प्रथम आर्यभट ने दशगीतिका के आरम्भ में निम्नलिखित मङ्गलाचरण किया है।

१. यहाँ 'हीन' पाठ अशुद्ध है। उसके स्थान में 'युक्तं' होना चाहिए। अशुद्ध होने के कारण आर्या का पूर्वार्ध यहाँ नहीं लिखा है, पर कोष्ठक में लिखे हुए अर्थ की अपेक्षा उसमें कोई अधिक वैशिष्ट्य नहीं है।

प्रणिपत्यैकमनेकं कं सत्यां देवतां पलं ब्रह्म।
आर्यभटस्त्रीणि गदति गणितं कालक्रियां गोलम् ।।

यहां 'क' अक्षर द्वारा पितामह और परब्रह्म की वन्दना की गयी है और अन्त की "आर्यभटीयं नाम्ना पूर्वं स्वायंभुवं सदा सद्यत्" इस आर्या में तो आर्यभटीय को साक्षात् स्वायंभुव (ब्रह्मा) का शास्त्र कहा है। इससे आर्यभटकाल (शके ४२०) की अपेक्षा पितामहसिद्धान्त का अत्यधिक प्राचीनत्व सिद्ध होता है।

ब्रह्मगुप्त (शके ५५०) ने अपने सिद्धान्त में लिखा है—

ब्रह्मोक्तं ग्रहगणितं महता कालेन् यत् खिलीभूतम्।
अभिधीयते स्फुटं तत् जिष्णुसुतब्रह्मगुप्तेन ।।२।।

अध्याय १।

बहुत समय व्यतीत हो जाने के कारण ब्रह्मोक्त ग्रहगणित शिथिल हो गया है। उसे जिष्णुसुत ब्रह्मगुप्त स्पष्ट कर रहे हैं।

आजकल तीन ब्रह्मसिद्धान्त प्रसिद्ध हैं। एक ब्रह्मगुप्त का ब्रह्मसिद्धान्त, दूसरा शाकल्योक्त ब्रह्मसिद्धान्त और तीसरा विष्णुधर्मोत्तर पुराणान्तर्गत ब्रह्मसिद्धान्त। विष्णुधर्मोत्तरब्रह्मसिद्धान्त और शाकल्योक्त ब्रह्मसिद्धान्त ब्रह्मगुप्त के ब्रह्मसिद्धान्त से प्राचीन नहीं हैं। मेरे मत में वे दोनों इसकी अपेक्षा नवीन हैं। आगे इसका विचार किया जायगा। इन दोनों को ब्रह्मगुप्त के ब्रह्मसिद्धान्त से प्राचीन मान लें तो भी यह निश्चित है कि उपर्युक्त आर्या में ब्रह्मगुप्त ने ब्रह्मोक्त ग्रहगणित के विषय में जिस ब्रह्मसिद्धान्त को खिल (अशुद्ध) कहा है वह इन दोनों से भिन्न है, क्योंकि शाकल्योक्त ब्रह्मसिद्धान्त के मूलतत्व सर्वात्मना आधुनिक सूर्यसिद्धान्त के समान हैं, अर्थात् उसके विषय में कहा जा सकता है कि वह अभी भी खिल नहीं हुआ है और आगे चलकर यह सिद्ध करेंगे कि विष्णुधर्मोत्तरब्रह्मसिद्धान्त का ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त से साम्य नहीं है। अतः मानना पड़ता है कि वह खिल सिद्धान्त पञ्चसिद्धान्तोक्त पितामहसिद्धान्त ही होना चाहिए। वेदाङ्गज्योतिष में सूर्य और चन्द्रमा के अतिरिक्त अन्य किसी ग्रह का गणित नहीं है और पञ्चसिद्धान्तिकोक्त पितामहसिद्धान्त में भी केवल सूर्य और चन्द्रमा का ही गणित है। सब ग्रहों का गणित वराहमिहिर ने पांचों सिद्धान्तों में से सूर्यसिद्धान्तोक्त ही लिखा है। पितामहसिद्धान्तोक्त ग्रहगणित के विषय में कुछ भी नहीं लिखा है तथापि ब्रह्मगुप्त के कथनानुसार उसमें ग्रहगणित होना चाहिए। अधिक काल व्यतीत हो जाने से दृक्-प्रतीति के विरुद्ध होने के कारण वराहमिहिर ने उसे नहीं लिखा होगा। ब्रह्मगुप्त के पूर्व पञ्चसिद्धान्तिकोक्त पितामहसिद्धान्त से भिन्न अन्य कोई पितामह होने की सम्भा-

बना नहीं है, अतः सिद्ध हुआ कि ब्रह्मगुप्त ने पञ्चसिद्धान्तिकोक्त पितामह सिद्धान्त के ही उद्देश्य से 'ब्रह्मोक्तं ग्रहगणितम्' इत्यादि लिखा है। उनके कथनानुसार उसे बने बहुत दिन बीत चुके। अतः उसका रचनाकाल शककाल से बहुत प्राचीन होना चाहिए।

आर्यभट और ब्रह्मगुप्त ने पितामहसिद्धान्त का जो इतना आदर किया है, वह औपचारिक मालूम होता है, क्योंकि उनके सिद्धान्तों का पञ्चसिद्धान्तिकोक्त पितामह-सिद्धान्त से कुछ भी साम्य नहीं है। ब्रह्मगुप्त ने तो एक जगह पञ्चवर्षात्मक युगपद्धति में स्पष्टतया दोष दिखलाया है, जो कि वेदाङ्गज्योतिषविचार में लिखा जा चुका है, परन्तु यह कथन इस बात का कि 'इन दोनों के पहिले पितामहसिद्धान्त नाम का कोई सिद्धान्त ग्रन्थ था' बाधक नहीं होगा।

पद्धति

ऊपर पितामहसिद्धान्त सम्बन्धी पञ्चसिद्धान्तिका की जो दो आर्याएं लिखी हैं उनमें प्रथम में कहा है——

'अधिमासस्त्रिशद्भिर्मासैः'।

वेदाङ्गज्योतिषविचार में पहिले बता चुके हैं कि ३० मास के बाद अधिमास मानना बहुत बड़ी अशुद्धि है। भटोत्पल ने बृहत्संहिता के अष्टमाध्याय के 'एकैकमब्देषु...' श्लोक की टीका में इस श्लोक का पाठ 'अधिमासो द्वयग्निसमैर्मासैः' लिखा है। इस पाठ से ३२ मास के बाद अधिमास होना सिद्ध होता है। श्रीपतिकृत रत्नमाला की महादेवीटीका में भी यही बात है। उन्होंने प्रथमाध्याय की टीका में यह श्लोक लिखा है। ऐसे महत्व के स्थानों में संशययुक्त पाठ बड़ी अड़चन डालता है।

यह कथन भी कि 'ग्रन्थ का मूलपाठ त्रिंशद्भिर्मासैः' ही था पर उत्पल और महादेव ने उसे बदलकर द्वयग्निसमैर्मासैः कर दिया, ठीक नहीं मालूम होता, क्योंकि अधिमास ३२$\frac{१}{२}$ मास से कुछ अधिक समय बाद आता है। अतः उन्हें यदि पाठभेद करना ही अभीष्ट होता तो ३२$\frac{१}{२}$ या ३३ कर देते, पर ऐसा नहीं किया है। अतः मूलपाठ 'द्वयग्नि-समैः' ही रहा होगा। वेदाङ्गज्योतिष की पद्धति के अनुसार क्षयदिवस ६२ तिनों के बाद आता है, पर यहाँ उपर्युक्त आर्या में ६३ दिनों के बाद बतलाया है, अतः पितामहसिद्धान्त का वेदाङ्गज्योतिष से सभी अंशों में साम्य नहीं सिद्ध होता। इससे भी 'द्वयग्निसमैः' पाठ की ही पुष्टि होती है। यदि दोनों का सर्वात्मना साम्य होता तो यहाँ भी 'अधि-मासस्त्रिशद्भिर्मासैः' मानना पड़ता है।

३२ मास में एक अधिमास मानने से ८ वर्षों में ३ अधिमास होंगे। अतः चान्द्र-मास ९९ और तिथियां २९७० होंगी। ६३ तिथियों में एक क्षयदिवस मानने से

इतनी तिथियों में ४७$\frac{१}{७}$ क्षय तिथियां और २९२२$\frac{५}{७}$ सावनदिवस होंगे। इस प्रकार वर्षमान ३६५ दिन २१$\frac{३}{७}$ घटिका का होगा। वेदाङ्गज्योतिषोक्त वर्षमान की अपेक्षा यह बहुत शुद्ध है।

आर्यभट, वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त के पहिले भी पितामहसिद्धान्त था और वह उन लोगों के समय निरुपयोगी हो गया था। अतः उसका रचनाकाल आर्यभटादिकों से बहुत प्राचीन होना चाहिए। यद्यपि वेदाङ्गज्योतिष से उसका बहुत अंशों में साम्य है, तथापि दोनों में भेद भी कम नहीं है। वेदाङ्गज्योतिष में भौमादि ग्रहों का गणित नहीं है, परन्तु ब्रह्मगुप्त के कथन से पितामहसिद्धान्त में उसका अस्तित्व सिद्ध होता है, अतः वेदाङ्गज्योतिष के कुछ काल बाद उससे शुद्ध पितामहसिद्धान्त बना होगा। यह बात सिद्ध है और बड़े महत्व की है। यदि पितामहसिद्धान्तोक्त भौमादि ग्रहों का गणित ज्ञात होता तो भारतीय ज्योतिषशास्त्र की वृद्धि क्रमशः कैसे हुई, यह जानने में उससे बड़ी सहायता मिलती, पर अब उस पितामहसिद्धान्त के मूलस्वरूप की उपलब्धि की आशा करना व्यर्थ है।

वसिष्ठसिद्धान्त

पञ्चसिद्धान्तिका में वसिष्ठसिद्धान्त सम्बन्धी सब १३ आर्याएं हैं। उनमें वर्णित पद्धति आधुनिक सिद्धान्तग्रन्थों की पद्धति से भिन्न है। वराहमिहिर ने भी उसे 'दूरविभ्रष्ट' कहा है, अतः पितामहसिद्धान्त को छोड़कर शेष तीनों से वह प्राचीन होगा।

उन १३ श्लोकों में सूर्य और चन्द्रमा को छोड़कर शेष ग्रहों के विषय में कुछ नहीं कहा है। आधुनिक पद्धति से भिन्न तिथिनक्षत्रानयन पद्धति और राशि, अंश, कला के मान उनमें हैं। छाया का विचार विशेष और दिनमान का बहुत थोड़ा-सा है। लग्न शब्द का सम्प्रति जिस अर्थ में प्रयोग होता है तत्समान ही किसी अर्थ में वहां हुआ है। आधुनिक वसिष्ठसिद्धान्त का वराहमिहिर के पूर्व के वसिष्ठसिद्धान्त से कुछ भी साम्य नहीं है और वह वराह के समय तक नहीं बना था। आगे इस विषय का विशेष विवेचन किया जायगा।

भिन्न-भिन्न वासिष्ठ और रोमकसिद्धान्त

ब्रह्मगुप्त के समय (शके ५५०) वासिष्ठ और रोमकसिद्धान्त दो-दो थे। दो वसिष्ठसिद्धान्त जिन आधारों से सिद्ध होते हैं, उन्हीं द्वारा रोमक सिद्धान्त का भी विवेचन हो जाता है, अतः यहीं उसका भी विचार करेंगे।

ब्रह्मगुप्त ने अपने सिद्धान्त के १४वें अध्याय में एक जगह लिखा है—

पौलिशरोमक वासिष्ठसौरपैतामहेषु यत्प्रोक्तम्।
तन्नक्षत्रानयनं नार्यभटोक्तं तदुक्तिरतः ।।४६।।

अर्थ--पौलिश, रोमक, वासिष्ठ, सौर और पैतामह [सिद्धान्तों] में बतलाया हुआ नक्षत्रानयन आर्यभट ने नहीं लिखा, अतः उसे मैं लिखता हूँ।

२४वें अध्याय के तीसरे श्लोक में लिखा है--

'अयमेव कृतः सूर्येन्दुपुलिशरोमकवसिष्ठयवनाद्यैः'

अर्थात् सूर्य, इन्दु, पुलिश, रोमक, वसिष्ठ और यवनादिकों ने यही (युगारम्भ) किया है।

इन दोनों स्थलों में ब्रह्मगुप्त ने स्वानुकूल होने के कारण सूर्यादि सिद्धान्तों को प्रमाण माना है। ब्रह्मगुप्त का सिद्धान्त देखने से मालूम होता है कि उन्होंने आर्य भटादिकों पर मानों दोषों की वृष्टि की है, पर सूर्यादि सिद्धान्तों में रोमक को छोड़कर अन्य किसी के ऊपर प्रत्यक्ष दोषारोपण नहीं किया है। रोमकसिद्धान्त में भी केवल एक ही बार दोष दिखलाया है। वह यह है--

युगमन्वन्तरकल्पाः कालपरिच्छेदकाः स्मृतावुक्ताः।
यस्मान्न रोमके ते स्मृतिबाह्यो रोमकस्तस्मात् ।।१३।।

प्रथमाध्याय

स्मृतिग्रन्थों में युग, मन्वन्तर और कल्प कालपरिच्छेदक कहे गये हैं और रोमक में उनका वर्णन नहीं है, अतः रोमक स्मृतिबाह्य है।

एकादशाध्याय में लिखा है--

लाटात्सूर्यशशांकौ मध्याविन्दूच्चचन्द्रपातौ च।
कुजबुधशीघ्रबृहस्पतिसितशीघ्रशनैश्चरान् मध्यान् ।।४८।।
युगयातवर्षभगणान् वासिष्ठान् विजयनन्दिकृतपादान्।
मन्दोच्चपरिधिपातस्पष्टीकरणाद्यमार्यभटात् ।।४९।।
श्रीषेणेन गृहीत्वा रत्नोच्चयरोमकः कृतः कन्था।
एतान्येव गृहीत्वा वासिष्ठो विष्णुचन्द्रेण ।।५०।।

लाटकृत ग्रन्थ से मध्यमरवि, चन्द्र, चन्द्रोच्च, चन्द्रपात, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र और शनि, वासिष्ठसिद्धान्त से युगयातवर्ष और भगण, विजयनन्दिकृत ग्रन्थ से पाद और आर्यभटीय से मन्दोच्च, परिधि, पात और स्पष्टीकरण लेकर श्रीषेण ने रोमक की

मानो एक कन्था बनायी है। विष्णुचन्द्र ने उन्हीं मानों द्वारा वासिष्ठसिद्धान्त बनाया है।

यहाँ यह कहा गया है कि भिन्न-भिन्न ग्रन्थों से जिन मानों को लेकर श्रीषेण ने रोमकसिद्धान्त बनाया, विष्णुचन्द्र ने उन्हीं मानों द्वारा वासिष्ठसिद्धान्त की रचना की और श्रीषेण ने युगयातवर्ष तथा भगणमान वासिष्ठसिद्धान्त से लिये हैं। अतः सिद्ध हुआ कि विष्णुचन्द्र ने वसिष्ठ सिद्धान्त से युगयातादि और अन्य ग्रन्थों से कुछ अन्य विषय लेकर नवीन वसिष्ठसिद्धान्त बनाया। सारांश यह कि ब्रह्मगुप्त के समय दो वसिष्ठसिद्धान्त प्रचलित थे और ब्रह्मगुप्त उन दोनों को जानते थे। एक मूलवसिष्ठसिद्धान्त और दूसरा उसमें से कुछ मूलतत्व लेकर विष्णुचन्द्र का बनाया हुआ।

पहिले बता चुके हैं कि रोमकसिद्धान्त में युग, मन्वन्तर और कल्पमान न होने का हेतु दिखलाते हुए ब्रह्मगुप्त ने उसे स्मृतिबाह्य कहा है और वही फिर श्रीषेण ने वसिष्ठ सिद्धान्त से युगयातादि लेकर रोमक सिद्धान्त बनाया कहते हुए उसमें युगपद्धति होने का समर्थन कर रहे हैं। और भी लिखा है—

तद्युगवधो महायुगमुक्तं श्रीषेणविष्णुचन्द्राद्यैः।

अध्याय ११ आर्या ५५।

मेषादितः प्रवृत्ता नार्यभटस्य स्फुटा युगस्यादौ।
श्रीषेणस्य कुजाद्याः।

अध्याय २ आर्या ४६।

इसलिए ब्रह्मगुप्त के कथन से ही यह सिद्ध हो जाता है कि रोमकसिद्धान्त में युगपद्धति है। अतः मानना पड़ता है कि ब्रह्मगुप्त के समय दो रोमकसिद्धान्त थे। एक मूल रोमकसिद्धान्त और दूसरा श्रीषेणकृत।

ब्रह्मगुप्त के सिद्धान्त में उनसे प्राचीन जिन ज्योतिषियों के नाम आये हैं, प्रायः वे सभी पञ्चसिद्धान्तिका में भी हैं, पर उसमें श्रीषेण और विष्णुचन्द्र के नाम नहीं है। वासिष्ठ और रोमक सिद्धान्त भी एक-एक ही हैं। इससे मालूम होता है कि शके ४२७ के पहिले केवल मूल रोमक सिद्धान्त और वासिष्ठ सिद्धान्त ही थे। श्रीषेण का रोमक और विष्णुचन्द्र का वासिष्ठ दोनों नहीं थे। पञ्चसिद्धान्तिका में मूल रोमक और वासिष्ठसिद्धान्तों का सारांश लिखा है। ब्रह्मगुप्त के कथनानुसार श्रीषेण और विष्णु चन्द्र ने स्पष्टीकरण इत्यादि विषय आर्यभटीय से लिये हैं। इससे भी उनके सिद्धान्तों का रचनाकाल शके ४२१ के बाद ही सिद्ध होता है और पञ्चसिद्धान्तिकानुसार शके ४२७ के बाद।

रोमकसिद्धान्त

ऊपर बतलाये हुए दो प्रकार के रोमकसिद्धान्तों में से केवल मूल रोमकसिद्धान्त का ही पञ्चसिद्धान्तिकाल में प्रचार था। यहां उसी का विचार किया जायगा।

पञ्चसिद्धान्तिका का बहुत-सा भाग रोमकसिद्धान्त सम्बन्धी बातों से व्याप्त है। प्रथमाध्याय की अष्टम, नवम और दशम आर्याओं में उसके अनुसार अहर्गणसाधन बतलाया है और १५वीं में अधिमास और तिथिक्षय का वर्णन है। आठवें अध्याय में सब १८ श्लोक हैं। सारे अध्याय में रोमकसिद्धान्त सम्बन्धी ही बातें हैं। उसमें सूर्य और चन्द्रमा का साधन, उनका स्पष्टीकरण और सूर्यचन्द्र के ग्रहणों का आनयन है। रोमकसिद्धान्तानुसार अहर्गण लाने की जो रीति बतलायी है, उसमें पहिली आर्या यह है—

सप्ताश्विवेद ४२७ संख्यं शककालमपास्य चैत्रशुक्लादौ।
अर्धास्तमिते भानौ यवनपुरे भौमदिवसाद्यः॥८॥

अध्याय १।

इससे मालूम होता है चैत्र शुक्ल प्रतिपदा मंगलवार को थी।

प्रत्येक करणग्रन्थ में ग्रहस्थिति लाने के लिए करणारम्भकालीन ग्रहस्थिति लिखनी पड़ती है। उन ग्रहादिकों को क्षेपक कहते हैं। शके ४२७ को गतवर्ष मानकर आधुनिक पद्धति के अनुसार गणित करने से उस वर्ष मध्यममेषसंक्रान्ति के दिन अर्थात् शके ४२७ अमान्त चैत्रकृष्ण १४ रविवार तदनुसार तारीख २० मार्च सन् ५०५ ईसवी के दिन जो स्पष्ट ग्रहादिक आते हैं वे पञ्चसिद्धान्तिकोक्त क्षेपक के तुल्य हैं। उनमें कुछ मध्याह्नकालिक हैं और कुछ मध्यरात्रिकालिक। यह बात बिलकुल निःसन्देह है। आगे सूर्यसिद्धान्त के विवेचन में इसका विशेष स्पष्टीकरण किया जायगा। इस चैत्रकृष्ण चतुर्दशी के आगेवाली शुक्ल प्रतिपदा अर्थात् वैशाख शुक्ल प्रतिपदा भौमवार को आती है। मालूम होता है वराहमिहिर ने इसी को चैत्र शुक्ल प्रतिपदा कहा है और उसी दिन से अहर्गण का आरम्भ किया है। अन्य किसी भी पद्धति द्वारा शके ४२७ की चैत्र शुक्ल प्रतिपदा के दिन मंगलवार नहीं आता। शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से अहर्गण लाने में सुभीता होता है, इसीलिए वराहमिहिर ने ऐसा किया है। किसी भी करण ग्रन्थ से अहर्गण लाइए, उसमें कभी-कभी एक का अन्तर पड़ जाया करता है और वार की संगति लगाते हुए उस त्रुटि का संशोधन किया जाता है, यह बात गणितज्ञ समाज में सर्वत्र प्रसिद्ध है, पर यहां सन्देह यह होता हैं कि पूर्वोक्त वैशाख शुक्ल-प्रतिपदा को वराहमिहिर ने चैत्रशुक्ल प्रतिपदा कैसे कहा। क्षेपक के आगेवाली शुक्ल-प्रतिपदा, शके ४२७ के अमान्त वैशाखशुक्ल की प्रतिपदा है। इस बात में तिलमात्र भी सन्देह नहीं

किया जा सकता। "रवि के मेषराशि में स्थित रहने पर जिस चान्द्रमास की समाप्ति होती है उसे चैत्र कहते हैं।"[1] इस परिभाषा द्वारा क्षेपक के दूसरे दिन समाप्त होने वाला चान्द्रमास चैत्र ही सिद्ध होता है, क्योंकि मध्यम मेष लीजिए या स्पष्ट मेष, दोनों स्थितियों में क्षेपक के आगेवाली अमावास्या के अन्त में रवि मेष राशि ही में रहता है। इसके वाद अग्रिम भौमवार से वैशाख का आरम्भ हो जाता है। यदि पूर्णिमान्त मास लें तो क्षेपक के पश्चात् जिस शुक्ल पक्ष का आरम्भ होता है, उसकी पूर्णिमा समाप्त हो जाने पर मास की समाप्ति समझी जायगी, क्योंकि पूर्णिमान्त चान्द्रमास की समाप्ति पूर्णिमा में होती है पञ्चसिद्धान्तिकोक्त क्षेपकों द्वारा गणित करने से उस पूर्णिमा के अन्त में भी रवि मेष राशि ही में आता है, अतः उस मास को चैत्र कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त हमें और कोई ऐसी उपपत्ति नहीं दिखाई देती, जिसके अनुसार उस मास को चैत्र सिद्ध कर सकें। उत्तर भारत में पूर्णिमान्त मास मानने की प्रथा बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है, पर आजकल पूर्णिमान्त मान का प्रचार होते हुए भी वहां मासों के नाम उपर्युक्त रीति से नहीं रखे जाते। वराहमिहिर के समय शायद शुद्ध रीति का प्रचार रहा होगा।

अष्टम अध्याय की निम्नलिखित प्रथम आर्या में रोमक सिद्धान्तानुसार सूर्यसाधन वतलाया है।

> रोमकसूर्यो द्युगणात् खतिथिघ्नात् १५० पञ्चकर्तु ६५ परिहीनात्।
> सप्ताष्टकसप्तकृतेन्द्रियोद्धृतात् ५४७८७ मध्यमार्कः सः॥

अहर्गण में १५० का गुणाकर, उसमें से ६५ घटाकर शेष में ५४७८७ का भाग देने से सूर्य आता है। यहां क्षेपक के लिए ६५ घटाने को कहा है। इस प्रकार से लाया हुआ सूर्य भगणादि होता है। यद्यपि यह वात श्लोक में नहीं वतायी है, फिर भी इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। ५४७८७ दिनों में सूर्य के १५० भगण पूर्ण होते हैं, अतः एक भगण भोगने में उसे ठीक-ठीक ३६५ दिन १४ घटी ४८ पल लगेंगे। यही रोमक सिद्धान्तीय वर्षमान है। आधुनिक सूर्यसिद्धान्त का वर्षमान ३६५ दिन १५ घटी ३१ पल ३१.४ विपल है। ब्रह्मगुप्त ने रोमक सिद्धान्त में यह दोष दिखलाया है कि उसमें अन्य सिद्धान्तों की भाँति युगादिमान नहीं हैं और निम्नलिखित विवेचन द्वारा

१. मेषादिस्थे सवितरि यो यो मासः प्रपूर्यते चान्द्रः।
चैत्रादिः स ज्ञेयः॥
स्पष्टाधिकार में इस परिभाषा का विषेश विचार किया जायगा।

यह स्पष्ट हो जायगा कि उनका यह कथन ठीक भी है। अन्य सिद्धान्तों से तुलना करने में सौकर्य होने के लिए रोमकसिद्धान्त के एक महायुगसम्बन्धी भगणादिमान नीचे लिखे जाते हैं।

पञ्चसिद्धान्तिका के निम्नलिखित श्लोकों के आधार पर वे मान निश्चित किये गये हैं।

रोमकयुगमर्केन्दोर्वर्षाण्याकाशपञ्चवसुपक्षः २८५०।
रवेन्द्रियदिशो १०५०ऽधिमासाः स्वरकृतविषयाष्टयः १६५४७ प्रलयाः ॥१५॥

प्रथमाध्यायः।

२८५० वर्षों का एक रोमक-युग होता है। उसमें १०५० अधिमास और १६५४७ प्रलय अर्थात् तिथिक्षय होते हैं।

शून्यैकैकाम्यस्ताग्नवशून्यरसाः ६०९ ऽन्विताद्दिनसमूहात्।
रूपत्रिखगुण ३०३१ भक्तात् केन्द्रं शशिनोऽस्तगमवन्त्याम् ॥५॥
त्र्यष्टक २४ गुणिते दद्याद्रसर्तुयमषट्कपञ्चकान् ५६२६६ राहोः।
भवरूपाग्न्यष्टि १६३१११ हृते............॥८॥

अध्याय ८।

इन श्लोकों द्वारा, उपर्युक्त सूर्यसाधन की आर्या द्वारा और अहर्गणानयनोपयोगी श्लोकों द्वारा निम्नलिखित मान आते हैं—

महायुग (४३२०००० वर्षों) में।		२८५० वर्षात्मक युग में
नक्षत्रभ्रम	१५८२१८५६००	१०४३८०३
रविभगण	४३२००००	२८५०
सावनदिवस	१५७७८६५६००	१०४०९५३
चन्द्रभगण	५७७५१५७८ १८/१९	३८१००
चन्द्रोच्चभगण	४८८२२८ १३७०८/५७५८९	३२२ २२८/३०५९१
चन्द्रपात (राहु) भगण	२३२१६५ १०९०८५/१९३१११	१५३ २६८८९/१९३१११
सौरमास	५१८४००००	३४२००
अधिमास	१५९१५७८ १८/१९	१०५०
चान्द्रमास	५३४३१५७८ १८/१९	३५२५०
तिथि	१६०२९४७३६८ ८/१९	१०५७५००
तिथिक्षय	२५०८१७६८ ८/१९	१६५४७

यहां चन्द्रादिकों के महायुगीय भगण पूर्ण नहीं हैं, अतः अन्य सिद्धान्तों की तरह कलियुगारम्भ में या किसी महायुग के आरम्भ में रोमकसिद्धान्त के सूर्य और चन्द्रमा एकत्र नहीं होंगे। इसी प्रकार चान्द्रमास भी पूर्ण नहीं हो सकेगा। इन सब बातों द्वारा रोमकसिद्धान्त में युग २८५० वर्षों का होने के कारण मालूम होता है कि उसमें ४३२०००० वर्षों का महायुग मानने की पद्धति नहीं है।

जिस आर्या में चन्द्रसाधन की रीति है वह अत्यन्त अशुद्ध है। उससे चन्द्रभगण-संख्या नहीं लायी जा सकी। अन्य रीति से लायी गयी है। गणित द्वारा लाये हुए करणारम्भकालीन राश्यादि क्षेपक ये हैं--

	राशि	अंश	कला	विकला
सूर्य	११	२९	३४	२३
चन्द्रमा	११	२९	१८	५०
चन्द्रकेन्द्र	२	१२	१९	५७
राहु	७	२५	४९	३

ये क्षेपक चैत्र कृष्ण १४ रविवार, शके ४२७ तदनुसार २० मार्च सन् ५०५ ई० के उज्जयिनी के सूर्यास्तकाल के हैं।

ग्रीक ज्योतिषी हिपार्कस का समय ईसा के लगभग १५० वर्ष पूर्व है। उनका वर्षमान बिलकुल रोमक सिद्धान्त के वर्षमान (३६५ दिन १४ घटी ४८ पल) सरीखा है। सम्प्रति हिपार्कस का ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, पर मान्य यूरोपियन ज्योतिषियों का कथन है कि उन्होंने केवल सूर्य और चन्द्रमा की स्थिति लाने के कोष्ठक वनाये थे। ग्रहसाधन के नहीं। बाद में टालमी ने उनके मूल तत्वों का अनुसरण करते हुए ग्रह-साधन के कोष्ठक वनाये और वे यह भी स्वीकार करते हैं[1] कि ग्रीकज्योतिषपद्धति के मूलतत्त्व टालमी के पहले ही भारतवर्ष में आ चुके थे। रोमक सिद्धान्त में केवल सूर्य और चन्द्रमा का गणित है, उसका वर्षमान अन्य किसी भी सिद्धान्त ग्रन्थ से नहीं मिलता, सर्वमान्य युगपद्धति उसमें नहीं है और उसका यह नाम भी पाश्चात्य ढंग का है। अतः इन सब कारणों का विचार करने से विदित होता है कि मूल रोमक सिद्धान्त हिपार्कस के ग्रन्थानुसार बना होगा और उसका रचनाकाल ईसवी सन् पूर्व १५० के पश्चात् और टालमी के समय (ईसवी सन् १५०) के पूर्व होगा।

१. Grant's History of physical Astronomy Introduction. p. iii and p. 439 देखिए। Burgess के सूर्यसिद्धान्त का इंगलिश अनुवाद पृ० ३३० देखिए।

पैतामह और वासिष्ठसिद्धान्त रोमक से प्राचीन हैं, यह तो पहिले वता ही चुके हैं, पर हमें पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त और पुलिशसिद्धान्त भी रोमक से प्राचीन मालम होते हैं। इसका कारण यह है कि ब्रह्मगुप्त की दृष्टि में रोमक की अपेक्षा अन्य चार सिद्धान्त अधिक पूज्य हैं क्योंकि उन्होंने अपने ग्रन्थ में उन चारों में कहीं भी दोष नहीं दिखलाया है। ब्रह्मगुप्त के बाद तो मालूम होता है कि रोमकसिद्धान्त बिलकुल निरुपयोगी हो गया था, चाहे वह मूल रोमकसिद्धान्त हो या श्रीषेणकृत। वृहत्संहिता की टीका में भटोत्पल ने पुलिशसिद्धान्त, सूर्यसिद्धान्त, प्रथमार्यभटसिद्धान्त और ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त का आश्रय लिया है, पर ग्रहगणित के किसी भी प्रसङ्ग में रोमकसिद्धान्त के वचन उद्धृत नहीं किये हैं। इससे मालूम होता है कि उत्पल के समय मूल रोमकसिद्धान्त लुप्त हो गया होगा। इस समय भी एक रोमकसिद्धान्त उपलब्ध है, पर उसके मान सूर्यसिद्धान्त सरीखे ही हैं और वह भी विशेष प्रचलित नहीं है। अतः सिद्ध हुआ कि अन्य चारों सिद्धान्तों के पूज्यत्व का कारण है रोमक से उनका प्राचीन होना।

निम्नलिखित एक और भी महत्वशाली प्रमाण है, जिससे रोमक का औरों की अपेक्षा नवीनत्व सिद्ध होता है [नीचे भिन्न-भिन्न ग्रन्थों के वर्षमान लिखे हैं। उनके अङ्क क्रमशः दिन, घटी, पल, विपल और प्रतिविपल के द्योतक हैं]।

पञ्चसिद्धान्तिकोक्त	पितामहसिद्धान्त	३६५।२१।२५।०।०	वेदाङ्गज्योतिष ३६६।०।०।०।०
	वासिष्ठसिद्धान्त	०।०।०।०।०	
	पुलिशसिद्धान्त	३६५।१५।३०।०।०	
	सूर्यसिद्धान्त	३६५।१५।३१।३०।०	
	रोमकसिद्धान्त	३६५।१४।४८।०।०	
	आधुनिक सूर्य, वसिष्ठ, शाकल्य, रोमक और सोमसिद्धान्त	३६५।१५।३१।३१।२४	
	द्वितीय आर्यसिद्धान्त	३६५।१५।३१।१७।६	
	राजमृगाङ्क करणकुतूहल इत्यादि	३६५।१५।३१।१७।१७$\frac{१}{३}$	

इनमें रोमक को छोड़कर अन्य किसी भी सिद्धान्त का वर्षमान ३६५ दिन १५ घटी ३० पल से कम नहीं है और वेदाङ्गज्योतिष तथा पितामहसिद्धान्त के अतिरिक्त किसी का भी ३६५।१५।३२ से अधिक नहीं है। सारांश यह कि वेदाङ्गज्योतिष और पितामहसिद्धान्तों को छोड़कर अन्य किसी भी दो सिद्धान्तों के वर्षमान में २ पल से अधिक अन्तर नहीं है, पर रोमकसिद्धान्त की स्थिति इसके विपरीत है। यदि रोमकसिद्धान्त पञ्चसिद्धान्तिकोक्त पुलिश और सौरसिद्धान्तों से प्राचीन होता तो सब ने इसी का वर्षमान ज्यों का त्यों या उसमें कुछ नवीन संस्कार करके लिया होता, अन्य

सिद्धान्त उससे वहुत दूर कभी भी न जाते। इससे यह वात निःसंशय सिद्ध होती है कि पुलिश और सौरसिद्धान्त रोमक से प्राचीन हैं। इस प्रकार यह बात उपपन्न हो जाती है कि पञ्चसिद्धान्तिकोक्त पांचों सिद्धान्त शककाल से प्राचीन हैं।

डा० थीवो के मतानुसार पञ्चसिद्धान्तिका के रोमक और पौलिश सिद्धान्त ईसवी सन् ४०० से प्राचीन हैं। उनके कहने का अभिप्राय यह है कि रोमक सिद्धान्त और पञ्चसिद्धान्तिकोक्त अन्य सिद्धान्तों का भी निर्माणकाल सन् ४०० ईसवी के आसपास ही है, परन्तु उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका मत युक्ति-शून्य है।

सम्प्रति जो रोमकसिद्धान्त प्रसिद्ध है उसके भगणादिमान आगे लिखे हैं और वे उपर्युक्त रोमकसिद्धान्त के मानों से बिलकुल भिन्न हैं, अतः आधुनिक रोमकसिद्धान्त शके ४२७ से प्राचीन नहीं सिद्ध होता।

आधुनिक रोमकसिद्धान्त और वसिष्ठसिद्धान्तों के रचयिता श्रीषेण और विष्णुचन्द्र हैं या अन्य कोई, इसका विवेचन आगे किया जायगा।

पुलिशसिद्धान्त

पञ्चसिद्धान्तिका का वहुत-सा भाग पुलिशसिद्धान्त के वर्णन से सम्बन्ध रखता है। प्रथमाध्याय की १०वीं आर्या में कहा है कि रोमकसिद्धान्त का अहर्गण पौलिश अहर्गण के आसपास होता है। इसके बाद तदुक्त सुर्यादिसाधन और चन्द्रग्रहण तथा सूर्यग्रहण का आनयन है।

पुलिशसिद्धान्तानुसार भौमादि ग्रहों की गतिस्थिति बिलकुल नहीं वतायी है, परन्तु मालूम होता है अन्त की लगभग १६ आर्याओं में ग्रहों के वक्रत्व, मार्गीत्व, उदय और अस्त इत्यादि का कुछ विवेचन किया है, क्योंकि अन्तिम श्लोक में कहा है "पौलिश-सिद्धान्ते तारा ग्रहा एवम्।"

पुलिशसिद्धान्तोक्त निम्नलिखित मान ज्ञात हैं——

> खार्क १२०घ्नेऽग्निहुताशन ३३ मपास्य रूपाग्निवसु-
> हुताशकृतैः ४३८३१। हृत्वा क्रमाद्दिनेशो मध्यः. . . ॥१४॥
> अष्टगुणे दिनराशौ रूपेन्द्रियशीतरश्मि १५१ भिर्भक्ते।
> लब्धा राहोरंशा भगणसमाश्च क्षिपेल्लिप्ताः ॥४१॥
> वृश्चिकभागा राहोः षड्विंशतिरेकलिप्तिकालुप्ताः ॥४२॥

सर्वप्रथम एक २५ श्लोकों का प्रकरण है। उपर्युक्त श्लोक उसके आगेवा...

प्रकरण में हैं। इनकी गणना पुलिशसिद्धान्तोक्त श्लोकों में है। इनसे निम्नलिखित मान ज्ञात होते हैं—

वर्षमान ३६५ दिन १५ घटी ३० पल।
महायुगीयसावनदिवस १५७७९१६००० ।
महायुगीयराहुभगण २३२२२७ $\frac{६५७०३९१५}{६७९४६८५५}$ ।

राहु के एक भगण का काल ६७९४ दिन ४१ घटी १८ पल है।

यह वर्षमान अन्य सिद्धान्तों के वर्षमान से भिन्न है और राहुभगणकाल में भी कुछ अन्तर है।

पञ्चसिद्धान्तिका में पुलिशसिद्धान्तसम्वन्धी अन्य भी बहुत-सी बातें हैं। सूर्य और चन्द्रमा का स्पष्टीकरण तथा पलभा से चरखण्ड और चरखण्ड से दिनमान का आनयन बतलाया है। देशान्तर का विचार किया है। उसमें वर्तमान पद्धति सरीखी ही तिथि और नक्षत्रानयन पद्धति है। करण लाये हैं। सूर्य और चन्द्रमा के क्रान्तिसाम्य अर्थात् महापात का विवेचन किया है। ग्रहणों का आनयन प्रायः आधुनिक इतर सिद्धान्तों के समान ही हैं। ग्रहों के वक्रत्व और मार्गीत्व का विचार खण्डखाद्य के अनुसार है। अग्रिम श्लोक में चर का विचार किया है।

यवनाच्चरजा नाड्यः सप्तावन्त्यास्त्रिभागसंयुक्ताः।
वाराणस्यां त्रिकृतिः ९ साधनमन्यत्र वक्ष्यामि।।

यहां अवन्ती (उज्जयिनी) का चर ७ घटी २० पल और वाराणसी का ९ घटी बतलाया है। मालूम होता है वेदाङ्गज्योतिष की भाँति यहाँ दक्षिणायन समाप्तिकालीन दिनमान की अपेक्षा उत्तरायणसमाप्तिकालीन दिनमान का अधिकत्व बतलाया है।

सायन पञ्चाङ्ग में उज्जयिनी का परमाल्पदिनमान २६ घटी २६ पल और परमाधिक दिनमान ३३ घटी ३४ पल है। इस प्रकार दोनों का अन्तर ७ घटी ८ पल होता है। ग्रहलाघव द्वारा उज्जयिनी का परमाल्पदिनमान २६ घटी २१ पल और परमाधिक दिनमान ३३ घटी ३९ पल होता है, अर्थात् दोनों का अन्तर ७ घटी १८ पल है उज्जयिनी की पलभा ५।८ मानने से यह स्थिति होती है। पण्डित बापूदेवशास्त्री के पञ्चाङ्गानुसार काशी की पलभा ५।४० मानने से परमाल्प दिनमान २६।४ और परमाधिक दिनमान ३३।५६ तथा दोनों का अन्तर ७।५२ होता है। इसी पलभा से ग्रहलाघव द्वारा दोनों का अन्तर ८।४ होता है। ६।१५ पलभा मानने से पञ्चसिद्धान्तिकोक्त पुलिशचरखण्डों द्वारा लगभग ९ घटी अन्तर आता है।

पञ्चसिद्धान्तिका की तीसरी आर्या से मालूम होता है कि लाटदेव ने पौलिश-सिद्धान्त की व्याख्या की है।

सम्प्रति उपलब्ध किसी प्रकार की भी पुलिशसिद्धान्त न तो मैंने देखा है, न सुना ही है। भटोत्पल ने बृहत्संहिता की टीका में प्रसङ्गवशात् लगभग २५ श्लोक पुलिश-सिद्धान्त के नाम पर लिखे हैं, उनमें पुलिशसिद्धान्तोक्त भगणमान प्रभृति कुछ महत्व की बातें आयी हैं। अतः उन्हें यहाँ उद्धृत करते हैं—

> अष्टाचत्वारिंशत्पादविहीनाः क्रमात् कृतादीनाम्। अंशास्ते शतगुणिता ग्रहतुल्ययुगं तदेकत्वम्।। सावनमकृतं १५५५२००००० चान्द्रं सूर्येन्दुसङ्गमान् दिनीकृत्य १६०३०००० ८०। सौरं भूदिनराशिः १५७७९१७८०० शशिभगणदिनानि १७३२६०००८० नाक्षत्रम्। परिवर्तैर-युतगुणैर्द्विकृतैः ४३२०००० भास्करो युगं भुङ्क्ते। रसदहन-हुतवहानलशरमुन्यद्रीषवश्चन्द्रः।। ५७७५३३३६।। अधिमा-सकाः षडग्नित्रिकदहनछिद्रशररूपाः १५९३३३६। भगणा-न्तरशेषं यत् समागमास्ते द्वयोर्ग्रहयोः।। तिथिलोपाः खवसुद्विकदस्राष्टकशून्यशरपक्षाः २५०८२२८०।। दस्रार्थबा-णतिथयो लक्षहताः १५५५२००००० सावने ते दिवसः।। विषया (?)ष्टौ खचतुष्कं विश्व.... षोडशचान्द्रमानेन। वसुसप्त रूपनवमुनिनगतिथयः १५७७९१७८०० शत-गुणाश्च सौरेण। आर्क्षेण खाष्टरवत्रयरसदस्रगुणानिल (?) शशांकः।। १७३२६०००८०।। षट् प्राणास्तु विनाडी, तत्षष्ट्या नाडिका, दिनं षष्ट्या। एतासां तु त्रिंशन्मासस्तैर्द्वादशभिरब्दः।। षष्ट्या तु तत्पराणां विकला, तत्षष्टिरपि कला, तासाम।। षष्ट्यांशस्ते त्रिंशद्राशिस्ते द्वादश भचक्रम्।। चान्द्रैः सावनवियुतैः प्र ४७८०००८० चयस्तैरपचयोर्कदिनैः २५०८२२८०।। युगवत्सरैः प्रयच्छ-ति यदि मानचतुष्टयं किमेकेन।। यदवाप्तं ते दिवसाः विज्ञेयाः सावनादीनाम्।। वेदाश्विवसुरसान्तरलोचनदस्रैः २२९६८२४ रवनिसूनुः।। अम्बरगगनवियन्मुनिगुण-विवरनगेन्दुभिः १७९३७००० शशिसुतस्य।। आकाश-लोचनेक्षणसमुद्रषट्कानलैः ३६४२२० जीवः।। अष्टवसु-

हुटवहानल (?) यमखनगै ७०२२३८८ भर्गिवस्यापि ।।
कृतरसशरर्तुमनुभिः १४६५६४ सौरो बुधभार्गवौ दिवाकरवत् ।।

अथ कक्षामानानि

अकाशशून्यतिथिगुणदहनसमुद्रैर्बुधार्कशुक्राणाम् ४३३१५०० ।
इन्दोः सहस्रगुणितैः समुद्रनेत्राग्निभिश्च ३२४००० स्यात्-
भूसूनोर्मुनिरामच्छिद्रर्तुसमुद्रशशिवसुभिः ८१४६९३७ ।। रुद्र-
यमाग्निचतुष्कव्योमशशाङ्कैः १०४३२११ बुधोच्चस्य ।। जीव-
स्यवेदषट्कस्वरविषयनगाग्निशीतकिरणार्थः ५१३७५७६४ ।।
शुक्रोच्चस्य यमानलषट्कसमुद्रर्तुरसदस्रैः २६६४६३२ ।।
भगणोर्कजस्य नवशिखिमुनीन्दुनगषट्कमुनिसूर्यैः
१२७६७१७३९ ।। रविखवियन्नववसुनवविषयेक्षण
२५९८९००१२ योजनैर्भकक्षायाः ।। इष्टग्रहकक्षाभ्यो
यल्लब्धं चन्द्रकक्षया भक्त्वा । ता मध्यमा ग्रहाणां सौरा-
दीनां कलाश्चान्द्राः ।। पञ्चदशाहतयोजनसंख्या तत्सं-
गुणोर्धविष्कम्भः । योजनकर्णार्धस्याद्भूयोजनकर्णविधिना
वा ।। वसुमुनिगुणान्तराष्टकषट्के ६८९३७८ दिन-
नाथशुक्रसौम्यानाम् । द्वादशदलषट्केन्द्रियशशाङ्कभूतै-
५१५६६ रजनिकर्तुः ।। दस्राब्धिषट्करसनवलोचनचन्द्रैर-
१२९६६४२ वनिसूनोः । रूपाग्निशून्यषट्काष्टिसम्मितः
१६६०३१ स्याद् बुधोच्चस्य । अष्टकवसुरसषण्मु-
निशशाङ्कवसुभिस्तु ८१७६६८८ जीवस्य ।। वसुवसु-
शून्याष्टद्विकवेदैरपि ४२८०८८ भार्गवोच्चस्य । एकार्णवार्थ-
नवशशिदहनखदस्रै २०३१९५४१ रविसुतस्य ।। त्रिवसुरस-
द्विरसानलशशिवेदै रार्क्षपरिधिकर्णार्धम् ।। ४१३६२६८३ ।।
वृत्ता चक्रवदवनिस्तमसस्पारे विनिर्मिताधात्रा ।
पञ्चमहाभूतमया तमध्ये मेरुरमराणाम् ।। तस्यो-
परि ध्रुवः खे न द्वन्द्वे पवनरश्मिभिश्चक्रम् ।
पवनाक्षिप्तं भानामुदयास्तमयं परिभ्रमति ।। सर्वें
जयिन उदक्स्था दक्षिणदिक्स्थो जयी शुक्रः ।।

यद्यपि पञ्चसिद्धान्तिका द्वारा तदन्तर्गत पुलिशसिद्धान्त में युगपद्धति का अस्तित्व

सिद्ध नहीं होता, परन्तु उन श्लोकों को देखने से जिनमें कि अधिमास और तिथिक्षय का वर्णन है, उसमें युगपद्धति का अभाव भी नहीं मालूम होता। ब्रह्मगुप्त ने भी इस विषय में रोमक के अतिरिक्त अन्य किसी सिद्धान्त पर दोषारोपण नहीं किया है, अतः पञ्च-सिद्धान्तिकोक्त पुलिशसिद्धान्त में युगपद्धति होनी चाहिए और भटोत्पल द्वारा उद्धृत पुलिशसिद्धान्त के वचनों में है ही। उन वचनों में जिसे सावन कहा है उसे अन्य सिद्धान्तों में सौर कहते हैं और उसका सौर अन्य सिद्धान्तों का सावन है। सावन शब्द का अन्य ग्रन्थोक्त अर्थ स्वीकार करने से उत्पलोद्धृत पुलिशसिद्धान्त के भगणादि मान ये आते हैं—

नक्षत्रभ्रम १५८२२३७८००। रविभगण ४३२००००।
सावन दिन १५७७९१७८००। चन्द्रभगण ५७७५३३३६।
चन्द्रोच्च ४८८२१९। राहु २३२२२६। मंगल २२९६८२४।
बुधशीघ्र १७९३७०००। गुरु ३६४२२०। शुक्रशीघ्र
७०२२३८८। शनि १४६५६४। सौरमास ५१८४००००।
अधिमास १५९३३३६। चान्द्रमास ५३४३३३३६।
तिथि १६०३०००००८०। क्षयाह २५०८२२८०। वर्षमान
३६५ दिन १५ घटी ३१ पल ३० विपल।

इससे पञ्चसिद्धान्तिकोक्त तथा उत्पलोद्धृत पुलिशसिद्धान्तों के वर्षमान एक दूसरे से भिन्न मालूम होते हैं। अतः वे दोनों पुलिशसिद्धान्त भी भिन्न-भिन्न होने चाहिए। दूसरी एक विचित्र बात यह है कि भटोत्पल ने निम्नलिखित श्लोक को मूल-पुलिशसिद्धान्तोक्त कहते हुए उद्धृत किया है—

खखाष्टमुनिरामाश्विनेत्राष्ट १५८२२३७८०० शर-
रात्रिपाः। भानां चतुर्युगेनैते परिवर्ताः प्रकीर्तिताः॥

इसमें महायुगीय नक्षत्रभ्रमसंख्या बतायी है और वह उपर्युक्त आर्या में बतलायी हुई नक्षत्रभ्रमसंख्या से मिलती है। ऐसा होते हुए भी उत्पल ने इसे मूल पुलिशसिद्धान्तोक्त कहा है और इसका छन्द भी अनुष्टुप् है, अतः उत्पल के समय (शके ८८८) पञ्चसिद्धान्तिकोक्त पुलिशसिद्धान्त के अतिरिक्त दो और पुलिशसिद्धान्त रहे होंगे। इस प्रकार सब मिलाकर तीन हुए। उत्पलोद्धृत आर्याओं के अन्त की ढाई आर्याओं में से पहिली दो में सृष्टिसंस्था का वर्णन है, जो कि आधुनिक सूर्यसिद्धान्तादि ग्रन्थों के सृष्टिवर्णन सरीखा ही है और अन्त की आधी आर्या में ग्रहयुति का विचार है। इससे ज्ञात होता है कि उत्पलकालीन आर्याबद्ध पुलिशसिद्धान्त अन्य सिद्धान्तों की भाँति पूर्ण था और उपर्युक्त हेतुओं से पञ्चसिद्धान्तिकोक्त पुलिशसिद्धान्त भी पूर्ण मालूम होता है।

पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त के मान आगे लिखे हैं। उत्पलोद्धृत पुलिश-सिद्धान्त के भगणादि मान उससे ठीक ठीक मिलते हैं। युगीय सावनदिवस और उस पर अवलम्वित रहने वाले अन्य क्षयाहादि विषय तथा बुध और गुरु के भगण-मान को छोड़कर उसकी सभी बातें प्रथम आर्यभट के मानों से मिलती हैं।

अलबेरुनी नामक एक प्रसिद्ध मुसलमान विद्वान् यात्री गज़नी के महमूद के साथ हिन्दुस्तान में आया था। वह ई० सन् १०१७ से १०३० तक यहां रहा। उसने यहां के शास्त्रों का और विशेषतः ज्योतिषशास्त्र का बड़ी मार्मिकतापूर्वक अन्वेषण किया। वह लिखता है कि पौलस यूनानी (अर्थात् पोलस ग्रीक) ने पुलिशसिद्धान्त बनाया अर्थात् तत्पश्चात् उसके ग्रन्थानुसार हिन्दुओं ने बनाया। प्रो० वेवर के कथनानुसार अलवेरुनी को भारतवर्ष में ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त और पुलिशसिद्धान्त के अतिरिक्त अन्य कोई भी सिद्धान्त ग्रन्थ नहीं मिला था।

ऊपर बतलाये हुए तीन प्रकार के पुलिशसिद्धान्तों में से अलबेरुनी को कौन-सा मिला था और पौलस ग्रीक के ग्रन्थ में बतलाये हुए मान (यदि उनका ग्रन्थ उपलब्ध हो तो) उन तीनों में से किसी एक के साथ कहां तक मिलते हैं, इत्यादि बातों का विचार किये बिना अलबेरुनी के लेख के विषय में विशेष रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। प्रो० बेबर का कथन यह है कि "पौलस आलेक्ज़ाण्ड्रिकस (Paulus Alexandricus) का ग्रन्थ इस समय उपलब्ध है, पर वह ग्रहगणित ग्रन्थ नहीं है, बल्कि उसमें फलज्योतिष का विषय है। अतः पुलिशसिद्धान्तोक्त मान उसमें नहीं मिलते, परन्तु उसमें हिन्दू ग्रह-गणित से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ पारिभाषिक शब्द अवश्य हैं", परन्तु बेबर के लेख से यह स्पष्ट नहीं होता कि वे शब्द कौन-से हैं और किस प्रकार आये हैं। पौलस का गणित ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं मालूम होता और उसे प्रत्यक्ष देखे बिना कुछ अनुमान करना ठीक नहीं है।

शाकल्योक्त ब्रह्मसिद्धान्त में तीन-चार जगह पुलिशसिद्धान्त का उल्लेख है। अतः शाकल्य के समय पुलिशसिद्धान्त उपलब्ध था, पर पता नहीं चलता कि वह कौन-सा था। ब्रह्मसिद्धान्त की पृथूदकटीका (शके ९००) के प्रथमाध्याय की टीका में एक जगह लिखा है 'देशान्तररेखा' च पौलिशे पठ्यते'। इससे विदित होता है कि उस समय कोई आर्याबद्ध पुलिशसिद्धान्त उपलब्ध था।

सूर्यसिद्धान्त

पञ्चसिद्धान्तिका में पांचों सिद्धान्तों का सूर्यचन्द्रानयन पृथक्-पृथक् दिखलाया

है, परन्तु शेष ग्रह केवल सूर्यसिद्धान्त के ही हैं। इससे मालूम होता है कि सूर्यसिद्धान्त को औरों की अपेक्षा अधिक महत्व दिया है। आरम्भ की ही चतुर्थ आर्या में सावित्र को सब से स्पष्ट कहा है। उसे सबसे अधिक महत्व देने के कारण दृक्प्रतीति में आनेवाली स्पष्टता ही मालूम होती है।

पञ्चसिद्धान्तिका की १४वीं आर्या में सूर्यसिद्धान्तानुसार अधिमास इत्यादि बताये हैं। नवमाध्याय की २६ और दशमाध्याय की सब ७ आर्याओं में सूर्यचन्द्रानयन और ग्रहणादि का उल्लेख है। ११वें अध्याय के सब ६ श्लोकों में ग्रहण का ही विचार है। और वह भी सूर्यसिद्धान्तानुसार ही मालूम होता है। १६वें अध्याय में सब २७ श्लोक हैं। उनमें भौमादि सब मध्यम ग्रहों का आनयन, उनका स्पष्टीकरण और उनके वक्रत्व, मार्गित्व, उदय तथा अस्तादि का गणित है।

जिन श्लोकों में सूर्यसिद्धान्तानुसार अधिमास इत्यादि के मान, सूर्य, चन्द्रमा तथा अन्य ग्रहों के भगण और करणकालीन क्षेपकों का वर्णन है, उन्हें यहाँ लिखते हैं। उनसे उत्पन्न मान आगे लिखेंगे।[1]

> वर्षायुतेधृतिघ्ने १८००० नववसुगुणरसरसाः ६६३८९ स्युरधिमासाः। सावित्रे शरनवखेन्द्रियार्णवाशा १०४५०९५ स्तिथिप्रलयाः ।।१४।। द्युगणेऽर्कोष्टशतघ्ने ८०० विपक्षवेदार्णवे ४४२ऽर्कसिद्धान्ते। स्वरखाश्विवह्निनवयमो २९३२०७ द्धृते क्रमाद्दिनदलेऽवन्त्याम् ।।१।। नवशतसहस्र ९००००० गुणिते स्वरैकपक्षाम्बरस्वरतू ६७०२१७ ने। षड्व्योमेन्द्रियनववसुविषयजिनै २४५८९५०६ र्भाजिते चन्द्रः ।।२।। नवशत ९०० गुणिते दद्याद्रसविषयगुणाम्बरर्तुयमपक्षान् २२६०३५६। नववसुसप्ताष्टाम्बरनवाश्वि २९०८७८९ भक्ते शशाङ्कोच्चम् ।। शशिविषय ५१ घ्नानीन्दोःखार्काग्नि ३१२० हृतानि मण्डलानि ऋणम्। स्वोच्चे दिग्घ्नानि धनं स्वरदस्रयमोद्धृते २२७ विकलाः ।।४।।

अध्याय ९

> एष निशार्धेवन्त्यां ताराग्रहणेर्कसिद्धान्ते। तत्रेन्दुपुत्रशुक्रौ तुल्यगती मध्यमार्केण ।।११।। जीवस्य शताभ्यस्तं १००

---

१. पञ्चसिद्धान्तिका की मूल पुस्तक बड़ी अशुद्ध है। उपपत्ति की दृष्टि से श्लोकों का जो स्वरूप शुद्ध मालूम हुआ है, वही यहाँ लिखा है।

द्विरियमाग्नित्रिसागरै ४३३२३२ विभजेत्। द्युगणं कुजस्य चन्द्रा १ हतन्तु सप्ताष्टषड् ६८७ भक्तम् ।।२।। सौरस्य सहस्रगुणं ऋतुरसशून्यर्तुषट्कमुनिरवैकैः १०७६६०६६। यल्लब्धं ते भगणाः शेषा मध्या ग्रहाः क्रमेणैव ।।३।। राशिचतुष्टयमंशद्वयंकलाविंशतिर्वसुसमेताः ४।२।२८। नववेदाश्च ४६ विलिप्ताः शनेर्धनं मध्यमस्यैवम् ।।५।। अष्टौ भागा लिप्तर्तवः खमक्षी गुरौ विलिप्ताश्च। क्षेपः कुजस्य यमतिथिपञ्चत्रिंशच्च राश्याद्यः ।।२।१५।३५।। शतगुणितं वुधशीघ्रं स्वरनवसप्ताष्टभाजिते ८७९७ क्रमशः। अत्रार्धपञ्चमा ४।३० स्तत्पराश्च भगणा हताः क्षेप्याः ।।७।। सितशीघ्रं दशगुणिते द्युगणे भक्ते स्वरार्णवाश्वियमैः २२४७। अर्धैकादश देया विलिप्तिका भगणसंगुणिताः। सिंहस्य वसुयमांशाः २८ स्वरेन्दवो १७ लिप्तिका ज्ञशीघ्रधनम्। शोध्याः सितस्य विकलाः शशिरसनवपक्षगुणदहनाः ३३२९६१ ।।६।।

अध्याय १६।

इनमें आरम्भ की दो आर्याओं द्वारा वर्षमान ३६५ दिन १५ घटी ३१ पल ३० विपल सिद्ध होता है: कलियुग का आरम्भ यदि गुरुवार की मध्यरात्रि से मानें (अर्थात् उस समय सूर्य और चन्द्रमा का भोग पूर्ण स्वीकार कर लें) तो इस वर्षमान द्वारा शके ४२७ में मध्यम मेष संक्रान्ति चैत्र कृष्ण १४ रविवार को ४८ घटी ९ पल पर आवेगी (अर्थात् उस समय मध्यम रवि शून्य होगा)। 'द्युगणेऽर्कोष्टशतघ्ने. . .' श्लोक द्वारा रविक्षेपक ११ राशि २९ अंश २७ कला २० विकला आता है। यह अवन्ती के मध्याह्नकाल का है, परन्तु श्लोक में यह नहीं वताया कि यह क्षेपक किस दिन का है। चैत्र कृष्ण १४ रविवार का मध्याह्नकालिक अर्थात् मध्यम मेषसंक्रान्ति काल से ३३ घटी ९ पल पहिले का गणितागत मध्यम रवि क्षेपक से ठीक मिलता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धात में युगारम्भ मध्यरात्रि से माना गया है और उसमें युगपद्धति है। मध्यरात्रि से युगारम्भ मानने से आगे वतलाये हुए भगणों की क्षेपकों से ठीक संगति लगती है। यह वात भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि करती है।[1]

---

१. पहिले गुरुवार की मध्यरात्रि में युगारम्भ मानकर गतिस्थिति की संगति लगा लेने के बाद संगति लगने का हेतु दिखलाते हुए पहिले की कल्पित बात को सिद्ध करने में अन्योन्याश्रय दोष आ जाता है, परन्तु ज्योतिषगणित में बहुत-सी ऐसी बातें हैं जिनके

उपर्युक्त श्लोकों द्वारा निम्नलिखित मान ज्ञात होते हैं—

वर्षमान = ३६५ दिन १५ घटी ३१ पल ३० विपल।

महायुग में (४३२०००० वर्षों में)

नक्षत्रभ्रम	१५८२२३७८००		
रविभगण	४३२००००		
सावनदिन	१५७७९१७८००		
चन्द्रभगण	५७७५३३३६		
चन्द्रोच्चभगण	४८८२१९		
राहु	×	×	
मंगल	२२९६८२४		
बुध	१७९३७०००	सौरमास	५१८४००००
गुरु	३६४२२०	अधिमास	१५९३३३६
शुक्र	७०२२३८८	चान्द्रमास	५३४३३३३६
शनि	१४६५६४	तिथि	१६०३००००८०
		क्षयाह	२५०८२२८०

विषय में निश्चित रूप से कुछ मालूम न होने के कारण इसी पद्धति का आश्रय लेना पड़ता है। उपर्युक्त श्लोकों में बताये हुए सब विषयों के विचार द्वारा निश्चित किये हुए फल ऊपर लिखे हैं। उन्हें सिद्ध करने में मुझे कितना श्रम हुआ, कितना विचार करना पड़ा, कितनी भिन्न-भिन्न रीतियों द्वारा तथा भिन्न-भिन्न बातों को प्रमाण मान कर उनके अन्तरों का निरीक्षण करना पड़ा, इसे तज्ज्ञ लोग ही समझ सकते हैं। पहिले पञ्चसिद्धान्तिका ग्रन्थ ही १४०० वर्ष पुराना है, उसने भी उसकी कोई टीका नहीं, तिस पर भी हमें जो ग्रन्थ मिला वह विलकुल अशुद्ध। पुस्तक अशुद्ध होने के कारण ऊपर लिखे हुए श्लोकों में जिन शब्दों के सामने तद्बोधक अंक लिखे हैं, उनकी सत्यता के विषय में प्रत्येक स्थान में सन्देह होता था और इस पुस्तक में लिखे हुए भगणादिमान और वर्षमान आजकल के प्रचलित किसी भी सिद्धान्त से सर्वात्मना नहीं मिलते थे। इन सब अड़चनों के होते हुए भी गणित द्वारा (सन् १८८७ के अगस्त और १८८८ के फरवरी महीनों के बीच में) गुणक, भाजक और क्षेपकों की संगति लग गयी। विशेषतः भास्वती-करण और खण्डखाद्य ग्रन्थों की ग्रहस्थिति का पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त की ग्रहस्थिति से बहुत अंशों में साम्य दिखलाई पड़ा। इसी कारण तीनों के विषय में जो सन्देह था, वह जाता रहा, और उनकी सत्यता के विषय में निश्चय हो गया। उस समय हमें जो आनन्द हुआ वह वर्णनातीत है, परन्तु यहां यह कह देना भी आवश्यक है कि ऐतिहासिक दृष्ट्या इस कार्य का कुछ महत्व होने के अतिरिक्त इसमें और कोई

उपर्युक्त श्लोकों द्वारा निष्पन्न क्षेपक अर्थात् पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त द्वारा लायी हुई करणारम्भकालीन ग्रहस्थिति यहां लिखी जाती है। इसमें सूर्य, चन्द्र और चन्द्रोच्च के क्षेपक शके ४२७ चैत्र कृष्ण १४ रविवार के मध्याह्नकाल के हैं और शेष भौमादिकों के क्षेपक मध्यरात्रि के हैं। इनमें राहु नहीं है। क्षेपक राश्यादि हैं।

सूर्य	११।२९।२७।२०	बुध	४।२८।१७।७
चन्द्र	११।२०।११।१६	गुरु	०।८।६।२०
चन्द्रोच्च	९।९।४४।५३	शुक्र	८।२७।३०।३५
मंगल	२।१५।३५।४	शनि	४।२।२८।४६

नवम अध्याय की पांचवीं आर्या में राहु की गतिस्थिति का वर्णन है, परन्तु उसका अर्थ नहीं लगता। १६वें अध्याय की प्रथम आर्या में स्पष्ट कहा है कि क्षेपक मध्यरात्रि के हैं, पर उसमें यह नहीं बतलाया है कि वे किस दिन के हैं। उपर्युक्त भगणों द्वारा लाये हुए चैत्र कृष्ण १४ रविवार की मध्यरात्रि के अर्थात् उस दिन होनेवाली मध्यम मेष संक्रान्ति से ३ घटी ९ पल पहिले के ग्रह इन श्लोकों में लिखे हुए क्षेपकों से मिलते हैं। छठीं आर्या में मंगल का क्षेपक है। मालूम होता है उसकी विकलाएँ छोड़ दी गयी हैं। नवें श्लोक में बुधक्षेपक की विकलाएँ भी छोड़ दी गयी हैं और शुक्र का क्षेपक ४ विकला कम है। म समझता हूँ, इन त्यक्त विकलाओं का कोई विशेष मूल्य नहीं है। इन्हें छोड़ देने से कोई हानि न होगी।

उपर्युक्त भगणादिकों की संख्या और वर्षमान आगे लिखे हुए वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के भगणादिमान और वर्षमान से नहीं मिलते। इससे पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त और वर्षमान सूर्यसिद्धान्त भगणादि मूलतत्त्वों के विषय में एक दूसरे से भिन्न मालूम होते हैं। इनमें से दूसरा पहिले की अपेक्षा नवीन है, क्योंकि वराहमिहिर ने केवल पहिले का ही संग्रह किया है। द्वितीय सूर्यसिद्धान्त के रचनाकाल का विचार आगे किया जायगा।

पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त के उपर्युक्त भगणादिमान उत्पलोद्धृत पुलिश सिद्धान्त के मानों से, जो कि पहिले लिखे जा चुके हैं, ठीक-ठीक मिलते हैं। आगे चलकर दिखायेंगे कि ब्रह्मगुप्त ने चन्द्रोच्च और राहु को छोड़कर इसके शेष सभी मान 'खण्डखाद्य' में लिये हैं। वर्षमान तथा बुध और गुरु के भगणों को छोड़कर इसके अवशिष्ट सभी मान आगे लिखे हुए आर्यभटोक्त मानों से मिलते हैं। गुरु के अतिरिक्त अन्य मानों में वराह-मिहिर द्वारा आविष्कृत, पञ्चसिद्धान्तिका के १६वें अध्याय की दशम और एकादश

विशेषता नहीं है। यह ग्रन्थ लिखते समय इस प्रकार के और भी कई आनन्ददायक प्रसंग आये।

आर्याओं में बतलाये हुए बीज का संस्कार कर भास्वतीकरणोक्त मध्यमग्रहों के क्षेपक लाये गये हैं। आगे इन सब बातों का विशेष विवेचन किया जायगा।[1]

अलबेरुनी का कथन है कि 'सूर्यसिद्धान्त लाटकृत है'[2] परन्तु पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त लाटकृत नहीं है। प्रो० बेबर[3] के कथनानुसार सूर्यसिद्धान्त का टालमी से सम्बन्ध होना चाहिए। आगे वर्तमान सूर्यसिद्धान्त का विवेचन करते समय इन दोनों का भी विचार किया जायगा।

यहां तक पांचों सिद्धान्तों का विचार किया गया। उसमें उनके रचनाकाल का भी निर्णय हो चुका। रचनाकाल के अनुसार इन पांचों का क्रम यह है—पैतामह, वासिष्ठ, पौलिश, सौर और रोमक। मेरे मतानुसार इनमें रोमक शकारम्भ के पहिले का है और शेष चार उससे भी प्राचीन हैं।

शके ४२० से पूर्व के पौरुष ज्योतिष ग्रन्थकार

पञ्चसिद्धान्तिका के अतिरिक्त शके ४२० से प्राचीन ज्योतिष ग्रन्थकारों के नाम जानने का अन्य कोई भी साधन नहीं है। उसमें कुछ ग्रन्थकारों के नाम बताये हैं। कहा है—

पञ्चभ्यो द्वावाद्यौ (पौलिशरोमकसिद्धान्तौ)
व्याख्यातौ लाटदेवेन ।।३।। अध्याय १।

---

१. गुरुभगण ३६४२२० मानने से भास्वतीकरणोक्त क्षेपक नहीं आता। ३६४२२४ मानने से आता है, परन्तु पञ्चसिद्धान्तिका के १६वें अध्याय की द्वितीय आर्या के पूर्वार्ध में बतलाये हुए गुणकभाजकों द्वारा गुरुभगण ३६४२२० ही सिद्ध होते हैं। भगणसंख्या ३६४२२४ मानने से ४३३२७ दिनों में १०० भगण पूर्ण होंगे। उत्पलोद्धृत पुलिश-सिद्धान्त और वर्तमान सूर्यसिद्धान्त में गुरुभगण ३६४२२० ही हैं। इसी संख्या द्वारा खण्डखाद्योक्त गुरुक्षेपक मिलता है। प्रथम आर्यभट के सिद्धान्त में गुरुभगण ३६४२२४ है। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता के अष्टम अध्याय में इष्ट शक में बार्हस्पत्यसंवत्सर लाने की रीति लिखी है। उसमें बतलाया हुआ क्षेपक गुरुभगण ३६४२२४ मानने से मिलता है।

२. डा० कर्न की बृहत्संहिता-प्रस्तावना और बर्जेश के सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद का द्वितीय पृष्ठ देखिए।

३. बर्जेश के सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद का पृ० ३ देखिए।

लाटाचार्येणोक्तो यवनपुरे चास्तगे सूर्ये।
रव्युदये लङ्कायां सिंहाचार्येण दिनगणोऽभिहितः ।।४४।।
यवनानां निशि दशभिर्गतैर्मुहूर्तैश्च तद्गुरुणा।
लङ्कार्धरात्रसमये दिनप्रवृत्ति जगाद चार्यभटः ।।४५।।
भूयः स एव सूर्योदयात्प्रभृत्याह लङ्कायाम् ।। अध्याय १४

१४वें अध्याय के ये श्लोक बड़े महत्व के हैं। इनका तात्पर्य यह है कि लाटाचार्य के कथनानुसार अहर्गणारम्भ यवनपुर के सूर्यास्तकाल से होना चाहिए। (यवनपुर का सूर्यास्त लङ्का की अर्धरात्रि के समय होता है) सिंहाचार्य ने लङ्का के सूर्योदय से और उनके गुरु ने यवनों के देश में रात्रि के १० मुहूर्त (=२० घटी) बीत जाने के बाद अहर्गण का आरम्भ किया है। आर्यभट ने एक बार लङ्का की आधी रात से और दूसरी बार वहीं के सूर्योदयकाल से दिनप्रवृत्ति बतायी है।[1] यहां पता नहीं चलता कि सिंहाचार्य के गुरु का नाम क्या है?

अन्तिम अध्याय में कहा है—

प्रद्युम्नो भूतनये जीवो सौरे च विजयनन्दी।

पञ्चसिद्धान्तिका में बतलाये हुए ये नाम ब्रह्मगुप्त के सिद्धान्त में भी आये हैं। उन्होंने इनके गुणों का वर्णन कहीं भी नहीं किया है। सब में कुछ न कुछ दोष ही दिखलाये हैं। इनमें से आर्यभट का वर्णन आगे लिखा है। श्रीषेण ने भी रोमक में कुछ मान लाट द्वारा लिये हैं, यह पहिले बता चुके हैं। वराहमिहिर का कथन है कि लाट ने पुलिश और रोमक सिद्धान्तों की व्याख्या की है। व्याख्या में प्रायः लाट के स्वतन्त्र मत नहीं होंगे, अतः उनका अन्य कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ होना चाहिए। निम्नलिखित ब्रह्मगुप्त के श्लोक से भी इस बात की पुष्टि होती है—

श्रीषेणविष्णुचन्द्रप्रद्युम्नार्यभटलाटसिंहानाम्।
ग्रहणादि विसंवादात् प्रतिदिवसं सिद्धमकृतत्वम् ।।४६।।
[2]अङ्कचिति विजयनन्दि प्रद्युम्नादीनि पादकरणानि।
यस्मात्तस्मात्तेषां न दूषणान्यत्र लिखितानि ।।५८।।

अध्याय ११

---

१. लङ्कोदय से दिनप्रवृत्ति बतलानेवाला आर्यभट का वचन आगे लिखा जायगा, पर आर्यभटीय में लङ्का की अर्धरात्रि से दिनप्रवृत्ति सूचित करनेवाला वचन कहीं भी नहीं मिलता।

२. अङ्कचिति भी किसी व्यक्ति विशेष का नाम जान पड़ता है।

मालूम होता है कि पहले सिंहाचार्य का भी कोई ग्रन्थ था। ऊपर लिखी हुई एक आर्या में वराहमिहिर ने कहा है कि मंगल के विषय में प्रद्युम्न और गुरु तथा शनि के विषय में विजयनन्दी भग्न हो गया। ब्रह्मगुप्त ने इन दोनों के ग्रथों को पादकरण कहा है। पूर्वोक्त "युगयातवर्षभगणान्.....श्रीषेणेन गृहीत्वा ...." आर्या में भी ब्रह्मगुप्त ने कहा है कि 'विजयनन्दी कृत पाद श्रीषेण ने लिया।' इसका अभिप्राय कुछ समझ में नहीं आता। मालूम नहीं, पाद शब्द का अर्थ युगपाद है या और कुछ।

अस्तु, यह सिद्ध हो गया कि लाट[1] सिंह, प्रद्युम्न और विजयनन्दी शके ४२० से प्राचीन ज्योतिष ग्रन्थकार हैं।

वर्तमान सिद्धान्तपञ्चक

सूर्यसिद्धान्त, सोमसिद्धान्त, वसिष्ठसिद्धान्त, रोमशसिद्धान्त और शाकल्यसंहितोक्त ब्रह्मसिद्धान्त

इन पांचों में से एक सोमसिद्धान्त को छोड़कर शेष चार नाम के सिद्धान्तों का वर्णन पञ्चसिद्धान्तिका में आया है। पहिले बता चुके हैं और अग्रिम विवेचन द्वारा भी यह विदित हो जायगा कि इस समय जिन सूर्यादि सिद्धान्तों का वर्णन करने जा रहे हैं वे पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सिद्धान्तों से भिन्न हैं। ये सम्प्रति उपलब्ध हैं और पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सिद्धान्तों से भिन्न हैं, अतः इन्हें वर्तमान सिद्धान्तपञ्चक कहेंगे। यद्यपि सोमसिद्धान्त भी दो प्रकार का है या था, इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता, परन्तु वह अन्य चारों से पूर्णतया साम्य रखता है, अतः उसका भी यहीं विचार करना अच्छा होगा। पहिले पांचों का सामूहिक रूप से थोड़ा विचार करने के वाद प्रत्येक का पृथक्-पृथक् विवेचन करेंगे।

इन पांचों सिद्धान्तों में लिखा है कि ये अपौरुषेय हैं और लोग ऐसा ही मानते भी हैं। ये पाँच सिद्धान्त, पञ्चसिद्धान्तिकोक्त पांच सिद्धान्तों में से कुछ या सब और विष्णुधर्मोत्तरसिद्धान्तों को छोड़कर आजकल अन्य कोई भी सिद्धान्त अपौरुषेय नहीं माना जाता। कदाचित् पहले किसी अन्य ग्रन्थ को भी अपौरुष मानते रहे हों, पर अब वह उपलब्ध नहीं है। व्याससिद्धान्त, गर्गसिद्धान्त, पराशरसिद्धान्त और नारदसिद्धान्त भी

---

१. वेदाङ्गज्योतिष का अवलोकन करने से तथा उपर्युक्त विवेचन द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रो० बेबर की यह शंका कि 'लाट ही लगध होगा' बिलकुल भ्रमपूर्ण है।

अपौरुषेय ही हैं, पर उन्हें सिद्धान्त कहने की अपेक्षा संहिता कहना अच्छा होगा। इस समय इन व्यावसादिकों के नाम का किसी ऐसे सिद्धान्तग्रन्थ का उपलब्ध होना, जिसमें विषयक्रम सिद्धान्तग्रन्थों की भाँति हो, हमें असम्भव मालूम होता है। हो तो भी अभी तक हमें ऐसा ग्रन्थ देखने का अवसर नहीं प्राप्त हुआ है। यूरोपियन विद्वानों ने पाराशरसिद्धान्त के भगणादि मानों का उल्लेख किया, पर वे मान वही हैं जो कि द्वितीय आर्यभट ने पाराशरसिद्धान्तोक्त वतलाते हुए अपने सिद्धान्त के एक अध्याय में लिखे हैं। स्वतन्त्र पाराशरसिद्धान्त उपलब्ध नहीं है। द्वितीय आर्यसिद्धान्त का विचार करते समय इस विषय का विशेष विवेचन किया जायगा। विष्णुधर्मोत्तरब्रह्मसिद्धान्त का भी आगे थोड़ा विचार करेंगे। पौरुष सिद्धान्तों में सबसे प्राचीन प्रथम आर्यभट का सिद्धान्त है। उसका रचनाकाल शके ४२१ है। उपर्युक्त पांचों सिद्धान्त इससे प्राचीन ही होंगे, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, पर हम समझते हैं, इनमें से कोई न कोई इससे प्राचीन अवश्य होगा। ये सभी सिद्धान्त समान हैं और अपौरुषेय माने जाते हैं, अतः पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सिद्धान्तों के बाद इनका विचार करना क्रमप्राप्त और योग्य है। पहिले इन (सूर्यसिद्धान्त, सोमसिद्धान्त, वसिष्ठसिद्धान्त, रोमक और शाकल्योक्त ब्रह्मसिद्धान्त) पांचों के भगणादि मान लिखते हैं। ये सब में समान हैं।

सृष्ट्युत्पत्तिवर्षसंख्या १७०६४०००।

एक महायुग में

नक्षत्रभ्रम	१५८२२३७८२८	गुरु	३६४२२०
रविभगण	४३२००००	शुक्र	७०२२३७६
सावनदिवस	१५७७९१७८२८	शनि	१४६५६८
चन्द्रभगण	५७७५३३३६	चान्द्रमास	५३४३३३३६
चन्द्रोच्च	४८८२०३	चान्द्रतिथि	१६०३००००८०
चन्द्रकेन्द्र	५७२६५१३३	सौरमास	५१८४००००
चन्द्रपात	२३२२३८	अधिमास	१५९३३३६
मंगल	२२९६८३२	क्षयाह	२५०८२२५२
बुध	१७९३७०६०		

कल्प में

	उच्चभगण	पातभगण
सूर्य	३८७	×
मंगल	२०४	२१४
बुध	३६८	४८८

गुरु	९००	१७४
शुक्र	५३५	९०३
शनि	३९	६०

युगपद्धति

उपोद्‌घात में युगपद्धति का सामान्य वर्णन कर चुके हैं। यहां सृष्ट्युत्पत्ति की वर्ष संख्या १७०६४००० बतायी हैं। इसका थोड़ा विचार करना होगा। ब्रह्मगुप्त और उनके अनुयायियों का मत यह है कि सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्मदिन अर्थात् कल्प के आरम्भ में ही हुई। उस समय सब ग्रह, उनके उच्च और पात मेषारम्भ में एकत्र थे। आधुनिक सूर्यसिद्धान्त और उसके अनुयायी अन्य सिद्धान्त कल्पारम्भ में सृष्टि का आरम्भ नहीं मानते। वे कहते हैं कि ब्रह्मा को सृष्टि रचने में दिव्य ४७४०० वर्ष अर्थात् कलियुग ऐसे ३९½ युग लगे। कल्पारम्भ के इतने समय बाद सब ग्रह उनके उच्च और पात एकत्र थे, और तत्पश्चात् ग्रहों की गति आरम्भ हुई। द्वितीय आर्य भट का भी प्रायः यही मत है, पर उनकी सृष्ट्युत्पत्ति की वर्षसंख्या इससे भिन्न है। उसका वर्णन आगे करेंगे। प्रथम आर्य भट का मत भी आगे दिखलायेंगे। पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यादि सिद्धान्तों का मत जानने का कोई मार्ग नहीं है।

आधुनिक सूर्यसिद्धान्तानुसार वर्तमान कलियुग के आरम्भ में मध्यम मान से सब ग्रह एक स्थान में आते हैं। इसी प्रकार कृतयुग के अन्त में भी जब कि सूर्यसिद्धान्त बना, सब ग्रह एकत्र थे। ग्रहों की महायुगीय भगणसंख्या ४ से निःशेष हो जाती है अतः (महायुग ÷ ४ =) २½ कलियुग में सबके भगण पूर्ण हो जाते हैं अर्थात् २½ कलियुग तुल्य समय के बाद सब ग्रह एकत्र हो जाया करते हैं। ब्रह्मदिन के आरम्भ से वर्तमान कलियुगारम्भ पर्यन्त (७१ × ६ × १० + ७ × ४ + २७ × १० + ९ =) ४५६७ कलियुग तुल्य समय बीत चुका है। यह संख्या २½ से नहीं कटती। यदि इसमें से कुछ वर्ष सृष्ट्युत्पत्ति सम्बन्धी न मानें तो कल्पारम्भ में सब ग्रह एक स्थान में नहीं आते। इसमें से सृष्टिरचना का ३९½ कलियुग तुल्य समय निकाल देने से ४५२७½ कलियुग शेष रह जाते हैं। यह संख्या २½ से निःशेष हो जाती है। इस प्रकार सृष्ट्यारम्भ में सब ग्रह एकत्र मानने से वर्तमान कलियुग के आरम्भ में और उसके पूर्व कृतयुग के अन्त में भी सब एक स्थान में आते हैं। इसी प्रकार ग्रहों के उच्च तथा पातों की एक कल्प सम्बन्धी उपर्युक्त भगणसंख्या के अनुसार वे सृष्ट्यारम्भ के अतिरिक्त अन्य किसी भी समय एकत्र नहीं होते हैं।

सामान्य वर्णन

इन पांचों सिद्धातों में सूर्य सिद्धान्त बहुत प्रसिद्ध है। उस पर कई टीकाएं हुई हैं और वह मुद्रित भी हो चुका है। शेष चार सिद्धान्तों की विशेष प्रसिद्धि नहीं है। इनमें वसिष्ठसिद्धान्त काशी में विन्ध्यश्वरीप्रसाद शर्मा ने छपाया है। इसमें ४ अध्याय और ९४ श्लोक हैं। अन्य कोई भी सिद्धान्त मैंने मुद्रित रूप में नहीं देखा है। इन चारों सिद्धान्तों की पुस्तक मुझे बड़े परिश्रम से प्राप्त हुई है। वसिष्ठसिद्धान्त भूगोलाध्याय नाम की एक पुस्तक डेक्कन कालेज के संग्रह में है (नं० ७८ सन् १८६९-७०)। इसकी शब्दरचना काशी में छपे हुए वसिष्ठसिद्धान्त से भिन्न है। इसमें दो अध्याय और सब १३३ श्लोक हैं। प्रथमाध्याय के १२१ श्लोकों में सृष्टिसंस्था का वर्णन है। वह अन्य सिद्धान्तों सरीखा ही है। द्वितीयाध्याय में केवल ग्रहों के कक्षामान हैं। इन दोनों वसिष्ठसिद्धातों के भगणादि मान बिलकुल समान हैं। अतः दो वसिष्ठसिद्धान्त न कहकर एक ही कहना अच्छा होगा। आगे इसका थोड़ा विशेष विवेचन करेंगे।

पांचों सिद्धान्तों के भगणादि मान यद्यपि समान हैं, तथापि उनमें थोड़ी भिन्नता भी पायी जाती है। उसका भी विचार करना आवश्यक है। इस छपे हुए वसिष्ठ-सिद्धान्त की ही एक हस्तलिखित प्रति डेक्कन कॉलेज के संग्रह में है (नं० ३६ सन् १८७०-७१)। उसके प्रथमाध्याय में निम्नलिखित श्लोक मिला है--

> नृपेषुसप्तवह्नच[1] श्वि (?) यमेभेषुधरोन्मिताः १५८२२३७५१६।
> भभ्रमाः पश्चिमायाञ्च दिशि स्युर्वै महायुगे ।।१७।।

इस श्लोक में नक्षत्र भ्रम बतलाया है। इसके अनुसार महायुग में १५७७९१७५१६ सावन दिवस आते हैं, अर्थात् वर्षमान ३६५ दिन १५ घटी ३१ पल १५ विपल ४८ प्रतिविपल होता है। यह वर्षमान अन्य सभी सिद्धान्तों से भिन्न है। काशी की छपी हुई पुस्तक में यह श्लोक नहीं है। वसिष्ठसिद्धान्त की उपर्युक्त दूसरे प्रकार की प्रति (डे० का० सं० नम्बर ७८ सन् १८६९-७०) में भी नक्षत्रभ्रम नहीं लिखा है और दूसरी बात यह कि सिद्धान्ततत्त्वविवेककार कमलाकर (शके १५८०) ने सूर्यसिद्धान्त से सर्वात्मना साम्य रखनेवाले जो सिद्धान्त बताये हैं[2] उनमें यही वसिष्ठसिद्धान्त भी है। इससे डे० का० सं० की प्रति का उपर्युक्त श्लोक प्रक्षिप्त मालूम होता है।

---

१. मूल पुस्तक में आठवाँ अक्षर नहीं है। वहाँ कोई ऐसा अक्षर होना चाहिए, जिसका अर्थ २ हो, इसलिए मैंने उसके स्थान में 'श्वि' रखा है।

२. भगणमागाध्याय श्लोक ६५।

इसीलिए मैंने ऊपर वसिष्ठसिद्धान्त के भगणादि मान अन्य सिद्धातों के समान ही लिखे हैं।

रचनाकाल

अब इन पांचों सिद्धान्तों के रचनाकाल का थोड़ा-सा विचार करेंगे।

बेटली ने ज्योतिष सिद्धान्तों का रचनाकाल जानने के लिए एक नियम बनाया है। उसके अनुसार उन्होंने वर्तमान सूर्यसिद्धान्त का रचनाकाल सन् १०९१ ई० (शके १०१३) निश्चित किया है। वह नियम यह है--

जिस सिद्धान्त का रचनाकाल निश्चित करना हो उसके द्वारा सूर्य के सम्बन्ध से मध्यम ग्रहों की जो स्थिति आती हो, उसका आधुनिक यूरोपियन ग्रन्थों द्वारा लाई हुई सूर्यसम्बन्धी मध्यम ग्रहस्थिति से तुलना करते हुए यह देखना चाहिए कि उसका कौन सा ग्रह किस शक में शुद्ध आता है। इसके बाद उन समयों की संगति लगाते हुए ग्रन्थ का रचनाकाल निश्चित करना चाहिए।

सामान्यतः यह पद्धति ठीक मालूम होती है और बेटली ने जो बातें पहिले कल्पित कर ली हैं उन्हें भी मान लेने में कोई त्रुटि नहीं है, परन्तु सब प्रकार विचार करने से इस रीति का उपयोग करना अनुचित प्रतीत होता है, अतः इस रीति द्वारा निश्चित किये हुए काल विश्वसनीय नहीं होंगे। इसके कई कारण हैं। एक तो बेटली का सबसे बड़ा दोष यह है कि उन्होंने हिन्दू-ग्रहगणित-ग्रन्थ और यूरोपियन शुद्ध कोष्ठकों द्वारा लाये हुए मध्यम ग्रहों की तुलना की है। वस्तुतः आकाश में मध्यम ग्रह नहीं दिखाई देते अर्थात् गणित द्वारा जो मध्यम भोग आता है तदनुसार आकाश में उनका दर्शन नहीं होता। वहां उनके स्पष्टभोग दिखाई देते हैं। भारतीय ज्योतिषियों ने जब जब अपने मूल ग्रन्थ बनाये अथवा मूलग्रन्थोक्त ग्रहस्थिति का आकाश की प्रत्यक्ष स्थिति से विरोध देख कर जब जब उनमें बीजसंस्कार कर उन्हें स्वकालानुसार शुद्ध किया तब तब उन्होंने वेध द्वारा आकाश में स्पष्ट ग्रहों का ही निरीक्षण किया होगा, न कि मध्यम ग्रहों का। मध्यम और स्पष्ट ग्रहों के अन्तर को सामान्यतः फलसंस्कार कह सकते हैं। यदि यूरोपियन और भारतीय ग्रन्थों के फलसंस्कार तथा उनका संस्कार करने की रीति, ये दोनों बातें समान हों तो मध्यम ग्रहों की तुलना द्वारा ग्रन्थ का रचनाकाल निश्चित करना असंगत न होगा, परन्तु वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं है। किसी भी भारतीय ग्रन्थ द्वारा सूर्य का फलसंस्कार २ अंश १० कला से कम नहीं आता, परन्तु यूरोपियन ग्रन्थों के अनुसार वह इस समय १ अंश ५५ कला है। यूरोपियन ग्रन्थकार कहते हैं कि यह संस्कार सर्वदा एकरूप नहीं रहता। शक के ३००० वर्ष पहिले इसका मान

२ अंश १० कला था और उसके बाद से क्रमश: कम होता जा रहा है। चद्रमा का फल-संस्कार हिन्दू ग्रन्थों के अनुसार लगभग ५ अंश है, परन्तु यूरोपियन ग्रन्थानुसार कभी-कभी ८ अंश तक चला जाता है। हिन्दुओं के फलसंस्कार में अशुद्धि बहुत अधिक है। इसी प्रकार अन्य ग्रहों के फलस्संस्कार भी कुछ-कुछ भिन्न हैं। मध्यम ग्रह द्वारा स्पष्ट-ग्रह लाने की रीति और उसके मन्दोच्च शीघ्रोच्चादि उपकरण भी दोनों के किञ्चित् भिन्न हैं, अतः भारतीय ग्रन्थ और यूरोपियन ग्रन्थो के मध्यम ग्रह समान हों तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि दोनों के स्पष्टग्रह भी समान ही होंगे अथवा यदि दोनों के स्पष्टग्रह समान हों तो उनके द्वारा लाए हुए मध्यम ग्रह भी समान ही आवेंगे, इसका कोई निश्चय नहीं है। इसी प्रकार उन दोनों का अन्तर भी सर्वदा नियमित नहीं रहेगा। किसी विवक्षित स्थिति में यदि दोनों के मध्यम ग्रह और साथ ही साथ स्पष्टग्रह भी समान हों, तो किसी अन्य परिस्थिति में वे भिन्न भी हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, शनि सिंह राशि में हो और उस समय यदि दोनों के मध्यम और स्पष्ट परस्पर समान हो जायँ तो शनि के वृश्चिक राशि में रहने पर भी वे समान ही होंगे, यह नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार फलसंस्कार के मान तथा उसे लाने की रीति में विभिन्नता होने के कारण दोनों ग्रन्थों के फलों में किसी समय थोड़ा अन्तर होते हुए भी उसके अनुसार रचनाकाल निश्चित करने में शताब्दियों का अन्तर पड़ सकता है। उदाहरण के लिए बेटली की बतलायी हुई आधुनिक सूर्यसिद्धान्त की अशुद्धियां नीचे लिखी जाती हैं—

[१]	सन् ५३८ में अं० क० वि०	सन् १०९१ में अं० क० वि०	अशुद्धिरहित ईसवी सन्
चन्द्रमा	— ० १८ ३०	— ० ० ११	१०९७
मंगल	+ २ २६ ३०	+ ० ५८ २९	१४५८
गुरु	— १ २१ ४७	+ ० ४१ १४	९०६
शनि	+ १ ५० १०	— १ ४ २५	८८७

इससे मालूम होता है कि ईसवी सन् ५३८ में मंगल की अशुद्धि लगभग $2\frac{1}{2}$ अंश और अन्य ग्रहों की २ अंश से कम थी। चन्द्रमा की तो बहुत ही कम थी। सम्भवतः उस समय एक भगण की पूर्ति होने के मध्यवर्ती काल में स्पष्टमान से ये सब ग्रह कभी

१. यूरोपियन कोष्ठकों द्वारा लाए हुए ग्रहों की अपेक्षा सूर्यसिद्धान्तीयग्रह जहाँ अधिक हैं वहाँ धन चिह्न (+) और जहाँ न्यून हैं वहाँ ऋण चिह्न (−) बनाया है। सन् ५३८ ई० में बुध और शुक्र में ३ अंश से अधिक अशुद्धि थी, इसलिए यहाँ उन्हें नहीं लिखा है।

न कभी यूरोपियन कोष्ठकों द्वारा लाये हुए स्पष्ट ग्रहों के समान अर्थात् शुद्ध रहे होंगे। इस प्रकार सन् ५३८ के आसपास दस-पांच वर्ष आगे या पीछे के सूर्यसिद्धान्तीय[1] ग्रह यदि यूरोपियन ग्रहों के समान सिद्ध हो जायं तो सूर्यसिद्धान्त का रचनाकाल सन् ५३८ कहा जा सकता है। भारतीयों के मूलग्रन्थ अथवा उनमें दिये हुए संस्कारों की रचना कम से कम २५, ३० वर्षों के अनुभव के बाद हुई होगी। इतने समय के बीच में उन्होंने किस ग्रह का वेध किस दिन किस प्रकार किया, इसे जानने का कोई साधन नहीं है, अतः बेटली की इस रीति द्वारा ग्रन्थरचना का समय निश्चित करना निर्दोष नहीं है। प्रो० विटने ने बेटली की रीति में कुछ दोष दिखलाये हैं, परन्तु उनमें उपर्युक्त मुख्य महत्वशाली दोष नहीं है। स्वतः बेटली ने भी साधक-वाधक विषयों का विचार किया है परन्तु इस आक्षेप के सम्बध में कुछ नहीं लिखा है।

दूसरी बात यह कि भारतीय और यूरोपियन ग्रहों की तुलना करते समय बेटली ने सब ग्रहों का सूर्य से अन्तर तो लाया है, परन्तु इस बात का विचार नहीं किया है कि भारतीय ग्रन्थों का निरयन वर्षमान किञ्चित् अशुद्ध होने के कारण उनकी सूर्य की ही स्थिति अशुद्ध है। इसका विचार करते हुए प्रो० बिटने ने बतलाया है कि सूर्यसिद्धान्त का सूर्य सन् २५० में शुद्ध था। भारतीय ग्रन्थों के बीज संस्कार[2] में दो भेद होने की संभावना है। एक बीजसंस्कार उन्होंने ग्रह और नक्षत्रों की युति का अवलोकन कर किया होगा और दूसरा नलिकावेध द्वारा। हमारे ग्रन्थों का वर्षमान निरयन वर्षमान के पास-पास होते हुए भी उससे लगभग ८ पल अधिक है। इस कारण नक्षत्रों के भोग उत्तरोत्तर अशुद्ध होते जा रहे हैं। इस समय वह अशुद्धि लगभग ४½ अंश हो गयी है (पटवर्धनीय तथा अन्य निरयन पञ्चांगों में अन्तर पड़ने का कारण यही है)। इसलिए यदि युति द्वारा बीजसंस्कार लाया होगा तो जिस तारा से ग्रहयुति का विचार किया स्वतः उसी का स्थान अशुद्ध होने के कारण बीज अशुद्ध होने की संभावना है, अतः उसके द्वारा लाया हुआ रचनाकाल भी अशुद्ध ही होगा। दूसरी रीति है ग्रहों का नलिकावेध। इसमें ग्रह सायन करने पड़ते हैं। यद्यपि सम्पातगति थोड़ी अशुद्ध है तो भी सूर्य या

१. इस बात का मुझे पूर्ण निश्चय है कि दोनों ग्रन्थों के गणित द्वारा भिन्न-भिन्न दिनों के सब ग्रह लाकर यह दिखलाया जा सकता है कि दस-पाँच या कदाचित् ३० वर्षों में दोनों के ग्रह अमुक दिन समान होंगे, परन्तु इतना गणित करने के लिए अत्यधिक परिश्रम और समय की आवश्यकता है। इसलिए मैंने नहीं किया।

२. जब किसी सिद्धान्त के गणितागत ग्रह वेध से नहीं मिलते तब उनकी गति-स्थिति में कोई संस्कार किया जाता है। उसे बीजसंस्कार कहते हैं।

अन्य किसी ग्रह का सम्पात में आने का समय उतना अशुद्ध नहीं है, अतः बीज में अधिक अशुद्धि की संभावना नहीं है। इसलिए इस रीति से लाये हुए बीजसंस्कार द्वारा बेटली की भाँति केवल सूर्य के सम्बन्ध से लायी हुई ग्रह की अशुद्धि द्वारा ग्रन्थरचनाकाल लावें तो भी कोई हानि नहीं है, परन्तु हमारे ग्रन्थों में बतलाया हुआ सूर्य के सम्पात में आने का समय थोड़ा अशुद्ध ही है। और वेध जितने स्थूल होंगे बीज भी उतने ही अशुद्ध होंगे, अतः इनके द्वारा निश्चित किया हुआ ग्रन्थरचना काल भी अशुद्ध ही होगा।

तीसरी बात यह कि बेटली की रीति यदि ठीक मान लें तो भी उसके अनुसार किसी ग्रन्थ का रचनाकाल लाना उसी स्थिति में योग्य होगा जब कि ग्रन्थकार ने स्वतः वेध करके ग्रहों की गतिस्थिति बतलायी हो। यदि ग्रन्थकार ने किसी अन्य ग्रन्थ के ग्रह ज्यों के त्यों उद्धृत कर दिये हों तो वहां इस रीति का उपयोग करना अनुचित होगा। भास्कराचार्य के ग्रन्थ में बतलाया हुआ बीजसंस्कार यदि अलग रखें तो उसके भगणादि मान ब्रह्मगुप्त के मानों से बिलकुल समान होने के कारण दोनों का रचनाकाल समान मानना पड़ेगा, परन्तु वस्तुतः ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त के ५२२ वर्ष बाद भास्कराचार्य ने सिद्धान्तशिरोमणि बनाया है। जो बीजसंस्कार भास्कराचार्य के ग्रन्थ में है वही शके ९६४ में बने हुए राजमृगाङ्क ग्रन्थ में भी है (आगे चलकर इसका विशेष विवेचन किया जायगा)। इस प्रकार बेटली की रीति के अनुसार राजमृगाङ्क (शके ९६४) सिद्धान्तशिरोमणि (शके १०७२) या करणकुतूहल (शके ११०५) का रचनाकाल एक ही आवेगा।

बेटली की रीति द्वारा लाये हुए काल की वास्तविक काल से तुलना करने पर भी उनकी रीति निरुपयोगी ही ठहरती है। मैंने पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त और प्रथम आर्यसिद्धान्त में उसका उपयोग करके देखा। तदनुसार निम्नलिखित वर्षों में उनके ग्रह शुद्ध आते हैं।

	पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त	प्रथम आर्यसिद्धान्त
	शक	शक
चन्द्रमा	५२०	४६८
चन्द्रोच्च	४८२	४८२
राहु	×	५२३
मंगल	४५७	४५७
बुध	९३	७३४
गुरु	७७२	४८०

शुक्र	४०९	४०९
शनि	५७४	५७४
	३३०७ ÷ ७ = ४७२	४१२७ ÷ ८ = ५१६

इससे सिद्ध होता है कि पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त शके ४७२ में और प्रथम आर्यसिद्धान्त शके ५१६ में बना, परन्तु प्रथम आर्यसिद्धान्त का रचनाकाल शके ४२१ निर्विवाद सिद्ध है[1] और पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त के विषय में भी ऊपर बता चुके हैं कि वह शके ४२१ से बहुत प्राचीन होना चाहिए। बेटली ने १८ अध्यायों के आर्यसिद्धान्त अर्थात् द्वितीय आर्यसिद्धान्त का समय सन् १२८८ (शके १२१०) और पाराशरसिद्धान्त का रचनाकाल सन् १३८४ (शके १३०६) बताया है[2], परन्तु द्वितीय आर्यसिद्धान्त शके १०७२ से पहिले का है क्योंकि उसकी कुछ बातों का उल्लेख सिद्धान्तशिरोमणि में आया है और पाराशरसिद्धान्त का उल्लेख द्वितीय आर्यसिद्धान्त में है, अतः वह उससे भी प्राचीन होना चाहिए (आगे इसका विशेष विवेचन किया जायगा)।

इससे यह स्पष्ट है कि बेटली के निश्चित किये हुए काल बिलकुल अविश्वसनीय हैं। अतः उनका बतलाया हुआ सूर्यसिद्धान्त का रचनाकाल (शके १०१३) भी उपेक्षणीय है।

अब इन पाचों सिद्धान्तों के रचनाकाल का स्वतन्त्रतया विचार करेंगे।

ब्रह्मगुप्त ने कहा है :—

अयमेव कृतः सूर्येन्दुपुलिशरोमकवसिष्ठयवनाद्यैः ।।३।।

अध्याय २४।

यहां इन्दुसिद्धान्त सोमसिद्धान्त को कहा है। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्मगुप्त के पहिले भी एक सोमसिद्धान्त था। प्रचलित सोमसिद्धान्त से भिन्न सोमसिद्धान्त का पहिले किसी समय प्रचार था, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। इस समय भी ऐसा कोई सिद्धान्त उपलब्ध नहीं है और न तो उसकी उपलब्धि का कोई प्रमाण ही मिलता

---

१. वस्तुतः ये ग्रह यूरोपियन ग्रन्थों द्वारा लाने चाहिए थे, परन्तु मैंने केरोपन्तीय ग्रहसाधनकोष्ठकों द्वारा लाये हैं। उससे सूक्ष्म अन्य किसी ग्रन्थ द्वारा गणित करने से कदाचित् दस-पांच वर्षों का अन्तर पड़ेगा।

२. बेटली का ग्रन्थ (सन् १८२३ ई०) Part II, Section III देखिए।

है। अतः यह निश्चित है कि ब्रह्मगुप्त के पहिले भी वही सोमसिद्धान्त था जो कि इस समय उपलब्ध है। हो सकता है, ब्रह्मगुप्त के समय का सोमसिद्धान्त कदाचित् आधुनिक सोमसिद्धान्त से कुछ भिन्न अथवा विस्तार में कुछ न्यून या अधिक रहा हो पर दोनों के भगणादि मान तुल्य होने चाहिए।

ऊपर बता चुके हैं कि ब्रह्मगुप्त के समय पञ्चसिद्धान्तिकोक्त रोमक और वासिष्ठ से भिन्न श्रीषेणकृत रोमक और विष्णुचन्द्रकृत वासिष्ठ उपलब्ध थे और यह भी बता चुके हैं कि पञ्चसिद्धान्तिकोक्त रोमक और वासिष्ठ से आधुनिक रोमक और वासिष्ठ भिन्न हैं। भगणादि मानों द्वारा भी इस कथन की पुष्टि होती है अतः यह सहज ही ध्यान में आ जाता है कि ब्रह्मगुप्तकालीन श्रीषेणकृत रोमक और विष्णुचन्द्रकृत वासिष्ठ ही आधुनिक रोमक और वासिष्ठ होने चाहिए क्योंकि पञ्चसिद्धान्तिकोक्त तथा आधुनिक रोमक वासिष्ठ सिद्धातों से भिन्न तीसरे प्रकार के कई रोमक और वासिष्ठसिद्धान्त पहिले कभी प्रचलित थे, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। इस समय भी ऐसा कोई सिद्धान्त उपलब्ध नहीं है और दूसरी बात यह कि श्रीषेण और विष्णुचन्द्र ने अपने रोमक और वासिष्ठसिद्धान्त जिन ग्रन्थों के आधार पर बनाये उनके सम्बन्ध में ब्रह्मगुप्त की "लाटात् सूर्यशशाङ्कौ. . .विष्णुचन्द्रेण" ये ३ आर्याएं ऊपर लिखी हैं। इनसे ज्ञात होता है कि वे दोनों ग्रन्थ एक ही प्रकार के होने चाहिए अर्थात् उनके भगणादि मान समान होने चाहिए जैसे कि वर्तमान रोमक और वासिष्ठसिद्धान्तों के हैं। तीसरी बात यह कि ब्रह्मगुप्त ने कहा है कि विष्णुचन्द्र ने दूसरा सिष्ठसिद्धान्त बनाया। आधुनिक सिष्ठसिद्धान्त में (काशी की छपी हुई प्रति में) निम्नलिखित श्लोक[1] है—

इत्थं माण्डव्य संक्षेपादुक्तं शास्त्रं मयोदितम्।।
विस्तृतिर्विष्णुचन्द्राद्यैर्भविष्यति युगे युगे।।८०।।

यह माण्डव्य के प्रति वसिष्ठ का कथन है। यहां इस सिद्धान्त से विष्णुचन्द्र का सम्बन्ध स्पष्ट है। श्लोक में विष्णुचन्द्र का नाम गौणरूप में आया है, अतः यह सिद्धान्त साक्षात् विष्णुचन्द्र रचित न हो तो भी यह स्पष्ट है कि अन्य किसी ने विष्णुचन्द्र के ही मानों द्वारा इसे बनाया है। रोमकसिद्धान्तसम्बन्धी उपर्युक्त ब्रह्मगुप्त की आर्याओं में कहा है कि वह लाट, वसिष्ठ और विजयनन्दी के आधार पर बना है और आधुनिक रोमकसिद्धान्त के आरम्भ में ये श्लोक हैं—

---

१. डे० का० संग्रह की प्रति में भी यह श्लोक है। उसमें उत्तरार्द्ध का आरम्भ 'विस्मतिश्चेच्च चन्द्राद्यैः' इस प्रकार है, परन्तु यह अशुद्ध मालूम होता है।

वसिष्ठो रोमशमुनिः[1] कालज्ञानाया तत्त्वतः।
उपवासं ब्रह्मचर्यं प्रागेकं विष्णुतत्परौ ।।२।।
वसिष्ठसदभिप्रायं ज्ञात्वापि मधुसूदनः।
अर्पयामास तत्सिद्धयै तावच्छास्त्रार्थपारगः ।।३।।
उभाभ्यां तोषितो विष्णुर्योगीयं तन्मुखद्वयात्।
उच्चारयामास... ।।४।।

यद्यपि ये श्लोक कुछ अशुद्ध हैं तथापि आधुनिक रोमकसिद्धान्त से रोमक और वसिष्ठ दोनों का सम्बन्ध इनमें स्पष्ट है और ब्रह्मगुप्तकालीन रोमकसिद्धान्त भी वसिष्ठ का आधार था ही। इससे अनुमान होता है कि ब्रह्मगुप्तकालीन श्रीषेणकृत रोमक और विष्णुचन्द्रकृत वासिष्ठ तथा आधुनिक रोमश और वसिष्ठसिद्धान्त एक ही हैं। आधुनिक लोमशसिद्धान्त में श्रीषेण का नाम नहीं है, पर सिद्धान्त का नाम वही है। उसमें रोमश को एक मुनि माना है। सम्भव है श्रीषेणकृत रोमक की शब्द रचना आधुनिक रोमक से कुछ भिन्न रही हो, पर दोनों के भगणादिमान एक होने चाहिए।

आधुनिक सोम, रोमश और वासिष्ठ सिद्धान्तों के सर्वथा समान अथवा केवल भगणादिमानों में साम्य रखने वाले इन्हीं नामों के सिद्धान्त यदि ब्रह्मगुप्त (शके ५५०) के पूर्व भी थे तो फिर भगणादि मानों के विषय में इनके बिलकुल समान, परन्तु सम्प्रति इन तीनों से अत्यन्त अधिक महत्वशाली तथा पूज्य माना जानेवाला आधुनिक सूर्य-सिद्धान्त ब्रह्मगुप्त के पहिले नहीं रहा होगा, यह कैसे कह सकते हैं? आधुनिक सूर्य-सिद्धान्त अथवा सोम, रोमक या वासिष्ठसिद्धान्तों के भगणादिमान ब्रह्मगुप्त से पूर्व के प्रथम आर्यसिद्धान्त अथवा उससे भी प्राचीन पञ्चसिद्धान्तिकोक्त पांच सिद्धान्तों के समान नहीं हैं। पहिले बता चुके हैं कि लाटाचार्य का एक स्वतन्त्र ग्रन्थ था। ब्रह्मगुप्त के कथनानुसार श्रीषेण के रोमक और विष्णुचन्द्र के वासिठ में सब मध्यम ग्रह[2] लाट के ग्रन्थ से लिये गये हैं, अतः ब्रह्मगुप्त से प्राचीन ग्रन्थों में आधुनिक रोमक वासिष्ठ और सोम सिद्धान्तों से साम्य रखनेवाला केवल एक लाटाचार्य का ही ग्रन्थ दिखाई देता है। यह बात और ऊपर लिखे हुए अन्य विचार एवं अलबेरुणी का यह कथन

---

१. रोमश के स्थान में लोमश और 'सदभिप्राय' के स्थान में 'तदभि०' पाठ भी मिलते हैं। सिद्धान्त के भी 'रोमक' और 'रोमश' दो नाम पाये जाते हैं।

२. कोलब्रूक इसका अर्थ लगाते हैं कि कुजादि ग्रह वासिष्ठ से लिये, परन्तु सब बातों के पूर्वापर सन्दर्भ का विचार करने से मुझे अपना ही अर्थ ठीक मालूम होता है।

कि सूर्यसिद्धान्त लाटकृत है, इन सबका एकत्र विचार करने से मुझे यही अनुमान होता है कि वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के मध्यमग्रह (भगणादि मान) लाटाचार्य के ग्रन्थ के हैं और लाटाचार्य का समय वराहमिहिर से पूर्व है। अतः मेरे मतानुसार वर्तमान सूर्य सिद्धान्त के भगणादि मूलतत्व शके ४२७ से प्राचीन है। आधुनिक सूर्यसिद्धान्त लाटकृत न हो तो भी आधुनिक सोम, रोमक और वासिष्ठ सिद्धान्त ब्रह्मगुप्त के पहिले के हैं और उन तीनों से अत्यधिक पूज्य तथा महत्वशाली होने के कारण वर्तमान सूर्यसिद्धान्त उनसे भी प्राचीन है, अतः उसका रचनाकाल शक की पांचवीं शताब्दी से अर्वाचीन नहीं हो सकता।

अब पांचों सिद्धान्तों का पृथक्-पृथक् विशेष विचार करेंगे।

सूर्यसिद्धान्त (आधुनिक)

आधुनिक सूर्यसिद्धान्त में १४ अधिकार और सब मिलकर अनुष्टुप् छन्द के ५०० श्लोक हैं। इसके भगणादि मान ऊपर लिखे हैं। आरम्भ के श्लोकों से मालूम होता है कि कृतयुग के अन्त में सूर्य की आज्ञा से सूर्यांशभूत पुरुष ने इसे मय नामक असुर से कहा अर्थात् शके १८१७ के आरम्भ में इसे बने २१६४९९६ वर्ष हुए।

यद्यपि ऊपर यह अनुमान किया है कि आधुनिक सूर्यसिद्धान्त लाटकृत होगा। अतः उसका रचनाकाल शके ४२७ से बहुत प्राचीन होना चाहिए तथापि वराहमिहिर के समय तक उसका यह नाम नहीं पड़ा रहा होगा क्योंकि पञ्चसिद्धान्तिका में एक ही सूर्यसिद्धान्त का वर्णन है और वह इससे भिन्न है। ब्रह्मगुप्त सिद्धान्त में सूर्यसिद्धान्त का उल्लेख दो स्थानों में आया है। वे दोनों श्लोक ऊपर वसिष्ठसिद्धान्त के वर्णन में लिखे ही हैं। उनमें ऐसा कोई प्रमाण नहीं दिखाई देता जिसके आधार पर कह सकें कि ब्रह्मगुप्त के समय दो सूर्यसिद्धान्त थे, अतः उस समय भी आधुनिक सूर्यसिद्धान्त का नाम सूर्यसिद्धात पड़ चुका था, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। पड़ चुका रहा हो तो भी यह स्पष्ट है कि उसे प्राधान्य नहीं प्राप्त हुआ था क्योंकि उन्होंने खण्डखाद्य में स्वकीयसिद्धान्त, प्रथम आर्यसिद्धान्त या वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के मान न लेते हुए पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त के लिए हैं, अतः वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के विषय में निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इसका यह नाम कब पड़ा और यह कब से पूज्य माना जाने लगा। हां अनुमान कर सकते हैं।

आधुनिक सूर्यसिद्धान्त लाटकृत हो तो भी उसके सब श्लोक लाटकृत नहीं होंगे। मध्यमाधिकार के भगणादि मानों को छोड़कर बचे हुए श्लोकों में से अधिकतर या कुछ मूलग्रन्थ पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त के ही होंगे अथवा यह भी सम्भव है

कि वर्तमान सूर्यसिद्धान्त का यह स्वरूप लाटकृत न हो वल्कि पञ्चसिद्धान्तिका के थोड़े ही दिनों बाद किसी ने भगणादि मान लाट के तथा शेष श्लोक मूल सूर्यसिद्धान्त के लेकर इसे बनाया हो और उसके दो तीन वर्ष बाद ग्रन्थकर्त्ता का पता न लगने के कारण उसका विस्मरण हो जाने के बाद लोग उसे पूज्य मानने लगे हों।

ब्रह्मगुप्त कहते हैं कि रोमक और वसिष्ठ सिद्धान्तों में ग्रहों का स्पष्टीकरण आर्यभटीय से लिया गया है, परन्तु वर्तमान सूर्य, रोमकादि सिद्धान्तों के परिध्यंश जो कि ग्रहस्पष्टीकरण के एक मुख्य उपकरण हैं, आर्यभटीय से नहीं मिलते। मूल सूर्यसिद्धान्त से प्रायः मिलते हैं (आगे स्पष्टाधिकार के प्रथम प्रकरण में वे सब एकत्र लिखे हैं)। इससे अनुमान होता है कि लाटाचार्य ने अथवा सूर्यसिद्धान्त के कर्ता अन्य किसी व्यक्ति ने इस ग्रन्थ में केवल भगणादि मान अन्य ग्रन्थ से लिये हैं, पर शेष बातें मूल सूर्यसिद्धान्त की हैं अथवा यों कहिए कि शेष सभी बातें अक्षरशः मूल सूर्यसिद्धान्त की ही रखी हैं।

इसी प्रकार श्रीषेणकृत रोमक और विष्णुचन्द्रकृत वासिष्ठ के विषय में ब्रह्मगुप्त ने स्पष्ट कहा है कि उनके भगणादि मान लाट के हैं। मालूम होता है, शेष विषयों में से जितनी बातें प्रथम आर्यभट के सिद्धान्त में बतलायी हैं उन्हें छोड़कर अवशिष्ट सभी मूलतत्व सूर्यसिद्धान्त के समान रखते हुए किसी ने पीछे से आधुनिक वासिष्ठ और रोमक सिद्धान्त बनाये हैं। उत्पल ने बृहत्संहिता के १८ वें अध्याय की टीका में "तथा च आचार्यः विष्णुचन्द्रः" कहकर अग्रिम श्लोक लिखा है—

दिवसकरेणास्तमयः समागमः शीतरश्मिसहितानाम्।
कुसुतादीनां युद्धं निगद्यतेऽन्योन्ययुक्तानाम्॥

यह श्लोक आर्या छन्द का है, परन्तु आधुनिक दोनों प्रकार के वासिष्ठसिद्धान्त अनुष्टुप् छन्द के हैं। इससे भी यही अनुमान होता है कि विष्णुचन्द्रोक्त वासिष्ठसिद्धान्त के आधार पर अन्य किसी ने आधुनिक वसिष्ठसिद्धान्त बनाया है। यही स्थिति आधुनिक रोमकसिद्धान्त की भी होगी।

मय

पूने के आनन्दाश्रम में सूर्यसिद्धान्त की कुछ सटीक तथा कुछ केवल मूल मात्र की प्रतियां हैं। उनमें एक टीकारहित पुस्तक (नं० २९०९) के प्रथम (मध्यम) अधिकार का सातवां श्लोक सटीक पुस्तकों में नहीं है। पूर्वापर सन्दर्भ का ज्ञान होने के लिए यहां उसे आगे पीछे के श्लोक भाग सहित लिखते हैं।

न मे तेजः सहः कश्चिदाख्यातुं नास्ति मे क्षणः।
मदंशः पुरुषोऽयं ते निःशेषं कथयिष्यति ।।६।।
तस्मात् त्वं स्वां पुरीं गच्छ तत्र ज्ञानं ददामि ते।
रोमके नगरे ब्रह्मशापान्म्लेच्छावतारधृक् ।।७।।
इत्युक्त्वान्तर्दधे देवः........।

अर्थ—(हे मय!) मेरे तेज को कोई सहन नहीं कर सकता (और) मुझे बतलाने के लिये समय (भी) नहीं है। मेरा अंशभूत यह पुरुष तुझसे सब कुछ कहेगा ।।६।। इसलिए तू अपने नगर को जा। ब्रह्मशाप के कारण मैं म्लेच्छ का अवतार धारणकर वहां रोमक नगर में तुझे ज्ञान दूंगा ।।७।। इतना कह कर (सूर्य) देव अदृश्य हो गये।

यहां का सातवां श्लोक सटीक पुस्तकों के छठे और सातवें श्लोकों के मध्य में है। पूर्वापर सन्दर्भ का विचार करने से सातवां श्लोक बीच में बिल्कुल असंगत मालूम होता है। सूर्यसिद्धान्त के अंग्रेजी अनुवादकर्ता रे० बर्जेस के पास की टीकारहित दो पुस्तकों में यह श्लोक था, पर सटीक पुस्तकों में नहीं था। उपर्युक्त अनुवाद की टिप्पणी में विटने ने इस श्लोक के सम्बन्ध में अपना निम्नलिखित मत प्रदर्शित किया है।

"यद्यपि यह कथन ठीक है कि वर्तमान छठे और सातवें श्लोकों के बीच में यह श्लोक असंगत मालूम होता है तथापि यह बहुत-सी पुस्तकों में मिलता है और यह भी सम्भव नहीं है कि किसी ने जानबूझकर नवीन श्लोक बनाकर प्रक्षिप्त कर दिया हो, अतः आधुनिक सटीक पुस्तकों के आरम्भ के सात-आठ श्लोक जिनमें कि मय को सूर्य-सिद्धान्त की प्राप्ति का वर्णन है किसी ने नवीन बनाकर किसी समय प्रक्षिप्त कर दिये होंगे। उनके स्थान में उपर्युक्त श्लोक अथवा उसके साथ साथ उसी सरीखे कुछ और श्लोक होने चाहिए। इससे मालूम होता है कि सूर्यसिद्धान्त का यवनों से कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य होना चाहिए। किं बहुना, यह शास्त्र हिन्दुओं को यवनों से ही मिला होगा। सूर्यसिद्धान्त मयासुर को मिला, यह बात वर्तमान सूर्यसिद्धान्त में भी लिखी ही है। तो फिर सूर्योपदेश के लिए पात्र असुर ही मानने का कारण क्या है? इस बात से भी यवनों से उसका सम्बन्ध दिखाई देता है।"

टालमी

वेबर महोदय लिखते हैं कि 'ईजिप्ट' के राजा तालमयस (Ptolemaias) का नाम हिन्दुस्तान के खुदे हुए लेखों में तुरुमय पाया जाता है, अतः असुरमय तुरमय

का स्वरूपान्तर होना चाहिए और आलमाजेस्ट (Almajest) ग्रन्थ का कर्ता टालमी ही मय होना चाहिए।[1] परन्तु हम ऊपर बता चुके हैं कि टालमी के ग्रन्थ का मूल सूर्यसिद्धान्त से कोई सम्बन्ध नहीं है और ऊपर लिखे हुए आधुनिक सूर्यसिद्धान्त के भगणादि मानों का भी टालमी के मानों से किसी प्रकार साम्य नहीं है। अतः यह बिलकुल स्पष्ट है कि वर्तमान सूर्यसिद्धान्त से टालमी का कोई सम्बन्ध नहीं है।

उत्पल ने बृहत्संहिता की टीका में निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किये हैं। उन्होंने इन्हें सूर्यसिद्धान्तोक्त कहा है—

महतश्चाप्यधःस्थस्य नित्यं भासयते रविः।
अर्धं शशांकविम्बस्य न द्वितीयं कथञ्चन॥
तेजसां गोलकः सूर्यो ग्रहर्क्षाण्यम्बुगोलकाः।
प्रभावन्तो हि दृश्यन्ते सूर्यरश्मिविदीपिताः॥
विप्रकर्षं यथा याति ह्यधःस्थश्चन्द्रमा रवेः।
तथा तस्य च भूदृश्यमंशं भासयते रविः॥

अध्याय ४, चन्द्रचारः

भूछायां शशिकक्षागां खौभावा (?) न्तरस्थिते।
यदा विशत्यविक्षिप्तश्चन्द्रः स्यात्तद्ग्रहस्तदा॥
इन्दुना छादितं सूर्यमधोविक्षिप्तगामिना।
न पश्यन्ति यदा लोके तदा स्याद् भास्करग्रहः॥
तमोमयस्य तमसो रविरश्मिपलायिनः।
भूछाया चन्द्रबिम्बस्थोर्द्धे[2] परिकल्पितः॥

अध्याय ५, राहुचारः

ये श्लोक आधुनिक सूर्यसिद्धान्त में नहीं हैं। पता नहीं चलता ये मूल सूर्यसिद्धान्त के हैं या अन्य किसी ग्रन्थ के, यदि मूलसूर्यसिद्धान्त के होंगे तो कहना पड़ेगा कि भटोत्पल के समय (शके ८८८) आधुनिक सूर्यसिद्धान्त का पूज्यत्व नही था।

भटोत्पल ने बृहत्संहिता के गुरुचार की टीका में महाकार्तिकादि संवत्सरों के विचार में लिखा है कि:—

---

१. बर्जेसकृत सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद का तृतीय पृष्ठ देखिए ऊपर बेबर के लेख का केवल सारांश लिखा है।

२. एक हस्तलिखित पुस्तक में यें श्लोक जैसे थे, वैसे ही यहाँ लिखे हैं।

'केचित् कृत्तिकादियुक्ते गुरौ यच्चन्द्रयुक्तं नक्षत्रं चैत्रमासादितो भवति ततो महाकार्तिकादीनि संवत्सराणि प्रभवादीनि च गणयन्ति ।'

आधुनिक सूर्यसिद्धान्त में महाकार्तिकादि संवत्सरों का नाम रखने की रीति इस प्रकार है:—

वैशाखादिषु कृष्णे च योगः पञ्चदशे तिथौ ।
कार्तिकादीनि वर्षाणि गुरोरस्तोदयात् तथा ।।१७।।

मानाध्याय ।

इन दोनों रीतियों का बहुत कुछ साम्य है और महाकार्तिकादि संवत्सरों का नाम रखने की यह रीति सूर्यसिद्धान्त के अतिरिक्त अन्य किसी भी ग्रन्थ में नहीं मिलती। मूल सूर्यसिद्धान्त में थी या नहीं, इसका पता पञ्चसिद्धान्तिका द्वारा नहीं चलता और इसे जानने का दूसरा भी कोई मार्ग दिखाई नहीं देता। यदि भटोत्पल का लेख मूल सूर्यसिद्धान्तानुसार होगा तो इससे यह बात सिद्ध करने में अच्छी सहायता मिलेगी कि मूल सूर्यसिद्धान्त के श्लोक आधुनिक सूर्यसिद्धान्त में हैं।

लाट

अलबेरूणी (लगभग शके ९५२) सूर्यसिद्धान्त को लाटकृत बतलाते हैं, परन्तु इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है कि मूल सूर्यसिद्धान्त (पञ्चसिद्धान्तिकोक्त) लाटकृत नहीं है क्योंकि ऐसा होता तो वराहमिहिर ने लिखा होता कि यह लाटकृत है और पञ्चसिद्धान्तों में उसका समावेश न किया होता। ब्रह्मगुप्त के कथन से तो यह बिलकुल स्पष्ट है कि लाट का ग्रन्थ सूर्यसिद्धान्त से भिन्न है और उन्होंने लाट के ग्रन्थ में दो-तीन जगह दोष भी दिखाये हैं, पर सूर्यसिद्धान्त में कहीं दोषारोपण नहीं किया है। इससे सिद्ध होता है कि अलबेरूणी जिस सिद्धान्त को लाटकृत बतला रहे हैं वह मूलसूर्यसिद्धान्त नहीं, बल्कि आधुनिक है। अतः सिद्ध हुआ कि वर्तमान सूर्यसिद्धान्त का महत्व शके ९५२ के पहिले स्थापित हुआ था।

भास्वतीकरणकार ने आरम्भ ही में लिखा है:—

'अथ प्रवक्ष्ये मिहिरोपदेशात् तत्सूर्यसिद्धान्तसमं समासात् ।।३।।'

अधिकार १।

मिहिर के उपदेश द्वारा उनके सूर्यसिद्धान्त के समान संक्षिप्त (करण) बना रहा हूँ।

यहां 'तत्सूर्यसिद्धान्त' शब्द से मालूम होता है कि भास्वतीकार के समय वराह-मिहिर के संगृहीत सिद्धान्त से भिन्न एक और भी सूर्यसिद्धान्त रहा होगा।

सिद्धान्तशिरोमणि के स्वयं भास्कराचार्यकृत वासनाभाष्य में सूर्यसिद्धान्त के ये श्लोक हैं :—

अदृश्यरूपाः कालस्य मूर्तयो भगणाश्रिताः।
शीघ्रमन्दोच्चपाताख्या ग्रहाणां गतिहेतवः।।१।।
तद्वातरश्मिभिर्बद्धास्तैः सव्येतरपाणिभिः।
प्राक्पश्चादपकृष्यन्ते यथासन्नं स्वदिङ्मुखम्।।२।।

ये श्लोक वर्तमान सूर्यसिद्धान्त में है (स्पष्टाधिकार, श्लो० १-२)। गोलबन्धाधिकार में भास्कराचार्य सम्पातगति के विषय में लिखते हैं :—

विषुवत्क्रान्तिवलययोः सम्पातः क्रान्तिपातः स्यात्।
तद्भगणाः सौरोक्ता व्यस्ता अयुतत्रयं कल्पे।।१७।।

इसके भाष्य में उन्होंने लिखा है:—

'क्रान्तिपातस्य भगणाः कल्पेऽयुतत्रयं तावत् सूर्यसिद्धान्तोक्ताः'

वर्तमान सूर्यसिद्धान्त में बतलाये हुए भचक्रभ्रमण के उद्देश्य से ही यहां ऐसा कहा है। इसी प्रकार सूर्यग्रहणाधिकार के अन्त में लिखा है 'तस्मान्नेदं पूर्वैरर्काशाद्यैस्तथा कृतं कर्म'। इसमें अर्कांश शब्द मालूम होता है वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के उद्देश्य से कहा है।

इससे सिद्ध होता है कि अलबेरुणी, भास्वतीकार और भास्कराचार्य के पूर्व अर्थात् शक की दसवीं शताब्दी के आधे के पहिले आधुनिक सूर्यसिद्धान्त को मान्यत्व और पूज्यत्व प्राप्त हो चुका था। सम्प्रति ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है जिससे जाना जाय कि शके ५५० (ब्रह्मगुप्तसिद्धान्तकाल) और ९५० के मध्य में उसे पूज्यत्व क़ब प्राप्त हुआ?

वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के अनुयायी ग्रन्थ

तैलंगण के वाविलाल कोच्चन का शके १२२० का करण ग्रन्थ सभी अंशों में वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के अनुसार है। इसके पहिले के सूर्यसिद्धान्तानुयायी करणग्रन्थ मुझे देखने में नहीं आये। शके १३३९ के भटतुल्यकरण की अयनगति वर्तमान सूर्यसिद्धान्तानुसार है। शके १४४५ या उसके आसपास का 'ताजकसार' नाम का एक ग्रन्थ मैंने देखा है। उसमें ग्रहानयन के विषय में लिखा है —

'श्रीसूर्यतुल्यात् करणोत्तमाद्वा स्पष्टा ग्रहा राजमृगाङ्कतो वा।'

इससे सिद्ध होता है कि शके १४४५ के पहिले सूर्यतुल्य नाम का एक करणग्रन्थ था अर्थात् उसमें ग्रह सूर्यसिद्धान्त के लिये गये थे। वह सुर्यसिद्धान्त वर्तमान सूर्यसिद्धान्त

ही रहा होगा। शके १४१८ में बने हुए ग्रहकौतुककरण में ग्रन्थकार ने लिखा है कि इसके वर्षमानादि सूर्यसिद्धान्त के हैं। वे मान वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के हैं। गणेश दैवज्ञ ने ग्रहलाघव के मध्यमाधिकार में लिखा है:—

'सौरोऽर्कोऽपि विधूच्चमङ्ककलिकोनाब्जः।'

अर्थात् मैंने सूर्यसिद्धान्त से सूर्य, चन्द्रोच्च और ९ कला न्यून चन्द्रमा लिया है। ग्रहलाघव के ये मान वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के ही हैं। तिथिचिन्तामणि की सारणियां भी आधुनिक सूर्यसिद्धान्त के रव्यादिकों द्वारा ही बनायी गयी हैं (आगे ग्रहलाघव का विचार करते समय इसका विशेष विवेचन किया जायगा)। भास्वतीकरण की माधवकृत टीका शके १४४२ की अर्थात् जिस वर्ष ग्रहलाघव बना उसी वर्ष की है। उसमें लिखे हुए सूर्यचन्द्रादिकों की अथवा राहु को छोड़कर शेष ग्रहों की भगणसंख्या के श्लोक या उनमें बतलायी हुई भगणसंख्या आधुनिक सूर्यसिद्धान्त के श्लोकों और भगणमानों से पूर्णतया मिलती हैं।

मकरन्द नाम का एक पञ्चाङ्गसाधक ग्रन्थ है। उत्तर हिन्दुस्तान के बहुत से प्रदेशों में आजकल उसके अनुसार पञ्चांग बनाये जाते हैं। उसमें वर्षमान तथा सब ग्रहों के भगणादि मान आधुनिक सूर्यसिद्धात के हैं। काशी के छपे हुए मकरन्द में उसका रचनाकाल शके १४०० लिखा है, पर शक पद्यबद्ध नहीं है। पुस्तक में इसके सत्यत्व की प्रतीति दिलाने वाला अन्य कोई साधन न होने के कारण इसके विषय में थोड़ा सन्देह होता है, परन्तु विश्वनाथ इत्यादि गणकों ने मकरन्द का उल्लेख किया है, अतः उपर्युक्त काल विश्वसनीय हो सकता है। आर्यभटीय की परमादीश्वरकृत टीका में वर्तमान सूर्यसिद्धान्त में भिन्न-भिन्न अधिकारों के १२ श्लोक आये हैं।[1] उनमें मध्यमाधिकार के ४ श्लोक विशेष महत्व के हैं। उनमें सब ग्रहों के मन्दोच्च और पातों के भगण पठित हैं। इन परमादीश्वर का समय ज्ञात नहीं है। इन्होंने जहां जहां सूर्यसिद्धान्त के वचन उद्धृत किये हैं वहां-वहां पहिले 'तथा च मयः' लिखा है।

गोदा नदी के पास पार्थपुर (पाथरी) नामक ग्राम के निवासी ढुण्ढिराज के पुत्र गणेश दैवज्ञ का शके १४८० के आसपास का एक ताजिकभूषण नामक ग्रन्थ है। उसमें उन्होंने वर्षमान मूल सूर्यसिद्धान्त का लिया है। मूल सूर्यसिद्धान्त का वर्षमान (३६५।१५।३१।३०) आधुनिक सूर्यसिद्धान्तोक्त वर्षमान (३६५।१५।३१।३१।२४) की अपेक्षा

१. मध्यमाधिकार ४१ से ४४ तक। पात० २। भूगोलाध्याय ३५ से ४० तक। मानाधि० १।

गणित के लिए सरल होने के कारण मालूम होता है शक की १५वीं शताब्दी के अन्त तक प्रचलित रहा है।

'ज्योतिषदर्पण' नाम का एक शके १४७६ का मुहूर्त ग्रन्थ है। उसमें प्रसंगवशात् उदाहरण के लिए सृष्ट्यारम्भ से कलियुगारम्भ पर्यन्त का अहर्गण दिया है और कल्पारम्भकालीन गुरुवार की मध्यरात्रि के मध्यमग्रहादि भी बतलाये हैं। वे सब आधुनिक सूर्यसिद्धान्तानुसार हैं।

'रामविनोद' नाम का शके १५१२ का एक करणग्रन्थ है। उसका वर्षमान वर्तमान सूर्यसिद्धान्तानुसार है। सिद्धान्ततत्त्वविवेककार कमलाकर (शके १५८०) तो वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के अत्यन्त अभिमानी हैं। 'वार्षिकतन्त्र' नाम का एक ग्रन्थ वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के अनुसार शके १४०० और २६३४ के मध्य में बना है।

टीकाएँ

वर्तमान सूर्यसिद्धान्त पर रङ्गनाथकृत गूढार्थप्रकाशिका नाम की शके १५२५ की एक टीका है। काशी और कलकत्ता में इसके सहित सूर्यसिद्धान्त छपा है। दूसरी नृसिंहदैवज्ञ की सौरभाष्य नाम्नी शके १५४२ की टीका है। तीसरी गहनार्थप्रकाशिका नाम की विश्वनाथ दैवज्ञकृत उदाहरणात्मक टीका है। यह शके १५५० के आसपास बनी है। चौथी दादाभाई की शके १६४१ कीं किरणावली टीका है। इन चारों में रङ्गनाथ की टीका अधिक विस्तृत है। उसकी उपपत्ति भी अच्छी है। रङ्गनाथ की टीका में दो-तीन जगह लिखा है 'इति साम्प्रदायिकं व्याख्यानम्'।[१] दो-तीन स्थलों में 'केचित्तु' लिखकर दूसरों के मत दिये हैं।[२] एक जगह लिखा है 'नव्यास्तु इत्यर्थं कुर्वन्ति'।[३] इससे विदित होता है कि रङ्गनाथ के पहिले की कुछ टीकाएँ उनके समय उपलब्ध थीं। उन्होंने 'पर्वत' नाम के टीकाकार का उल्लेख चार स्थलों में किया है। एक जगह नार्मदोक्त बतलाते हुए एक श्लोकार्ध उद्धृत किया है।[४] अतः नार्मद का कोई ऐसा गणितग्रन्थ होना चाहिए जिसमें सूर्यसिद्धान्त का उल्लेख या आधार हो। मेरे मतानुसार नार्मद का समय लगभग शके १३०० होना चाहिए।[५] कोलब्रूक ने सूर्य-सिद्धान्त की एक भूधरकृत

१. काशी की छपी हुई पुस्तक का पृष्ठ १५६, १६३, २०१ देखिए।
२. काशी की मुद्रित पुस्तक का पृष्ठ ४८, ९५, १४७ देखिए।
३. काशी की मुद्रित पुस्तक का पृष्ठ २०१ देखिए।
४. काशी की मुद्रित पुस्तक का पृष्ठ २१२ देखिए।
५. सी प्रकरण में आगे नार्मद का वर्णन पढ़िए।

टीका का उल्लेख किया है। प्रो० विटने विलसन के कैटलाग के आधार पर लिखा है[1] कि मैकेंजीसंग्रह में सम्पूर्ण सूर्यसिद्धान्त या उसके कुछ भाग पर मल्लिकार्जुन, येल्लया, आर्यभट, मम्मट और तम्मया की टीकाएं थीं। सिद्धान्तकार दोनों आर्यभटों में से एक की भी किसी भी सूर्यसिद्धान्त पर टीका होना असम्भव प्रतीत होता है। अतः ये टीकाकार आर्यभट उन दोनों से भिन्न कोई तृतीय व्यक्ति होंगे।

वापूदेव शास्त्री ने सन् १८६० में सूर्यसिद्धान्त का इंगलिश अनुवाद किया था। वह बिब्लिओथिका इण्डिका में छपा है (न्यू सीरीज नम्बर १)। उसमें केवल मूल श्लोकों का अनुवाद और कहीं-कहीं टिप्पणियां हैं। सूर्यसिद्धान्त का रेवरेन्ड वर्जेस (Rev. Ebenzer Burjess) कृत अंग्रेजी अनुवाद अमेरिकन ओरिएन्टल सोसाएटी की पुस्तक ६ सन् १८६० में छपा है और वह अलग छपा है। पहिले वर्जेश ने यह अनुवाद किया है और उस पर कुछ टिप्पणियां लिखी हैं। बाद में प्रो० विटने ने विस्तृत टिप्पणियां की हैं। इस पुस्तक की टिप्पणियों से सम्वन्ध रखनेवाले तथा अन्य प्रकार के सब मतों का उत्तरदायित्व प्रो० विटने ने अपने ऊपर लिया है। हिन्दुओं ने ज्योतिष ग्रीक लोगों से लिया है, यह विटने का मत है[2] और वर्जेस के मतानुसार ग्रीकों ने ज्योतिष हिन्दुओं से लिया है। उन्होंने अपना मत ग्रन्थ के अन्त में अलग लिखा है।

प्रक्षेप

रङ्गनाथ ने ग्रहयुत्यधिकार के २३वें श्लोक के आगे टीका में एक श्लोकार्ध लिखा है। उसे वे प्रक्षिप्त बताते हैं। लिखते हैं कि यह श्लोकार्ध सब पुस्तकों में नहीं मिलता, इसलिए मैंने इसकी टीका नहीं की है। इसी प्रकार शृङ्गोन्नति अधिकार के १$\frac{1}{2}$ श्लोकों के बाद आगे के दो श्लोकों की टीका तो की है, परन्तु उनके विषय में लिखा है कि ये दोनों श्लोक असंगत हैं, इनमें बतलायी हुई रीति अशुद्ध है और लल्ल के 'धीवृद्धिदतन्त्र' पर विश्वास रखने वाले किसी सुबुद्धिमन्य ने इन्हें प्रक्षिप्त कर दिया है। त्रिप्रश्नाधिकार के पांचवें, छठे, सातवें और आठवें श्लोकों के विषय में लिखा है कि इन्हें कोई प्रक्षिप्त कहे यह नहीं हो सकता। इससे ज्ञात होता है कि उस समय इन चारों श्लोकों को प्रक्षिप्त कहनेवाला समुदाय या टीकाएं थीं। 'ज्योतिषदर्पण' नाम के मुहूर्तग्रन्थ में आधुनिक सूर्यसिद्धान्त के मध्यमाधिकार और मानाध्याय के लगभग १९ श्लोक हैं। वे आधुनिक

---

१. बर्जेसकृत सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद का पृष्ठ २७८ देखिए।

२. बिटने का मरणकाल ई० स० १८९४ है।

ग्रन्थ से मिलते हैं परन्तु उनमें आगे-पीछे के श्लोक रहते हुए बीच में ३ श्लोक ऐसे हैं जो कि आधुनिक रङ्गनाथीय टीका की पुस्तक में नहीं मिलते और उनमें कोई पूर्वापर विरोध नहीं है।

प्रसार

सूर्यसिद्धान्तोक्त भगणादि मानों को स्वीकार करनेवाले करणादि ग्रन्थ तथा उसकी जो टीकाएं ऊपर बतलायी गयीं उनके रचयिताओं में ग्रहलाघवकार और उनके पिता केशव कोंकण प्रान्त के हैं। भास्वतीटीकाकार माधव कान्यकुब्ज अर्थात् कन्नौज के निवासी हैं। मकरन्दकार काशीस्थ हैं। आर्यभटीय के टीकाकार परमादीश्वर मलाबार प्रान्त के मालूम होते हैं। ज्योतिषदर्पणकार कोंडपल्ली के हैं। यह ग्राम कहीं कर्नाटक प्रान्त में है। ग्रन्थ द्वारा इसका उत्तर अक्षांश १६।४३ आता है। वार्षिक तन्त्रकार विद्दण कार्नाटक हैं। वाविलाल तैलंगण के हैं। येल्लया इत्यादि टीकाकार तैलंगण मालूम होते हैं। रङ्गनाथ और विश्वनाथ दोनों की टीकाएँ काशी में बनी हैं। दादाभाई दक्षिण कोंकण के हैं। रामविनोद ग्रन्थ अकबर के समय दिल्ली में बना है। इससे मालूम होता है कि शक की १३वीं शताब्दी से १५वीं पर्यन्त सूर्यसिद्धान्त का प्रसार प्रायः भारतवर्ष के सभी प्रान्तों में था। यद्यपि यह समय बहुत प्राचीन नहीं है, तथापि सूर्यसिद्धान्त भास्कराचार्य के समय और उसके पहिले भी सर्वमान्य था। दूसरी बात यह कि जैसे-जैसे समय बीतता जाता है, नवीन करणग्रन्थ बनते जाते हैं और प्राचीन करण गणित में सर्वदा उपयुक्त न होने के कारण लुप्त हो जाया करते हैं। इसलिए शके १२२० के पूर्व भी आधुनिक सूर्यसिद्धान्तानुसार बने हुए करणग्रन्थ रहे होंगे, पर उनका लोप हो गया होगा।

शब्दयोजना

ज्योतिषग्रन्थों में तीन के अर्थ में राम, नव के अर्थ में नन्द और चौबीस के अर्थ में जिन या सिद्ध शब्द अनेकों स्थानों में मिलते हैं, परन्तु सूर्यसिद्धान्त के विषय में यह एक बड़ी आश्चर्यजनक बात है कि उसका रचनाकाल कृतयुग का अन्त बतलाया है, तदनुसार कृतयुग के बाद राम, नन्द और जिनके वाचक शब्द संख्या का बोध कराने के लिए उसमें कहीं भी नहीं आये हैं और ग्रहों के जो नाम यावनी भाषा के माने जाते हैं उनमें से उसमें एक भी नहीं आया है, परन्तु लिप्ता या लिप्तिका (स्पष्टाधिकार ४५, ६४, ६५, ६६) होरा (भूगोलाध्याय १९) और केन्द्र (स्पष्टाधिकार २९, ४५) शब्द जो कि ग्रीक भाषा के समझे जाते हैं उसमें हैं। पञ्चसिद्धान्तिकोक्त मूल सूर्यसिद्धान्त और अन्य चार सिद्धान्तों में ये शब्द थे या नहीं, यह जानने का कोई साधन नहीं है क्योंकि वराहमिहिर ने उन सिद्धान्तों का मूलस्वरूप नहीं लिखा है।

वीज

मकरन्द में सूर्यसिद्धान्तोक्त ग्रहादिकों में निम्नलिखित वींजसंस्कार दिया गया है।

ग्रह इत्यादि	महायुग में भगणों में वीजसंस्कार	महायुग में वीजसंस्कृत-भगण	ग्रह इत्यादि	महायुग में भगणों में वीजसंस्कार	महायुग में वीज संस्कृत-भगण
सूर्य	० भगण	४३२००००	वुध	−१६ भगण	१७९३७०४४
चन्द्र	० ,,	५७७५३३३६	गुरु	− ८ ,,	६३४२१२
चन्द्रोच्च	−४ ,,	४८८१९९	शुक्र	−१२ ,,	७०२२३६४
चन्द्रपात	+४ ,,	२३२२४२	शनि	+१२ ,,	१४६५८०
मंगल	० ,,	२२९६८३२			

सूर्य के सम्बन्ध से अन्य ग्रहों के स्थान लाकर उनकी तुलना करने की बेंटली की रीति द्वारा प्रो० विटनी ने इस बीज का समय सन् १५४१ (शके १४६३) निश्चित किया है परन्तु यह स्पष्ट है कि इसका समय शके १४०० से पूर्व है। रङ्गनाथ, नृसिंहदैवज्ञ और विश्वनाथ ने अपनी टीकाओं में इसकी चर्चा नहीं की है, पर उन्हें यह मालूम अवश्य रहा होगा, क्योंकि उनका समय मकरन्द सर्वत्र प्रसिद्ध था। मूलग्रन्थ में न होने के कारण उन्होंने नहीं लिखा होगा। रामविनोद (शके १५१२) करण में यह संस्कार दिया हुआ है। उसमें भगण संख्याएँ उपर्युक्त ही हैं, परन्तु चन्द्रोच्च और बुध के संस्कार धनात्मक हैं। मेरी देखी हुई पुस्तक (डे० का० सं० नं० २०४ सन् १८८३।४) के लेखक का यह कदाचित् प्रमाद हो सकता है। शेष बातें समान हैं। वार्षिकतन्त्र नामक ग्रन्थ में भी प्रायः इसके समान ही बीजसंस्कार है। वह आगे उस ग्रन्थ के वर्णन में लिखा जायगा।

रङ्गनाथ ने लिखा है कि कुछ पुस्तकों के मानाध्याय (अन्तिम अध्याय) में आधुनिक ग्रन्थ का २२वां श्लोक नहीं है। उसके आगे के श्लोक हैं। मानाध्याय की समाप्ति के बाद बीजोपनयन नाम का अध्याय है। उसमें २१ श्लोकों के बाद उपर्युक्त मानाध्याय का २२वां श्लोक है। इसके बाद मानाध्याय के ४ श्लोक लिखकर ग्रन्थसमाप्ति की गयी है। रङ्गनाथ ने २१ श्लोकों के बीजोपनयनाध्याय को प्रक्षिप्त कहा है और उसकी टीका नहीं की है। केवल मूल श्लोक लिखे हैं। वे श्लोक विश्वनाथी टीका में भी हैं। उनमें ग्रहों और मन्दशीघ्रपरिध्यंशों के लिए बीजसंस्कार बताया है।[2] बीज लाने की रीति से सिद्ध होता है कि वह कलियुगारम्भ में शून्य था। उसके बाद ९०००० वर्षों तक क्रमशः बढ़ता जाता है और फिर उतने ही वर्ष पर्यन्त घटता रहता है अर्थात् आरम्भ से १८०००० वर्षों बाद फिर शून्य हो जाता है। एक वर्ष में मध्यमग्रहों में निम्नलिखित विकलात्मक बीजसंस्कार आता है।

सूर्य	+	$\frac{१}{७५०}$	गुरु	−	$\frac{३०}{७५०}$
चन्द्र	−	$\frac{३}{७५०}$	शुक्रशीघ्र	−	$\frac{६०}{७५०}$
मंगल	+	$\frac{२४}{७५०}$	शनि	+	$\frac{७}{७५०}$
बुधशीघ्र	−	$\frac{२२}{७५०}$			

इसमें रवि का बीज $\frac{१}{७५०}$ विकला धन होने के कारण वर्षमान लगभग ५ प्रतिविपल कम हो जायगा अर्थात् असंस्कृत वर्षमान ३६५।१५।३१।३१।२४ बीज से संस्कृत

१. वर्जेसकृत सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद का पृष्ठ २० देखिए।

२. इन श्लोकों में संख्या बतलाने के लिए 'राम' और 'जिन' शब्द आये हैं

होने पर ३६५।१५।३१।३१।१६ हो जायगा। यह वीज मुझे किसी भी करणग्रन्थ में नहीं मिला।

प्रमेय

हमारे ज्योतिषसिद्धान्तग्रन्थों में बतलाया हुआ ज्ञान मुख्य तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम में भुवनसंस्था और आकाशस्थ ज्योतियों की गति के कारण इत्यादि होंगे। द्वितीय में किसी विवक्षितकाल में ग्रहों की मध्यमगति और किसी इष्ट समय उनकी मध्यमस्थिति तथा तृतीयभाग में उनकी स्पष्टगति और स्पष्टस्थिति अर्थात् मध्यममान से जो स्थिति आती है उसमें कुछ अन्तर पड़ जाने के कारण आकाश में उससे भिन्न दिखाई देने वाली प्रत्यक्ष स्थिति होगी। अन्तर पड़ने के कारण और किसी इष्ट समय उस अन्तर का प्रमाण लाने के उपकरण और रीतियाँ तृतीय भाग में ही आवेंगी। इस प्रकार तीन भागों में सब प्रमेय आ जायेंगे। इंगलिश ज्योतिषशास्त्र की जिस शाखा को Physical Astronomy कहते हैं उसके बहुत से विषयों की गणना हम प्रथम विभाग अर्थात् भुवनकोश में करते हैं। इस शाखा का ज्ञान जैसे-जैसे बढ़ता जाता है वैसे-वैसे उपर्युक्त तीन भेदों में से दूसरे और तीसरे प्रकार के उसमें भी विशेषतः तीसरे प्रकार के ज्ञानों की वृद्धि होती जाती है, परन्तु यूरोपियन ज्योतिषशास्त्र के इतिहास में जैसे कोपर्निकस के समय से अनेकों महत्वशाली आविष्कार होते गये वैसे हमारे देश में कुछ भी नहीं हुआ। इसलिए सृष्टि संस्थातत्व का इतिहास जैसे यूरोपियन ज्योतिष में एक महत्व का विषय समझा जाता है वैसे भारतीय ज्योतिष में नहीं। यहां के सब ग्रन्थों के मत प्रायः समान हैं और उनमें कोई संशोधन नहीं हुआ है, अतः उपर्युक्त प्रथम प्रकार के हमारे ग्रन्थों के प्रमेयों को एक ही जगह लिखना ठीक होगा। उनमें से कुछ बातें उपोद्घात में लिखी जा चुकी हैं, कुछ आगे लिखी जायगी। दूसरे भेद के विषय प्रत्येक सिद्धान्त में भिन्न-भिन्न हैं। उनका विवेचन वे जहां के हैं उसी प्रकरण में किया गया है। तीसरे भेद की कुछ बातें सृष्टिसंस्था के विवेचन में और शेष स्पष्टाधिकार में लिखी जायेंगी। वे भी सब सिद्धान्तों में प्रायः सरीखी ही हैं, अतः उन सबका स्पष्टाधिकार में एकत्र विचार करना ठीक होगा। जहां सिद्धान्तों में कोई मतभेद है वहां तुलनात्मक दृष्टि से विचार करना अच्छा होगा। इस प्रकार सब सिद्धान्तों के प्रमेयों का विवेचन हो जायगा।

पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सिद्धान्त और इस प्रकरण के पांच सिद्धान्तों के भगणादि मान ऊपर लिखे हैं। पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सिद्धान्तों द्वारा लायी हुई मध्यम ग्रहों की स्थिति की यरोपियनग्रन्थागत ग्रहस्थिति से तुलना भी पहिले कर चुके हैं।

सूर्यसिद्धान्तादि वर्तमान पांच सिद्धान्तों द्वारा लाये हुए मध्यमग्रहों की यूरोपियन ग्रन्थों से लाये हुए ग्रहों से तुलना आगे आर्यभट के वर्णन में करेंगे।

सोमसिद्धान्त

चन्द्रमा ने शौनकऋषि को जो सिद्धान्त सिखलाया उसे सोमसिद्धान्त कहते हैं। इस सिद्धान्त के अहर्गणानयन में पहिले सृष्ट्यारम्भ से वर्तमान कलियुगारम्भ पर्यन्त वर्षसंख्या लायी गयी है। उसमें वर्तमान कलियुग के आरम्भ से इष्टवर्ष पर्यन्त की वर्ष संख्या मिलानी पड़ती है। इससे मालूम होता है, यह सिद्धान्त कलियुग में बना है। इसका वास्तव समय ऊपर निश्चित किये हुए सूर्यसिद्धान्तकाल के तुल्य या उससे कुछ अर्वाचीन है। इसमें १० अध्याय और ३३५ अनुष्टुप् श्लोक हैं।

उपर्युक्त 'ज्योतिषदर्पण' नामक ग्रन्थ में सोमसिद्धान्त का एक श्लोक मिलता है और एक श्लोक सूर्यसिद्धान्त की रङ्गनाथकृत टीका में भी है। सिद्धान्ततत्वविवेककार कमलाकर ने निम्नलिखित श्लोक में सोमसिद्धान्त का उल्लेख किया है।

ब्रह्मा प्राह च नारदाय हिमगुर्यच्छौनकायामलम्।
माण्डव्याय वसिष्ठसंज्ञकमुनिः सूर्यो भयायाह यत्॥६५॥

भगणमानाध्याय।

इसके मध्यमाधिकार में 'गार्ग्यश्लोकौ' कहकर अग्रिम श्लोक लिखे हैं—

अथ माहेश्वरायुष्ये......ब्रह्मणोऽधुना।
सप्तमस्य मनोर्याता द्वापरान्ते गजाश्विनः॥२८॥
खचतुष्केभनागार्थशररन्ध्रनिशाकराः १६५५८८०००० ।
सृष्टेरतीताः सूर्याब्दा वर्तमानात्कलेरथ॥

ये ही श्लोक रोमशसिद्धान्त में भी 'गर्गः' कहकर लिखे हैं। उसमें प्रथम श्लोक का पूर्वार्ध 'परार्धप्रथमाहेऽस्मिन्नायुषोत्रब्रह्मणोधुना' इस प्रकार है।

इस सिद्धान्त में 'नन्द' शब्द एक जगह आया है। पहिले बता चुके हैं कि यह वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के बिलकुल समान है।

वसिष्ठसिद्धान्त

सम्प्रति दो वसिष्ठसिद्धान्त उपलब्ध हैं। मूलतत्वों में किसी प्रकार का भेद न होते हुए भी दोनों के स्वरूप भिन्न हैं। उनमें से एक काशी में छपा है। उसमें ५ अध्याय और सब मिलकर अनुष्टुप् छन्द के ४९ श्लोक हैं। उसके आदि और अन्त में लिखा है

कि वसिष्ठ ने माण्डव्य ऋषि से यह सिद्धान्त कहा था। यह ग्रन्थ अत्यन्त संक्षिप्त है। अन्य सिद्धान्तग्रन्थों में भगणादि मानों के रहते हुए भी ग्रहों के कक्षामान अलग लिखे रहते हैं, पर इसमें केवल कक्षामान ही लिखे हैं। उनके द्वारा युगीय ग्रहभगणसंख्या लानी पड़ती है और वह सूर्यसिद्धातोक्त भगणसंख्या से मिलती है। कुछ विषयों का अभाव होने के कारण यह ग्रन्थ अपूर्ण भी है। इसमें युगीय सावनदिवससंख्या[1] नहीं बतायी है। अहर्गण का आरम्भकाल भी नहीं बताया है। उत्क्रमज्याओं का उपयोग तो बतलाया है, पर उनके मान नहीं लिखे हैं।[2] मन्दोच्च और पातों के विषय में केवल इतना ही लिखा है कि--

मन्दोच्चपातभगणानुपपत्यानयेद्युगे।
यत्र मन्दफलं शून्यं मन्दोच्चस्थानमुच्यते ।।३१।।
याम्यकेन्द्रफलं शून्यं पातस्तत्र विनिर्दिशेत् ।।--मध्यमाधिकारः।

अर्थात् गणित करनेवाले को उच्च और पात वेध द्वारा लाने चाहिए। इसका अभिप्राय तो इस कथन सरीखा ही होता है कि उसे नवीन सिद्धान्तग्रन्थ बनाना चाहिए। कर्ण लाने की रीति बतलायी है, पर वह अपूर्ण है। इसमें मध्यमाधिकार, स्पष्टाधिकार, छायाधिकार (त्रिप्रश्न) प्रकीर्ण और भूगोल ये केवल पांच अध्याय हैं। प्रकीर्णाध्याय में ग्रहों का दिग्दर्शनमात्र कराया है। छायाधिकार भी संक्षिप्त ही है। स्पष्टाधिकार में आधुनिक सूर्यसिद्धान्त का एक श्लोक है। उसमें अहर्गणारम्भ लङ्का की आधीरात से बताया है। इस बात से भी इसका सूर्यसिद्धान्त से साम्य सिद्ध होता है। इसमें राम, नन्द और सिद्ध शब्द आये हैं।

भिन्न-भिन्न वसिष्ठसिद्धान्त

रङ्गनाथ ने इसका एक श्लोकार्ध उद्धृत किया है और उसे लघुवसिष्ठसिद्धान्त का बतलाया है। इसी कारण ग्रहण के सम्बन्ध में एक श्लोक वृद्धवसिष्ठसिद्धान्त के नाम से लिखा है। पता नहीं चलता, रङ्गनाथ के समय वसिष्ठसिद्धान्त से भिन्न कोई वृद्धवसिष्ठसिद्धान्त भी था या नहीं। उन्होंने ग्रहण विषयक जो श्लोक उद्धृत किया है, वह अनुष्टुप् नहीं बल्कि उपजाति छन्द का है। कमलाकर ने जिस वसिष्ठसिद्धान्त का उल्लेख किया है वह लघुवसिष्ठसिद्धान्त ही ज्ञात होता है।

---

१. डे० का० सं० की प्रति में नक्षत्रभ्रमसंख्या लिखी है। उसके द्वारा लाये हुए सावन दिन भिन्न आते हैं।

२. क्रमज्याओं के मान लिखे हैं। उनके द्वारा उत्क्रमज्याएं लायी जा सकती हैं।

दूसरे वसिष्ठसिद्धान्त में जो कि डेक्कन कॉलेज के संग्रह में है केवल सृष्टिसंस्था और ग्रहों की कक्षाएं लिखी हैं अर्थात् उसमें केवल मध्यमाधिकार ही है। सिद्धान्तग्रन्थों के अन्य अधिकार उसमें बिलकुल नहीं हैं। श्लोक सभी अनुष्टुप् छन्द के हैं। अन्त में लिखा है 'वृद्धवसिष्ठप्रणीतगणितस्कन्धे विश्वप्रकाशे'। इसके आगे लिखा है 'कक्षाध्यायश्चतुर्थः'। पता नहीं चलता अन्य तीन अध्याय कहां समाप्त हुए हैं। इससे यह ग्रन्थ अपूर्ण सिद्ध होता है। आरम्भ में लिखा है कि वसिष्ठ ने यह सिद्धान्त वामदेव से कहा'। माण्डव्य का नाम नहीं है।

रोमशसिद्धान्त

विष्णु ने वसिष्ठ और रोमश से इस सिद्धान्त का वर्णन किया था। पहिले इस अर्थ के सूचक श्लोक लिखे जा चुके हैं। इसमें ११ अध्याय और सब मिलकर अनुष्टुप् छन्द के ३७४ श्लोक हैं। भगणमानादि विषयों में इसका सूर्यसिद्धान्त से पूर्ण साम्य है। इस सिद्धान्त के श्लोकों का उल्लेख हमें अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं मिला। इसमें 'नन्द' और 'भिद्ध' शब्द आये हैं। मंगल के लिए 'आर' शब्द केवल एक बार आया है। नदियों के नामों में 'कृष्णवेण्या' नाम आये हैं। अतः इसका रचयिता कदाचित् दाक्षिणात्य हो सकता है।

शाकल्योक्त ब्रह्मसिद्धान्त

इसमें ६ अध्याय और ७६४ श्लोक हैं। ब्रह्मा ने नारद से इसका वर्णन किया था। इसके मूलश्लोकों में शाकल्य का नाम कहीं नहीं है, पर प्रत्येक अध्याय के अन्त में लिखा है 'शाकल्यसंहितायां द्वितीयप्रश्ने ब्रह्मसिद्धान्ते'। यह बात हमारे सुनने में नहीं आयी है कि शाकल्यसंहिता के अन्य प्रश्न भी सम्प्रति उपलब्ध हैं। रङ्गनाथ की टीका में इस ग्रन्थ के अनेकों वाक्य भिन्न-भिन्न प्रसंगों में आये हैं। वाक्य लिखते समय उन्होंने कहीं 'शाकल्योक्ते' और कहीं-कहीं 'ब्रह्मसिद्धान्ते' लिखा है। सिद्धान्ततत्त्वविवेक में भी 'ब्रह्मा प्राह च नारदाय हिमगु....इत्यादि' श्लोक में इस सिद्धान्त का उल्लेख है। उसमें इसके कुछ अन्य श्लोक भी आये हैं।

इसके भगणादि मान सर्वथा सूर्यसिद्धान्त सरीखे हैं और वे पहिले ही लिख दिये गये हैं। अन्य सिद्धान्तों की भाँति इसमें मध्यम स्पष्ट और त्रिप्रश्न प्रभृति अधिकार पृथक्-पृथक् नहीं हैं। कई अधिकारों के विषय एक ही एक अध्यायों में हैं और ६ अध्यायों में सिद्धान्त के प्रायः सभी विषय आ गये हैं। इतना ही नहीं, धर्मशास्त्रसम्बन्धी भी कुछ बातें जो कि अन्य सिद्धान्तग्रन्थों में नहीं पायी जातीं, इसमें हैं। तृतीयाध्याय में सूर्य और चन्द्रमा के क्रान्तिसाम्य (महापात) का विचार किया है। वही तत्कालीन

स्नानदानादि का माहात्म्य बतलाते हुए प्रसंगवशात् धर्मशास्त्रसम्बन्धी विषयों का आरम्भ हुआ है जो कि ३४वें श्लोक से अध्यायसमाप्तिपर्यन्त है अर्थात् १३८ श्लोकों में केवल इसी विषय का विवेचन किया है। उसमें संक्रान्तिपुण्यकाल, तिथिगण्डान्त तथा प्रदोषव्यापिनी, मध्याह्न-व्यापिनी और पूर्वविद्धा तिथियां कहां-कहां लेनी चाहिए इत्यादि विषयों का विचार किया है और एकादशी, श्राद्ध, याग, उपाकर्मादि कर्म विशेष तथा गणेशचतुर्थी प्रभृति तिथिविशेष का कालनिर्णय है।

प्रथमाध्याय में ज्योतिषशास्त्र के निम्नलिखित उत्पादक बतलाये हैं--

'एतच्च मत्तः शीतांशोः पुलस्त्याच्च विवस्वतः।
रोमकाच्च वसिष्ठाच्च गर्गादपि वृहस्पतेः ॥६॥
अष्टधा निर्गतं शास्त्रं..............

यहां 'मत्तः' शब्द का प्रयोग इस ब्रह्मसिद्धान्त के उद्देश्य से ही किया गया है। गर्ग और बृहस्पति के केवल संहिताग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। शेष सोम, पुलस्त्य, सूर्य, रोमक और वसिष्ठ के सिद्धान्तग्रन्थ प्रसिद्ध ही हैं। पौलिशसिद्धान्त ही पुलस्त्य का सिद्धान्त है। इस ग्रन्थ में 'पौलिश' नाम से भी दो-तीन जगह उसका उल्लेख है। प्रथमाध्याय में एक स्थान में लिखा है--

तस्मात्पञ्चसु सिद्धान्तेषूक्तमार्गोवधार्यताम् ॥६०॥

सूर्य, सोम, रोमश और पौलिश नामों का उल्लेख और भी दो-तीन जगह मिलता है, अतः यह स्पष्ट है कि यह सिद्धान्त सूर्य, सोमादि सिद्धान्तों के बाद बना है। इसका ठीक समय बताना तो कठिन है, परन्तु निम्नलिखित आधार पर अनुमान होता है कि यह शके ७४३ के पश्चात् बना होगा।

इसके प्रथमाध्याय में लिखा है--

'प्रमाथि प्रथमं वर्षं सौरं कल्पस्य सर्वदा ॥३७॥'

बार्हस्पत्य मान से प्रभवादि ६० संवत्सरों की गणना बहुत से ज्योतिष ग्रन्थों में मिलती है, परन्तु सौरमान की पद्धति का उल्लेख केवल इसमें रोमश-सिद्धान्त में तथा भटोत्पल की टीका में ही है। उसमें भी सौरमान से कल्प का प्रथम वर्ष प्रमाथी केवल इसी सिद्धान्त में माना है। इस प्रकार सर्वदा शक में १२ जोड़ने से संवत्सर आता है। आजकल नर्मदा के दक्षिण देशों में संवत्सर बार्हस्पत्यमान से नहीं मानते। वहाँ सौरमान का ही प्रचार है। सौरमान से शक में १२ जोड़ने पर संवत्सर आता है, परन्तु बार्हस्पत्यमान से लगभग ८५ वर्षों मे एक संवत्सर का लोप होता है, अतः शक में हमेशा नियमित अङ्क जोड़ने से बार्हस्पत्यसंवत्सर नहीं आवेगा। शके ७४३ के पहिले १२ से

कम जोड़ना पड़ता था। शके ७४३ से ८२७ पर्यन्त १२ जोड़ते थे। प्रत्येक ८५ वर्ष के पर्यय में एक-एक अंक बढ़ाते जाना चाहिए अर्थात् १३, १४ इत्यादि जोड़ते जाना चाहिए। कुछ ताम्रपट्टादि प्राचीन लेखों द्वारा पता चलता है कि शके ७४३ के पूर्व उत्तर भारत की भाँति दक्षिण में वार्हस्पत्यसंवत्सर मानने की पद्धति थी, परन्तु शके ७४३ से ८२७ पर्यन्त १२ ही जोड़ते थे। हम समझते हैं तभी से दक्षिण में सौरसंवत्सर का प्रचार हुआ होगा। आगे संवत्सरविचार में इस विषय का सविस्तार विवेचन किया जायगा।

चूंकि इस सिद्धान्त में कल्प का प्रथमवर्ष प्रमाथी माना गया है अर्थात् शक में १२ जोड़कर संवत्सर लाया गया है, अतः इसका रचनाकाल शके ७४३ के पश्चात् होगा। इससे प्राचीन नहीं हो सकता। यह बात बिलकुल निःसन्देह है।

इस ग्रन्थ में एक विशेष बात सप्तर्षियों का शरभोग है जो कि अन्य सिद्धान्तों में नहीं पाया जाता।

प्रथम आर्यभट

नाम

इन्होंने 'आर्यभटीय' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की है। उपलब्ध ज्योतिषग्रन्थों में यह सबसे प्राचीन है। वे स्वयं तो अपने ग्रन्थ को आर्यभटीय ही कहते हैं, पर अन्य बहुत से ज्योतिषियों ने उसे 'आर्यसिद्धान्त' कहा है और ऐसा कहना ठीक भी है। एक और आर्यभट इनके बाद हुए हैं। उनके भी ग्रन्थ का नाम आर्यसिद्धान्त ही है, इसलिए मैंने समझने में सुभीता होने के लिए इन्हें प्रथम आर्यभट और इनके सिद्धान्त को प्रथम आर्यसिद्धान्त कहा है।[1]

इस सिद्धान्त के मुख्य दो भाग हैं। प्रथम में गीति छन्द के १० पद्य हैं। अन्य सिद्धान्तों के मध्यमाधिकार में बतलायी जानेवाली प्रायः सभी बातें अर्थात् ग्रहभगण-संख्या इत्यादि मान इन १० पद्यों में पठित हैं। इस भाग को दशगीतिक कहते हैं।

द्वितीय भाग में तीन प्रकरण हैं। उसमें अन्य सिद्धान्तों के अन्यान्य विषय हैं। उसमें आर्या छन्द के १०८ पद्य हैं, इसलिए उसे आर्याष्टाशत कहते हैं। कोई-कोई इन दो भागों को दो ग्रन्थ मानते हैं। इसके टीकाकार सूर्ययज्वन् ने दोनों को दो प्रबन्ध कहा है। दोनों के आरम्भ में दो भिन्न-भिन्न मंगलाचरण हैं। कदाचित् इसी कारण किसी ने

---

१. आगे यदि कहीं प्रथम या द्वितीय विशेषण बिना आर्यभट या आर्यसिद्धान्त का नाम आये तो उसे प्रथम ही समझना चाहिए।

इन्हें दो भिन्न-भिन्न ग्रन्थ मान लिया हो, परन्तु ये अन्योन्याश्रित हैं और एक के बिना दूसरा बिलकुल निरुपयोगी कहा जा सकता है। अतः इन्हें एक ही ग्रन्थ मानना ठीक होगा। आर्यभट का उद्देश्य भी ऐसा ही दिखाई देता है। उन्होंने प्रथम भाग का कोई भिन्न नाम नहीं रखा है और न तो उसके अन्त में उपसंहार किया है। उपसंहार केवल ग्रन्थ की समाप्ति में है और वहां आर्यभटीय नाम लिखा है। ग्रन्थ में सब मिलकर चार प्रकरण हैं। ग्रन्थकार स्वयं उन चारों को पाद नहीं कहते, पर उन्हें पाद कहने की रूढ़ि है। दशगीतिक को यदि भिन्न ग्रन्थ मानते हैं तो एक पाद उसमें चला जाता है और शेष तीन बच जाते हैं। उन्हें द्वितीय भाग का पाद (चतुर्थांश) कहना ठीक नहीं है। सारांश यह कि दशगीतिक और आर्याष्टाशत दोनों को एक ही ग्रन्थ मानना उचित है। दशगीतिक में १० के अतिरिक्त दो पद्य और हैं। एक में मंगलाचरण और दूसरे में संख्या-परिभाषा है। इस प्रकार ग्रन्थ में सब १२० पद्य हैं। आर्याष्टाशत शब्द भ्रामक है। इसके विषय में कुछ यूरोपियन विद्वानों की यह धारणा हो गयी थी कि इसमें ८०० आर्याएं हैं। सन् १८७४ में हालैण्ड के लेडेन नामक स्थान में डा० केर्न ने परमादीश्वरकृत भटदीपिका टीकासहित यह आर्यसिद्धान्त छपवाया है। इसके पहिले यूरोपियन विद्वानों को इसकी जानकारी कम थी।

तीन पक्ष

आजकल हमारे देश में ग्रहगणितग्रन्थों के सौर, आर्य और ब्रह्म ये मुख्य तीन पक्ष माने जाते हैं। प्रथम पक्ष का मूलग्रन्थ सूर्यसिद्धान्त, द्वितीय का आर्यसिद्धान्त और तृतीय का ब्रह्मसिद्धान्त है। भिन्न-भिन्न तीन पक्ष होने का कारण यह है कि इनके वर्ष-मान एक दूसरे से कुछ भिन्न हैं और किसी कालसम्बन्धी--उदाहरणार्थ कल्प या महा-युगसम्बन्धी ग्रहादिकों की गति प्रत्येक में भिन्न है। तीनों पक्षों की और उनके अनु-यायी सब ग्रन्थों की शेष सभी बातें समान कही जा सकती हैं। पक्षविशेष का अभि-मान कब उत्पन्न हुआ, यह आगे यथाप्रसंग बतलाया जायगा।

आर्यसिद्धान्त और आर्यपक्ष शब्द तो हमारे देश में प्रसिद्ध हैं, पर आज प्रत्यक्ष आर्यसिद्धान्त ग्रन्थ विशेषतः किसी को ज्ञात नहीं है। हम समझते हैं महाराष्ट्र में किसी भी प्राचीन ज्योतिषी के पास इसकी प्रति नहीं होगी। सम्प्रति आर्यपक्ष प्रचलित है और उसके अभिमानी भी बहुत हैं, पर मूल आर्यसिद्धान्त द्वारा उसका स्वरूप जानने वाले बहुत थोड़े हैं।

अङ्कसंज्ञा

अन्य ज्योतिष ग्रन्थों में एक के लिए भू, तीन के लिए राम और उसी प्रकार अन्य

भी बहुत से नामों का प्रयोग संख्याओं के लिए किया गया है, पर आर्यभट ने ऐसा न करके संख्याएँ अक्षरों द्वारा बतलायी हैं। उसका प्रकार यह है :—

अ =	१	ए =	१००००००००००
इ =	१००	ऐ =	१००००००००००००
उ =	१००००	ओ =	१००००००००००००००
ऋ =	१००००००	औ =	१००००००००००००००००
लृ =	१००००००००		

क = १	च = ६	ट = ११	त = १६	प = २१
ख = २	छ = ७	ठ = १२	थ = १७	फ = २२
ग = ३	ज = ८	ड = १३	द = १८	ब = २३
घ = ४	झ = ९	ढ = १४	ध = १९	भ = २४
ङ = ५	ञ = १०	ण = १५	न = २०	म = २५

य = ३०	श = ७०
र = ४०	ष = ८०
ल = ५०	स = ९०
व = ६०	ह = १००

वराहमिहिर ने पञ्चसिद्धान्तिका में संख्याएँ दिखलाने के लिए अन्य सिद्धान्तों की परिभाषा का ही ग्रहण किया है। इससे ज्ञात होता है कि आर्यभट के पहिले भी वह प्रचलित थी और होनी ही चाहिए। आर्यभट ने संख्याएँ थोड़े में बतलाने के लिए इस पद्धति का उपयोग किया होगा और इसकी कल्पना भी उन्होंने ही की होगी क्योंकि यह अन्य किसी भी ग्रन्थ में नहीं मिलती। इससे बहुत थोड़े में काम चल जाता है। सब ग्रहों के भगण बतलाने में अन्य सिद्धान्तों में प्राय: ९ या १० श्लोक लगते हैं, पर इसमें वे दो ही आर्याओं में बतला दिये गये हैं। इसी प्रकार अन्य सिद्धान्तों के मध्यमाधिकार में प्राय: ५० से ७० पर्यन्त श्लोक रहते हैं। उनमें के प्राय: सभी विषय यहाँ १० गीति-पद्यों में ही पठित हैं। अत: इस पद्धति द्वारा लिखे हुए दशगीतिक सूत्र कण्ठस्थ करने के लिए बड़े सुभीते के हैं, परन्तु इसमें हित की अपेक्षा अनहित अधिक है। यहां इसका एक उदाहरण देते हैं। इससे इस पद्धति के स्वरूप और उससे होने वाली असुविधा का थोड़े में ज्ञान होगा। ग्रहभगणसम्बन्धी प्रथम आर्या का पूर्वार्ध इस प्रकार है :—

"युगरविभगणा: ख्युघृशशिचयगियिङुशुछ्लृकुङिशिबुण्लृख्षृप्राक्"

इसका अर्थ यह होता है कि महायुग में कु (पृथिवी) के १५८२२३७५०० परिवर्त होते हैं।[1] डा० केर्न की पुस्तक में 'बु' के स्थान में 'षु' पाठ है। षु का अर्थ होता है ८०००००० जो कि वास्तविक संख्या से ५७०००० अधिक है। यहां 'बु' ` स्थान में 'षु' आ जाने से इतनी अशुद्धि हुई।

ङि —	५००	ग्लृ =	१५००००००००
शि =	७०००	ख्षृ =	८२००००००
बु =	२३००००	ङिशिबुण्लृख्षृ =	१५८२२३७५००

यह अशुद्धि है अत्यन्त ध्यानपूर्वक संशोधन करके छपायी हुई मुद्रित पुस्तक की[2] तो फिर हस्तलिखित पुस्तकों में कितनी अशुद्धियां हो सकती हैं और वे परम्परया किस प्रकार बढ़ती जाती हैं, इसे वही समझ सकेगा जिसे लिखित पुस्तकों के अवलोकन के पर्याप्त प्रसंग आये होंगे। परम्परया प्रचलित व्याख्याएं तथा अन्य ग्रन्थों की संगति प्रभृति साधन न होते तो यह ग्रन्थ कुछ समय वाद बिलकुल निरुपयोगी हो जाता।

ग्रहगतिभगण

अव यहां ग्रहभगणादिमान सम्बन्धी दोनों आर्याएं और उनके अनुसार महायुगीय भगणादि संख्याएं लिखते हैं।

युगरविभगणाः ख्युघृ शशि चयगियि—
ङुशुछ्लृ कु ङिशिबुण्लृख्षृप्राक्।
शनि ढुङ्विघ्व गुरुरिव्रच्युभ कुजभद्लि—
झ्नुखृ भृगुबुधसौराः ॥१॥

चन्द्रोच्चज्रुष्खिध बुधसुगुशिथन
भृगुजषबिखुछृ शेषार्काः।
बुफिनच पातविलोमा बुधाह्न्य—
जार्कोदयाच्च लङ्कायाम् ॥२॥

---

१. आर्यभट पृथ्वी में दैनन्दिन गति मानते हैं। इसलिए उन्होंने भभ्रमसंख्या लिखी है। अन्य सिद्धान्तों में इसके स्थान में नक्षत्रभ्रमसंख्या लिखी रहती है।

२. यह अशुद्धि टीका द्वारा तो नहीं, पर उपपत्ति तथा अन्य ग्रन्थों के मेल इत्यादि का विचार करने से सहज ही ध्यान में आ जाती है, फिर भी डॉ० केर्न की भूल बहुत से विद्वानों को भ्रम उत्पन्न कर देगी।

भूभ्रम	१५८२२३७५००	गुरुभगण	३६४२२४
रविभगण	४३२००००	शुक्रभगण	७०२२३८३
सावनदिन	१५७७९१७५००	शनिभगण	१४६५६४
चन्द्रभगण	५७७५३३३६	सौरमास	५१८४००००
चन्द्रोच्चभगण	४८८२१९	अधिमास	१५९३३३६
चन्द्रपातभगण	२३२२२६	चान्द्रमास	५३४३३३३६
मंगलभगण	२२९६८२४	तिथि	१६०३००००८०
बुधभगण	१७९३७०२०	क्षयाह	२५०८२५८०

वर्षमान—३६५ दिन १५ घटी ३१ पल १५ विपल

गुरु और बुध के भगणों को छोड़कर इस आर्यसिद्धान्त के शेष सब भगण ऊपर लिखे हुए मूल सूर्यसिद्धान्तोक्त भगणों के जिनमें कि राहुभगण पठित नहीं है, समान हैं। ऊपर सिद्ध कर चुके हैं कि मूलसूर्यसिद्धान्त आर्यभट से प्राचीन है, अतः आर्यभट ने गुरु और बुध को छोड़कर शेष ग्रहों के भगण मूलसूर्यसिद्धान्त से लिये होंगे और गुरुबुध के भगण अपने अनुभव द्वारा दृक्प्रतीति के अनुसार निश्चित किये होंगे।

युगपद्धति

आर्यभट की युगपद्धति अन्यसिद्धान्तों से कुछ भिन्न है। दशगीतिका में वे लिखते हैं:—

> "काहो मनवो ढ १४ मनुयुगश्ख ७२ गतास्तेच ६
> मनुयुगछ्ना २७ च। कल्पादेर्युगपादा ग ३ च गुरु—
> दिवसाच्च भारतात्पूर्वम् ।।३।।"

यहां एक मनु में ७२ युग बतलाये हैं। अन्य सिद्धान्तों की तरह ७१ नहीं हैं। प्रत्येक मन्वन्तर के आरम्भ में सन्धि नहीं बतलायी है। इसमें कल्पादि से आरम्भ कर भारतीय गुरुवार[1] के पूर्व तक का समय बतलाया है। इससे और उपर्युक्त द्वितीय आर्या से ज्ञात होता है कि आर्यभट कलियुग का आरम्भ शुक्रवार को और उसके पहिले दिन गुरुवार मानते हैं, परन्तु उपर्युक्त द्वितीय आर्या में उन्होंने महायुगारम्भ[2] बुधवार

---

१. भारतीय का अर्थ है महाभारतीय युद्ध। यहाँ इस शब्द का प्रयोग कलियुगारम्भ अर्थ में किया गया है।

२. स्पष्ट महायुगारम्भ शब्द नहीं लिखा है, पर पूर्वापर सन्दर्भ और उपपत्ति द्वारा यही सिद्ध होता है।

के सूर्योदय में बतलाया है। महायुगारम्भ बुधवार को मानने से कलियुगारम्भ शुक्रवार को नहीं आता, परन्तु सब युगपाद समान मानने से इसकी ठीक संगति लगती है। इससे सिद्ध होता है कि आर्यभट 'कलियुग का दूना द्वापर' इत्यादि परिभाषा नहीं मानते थे, अपितु उनके मत में सब युगपात समान थे। इस प्रकार उनके मतानुसार कल्पारम्भ से वर्तमान कलियुगारम्भ पर्यन्त १९८६१२०००० गतवर्ष होते हैं और कल्पारम्भ में गुरुवार आता है। अन्य सब सिद्धान्त द्वारा कल्पारम्भ से वर्तमान कलियुगारम्भ पर्यन्त १९७२९४४००० गतवर्ष[1] आते हैं। कुछ लोगों का कथन है कि कुछ वर्ष कल्प का आरम्भ या सृष्टि की उत्पत्ति होने में लगे, उनके मतानुसार ग्रहप्रचार के आरम्भ में रविवार आता है। आर्यभट का यह जो अन्य सिद्धान्तों से मतभेद है उसके विषय में ब्रह्मगुप्त ने उनमें दोष दिखलाये हैं।[2]

न समा युगमनुकल्पाः कल्पादिगतं कृतादि यातञ्च।
स्मृत्युक्तैरार्यभटो नातो जानाति मध्यगतिम् ।।१०।।

ब्रह्मगुप्त-सिद्धान्त, अ० ११।

इसमें ब्रह्मगुप्त ने यह भी कहा है कि आर्यभट के युग, मनु और कल्प स्मृतियों के अनुसार नहीं हैं। उनके और अन्य आचार्यों के महायुग समान हैं। उपर्युक्त सब ग्रहों की भगणसंख्याएं चार से कट जाती हैं, द्वितीय आर्या में महायुगारम्भ में सब ग्रह एकत्र बतलाये हैं, उनके मत में चारों युगपाद समान हैं और कल्पादि से आरम्भकर इस कृतादि पर्यन्त महायुगों की पूर्ण संख्याएं व्यतीत हुई हैं। अतः आर्यभट के मतानुसार कल्पारम्भ, प्रत्येक महायुगारम्भ और प्रत्येक युगपाद के आरम्भ में सब ग्रह एकत्र सिद्ध होते हैं। चूंकि इनके मत में कल्पारम्भ में सब ग्रह एकत्र आते हैं, इसलिए इन्हें 'सृष्टि की उत्पत्ति होने में कुछ वर्ष लगे', यह कल्पना नहीं करनी पड़ी। सब ग्रहों के उच्च और पातों के भगण इन्होंने नहीं लिखे, पर यदि लिखते तो कल्पारम्भ को ही ग्रहप्रचार का आरम्भ मानकर लिखते।

समय

इन्होंने अपने समय के विषय में लिखा है—

षष्ट्यब्दानां षष्टिर्यदा व्यतीतास्त्रयश्च युगपादाः।
त्र्यधिका विंशतिरब्दास्तदेह मम जन्मनोऽतीताः।।—कालक्रियापाद।

---

१. सृष्ट्युत्पत्ति सम्बन्धी वर्ष भी इसमें सम्मिलित हैं।

२. उपर्युक्त प्रायः सभी बातें ब्रह्मगुप्त ने बतलायी हैं, पर मैंने केवल उन्हीं पर भरोसा न रखकर स्वयं गणित करके उन्हें जाँच लिया है।

इससे सिद्ध होता है कि तीन युगपाद और ३६०० वर्ष बीतने पर अर्थात् कलियुग के ३०० वर्ष बीतने पर अर्थात् शक ४२१ में आर्यभट के वय के २३ वर्ष बीत चुके थे अर्थात् इनका जन्म शक ३९८ में हुआ। निम्नलिखित वर्षमान द्वारा भी जन्मशक यही निश्चित होता है कि उससे उनके समय के विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता।

वर्तमान

पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त में वर्षमान ३६५।१५।३१।३० है और आर्य-सिद्धान्त में ३६५।१५।३१।१५ अर्थात् उससे १५ विपल कम है। यह कमी ३६०० वर्षों में १५ घटी तुल्य हो जाती है, परन्तु मूल (पञ्चसिद्धान्तिकोक्त) सूर्यसिद्धान्त में कलियुगारम्भ गुरुवार की मध्यरात्रि को माना है और आर्यभट ने उससे १५ घटी बाद अर्थात् शुक्रवार के सूर्योदय में माना है। अतः कलियुग के ३६०० वर्ष बीतने पर अर्थात् शक ४२१ में दोनों के अनुसार मध्यम मेषसंक्रान्ति अर्थात् वर्षारम्भ एक ही समय होता है। इससे प्रकट होता है कि सूर्योदय में युगारम्भ मानने के कारण जो १५ घटी का अन्तर पड़ा था उसी को दूर करने के लिए आर्यभट ने वर्षमान १५ विपल कम माना है।

स्थान

गणितपाद की प्रथम आर्या में इन्होंने लिखा है:—

'आर्यभटस्त्विह निगदति कुसुमपुरेऽभ्यर्चितं ज्ञानम्।'

इससे इनका वसतिस्थान कुसुमपुर सिद्ध होता है। आजकल का बिहार का पटना कुसुमपुर माना जाता है।

विषय

इस आर्यसिद्धान्त में दशगीतिक, गणित, कालक्रिया और गोल नामक चार पाद हैं। दशगीतिक पाद में ग्रहभगणादि मान हैं। गणितपाद में अंकगणित (पाटीगणित), बीजगणित, भूमिति और त्रिकोणमिति सम्बन्धी कुछ विषय हैं। शेष दो पाद केवल ज्योतिष विषयक हैं। आजकल ज्योतिषशास्त्र प्रयुक्त-गणित (Applied mathematics) का विषय समझा जाता है। अतः ज्योतिषशास्त्र विषयक ग्रन्थ में शुद्धगणित (Pure mathematics) की संख्या गणित इत्यादि शाखाओं का समा-वेश असंगत सा मालूम होता है, परन्तु ज्योतिषशास्त्र में शुद्ध गणित की भी बार-बार आवश्यकता पड़ती है, अतः इतने प्राचीन ग्रन्थ में इन दोनों का सम्मिश्रण अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता और यह सम्मिश्रण कुछ ही ग्रन्थों में पाया भी जाता है। मूल

सूर्यादि सिद्धान्तों में था या नहीं, इसे निश्चित करने का सम्प्रति कोई साधन नहीं है, परन्तु पञ्चसिद्धान्तिका में नहीं है। वर्तमान सूर्य, सोमादि सिद्धान्तों में भी नहीं है। इस आर्यसिद्धान्त, ब्रह्मगुप्त सिद्धान्त और द्वितीय आर्यसिद्धान्त में शुद्धगणित भी है। भास्कराचार्य ने सिद्धान्त में व्यक्त (अङ्क) और अव्यक्त (बीज) गणितों का भी समावेश किया है और तदनुसार अपने 'लीलावती' और बीजगणित ग्रन्थों को उन्होंने सिद्धान्तशिरोमणि का ही भाग कहा है तथापि वे दोनों स्वतन्त्र ग्रन्थ सदृश ही हैं। उनके कुछ लेखों से भी ज्ञात होता है कि उनके पहिले ही केवल बीजगणित के स्वतन्त्र ग्रन्थ बन चुके थे। दोनों आर्यभट और ब्रह्मगुप्त ने यद्यपि बीजादिगणितों का संग्रह सिद्धान्त में ही किया है, तथापि उन विषयों के अध्याय पृथक् हैं।

अब आर्यसिद्धान्त के गणितपाद के विषय थोड़े में बतलाता हूँ। गणितपाद की प्रथम आर्या में मंगलाचरण है। इसके अतिरिक्त इसमें ३२ आर्याएं और हैं। उनमें दशगुणोत्तर संख्याओं के नाम, वर्ग, घन वर्गमूल, घनमूल, त्रिभुज, वृत्त और अन्य क्षेत्र इनके क्षेत्रफल, घन, गोल, इनके घनफल, भुजज्यासाधन और भुजज्या सम्बन्धी कुछ विचार, श्रेढ़ी, त्रैराशिक, भिन्नकर्म (अपूर्णाङ्क), त्रैराशिक अथवा बीजगणित सम्बन्धी दो-एक चमत्कारिक उदाहरण और 'कुट्टक' इतने विषय हैं। टालमी और उनसे प्राचीन ग्रीक ज्योतिषियों को भुजज्या (Sines) का ज्ञान नहीं था। वे ज्या (Chords) का उपयोग करते थे। भारतीय ज्योतिष से परिचित होने के पूर्व यूरोपियन लोगों की यह धारणा थी कि ज्या को छोड़कर भुजज्या (ज्यार्ध) का उपयोग सर्वप्रथम ईसवी सन् की नवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में प्रादुर्भूत अरब-ज्योतिषी अलबटानी ने किया परन्तु आर्यभट के इस ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि शक ४२१ में हमें अर्ध ज्याओं का ज्ञान था। वर्तमान सूर्यसिद्धान्त में भी अर्धज्याएं हैं। और भी एक उल्लेखनीय बात यह है कि आर्यभट ने वृत्त के व्यास और परिधि का अत्यन्त सूक्ष्म गुणोत्तर बतलाया है। वह यह है:—

चतुरधिकं शतमष्टगुणं द्वाषष्टिस्तथा सहस्राणाम ।।
अयुतद्वयविष्कम्भस्यासन्नो वृत्तपरिणाहः ।।१०।।

गणितपाद।

इसमें २०००० व्यास के वृत्त की परिधि ६२८३२ बतलायी है अर्थात् व्यास से परिधि ३·१४१६ गुणित है और इसको भी इन्होंने आसन्न (पास-पास) कहा है।

---

१. बर्जेसकृत सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद का पृ० ५६ देखिए।

पृथ्वी की दैनन्दिन गति

हमारे देश में "पृथ्वी प्रतिदिन अपनी चारों ओर घूमती है अर्थात् उसमें दैनन्दिन गति है" इस सिद्धान्त को माननेवाले ज्योतिषी एक ये आर्यभट मात्र हैं। इन्होंने लिखा है—

अनुलोमगतिर्नौस्थः पश्यत्यचलं विलोमगं यद्वत्।
अचलानि भानि तद्वत् समपश्चिमगानि लंकायाम्॥

गोलपाद।

भटप्रकाशिकाटीकाकार ने 'भानि कर्तुभूतानि अचलानि भूमिगतानि वस्तूनि कर्मभूतानि विलोमगानीव प्राचीं दिशं गच्छन्तीव पश्यन्ति' कहते हुए आर्यभट के मत में पृथ्वी का अचलत्व ही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, परन्तु आर्यभट ने भगणादि मानों में नक्षत्रभ्रम न लिखकर भूभ्रम लिखे हैं और दशगीतिक की चतुर्थ आर्या में लिखा है 'प्राणेनैति कला भूः'। इसका अर्थ यह है कि पृथ्वी प्राण नामक काल परिमाण (पल का षष्ठांश) में एक कला चलती है। इससे उनके मतानुसार पृथ्वी चल ही सिद्ध होती है। ब्रह्मगुप्तादिकों ने भी उनके इस मत का खण्डन किया है। ब्रह्मगुप्त लिखते हैं—

प्राणेनैति कलां भूर्यदि तर्हि कुतो व्रजेत् कमध्वानम्।
आवर्तनमुर्व्याश्चेन्न पतन्ति समुच्छ्रयाः कस्मात्॥

ब्रह्मसिद्धान्त, अध्याय ११।

भटप्रकाशिकाटीकाकार ने 'प्राणेनैति कलां भूः' के 'भूः' के स्थान में 'भं' (भमण्डलं) पाठ मानकर टीका की है। 'अनुलोमगतिर्नौस्थः. . . .' के बाद की आर्यभट की आर्या इस प्रकार है—

उदयास्तमयनिमित्तं नित्यं प्रवहेण वायुना क्षिप्तः।
लङ्कासमपश्चिमगो भपञ्जरः सग्रहो भ्रमति॥१०॥

गोलपाद।

तथापि सब वचनों की संगति लगाते हुए विचार करने से यही निष्पन्न होता है कि आर्यभट पृथ्वी को चल मानते थे। वे पृथ्वी की केवल दैनन्दिन गति मानते थे। पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है' यह उनका सिद्धान्त नहीं मालूम होता।[1]

इस आर्यभट सिद्धान्त में अन्य ग्रन्थों की भाँति अधिकार नहीं हैं, परन्तु उन अधि-

---

१. Grant's History of Physical Astronomy (पृष्ठ २) में लिखा है—

कारों के वहुत से विषय हैं। चन्द्रशृंगोन्नति और भग्रहयुति अधिकारों के विषय इसमें नहीं हैं। ब्रह्मगुप्त ने कहा भी है कि आर्यभटीय द्वारा चन्द्रशृङ्गोन्नति और छायादि का ज्ञान नहीं हो सकता। एक और भी बड़ी भारी न्यूनता यह है कि योगताराओं के भोग और शर जो कि अन्य सिद्धान्तों में हैं, इसमें नहीं हैं। यदि वे होते तो आर्यभट का निश्चित समय ज्ञात होने के कारण ज्योतिषशास्त्र के इतिहास में उनका बड़ा उपयोग हुआ होता, परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि आर्यभट के समय अथवा उनके पहिले यह विषय विलकुल अज्ञात था। पञ्चसिद्धान्तिका में नक्षत्रयोगताराओं के शरभोग का थोड़ा वर्णन है। अयनगति के सम्वन्ध में जो कि अत्यन्त महत्व का विषय है, इसमें कुछ नहीं लिखा है।

यह आर्यसिद्धान्त अति संक्षिप्त होते हुए भी अत्यन्त दुर्बोध नहीं है। इसमें प्रतिपादित विषय स्पष्ट समझ में आने योग्य हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ देखने से ज्ञात होता है कि ग्रन्थकार ने उसे ज्योतिष के नित्य व्यवहार में उपयोगी बनाने की दृष्टि से नहीं वल्कि केवल सिद्धान्तभूत महत्व के विषयों का संग्रह करने के उद्देश्य से लिखा है। यद्यपि यह सत्य है कि नित्य व्यवहार में सिद्धान्त ग्रन्थों का नहीं, प्रत्युत करणग्रन्थों का उपयोग होता है, परन्तु यह अन्य सिद्धान्तों की भाँति विस्तृत और सर्व विषयसम्पन्न भी नहीं है। वर्तमान सूर्यसिद्धान्त ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त या सिद्धान्तशिरोमणि द्वारा गणित करने में करणग्रन्थों की अपेक्षा अधिक समय लगेगा, यह यद्यपि सत्य है, तथापि इनमें से किसी भी एक ग्रन्थ द्वारा काम चल सकता है। दूसरे के अभाव में किसी प्रकार की अड़चन नहीं होगी, परन्तु आर्यसिद्धान्त की ऐसी स्थिति नहीं है। उदाहरणार्थ—तिथि, नक्षत्र और करण लाने की रीति इसमें नहीं है। महापात का गणित बिलकुल नहीं है, परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि आर्यभट को महापात ज्ञात ही नहीं था। आर्यसिद्धान्त में उसका उल्लेख है और यह निश्चित है कि आर्यभट तिथि, नक्षत्र, महापात, इत्यादि सब कुछ जानते थे। इसी प्रकार कुछ अन्य भी ऐसे विषय हैं, जो कि अन्य सिद्धान्तों में हैं और इसमें नहीं हैं।

"कहा जाता है कि साराक्यूज के निसिटस (Nicetas of Syracuse) का मत था कि पृथ्वी केवल अपने अक्ष पर घूमती है और ग्रीक देश के तत्वज्ञानी पिथ्यागोरस (Pythagoras) का मत था कि सूर्य विश्व का मध्य है और पृथिवी उसके चार ओर घूमती है परन्तु उन्होंने अपने ये मत वेधादि द्वारा निश्चित किये थे और तदनुसार ग्रहस्थिति का गणित करने की कुछ रीतियाँ बनायी थीं, ऐसा नहीं मालूम होता। कदाचित् ये केवल उनकी कल्पनाएँ रही होंगी।"

आर्यभटकरण

इससे अनुमान होता है कि आर्यभट का कोई करणग्रन्थ होना चाहिए। उपरोक्त दशगीतिकपाद की द्वितीय आर्या में उन्होंने दिनप्रवृत्ति सूर्योदय में बतलाई है, परन्तु वराहमिहिर का कथन है कि आर्यभट ने लंकार्धरात्रि में भी दिनप्रवृत्ति बतलायी है। आर्यभटीय में इस दिनप्रवृत्ति का उल्लेख कहीं नहीं है। ब्रह्मगुप्त ने भी आर्यभट के दोष-वर्णन के प्रसङ्ग में इसकी चर्चा नहीं की है। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्मगुप्त के समय भी आर्यभटीय में कोई ऐसी आर्या नहीं थीं जिससे उक्त अर्थ निकलता हो। ब्रह्मगुप्त ने आर्यभटीय के दोनों भागों का उल्लेख भी 'दशगीतिक' और 'आर्याष्टा-शत' शब्दों द्वारा ही किया है, जिनमें उनकी श्लोकसंख्यायें स्पष्ट हैं। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्मगुप्त के पहिले से जो आर्यसिद्धान्त प्रचलित है उसे किसी ने न्यूनाधिक नहीं किया है, अतः वराहमिहिर के लेखानुसार आर्यभट का अन्य कोई ग्रन्थ होना चाहिए, जिसमें लङ्का की अर्धरात्रि में दिनप्रवृत्ति बतलायी हो। ब्रह्मगुप्त के खण्डखाद्य और उसकी अरुणकृत टीका से भी यह अनुमान होता है कि आर्यभट का कोई करणग्रन्थ होना चाहिए, परन्तु आज वह उपलब्ध नहीं है।

दोष

ब्रह्मगुप्त ने आर्यभट में बहुत-से दोष दिखलाये हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार के दोषों का वर्णन करते हुए वे अन्त में लिखते हैं—

> स्वयमेव नाम यत्कृतमार्यभटेन स्फुटं स्वगणितस्य।
> सिद्धं तदस्फुटत्वं ग्रहणादीनां विसंवदति ।।४२।।
> जानात्येक मपि यतो नार्यभटो गणितकालगोलानाम्।
> न मया प्रोक्तानि ततः पृथक् पृथग्दूषणान्येषाम् ।।४३।।
> आर्यभटदूषणानां संख्या वक्तुं न शक्यते . . ।।

ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त, अध्याय ११

इससे ज्ञात होता है कि ब्रह्मगुप्त के समय आर्यभट के ग्रन्थ द्वारा ग्रहणादिकों का विसंवाद होता था अर्थात् उनका ठीक समय नहीं आता था। यह एक विचारणीय विषय है। यद्यपि ब्रह्मगुप्तकथित कुछ दोष सत्य हैं, तथापि उनके लेखों में दुराग्रह का अंश अधिक है।

ग्रन्थलोप

वे लिखते हैं—

"कालान्तरेण दोषा यैऽन्यैः प्रोक्ता न ते मयाभिहिताः।"

परन्तु ब्रह्मगुप्त के पहले के इस समय जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं उनमें से एक में भी आर्यभट के दोषों का वर्णन नहीं मिलता। पञ्चसिद्धान्तिका में केवल उनका नाम है। इससे ज्ञात होता है कि उनके पहिले के कुछ ग्रन्थ लुप्त हो गये होंगे। उपरोक्त शक ४२० के पूर्व के ग्रन्थकारों के ग्रन्थ भी इस समय उपलब्ध नहीं हैं।

योग्यता

ज्योतिषसिद्धान्तकारों की योग्यता जानने का एक मुख्य साधन उनके ग्रन्थों द्वारा होनेवाली दृक्प्रतीति है। ब्रह्मगुप्त ने लिखा है कि श्रीषेण और विष्णुचन्द्र ने मन्दोच्च, पात, परिधि और स्पष्टीकरण आर्यभटीय से लिये। लाटादिकों के ग्रन्थ और मूल सूर्यादि पांच सिद्धान्तों के रहते हुए आर्यभटीय का सर्वत्र प्राधान्य स्थापित हो जाना तथा श्रीषेण और विष्णुचन्द्र का स्पष्टीकरण उसी से लेना स्पष्ट बतला रहा है कि उस समय औरों की अपेक्षा उससे अधिक दृक्प्रतीति होती थी। आर्यभट ने पूर्वाचार्यों से भिन्न बुध और गुरु के भगणों की स्वयं कल्पना की, उनका मन्दशीघ्र वृत्तों का परिध्यंश जो कि ग्रहस्पष्टीकरण का एक मुख्य अङ्ग है—पञ्चसिद्धान्तिका से भिन्न है (आगे स्पष्टाधिकार देखिये)।

छिद्रान्वेषण-पटु ब्रह्मगुप्त उनके दोषों को अगणित बतलाते हुए भी खण्डखाद्य की प्रथम आर्या में लिखते हैं—

"वक्ष्यामि खण्डखाद्यकमाचार्या-
र्यभटतुल्यफलम्।"

स्वकीय सिद्धान्त का अत्यन्ताभिमान छोड़कर अपने बहुत बड़े प्रतिस्पर्धी आर्यभट के प्रति उनका यह कथन कि मैं आचार्य आर्यभट के ग्रन्थ तुल्य[1] ग्रन्थ बना रहा हूँ—स्पष्ट कर देता है कि आर्यभट की योग्यता बहुत बड़ी थी। निम्नलिखित श्लोक से इसकी और भी पुष्टि होती है—

सिद्धान्तपञ्चकविधावपिदृग्विरुद्धमौढ्योपरागमुखखेचरचारक्लृप्तौ।
सूर्यः स्वयं कुसुमपुर्यभवत् कलौ तु भूगोलवित् कुलप आर्यभटाभिधानः॥

यह श्लोक किसका है, कब का है, इत्यादि बातें ज्ञात नहीं होती हैं। डा० केर्न ने इसे प्रस्तावना में लिखा है। इसमें पद्यकार का कथन है कि पञ्चसिद्धान्त-पद्धति के रहते हुए भी ग्रहों के अस्त और ग्रहणादि विषयों में दृग्विरोध होते देख कर ग्रहों

---

१. यह तुल्यता सर्वाङ्गीण नहीं है। कितनी है—यह आगे ब्रह्मगुप्त के वर्णन में बतलाया जायगा।

के चार (गति) की कल्पना करने के लिए सूर्य कुसुमपुर में आर्यभट नाम से स्वयं अवतीर्ण हुए। "सिद्धान्तपञ्चक के अनुसार दृक्प्रतीति नहीं होती" कथन से ज्ञात होता है कि आर्यभट के थोड़े ही दिनों बाद किसी ने यह श्लोक लिखा है। इससे सिद्ध होता है कि उस समय आर्यभट की योग्यता अत्यधिक समझी जाती थी और वस्तुतः कालमान की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि निःसन्देह वह वैसी ही थी भी। आर्यभट स्वयं लिखते हैं—

क्षितिरवियोगाद्दिनकृद्रवीन्दुयोगात् प्रसाधितश्चन्द्रः।
शशिताराग्रहयोगात्तथैव ताराग्रहाः सर्वे ।।४८।।
सदसज्ज्ञानसमुद्रात् समुद्धृतं देवताप्रसादेन।
सज्ज्ञानोत्तमरत्नं मया निमग्नं स्वमतिना वा ।।४९।।

अर्थ—पृथ्वी और सूर्य के योग द्वारा सूर्य का, सूर्य और चन्द्रमा के योग द्वारा[1] चन्द्रमा का तथा चन्द्रमा, तारों और ग्रहों के योग द्वारा सब ग्रहों का साधन किया है। देवता की कृपा से अथवा स्वबुद्धि द्वारा मैंने शुभाशुभ-ज्ञान के समुद्र से डूबा हुआ सत्यज्ञानरूपी रत्न निकाला। (ग्रहण, युति इत्यादिकों द्वारा मध्यमगति भी लायी जा सकती है, परन्तु मुख्यतः स्पष्टग्रहस्थिति का ज्ञान होता है।) इन सब हेतुओं से ज्ञात होता है कि उन्होंने ग्रहस्पष्टीकरण पद्धति में सुधार किया और प्राचीन ग्रन्थों के सारासार-विचार द्वारा तथा अपनी बुद्धि और वेध द्वारा बहुत सी नयी बातों की खोज की। इससे उनकी योग्यता का महत्व स्पष्ट हो जाता है।

प्रचार और अनुयायी

बृहत्संहिता की टीका में उत्पल ने आर्यभटीय की बहुत सी आर्याएँ उद्धृत की हैं और उसके बाद के बहुत-से ग्रन्थों में उसके वचन मिलते हैं। प्रसिद्ध ज्योतिषी लल्ल आर्यभट के अनुयायी थे। उन्होंने आर्यभटोक्त ग्रहगति में बीजसंस्कार दिया। आर्यभटोक्त भगणों द्वारा लायी हुई ग्रहगतिस्थिति में लल्लोक्त बीजसंस्कार देकर शके १०१४ में करणप्रकाश नामक आर्यपक्षीय करणग्रन्थ बना। (आगे इसका विस्तृत विवरण लिखेंगे)। शके १३३९ का दामोदरकृत भटतुल्य नामक करणग्रन्थ भी ऐसा ही है। करणप्रकाश द्वारा अभी भी कुछ लोग गणित करते हैं और उसके अभिमानी तो बहुत हैं। ग्रहलाघव में—जो कि इस समय भी भारतवर्ष के तृतीयांश से अधिक

---

१. यहाँ प्रथम वाक्य चन्द्रग्रहण के उद्देश्य से कहा गया है और द्वितीय सूर्यग्रहण विषयक हैं।

भाग में प्रचलित है—गुरु मंगल और राहु करण प्रकाश द्वारा लिये गये हैं। इस प्रकार आर्यसिद्धान्त मूलरूप में नहीं पर बीजसंस्कृत रूप में आज भी प्रचलित है।

स्थान

शके १४०० के बाद महाराष्ट्र और काशी में बने हुए ज्योतिषग्रन्थों में इस आर्य-सिद्धान्त के वचन नहीं मिलते। सम्प्रति इस प्रान्त (महाराष्ट्र) में आर्यसिद्धान्त प्रायः मूल-स्वरूप में प्रचलित नहीं है। डा० केर्न ने जिन प्रतियों के आधार पर इसे छपाया है वे तीनों मलयालम लिपि में थीं। इससे ज्ञात होता है कि सुदूर दक्षिण भारत में और विशेषतः मलाबार प्रान्त में अभी भी इसका प्रचार है। उधर जिन प्रान्तों में तामिल और मल्याली लिपियों का व्यवहार होता है, उनमें सौरमान का पञ्चाङ्ग चलता है और वह आर्यपक्षीय है अर्थात् उसका वर्षमान आर्यसिद्धान्तानुसार है। वैष्णव लोग आर्यपक्ष के अभिमानी हैं। वे विशेषतः कर्नाटक और मैसूर प्रान्तों में रहते हैं। इससे अनुमान होता है कि आर्यभट का कुसुमपुर कदाचित् दक्षिण में होगा। आजकल विहार का पटना कुसुमपुर माना जाता है, परन्तु मुझे इसमें सन्देह है, क्योंकि उस प्रान्त में आर्यसिद्धान्त का प्रचार बिल्कुल नहीं है तथापि इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।

ग्रहशुद्धि

आर्यसिद्धान्त द्वारा लाये हुए ग्रह किन वर्षों में यूरोपियन कोष्ठकों द्वारा लाये हुए ग्रहों के तुल्य होते हैं, यह ऊपर बतला चुके हैं तथापि उसका विशेष स्पष्टीकरण होने के लिए यहां आर्यभटीय-काल शके ४२१ (सन् ४९९ ई०) के मध्यम मेषसंक्रान्ति-काल के पास के आर्यसिद्धान्त और यूरोपियन कोष्ठकों द्वारा लाये हुए मध्यम ग्रह आगे एकत्र लिखे हैं। साथ ही साथ सबों की तुलना करने में सुविधा होने के लिए मूल सूर्यसिद्धान्त, वर्तमान सूर्यसिद्धान्त और ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त के भी उस समय के ग्रह लिखे हैं। मूल सूर्यसिद्धान्त, प्रथम आर्यसिद्धान्त और वर्तमान सूर्यादि पांच सिद्धान्तों के अनुसार शक-गतवर्ष ४२१ में मध्यम मेष-संक्रान्ति अमान्त चैत्र कृष्ण ९ रविवार (२१ मार्च) को उज्जयिनी के मध्यमोदय से क्रमशः १५ घटी० पल, १५ घटी० पल और १६ घटी २४ पल पर आती है और ब्रह्मगुप्त सिद्धान्त द्वारा चैत्र-कृष्ण ८ शनिवार को मध्यमोदय से २२ घटी ३० पल पर आती है।

शक ४२१ चैत्र कृष्ण ९ रविवार के सूर्योदय से १५ घटी के मध्यमभोग

ग्रहादि	मूल सूर्यसिद्धान्त	१२वें कोष्ठक से +	प्रथम आर्यसिद्धान्त	१२वें कोष्ठक से ±	वर्तमानसूर्या द५सि.	१२वें कोष्ठक से ±
	१	२	३	४	५	६
	रा. अं. क. वि.	अं. क. वि.	रा. अं. क. वि.	अं. क. वि.	रा. अं. क. वि.	अं. क. वि.
सूर्य	० ० ० ०	० ० ०	० ० ० ०	० ० ०	११ २९ ५८ ३७	− ० १ २३
चन्द्रमा	९ १० ४८ ०	− ० ४ ४८	९ १० ४८ ०	− ० ४ ४८	९ १० २९ ३३	− ० २३ १५
चंद्रोच्च	१ ५ ४२ ०	− ० २८ ३०	१ ५ ४२ ०	− ० २८ ३०	१ ० ५३ ५१	− ४ १६ ३९
राहु			११ २२ १२ ०	− ० ४२ १८	११ १८ ३६ ४	− ४ १८ १४
मंगल	० ७ १२ ०	+ ० ७ ०	० ७ १२ ०	+ ० ७ ०	० ९ २३ १६	+ २ १८ १६
बुध	६ ० ० ०	− ३ २२ १२	६ ६ ० ०	− २ ३७ ४८	६ १७ ५४ १६	+१४ ३२ ४
गुरु	६ ६ ० ०	− १ २९ ५४	६ ७ १२ ०	− ० १७ ५४	६ ५ ५९ ५३	− १ ३० १
शुक्र	११ २६ २४ ०	+ ० ६ २४	११ २६ २४ ०	+ ० ६ २४	११ २२ ४५ ४५	− ३ ३१ ५१
शनि	१ १९ १२ ०	+ ० ५१ ५४	१ १९ १२ ०	+ ० ५१ ५४	१ २० २३ ५७	+ ३ २ ५१

ग्रहादि	१२वें से ± सूर्यान्तर			ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त				१२वें कोष्ठक से ±			१२वें कोष्ठक से+सूर्यान्तर			केरोपन्तीय सायन				केरोप० नियरन			
	७			८				९			१०			११				१२			
	अं.	क.	वि.	रा.	अं.	क.	वि.	अं.	क.	वि.	अं.	क.	वि.	रा.	अं.	क.	वि.	रा.	अं.	क.	वि.
सूर्य	०	०	०	०	०	५१	४५	+ ०	५१	४५	०	०	०	११	२९	४३	६	०	०	०	०
चन्द्रमा	− ०	२१	५२	९	११	३१	४६	+ ०	३८	५८	− ०	१२	४७	९	१०	३५	५४	९	१०	५२	४८
चंद्रोच्च	− ४	१५	१६	१	७	२१	३	+ १	१०	३३	+ ०	१८	४८	१	५	५३	३६	१	६	१०	३०
राहु	− ४	१६	५१	११	२३	२३	१४	+ ०	२८	५६	− ०	२२	४९	११	२२	३७	२४	११	२२	५४	१८
मंगल	+ २	१९	३९	०	८	४	४५	+ ०	५९	४५	+ ०	८	०	०	६	४८	६	०	७	५	०
बुध	+ १४	३३	२७	६	०	४१	२	− २	४१	१०	− ३	३२	५१	६	३	५	१८	६	३	२२	१२
गुरु	− १	२८	३८	६	७	२८	९	− ०	१	४५	− ०	५३	३०	६	७	१३	०	६	७	२९	५४
शुक्र	− ३	३०	२८	११	२६	५७	१२	+ ०	३९	३६	− ०	१२	९	११	२६	०	४२	११	२६	१७	३६
शनि	+ २	५	१४	१	१९	०	१	+ ०	३९	५५	− ०	११	५०	१	१८	३	१२	१	१८	२०	६

सारणी के ११वें कोष्ठक में केरोपन्तीय ग्रहसाधनकोष्ठक द्वारा लाये हुए ग्रह हैं। ये ही यूरोपियन ग्रन्थों द्वारा लाये हुये सूक्ष्म ग्रह हैं। ये सायन हैं। इनमें से केवल चन्द्र, चन्द्रोच्च और राहु में कालान्तर संस्कार दिया गया है। शके ४२१ में १६ कला ५४ विकला अयनांश मान कर इस कोष्ठक के ग्रहों में उसका संस्कार करके १२वें कोष्ठक में निरयन ग्रह लिखे हैं और मूल सूर्यसिद्धान्तादि द्वारा लाये हुए ग्रहों की इन्हीं से तुलना की है। १६ कला ५४ विकला अयनगति होने में लगभग २० वर्ष लगते हैं, अतः शके ४२१ में १६।५४ अयनांश मानने से शके ४४१ में अयनांश शून्य आता है। यह शके ४४४ के पास ही है। कहा जाता है कि शके ४९६ के लगभग रेवती-योगतारा सम्पात में था, अतः उसी वर्ष शून्य अयनांश मानना उचित है। यद्यपि यह कथन सत्य है तथापि मैंने आगे अयनचलन-विचार में बतलाया है कि भारतीयों ने शके ४४५ के आसपास शून्य अयनांश माना है और उनकी पद्धति के अनुसार वही ठीक है। उपर्युक्त तुलना में १६ कला ५४ विकला अयनांश मानने का कारण केवल इतना ही है कि ऐसा करने से सूर्य का निरयन भोग शून्य आता है, जिससे सूर्यसम्बन्धी तुलना करने में बड़ी सुविधा होती है और इसमें ४ कला से अधिक अशुद्धि भी नहीं होती। तुलना करते समय सर्वत्र विकलाएँ छोड़ देने से भी कोई हानि न होगी, क्योंकि इस तुलना में उनका कोई महत्व नहीं है।

प्रथम कोष्ठक में मूल सूर्यसिद्धान्त द्वारा लाये हुए ग्रह लिखे हैं। बारहवें कोष्ठक केरोपन्तीय ग्रहसाधन कोष्ठक द्वारा लाये हुए निरयन ग्रहों से वे जितने न्यून या अधिक हैं, वे अन्तर द्वितीय कोष्ठक में हैं। तृतीय-चतुर्थ, पञ्चम-षष्ठ और अष्टम-नवम कोष्ठक भी इसी प्रकार लिखे गये हैं। द्वादश कोष्ठक का प्रत्येक ग्रह उस कोष्ठक के सूर्य से जितना आगे है वह उसका सूर्यसम्बन्धी अन्तर है। यही स्थिति पञ्चम कोष्ठक की भी है। दोनों कोष्ठकों के सूर्यान्तिरों के अन्तर सातवें कोष्ठक में लिखे हैं। इसी प्रकार अष्टम और द्वादश कोष्ठकों के सूर्यान्तिरों के अन्तर दशम कोष्ठक में लिखे हैं। उदाहरणार्थ—द्वादश कोष्ठक का शनि उसके सूर्य से १।१८।२०।६ आगे है और पञ्चम कोष्ठक का शनि उसके सूर्य से १।२०।२३।५७–११।२९।५८।३७=१।२०।२५।२० आगे है। इन दोनों शनि सम्बन्धी सूर्यान्तिरों का अन्तर १।२०।२५।२०–१।१८।२०।६=०।२।५।१४ सातवें कोष्ठक में शनि के सामने लिखा है। द्वादश कोष्ठक के सूर्यान्तर से पञ्चम कोष्ठक का सूर्यान्तर अधिक होने के कारण धन है। प्रथम, तृतीय और द्वादश कोष्ठकों के सूर्य समान होने के कारण प्रथम और तृतीय कोष्ठक सम्बन्धी ग्रहान्तर ही सूर्यसम्बन्धी अन्तर भी कहे जा सकते हैं। इसलिए वहां दो और कोष्ठक नहीं बनाने पड़े।

मूल सूर्यसिद्धान्त के ग्रहों में केवल बुध और गुरु का अंतर एक अंश से अधिक है। शेष सबका इससे कम है। प्रथम आर्यसिद्धान्त के ग्रहों में केवल बुध का अन्तर २ अंश से अधिक है, शेष सबका ५२ कला से कम है। वर्तमान सूर्यसिद्धान्त में चन्द्रमा को छोड़कर सब का अन्तर अधिक है। ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त के ग्रहों के दशम कोष्ठकस्थ सूर्य सम्बन्धी अन्तरों में बुध का अन्तर अधिक है। गुरु का ५३ कला है और शेष सबका २२ कला के भीतर ही है।

इससे ज्ञात होता है कि शके ४२ के लगभग वर्तमान सूर्यसिद्धान्त को छोड़कर शेष ग्रन्थों द्वारा लाये हुए ग्रह शुद्ध होते थे। चन्द्रमा तो सबका अत्यन्त सूक्ष्म है। ब्रह्मगुप्त को छोड़कर सबके चन्द्रभगण समान हैं, परन्तु वर्षमान भिन्न होने के कारण उपर्युक्त वर्तमान सूर्यसिद्धान्त का चन्द्रमा औरों से कुछ भिन्न है। बुधान्तर सबका अधिक है। बुध सदा सूर्य के पास रहता है, इसलिए उसका वेध करने का अवसर कम मिलता है। मालूम होता है इसी कारण उसमें अधिक अन्तर पड़ा है।

यूरोपियन और भारतीय ग्रन्थों द्वारा लाये हुए मध्यम ग्रहों की तुलना द्वारा हमारे ग्रन्थों की शुद्धि-अशुद्धि निश्चित करने की पद्धति सभी अंशों में और सर्वत्र प्रशस्त नहीं हो सकती। यह पहिले वेटली की ग्रन्थकाल निर्णयपद्धति के विवेचन में बतला चुके हैं, तथापि हमारे ग्रन्थों द्वारा कहां तक दृक्प्रतीति होती थी इसे जानने का इससे सुन्दर अन्य मार्ग न होने के कारण यहां उसी का ग्रहण करना पड़ा है।

हमारे भिन्न-भिन्न ग्रन्थों के कुछ भगणादि मान पहिले लिखे जा चुके हैं और कुछ आगे लिखे जायंगे तथापि आधुनिक यूरोपियन मानों से तुलना करने में सुविधा होने के लिए भारतीय और यूरोपियन ग्रन्थों द्वारा लाये हुए नक्षत्रों की एक प्रदक्षिणा (एक भगण) सम्बन्धी काल यहां अगले पृष्ठ में एकत्र लिखे हैं।

इसमें टालमी के मान बर्जेश के सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद से लिये हैं। सूर्यसिद्धान्त और ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त (अथवा सिद्धान्तशिरोमणि) के मान भी उसी से लिए हैं। मेरी गणित करने की पद्धति भिन्न होने के कारण मुझे ये मान निकालने नहीं पड़े, इसलिए मैंने इन्हें जांचा नहीं है, तथापि प्रायः इनमें अशुद्धि नहीं है। हो तो भी इस ग्रन्थ में कहीं भी इन मानों द्वारा गणित नहीं किया है। आधुनिक यूरोपियन मान लुमिस के (Practical astronomy) ग्रन्थ द्वारा मैंने स्वयं निकाले हैं।

नक्षत्रप्रदक्षिणा-काल

ग्रह	वर्तमान सूर्यसिद्धान्त				ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त				टालमी				आधुनिक यूरोपियन			
	दिन	घ०	प०	वि०	दिन	घ०	प०	वि०	दिन	घ०	प०	वि०	दिन	घ०	प०	वि०
सूर्य	३६५	१५	३१	३१·४	३६५	१५	३०	२२.५	३६५	१५	२४	३१.५	३६५	१५	२२	५६.८७
चन्द्र	२७	१९	१८	१·६	२७	१९	१८	०.२५	२७	१९	१८	०.२	२७	१९	१७	५८.८६६
चन्द्रोच्च	३२३२	५	३७	१३·६	३२३२	४४	२	४५	३२३२	२४	४०	३४	३२३२	३४	३३	१४.०८८
राहु	६७९४	२३	५९	२३·५	६७९२	१५	१४	१४.७	६७९९	५८	३६	३८.५	६७९८	१६	४४	२४.००
बुध	८७	५८	१०	५५·७	८७	५८	११	४३.७	८७	५८	११	४७.२	८७	५८	९	२४.९९८
शुक्र	२२४	४१	५४	५०·६	२२४	४१	५२	३४.७	२२४	४२	९	५२	२२४	४२	२	४७.४८६
मंगल	६८६	५९	५०	५·८७	६८६	५२	५२	३३.७	६८६	५८	४९	५०.२	६८६	५८	४६	२.५१८
गुरु	४३३२	१९	१४	२०·९	४३३२	१४	२४	१९.२	४३३२	४५	२२	५६.२	४३३२	३५	५	१७.४९
शनि	१०७६५	४६	२३	४·१	१०७६५	४८	५४	५१.२	१०७५८	४४	३०	३७.२	१०७५९	१३	१०	५७.४९

आधुनिक यूरोपियन मानों को देखने से ज्ञात होता है कि हमारे सूर्यसिद्धान्त का वर्षमान लगभग ८ पल ३४·५ विपल अधिक है और ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त का वर्षमान ७ पल २५·६ विपल अधिक है। चन्द्रमा की गति अधिक होने पर भी प्रायः अशुद्ध नहीं है। राहुभगणकाल में ४ दिन का और शनिभगणकाल में ६ दिन का अन्तर है। शेष अन्तर एक दिन से कम है।

टालमी

प्रो० ह्विटने का कथन है कि टालमी-कथित दिनगति और सम्पातगति (प्रतिवर्ष ३६ विकला) के अनुसार टालमी के मान लाये गये हैं। हमारे सिद्धान्तों के मानों से उनका साम्य बिलकुल नहीं है। **इससे सिद्ध होता है कि टालमी के ग्रन्थ की ग्रहगति-स्थिति हमारे सिद्धान्तों में नहीं ली गई है।**

कलियुगारम्भ के मन्दोच्च और पात

	ग्रह	वर्तमानसूर्यादि५सि.				ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त				द्वितीय आर्यसिद्धान्त				पाराशरसिद्धान्त				केरोपन्तीय सायन			
		रा०	अं०	क०	वि०	रा०	अं०	क०	वि०	रा०	अं०	क०	वि०	रा०	अं०	क०	वि०	रा०	अं०	क०	वि०
मन्दोच्च	सूर्य	२	१७	७	४८	२	१७	४५	३६	२	१७	४५	३६	२	१७	४५	३६	०	१५	१२	६
	मंगल	४	९	५७	३६	४	८	१८	१४	४	३	५०	२४	४	२	४३	३६	२	१	११	०
	बुध	७	१०	१९	१२	७	१४	४७	२	७	०	१४	२४	७	०	४०	१९	५	२७	४६	१८
	गुरु	५	२१	०	०	५	२२	१५	३६	५	२२	४८	०	५	२२	३५	२	३	२३	५४	४२
	शुक्र	२	१९	३९	०	२	२१	२	१०	२	२०	३८	२४	२	२०	४२	४३	८	२	२६	३०
	शनि	७	२६	३६	३६	८	२०	५३	३१	७	२३	९	३६	७	२८	१४	५३	५	२९	७	३६
पात	मंगल	१	१०	८	२४	०	२१	५९	४६	१	१०	१९	१२	१	९	३	३६	०	१०	४९	०
	बुध	०	२०	५२	४८	०	२१	२०	५३	०	२०	९	३६	०	२१	१	२६	११	१७	०	०
	गुरु	२	१९	४४	२४	२	२२	२	३८	२	२०	३८	२४	२	२१	४३	१२	१	१९	४८	६
	शुक्र	२	०	१	४८	२	०	५	२	२	०	२८	४८	२	०	५	२	१	२	३९	५४
	शनि	३	१०	३७	१२	३	१३	२३	३१	३	१०	४८	०	३	१०	२६	२५	२	९	०	०

शक ४२१ (गतकलि ३६००) के मन्दोच्च और पात

	ग्रह	केरोपन्तीय द्वारा	प्रथमआर्यसिद्धान्त स्थिति	प्रथमआर्यसिद्धान्त केरो० से ±	वर्तमान सूर्यसिद्धान्त स्थिति	वर्तमान सूर्यसिद्धान्त केरो० से ±	ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त स्थिति	ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त केरो० से ±
	१	२	३	४	५	६	७	८
		रा. अं. क.	रा. अं.	अं. क.	रा. अं. क.	अं क.	रा. अं. क.	अं क.
उच्च	सूर्य	२ १७ ७	२ १८	+ ० ५३	२ १७ १५	+ ० ८	२ १७ ५४	+ ० ४७
	मंगल	४ ८ ११	३ २८	− १० ११	४ १० १	+ १ ५०	४ ८ २३	+ ० १२
	बुध	७ २४ १	७ ०	− २४ ०	७ १० २६	− १३ ६५	७ १४ ५३	− ९ ८
	गुरु	५ २० ३८	६ ०	+ ९ २२	५ २१ १६	+ ० ३८	५ २२ ३१	+ १ ५३
	शुक्र	९ २१ ३	३० ०	− २०१ ३	२ १९ ४९	− २११ १४	२ २१ १४	−२०९ ५९
	शनि	८ ५ १२	७ २६	− ९ १२	७ २६ ३७	− ८ ३५	८ २० ५४	+ १५ ४२
पात	मंगल	१ ८ ९	१ १०	+ १ ५१	१ १० ५	+ १ ५६	० २१ ५५	− १६ १४
	बुध	१ ० १८	० २०	− १० १८	० २० ४४	− ९ ३४	० २१ १२	− ९ ६
	गुरु	२ २५ ३०	२ २०	− ५ ३०	२ १९ ४१	= ५ ४९	२ २२ २	− ३ २८
	शुक्र	२ ३ ४०	२ ०	− ३ ४०	१ २९ ४६	− ३ ५४	१ २९ ४९	− ३ ५१
	शनि	३ १० १३	३ १०	− ० १३	३ १० २५	+ ० १२	३ १३ १३	+ ३ ०

उच्च और पात

कलियुगारम्भकालीन और शके ४२१ (गतिकलि ३६०० वर्ष) के भिन्न-भिन्न ग्रन्थों के सब ग्रहों के मन्दोच्च और पात पूर्व पृष्ठों में लिखे हैं। प्रो० ह्विटने ने टालमी और सूर्यसिद्धान्त के उच्च और पातों की तुलना करते हुए लिखा है कि 'हिन्दुओं ने ये टालमी से अथवा उसके पहिले के ग्रीक ग्रन्थों से लिये होंगे।' उनका कथन गलत है, यह दिखलाने के लिए मैंने निम्नलिखित कोष्ठक में आधुनिक यूरोपियन मान (केरोपन्तीय ग्रह-साधनकोष्ठक) द्वारा लाये हुए टालमीकालीन (शके ७०, सन् १४८ ई०) उच्च और पातों से टालमी के उच्च और पातों की तुलना की है।

टालमी कालीन (शक ७०) उच्च और पात

ग्रह	उच्च									पात							
	केरोपन्तीय सायन			टालमी के स्थिति			टालमी के केरो० से ±		केरोपन्तीय सायन			टालमी के स्थिति			टालमी के केरो० से ±	
	रा०	अं०	क०	रा०	अं०	क०	अं०	क०	रा०	अं०	क०	रा०	अं०	क०	अं०	क०
सूर्य	२	११	५	२	५	३०	– ५	३५								
मंगल	४	१	३९	३	२५	३०	– ६	९	१	५	२९	०	२५	३०	– ९	५९
वुध	७	१८	३२	६	१०	०	– ३८	३२	०	२६	५	०	१०	०	– १६	५
गुरु	५	१५	७	५	११	०	– ४	७	२	२२	१	१	२१	०	– ३१	१
शुक्र	९	१६	१८	१	२५	०	–२३१	१८	२	०	३९	१	२५	०	– ५	३९
शनि	७	२८	४५	७	२३	०	– ५	४५	३	७	२८	६	३०	०	+ ८५	३२

हमारे सिद्धान्तों द्वारा लाये हुए उपरोक्त कलियुगारम्भकालीन और शके ४२१ के मन्दोच्च और पातों को देखने से ज्ञात होगा कि ३६०० वर्षों में उनमें बहुत थोड़ा अन्तर पड़ा है। इसका कारण यह है कि उनकी गति बहुत कम है। हमारे सिद्धान्तों में किसी भी ग्रह के मन्दोच्च या पात की गति १३ सहस्र वर्षों में एक अंश से अधिक नहीं है। इन दोनों कोष्ठकों के केरोपन्तीय ग्रन्थ द्वारा लाये हुए अंकों को देखने से ज्ञात होगा कि सम्पात का आरम्भ स्थान मानने से अर्थात् सायन मान से गति कम नहीं आती पर नक्षत्र भगणमान से अर्थात् निरयन मान से बहुत कम आती है।

पहले के कोष्ठक में मन्दोच्च और पातों की आधुनिक यूरोपियन मान द्वारा लायी हुई सूक्ष्म सायन और वास्तविक निरयन वार्षिक गतियां लिखी हैं। ये practical astronomy Loomis से ली गयी हैं। ये सम्पातगति ५०.२ विकला मानकर लायी गयी हैं। हमारे ज्योतिष ग्रन्थों में सम्पातगति ६० विकला मानी गयी है। उसके अनुसार वस्तुतः जो वार्षिक निरयन गतियां आनी चाहिए वे उपर्युक्त कोष्ठक के चौथे खाने में लिखी हैं। यूरोपियन गतियों से भारतीय ग्रन्थों की गतियों की तुलना करनी हो तो इन्हीं से करनी चाहिए। इस प्रकार तुलना करने पर भी सूर्यसिद्धान्त की गतियाँ बहुत अशुद्ध ज्ञात होती हैं और अन्य सिद्धान्तों की भी दशा प्रायः ऐसी ही है। हमारे ग्रन्थों में किसी भी उच्च या पात की वार्षिक गति, विकला के एक तृतीयांश से अधिक नहीं है। इस विषय में प्राचीनों को दोष देना तो बहुत सरल है, परन्तु मैं समझता हूँ कि वर्तमान सूक्ष्म यन्त्रों द्वारा भी आकाश में एक विकला नापने में कितनी कठिनाई होती है, यह जिसे ज्ञात है वह उन्हें दोष कभी भी नहीं देगा। कुछ नक्षत्रग्रह-युतियों के अवलोकन से मुझे ऐसा अनुभव हुआ है कि कभी-कभी दो ग्रहादिकों में दूरबीन से लगभग ५ कला (३०० विकला) अथवा इससे भी अधिक अन्तर दिखाई देता है, पर केवल नेत्रों से देखने पर वे दोनों सटे हुए से प्रतीत होते हैं अर्थात् उनमें अन्तर बिलकुल नहीं दिखाई देता, इसलिए हमें प्राचीन ग्रन्थों के किसी भी मान की यूरोपियन सूक्ष्म मान से तुलना करते समय केवल इतना ही देखना चाहिए कि वे कहां तक सूक्ष्म हैं और तदनुसार उच्च और पातों के सम्बन्ध में प्राचीनों को दोष न देकर उलटी उनकी प्रशंसा ही करनी चाहिए। यह बात हमारे ग्रन्थकारों के ध्यान में आ चुकी थी कि उच्च और पातों की गतियां अत्यन्त सूक्ष्म हैं। उनके ग्रन्थों द्वारा लायी हुई शके ४२१ की उच्चपातस्थिति तथा केरोपन्तीय ग्रन्थ द्वारा लायी हुई स्थिति से उसके अन्तर ऊपर के पृष्ठ में लिखे हैं। उनसे ज्ञात होता है कि उनके सिद्धान्तों द्वारा लायी हुई स्थिति वास्तविक स्थिति के बिलकुल पास है। सूर्य के उच्च में तो बहुत ही कम अशुद्धि है। शुक्र का उच्च अधिक अशुद्ध है। पता नहीं लगता इसका कारण क्या है। यह एक विचारणीय विषय है।

आर्यभटीय के बुध का उच्च २४ अंश न्यून है और शेष १० अंश से कम ही न्यून या अधिक हैं। सूर्यसिद्धान्त के उच्च इससे शुद्ध हैं। उसमें बुध का १३ अंश और शनि का ८ अंश न्यून है। उसके मंगल और गुरु में बहुत थोड़ी अशुद्धि है। ब्रह्मगुप्त-सिद्धान्त के उच्च सूर्यसिद्धान्त जितने ही अथवा उससे भी अधिक शुद्ध हैं। केरोपन्तीय ग्रन्थ द्वारा लायी हुई स्थिति सायन है, परन्तु उसे निरयन मानकर तुलना करने में कोई हानि नहीं है क्योंकि शके ४२१ में अयनांश २० कला मात्र था।

मन्दोच्च और पातों की वार्षिक गतियां

	ग्रह	यूरोपियन सूक्ष्म मान द्वारा लायी हुई सायन	वास्तविक निरयन	हमारे निरयन मान से जो आनी चाहिए	सूर्य सिद्धान्तानुसार
	१	२	३	४	५
		विकला	विकला	विकला	विकला
उच्च	सूर्य	+६१.५	+११.२४	+ १.५	+०.११६१
	मंगल	+६५.७	+१५.४६	+ ५.७	+ .०६१२
	बुध	+५६.१	+ ५.८१	− ३.९	+ .११०४
	गुरु	+५६.९	+ ६.६५	− ३.१	+ .२७
	शुक्र	+४७.०	− ३.२४	−१३.०	+ .१६०५
	शनि	+६९.६	+१९.३१	+ ९.६	+ .०११७
पात	मंगल	+२५.०	−२५.२२	−३५.०	− .०६४२
	बुध	+४०.२	−१०.०७	−१९.८	− .१४६४
	गुरु	+३४.३	−१५.९०	−२५.७	− .०५२२
	शुक्र	+२९.७	−२०.५०	−३०.३	− .२७०९
	शनि	+३०.७	−१९.५४	−२९.३	− .१९८६

पृष्ठ २८४ में टालमीकालीन टालमी और केरोपन्तीय उच्चों की तुलना की है। टालमी के अन्य मान सायन हैं, अतः उच्च भी सायन ही होंगे। सूर्य के उच्च से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है, इस कारण केरोपन्तीय सायन मानों से ही उनकी तुलना की है। उससे ज्ञात होता है कि टालमी का भी शुक्रोच्च बहुत अशुद्ध है और उनके शेष उच्चों में भी सूर्यसिद्धान्त और ब्रह्मसिद्धान्त से अधिक अशुद्धि है।

उपर्युक्त पृष्ठ के आर्यभटीय और सूर्यसिद्धान्त के पातों में अशुद्धि का औसत मान

४ अंश और ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त में ७ अंश है, परन्तु पृष्ठ २८४ के टालमी के पात औसतन ३० अंश अशुद्ध हैं। उनके शनि और गुरु के पात अत्यन्त अशुद्ध हैं।

टालमी का सूर्योच्च ६५ अंश ३० कला है और टालमीकालीन अर्थात् सन् १५० के लगभग का वास्तविक सायन सूर्योच्च ७१ अंश है। ६५ अंश ३० कला अन्य किसी भी रीति से नहीं आता। हमारे किसी भी सिद्धान्त का सूर्योच्च १ अंश से अधिक अशुद्ध नहीं है, पर यहां टालमी की आश्चर्यजनक ५।। अंश अशुद्धि स्पष्ट है। इससे सिद्ध होता है कि --'हिन्दुओं ने उच्च और पात टालमी से अथवा उसके पूर्व के ग्रीक ग्रन्थों से लिये' यह ह्विटने का कथन भ्रमपूर्ण है। उन्होंने आधुनिक यूरोपियन ग्रन्थों द्वारा टालमीकालीन या शके ४२१ के अथवा किसी अन्य समय के उच्च और पात स्वयं लाकर तुलना नहीं की है। वे इस गणित को बड़ा क्लिष्ट[1] और श्रमसाध्य बतलाते हैं, परन्तु वस्तुत: वह विशेष कठिन नहीं है। उनकी योग्यता का विचार करने से ज्ञात होता है कि उनके लिए यह गणित करना कठिन नहीं था। इससे यही निश्चित होता है कि उन्होंने इसका विचार नहीं किया और पर्याप्त विवेचन से विहीन अनुमानों का अशुद्ध होना स्पष्ट ही है। टालमी और हमारे सिद्धान्तों के उच्च और पातों के अंक ही, जिनमें कि ३ से ८२ अंश पर्यन्त अन्तर है, स्पष्ट बतला रहे हैं कि दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं है। अधिक क्या, केवल सूर्य के उच्च से ही यह बात सिद्ध हो जाती है। शके ४२१ से आज तक के हमारे सब ग्रन्थकारों ने सूर्योच्च ७८ अंश के आसपास माना है। इससे कितने दिनों पूर्व तक ७८ ही मानते थे, यह ज्ञात नहीं है। भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों के अन्य उच्चों में अधिक अंशों का अन्तर है, परन्तु सूर्योच्च की स्थिति ऐसी नहीं है। हमारे ग्रन्थकार किसी अन्य ग्रन्थ से ग्रहादि लेते समय उनमें एक विकला का भी अन्तर नहीं पड़ने देते। इस ग्रन्थ में ही आगे इसके अनेकों उदाहरण मिलेंगे, अत: हिन्दुओं ने उच्च यदि टालमी से लिये होते तो निश्चित है कि वे सूर्योच्च के ६५ अंश को ७८ कभी भी न कर देते। हमारे भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों के उच्च-पातों में भी बहुत अन्तर है। इससे सिद्ध होता है कि उन्होंने आपस में भी एक दूसरे के मान नहीं लिये हैं बल्कि स्वकीय अनुभव द्वारा सबने अपने-अपने स्वतन्त्र मान निकाले हैं।

ह्विटने का कथन है कि 'उच्च और पात सरीखे कठिन विषयों का ज्ञान सम्पादन करने की अथवा यदि ये दूसरों से लिये हों तो कालान्तर मान के अनुसार इनमें सुधार करने की योग्यता हिन्दुओं में नहीं है।' यह कथन हिन्दुओं पर तो लागू नहीं होता, पर

---

१. Intricate and labouries a calculation **बर्जेस के सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद का पृष्ठ २८३ देखिए।**

टालमी से इसकी ठीक संगति लगती है। टालमी-कथित ६५।३० सूर्योच्च टालमी के पूर्व हिपार्कस के समय (ई० पू० १५० में) था, अतः टालमी नें कदाचित् अपने काल के अनुसार उचित परिवर्तन किये बिना वही ले लिया होगा। गणित द्वारा टालमी के अन्य ग्रहों के उच्च और पातों की संगति भी हिपार्कस-काल से ठीक लगती है, अतः कह सकते हैं कि वे टालमी ने उचित संशोधन न करते हुए भी हिपार्कस से ही लिये हैं, परन्तु हिपार्कसकालीन अथवा उसके पूर्व की उच्चपातस्थिति जो कि उस समय मानी जाती थी सम्प्रति उपलब्ध नहीं है, इसलिए इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। टालमी की उच्चपातस्थिति अशुद्ध रहते हुए, हिन्दू-ग्रन्थों द्वारा लायी हुई स्थिति से उसका साम्य न होते हुए तथा टालमी से पहिले की उच्चपातस्थिति का ज्ञान न होते हुए भी (ह्विटने ने स्वयं ऐसा लिखा है) ह्विटने का यह कथन कि 'हिन्दुओं ने उच्च और पात टालमी से अथवा उसके पहिले के ग्रीकों से लिये' कहां तक योग्य है, इसका विचार वाचक स्वयं करें।

टालमी के उच्च और पातों की—जो कि उन्होंने सम्भवतः हिपार्कस से लिये हैं—हमारे ग्रन्थों द्वारा लाये हुए उच्च और पातों से तुलना करने से ज्ञात होता है कि उच्चों में ३ से ३० अंश तक और पातों में ४ से ८२ अंश तक अन्तर है। यदि हिन्दुओं ने हिपार्कस काल से शके ४२१ पर्यन्त ६५० वर्षों में उच्च और पातों की इतनी गतियां लाकर उनसे संस्कृत उच्च और पात अपने ग्रन्थों में लिखे होते तो दोनों के अंकों में कुछ नियमित अन्तर दिखाई देते, परन्तु ऐसा नहीं है। साथ ही साथ ६५० वर्षों में यदि उन्होंने इतनी अधिक गति मानी होती तो वे अपने ग्रन्थों में १३ सहस्र वर्षों में एक अंश से भी कम उच्चपात-गति कभी भी न लिखते। इससे सिद्ध होता है कि हिन्दुओं ने टालमी के पहिले के ग्रन्थों से भी उच्च और पात नहीं लिये हैं। हमारे सिद्धान्तकारों ने अपने-अपने समय की उच्चपात स्थिति स्वयं निश्चित की है, इसके और भी प्रमाण हैं।

मूल सूर्यसिद्धान्त में उच्च और पातों के कल्पीय भगण थे या नहीं, इसे जानने का कोई उपाय नहीं है, पर पञ्चसिद्धान्तिका में वे नहीं हैं। आर्यभट ने भी केवल अपने समय की उच्चपात-स्थिति लिखी है, उनके भगण नहीं लिखे हैं। इससे ज्ञात होता है कि उन्होंने उच्चपात-भगण यह समझ कर नहीं लिखे होंगे कि यदि उनमें गति है तो बहुत थोड़ी है और वह अल्पकाल में ध्यान में आने योग्य नहीं है। इष्टकाल में सूर्योच्च लाने की रीति बतलाते हुए भास्कराचार्य उसकी गति के विषय में लिखते हैं—

"उच्चस्य चलनं वर्षशतेनापि नोपलक्ष्यते किन्त्वाचार्यैश्चन्द्रमन्दोच्चवदनुमानात्

कल्पिता गतिः। सा चैवं––यैर्भगणैः साम्प्रताहर्गणाद्वर्षगणाद्वा एतावदुच्चं भवति ते भगणा युक्त्या कुट्टकेन वा कल्पिताः।"

इसका तात्पर्य यह है क उच्च-गति का अनुभव सैकड़ों वर्षों में भी नहीं होता, पर चन्द्रोच्च-गति की प्रतीति होती देखकर आचार्यों ने अनुमान किया कि सूर्योच्च में भी गति होगी और तदनुसार उन्होंने कल्प के आरम्भ में उसकी स्थिति मेषारम्भ में मान कर युक्ति द्वारा उसके भगणों की इस प्रकार कल्पना की जिससे गणित द्वारा उसकी इष्टकालीन ठीक स्थिति लायी जा सके। इसके बाद उन्होंने लिखा है कि अन्य ग्रहों के उच्चों और पातों के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि हमारे सिद्धान्तकार उच्च और पातों की इष्टकालीन स्थिति लाना जानते थे और उन्होंने उनके भगणों की स्वयं कल्पना करके तदनुसार अपने-अपने समय के उच्च-पात अपने ग्रन्थों में लिखे हैं, **टालमी या उसके पूर्व के ग्रीकों से नहीं लिये हैं।**

बरु ी का कथन है कि आर्यभट दो थे। एक कुसुमपुर निवासी और दूसरे उनसे प्राचीन। उसने लिखा है कि प्राचीन आर्यभट का ग्रन्थ मुझे नहीं मिला, पर कुसुमपुर-निवासी आर्यभट उनके अनुयायी थे। बेरुनी के ग्रन्थ में इन दोनों का उल्लेख ३० स्था ों में है। उन सबमें वर्णित बातें इन प्रथम आर्यभट पूर्णतया लागू होती हैं। ग्रहभगणसंख्या इत्यादि बेरुनी-लिखित जिन बातों में दोनों का भेद स्पष्ट दिखाई देता है ये बातें द्वितीय आर्यभट पर किसी प्रकार भी लागू नहीं होतीं और चूंकि वे प्रथम आर्यभट के अनुयायी नहीं थे, इसलिए बेरुनी-कथित दोनों आर्यभट वस्तुतः एक ही हैं। यह बात प्रोफेसर साचो के भी ध्यान में नहीं आयी। इस ग्रन्थ में वर्णित द्वितीय आर्यभट जिनका समय शके ८७५ के आसपास निश्चित किया गया है, बेरुनी के पहिले हुए होंगे। यद्यपि यह स्पष्ट है कि उनका ग्रन्थ बेरुनी ने नहीं देखा था तथापि उसे उपर्युक्त भ्रम दो आर्य-भटों की चर्चा सुनने के कारण ही हुआ होगा––ऐसा ज्ञात होता है। इससे अनुमान होता है कि ि तीय आर्यभट बेरुनी के सौ पचास ही वर्ष पूर्व हुए होंगे अर्थात् मैंने उनका जो समय निश्चित किया है वह ठीक है।[1]

---

१. बेरुनी ने अबुलहसन के ग्रन्थ की भगणसंख्याएँ लिखी हैं (भाग २ पृष्ठ १९)। उनमें से बहुत सी प्रथम आर्यभट के ग्रन्थ से मिलती हैं, कुछ नहीं मिलतीं––वे लेखक के प्रमादादि के कारण अशुद्ध हो गयी होंगी। बेरुनी के पास आर्यभट के ग्रन्थ का कुछ भाग और उसका अरबी अनुवाद था (भाग १ पृष्ठ २४६ और आर्यभटीय चतुर्थपाद की ११वीं आर्या देखिए)। यह अनुवाद खलीफा मनसूर के शासनकाल में हुआ होगा।

वराहमिहिर

काल

ये एक प्रख्यात ज्योतिषी हो गये हैं। ज्योतिष की तीनों शाखाओं के इनके ग्रन्थ हैं। इन्होंने स्वयं स्पष्टतया अपने काल का उल्लेख कहीं नहीं किया है पर अपने करण ग्रन्थ 'पञ्चसिद्धान्तिका' में गणितारम्भ वर्ष शके ४२७ माना है। यदि पञ्चसिद्धान्तिका ४२७ में ही बनानी हो तो तो इनका जन्म शके ४०७ से पूर्व होना चाहिए, क्योंकि २० वर्ष के कम अवस्था में ऐसा ग्रन्थ बनाना असम्भव है। इनके मृत्युकाल के विषय में एक वाक्य प्रचलित है—

नवाधिकपञ्चशतसंख्यशाके वराहमिहिराचार्यो दिवं गतः।

पता नहीं चलता यह गद्य है या पद्य। यदि गद्य है तो—प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों के शुद्धत्वाशुद्धत्व का विचार करने से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ से अब तक इसके स्वरूप में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ होगा—इसमें सन्देह है और यदि पद्य है तो अत्यन्त अशुद्ध है। किसी-किसी का कथन है कि इसे ब्रह्मगुप्त सिद्धान्त के टीकाकार पृथूदक स्वामी ने लिखा है। मैंने ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त के आरम्भ के १० अध्यायों की पृथूदक-टीका पढ़ी है। उसमें यह नहीं है। हो सकता है, उसके अवशिष्ट भाग में अथवा खण्डखाद्य की पृथूदक टीका में हो। पृथूदक स्वामी का समय शक ६०० के आसपास है, अतः पृथूदक का होने पर भी वराहमिहिर के ४०० वर्ष बाद का होने के कारण इसका विश्वास विचारपूर्वक ही करना होगा। प्रो० वेवर का कथन है कि (वेवर के ग्रन्थ की पृष्ठ २६३ की टिप्पणी देखिए) ब्रह्मगुप्त के टीकाकार आमराज ने वराहमिहिर की मृत्यु शक ५०६ में बतायी है। उन्होंने आमराज का वचन नहीं लिखा है, पर वह प्रायः यही होगा अतः पहिले यही निश्चित नहीं होता कि यह वाक्य पृथूदक का है या आमराज का। वेवर ने आमराज का एक और कथन यह लिखा है कि शतानन्द का जन्मकाल शके ६१७ है। शतानन्द के 'भास्वती' नामक करण ग्रन्थ में आरम्भवर्ष शके १०२१ है और अन्य कोई शतानन्द प्रसिद्ध नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि शतानन्द के विषय में आमराज का यह कथन बिलकुल गलत है। यदि उपर्युक्त वाक्य भी उन्हीं का है तो उसकी भी योग्यता इतनी ही समझनी चाहिए। दूसरी बात यह कि आमराज का भी समय (शके ६१७) वराहमिहिर के लगभग चार-पांच शताब्दी बाद में है, अतः उनके कथन का भी कोई विशेष महत्व नहीं है। इसलिए इस नाना-संशय-ग्रस्त वचन के अधार पर वराह का मृत्युकाल शक ५०६ मानकर उनका समय निश्चित करने की अपेक्षा उनकी पञ्चसिद्धान्तिका द्वारा—जिसका कि गणितारम्भ

वर्ष शके ४२७ उसमें दी हुई ग्रहस्थित द्वारा निःसंशय शुद्ध सिद्ध होता है—विचार करना उचित और विश्वसनीय होगा।

करण ग्रन्थ का गणितारम्भ-वर्ष ही उसका पूर्तिकाल नहीं होता। केरोपन्त के ग्रन्थ में शके १७७२ के उदाहरण हैं, पर वह शके १७८२ में छपा है, अतः सम्भव है पञ्चसिद्धान्तिका भी ४२७ के बाद पूर्ण हुई हो, तथापि उसकी रचना का आरम्भ शके ४२७ के पास ही दो एक वर्ष के भीतर हुआ होगा, अन्यथा वह आरम्भ-वर्ष न माना जाता। ४२७ तक वराह का जन्म ही न हुआ हो—यह बिलकुल असम्भव है। इतना ही नहीं, मैं तो समझता हूँ उस समय वे कम से कम १५,१६ वर्ष के अवश्य रहे होंगे और उन्होंने यह शक उदाहरण के लिए लिया होगा। इसके अतिरिक्त इसका अन्य कोई समुचित कारण नहीं दिखाई देता। शके ४२७ में चैत्र शुक्ल प्रतिपदा के लगभग मध्यम मेष-संक्रान्ति हुई थी। सम्भव है, उस समय की मध्यम ग्रहस्थिति लाने में तथा शुक्ल प्रतिपदा से अहर्गण लाने में सुविधा देखकर उन्होंने यह शक लिया हो और ग्रन्थ वस्तुतः बाद में बना हो। परन्तु ४२७ के पहिले शके ४१९ में और उसके बाद ४३८ में भी मध्यम मेष संक्रान्ति शुक्ल प्रतिपदा के पास आती है। ४१९ का तो विचार ही नहीं करना है, पर उन्होंने ४३८ भी नहीं लिया है। इससे सिद्ध होता है कि इस ग्रन्थ का रचनाकाल शके ४३८ के पूर्व ही है।

पञ्चसिद्धान्तिका में आर्यभट का नाम आया है और उनका ग्रन्थ शके ४२१ का है, इससे यहां एक शंका होती है कि छः ही वर्षों में आर्यभट का ग्रन्थ इतना प्रसिद्ध कैसे हो गया कि वह वराहमिहिर तक पहुंचा और उन्हें अपने ग्रन्थ में उसकी चर्चा करनी पड़ी। परन्तु यह शंका निरर्थक है। अवन्ती ऐसी प्रसिद्ध राजधानी में इसी कार्य के लिए नियुक्त वराहमिहिर सरीखे प्रख्यात ज्योतिषी को आर्यभट का मत ज्ञात होना अथवा उनका ग्रन्थ देखने का अवसर प्राप्त होना असम्भव नहीं है, और दूसरी बात यह कि वराह का ग्रन्थ शके ४२७ के चार, छ वर्ष बाद समाप्त हुआ होगा, यह भी सम्भव है। शके ४२७ में वे स्वयं गणना करने के लिए सर्वथा योग्य थे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। उस समय उनकी अवस्था यदि १५ वर्ष मानते हैं तो जन्म शक ४१२ आता है और मृत्यु-काल शके ५०९ मानने से उस समय उनकी अवस्था ९७ वर्ष आती है। यह बात असम्भव नहीं कहीं जा सकती। यह भी कह सकते हैं कि उनका जन्म शके ४२७ में हुआ होगा और इसलिए उन्होंने इसे उदाहरणार्थ लिया होगा, पर इसके बाद नहीं हुआ था—यह बिल्कुल निःसन्देह है। इससे सिद्ध होता है कि उनका जन्म शके ४२७ के पहिले शके ४१२ के आसपास हुआ था।

ज्योतिर्विदाभरण में एक श्लोक है—

धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशङ्कुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासा:।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपते: सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य।।

इसमें विक्रमादित्य के नवरत्नों में वराहमिहिर का नाम आया है इससे ज्ञात होता है कि विक्रम-शकारम्भ के आसपास एक वराहमिहिर थे। ज्योतिर्विदाभरण में ग्रन्थकार ने अपने को रघुवंश, कुमारसम्भव इत्यादि का कर्त्ता प्रसिद्ध कवि कालिदास लिखा है और—

वर्षै: सिन्धुरदर्शनाम्बरगुणै ३०६८ र्याते कलौ संमिते
मासे माधवसंज्ञिते च विहितो ग्रन्थक्रियोपक्रम:।।

श्लोक में ग्रन्थारम्भ-काल गतकलि ३०६८ वर्ष अर्थात् विक्रम संवत् २४ बताया है परन्तु यह ग्रन्थ विश्वसनीय नहीं है, क्योंकि इसमें—

"शाक: शराम्भोधियुगो ४४५ नितो हृतो मानं खतर्कैरयनांशका: स्यु: "
यह अयनांश लाने की रीति बतलायी है और प्रथमाध्याय में लिखा है—'मत्वावराहमिहिरादिमतै:' इस ग्रन्थ के अनुसार विक्रम संवत्सर के आरम्भ के लगभग यदि वस्तुत: कोई वराहमिहिर रहे हों तो वे पञ्चसिद्धान्तिका इत्यादि ग्रन्थों के रचयिता वराहमिहिर से भिन्न होने चाहिए।[1]

---

१. पूनानिवासी कैलासवासी श्री रघुनाथ शास्त्री टेंभूकर नामक एक ज्योतिषी ने वराहमिहिर के समय के विषय में मुझे एक श्लोक बतलाया है। वह यह है—

स्वस्तिश्रीनृपसूर्यसूनुजशके याते द्विवेदाम्बरत्रै—
३०४२ मानाब्दमिते त्वनेहसि जये जर्षे वसन्तादिके।
चैत्रे श्वेतदले शुभे वसुतिथावादित्यदासादभूद्-
वेदांगे निपुणो वराहमिहिरो विप्रो रवेराशिभि:।।

इसमें युधिष्ठिर शक ३०४२ में सूर्य के आशीर्वाद से आदित्यदास के पुत्र वराहमिहिर की उत्पत्ति बतलायी है। पञ्चसिद्धान्तिकाकार वराहमिहिर भी 'आदित्यदासतनय' और 'सवितृलब्धवरप्रसाद' थे। परन्तु इस श्लोक में बतलाए हुए संवत्सर की किसी भी पद्धति से गणित से संगति नहीं लगती, अत: यह विश्वसनीय नहीं है।

कुल, स्थल इत्यादि

वराहमिहिर ने बृहज्जातक के उपसंहाराध्याय में लिखा है—

आदित्यदासतनयस्तदवाप्तबोधः
कापित्थके सवितृलब्ध-वरप्रसादः।
आवन्तिको मुनिमतान्यवलोक्यसम्यग्-,
घोरां वराहमिहिरो रुचिरां चकार ।९।।

इससे ज्ञात होता है कि इनके पिता का नाम आदित्यदास था और इन्होंने ज्ञान उन्हीं से प्राप्त किया था। कापित्थक में इन्हें सूर्य का वर-प्रसाद प्राप्त हुआ था और ये अवन्ती के निवासी थे। अवन्ती के पास कापित्थक नाम का कोई गाँव होगा और वहाँ ये कुछ दिन रहे होंगे। सब ग्रन्थों के आरम्भ में इन्होंने मङ्गलाचरण में मुख्यतः सूर्य की वन्दना की है, इससे ज्ञात होता है कि ये सूर्य के भक्त थे। पञ्चसिद्धान्तिका के प्रथमाध्याय की निम्नलिखित आर्या से ज्ञात होता है कि इनके ज्योतिषशास्त्र के गुरु इनके पिता से भिन्न थे।

दिनकरवसिष्ठपूर्वान् विविधयुनीन् भावतः प्रणम्यादी।
जनक गुरुञ्च शास्त्रे येतास्मिन् नः कृतो बोधः ।।१।।

दूसरे स्थलों के अन्य चार-पाँच उल्लेखों से भी ज्ञात होता है कि ये अवन्ती अर्थात् उज्जयिनी के निवासी थे।

परदेशगमन

कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि भास्कराचार्य ने यवन देशों में जाकर ज्योतिषशास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया था, परन्तु भास्कराचार्य के और उनके पूर्व के ग्रन्थों को देखने से ज्ञात होता है कि यह धारणा भ्रमपूर्ण है। वराहमिहिर के विषय में भी कोई-कोई ऐसा ही कहते हैं, परन्तु वराह के ग्रन्थ और उनकी भटोत्पलकृत टीकाओं को देखने से ज्ञात होता है कि वराह के ग्रन्थों में जिन विषयों का वर्णन है उन सब के, वराह के पूर्व ही इस देश में अनेकों ग्रन्थ बन चुके थे, अतः उन्हें विदेश जाने की कोई आवश्यकता नहीं थी।

ग्रन्थ

इन्होंने यात्रा विवाह, गणित (करण), होरा और संहिता विषयों के ग्रन्थ बनाये हैं। संहिता शाखा के इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ बृहत्संहिता के निम्नलिखित श्लोक से ज्ञात होता है कि वह सब के अन्त में बना है।

वक्रानुवक्रास्तमयोदयाद्यास्ताराग्रहाणां करणे मयोक्ताः।
होरागतं विस्तरतश्च जन्मयात्राविवाहैः सह पूर्वमुक्तम् ।।१०।।

अध्याय १

इस श्लोक में बतलाया हुआ होरा शाखा का ग्रन्थ वृहज्जातक ही है। इसके निम्नलिखित श्लोकों से ज्ञात होता है कि विवाह और करण-ग्रन्थ इसके पहिले वन चुके थे और यात्रा विषयक ग्रन्थ इसके बाद वना।

अध्यायानां विंशतिः पञ्चयुक्ता जन्मन्येतद्यात्रिकं चाभिधास्ये ।।३।।
...विवाहकालः करणं ग्रहाणां प्रोक्तं पृथक् तद्विपुला च शाखा ।।६।।

वृहज्जातक—उपसंहाराध्याय।

इसमें बतलाया हुआ करण ग्रन्थ पञ्चसिद्धान्तिका ही है। पञ्चसिद्धान्तिका में ऐसा कोई उल्लेख नहीं है जिससे यह सिद्ध होता हो कि वराह ने इसके पहिले कोई ग्रन्थ वनाया था इससे और वराहमिहिर की अवस्था का विचार करने से पञ्चसिद्धान्तिका ही उनका प्रथम ग्रन्थ ज्ञात होता है। वृहत्संहिता की भटोत्पल कृत प्रथमाध्याय की टीका से ज्ञात होता है कि वराह के विवाह विषयक ग्रन्थ का नाम 'वृहद्विवाहपटल' था। वह और उनका यात्रा विषयक ग्रन्थ, ये दोनों इस समय उपलव्ध नहीं हैं। होरा शाखा पर वृहज्जातक के अतिरिक्त उनका एक और ग्रन्थ लघुजातक नाम का है। उसमें लिखा है—

होराशास्त्रं वृत्तैर्मया निवद्धं निरीक्ष्य शास्त्राणि।
यत्तस्याप्यार्याभिः सारमहं सम्प्रवक्ष्यामि ।।१।।

इससे ज्ञात होता है कि लघुजातक वृहज्जातक का ही संक्षिप्त स्वरूप है। रचना-काल के अनुसार इनके ग्रन्थों का क्रम यह है—पञ्चसिद्धान्तिका, विवाहपटल, वृह-ज्जातक लघुजातक, यात्रा और वृहत्संहिता। लघु जातक का रचनाकाल यात्रा-ग्रन्थ और वृहत्संहिता के बाद भी हो सकता है।

ग्रन्थ प्रचार

इनमें से वृहज्जातक और लघुजातक का इस समय भी ज्योतिषियों में पर्याप्त प्रचार है और ये वम्वई, पूना, काशी इत्यादि स्थानों में छप चुके हैं, अन्य भी अनेक स्थानों में अनेकों लिपियों में छपे होंगे। डा० केर्न ने मूल मात्र वृहत्संहिता छपायी है और उसका इंग्लिश में अनुवाद करके उसे रायल एशियाटिक सोसायटी की पांचवीं पुस्तक में छपाया है। कलकत्ता में विव्लिओथिका इंडिका में वृहत्संहिता मूलमात्र छपी

है। रत्न गिरि के जगन्मित्र छापाखाने में बृहत्संहिता का मूल और उसका [मराठी अनुवाद छपा है।

टीकाएँ

भटोत्पल वराहमिहिर के प्रसिद्ध टीकाकार हैं। यद्यपि यह सत्य है कि बृहत्संहिता और बृहज्जातक ग्रन्थ स्वयं उपयुक्त होने के कारण आज तक प्रचलित हैं तथापि उनके प्राचार का प्रमुख कारण उत्पल टीका है, ऐसा कह सकते हैं। बृहत्संहिता की टीका में नीराजनविधि विषय में उत्पल नें लिखा है 'यात्रायां व्याख्यातम्"। इससे ज्ञात होता है कि उन्होंने यात्रा ग्रन्थ की भी टीका की थी। उत्पल ने लघुजातक की भी टीका की है। उन्होंने वराह के शेष ग्रन्थों की भी टीका की थी, इसका प्रमाण नहीं मिलता। उत्पलटीकाकाल लगभग शके ८८८ अर्थात् वराह के लगभग ४०० वर्ष बाद है। उन्होंने राहुचार की टीका में और दो-तीन अन्य स्थानों में भी लिखा है—"अन्ये एवं व्याचक्षते", इससे ज्ञात होता है कि उनके पहिले भी बृहत्संहिता की कुछ टीकाएँ थीं। बृहज्जातक की महीदास और महीधरकृत टीकाएं डेक्कनकालेज संग्रह (नं० ३४१ ३४३ सन् १८८२-८३) में[1] हैं।

ग्रन्थ वर्णन

इनके बृहत्संहिता, बृहज्जातक और लघुजातक ग्रन्थों का विवेचन आगे करेंगे। गणित-स्कन्ध सम्बन्धी ग्रन्थ पञ्चसिद्धान्तिका का बहुत कुछ विवेचन पहिले कर चुके हैं, शेष यहां करते हैं।

उपर्युक्त 'वक्रानुवक्रास्तमय...' आर्या में इन्होंने लिखा है कि ग्रहों के वक्र, अनुवक्र, अस्त और उदय इत्यादि का वर्णन मैंने करणग्रन्थ में किया है। ऐसी ही एक और आर्या है—

युद्धं यदा यथा वा भविष्यमादिश्यते त्रिकालज्ञैः।
तद्विज्ञानं करणे मया कृतं सूर्यसिद्धान्तात्॥

—बृहत्संहिता, अध्याय १७

---

१. बेरुनी ने भी वराह का समय शके ४२७ ही लिखा है। उसने इनके बृहत्संहिता और लघुजातक ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद किया था। बृहज्जातक की बलभद्रकृत टीका का उल्लेख उसने किया है। सुधाकर द्विवेदी लिखते हैं कि वराह के योगयात्रा और विवाहपटल ग्रन्थ काशी में हैं। वराह का समाससंहिता नामक ग्रन्थ था—ऐसा उत्पल ने लिखा है। मेरी समझ से वह बृहत्संहिता का संक्षेप होगा।

पञ्चसिद्धान्तिका में इन सब बातों का वर्णन है। इससे और अन्य प्रमाणों से भी सिद्ध होता है कि इनका करणग्रन्थ पञ्चसिद्धान्तिका ही है परन्तु इन्होंने स्वयं उसका पञ्चसिद्धान्तिका नाम कहीं नहीं लिखा है।

अष्टादशभिर्बद्ध्वा तारागृहतन्त्रमेतद्धयायैः।
भजते वराहमिहिरो ददाति निर्मत्सरः करणम् ।।६५।।

पञ्चसिद्धान्तिका, अध्याय १८

यहां उसे करण और तन्त्र कहा है। पञ्च सिद्धान्तिका में और भी एक स्थान में उसे करण या तन्त्र कहा है, परन्तु उत्पल ने उसे पञ्चसिद्धान्तिका कहा है। इसका कारण यह है कि ग्रन्थकार ने उसमें पांच सिद्धान्तों का अनुवाद किया है। सूर्यसिद्धान्तोक्त मध्यम ग्रहों में वराह ने अपना एक वीजसंस्कार दिया है। वह यह है—

क्षेप्याः शरेन्दु १५ विकलाः प्रतिवर्ष मध्यमक्षितिजे।
दशदश गुरोर्विशोध्याः शनैश्चरे सार्धसप्तयुताः ।।१०।।
पञ्चद्वया २५ विशोध्याःसिते बुधे खाश्विचन्द्र १२० युताः ।।

पहिले बता चुके हैं कि पञ्चसिद्धान्तिका का कोई भी सिद्धान्त वराहकृत नहीं है और बीजसंस्कार से यह कथन निर्विवाद सिद्ध होता है। यदि पञ्चसिद्धान्तिका के ही किसी सिद्धान्त की ग्रहगतिस्थिति वराह की होती तो उन्हें पृथक् यह बीजसंस्कार बतलाने की आवश्यकता कभी भी न पड़ती। पहिले बता चुके हैं, कि इस बीजसंस्कार से संस्कृत ग्रहस्थिति से भास्वतीकरण के क्षेपक मिलते हैं।

वराह ने भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों के मध्यम ग्रह तथा ग्रहण-विचारों का उल्लेख करते हुए उनके विषय में कहा है—

यत्तत्परं रहस्यं भ्रमति मतिर्यत्र तन्त्रकाराणाम्।
तदहमपहाय मत्वरमस्मिन् वक्ष्ये ग्रस्हं भानो :।।५।।
दिक्स्थितिविमर्दकर्णप्रमाणवेलाग्रहाग्रहाविन्दोः।
ताराग्रहसंयोगं देशान्तरसाधनं चास्मिन् ।।६।।
सममण्डलचन्द्रोदय—यन्त्रच्छेद्यानि ताण्डवच्छाया।
उपकरणाद्यक्षज्यावलम्बकापक्रमाद्यानि ।।७।।

अध्याय १

इसी प्रकार

प्रद्युम्नो भूतन ये जीवे सौरे च विजयनन्दी ।।५९।।
भग्नावतः स्फुटमिदं करणं दृष्टं वराहमिहिरेण ।।

यहाँ उनके कथन का उद्देश्य यह मालूम होता है कि प्राचीन तन्त्रकार जिन बातों ो ठीक न जान सके वे मैंने इस ग्रन्थ में सिद्ध की है। इससे ज्ञात होता है कि उन्होंने अपने ग्रन्थ में प्राचीन ग्रन्थों से कुछ विशेष लिखा है। उपर्युक्त मध्यम ग्रह संस्कार के अतिरिक्त उन्होंने विशेष क्या लिखा है, इसे जानने का कोई उपाय नहीं है, तथापि मूलमें विशेष परिवर्तन किया होगा, यह सम्भव नहीं है। हम समझते हैं, पांचों सिद्धान्तों की जिन वातों का ठीक अनुभव हुआ होगा और जो उपपत्ति द्वारा शुद्ध जान पड़ी होंगी वे उन्होंने ग्रन्थ में रखी होंगी और शेष छोड़ दीं होंगी, और सम्भव है देशान्तर, छायासाधन, ग्रहण और छेद्यक सम्वन्धी कुछ स्वयं वनायी हुई रीतियां लिखी होंगी।

वराह ने सर्वप्रथम करण ग्रन्थ बनाया, परन्तु उनकी वृहत्संहिता से ज्ञात होता है कि वाद में उनका ध्यान फलज्योतिष की ओर और विशेषतः नाना प्रकार के सृष्टि-चमत्कार, पदार्थों के गुण-धर्म के ज्ञान और उनके व्यवहार में उपयोग करने की ओर अधिक आकृष्ट हो गया था। ब्रह्मगुप्त ने प्राचीन ज्योतिषियों में वहुत से दोष दिखलाये हैं, परन्तु वराहमिहिर को कहीं भी दोष नहीं दिया है।[1] भास्कराचार्य ने उनकी स्तुति की है और अन्य भी अनेकों ग्रन्थकारों ने उनके वचन प्रमाण रूप में उद्धृत किये हैं। सृष्टिशास्त्र की इस एक शाखा ज्योतिषशास्त्र के ग्रन्थ बहु ों ने बनाये हैं, पर उसकी अनेक शाखाओं का विचार करनेवाला ज्योतिषी वराह के वाद दूसरा नहीं हुआ, ऐसा कह सकते हैं। इतने प्राचीन काल में हमारे देश में ऐसे मनुष्य का उत्पन्न होना सचमुच हमारे लिए भूषण है। दुःख के साथ कहना पड़ता है कि उनके जातक ग्रन्थ का आज तक पर्याप्त उपयोग होता चला आ रहा है, पर संहिता ग्रन्थ का विचार और उपयोग प्रायः किसी ने भी नहीं किया। उनकी बतलायी हुई दिशा के अनुसार सृष्टि-पदार्थों के गुण-धर्म का विचार यदि उसी प्रकार अव्याहत चलता रहा होता तो आज यूरोपियन इस विषय में हमसे आगे न वढ़ पाते, परन्तु हमारे देश के दुर्भाग्यवश वह परम्परा आगे न चल सकी।

श्रीषेण और विष्णुचन्द्र

इन ज्योतिषियों का समय वराहमिहिर के बाद और ब्रह्मगुप्त के पहिले अर्थात् शके ४२७ और ५५० के मध्य में है। इनके ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं हैं। आधु-

---

१. वराहमिहिर ग्रहण का कारण भूछाया और चन्द्रमा में प्रविष्ट राहु नहीं बतलाते इसलिए ब्रह्मगुप्त ने उन्हें दोष दिया है, पर वह वास्तविक दोष नहीं है और ब्रह्मगुप्त का भी उद्देश्य वस्तुतः दोष देने का नहीं है।

निक रोमक और वसिष्ठ सिद्धान्त इन्हीं के होंगे अथवा इनके ग्रन्थों के आधार पर बने होंगे—इत्यादि विचार पहिले कर चुके हैं।

ब्रह्मगुप्त

काल

इन्होंने अपने ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त में लिखा है—

श्रीचापवंशतिलके श्रीव्याघ्रमुखे नृपे शकनृपाणाम् ।
पञ्चाशत्संयुक्तैर्वर्षशतैः पञ्चभि ५५० रतीतैः ।।७।।
ब्राह्मस्फुटसिद्धान्तः सज्जनगणितज्ञगोलवित्प्रीत्यै ।
त्रिंशद्वर्षेण कृतो जिष्णुसुतब्रह्मगुप्तेन ।।८।।

इससे ज्ञात होता है कि इन्होंने यह ग्रन्थ चापवंशीय व्याघ्रमुख नामक राजा के राज्यकाल में शक ५५० में ३० वर्ष की अवस्था में बनाया अर्थात् इनका जन्म शक ५२० है। इनके पिता का नाम जिष्णु था।

स्थान

ये भिन्नमाल के निवासी थे। यह गांव आबू पर्वत और लुणी नदी के बीच में आबू से ४० मील वायव्य में गुजरात की उत्तरी सरहद पर दक्षिण मारवाड़ में है। इस समय यह एक छोटा-सा गांव है। पहले इसका नाम भीलमाल या श्रीमाल था। यह माघ कवि की जन्मभूमि है। ईसवी सन् की सातवीं शताब्दी में जब कि ह्वेनसांग नामक चीनी यात्री यहां आया था, यह उत्तर गुजरात की राजधानी थी। ब्रह्मगुप्त ने अपना सिद्धान्त चापवंशीय व्याघ्रमुख राजा के समय में लिखा है और वे भिल्लमालकाचार्य[1] कहलाते हैं। चावड़ अथवा चापोत्कट वंश का राज्य सन् ७५६ से ९४१ पर्यन्त अन्हिल वाड़ में था और इस समय तक उत्तर गुजरात में छोटी-छोटी रियासतें उसके अधिकार में रही हैं, अतः यह चावड़े वंश ही ब्रह्मगुप्त-कथित चापवंश होना चाहिए। ह्वेनसांग ने ब्रह्मगुप्त-काल के लगभग गुजरात की राजधानी भिलमाल लिखी है और अभी भी गुजराती ज्योतिषियों में यह कथा प्रचलित है कि ब्रह्मगुप्त भिन्नमाल के निवासी थे। अतः उनका निवासस्थान भिन्नमाल ही होना चाहिए।[2]

---

१. खण्डखाद्य के टीकाकार वरुण ने इनके लिए 'भिल्लमालकाचार्य' सदृश एक नाम का प्रयोग किया है और वह कुछ हस्तलिखित पुस्तकों के अन्त में मिलता है।

२. Indian Antiqury, XVII p· 192 July 1888.

ग्रन्थ

इस समय इनके ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त और खण्ड खाद्य-करण नामक दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं। खण्डखाद्य में आरम्भ-वर्ष शके ५८७ है। इससे ज्ञात होता है कि उसे इन्होंने ६७ वर्ष की अवस्था में बनाया था। ब्रह्मसिद्धान्त के २४वें अध्याय का एक श्लोक है—

> गणितेन फलं सिद्धं ब्राह्मे ध्यानग्रहे यतोऽध्याये।
> ध्यानग्रहो द्विसप्तत्यार्याणां न लिखितोऽत्र मया ।।

इससे ज्ञात होता है कि इन्होंने ध्यानग्रह नामक ७२ आर्याओं का एक अध्याय अनुमानतः फलादेश विषयक बनाया था और उसे इस ग्रन्थ में नहीं लिखा था। इस समय वह उपलब्ध भी नहीं है। पता नहीं चलता, उसमें जातक सम्बन्धी फल थे या संहिता ग्रन्थों सरीखे, परन्तु उपर्युक्त आर्या से ज्ञात होता है कि ग्रन्थकार की दृष्टि में वह बड़ा महत्वपूर्ण और शिष्यों को गुप्त रीति से बताने योग्य था।

बेरुनी के ग्रन्थ के आधार पर प्रोफेसर साचो लिखते हैं—"प्राच्य सुधार के इतिहास में ब्रह्मगुप्त का स्थान बहुत ऊँचा है। अरबनिवासियों को टालमी के ग्रन्थ का पता लगने से पहिले उन्हें ब्रह्मगुप्त ने ज्योतिषशास्त्र सिखाया, क्योंकि अरबी भाषा के साहित्य में 'सिन्धिद' और 'अल अरकन्द' ग्रन्थों के नाम बार-बार आते हैं और वे दोनों ब्रह्मगुप्त के ब्रह्मसिद्धान्त और खण्डखाद्य के अनुभव हैं" (भाग २, पृष्ठ ३०४)। ये अनुवाद खलीफ़ा मनसूर के समय में हुए होंगे। इससे ज्ञात होता है कि उस समय सिन्ध प्रान्त में ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थों का अधिक प्रचार था। खण्ड-खाद्य की बलभद्रकृत टीका का उल्लेख बेरुनी ने बार-बार किया है। उसने ब्रह्मसिद्धान्त और खण्ड-खाद्य का अरबी में अनुवाद किया था (भाग २, पृष्ठ ३०३, ३३९)। उसके पहिले के अनुवाद अच्छे नहीं थे—ऐसा बेरुनी ने उनमें दोष दिखलाया है। ये अनुवाद अभी तक उपलब्ध नहीं हो सके हैं। बेरुनी सिन्ध प्रान्त में बहुत दिनों तक रहा था। उसके लेखों के अनेकों स्थलों से प्रकट होता है कि उस समय सिन्ध में ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थों का प्राधान्य था।

अन्य ब्रह्मसिद्धान्त

ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त के अतिरिक्त तीन और ब्रह्मसिद्धान्त हैं। एक वह है जिसे इन्होंने ब्रह्मोक्त ग्रहगणित कहा है। वह वस्तुतः पञ्चसिद्धान्तिकोक्त पितामहसिद्धान्त ही है और उसकी रचना शकारम्भ के बहुत पहिले हुई है। दूसरा वह है जिसे ब्रह्मा ने नारद को बतलाया था। वह शाकल्योक्त-ब्रह्मसिद्धान्त नाम से प्रसिद्ध है। मेरे मत में वह शके ७४३ के बाद का है। भगणादि मान्य या अन्य किसी भी विषय में साम्य न होने के कारण उसका ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त से भिन्न होना स्पष्ट है। तीसरा ब्रह्म-

सिद्धान्त विष्णुधर्मोत्तर नामक[1] पुराण में है। भटोत्पल ने बृहत्संहिता की टीका में ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त की बहुत सी आर्याएँ उद्धृत की हैं। उनके विषय में उन्होंने अधिकतर 'ब्रह्मसिद्धान्ते' और कहीं-कहीं 'तथा च ब्रह्मगु तः' लिया है, शाकल्योक्त ब्रह्मसिद्धान्त या विष्णुधर्मोत्तरपुराणान्तर्गत ब्रह्मसिद्धान्त का नाम कहीं नहीं लिखा है। इससे ज्ञात होता है कि वे दोनों उस समय रहे हों तो भी विशेष प्रसिद्ध नहीं थे, कम से कम उत्पल तो ब्रह्मगुप्त के सिद्धान्त को ही ब्रह्मसिद्धान्त समझते थे। ब्रह्मःगुप्त ने अपने सिद्धान्त को सर्वत्र 'ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त' या 'ब्रह्मसिद्धान्त' कहा है। मैं भी सुविधा के लिए आगे इसे ब्रह्मसिद्धान्त ही कहूँगा।

ब्रह्मसिद्धान्त के कल्पीय भगणादि मान

	भोगभगण	मंदोच्च भगण	पात भगण		भोगभगण	मंदोच्च भगण	पात भगण
सूर्य	४३२००००००	४८०		बुध	१७९३६९९८९८४	३३२	५२१
चन्द्र	५७७५३३०००००			गुरु	३६४२२६४५५	८५५	६३
चन्द्रोच्च	४८८१०५८५८			शुक्र	७०२२३८९४९२	६५३	८९३
राहु	२३२३१११६८			शनि	१४६५६७२९८	४१	५८४
मंगल	२२९६८२८५२२	२९२	२६७				

नक्षत्रभ्रम	१५८२२३६४५००००	चान्द्रमास	५३४३३३०००००
सावनदिन	१५७७९१६४५००००	तिथि	१६०२९९९००००००
सौरमास	१५८४०००००००	क्षयाह	२५०८२५५००००
अधिमास	१५९३३००००००	वर्षमान	३६५।१५।३०।२२।३०

ये सब मान कल्पीय हैं। इनमें सब ग्रहों की भगणसंख्याएँ किसी भी एक संख्या से नहीं कटतीं, अतः इस ब्रह्मसिद्धान्तानुसार कल्पारम्भ के अतिरिक्त बीच में किसी

---

१. इसकी एक प्रति डेक्कन कालेज संग्रह में है।

भी समय सब मध्यम ग्रह एक स्थान में नहीं आते। प्रथम आर्यसिद्धान्त और दोनों सूर्यसिद्धान्तों के अनुसार कलियुगारम्भ में सब मध्यम ग्रह एकत्र होते हैं, पर इसमें ऐसा नहीं है। वर्तमान सूर्यसिद्धान्त में लिखा है कि कल्पारम्भ के बाद कुछ वर्षों तक ब्रह्मा सृष्टि बनाते हैं और उसके बाद ग्रहों का चलना आरम्भ होता है, पर इसमें कल्पारम्भ ही ग्रहचारारम्भ माना गया है।

वर्षमान

उपर्युक्त मानों के सम्बन्ध में सर्वप्रथम विचारणीय बात यह है कि इस ग्रन्थ का वर्षमान पञ्चसिद्धान्तिकोक्त पुलिश और रोमक सिद्धान्तों को छोड़कर भारतीय प्रत्येक सिद्धान्त के वर्षमान से न्यून है, पर वे दोनों ब्रह्मगुप्त के समय प्रचलित ही नहीं थे, यह प्राचीन और वर्तमान सिद्धान्तपञ्चक के विवेचन में सिद्ध कर चुके हैं। उस समय आर्यसिद्धान्त और मूल सूर्यसिद्धान्त का प्रचार था। ब्रह्मसिद्धान्त का वर्षमान प्रथम आर्यसिद्धान्त के वर्षमान से ५२$\frac{१}{२}$ विपल और मूल सूर्यसिद्धान्त से ६७$\frac{१}{२}$ विपल कम है। यद्यपि ये अन्तर बहुत थोड़े दिखाई देते हैं, पर इनके कारण शके ५४० में ब्रह्मसिद्धान्त की मेषसंक्रान्ति प्रथम आर्यसिद्धान्त से ५४ घटी १४$\frac{१}{८}$ पल पूर्व और मूल सूर्यसिद्धान्त की मेषसंक्रान्ति से ५४ घटी ४३$\frac{७}{८}$ पल पूर्व हुई थी। इसका मुझे एकमात्र कारण यह ज्ञात होता है कि ब्रह्मगुप्त ने मेषसंक्रान्ति विषुवदिन में मानी है, जबकि रात और दिन समान होते हैं और सूर्योदय क्षितिज के ठीक पूर्व बिन्दु में होता है। ऐसी मेषसंक्रान्ति सायन रवि की होती है। गणित द्वारा ब्रह्मगुप्त-काल के आसपास के किसी इष्ट शक की सायन स्पष्टरवि की संक्रान्ति का जो काल आता है, ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त से भी लगभग वही आता है। शके ५०९ में ब्रह्मसिद्धान्तानुसार स्पष्ट मेषसंक्रान्ति चैत्र शुक्ल ३ भौमवार ता० १८ मार्च सन् ५८७ को उज्जयिनी के मध्यम सूर्योदय से ५६ घटी ४० पल पर आती है और उस वर्ष में सायन स्पष्ट रवि की संक्रान्ति भी उसी दिन उसी समय आती है। ब्रह्मगुप्त का जन्म शके ५२० में हुआ था। उन्होंने शके ५४० के लगभग वेध करना आरम्भ किया होगा। शके ५४० में ब्रह्मसिद्धान्तानुसार स्पष्ट मेषसंक्रान्ति चैत्र कृष्ण १ शनिवार को ५७ घटी २२ पल पर आती है और उस समय सायन स्पष्टरवि शून्य राशि शून्य अंश ३० कला आता है, अर्थात् ब्रह्मगुप्त की मेषसंक्रान्ति के लगभग

---

१. सायन रवि का गणित केरोपन्तीय ग्रहसाधन कोष्ठक द्वारा किया है। वह ग्रन्थ बहुत सूक्ष्म नहीं है इसलिए यह घटना एक वर्ष आगे या पीछे भी हो सकती है। उपर्युक्त गणित में सूर्य में कालान्तर संस्कार नहीं दिया है। वह उस समय के आसपास लगभग २ कला है। इस कारण भी एक दो वर्षों का अन्तर पड़ेगा।

३० घटी पूर्व सायन मेषसंक्रान्ति होती है। मेषसंक्रान्ति के समय ३० घटी में सूर्य की क्रान्ति लगभग १२ कला बढ़ती है, अतः शके ५४० में ब्रह्मसिद्धान्तीय मेषसंक्रान्ति के समय सूर्य विषुववृत्त से केवल १२ कला उत्तर रहा होगा। यदि उस दिन सूर्योदय के समय ही ब्रह्मसिद्धान्त की मेषसंक्रान्ति हुई होती तो उस समय पूर्व बिन्दु से १२ कला उत्तर की ओर सूर्यमध्यबिन्दु दिखाई दिया होता, परन्तु मेषसंक्रान्ति सूर्योदय में ही नहीं हुआ करती। एक बात यह और दूसरी यह कि दिक्साधन करने में भी कुछ कलाओं की अशुद्धि होने की सम्भावना है, तीसरे वेध के साधन स्थूल थे। इन बातों का विचार करने से अनुभवी मनुष्य सहज ही समझ जायगा कि १२ कलाओं की अशुद्धि होना असम्भव नहीं है। इससे मुझे निश्चित रूप से यही ज्ञात होता है कि ब्रह्मगुप्त ने सायन रवि के मेषसंक्रमण को ही मेषसंक्रमण माना था। अपने सिद्धान्त के २४वें अध्याय में उन्होंने लिखा है—

> यदि भिन्नाः सिद्धान्ता भास्करसंक्रान्तयोऽपि भेदसमाः।
> स स्पष्टः पूर्वस्यां विषुवत्यर्कोदयो यस्य ॥४॥

यदि सिद्धान्त भिन्न हैं तो सूर्य की संक्रान्तियां भी उस भेदानुसार ही होनी चाहिए, परन्तु वह सूर्य तो विषुवदिन में उदय के समय पूर्व में स्पष्ट दिखाई देता है।

इसका तात्पर्य इतना ही है कि आकाश में सूर्य की संक्रान्तियां भिन्न-भिन्न समयों में नहीं दिखाई देंगी।[1] यहां विषुवदिन के सूर्योदयकालीन सूर्य का उल्लेख है, अतः वह सायन ही है और यह भी स्पष्ट है कि ब्रह्मगुप्त ने यह बात वेध के आधार पर लिखी है। उन्हें अयनगति का ज्ञान नहीं था और उनके पहिले यदि वह ज्ञात रही हो तो भी उन्होंने उसका विचार नहीं किया, इसमें कोई सन्देह नहीं है, अतः उनकी दृष्टि में सायन सूर्य और ग्रन्थागत (निरयण) सूर्य दो पदार्थ नहीं थे। उन्होंने अपना सिद्धान्त इस प्रकार बनाया कि उससे सायन ही सूर्य आये, परन्तु यह व्यवस्था उन्हीं के समय तक रही। इसका कारण यह है कि उनके समय संक्रान्ति लगभग ५४ घटी पहिले हुई, परन्तु यह जो परम्परागत दृढ़ ग्रह चला आ रहा था कि कलियुगारम्भ में (उनके मतानुसार शुक्रवार के सूर्योदय के समय) मध्यम सूर्य मेषारम्भ में था, इसके बाहर वे न जा सके। इसलिए उन्होंने वह ५४ घटी अशुद्धि कलियुगारम्भ से ब्रह्मसिद्धान्त-रचनाकाल पर्यन्त

---

१. इसी विसंवाद के कारण इन्होंने एक ब्रह्मसिद्धान्त को ही सिद्धान्त और शेष ग्रन्थों को केवल ग्रन्थरचना कहा है और उनमें अनेकों दोष दिखलाये हैं। अन्य ग्रन्थों की सक्रान्ति उनकी संक्रान्ति से लगभग एक दिन बाद होती है।

लगभग ३७३० वर्षों में विभक्त कर दी और अपना सिद्धान्त इस प्रकार बनाया कि उससे मेषसंक्रान्ति उस समय आये, जब कि आकाश में सूर्य ठीक पूर्व से उगे अर्थात् सायनमेष में आये। ऐसा करने में वर्षमान कुछ विपल कम हो गया। यदि इस अशुद्धि को ३७३० वर्षों में विभक्त करने का प्रपञ्च उनके पीछे न लगा होता और उन्होंने यदि इसका विचार किया होता कि संक्रान्ति अमुक काल से आज तक इतना पीछे आयी है, तो वे वर्षमान सायन अर्थात् ३६५।१४।३२ लिखते अथवा वर्षमान पहिले का ही रखकर सम्पात में गति मानते। सिद्धान्त के ३७ वर्ष बाद उन्होंने खण्डखाद्य करण बनाया और उसमें वर्षमान मूल सूर्यसिद्धान्त का रखा। इससे ज्ञात होता है कि वर्षमान प्राचीन ही रखकर अयनगति मानने की ओर उनका झुकाव हुआ होगा। अथवा सायनवर्ष का वास्तव मान जानते हुए और उसी को ग्रहण करना उचित है, ऐसा दृढ़ निश्चय रखते हुए भी उन्हें परम्परागत वर्षमान छोड़ने या अपने सिद्धान्त में गृहीत वर्षमान को पुनः बदलने का साहस नहीं हुआ होगा। भास्कराचार्य ने सिद्धान्त-शिरोमणि के गोलबन्धाधिकार (आर्या १७-१९ की टीका) में लिखा है—'कथं ब्रह्मगुप्तादिभिर्निपुणैरपि (क्रान्तिपातः) नोक्तः।' इससे ज्ञात होता है कि ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थ में अयनगति के विषय में कुछ भी नहीं लिखा था।

सायन

पञ्चाङ्ग सायन होना चाहिए या निरयन, इस विषय में सम्प्रति विवाद है। उपर्युक्त विवेचन द्वारा सायनगणना की पोषक यह एक बात ज्ञात हुई कि ब्रह्मगुप्त के मत में सायन रविसंक्रमण ही वास्तविक संक्रमण था। उसके अनुसार उनका उद्देश्य वर्षमान बदलने का था और उन्होने बदला भी। यदि वे यावज्जीवन वेध करके उसकी तुलना करते तो उनके सरीखे अन्वेषक को सायन वर्ष का वास्तव मान ज्ञात होना कठिन नहीं था। सम्भव है, सायनवर्ष का शुद्ध मान जानते हुए भी उन्हें परम्परागत वर्षमान छोड़ने का साहस न हुआ हो। उनका वर्षमान औरों से कम है, इसका मैंने जो कारण दिखाया है, उसके विषय में विद्वानों को यह न सोचना चाहिए कि सायनमताभिमानी होने के कारण मैंने यह हेतु ढूंढ़ निकाला है। मैं तो समझता हूँ, निरयनमत के पूर्ण अभिमानियों को भी यह बात मान्य होगी।

ग्रहशुद्धि और वेध

ब्रह्मसिद्धान्त की उपर्युक्त ग्रहभगणसंख्याएँ अन्य सिद्धान्तों से कुछ भिन्न हैं, पर ब्रह्मसिद्धान्त और आधुनिक युरोपियन ग्रन्थों द्वारा लाये हुए शके ४२१ के मध्यम ग्रहों में विशेष अन्तर नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि ब्रह्मगुप्त ने अपने समय में

वेधानुकूल ग्रह लाने के लिए उनके भगणों की स्वयं कल्पना की है; उक्त मन्दोच्च और पातों की तुलना से भी उनका तद्विषयक अन्वेषण ज्ञात होता है। इस प्रकार वर्षमान, ग्रहभगणसंख्या और उच्च-पातभगणों से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि ब्रह्मगुप्त स्वयं वेध करनेवाले अन्वेषक थे और ज्योतिषशास्त्र में यही सबसे अधिक महत्व की बात है। ऐसे पुरुष में जो स्वाभाविक तेज और उचित स्वाभिमान होना चाहिए वह उनके ग्रन्थ में अनेकों स्थानों में व्यक्त हुआ है। स्पष्टाधिकार के द्वितीय अध्याय में उन्होंने लिखा है कि "ब्रह्मोक्त रवि-शशी और उनके द्वारा लायी हुई तिथि ही शुद्ध है और अन्य तन्त्रों द्वारा लायी हुई दूरभ्रष्ट है।" इसके आगे लिखा है—"ब्रह्मसिद्धान्तीय मध्यमग्रह, मन्दोच्च और शीघ्रपरिधि द्वारा भौमादि स्पष्टग्रह शुद्ध आते हैं, आर्यभटीय से नहीं।"

> ब्रह्मोक्तमध्यरविशशितदुच्चतत्परिधिभिः स्फुटीकरणम् ।
> कृत्वैवं स्पष्टतिथिर्दूरभ्रष्टान्यतन्त्रोक्तैः ।।३१।।
> आर्यभटस्याज्ञानान्मध्यममन्दोच्च— शीघ्रपरिधीनाम् ।
> न स्पष्टा भौमाद्याः स्पष्टा ब्रह्मोक्तमध्याद्यैः ।।३३।।

ऐसे अन्य भी बहुत-से उदाहरण हैं, पर कहे बिना नहीं रहा जाता, उनके इस अभिमान ने मात्रा से अधिक होने के कारण कहीं-कहीं दुरभिमान का रूप धारण कर लिया है। उन्होंने अपने सिद्धान्त में दूषणाध्याय नामक ६३ आर्याओं का एक (११ वां) स्वतन्त्र अध्याय लिखा है। उसमें आर्यभट में कुछ ऐसे दोष दिखलाये हैं, जिन्हें केवल दुराग्रह ी कहा जा सकता है।

ब्राह्मसिद्धान्तविषय

उपोद्घात में बतलाये हुए ज्योतिषसिद्धान्तग्रन्थों के मुख्य अधिकार इस सिद्धान्त में आरम्भ के १० अध्यायों में है, पर आगे के १४ अध्यायों में अन्य भी बहुत से विषय हैं और वे बड़े महत्व के हैं। उनमें से दूषणाध्याय, अंकगणित, बीजगणित और यन्त्र सम्बन्धी चार अध्यायों को छोड़ शेष में मुख्यतः पूर्वार्ध में वर्णित विषयों की उपपत्ति है। १२वाँ अध्याय अंकगणित और क्षेत्रफलादि विषयक है। उसमें ५६ आर्याओं में भास्कराचार्य की लीलावती के बहुत से विषय हैं। १८वें में विशेषतः बीजगणित है। उसमें ७२ आर्याएँ हैं। बीजगणित शब्द उसमें कहीं नहीं है। उसका नाम कुट्टकाध्याय है। उसमें भास्करीय बीजगणित के बहुत से विषय हैं। एक कुट्टक नाम का प्रकरण है। वह मुख्यतः मध्यम ग्रहादिकों के लिए लिखा गया है। ब्राह्मसिद्धान्त में सब २४ अध्याय और १००८ आर्याएँ हैं।

टीकाएँ

ब्रह्मसिद्धान्त के आरम्भ के १० अध्यायों की पृथूदकटीका डे० का० पुस्तकसंग्रह में है। कोलब्रूक के लेख से ज्ञात होता है कि उन्हें सम्पूर्ण टीका मिली थी। मुझे अभी तक सम्पूर्ण टीका नहीं मिली है। कोलब्रूक ने सन् १८१७ में इसके अंकगणित और बीजगणिताध्यायों का इंग्लिश में अनुवाद किया है।

प्रक्षेप

ब्रह्मगुप्त ने ब्रह्मसिद्धान्त के प्रत्येक अध्याय के अन्त में आर्यासंख्या लिखी है। मूलग्रन्थों में बाद में परिवर्तन हो जाया करता है, इसका अनुभव होने के कारण उन्होंने अपने ग्रन्थ में यह व्यवस्था की, ऐसा प्रतीत होता है। फिर भी पांच-सात आर्याएँ न्यूनाधिक हुई-सी ज्ञात होती हैं। तीन आर्याएँ टीकाविहीन पुस्तकों में हैं, पर पृथूदकटीकायुक्त पुस्तक में नहीं हैं। उनमें से विष्कम्भादिक योगसम्बन्धी एक आर्या विशेष ध्यान देने योग्य है। वह स्पष्टाधिकार में है।

योग

उसमें योगसाधन की रीति है। सटीक पुस्तक में वह नहीं है। इससे हमें मालूम होता है कि आधुनिक पञ्चाङ्गों का विष्कम्भादिक २७ योग सम्बन्धी एक अङ्ग अर्थात् व्यतीपात और वैधृति इत्यादि योग ब्रह्मगुप्त के समय नहीं थे। वे पञ्चसिद्धान्तिका में भी नहीं हैं। इसका अधिक विवेचन पञ्चाङ्ग-विचार में करेंगे।

खण्डखाद्य

अब थोड़ा-सा विवेचन इनके खण्डखाद्य का करेंगे। खण्डखाद्य नाम बड़ा विचित्र है। पता नहीं, इन्होंने ऐसा नाम क्यों रखा। इसके पूर्व और उत्तर दो भाग हैं। पूर्वार्ध में ९ अधिकार और १९४ आर्याएँ तथा उत्तरार्ध में ५ अधिकार और ७१ आर्याएँ हैं। पूर्वार्ध के आरम्भ में ही लिखा है—आर्यभट के ग्रन्थ से दैनन्दिन व्यवहार नहीं चल सकता, इसलिए मैं उसके तुल्य फल देनेवाला करण बताता हूँ, अर्थात् इससे ग्रहादि उसके समान ही आयेंगे।

> वक्ष्यामि खण्डखाद्यकमाचार्यार्यभटतुल्यफलम् ।।१।।
> प्रायेणार्यभटेन व्यवहारः प्रतिदिनं यतोऽशक्यः ।
> उद्वाहजातकादिषु तत्समफललघुतरोक्तिरतः ।।२।।

खण्डखाद्य में वर्षमान आर्यसिद्धान्त का नहीं, वल्कि मूल सूर्यसिद्धान्त का अर्थात् ३६५।१५।३१।३० है। इसलिए इसमें युगप्रवृत्ति स्वकीय अथवा आर्यभटीय सिद्धान्त

के अनुसार सूर्योदय में न मानकर मूल सूर्यसिद्धान्तानुसार अर्धरात्रि में माननी पड़ी है। इसमें आरम्भ वर्ष शके ५८७ है। उस वर्ष स्पष्टमान से वैशाख शुक्ल प्रतिपदा रविवार को आती है। इसमें क्षेपक उसके पूर्व की मध्यरात्रि के अर्थात् अमान्त चैत्र कृष्ण ३० अमावस्या शनिवार की मध्यरात्रि के हैं और वहीं से अहर्गणसाधन किया गया है। मूल सूर्यसिद्धान्तानुसार मध्यम मेषसंक्रान्ति उसी शनि को १२ घटी ६ पल पर आती है। क्षेपक ये हैं—

	रा.	अं.	क.	वि.		रा.	अं.	क.	वि.
सूर्य	०	०	३२	२२	बुध	६	०	४४	४६
चन्द्रमा	०	६	६	४३	गुरू	६	४	२५	१६
चन्द्रोच्च	१०	८	२८	६	शुक्र	१०	०	१०	१४
राहु	०	१८	४७	२३	शनि	६	६	४१	१६
मंगल	३	१०	१३	६					

मूल सूर्यसिद्धान्त के भगणादि मान ऊपर पृष्ठ में लिखे हैं। उनके द्वारा लाये हुए शके ५८७ चैत्र कृष्ण ३० शनिवार को मध्यरात्रि के ग्रहों में से चन्द्रोच्च और राहु को छोड़ शेष सब उपर्युक्त क्षेपकों से बिलकुल ठीक-ठीक मिलते हैं। आर्यभटसिद्धान्त द्वारा लाये हुए ग्रह इनसे नहीं मिलते। इससे सिद्ध हुआ कि वर्षमान, अहर्गणारम्भ और प्राय: क्षेपक, इन सब बातों में खण्डखाद्यकरण का मूल सूर्यसिद्धान्त से साम्य है। मूल सूर्यसिद्धान्त के राहुभगण ज्ञात नहीं हैं। चन्द्रोच्च मूल सूर्यसिद्धान्त से नहीं मिलता तो आर्यभटीय या ब्रह्मसिद्धान्त से भी नहीं मिलता। राहु आर्य और ब्राह्म, किसी भी सिद्धान्त से नहीं मिलता। खण्डखाद्य में वर्षमान और वर्षारम्भ ब्रह्मसिद्धान्त से भिन्न माने गये हैं। अत: उसमें ब्रह्मसिद्धान्तीय चन्द्रोच्च और राहु का न होना ठीक ही है। यद्यपि खण्डखाद्य का आर्यभटीय सिद्धान्त से पूर्ण साम्य नहीं है तथापि आर्यभटीय और मूल सूर्यसिद्धान्त के कुछ मानों में साम्य होने के कारण शके ५८७ में खण्डखाद्यानुसार लायी हुई ग्रहमध्यमस्थिति आर्यभटसिद्धान्त से बहुत मिलती थी।

ब्रह्मगुप्त ने खण्डखाद्य के उत्तरार्ध के आरम्भ में ही लिखा है कि आर्यभट का ग्रहस्पष्टीकरण स्फुट (दृक्प्रत्ययद) नहीं है, इसलिए मैं उसे अब स्फुट कर रहा हूँ। इसकी टीका में टीकाकार वरुण ने लिखा है—'ब्रह्मगुप्त ने अपने कथनानुसार इस ग्रन्थ

---

१. पञ्चसिद्धान्तिका में भी अमावास्या के पास की ही मध्यम मेषसंक्रान्ति सुविधा के लिए ली गयी है, यह वराहमिहिर के वर्णन में लिख चुके हैं। अन्य बात में भी दोनों में बड़ा साम्य है।

का पूर्वार्ध आर्यभटतुल्य बताया है और उत्तरार्ध में दृक्प्रत्यय आने योग्य फलसंस्कार अपने ग्रन्थ के अनुसार बताया है। इसमें न लिखी हुई बातें आर्यभटकरण से लेनी चाहिए। ीकाकार के इस कथन और उत्तरार्ध के अन्य प्रकरणों से ज्ञात होता है कि खण्डखाद्य में उन्होंने केवल दृक्प्रत्यय आने योग्य फेरफार किया है। वर्षमान, ग्रहमध्यमगति, क्षेपक और युगारम्भवेला, ये महत्व की बातें आर्यभट के ग्रन्थ से ली हैं। वरुण के उपर्युक्त उल्लेख इत्यादिकों से ज्ञात होता है कि आर्यभट का वह ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध आर्यसिद्धान्त नहीं, वल्कि आर्यभट का करणग्रन्थ है।

आश्चर्य की बात यह है कि इन्होंने स्वकीय सिद्धान्त को छोड़ उस आर्यभट के ग्रन्थ तुल्य बनाने की प्रतिज्ञा की है और प्रायः वह निभायी भी है, जिसके ये पूर्ण प्रतिस्पर्धी थे और जिस पर इन्होंने दूषणों की वर्षा की है। इसके हमें दो कारण दिखाई देते हैं। एक तो यह कि उस समय आर्यभट का ग्रन्थ अतिशय लोकमान्य रहा होगा जिससे ये उसे छोड़ नहीं सके होंगे। दूसरे इनके सिद्धान्त की संक्रान्ति खण्डखाद्य-रचनाकाल में अर्थात् शके ५८७ में मूल सूर्यसिद्धान्त से ५५ घटी ३६$\frac{६}{८}$ पलपूर्व और आर्यभटीय से ५४ घटी ५५$\frac{२}{८}$ पल पूर्व आती थी। इतना अन्तर रहने से दोनों के अधिक मासादि भी भिन्न होंगे। अधिक मास का भेद और एक दिन पहले संक्रान्ति लगना, ऐसी बातें हैं जिन्हें एक अज्ञानी मनुष्य भी समझ सकता है। इस कारण स्वकीय सिद्धान्त के मानों के प्रचार में उन्हें लोकमत की प्रतिकूलता दीख पड़ी होगी। इन्हीं दोनों कारणों से उन्हें स्वकीय सिद्धान्तानुसार करण बनाने का साहस नहीं हुआ होगा। विचारणीय बात यह है कि संक्रान्ति में एक दिन से कम अन्तर होने पर भी ब्रह्मगुप्त अपने मानों का प्रचार नहीं कर सके तो आधुनिक केरोपन्ती और सायन पञ्चाङ्गों का प्रचलित होना कितना कठिन है जिनकी संक्रान्तियां प्राचीन पञ्चाङ्गों से क्रमशः लगभग ४ और २२ दिन पूर्व होती है।

खण्डखाद्य की टीकाएँ

खण्डखाद्य पर वरुण और भटोत्पल ने टीकाएँ की हैं। पृथूदक की टीका मुझे अभी तक नहीं मिली है। और भी एक खण्डित टीका है जिसमें टीकाकार का नाम नहीं है, पर उदाहरणार्थ शक १५६४ लिया गया है और चर तथा देशान्तर इत्यादि संस्कार कश्मीर सम्बन्धी है। अतः स्पष्ट है कि वह टीकाकार कश्मीरी है। डेक्कनकालेज संग्रह में एक पञ्चाङ्गकौतुक नाम का ग्रन्थ है (नं० ५३७, सन् १८७५–७६)। उसमें सरल रीति से पञ्चाङ्ग साधन होने योग्य सारणियां और रीतियां दी हैं, आरम्भ वर्ष शके १५८० है और सम्पूर्ण गणित खण्डखाद्य द्वारा हुआ है। उस ग्रन्थ में कहीं भी यह नहीं लिखा है कि वह कश्मीर में बना है, पर वह पुस्तक कश्मीर में मिली है और

उसमें कश्मीर में प्रचलित लौकिक काल का उपयोग किया गया है, अतः स्पष्ट है कि उसका कर्ता कश्मीरी ही होगा। इससे सिद्ध होता है कि खण्डखाद्यकरण शके १५८० पर्यन्त काश्मीर में प्रचलित था। खण्डखाद्य की उपर्युक्त तीनों टीकाओं और पञ्चाङ्ग-कौतुक की प्रतियां, जो कि पूना के कालेजसंग्रह में है, कश्मीर में मिली है। इससे ज्ञात होता है कि आज भी कश्मीर की ओर खण्डखाद्य का प्रचार होगा। भास्कराचार्य ने उसका उल्लेख किया है। अलबेरुनी (शके ९५०) को खण्डखाद्य ग्रन्थ मिला था। उसने उसके कुछ उद्धरण दिये हैं।

ब्रह्मसिद्धान्त का प्रचार

ब्रह्मगुप्त ने अपने सिद्धान्त से भिन्न खण्डखाद्य ग्रन्थ बनाया, इससे अनुमान होता है कि उन्हें इस बात का कम विश्वास रहा होगा कि हमारे सिद्धान्त के भी कुछ अनुयायी होंगे और कालिदास की 'आ परितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये. . .विज्ञानम्' उक्ति के अनुसार ऐसा होना स्वाभाविक भी है। ६७ वर्ष की अवस्था में उन्होंने खण्डखाद्य बनाया। तब तक उनका सिद्धान्त प्रचलित नहीं हुआ होगा और इतने दिनों तक अपने अनुयायियों का अभाव देखकर अन्त में निराश होकर उन्होंने खण्डखाद्य बनाया होगा। अपनी कृति का सार्थक्य अपनी आंखों से देखने का सौभाग्य महान् शोधकों में से कुछ ही को प्राप्त होता है। काल का भरोसा न करके उन्होंने अपनी कृति स्वयं छोड़ दी, यह बात उनके लिए किञ्चित् लाञ्छनास्पद है, परन्तु ऐसे महाविद्वान् की उत्कृष्ट कृति से विद्वानों को परितोष न हो, यह कैसे हो सकता है ? उन्हीं के सदृश महान् ज्योतिषी भास्कराचार्य ने उन्हीं का आगम स्वीकार किया है। भास्कराचार्य से पहिले के भी ब्रह्मसिद्धान्तानुयायी दो करण मिलते हैं। इन सब में ब्रह्मसिद्धान्त द्वारा लाये हुए ग्रहों में एक बीजसंस्कार दिया है। राजमृगांककरण में जो कि शके ९६४ में बना है, यह संस्कार सर्वप्रथम मिलता है, परन्तु इसके पहिले ब्रह्मसिद्धान्त इस बीजसंस्कार के बिना ही अपने निज रूप में प्रचलित था, इसका मुझे एक उदाहरण मिला है।

निज रूप

सन् १८८३–८४ के पूनाकालेजसंग्रह में गुणभद्रकृत उत्तरपुराण नामक एक ग्रन्थ मिला है (नं० २८९)। उसमें उसके रचनाकाल के विषय में लिखा है—

शकनृपकालाभ्यन्तरविंशत्यधिकाष्टशत ८२० मिताब्दान्ते।
मङ्गलमहार्थकारिणि पिङ्गलनामनि समस्तजनसुखदे ।।३५।।

श्रीपञ्चम्यां बुधार्द्रायुजि दिवसवरे मन्त्रिवारे सुधांशौ, पूर्वायां सिंहलग्ने
धनुषि धरणिजे वृश्चिकार्कौ तुलागौ। सूर्ये शुक्रे कुलीरे गवि च सुरगरौ. . ।।

इस श्लोक के अनुसार उस समय की ग्रहस्थिति यह है—

सूर्य – कुलीर (कर्क) राशि में
चन्द्रमा– पूर्वा (भाद्रपदा) में
मंगल – धनु राशि में
बुध – आर्द्रा नक्षत्र में
गुरु – गवि (वृष में)
शुक्र – कुलीर (कर्क) राशि में
शनि – (आर्कि) –वृश्चिक राशि में
राहु – (अगु) – तुला राशि में

पिङ्गल संवत्सर शके ८१९ गत अर्थात् ८२० वर्तमान में आता है। यहां शंका होती है कि गणित ८१९ का किया जाय या ८२० का। श्लोक में केवल तिथि दी है, मास और पक्ष नहीं दिये हैं और वार का नाम मन्त्रिवार लिखा है। वह प्रायः गुरुवार या कदाचित् शुक्रवार होगा। इससे वास्तविक दिन का ठीक पता नहीं चलता, पर उसे ढूंढ़ने का एक उत्कृष्ट साधन यह है कि श्लोक में सब ग्रहों की स्थिति दी है। सम्पूर्ण स्थिति जिस दिन मिले वही वास्तविक दिन है। शके ८१९ और ८२० के अनेक दिनों का गणित करने से ज्ञात हुआ कि शके ८१८ गत अर्थात् ८१९ वर्तमान में अमान्त आषाढ़ कृष्ण ५ गुरुवार ता० २३ जून सन् ८९७ को सूर्योदय से लगभग २४ घटी पर्यन्त श्लोकोक्त ग्रहस्थिति आती है। श्लोक में लग्न सिंह लिखा है। वह सूर्योदय से लगभग ४ घटी से आरम्भ होकर ९ घटी पर्यन्त था। दो वर्षों में इसके अतिरिक्त एक भी दिन ऐसा नहीं मिलता जिसमें इस ग्रहस्थिति की सम्भावना हो। श्लोकोक्त चन्द्रस्थिति एक दिन भी आगे या पीछे नहीं मिलती। ध्यान देने योग्य बात यह है कि यह ग्रहस्थिति ब्रह्मसिद्धान्तानुसार ब्रह्मसिद्धान्त के वर्षमान से मिलती है। अन्य किसी भी सिद्धान्त से इसकी संगति नहीं लगती। सूर्यसिद्धान्तानुसार आषाढ़ कृष्ण ५ गुरुवार को सूर्य मिथुन-राशि में आता है। शुक्रवार को वह सूर्योदय से लगभग ५ घटी के बाद कर्क राशि में आता है, अन्य किसी भी सिद्धान्त से गुरुवार को कर्कराशि में नहीं आता। इस शक में ब्रह्मसिद्धान्त की संक्रान्ति वर्तमान सूर्यसिद्धान्त की संक्रान्ति से ६१ घटी ३१ पल पूर्व आती है। इसी प्रकार वर्तमान सूर्यसिद्धान्त से गुरुवार को मंगल भी मकर राशि में आता है और ब्रह्मसिद्धान्तानुसार धनु राशि में आता है। सारांश यह कि ब्रह्मसिद्धांतानुसार यह स्थिति बिलकुल ठीक-ठीक मिलती है और अनेक बातों का विचार करने से भी इसमें सन्देह का स्थान दिखाई नहीं देता।[1] इससे निःसंशय सिद्ध होता है कि शके ८१९ में ब्रह्मसिद्धान्त अपने निजरूप में प्रचलित था। यह पुराण

---

१. उपर्युक्त श्लोक मूलग्रन्थ में बहुत अशुद्ध है। उसे मैंने शुद्ध किया है। इसका स्पष्टीकरण प्रो० भाण्डारकर के पुस्तक संग्रह की सन् १८८३-८४ की रिपोर्ट के पृष्ठ ४२९-३० में देखिए।

राष्ट्रकूट-वंशीय दक्षिण के अकालवर्ष नामक राजा के राज्यकाल में वहीं बना है। कहने का अभिप्राय यह कि शके ८१६ में ब्रह्मसिद्धान्त दक्षिण में निज रूप में प्रचलित था। बीजसंस्कार उसमें बाद में दिया गया। उसकी कल्पना बाद में अन्य किसी ने की होगी।

बीज

ब्रह्मसिद्धान्त की वरुणकृट टीका शके ९६२ के आसपास की है। उसमें बीज के विषय में कुछ नहीं लिखा है। राजमृगाङ्ककरण में जो शके ९६४ में बना है, यह संस्कार है। मेरे मतानुसार इसकी कल्पना उसी समय हुई है। उसमें सूर्य में भी बीज दिया गया है। इससे ब्रह्मसिद्धान्तीय वर्षमान ३६५।१५।३०।२२।३० संस्कृत होने से लगभग ३६५।१५।३१।१७ अर्थात् प्रथम आर्यसिद्धान्त के वर्षमान से लगभग २ विपल अधिक हो गया है। इसके बाद ब्रह्मपक्षीय जितने ग्रन्थ मिलते हैं, सब बीजसंस्कृत ब्रह्मसिद्धान्त तुल्य हैं। करणों में ऐसा प्रथम ग्रन्थ शके ९६४ का राममृगाङ्क, दूसरा शके ९८० का करणकमलमार्तण्ड और तीसरा भास्कराचार्य का शके ११०५ का कारण-कुतूहल है। ग्रहसाधनविषयक महादेवीसारणी नाम का एक ग्रन्थ शके १२३८ का है। शके १५०० के दो ग्रन्थ हैं। एक दिनकर नामक ज्योतिषी की खेटकसिद्धि और दूसरा चन्द्रार्की। ये सब बीजसंस्कृत ब्रह्मसिद्धान्त तुल्य हैं। इनमें से करणकुतूहल अभी भी कहीं-कहीं प्रचलित है। ग्रहलाघवकार ने जिन ग्रहों को ब्रह्मपक्षीय कहा है वे करणकुतूहल से लिये हैं। ब्रह्मसिद्धान्त निज रूप में अधिक से अधिक शके १००० तक प्रचलित रहा होगा और भास्कराचार्य के बाद उसका प्रचार बिल्कुल नहीं रह गया होगा। इतना ही, मालूम होता है ब्रह्मसिद्धान्तीय सभी आवश्यकताओं की सिद्धान्तशिरोमणि द्वारा उत्कृष्ट रीति से पूर्ति हो जाने के कारण धीरे-धीरे ब्रह्मसिद्धान्त ग्रन्थ भी लुप्त होने लगा होगा। भास्कराचार्य के बाद के ग्रन्थों में ब्रह्मसिद्धान्त के उद्धरण क्वचित् ही मिलते हैं। सम्प्रति महाराष्ट्र में ब्रह्मसिद्धान्त ग्रन्थ प्रायः कम मिलता है। अन्य प्रान्तों में भी यही स्थिति होगी।

ज्योतिषशास्त्र की स्थिति

हमारे देश में प्रचलित ज्योतिषशास्त्र के वर्तमान स्वरूप और पद्धति के अङ्गों की पूर्णतया स्थापना हम समझते हैं, प्रायः ब्रह्मगुप्त के समय हुई है। बाद में समय-समय पर वेध द्वारा ग्रहस्थिति में आवश्यकतानुसार फेरफार हुआ, पर पद्धति में अयनगति को छोड़ अन्य कोई नया अन्वेषण या सुधार प्रायः नहीं हुआ। पहिले बता चुके हैं कि ग्रहभगण, मन्दोच्च और पात के विषय में ब्रह्मगुप्त स्वतन्त्र शोधक थे, उनके ग्रहस्पष्टी-करण सम्बन्धी उपकरण भी स्वतन्त्र दीखते हैं। त्रिप्रश्नाधिकार में भी पूर्व ग्रन्थकारों

की अपेक्षा इनका अधिक कौशल दिखाई देता है। इन्होंने वेदादि विषयक जिन यन्त्रों का वर्णन किया है, उनमें तुरीय यन्त्र की कल्पना इन्होंने स्वयं की है—यह मेरा मत है। इनसे पहिले के ग्रन्थों में बीजगणित कहीं नहीं मिलता। अतः उसके आविष्कारक भी कदाचित् ये ही होंगे। सिद्धान्तसुन्दरकर्ता ज्ञानराज के पुत्र सूर्यदास की भास्करीय बीजगणित की एक टीका शके १४६० की है। उन्होंने आर्यभट को सबसे प्राचीन बीजगणितकार माना है। प्रथम आर्यभट के ग्रन्थ में बीजगणित नहीं है और द्वितीय आर्यभट के ग्रन्थ में है, पर आगे सिद्ध करेंगे कि वे ब्रह्मगुप्त से अर्वाचीन हैं। अतः प्रस्तुत उपलब्ध प्रमाणों द्वारा प्रथम बीजगणितकार ब्रह्मगुप्त ही सिद्ध होते हैं। यद्यपि उन्होंने बीजगणिताध्याय में अहंकारपूर्ण शब्दों में कहीं भी यह नहीं लिखा है कि इसका आविष्कारक मैं हूँ, इससे अनुमान होता है कि उनके पहिले भी यह विषय रहा होगा परन्तु इसके प्राचीन ग्रन्थ नहीं मिलते। सारांश यह कि ब्रह्मगुप्त बहुत बड़े कल्पक और शोधक थे। भास्कर ऐसे आचार्य ने उन्हें 'कृती जयति विष्णुजो गणकचक्रचूड़ामणिः' कहा है। इसी प्रकार और भी एक स्थान में लिखा है—"यदा पुनर्महता कालेन महदन्तरं भविष्यति तदा महामतिमन्तो ब्रह्मगुप्तसमानधर्मिण एवोत्पत्स्यन्ते तदुपलब्ध्यनुसारिणीं गतिमुररीकृत्य शास्त्राणि करिष्यन्ति।" यहां भास्कराचार्य ने इन्हें 'स्वकीय अनुसन्धान द्वारा नवीन गतिस्थितिकल्पक महामतिमान् शास्त्रकार' की उपाधि दी है और यह योग्य है।

लल्ल (लगभग शक ५६०)

ग्रन्थ, स्थान और काल

इनका श्रीवृद्धिदतन्त्र नाम का एक ग्रहगणितग्रन्थ है। काशी में सुधाकर द्विवेदी ने इसे सन् १८८६ में शुद्ध करके छपाया है। रत्नकोष नाम का इनका एक मुहूर्त-ग्रन्थ है। इन्होंने अपना काल और स्थान नहीं लिखा है। भास्कराचार्य ने गोलाध्याय वृत्तपृष्ठफलानयन सम्बन्धी इनका एक श्लोक देकर उसका खण्डन किया है, इससे ज्ञात होता है कि इनका पाटीगणित का भी ग्रन्थ रहा होगा। सुधाकर ने लिखा है कि इनका बीजगणित का भी ग्रन्थ रहा होगा। बेरुनी के ग्रन्थ में शके ९५० के पहिले के सभी प्रसिद्ध ज्योतिषियों का कुछ न कुछ वर्णन है, पर लल्ल का नाम तक नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि सिन्ध, पंजाब, कश्मीर, किंबहुना, उत्तर भारत के अधिकांश भाग में कम से कम शके ९५० तक लल्ल के ग्रन्थ प्रचलित नहीं हुए थे। लल्ल बीजसंस्कृत प्रथमार्यसिद्धान्त का दक्षिण में प्रचार है। इन दोनों हेतुओं से ज्ञात होता है कि लल्ल दाक्षिणात्य रहे होंगे। श्रीवृद्धिदतन्त्र के मध्यमाधिकार में लिखा है—

विज्ञाय शास्त्रमलमार्यभटप्रणीतं तन्त्राणि यद्यपि कृतानि तदीयशिष्यैः।
कर्मक्रमो न खलु सम्यगुदीरितस्तैः कर्म ब्रवीम्यहमतः क्रमशस्तु सूक्तम् ।।२।।

उत्तराधिकार में आर्यसिद्धान्त द्वारा लाये हुए ग्रहों में निम्नलिखित बीजसंस्कार देने के लिए कहा है।

> शाके नखाब्धि ४२० रहिते शशिनोऽक्षदस्रे २५ स्तत्तुंङ्गतः कृतशिवै ११४ स्तमसः षडंङ्कैः ९६। शैलाब्धिभिः ४७ सुरगुरोर्गुणिते सितोच्चात् शोध्यं त्रिपञ्चकु १५३ हतेऽभ्रशराक्षि २५ भक्ते ।।१८।। . . भम्वुधि ४८ हते क्षितिनन्दनस्य सूर्यात्मजस्य गुणितेऽम्वरलोचनै २० श्च। व्योमाक्षिवेद ४२० निहते विदधीत लब्धं शीतांशुसूनु-चलतुङ्गकलासु वृद्धिम ।।१९।। इति. . .ग्रहकर्म दृक्प्रभावत् ।।२०।। आसीदशेष वुधवन्दितपादपद्मः. . . । साम्वस्ततोजनि जनेक्षणकैरवेन्दुर्भट्टस्त्रिवि-क्रम इति प्रथितः पृथिव्याम् ।।२१।। लल्लेन तस्य तनयेन शशाङ्कमौलैः शैलाधिराज-तनयादयितस्य शम्भोः। सम्पूज्य पादयुगमार्यभटाभिधान-सिद्धान्ततुल्यफलमेतदकारि तन्त्रम् ।।२२।।

श्रीवृद्धिदतन्त्र के भगणादि सब मान प्रथम आर्यभट के ग्रन्थ से मिलते हैं, पर लल्ल ने उसमें उपर्युक्त १८-१९ श्लोकोक्त बीजसंस्कार दिया है, अतः स्पष्ट है कि इनका समय आर्यभट के बाद है। इनका काल निश्चित करने के कुछ साधन मिले हैं।

उपर्युक्त बीजसंस्कार का श्लोक आर्यभटीय के टीकाकार परमादीश्वर ने अपनी टीका में उद्धृत किया है,। वहां उन्होंने 'तच्छिष्यो लल्लाचार्यः' लिखा है अर्थात् लल्ल को आर्यभट का शिष्य कहा है। इस आधार पर और मुख्यतः लल्लोक्त बीजसंस्कार की रीति में शक में ४२० ऋण करने का विधान होने के कारण डा० केर्न ने लिखा है कि लल्ल का समय शके ४२० ही होगा। कैलासवासी जनार्दन बालाजी मोडक ने भी ऐसा ही लिखा है' (मासिकपत्र 'सृष्टिज्ञान' के सन् १८८५ अगस्त के अंक का पृष्ठ १२० देखिए)। गणकतरङ्गिणीकार सुधाकार द्विवेदी का कथन है कि इनका समय शके ४२१ है। कुछ अन्य लोग भी ऐसा ही कहते होंगे। पर यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि लल्ल यदि प्रथम आर्यभट के शिष्य और उनके समकालीन होते तो वे छोटी-छोटी बातों में वे अशुद्धियां न करते जो कि भास्कराचार्य ने दिखायी हैं। प्रथम आर्यभट के ग्रन्थ में वे दोष नहीं हैं। दूसरी बात यह कि लल्ल का समय यदि शके ४२० होता तो प्रथम आर्यभट के ग्रन्थ में विशेष दोषों के न रहते हुए भी उन पर दूषणों की वर्षा करनेवाले ब्रह्मगुप्त लल्ल के ग्रन्थ पर, जिसमें वस्तुतः दोष हैं, आक्षेपों की भरमार कर देते पर

ब्रह्मसिद्धान्त में न तो लल्ल का नाम है न उनके किसी मत की चर्चा। तीसरे, किसी भी सिद्धान्त में वीजसंस्कार उसके रचनाकाल में ही नहीं उत्पन्न होता बल्कि जब ग्रन्थागत ग्रहों में अधिक अन्तर पड़ने लगता है, उस समय उसमें अन्य कोई बीज देता है। आर्यभट ने अपना सिद्धान्त शके ४२३ में बनाया, अत: उनके शिष्य उसी समय से उसमें फेरफार करने लगे होंगे, यह सर्वथा असम्भव है। यदि ऐसा होता तो स्वयं आर्यभट ही उस संस्कार को भी सम्मिलित करके तदनुसार भगणों की कल्पना करते। लल्लोक्त संस्कार लाने में शक में से ४२० घटाना पड़ता है। केवल इसी के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि यह संस्कार उसी समय दिया गया है। ब्रह्मसिद्धान्त में दिया हुआ वीजसंस्कार कलियुगारम्भ से ही है। यही स्थिति वर्तमान सूर्यसिद्धान्त में भी है, पर इतने से ही यह कह देना कि वह संस्कार वस्तुतः कलियुगारम्भ में ही दिया गया, हास्यास्पद होगा। इसी प्रकार लल्लोक्त संस्कार का आरम्भकाल शके ४२० वताना भी उपेक्षणीय है। एक और ध्यान देने योग्य वात यह है कि मिथ्याज्ञानाध्याय में लिखा है—'यदि भ्रमति क्षमा तदा स्वकुलायं कथमाप्नुयुः खगाः' ।।४२।। पृथ्वी का भ्रमण मानने में लल्ल ने यहां दोष दिखाया है, पर प्रथम आर्यभट का कथन है कि पृथ्वी घूमती है। आर्यभट के साक्षात् शिष्य का मत उनके विपरीत होना, कम से कम उनमें दोष दिखलाना प्राय: असम्भव है। भास्कराचार्य के ग्रन्थ में लल्ल का नाम अनेकों स्थानों में आया है पर उन्होंने इन्हें आर्यभट का शिष्य अथवा केवल 'शिष्य' कहीं नहीं कहा है। सूर्यसिद्धान्त के टीकाकार रङ्गनाथ ने एक स्थान पर 'शिष्यधीवृद्धिदतन्त्र' कहा है, पर उसका अर्थ 'शिष्यों की धी की वृद्धि करनेवाला तन्त्र' इतना ही है। पता नहीं चलता, परमादीश्वर ने इनको किस आधार पर आर्यभट का शिष्य कहा। उपर्युक्त श्लोक में इन्होंने स्वयं भी अपने को आर्यभट का शिष्य नहीं कहा है। इतना ही नहीं, श्लोक की शब्दरचना से यह विपरीत अर्थ स्पष्टतया प्रकट होता है कि ये आर्यभट के शिष्य नहीं थे। इन सब हेतुओं से यह सिद्ध होता है कि इनका समय शके ४२० नहीं है। ये आर्यभट के वहुत दिनों बाद हुए होंगे।

लल्ल ने रेवती योगतारे का भोग ३५९ अंश लिखा है। लल्लतन्त्रानुसार स्थिति नापने के आरम्भ स्थान से अर्थात् स्पष्ट मेषसंक्रान्तिकालीन सूर्यस्थान से पश्चिम ओर एक अंश पर रेवती योगतारा रहने का काल लगभग शके ६०० आता है, पर ऊपर बता चुके हैं कि ब्रह्मगुप्त को लल्ल का ग्रन्थ नहीं मिला था। लल्ल के ग्रन्थ में ब्रह्मगुप्त का तुरीययन्त्र नहीं है, शेष सब हैं। इससे ज्ञात होता है कि लल्ल को ब्रह्मगुप्त का ग्रन्थ नहीं मिला था। इससे अनुमान होता है कि ये दोनों थे समकालीन, परन्तु दूर-दूर रहते थे।

लल्लकृत रत्नकोष के आधार पर श्रीपति ने रत्नमाला ग्रन्थ वनाया है। श्रीपति का काल शक ९६१ है अतः ये इसके बहुत पहिले हुए होंगे और इनके ग्रन्थ में अयनचलन का नाम तक नहीं है, अतः ब्रह्मगुप्त के समकालीन होंगे। इन सब बातों का विचार करने से इनका काल मुझे अनुमानतः लगभग शके ५६० उचित प्रतीत होता है।

योग्यता

भास्कराचार्य ने लल्ल में यद्यपि बहुत से दोष दिखाये हैं तथापि उपर्युक्त २०वें श्लोक से ज्ञात होता है कि लल्ल ने पूर्वोक्त बीजसंस्कार दृक्प्रत्यय द्वारा स्वयं निकाला है। इससे सिद्ध होता है कि ये एक स्वयं वेध करनेवाले अन्वेषक थे और यह बात इनके लिए बड़ी भूषणास्पद है। बुधादिकों के संस्कार से ज्ञात होता है कि आर्यभट के कुछ दिनों बाद इस संस्कार का देना अत्यन्त आवश्यक हो गया होगा। पहिले बता चुके हैं कि प्रथम आर्यसिद्धान्तोक्त ग्रहों में लल्ल के इस बीज का संस्कार करके करणप्रकाश (शके १०१४) और भटतुल्य (शके १३३९) करणग्रन्थ बने हैं।

पद्मनाभ

इस नाम के एक बीजगणितग्रन्थकार का उल्लेखक भास्कराचार्य के बीजगणित में है। कोलब्रूक ने श्रीधर के—जिनका वर्णन आगे किया गया है—ग्रन्थ के आधार पर लिखा है कि पद्मनाभ श्रीधर से पहिले हुए होंगे (देखिए Colebrook's mis. Ess. pp. 422, 450, 470)। इससे ज्ञात होता है कि श्रीधर के कालानुसार इनका काल शके ७०० से अर्वाचीन नहीं होगा :

श्रीधर

आगे वर्णित महावीर के ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि उनके पहिले श्रीधर नाम के एक ग्रन्थकार हुए थे जिनका व्यक्तगणितविषयक भास्कराचार्य की लीलावती सरीखा एक ग्रन्थ था। कोलब्रूक को श्रीधर का अंकगणित और क्षेत्रगणितविषयक गणितसार नामक एक ग्रन्थ मिला था। इससे ज्ञात होता है कि ये और महावीर के ग्रन्थ में वर्णित श्रीधर एक ही हैं और महावीर के कालानुसार इनका काल शके ७७५ से अर्वाचीन नहीं हैं। भास्कराचार्य कथित बीजगणित ग्रन्थकार श्रीधर भी ये ही होंगे।

इनका 'त्रिशतिका' नाम का एक ३०० आर्याओं का पाटीगणितग्रन्थ काशी के राजकीय पुस्तकालय में है।[1] उसके आरम्भ में लिखा है।—

---

१. मैंने यह मुख्यतः गणकतरंगिणी के आधार पर लिखा।

नत्वा शिवं स्वविरचितपाट्या गणितस्य सारमुद्धृत्य।
लोकव्यवहाराय प्रवक्ष्यति श्रीधराचार्यः।।

इससे ज्ञात होता है कि त्रिशतिका से बड़ा इनका एक और पाटीगणित ग्रन्थ था। त्रिशतिका में इष्टकर्म को स्तम्भोद्देश और गुणन को प्रत्युत्पन्न कहा है।[1] लीलावती से भिन्न ऐसी ही और भी बहुत सी संज्ञाएं उसमें हैं। उसमें अंकगणित और क्षेत्र गणित दोनों विषय हैं। न्यायकन्दली नामक एक न्यायशास्त्र का ग्रन्थ है, उसके कर्ता का नाम भी श्रीधर ही है। वह ग्रन्थ शके ९१३ का है। सुधाकर द्विवेदी का कथन है कि ज्योतिषियों को छोड़कर अन्य ग्रन्थकार प्रायः अपना समय नहीं लिखते, अतः त्रिशतिका और न्यायकन्दली के कर्ता एक ही हैं। न्यायकन्दलीकार के पिता बलदेव और माता अव्वोका थीं। दक्षिण राढ़ा देश में भूरिसृष्टि नाम का गांव इनका स्थान था। पाण्डुदास की प्रार्थना पर भट्ट श्रीधर ने न्यायकन्दली बनायी। त्रिशतिका में यह वृत्तान्त नहीं है और केवल नामसादृश्य द्वारा निश्चित किये हुए काल की अपेक्षा महावीर के काल के आधार पर निश्चित किया हुआ पाटीगणितकार श्रीधर का काल अधिक विश्वसनीय है। महावीर द्वारा उद्धृत श्रीधर का वचन है--'ऋणं धनर्णयोर्वर्गौ मूले स्वर्णे तयोः क्रमात्।' आर्यात्मक त्रिशती में इस अनुष्टुप् छन्द के होने की संभावना तो कम है, पर यह श्रीधर के पाटीगणित के बड़े ग्रन्थ में अथवा उनके बीजगणित में होगा। आफ्रेचसूची में श्रीधर का एक 'त्रिशती गणितसार' नाम का ग्रन्थ है, अतः कोलब्रूक को प्राप्त गणित-सार और सुधाकर कथित त्रिशती ग्रन्थ एक ही हैं। श्रीधर की एक जातकपद्धति है। उसके कर्ता भी पाटीगणितकार श्रीधर ही होंगे।

महावीर

इनका सारसंग्रह नाम का व्यक्तगणित का एक ग्रन्थ है अर्थात् उसमें अंकगणित और क्षेत्रगणित विषय हैं। डा० भाऊ दाजी के संग्रह की इसकी एक खण्डित प्रति मैंने देखी, उसके आरम्भ के वर्णन से ज्ञात होता है कि वे जैन धर्मावलम्बी थे और जैन-राजा अमोघवर्ष के आश्रित थे। इससे ज्ञात होता है कि ये राष्ट्रकूटवंशीय जैनधर्मी राजा प्रथम अमोघवर्ष के राज्य में अर्थात् शके ७७५ के आसपास हुए होंगे। सारसंग्रह ग्रन्थ भास्कराचार्य की लीलावती सरीखा, पर उससे विस्तृत है। उसकी ग्रन्थसंख्या कम से कम २००० होगी। उसमें उपर्युक्त श्रीधराचार्य के ग्रन्थ के मिश्रकव्यवहार के कुछ वाक्य हैं।

---

१. ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थ में प्रत्युत्पन्न संज्ञा है।

बृहन्मानसकरण

इसके रचयिता का नाम मनु है। इस पर उत्पल की टीका है। बेरुनी ने लिखा है कि मुंजाल ने इसको संक्षिप्त करके लघुमानस बनाया। लघुमानस शके ८५४ में बना है। अतः इसका रचनाकाल शके ८०० के लगभग होगा।

बलभद्र

ब्रह्मसिद्धान्त की पृथूदककृत टीका में इनका नाम अनेकों स्थानों में आया है और इनके नाम पर अनुष्टुप् छन्द के बहुत से श्लोक दिये हैं। उन सब श्लोकों में ब्रह्मसिद्धान्त के ही मान पठित हैं। बृहत्संहिता की टीका में भटोत्पल ने भी इनके नाम पर कुछ श्लोक और आर्याएँ उद्धृत की हैं। वे गणितस्कन्ध विषयक हैं, पर ब्रह्मसिद्धान्त से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। इससे अनुमान होता है कि बलभद्र का ग्रहगणित का स्वतन्त्र ग्रन्थ रहा होगा और पृथूदकोद्धृत उनके पद्यात्मक वचन, जिनमें ब्रह्मसिद्धान्त के ही मान हैं, कदाचित् ब्रह्मसिद्धान्त की उनकी टीका के होंगे। मालूम होता है, पद्यात्मक ग्रन्थ की टीका का भी कुछ भाग पद्य में ही बनाने की पद्धति पहले थी। परमादीश्वर ने आर्यभटीय की टीका में लीलावती की स्वकृत टीका के कुछ श्लोक दिये हैं, यह भी इसका एक उदाहरण है। बलभद्र का स्वतन्त्र ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है। भटोत्पल से प्राचीन होने के कारण इनका काल शके ८८८ से अर्वाचीन नहीं हो सकता।

बेरुनी ने इनके ग्रन्थ या टीका के बहुत से वचन उद्धृत किये हैं। उसका कथन है कि इन्होंने गणित, संहिता और जातक तीनों का एक-एक ग्रन्थ बनाया था और खण्डखाद्य तथा बृहज्जातक की टीकाएं की थीं। गणितग्रन्थ को बेरुनी ने तन्त्र कहा है, अतः उसमें गणितारम्भ युगारम्भ से रहा होगा। बेरुनी के दिये हुए उद्धरणों से ज्ञात होता है कि ब्रह्मसिद्धान्त पर भी इनकी टीका थी। पतञ्जलि के योगशास्त्रग्रन्थ की टीका के कुछ उद्धरण बेरुनी ने दिये हैं। प्रो० साचो का कथन है कि पूर्वापर सन्दर्भ से वह टीका बलभद्र की ही ज्ञात होती है। उनका यह कथन ठीक मालूम होता है क्योंकि उसमें अधिकतर ज्योतिष का ही विषय है। बलभद्र के ग्रन्थ में अक्षांश कन्नौज और थानेश्वर के थे, अतः ये उसी प्रान्त के रहे होंगे। इनका काल शके ८०० के आसपास होगा।

वित्तेश्वरकृत करणसार, शक ८२१

भदत्त या भिधत्त के पुत्र वित्तेश्वर ने 'करणसार' नामक ग्रन्थ बनाया था। उसमें आरम्भवर्ष शक ८२१ था। बेरुनी ने इनका निवासस्थान नागपुर बताया है, पर हमें ये कश्मीरनिवासी जान पड़ते हैं, क्योंकि इनके ग्रन्थ में कश्मीर के अक्षांश (३४।९)

थे और सप्तर्षिगति दी थी जिस पर कश्मीर में प्रचलित लौकिक काल अवलम्बित है। करणसार में मध्यम मेष के ग्रह क्षेपक देकर उनके द्वारा ग्रह मध्यम भोग लाने की पद्धति लिखी थी। बेरुनी ने उसमें से मध्यमशेष की अंशात्मक तिथि (तिथिशुद्धि) लाने की रीति दी है। महायुग में ५७७५३३३६ चन्द्रभगण मानने से इसकी उपपत्ति लगती है। यह संख्या सूर्यसिद्धान्त, उत्पलोद्धृत पुलिशसिद्धान्त और प्रथम आर्यसिद्धान्त की है। इस करण का बेरुनी के पहले ही किसी ने अरबी में अनुवाद किया था, वह बेरुनी के पास था। आफ्रेचसूची में इस करण का नाम नहीं है अर्थात् सम्प्रति यह प्राय: कहीं उपलब्ध नहीं है। वटेश्वर नाम के एक ज्योतिषी थे। वे ही बेरुनी के वित्तेश्वर होंगे।

मुंजालकृत लघुमानस, शक ८५४

बेरुनी ने लिखा है कि मुंजाल दाक्षिणात्य थे, उन्होंने 'बृहन्मानस' का संक्षेप करके 'लघुमानस' बनाया, उसमें शक ८५४ में ६।५० अयनांश और उसकी वार्षिक गति एक विकला दी है। इससे मुंजाल के मतानुसार शून्यायनांशवर्ष शकगत ४४४ आता है। बेरुनी ने ग्रन्थकार का नाम मुंजाल सरीखा कुछ लिखा है। गणकतरङ्गिणीकार ने लिखा है—अनुष्टुप् छन्द के ६० श्लोकों का लघुमानस मैंने देखा है। वह शक ८५४ का है। उस ग्रन्थ में तो 'मुंजाल' नाम नहीं है, पर अन्त में 'इति मुंजालभट्टविरचित' लिखा है। कोलब्रूक ने उज्जैन के ज्योतिषियों के कथनानुसार कुछ ज्योतिषियों का समय लिखा है (Esays p. 461)। उसमें मुंजाल का समय शक ८५४ है। भास्कराचार्य ने मुंजालोक्त अयनगति लिखी है, अत: बेरुनीकथित लघुमानस के रचयिता मुंजाल ही होंगे। मुनीश्वर ने मरीचि में मुंजाल के निम्नलिखित वचन दिये हैं—

उत्तरतो याम्यदिशं याम्यान्तात्तदनु सौम्यदिग्भागम्।
परिसरतां गगनसदां चलनं किञ्चिद् भवेदपमे॥
विषुवदपक्रममण्डलसम्पाते प्राचि मेषादि:।
पश्चात्तुलादिरनयोरपक्रमासम्भव: प्रोक्त:॥
राशित्रयान्तरेऽस्मात् कर्कादिरनुक्रमान्मृगादिश्च।
तत्र च परमा क्रान्तिर्जिनभागमिताऽथ तत्रैव॥
निर्दिष्टोऽयनसन्धिश्चलनं तत्रैव सम्भवति।
तद्भगणा: कल्पे स्युर्गोरसरसगोऽकचन्द्र १९९६६९ मिता:॥

इन आर्याओं में कल्पीय अयनभगण लिखे हैं जिनका विवरण करणग्रन्थ में अनाव-

श्यक है। तरङ्गिणीकार ने लिखा है कि अनुष्टुप् छन्दात्मक लघुमानस में ये वचन नहीं हैं। (इसके आगे लघुमानसवर्णन मैंने गणकतरंगिणी के आधार पर लिखा है।) लघुमानस के आरम्भ में लिखा है—

प्रकाशादित्यवत् ख्यातो भारद्वाजो द्विजोत्तमः।
लघुपूर्वं स्फुटोपायं वक्ष्येऽन्यल्लघुमानसम् ।।

इससे ज्ञात होता है कि मुंजाल ने एक और मानस बनाया था, अर्थात् बृहत् और लघु दोनों मानसों के कर्ता ये ही हैं। पर बृहन्मानस को बेरुनी ने मनुकृत कहा है, अतः वह इनका नहीं होना चाहिए। इस स्थिति में ऐसी कल्पना होती है कि लघुमानस बनाने के बाद इन्होंने एक और लघुलघुमानस बनाया होगा और उपर्युक्त आर्याएँ जो कि अनुष्टुप् छन्दात्मक लघुमानस में नहीं हैं, लघुलघुमानस की होंगी, अथवा वह भी संभव है कि बृहन्मानस इन्हीं का हो और ये आर्याएँ उसी में हों। वस्तुतः इस श्लोक का ठीक अर्थ नहीं लगता।

लघुमानस में शकगत ८५४ चैत्र शुक्ल १ रविवार के मध्याह्न के क्षेपक हैं। ग्रहसाधन अहर्गण से किया गया है। मध्यम, स्पष्ट, तिथि, त्रिप्रश्न, ग्रहयुति, सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण और शृङ्गोन्नति, ये ८ अधिकार हैं। उपर्युक्त श्लोकानुसार मूंजाल भारद्वाजगोत्रीय ब्राह्मण ज्ञात होते हैं। इनके पहिले के किसी भी उपलब्ध पौरुष ग्रन्थ में अयनगति का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता पर इनके ग्रन्थ में है यह एक बड़े महत्व की बात है। इन्होंने स्पष्ट चन्द्रमा में एक विशेष संस्कार दिया है जो कि अन्य ग्रन्थों में नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि ये एक विलक्षण अन्वेषक और कल्पक थे।

काशी के राजकीय पुस्तकालय में सोदाहरण खण्डित लघुमानस है। उसमें उदाहरण शके १४९४ का है और ध्रुवक शक १४०० के हैं। चरादिक संस्कार काम्पिल्य नगर के हैं। सुधाकर का कथन है कि इस टीका के कर्ता आर्यभटीय टीकाकार परमेश्वर होंगे, क्योंकि उन्होंने आर्यभटीय की टीका में लिखा है कि मैंने लघुबृहन्मानस की टीका की है। पर यह सम्भव नहीं है क्योंकि मुझे परमेश्वर मलाबारनिवासी मालूम होते हैं। उपर्युक्त उदाहरण से ज्ञात होता है कि शक १५०० पर्यन्त लघुमानस कहीं-कहीं प्रचलित था।

द्वितीय आर्यभट (लगभग शके ८७५)

ग्रन्थ

एक आर्यसिद्धान्त का वर्णन पहिले कर चुके हैं, उसके अतिरिक्त एक और आर्यसिद्धान्त है। इसकी एक प्रति पूना के डेक्कनकालेज में है। उसमें इसका नाम लघु-

आर्यसिद्धान्त लिखा है, पर ग्रन्थकार ने स्वयं इसमें लघु या वृहत् विशेषण कहीं नहीं लगाया है। इसकी प्रथम आर्या है —

विविधखगागमपाटीकुट्टकबीजादिदृष्टशास्त्रेण ।
आर्यभटेन क्रियते सिद्धान्तो रुचिर आर्याभिः ।।१।।

यहां ग्रन्थकार ने इसे सिद्धान्त कहा है। पूर्वोक्त आर्यभट से अर्वाचीन होने के कारण मैंने सुविधा के लिए इन्हें द्वितीय आर्यभट और इनके ग्रन्थ को द्वितीय आर्यसिद्धान्त कहा है।

काल

इन्होंने अपना काल नहीं लिखा है। पाराशर सिद्धान्त नाम के एक अन्य सिद्धान्त के मध्यममान इन्होंने अपने सिद्धान्त में लिये हैं और इन दोनों के विषय में लिखा है—

एतत् सिद्धान्तद्वयमीषद्याते कलौ युगे जातम् ।।२।।

अध्याय २

यहां इनका यह दिखाने का उद्देश्य है कि ये दोनों सिद्धान्त थोड़ा ही कलियुग बीतने पर बने, परन्तु मुझे पूर्ण निश्चय है कि ये ब्रह्मगुप्त के बाद हुए हैं। इसका कारण यह है कि कलियुगारम्भ के थोड़े ही दिनों बाद अपने सिद्धान्त का रचनाकाल बताते हुए भी ये अपनी गणना पौरुष ग्रन्थकारों में ही करते हैं। ब्रह्मगुप्त के पहिले इनका वर्षमान अथवा अन्य कोई मान प्रचलित था, इसका इनके कथन को छोड़ अन्य कोई प्रमाण नहीं मिलता और ब्रह्मगुप्त ने आर्यभट में जो दूषण दिये हैं वे प्रथम आर्यभट में पूर्णतया लागू होते हैं, इनमें बिलकुल लागू नहीं होते। ब्रह्मगुप्त ने इनके सिद्धान्त की किसी भी बात का उल्लेख नहीं किया है। यदि उस समय वह उपलब्ध होता तो वे इसमें कुछ न कुछ दोषारोपण किये बिना न रहते। पञ्चसिद्धान्तिका में अयनगति नहीं है। प्रथम आर्यभट, ब्रह्मगुप्त और लल्ल के ग्रन्थों में भी नहीं है, पर इनके सिद्धान्त में है। प्रथम आर्यभट में ब्रह्मगुप्त ने जो जो दोष दिखाये हैं, मालूम होता है, उन सब को इन्होंने सुधारने का प्रयत्न किया है। इनके ग्रन्थ में युगपद्धति है। कल्पारम्भ रविवार को माना गया है। प्रथम आर्यभट के ग्रन्थ में युगारम्भ से गणित किया है और उस समय मध्यम ग्रह तो एकत्र आते हैं, पर स्पष्टग्रह नहीं आते। इस विषय में ब्रह्मगुप्त ने इनका (अध्याय २ आर्या ४६ में) दोष दिखलाया है, पर इनके इस सिद्धान्त द्वारा सृष्ट्यारम्भ में स्पष्टग्रह एकत्र आते हैं। इन सब प्रमाणों से मुझे पूर्ण निश्चय है कि इनका समय ब्रह्मगुप्त के बाद अर्थात् शके ५८७ के बाद है। यह हुई इनके काल की

प्राचीन मर्यादा। भास्कराचार्य ने इनका उल्लेख किया है। सिद्धान्तशिरोमणि के स्पष्टाधिकार के ६५वें श्लोक में उन्होंने लिखा है—'आर्यभटादिभिः सूक्ष्मत्वार्थं दृक्काणोदयाः पठिताः।' राशि का तृतीयांश अर्थात् १० अंश दृक्काण कहलाता है। प्रथम आर्यभट के ग्रन्थ में लग्न ३० अंश के हैं, दस-दस अंश के नहीं, पर इन्होंने चतुर्थाध्याय की ३८-४० आर्याओं को दृक्काणोदय (लग्नमान) लिखे हैं। सम्प्रति द्वितीय आर्यभट को छोड़कर अन्य किसी के भी ग्रन्थ में दृक्काणोदय नहीं मिलते। इससे सिद्ध होता है कि भास्कराचार्य ने उपर्युक्त वाक्य प्रथम नहीं बल्कि द्वितीय आर्यभट के उद्देश्य से कहा है। अतः स्पष्ट है कि ये शके १०७२ से पहिले हुए हैं। इन्होंने अयनांशगति लाने की रीति दी है। उससे अयनगति सदा समान नहीं आती, बहुत न्यूनाधिक आती है (इसका अधिक विवेचन अयनचलनविचार में करेंगे), परन्तु अयनगति प्रायः सदा समान रहती है। उसमें अन्तर पड़ता है, पर बहुत थोड़ा। वर्तमान सूर्यसिद्धान्तोक्त अयनगति सर्वकाल समान आती है, पर उसका निश्चित समय ज्ञात नहीं है। राजमृगाङ्क (शके ९६४) में भी अयनगति सदा समान मानी है। इसके पहिले का कोई निश्चित प्रमाण इस समय उपलब्ध नहीं है। इससे अनुमान होता है कि द्वितीय आर्यभट अयनगति का ठीक ज्ञान होने के पहिले हुए होंगे। भटोत्पल (शके ८८८) की टीकाओं में अनेकों ग्रन्थों के उद्धरण हैं, पर द्वितीय आर्यसिद्धान्त का एक भी नहीं है, अतः यदि ये भटोत्पल के पहिले हुए होंगे तो अति निकट पूर्व हुए होंगे। द्वितीय आर्यसिद्धान्त द्वारा लाये हुए अयनांश और उसका स्पष्ट मेषसंक्रान्तिकालीन सायन रवि, इन दोनों के समान होने का काल लगभग शके ९०० आता है। अतः यदि ये इसके पहिले हुए होंगे तो कुछ ही वर्ष पहिले हुए होंगे। इन सब हेतुओं से मुझे इनका काल शके ८७५ के आसपास ज्ञात होता है। बेंटली द्वारा निश्चित किया हुआ इनके और पाराशर के सिद्धान्त का काल अशुद्ध है, यह ऊपर बता चुके हैं।

बेरुनी का कथन है कि आर्यभट दो थे। एक कुसुमपुर निवासी और दूसरे उनसे प्राचीन। उसने लिखा है कि प्राचीन आर्यभट का ग्रन्थ मुझे नहीं मिला, पर कुसुमपुर निवासी आर्यभट उनके अनुयायी थे। बेरुनी के ग्रन्थ में इन दोनों का उल्लेख ३० स्थानों में है। उन सब में वर्णित बातें प्रथम आर्यभट में पूर्णतया लागू होती हैं। ग्रहभगणसंख्या इत्यादि जिन विषयों में दोनों का स्पष्ट भेद है, बेरुनी-लिखित बातें द्वितीय आर्यभट में किसी प्रकार लागू नहीं होतीं और वे प्रथम आर्यभट के अनुयायी नहीं थे, अतः बेरुनीकथित दोनों आर्यभट वस्तुतः एक ही हैं। यह बात प्रोफेसर साचो के ध्यान में भी नहीं आयी। द्वितीय आर्यभट बेरुनी के पहिले हुए होंगे और यद्यपि यह स्पष्ट है कि इनका ग्रन्थ बेरुनी ने नहीं देखा था तथापि मालूम होता है, उसे यह

भ्रम दो आर्यभटों की चर्चा सुनने के कारण ही हुआ होगा। इससे भी यही अनुमान होता है कि ये बेरुनी के सौ-पचास ही वर्ष पूर्व अर्थात् शके ८७५ के आस पास हुए होंगे।

ग्रन्थवर्णन

इनके ग्रन्थ में १८ अध्याय और लगभग ६२५ आर्याएं हैं। आरम्भ के १३ अध्यायों में करणग्रन्थों के भिन्न भिन्न अधिकारों के सब विषय हैं। १४वें गोल-सम्बन्धी बातें और प्रश्न हैं। १५वें में १२० आर्याएँ हैं। उसमें पाटीगणित अर्थात् अंकगणित और क्षेत्रफल-घनफल विषय हैं। उसमें भास्कराचार्य की लीलावती की अधिकतर बातें हैं। १६वें में भुवनकोश अर्थात् त्रैलोक्यसंस्थानविवेचन है। १७वें में ग्रहमध्यमगति की उपपत्ति इत्यादि है। १८वें में बीजगणित और विशेषतः कुट्टगणित है। उसमें ब्रह्मगुप्त की अपेक्षा कुछ विशिष्ट बातें हैं।

अङ्कसंज्ञाएं

इन्होंने पाटीगणित में संख्याएँ प्रसिद्ध संज्ञाओं द्वारा और शेष सर्वत्र अक्षरों द्वारा दिखायी हैं। इनकी पद्धति प्रथम आर्यभट से भिन्न है। वह यह है—

वर्ण		वर्णबोधित संख्याएँ	वर्ण		वर्णबोधित संख्याएं
क ट प य	=	१	च त ष	=	६
ख ठ फ र	=	२	छ थ स	=	७
ग ड ब ल	=	३	ज द ह	=	८
घ ढ भ व	=	४	झ ध	=	९
ङ ण म श	=	५	ञ न	=	०

वर्णों द्वारा संख्याएं दिखाने में प्रथम आर्यभट ने 'अंकानां वामतो गतिः' नियम नहीं छोड़ा, पर इन्होंने संख्याएँ बायीं ओर से दाहिनी ओर लिखी हैं। इनकी पद्धति में घडफ का अर्थ ४३२ होता है।[1] अक्षरों द्वारा संख्याएँ लिखने में कितनी गड़बड़

---

१. स ७ भावः ४४ कामता ६५१ जह्निकरा २१९८ नारीरधीरयः।
जाद्रूजारमराः काण्डाः प्रश्नाऽनुपदाक्षराः॥

इस श्लोक में उपर्युक्त अंक संज्ञाओं द्वारा तैत्तिरीय संहिता के काण्ड, प्रश्न (अध्याय), अनुवाक, पचासे, पद और अक्षर बताये हैं। इसमें अंक दाहिनी ओर से बायीं ओर लिखने का नियम है (और वहां उसी प्रकार लिखा है)। कुछ अंकों के विषय में सन्देह है, वे यहां नहीं लिखे हैं। एक तैलंग ब्राह्मण ने मुझसे कहा कि यह श्लोक तैत्तिरीय प्रातिशाख्य का है। मैंने वह प्रातिशाख्य नहीं देखा है।

होती है, यह प्रथम आर्यभट के वर्णन में दिखा चुके हैं। बस, यही बात इनमें भी पूर्ण लागू होती है। इनके सिद्धान्त के और उसमें दिये हुए पाराशरसिद्धान्त के कल्पीय भगणादिमान नीचे लिखे हैं।

विषय	द्वितीय आर्यसिद्धान्त	पाराशरसिद्धान्त
सृष्टयुत्पत्तिवर्ष	३०२४०००	
नक्षत्रभ्रम	१५८२२३७५४२०००	१५८२२३७५७००००
रविभगण	४३२००००००	४३२००००००
सावन दिवस	१५७७९१७५४२०००	१५७७९१७५७००००
चन्द्रभगण	५७७५३३३४०००	५७७५३३३४५१५
चन्द्रोच्चभगण	४८८१०८६७४	४८८१०४६३४
राहुभगण	२३२३१३३५४	२३२३१३२३५
मंगल	२२९६८३१०००	२२९६८३३०३७
बुध	१७९३७०५४६७१	१७९३७०५५४७४
गुरु	३६४२२१६८२	३६४२१९९५५
शुक्र	७०२२३७१४३२	७०२२३७२१४८
शनि	१४६५६९०००	१४६५७१८१३
सौरमास	५१८४००००००	५१८४००००००
अधिमास	१५९३३३४०००	१५९३३३४५१५
चान्द्रमास	५३४३३३३४०००	५३४३३३३४५१५
तिथि	१६०३००००२००००	१६०३००००३५४५०
क्षयाह	२५०८२४७८०००	२५०८२४६५४५
वर्षमान	३६५।१५।३१।१७।६	३६५।१५।३१।१८।३०

ग्रह	द्वितीय आर्यसिद्धान्त	पाराशर-सिद्धान्त	द्वितीय आर्यसिद्धान्त	पाराशर सिद्धान्त
	कल्पीय उच्चभगण		कल्पीय पातभगण	
रवि	४६१	४८०	×	×
मंगल	२९९	३२७	२९८	२४५
बुध	३३६	३५६	५२४	६४८
गुरु	८३०	९८२	९६	१९०
शुक्र	६५४	५२६	९४७	८९३
शनि	७६	५४	६२०	६३०

आर्यसिद्धान्त में कुछ वर्ष सृष्टयुत्पत्ति के माने गये हैं, पर पाराशरसिद्धान्त में नहीं। दोनों मानों से कलियुगारम्भ में सब ग्रह एकत्र नहीं आते, पर सृष्टिप्रचारारम्भ

में आते हैं। दोनों के वर्षमान बीजसंस्कृत ब्रह्मतुल्य वर्षमान के पास पास हैं। इन्होंने सप्तर्षियों में गति मानी है और उनके कल्पभगण लिखे हैं, पर उनमें वस्तुतः गति बिलकुल नहीं है, ऐसा कह सकते हैं।

पाराशरसिद्धान्त

पाराशरसिद्धान्त के विषय में इन्होंने लिखा है—

पाराशर्या दिविचरयोगे नेच्छन्ति दृष्टिफलम् ।।१।।

अध्याय ११

कलिसंज्ञे युगपादे पाराशर्यं मतं प्रशस्तमतः।
वक्ष्ये तदहं................।।१।।

अध्याय २।

इसके बाद इन्होंने उसके भगणादि मान लिखे हैं। इससे ज्ञात होता है कि पाराशरसिद्धान्त स्वतन्त्र ग्रन्थ था, पर सम्प्रति वह उपलब्ध नहीं है।

चतुर्वेद-पृथूदक स्वामी

काल

इन्होंने ब्रह्मगुप्त के ब्रह्मसिद्धान्त की टीका की है। भास्कराचार्य ने इनका उल्लेख कई स्थानों पर किया है। वरुणकृत खण्डखाद्य की टीका लगभग शके ९६२ की है। उसमें इनका नाम आया है, अतः इनका समय शके ९६२ से प्राचीन है। मालूम होता है, भटोत्पल इन्हें नहीं जानते थे, पर इनकी ब्रह्मसिद्धान्त की टीका में बलभद्र का नाम है। अतः ये भटोत्पल के समकालीन होंगे अथवा उनके कुछ ही दिनों बाद हुए होंगे।

बेरुनी ने लिखा है कि पृथुस्वामी ज्योतिषग्रन्थकार हैं, पर उनके ग्रन्थ के नाम इत्यादि का पता नहीं लगता। इससे अनुमान होता है कि बेरुनी के समय पृथुस्वामी के टीकाग्रन्थ कम से कम सिन्ध प्रान्त में तो प्रसिद्ध नहीं हुए थे। कुसुमपुर के आर्यभट के ग्रन्थ के नाम पर बेरुनी ने एक वाक्य उद्धृत किया है। उसका अर्थ है—पृथुस्वामी ने उज्जयिनी से कुरुक्षेत्र का देशान्तर १२० योजन माना है। दोनों आर्यभटों में से एक के भी ग्रन्थ में पृथुस्वामी का नाम नहीं है, अतः यह उद्धरण आर्यभट के ग्रन्थ की किसी टीका का होगा (बेरुनी ने कई स्थानों पर टीकोक्त विषयों को मूलग्रन्थोक्त समझ लिया है)। चूंकि यह टीका बेरुनी के पहिले की है और पृथुस्वामी इस टीका से भी प्राचीन हैं, इसलिए इनका काल लगभग शके ८५० और ९०० के मध्य में होगा।

स्थान

ब्रह्मसिद्धान्त की सप्तम अध्याय की ३५वीं आर्या की टीका में इन्होंने लिखा है, "अथ साक्षभागा: कान्यकुब्जे. . .कान्यकुब्जे स्वनतभागा. . .।" इसी प्रकार ३८वीं आर्या में लिखा है—"यथेह कान्यकुब्जे।" इससे ज्ञात होता है कि ये कान्यकुब्ज देश के अथवा खास कन्नौज शहर के ही निवासी थे।

ग्रन्थ

ब्रह्मसिद्धान्त के आरम्भ के १० अध्यायों पर इनकी टीका है। उसकी एक प्रति पूना के कालेजसंग्रह में है। उसमें अनेकों स्थानों पर लिखा है—"उक्तं पूर्वं गोलाध्यायेऽस्माभि:।" इससे ज्ञात होता है कि इन्होंने ब्रह्मसिद्धान्त के गोलाध्याय नामक २१ वें अध्याय की टीका करने के बाद आरम्भ के १० अध्यायों की टीका की थी। दसवें अध्याय की टीका के अन्त में एक वाक्य लिखा है, उससे ज्ञात होता है कि गोलाध्याय की टीका लगभग डेढ़ सहस्र थी। दस अध्यायों की टीका लगभग ५३०० है। टीका अच्छी है, मूलग्रन्थ ही अच्छा है, अत: टीका के शुद्ध होने में आश्चर्य नहीं है तथापि भास्कराचार्य ने दो एक स्थानों पर उसमें यह दोष दिखाया है कि चतुर्वेद ने ब्रह्मगुप्त की सुन्दर कृति भी विगाड़ दी है, अर्थात् उसका विपरीत अर्थ किया है और यह दोषारोपण सत्य है। चतुर्वेद स्पष्टवक्ता ज्ञात होते हैं। एक स्थान (अध्याय ७ आर्या २८-२९) पर इन्होंने लिखा है—"पिष्टपेषणमेतत्।" दसवें अध्याय के अन्त में "पृथुस्वामी चतुर्वेदश्चक्रे. . . मधुनन्दन:" और कुछ अध्यायों के अन्त में "मधुसूदनसुत" लिखा है। इससे इनके पिता का नाम मधुसूदन ज्ञात होता है।

वरुण की टीका से अनुमान होता है कि इन्होंने खण्डखाद्य की भी टीका की थी और उसका कुछ भाग पद्यात्मक था। इन्होंने अपने को पृथुस्वामी कहा है, अत: टीका करने के समय ये कदाचित् चतुर्थ आश्रम में रहे होंगे। इनकी ब्रह्मसिद्धान्त की टीका में वलभद्र को छोड़ अन्य किसी भी पौरुष ग्रन्थ के उद्धरण नहीं हैं। अपौरुष भी बहुत थोड़े हैं। भगवान् मनु:, व्यासमुनि, पुराणकार:, इतने ही नाम आये हैं।

भटोत्पल

काल

ये एक बहुत बड़े टीकाकार हो गये हैं। बृहज्जातक की टीका के रचनाकाल के विषय में इन्होंने लिखा है—

चैत्रमासस्य पञ्चम्यां सितायां गुरुवासरे।
वस्वष्टाष्ट ८८८ मिते शाके कृतेयं विवृतिर्मया।।

बृहत्संहिता के टीकाकाल के विषय में लिखा है—

फाल्गुनस्य द्वितीयायामसितायां गुरोर्दिने।
वस्वष्टाष्टमिते शाके कृतेयं विवृतिर्मया।।

द्वितीय श्लोक के ८८८ को गतवर्ष मानने से वर्तमान शक ८८९ हो जाता है। वर्तमान ८८९ के अमान्त या पूर्णिमान्त किसी भी फाल्गुन की कृष्ण द्वितीया को गुरुवार नहीं आता, फाल्गुन शुक्ल द्वितीया को आता है, अतः ८८८ गत शक-संख्या नहीं है। इसे वर्तमान शक मानने से पूर्णिमान्त फाल्गुन कृष्ण द्वितीया को गुरुवार आता है, फाल्गुन शुक्ल द्वितीया या अमान्त फाल्गुन कृष्ण द्वितीया को नहीं आता। अतः सिद्ध हुआ कि इस श्लोक का फाल्गुन पूर्णिमान्त मास है अर्थात् यह अमान्त माघ है और ८८८ वर्तमान शक है अर्थात् यहाँ गत शक ८८७ है। प्रथम श्लोक में चैत्र शुक्ल ५ को गुरुवार बतलाया है, परन्तु उसकी संगति किसी प्रकार नहीं लगती। ८८८ को वर्तमान शक मानने से चैत्र शुक्ल ५ को शुक्रवार और उसे गतवर्ष मानने से बुधवार आता है। अतः इस श्लोक में कुछ अशुद्धि है और उसे समझे बिना शके ८८८ को निश्चयपूर्वक वर्तमान वर्ष नहीं कहा जा सकता, फिर भी यह निश्चित है कि यहाँ ८८८ और ८८९ इन्हीं दोनों में से एक शक अपेक्षित है अर्थात् श्लोकोक्त ८८ को वर्तमान वर्ष मानिए अथवा गतवर्ष।

टीकाएँ

इन्होंने वराहमिहिर के ग्रन्थों में से यात्रा, बृहज्जातक, लघुजातक और बृहत्संहिता की टीकाएँ की हैं। बृहत्संहिता के ४४वें अध्याय की टीका से ज्ञात होता है कि यात्रा ग्रन्थ की टीका इसके पहिले की है। ब्रह्मगुप्त के खण्डखाद्य की टीका के समय का तो पता नहीं चलता, पर बृहत्संहिता टीका (अध्याय ५) के "खण्डखाद्यकरणे अस्मदीयवचनम्" उल्लेख से ज्ञात होता है कि उसकी टीका इन्होंने इसके पहिले की थी। वराह के पुत्र पृथुयश के षट्पञ्चाशिका नामक जातकग्रन्थ पर इनकी टीका है। उसकी एक प्रति पूना कालेज संग्रह (नं० ३५५, सन् १८८२-८३) में है। यात्रा की टीका इस समय उपलब्ध नहीं है। बृहज्जातक, लघुजातक, और बृहत्संहिता की टीकाएँ इस प्रान्त में हैं। इनमें से पहली दो छप चुकी हैं। डेक्कन कालेज संग्रह की खण्डखाद्य की इनकी भोजपत्र पर लिखी हुई टीका कश्मीर में मिली है। अन्य प्रान्तों में इस टीका के उपलब्ध होने की सम्भावना नहीं है।

स्थान

शके १५६४ की खण्डखाद्य की एक अन्य टीका और शके १५६७ का पञ्चाङ्ग-कौतुक, कश्मीर में विरचित इन दो ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि भटोत्पल की यह टीका

कश्मीर में बड़ी प्रसिद्ध थी। इससे अनुमान होता है कि ये कश्मीरनिवासी थे और खण्डखाद्यटीकाकार वरुण ने तो इन्हें स्पष्ट ही कश्मीरवासी कहा है।

स्वतन्त्र ग्रन्थ

बृहत्संहिता टीका के प्रथमाध्याय में इन्होंने एक स्थान पर "अस्मदीयवचनं" कहकर एक आर्या लिखी है। इससे अनुमान होता है कि गणितस्कन्ध पर इनका स्वतन्त्र ग्रन्थ रहा होगा। यह वचन इनकी खण्डखाद्य की टीका का भी हो सकता है। ७२ आर्याओं का 'प्रश्नज्ञान' नामक इनका एक प्रश्नग्रन्थ है। बेरुनी ने लिखा है कि इनके 'राहुन्नाकरण' और 'करणपात' नाम के दो करणग्रन्थ हैं और इन्होंने 'बृहन्मानस' की टीका की है। एक ही ग्रन्थकार के दो करणों का होना असम्भव है और इनके नाम भी विचित्र हैं। अतः बेरुनी को इनके विषय में कुछ भ्रम हुआ होगा। उसने लिखा है कि उत्पल का 'श्रूधव' नाम का एक और ग्रन्थ था। इस नाम में कुछ अशुद्धि है। उसने इस ग्रन्थ के कालादि मान लिखे हैं। उसका कथन है कि श्रूधव नाम के और भी ग्रन्थ हैं। श्रूधव के विषयों का थोड़ा-सा परिचय बेरुनी ने दिया है। उससे ज्ञात होता है कि वे शकुन या प्रश्न के ग्रन्थ होंगे।

अन्वेषण

बृहत्संहिता की टीका से ज्ञात होता है कि उत्पल प्राचीन ग्रन्थों के अति शोधक थे और उनका वाचन बहुत अधिक था। उन्होंने टीका में स्थान-स्थान पर यह दिखाया है कि वराहलिखित अधिकांश विषय प्राचीन ग्रन्थों से लिये गये हैं। कहीं-कहीं इन्होंने उन ग्रन्थों के नाम भी लिखे हैं। ऐसे प्रसङ्गों में प्रायः सर्वत्र तत्तद् विषयों के प्राचीन संहिताकारों के आधारभूत वचन उद्धृत किये हैं। कहीं-कहीं एक विषय पर आठ दस प्राचीन संहिताकारों के वचन दिये हैं। इससे यह स्पष्ट है कि वे सब संहिताएँ उस समय उपलब्ध थीं। इसी प्रकार इन्होंने संहिता, जातक और उनके अन्तर्भेद विषयक अनेक पौरुष ग्रन्थकारों के भी नाम और उनके वचन दिये हैं। संहिता शाखा के विविध विषयों का ज्ञान हमारे देश में प्राचीन काल में कितना था और वह क्रमशः कैसे बढ़ा, इसका इतिहास जानने का बृहत्संहिता की उत्पल टीका एक बहुत बड़ा साधन है। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक महत्वशाली विषयों से परिपूर्ण होने के कारण वह छपाने योग्य है। टीका बड़ी विस्तृत है। उसकी ग्रन्थसंख्या[1] लगभग १४००० होगी। उपर्युक्त

---

१. ३२ अक्षरों का एक अनुष्टुप् श्लोक होता है। किसी भी ग्रन्थ के सब अक्षरों की संख्या का ३२वां भाग उसकी ग्रन्थसंख्या कही जाती है।

दोनों श्लोकों से ज्ञात होता है कि वह लगभग ११ मास में लिखी गयी है। इतनी बड़ी टीका इन्होंने केवल ११ मास में लिखी, यह बड़े आश्चर्य का विषय है।

वराहमिहिर के पुत्र पृथुयश के षट्पञ्चाशिका नामक जातक-ग्रन्थ पर उत्पल की टीका है और उसकी एक प्रति पूना कालेज-संग्रह में उपलब्ध है (नम्बर ३५५, सन् १८८२-८३)।

विजयनन्दिकृत करणतिलक, शके ८८८

बेरुनी ने लिखा है कि काशीनिवासी टीकाकार विजयनन्दी ने करणतिलक बनाया। बेरुनी ने उसकी अहर्गण लाने की रीति, अहर्गण द्वारा मध्यमग्रह लाने की रीति, ग्रहणोपयोगी रविचन्द्रबिम्बसाधन, महापातगणित, इत्यादि विषय लिखे हैं उनसे ज्ञात होता है कि वह ग्रन्थ ग्रहलाघव सरीखा था। उसमें क्षेपक शके ८८८ चैत्र शुक्ल १ के थे। डॉ० स्काम ने टिप्पणी में लिखा है कि इसमें अहर्गणसाधन पुलिशसिद्धान्तानुसार है। विजयनन्दी ने लिखा है कि धनिष्ठा, उत्तराभाद्रपदा इत्यादि तारे सूर्यसान्निध्य के कारण अस्त नहीं होते (भाग २ पृष्ठ ६०)। आफ्रेचसूची में इस करण का नाम नहीं है, अतः यह सम्प्रति प्रायः कहीं उपलब्ध नहीं होगा। वराहमिहिर लिखित विजयनन्दी इनसे बहुत प्राचीन है।

भानुभट्ट भानर्जु

बेरुनी ने लिखा है कि इनका रसायनतन्त्र नाम का तन्त्रग्रन्थ और 'करण पर तिलक' नामक करणग्रन्थ है। प्रो० साचो ने लिखा है कि ग्रन्थकार के नाम का उचारण भानुरज या भानुयश भी हो सकता है। खण्डखाद्य की वरुणकृत टीका (शक ९६२) में भानुभट्ट के ग्रन्थ के और तन्त्र रसायन के कुछ अनुष्टुप् श्लोक उद्धृत किये गये हैं। वहाँ यह स्पष्ट नहीं लिखा है कि तन्त्ररसायन ग्रन्थ भानुभट्ट का ही है, पर पूर्वापरसन्दर्भानुसार ऐसा ही ज्ञात होता है। मेरी समझ से बेरुनी के भानुरज (भानुरज्जु ?) और वरुणलिखित भानुभट्ट एक ही हैं। इनका समय शक ९०० के आसपास होगा। आफ्रेचसूची में इनका अथवा इनके ग्रन्थ का नाम नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि सम्प्रति यह कहीं उपलब्ध नहीं है। तन्त्र शब्द से ज्ञात होता है कि तन्त्ररसायन में ग्रहसाधन युगारम्भ से किया गया था।

श्रीपति

ग्रन्थ

इनके 'सिद्धान्तशेखर' और 'धीकोटिदकरण' नाम के दो ज्योतिषगणितग्रन्थ,

'रत्नमाला' नामक मुहूर्तग्रन्थ और 'जातकपद्धति' नामक जातकग्रन्थ हैं। सिद्धान्तशेखर मैंने नहीं देखा है। डेक्कन कालेज सरकारी पुस्तक-संग्रह, पूना के आनन्दाश्रम का पुस्तक संग्रह इत्यादि अनेक पुस्तकालयों के सूचीपत्रों में भी इसका नाम नहीं है, परन्तु भास्कराचार्य ने इसका उल्लेख किया है। ज्योतिषदर्पण (शक १४७९) नामक मुहूर्तग्रन्थ और सिद्धान्तशिरोमणि की मरीचि नाम्नी टीका में भी इसके वचन हैं। मुनीश्वर ने लीलावती की टीका में इनके ग्रन्थ के कुछ वचन उद्धृत किये हैं। उनसे ज्ञात होता है कि इन्होंने पाटीगणित और वीजगणित के भी ग्रन्थ वनाये थे। उन उद्धरणों में एक वाक्य है—

दोः कोटिभागरहिताभिहताः खनागचन्द्रा १८० स्तदीयचरणोनशरार्कदिग्भिः १०१२५।
ते व्यासखण्डगुणिता विहृताः फलन्तु ज्याभिर्विनापि भवतो भुजकोटिजीवे।।

इसमें ज्याखण्डों के विना, केवल चाप द्वारा ज्यासाधन वताया है। भास्कर ने ज्याचाप के विना द्युतिसाधन किया है। गणेश दैवज्ञ ने ग्रहलाघव में बिना ज्याचाप के सम्पूर्ण गणित किया है। सुधाकर द्विवेदी का कथन है कि उनके मस्तिष्क में यह सूझ श्रीपति की रीति द्वारा ही आयी होगी। सुधाकर के कथनानुसार इनके 'रत्नावली' और 'रत्नसार' नामक दो और मुहूर्तग्रन्थ हैं। रत्नसार का नाम आफ्रेचसूची में है। यह ग्रन्थ रत्नमाला का संक्षेप होगा। इन दो मुहूर्तग्रन्थों के रहते हुए तृतीय ग्रन्थ रत्नावली होना असम्भव है। रत्नमाला को ही कुछ लोग रत्नावली कहते रहे होंगे। धीकोटिद करण की प्रसिद्धि सम्प्रति विलकुल नहीं है, परन्तु पूना के आनन्दाश्रम में इसके चन्द्र और सूर्य ग्रहण प्रकरण हैं। उनमें केवल १९ श्लोक हैं। आजकल के मुद्रित किसी भी ग्रन्थ में श्रीपति का काल जानने की मुझे कोई सामग्री नहीं मिली, पर इस खण्डित करण में वह है।

काल

इसमें गणितारम्भ वर्ष शक ९६१ है, अतः इनका काल इसी के आसपास है। उपर्युक्त दो प्रकरणों पर एक छोटी-सी टीका है। उसमें ग्रहण के दो उदाहरण हैं। एक शक १५३२ का है और दूसरा १५९३ का, अतः यह करण शक १५९३ पर्यन्त कुछ प्रान्तों में प्रचलित रहा होगा। रत्नमाला और जातकपद्धति ग्रन्थ काशी में छप चुके हैं। दोनों पर महादेवी नाम की टीका है।

वंश

इन्होंने अपना स्थान और वंशवृत्त इत्यादि नहीं लिखा है, पर रत्नमाला की टीका के आरम्भ में महादेव ने लिखा है—'कश्यपवंशपुण्डरीकखण्डमार्तण्डः केशवस्य

पौत्रः नागदेवस्य सूनुः श्रीपतिः संहितार्थमभिधातुमिच्छुराह'। इससे ज्ञात होता है कि इनका गोत्र काश्यप, इनके पितामह का नाम केशव और पिता का नाम नामदेव था। श्रीपति ने लिखा है कि रत्नमाला मैंने लल्ल के रत्नकोष के आधार पर बनायी है। धीकोटिदकरण से भी ये लल्ल के अर्थात् आर्यपक्ष के अनुयायी ज्ञात होते हैं।

वरुण

इन्होंने ब्रह्मगुप्त के खण्डखाद्य की टीका की है। उसमें उदाहरणों में मुख्य शक ९६२ है। अतः इनका काल इसी के आसपास होगा। टीका से ज्ञात होता है कि ये कश्मीर समीपवर्ती उरुषा देश के चारय्याट सरीखे नाम वाले ग्राम के निवासी थे। इन्होंने अपने स्थान का अक्षांश ३४।२२ और उज्जयिनीयाम्योत्तर रेखा से पूर्व देशान्तर ९९ योजन (लगभग ७।। अंश अथवा ४५० मील) लिखा है। खण्डखाद्य की इनकी टीका में एक विलक्षणता यह है कि आरम्भ में ही अहर्गणसाधन में लिखा है—

उक्तञ्च सिद्धान्तशिरोमणौ—'अभीष्टवारार्थमहर्गणश्चेत् सैको निरेकस्तिथयोऽपि तद्वत्। तदाधिमासावमशेषके च कल्पाधिमासावमयुक्तहीने।।'[1]

यह श्लोक भास्कराचार्य के सिद्धान्तशिरोमणि में है। इसके अनुसार वरुण का समय शके १०७२ के बाद होना चाहिए, परन्तु इनकी टीका के अनेक उदाहरणों से यह बात पूर्ण निश्चित हो जाती है कि इनका समय शके ९६२ के आसपास है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यह श्लोक टीका में बाद में मिला दिया गया है अथवा ईश्वर जाने शके ९६२ के पहिले सिद्धान्तशिरोमणि नाम का कोई अन्य ग्रन्थ रहा हो और उसमें यह श्लोक अक्षरशः इसी प्रकार रहा हो।

राजमृगाङ्क

काल और आधार

यह करणग्रन्थ है। इसमें आरम्भकाल शक ९६४ है। इसके क्षेपक शके ९६३ अमान्त फाल्गुन कृष्ण त्रयोदशीसह चतुर्दशी रविवार के प्रातःकाल (मध्यम सूर्योदय) के हैं। यद्यपि इसमें यह नहीं लिखा है कि यह ग्रन्थ ब्रह्मसिद्धान्त के ग्रहों में बीजसंस्कार

---

१. डेक्कनकालेजसंग्रह में वरुणकृत टीका की दो पुस्तकें (नं० ५२६, ५२७ सन् १८७५-७६) हैं। यह श्लोक प्रथम पुस्तक से लिया गया है।

देकर बनाया गया है, तथापि इसमें बतलाये हुए बीजसंस्कार से संस्कृत ब्रह्मसिद्धान्तीय ग्रह इसके क्षेपकों से ठीक मिलते हैं। वे क्षेपक ये हैं—

	रा.	अं.	क.	वि.		रा.	अं.	क.	वि.
सूर्य	१०	२८	४५	०	शुक्र	६	७	५२	३६
चन्द्र	१०	६	२	५३	शनि	६	२०	४	३१
मंगल	८	२	६	४७	चन्द्रोच्च	५	१०	३०	४५
बुध	८	१	३३	१५	चन्द्रपात	२	१६	५८	५
गुरु	३	१	०	३०					

करणारम्भकालीन मन्दोच्च और पात भी ब्रह्मसिद्धान्त के ही हैं। इसमें बतलाया हुआ बीजसंस्कार और उसे लाने की रीति यह है—

> नन्दाद्रीन्द्वग्नि ३१७९ संयुक्तान् भजेत् खाभ्राभ्रभानु १२००० भिः।
> शाकाब्दानविनष्टं तु भाजकाच्छेषमुत्सृजेत ।।१७।। तयोरल्यं द्विशत्या
> २०० प्तं बीजं लिप्तादिकं पृथक्। त्रिभिः ३ शरै ५ र्भुवा १ द्वचक्षै
> ५२ र्वाणै ५ स्तिथिभि १५ रब्धिभिः ४ ।।१८।।
> द्विकेन २ यमले २ नैवं गुण्यमर्कादिषु क्रमात्।
> स्वं ज्ञशीघ्रे धरासूनौ सूर्यपुत्रे परेष्वृणम् ।।१९।।   मध्यमाधिकार

कर्त्ता

ग्रन्थ के अन्त में लिखा है—

> इत्युर्वीपतिवृन्दवन्दितपदद्वन्द्वेन सद्बुद्धिना,
> श्रीभोजेन कृतं मृगाङ्ककरणं ज्योतिर्विदां प्रीयते ।।

इससे सिद्ध होता है कि यह ग्रन्थ भोजराज कृत है। सम्प्रति उपलब्ध इससे प्राचीन अन्य किसी भी ग्रन्थ में यह बीजसंस्कार नहीं है। अतः इसकी कल्पना भोजराज के ही समय हुई होगी। सम्भवतः उन्होंने अपने यहाँ ज्योतिषी रखकर कुछ वर्षों तक उनसे वेध कराया होगा और उस समय प्रत्यक्ष वेधोपलब्ध तथा ब्रह्मसिद्धान्त द्वारा लाये हुए ग्रहों में जो अन्तर दृष्टिगोचर हुआ होगा, उसके अनुसार अन्य ग्रन्थों से सुसंगत होने योग्य यह संस्कार निश्चित किया होगा। पता नहीं, भोजराज को स्वयं करणग्रन्थ बनाने योग्य ज्योतिषज्ञान था या नहीं। यदि नहीं रहा होगा तो उनके आश्रित ज्योतिषियों ने ग्रन्थ बनाकर उनके नाम से प्रसिद्ध किया होगा। ऐसा होने पर भी यह निश्चित है कि ज्योतिषियों को वेदाधिकों के

अनुभव द्वारा नवीन करण ग्रन्थ बनाने का सामर्थ्य राजाश्रय के कारण ही प्राप्त हुआ होगा।

विषय

इस ग्रन्थ में मध्यमाधिकार और स्पष्टाधिकार, ये दो ही अधिकार और सब लगभग ६९ श्लोक हैं। उस समय ग्रहणादि अन्य पदार्थ सिद्धान्तों द्वारा लाते रहे होंगे। सम्प्रति इसका प्रचार कहीं नहीं है और यह ठीक भी है, क्योंक अधिक प्राचीन होने के कारण इसका अगर्हण बहुत बड़ा हो जाता है, जिससे मध्यम ग्रह लाने में बड़ी अड़चन होती है और दूसरी बात यह है कि इसके बाद अन्य भी बहुत से करण बन गये, तथापि मालूम होता है यह बहुत दिनों तक प्रचलित था। महादेवी-सारणी नामक शक १२३८ का एक ब्रह्मपक्षीय करणग्रन्थ है। उसमें इसका उल्लेख है और शक १४४५ के 'ताजकसार' नामक ग्रन्थ में लिखा है—

श्रीसूर्यतुल्यात् करणोत्तमाद्वा स्पष्टा ग्रहा राजमृगाङ्कतो वा।

इससे ज्ञात होता है कि शके १४४५ पर्यन्त इससे स्पष्टग्रह लाते थे। इसमें अयनांश-साधन की विधि यह है—

शक: पञ्चाब्धिवेदो ४४५ न: षष्टिभक्तोऽयनांशका:।।२५।।

मध्यमाधिकार

करणकमलमार्तण्ड

काल और कर्ता

यह करणग्रन्थ है। इसमें आरम्भ वर्ष शक ९८० है। इसे वल्लभवंश के दशबल नामक राजा ने बनाया है। इसके अन्त में लिखा है—

वलभान्वयसञ्जातो विरोचनसुत: सुधी:। इदं दशबल: श्रीमान् चक्रे करणमुत्तमम्।।१०।।

धन्यैरार्यभटादिभिर्निजगुणैर्दिण्डीरफेनोज्वलै
राब्रह्माण्डविसारिभि: प्रतिदिनं विस्तारिता: कीर्तय:।
स्मृत्वा तच्चरणाम्बुजानि रचितोऽस्माभि: परप्रार्थितै
र्ग्रन्थोऽयं तदुपार्जितैश्च सुकृतै: प्रीतिं भजन्तां प्रजा:।।११।। अधिकार १०

आधार

यद्यपि इसमें नहीं लिखा है कि यह अमुक सिद्धान्त के अनुसार बना है, तथापि इसकी अब्दप (मध्यममेषसंक्रमणकाल) और तिथिशुद्धि (मध्यम मेष में गत मध्यम तिथि) की वार्षिक गति राजमृगांकोक्त बीजसंस्कृत ब्रह्मसिद्धान्त-मान से मिलती है और इसके मन्दोच्च, नक्षत्रध्रुव, पात इत्यादि भी ब्रह्मसिद्धान्त से मिलते हैं। अत:

यह ग्रन्थ बीजसंस्कृत ब्रह्मसिद्धान्ततुल्य है, इसमें सन्देह नहीं है। इसमें बीजसंस्कार पृथक् नहीं लिखा है, उससे संस्कृत ही गतियाँ दी हैं।

सुविधा

इससे प्राचीन प्रसिद्ध करणग्रन्थ पञ्चसिद्धान्तिका, खण्डखाद्य और राजमृगांङ्क में मध्यमग्रहसाधन अहर्गण द्वारा किया है, अर्थात् करणगत वर्ष संख्या को लगभग ३६५$\frac{१}{४}$ से गुणने जो दिनसंख्या आती है, उसके द्वारा दिनगति और मध्यमग्रह लाने की रीति दी है। परन्तु इस पद्धति में वर्षसंख्या ज्यों-ज्यों बढ़ती है त्यों-त्यों अहर्गण बढ़ता जाता है और इससे गुणन-भजन में बड़ा गौरव हो जाता है। दिनगति के कोष्ठक बना लेने से अथवा ग्रहों की वार्षिक गति और करणगतवर्षगण द्वारा मध्यम ग्रह लाने में बहुत थोड़ा समय लगता है, परन्तु आश्चर्य है कि पञ्चसिद्धान्तिका, खण्डखाद्य, राज-मृगांक और इनके बाद के प्रसिद्ध करणग्रन्थ करणप्रकाश, करणकुतूहल और ग्रहलाघव में, जिनके द्वारा आज भी गणित किया जाता है, अहर्गण द्वारा मध्यमग्रहसाधन की अति श्रमजनक रीति दी है। उससे एक ग्रह लान में जितना समय लगता है, उसके दशांश अथवा उससे भी कम समय में वर्षगण या कोष्ठकों द्वारा मध्यमग्रहसाधन हो जाता है,। प्रस्तुत ग्रन्थ करणकमलमार्तण्ड में ग्रहसाधन वर्षगण द्वारा किया है। इतना ही नहीं, इसमें बहुत बड़ी सुविधा यह है कि वर्षगण में गति का गुणन करने के श्रम से मुक्त होने के लिए कोष्ठक बना दिये गये हैं। सम्प्रति ग्रहलाघव द्वारा गणित करनेवाले कुछ ज्योतिषियों के पास दिनगति के कोष्ठक मिलते हैं। सम्भव है, प्राचीन ज्योतिषियों ने पञ्चसिद्धान्तिकादि द्वारा गणित करने के ऐसे ही कोष्ठक बनाये होंगे, परन्तु वह रीति ग्रन्थ में न होने के कारण मैंने बहुत से अल्पज्ञ ज्योतिषियों को कोष्ठकों का प्रयोग छोड़ कर ग्रन्थोक्त अति श्रमजनक रीति द्वारा गणित करते हुए देखा है। अतः इस विषय में करणकमलमार्तण्ड की पद्धति स्तुत्य है। इसमें मध्यमग्रहसाधन मध्यममेष से किया है। ग्रन्थारम्भ कालीन क्षेपक और वर्षगतियाँ इसमें श्लोकों में नहीं दी हैं, यह थोड़ा आश्चर्य है। परन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ में ये सब बातें रही होंगी। मैंने जो प्रति (पूना डेक्कन कालेज संग्रह नं० २०, सन् १८७०-७१) देखी है, उसमें तिथिशुद्धि के अतिरिक्त अन्य कोष्ठक नहीं हैं। अतः इस ग्रन्थ का इतना ही भाग ग्रहसाधन के लिए पर्याप्त नहीं है। इसमें मध्यमाधिकार, स्पष्टाधिकार, त्रिप्रश्नाधिकार, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, उदयास्त, शृङ्गोन्नति, महापात, ग्रहयुति और स्फुटाधिमाससंवत्सरानयन, ये १० अधिकार और अनुष्टुप् छन्द के लगभग २७९ श्लोक हैं। इसमें शून्यायनांशवर्ष शक ४४४ और अयनांश की वार्षिक गति १ कला मानी है।

करणप्रकाश

काल और कर्ता

यह एक करणग्रन्थ है। इसमें आरम्भवर्ष शक १०१४ है। इसके आरम्भ में ग्रन्थकार ने लिखा है—

नत्वाहमार्यभटशास्त्रसमं करोमि श्रीब्रह्मदेवगणकः करणप्रकाशम्।

इससे ज्ञात होता है कि इसे ब्रह्मदेव नामक ज्योतिषी ने आर्यभट के ग्रन्थानुसार बनाया है। इसके अन्त मे लिखा है—

आसीत् पार्थिववृन्दवन्दितपदाम्भोजद्वयो माथुरः।
श्रीश्रीश्चन्द्रबुधोगुणैकवसतिः ख्यातो द्विजेन्द्रः क्षितौ।।
नत्वा तस्य सुतोऽङ्घ्रिघपकजयुगं खण्डेन्दुचूडामणेः,
वृत्तैः स्पष्टमिदञ्चकार करणं श्रीब्रह्मदेवः सुधीः।।११।।

इससे इनके पिता का नाम चन्द्र और माथुर विशेषण से उनका निवासस्थान मथुरा ज्ञात होता है। चन्द्र किसी राजा के आश्रित रहे होंगे अथवा राजाओं के यहाँ उनकी बड़ी प्रतिष्ठा रही होगी।

आधार

उपर्युक्त श्लोक के आर्यभट प्रथम आर्यभट हैं। इस श्लोक में लिखा है कि यह ग्रन्थ आर्यभट-शास्त्र-तुल्य है, परन्तु प्रथम आर्यसिद्धान्त द्वारा लायी हुई गति-स्थिति में लल्लोक्त बीज संस्कार देने पर इसकी गतिस्थिति मिलती है। इसमें बीजसंस्कार पृथक् नहीं लिखा है, उससे संस्कृति ही गतिस्थिति दी है। इसके निम्नलिखित क्षेपक चैत्र शुक्ल प्रतिपदा शुक्रवार शके १०१४ के मध्यम सूर्योदय के हैं। लल्लोक्त बीजसंस्कृत प्रथम आर्यभटीय के ग्रहों की विकलाएँ तक इन क्षेपकों से मिलती हैं—

	रा.	अं.	क.	वि.		रा.	अं.	क.	वि.
सूर्य	११	१६	३२	५७	बुध	७	४	३१	१२
चन्द्र	११	२७	२०	२०	गुरु	६	२	५६	२७
मंगल	३	१३	२०	६	शुक्र	१०	११	२८	५८
शनि	३	२	१४	२३	चद्रोच्च	१	५	४९	१६
					चन्द्रपात	१	३	१७	१२

विषय

इसमें मध्यमग्रहसाधन अहर्गण द्वारा किया है। इसमें मध्यमाधिकार, स्पष्टी-करणाधिकार, पञ्चतारास्पष्टीकरण, छाया, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, उदयास्त, शृङ्गोन्नति और ग्रहयुति, ये ९ अधिकार हैं। शून्यायनांशवर्ष ४४५ और वार्षिक अयनगति एक कला मानी है।

प्रचार

एकादशी व्रत के सम्वन्ध में स्मार्त और भागवत दो मत हैं। एकादशी के पूर्व दिन दशमी और ५६ घटी अथवा इससे अधिक होने पर भागवत सम्प्रदाय वाले एकादशी को दशमीविद्ध मान कर उसके दूसरे दिन व्रत करते हैं। दशमी की घटिका लाने के विषय में सोलापुर, कर्नाटक और प्रायः दक्षिण के वैष्णव आर्यपक्ष का अनुसरण करते हैं। करण-प्रकाश ग्रन्थ आर्यपक्षीय है। इससे लायी हुई प्रत्येक तिथि सूर्यसिद्धान्त और ब्रह्मसिद्धान्त की तिथि की अपेक्षा लगभग दो-तीन घटी अधिक होती है। मेरा विश्वास है कि सम्प्रति ऐसा पञ्चाङ्ग कहीं भी प्रचलित नहीं होगा, जिसमें सब तिथियाँ करणप्रकाश से बनायी जाती हों, क्योंकि ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग तिथिचिन्तामणि की सारणियों द्वारा बहुत शीघ्र बन जाता है, परन्तु करणप्रकाश के अनुसार गणित करने का ऐसा कोई साधन नहीं है। इस कारण महाराष्ट्र के वैष्णव अन्य तिथियों के विषय में ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग का व्यवहार करते हैं और एकादशी आर्यपक्षानुसार मानते हैं, परन्तु उसका भी यह स्थूल मान कि—आर्यपक्ष की तिथि ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग से दो घटी अधिक होती है—निश्चित सरीखा ही है। ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग में दशमी ५४ घटी होने पर आर्यपक्षा-नुसार उसे ५६ घटी समझकर अग्रिम एकादशी को दशमीविद्ध मानते हैं। शके १८०९ के आषाढ़ कृष्णपक्ष में ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्गानुसार शुक्रवार को दशमी ५२ घटी १५ पल, शनिवार को एकादशी ५४।३२ और रविवार को द्वादशी ५५।३९ है।[1] यहाँ एकादशी दशमीविद्ध नहीं है और दो एकादशी होने का अन्य भी कोई कारण नहीं है, इसलिए सभी मराठी पञ्चाङ्गों में शनिवार को ही एकादशी लिखी है। परन्तु उस समय अकस्मात् मुझे रायपुर की ओर के एक वैष्णव आचार्य अपने शिष्यवर्ग के साथ मिले, उन्होंने कहा—'हमारी एकादशी कल है।' कारण पूछने पर उन्होंने आर्यपक्ष, करणप्रकाश, लिप्ता इत्यादि कुछ शब्द कहे, पर वस्तुतः वे नहीं जानते थे कि आर्यपक्ष और करण

---

१. शके १८०९ के सायन पंचांग में छपे हुए ग्रहलाघवीय पंचांग से ये अंक लिये गये हैं।

प्रकाश क्या पदार्थ है। किञ्चित् छलपूर्वक पूछने पर बोले, धारवाड़ से पत्र आया है इसलिए हम दूसरी एकादशी रहते हैं। वहाँ भी सम्प्रति प्रत्यक्ष करणप्रकाश द्वारा कोई गणित करता होगा, इस पर मेरा विश्वास नहीं है। शक १५७८ का बीजापुर का एक हस्तलिखित पञ्चाङ्ग मैंने देखा। वह ग्रहलाघवादिकों द्वारा ही निर्मित ज्ञात होता था, परन्तु उसमें दशमी और एकादशी तिथियां करणप्रकाश द्वारा पृथक् ठहरायी थीं। सोलापुर के एक वैष्णव ज्योतिषी मुझसे कहते थे कि हम लोग एकादशी का गणित करणप्रकाश से करते हैं। शके १८०६ में बीड़ के एक विद्वान् ज्योतिषी मिले। वे सम्पूर्ण करणप्रकाश जानते थे, परन्तु उन्होंने कहा कि हम सदा सम्पूर्ण गणित करणप्रकाश से नहीं करते। उपर्युक्त दशमी का गणित मैंने करणप्रकाश से किया। वह उज्जयिनी रेखांश पर मध्यमोदय से ५४ घटी ५९ पल और स्पष्टोदय से ५६ घटी आयी।[1] सारांश यह कि करणप्रकाश का आज भी थोड़ा प्रचार है। इस प्रान्त में इसकी प्रति प्राप्त करने में मुझे बड़ा परिश्रम करना पड़ा, पर वह मिल गयी।

तीन पक्ष

यहाँ पर यह बतलाना आवश्यक है कि प्रथम आर्यसिद्धान्त में लल्लोक्त बीजसंस्कार देने से आर्यपक्ष की तिथि २-३ घटी अधिक आती है, अन्यथा अधिक नहीं आती। अतः आर्यपक्षानुसार एकादशी के भिन्नत्व का बाद लल्ल के पश्चात् उद्भूत हुआ होगा, उनके पहिले नहीं रहा होगा। 'मुहूर्तमार्तण्ड' नामक शक १४९३ का एक मुहूर्तग्रन्थ है। उसमें लिखा है—ब्राह्मपक्ष की तिथि से आर्यपक्ष की तिथि ५ घटी अधिक रहती है। इससे और ग्रहलाघव से ज्ञात होता है कि शक की १५वीं शताब्दी में आर्य, ब्राह्म और सौर, इन तीन पक्षों का भिन्नत्व और जनता में तीनों का अभिमान प्रबल हो चुका था। करणकुतूहल और राजमृगांक ग्रन्थ ब्राह्मपक्ष के हैं। खण्डखाद्य को सौरपक्षीय कह सकते हैं। शक १०१४ के पहिले का आर्यपक्षीय स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। अतः शके १००० से अथवा कदाचित् लल्लकाल से ही तीन भिन्न-भिन्न पक्ष और उनके अभिमानी हो गये होंगे। ग्रहलाघव में जो ग्रह आर्यपक्ष के नाम पर लिये गये हैं वे करणप्रकाश के हैं।

---

१. करणप्रकाश द्वारा एकादशी का गणित ४ घंटे में भी नहीं हो सकता। मैंने करणप्रकाश तुल्य परन्तु उससे सुलभ अन्य रीति से वही गणित लगभग पौन घंटे में किया।

भास्वतीकरण

काल, कर्ता और स्थान

यह एक करणग्रन्थ है। इसमें आरम्भवर्ष शक १०२१ है। इसके रचयिता शतानन्द नामक ज्योतिषी हैं। भास्वती-टीकाकार अनिरुद्ध का कथन है कि शतानन्द पुरुषोत्तम अर्थात् जगन्नाथपुरी के निवासी थे और उन्होंने क्षेपक वहीं के लिखे हैं। सिद्धान्तादि गणितग्रन्थों में प्रायः सर्वत्र देखा जाता है कि वे चाहे जहाँ बने हों, पर उनमें क्षेपक उज्जयिनी के ही रहते हैं। जगन्नाथपुरी उज्जयिनी-रेखा से अधिक दूर होने के कारण भास्वतीकार ने सुभीते के लिए इस पद्धति का त्याग किया होगा और यह ठीक भी है। इनके एक टीकाकार माधव का कथन है कि भास्वती के आरम्भ के 'नत्वा मुरारेश्चरणारविंदम्' लेख से ज्ञात होता है कि ये वैष्णव थे। इसके प्रथम अधिकार में लिखा है—

अथ प्रवक्ष्ये मिहिरोपदेशात् तत्सूर्यसिद्धान्तसमं समासात् ।।३।।

आधार

टीकाकार माधव ने मिहिर का अर्थ सूर्य करते हुए इस ग्रन्थ को सूर्यसिद्धान्त के आधार पर बना हुआ बतलाया है और ग्रहों के क्षेपकों और गतियों की उपपत्ति वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के अनुसार लगाने का असफल प्रयत्न किया है। अनेकों स्थानों में उन्हें यह कहकर समाधान करना पड़ा है कि आचार्य ने इतना अन्तर छोड़ दिया। यह बात उनके ध्यान में बिलकुल नहीं आयी कि शतानन्द ने यह करण वराहमिहिर की पञ्चसिद्धान्तिका के सूर्यसिद्धान्तानुसार बनाया है। हम समझते हैं, उस समय (शके १४४२) पञ्चसिद्धान्तिका के प्रचार का सर्वथा अभाव होने के कारण उन्हें यह भ्रम हुआ होगा। मैंने भास्वती की कुछ और टीकाएँ भी देखी हैं, पर उनमें क्षेपकों की उपपत्ति नहीं है।

भास्वती के क्षेपक स्पष्टमेषसंक्रान्तिकालीन अर्थात् शके १०२१ अमान्त चैत्र कृष्ण ३० गुरुवार के हैं, पर वे उस दिन के किस समय के हैं, इसका ठीक ज्ञान न होने के कारण उनकी कला-विकलाओं की भी ठीक संगति लगती है या नहीं, इसकी परीक्षा मैं नहीं कर सका। फिर भी क्षेपक स्पष्टमेषसंक्रान्ति-दिवस के हैं और वे वराहोक्त बीज-संस्कार से संस्कृत वराहमिहिर के पञ्चसिद्धान्तिकान्तर्गत सूर्यसिद्धान्त द्वारा लाये हुए मध्यम ग्रहों से प्रायः मिलते हैं।[1] इससे यह निःसंशय सिद्ध होता है कि भास्वतीकार

---

१. पञ्चसिद्धान्तिका द्वारा भास्वतीक्षेपक लाने में अहर्गण २१६९६२ आता है।

ने मूल सूर्यसिद्धान्त में वराहोक्त बीजसंस्कार देकर मध्यमग्रह लिये हैं और ग्रहों की वर्षगतियों में भी इसी पद्धति का अनुसरण किया है।

स्पष्ट मेष

इसमें मध्यमग्रहसाधन अहर्गण द्वारा न करके वर्षगण द्वारा किया है और ऐसा करने में बड़ी सुविधा होती है, यह ऊपर वता ही चुके हैं। अन्य जिन-जिन करण-ग्रन्थों में वर्षगण द्वारा मध्यमग्रहसाधन किया गया है उन सवों में आरम्भ मध्यम मेष-संक्रान्ति से है, पर इसमें स्पष्ट मेषसंक्रान्ति से है। केरोपन्त ने भी अपने ग्रहसाधन कोष्ठक में स्पष्ट मेष ही से ग्रहसाधन किया है।

शतांश पद्धति

शतानन्द के ग्रन्थ में एक और विशेषता यह है कि उन्होंने क्षेपकों और ग्रहगतियों के गुणक-भाजक शतांश पद्धति द्वारा लिखे हैं। इसमें सूर्य और चन्द्रमा की गति-स्थितियाँ नक्षत्रात्मक और भौमादि ग्रहों की रश्यात्मक हैं। यहां इनके दो उदाहरण देते हैं। चन्द्रमा की वार्षिक गति $९९५\frac{५}{६}$ लिखी है। ये शतांश हैं। इनमें १०० का भाग देने से जो लब्धि आयेगी, वह नक्षत्र संख्या होगी। अर्थात् चन्द्रमा की वार्षिक गति है $\frac{९९५\frac{५}{६}}{१००}$ नक्षत्र $= \frac{९९५\frac{५}{६}}{१००} \times ८००$ कला $= ७९६६\frac{२}{३}$ कला $=$ ४ राशि १२ अंश ४६ कला ४० विकला। इस रश्यादि गति द्वारा गणित करने की अपेक्षा $९९५\frac{५}{६}$ गति द्वारा करने में बहुत कम परिश्रम होता है। दूसरा उदाहरण—शनिक्षेपक ५९४, यह राश्यात्मक है और ५९४ शतांश हैं। इसलिए शनि का राश्यादि क्षेपक हुआ $\frac{५९४}{१००} = ५$ राशि २८ अंश १२ कला। यह पद्धति कुछ आधुनिक दशांश पद्धति सरीखी ही है। पता नहीं चलता, इस शतांश पद्धति के कारण ही ग्रन्थकार ने शतानन्द नाम स्वीकार किया अथवा वस्तुतः उनका नाम शतानन्द ही था।

विषय

भास्वती में तिथिध्रुवाधिकार, ग्रहध्रुवाधिकार, स्फुटतिथ्यधिकार,, ग्रहस्फुटाधिकार, त्रिप्रश्न, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण और परिलेख, ये ८ अधिकार और भिन्न-भिन्न छन्दों के लगभग ६० श्लोक हैं। इसमें शून्यायनांशवर्ष शक ४५० और वार्षिक अयनगति एक कला है।

इससे गुणन-भजन में बहुत अधिक परिश्रम होता है। यदि वर्षगति दी होती तो इस संख्या के स्थान में (१०२१-४२७) ५९४ आता और इससे ग्रह लाने में बड़ी सुविधा होती।

टीकाएँ

इस पर काशीनिवासी अनिरुद्ध की शके १४१७ की टीका है। उसे देखने से ज्ञात होता है कि उसके पहिले इसकी कई टीकाएं हो चुकी थीं। माधव की टीका शक १४४२ के आसपास की है। ये कन्नौज (कान्यकुब्ज) के निवासी थे। गङ्गाधरकृत टीका शक १६०७ की है। शक १५७७ के पास की एक और टीका है। बलभद्र की टीका कोलब्रूक के कथनानुसार शक १३३० की है। आफ्रेचसूची[1] से उसका नाम बालबोधिनी ज्ञात होता है। इनके अतिरिक्त इस पर भास्वतीकरणपद्धति, रामकृष्णकृत तत्त्वप्रकाशिका, रामकृष्णकृत भास्वती चक्ररश्म्युदाहरण, शतानन्दकृत उदाहरण, वृन्दावनकृत उदाहरण तथा अच्युतभट्ट, गोपाल, चक्रविप्रदास, रामेश्वर और सदानन्दकृत टीकाएँ हैं और वनमालीकृत प्राकृत टीका है—ऐसाआफ्रेच सूची में लिखा है।

इनमें अधिक टीकाकार उत्तर भारत के हैं, अतः उत्तर में इसकी अधिक प्रसिद्धि रही होगी। आजकल इसका प्रचार नहीं है और मुझे अन्य किसी ग्रन्थ में इसका उल्लेख नहीं मिला।

करणोत्तम

'करणोत्तम' नाम के करणग्रन्थ का उल्लेख श्रीपति की रत्नमाला की महादेवकृत टीका में अनेकों स्थानों में है। उसमें अयनांशविचार में इस करण के ये—'शाको वसुत्र्यम्बरचन्द्र १०३८ हीनः=, कलारूपा याताः करणशरदः, षट्शतयुताः करणोत्तमादौ चाप्ययनांशा दशसंख्याः'—वाक्य आये हैं। इनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि करणोत्तम ग्रन्थ शके १०३८ का है और उसमें शून्यायनांशवर्ष शके ४३८ तथा वार्षिक अयनगति एक कला मानी है। ताजकसार ग्रन्थ (शके १४४५) का—स्पष्टग्रह सूर्यतुल्य, करणोत्तम अथवा राजमृगाङ्क से लाने चाहिए—इस अर्थ का एक वाक्य ऊपर दिया है। इनमें सूर्यतुल्य ग्रन्थ और पक्ष का होना चाहिए। राजमृगांक ब्राह्मपक्षीय है, यह ऊपर बता चुके हैं, अतः तृतीय ग्रन्थ करणोत्तम अनुमानतः आर्यपक्षीय होगा। ताजकसार

---

१. यूरोप के भिन्न-भिन्न स्थानों के संस्कृत ग्रन्थों की लगभग १९ और भारत की ३७ अर्थात् सब ५६ सूचियों के आधार पर थिओडोर आफ्रेच (Theodor Aufrecht) नामक जर्मन विद्वान् की बनायी हुई एक बहुत बड़ी सूची (Catalogus catalogorum) जर्मन ओरियंटल सोसायटी ने सन् १८९१ में लिपजिक में छपायी है। उसी का नाम आफ्रेच सूची है।

के शक से ज्ञात होता है कि वह शक १४४५ में प्रचलित था। सम्प्रति उसके प्रचलित या उपलब्ध होने की बात कहीं सुनने या पढ़ने में नहीं आती।

महेश्वर

ये प्रसिद्ध ज्योतिषी सिद्धान्तशिरोमणिकार भास्कराचार्य के पिता थे। इनका जन्म-शक लगभग १००० और इनके ग्रन्थों का रचनाकाल शक १०३०-४० के आसपास होगा। इनका वंशवृत्त आगे भास्कराचार्य के वर्णन में है। इनके प्रपौत्र अनन्तदेव के शिलालेख में लिखा है कि इन्होंने शेखर नामक करणग्रन्थ, लघुजातक की टीका, एक फलितग्रन्थ और प्रतिष्ठाविधिदीपक बनाया था (भास्कराचार्य का वर्णन देखिए)। 'वृत्तशत' नामक इनका एक और ग्रन्थ है। वृत्तशत नाम का एक मुहूर्तग्रन्थ है (Jour, R. A. S, N. S. vol,1, P. 410), वह यही होगा।

अभिलषितार्थ चिन्तामणि

उत्तर-चालुक्यवंश के राजा तृतीय सोमेश्वर ने, जिसे भूलोकमल्ल और सर्वज्ञभूपाल भी कहते थे, 'अभिलषितार्थचिन्तामणि' अथवा 'मानसोल्लास' नामक ग्रन्थ बनाया है। इसमें अनेक विषयों के साथ ज्योतिष भी है। इसमें ग्रहसाधनार्थ आरम्भ काल शक १०५१ लिया है। इसके विषय में लिखा है---

एकपञ्चाशदधिके सहस्रे १०५१ शरदां गते। शकस्य सोमभूपाले सति चालुक्यमण्डने।।
समुद्ररसनामुर्वी शासति क्षतविद्विषि। सर्वशास्त्रार्थसर्वस्वपयोधिकलशोद्भवे।।
सोम्यसंवत्सरे चैत्रमासादौ शुक्रवासरे। परिशोधितसिद्धान्तलब्धाः स्युर्ध्रुवका इमे।।[1]

इससे ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ के क्षेपक शके १०५१ चैत्र शुक्ल प्रतिपदा शुक्रवार के हैं और इसमें अहर्गण द्वारा ग्रहसाधन किया है। यह ग्रन्थ मैंने स्वयं नहीं देखा है, इससे इसमें ग्रह किस सिद्धान्त के अनुसार लिये गये हैं, इत्यादि बातों का पता नहीं लगता।

शक १०७२ पहले के अन्य ग्रन्थ और ग्रन्थाकार

यहाँ तक जिन ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का वर्णन किया गया है, भास्कराचार्य के सिद्धान्तशिरोमणि में उनके अतिरिक्त कुछ और नाम आये हैं। माधवकृत सिद्धान्त-

---

१ प्रोफेसर भण्डारकर के "दक्षिण का इतिहास" का पृष्ठ ६७-६८ (इंग्लिश) देखिए।

चूड़ामणि का उल्लेख सिद्धान्तशिरोमणि में दो स्थानों में है (वापूदेव शास्त्री की पुस्तक का पृष्ठ २३४, २६६ देखिए)। सम्प्रति यह सिद्धान्त उपलब्ध नहीं है। भास्कर के बीजगणित से ज्ञात होता है कि उनके पहिले ब्रह्मा और विष्णुदैवज्ञ नाम के बीजगणित-ग्रन्थकार थे। उनके ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं हैं। ये ब्रह्मा कदाचित् करणप्रकाश-कार ब्रह्मा होंगे।

भास्कराचार्य

काल

भारत में ये एक बहुत बड़े ज्योतिषी हो चुके हैं। लगभग ७०० वर्षों से भारत में ही नहीं, बाहर भी इनकी कीर्ति फैली हुई है। 'सिद्धान्तशिरोमणि' और 'करण-कुतूहल' नामक इनके दो गणितज्योतिषग्रन्थ हैं। इन्होंने सिद्धान्त के शिरोमणि के गोलाध्याय में लिखा है—

रसगुणपूर्णमही १०३६ समशकनृपसमयेऽभवन्ममोत्पत्तिः।
रसगुणवर्षेण मया सिद्धान्तशिरोमणी रचितः ॥५८॥

इससे ज्ञात होता है कि इनका जन्म शके १०३६ में हुआ और इन्होंने ३६ वर्ष की अवस्था में सिद्धान्तशिरोमणि बनाया। करणकुतूहल में आरम्भवर्ष शके ११०५ है अर्थात् वह उसी वर्ष में बना है। सिद्धान्तशिरोमणि के ग्रहगणित और गोलाध्याय पर इनकी स्वकीय वासनाभाष्य नाम की टीका है। उसके पाताधिकार में एक स्थान पर लिखा है, "तथा शरखण्डकानि करणे मया कथितानि" और टीका में कई अन्य स्थानों में अयनांश ११ लिये हैं, इससे टीका का रचनाकाल शके ११०५ के आसपास ज्ञात होता है, क्योंकि इन्होंने ११ अयनांश शके ११०५ में माने हैं, पर कुछ टीका इसके पहिले और कुछ मूल ग्रन्थ के साथ लिखी होगी, यह भी सम्भव है,। ६९ वर्ष की अवस्था में करण-ग्रन्थ और टीका के कुछ भाग की रचना से ज्ञात होता है कि इतने अधिक वय में भी इनके उत्साह और बुद्धि में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आयी थी। वर्तमान समय में हमारे देश में ऐसे मनुष्य बहुत कम हैं। स्वयं इनके और अन्य आचार्यों के ग्रन्थों में पर्याप्त प्रमाण होने के कारण इनके काल के विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। इन्होंने अपने कुल और निवासस्थान का थोड़ा-सा वर्णन अग्रिम श्लोकों में किया है—

आसीत् सह्यकुलाचलाश्रितपुरे त्रैविद्यविद्वज्जने, नानासज्जनधाम्नि विज्जडविडे शाण्डिल्यगोत्रो द्विजः। श्रौतस्मार्तविचारसारचतुरो निःशेषविद्यानिधिः, साधूनाम-वधिर्महेश्वरकृती दैवज्ञचूडामणिः ॥६१॥ तज्जस्तच्चरणारविन्दयुगलप्राप्तप्रसादः

सुधीर्मुग्धोद्बोधकरं विदग्धगणकप्रीतिप्रदं प्रस्फुटम्। एतद् व्यक्त सदुक्तियुक्ति-
बहुलं हेलावगम्यं विदां सिद्धान्तग्रथनं कुबुद्धिमथनं चक्रे कविर्भास्करः।।६२।।
गोले प्रश्नाध्याये

इससे ज्ञात होता है कि इनका गोत्र शाण्डिल्य और निवासस्थान सह्यपर्वत के पास विज्जड़विड़ नामक ग्राम था। इनके पिता का नाम महेश्वर था और वे ही इनके गुरू भी थे।

खानदेश में चालीसगांव से १० मील नैर्ऋत्य की ओर पाटण नाम का एक उजाड़ गांव है। वहां भवानी के मन्दिर में एक शिलालेख है,[1] उसमें "भास्कराचार्य के पौत्र चंगदेव यादववंशीय सिंघण राजा के ज्योतिषी थे। इस सिंघण (सिंह) राजा का राज्य देवगिरि में शक ११३२ से ११५९ तक था। चंगदेव ने भास्कराचार्य और उनके वंश के अन्य विद्वानों के ग्रन्थों का अध्यापन करने के लिए पाटण में एक मठ स्थापित किया। सिंघण के माण्डलिक (भृत्य) निकुंभवंशीय सोइदेव ने शक ११२९ में उस मठ के लिए कुछ सम्पत्ति नियुक्त कर दी। उसके भाई हेमाडी ने भी कुछ नियुक्त किया" इत्यादि बातें लिखी हैं। चंगदेव ने शक ११२८ के कुछ वर्षों बाद यह लेख लिखवाया है। इस समय वह मठ तो नहीं है, पर मठ के चिह्न हैं। इस शिलालेख में भास्कराचार्य के पूर्वापर पुरुषों का वृत्तान्त इस प्रकार है—

शाण्डिल्यवंशे कविचक्रवर्ती त्रिविक्रमोऽभूत्तनयोऽस्य जातः।
यो भोजराजेन कृताभिधानो विद्यापतिर्भास्करभट्टनामा।।१७७।।
तस्माद् गोविन्दसर्वज्ञो जातो गोविन्दवन्निभः।
प्रभाकरः सुतस्तस्मात् प्रभाकर इवापरः।।१८।।
तस्मान्मनोरथो जातः सतां पूर्णमनोरथः।
श्रीमन्महेश्वराचार्यस्ततोऽजनि कवीश्वरः।।१९।।

तत्सूनुः कविवृन्दवन्दितपदः सद्वेदविद्यालताकन्दः कंसरिपुप्रसादितपदः सर्वज्ञविद्यासदः। यच्छिष्यैः सहः कोऽपि नो विवदितुं दक्षो विवादी क्वचिच्छ्रीमान् भास्करकोविदः समभवत् सत्कीर्तिपुण्यान्वितः।।२०।। लक्ष्मीधराख्योऽखिलसूरिमुख्यो वेदार्थवित्तार्किकचक्रवर्ती। क्रतुक्रियाकाण्डविचारसारविशारदो भास्करनन्दनोऽभूत।।२१।।

---

१. कैलासवासी डा० भाऊ दाजी ने इस लेख का पता लगाया और उसे Jour. R. A. S. N. S. vol. I, P. 414 में प्रसिद्ध किया। इसके बाद वह Epigraphia Indica, vol., I, P. 340 में पुनः अच्छी तरह छपा है। उसमें पाटण गांव का नाम आया है।

सर्वशास्त्रार्थदक्षोऽयमिति मत्वा पुरादतः। जैत्रपालेन यो नीतः कृतश्च विबुधाग्रणीः ।।२२।।

तस्मात् सुतः सिंघणचक्रवर्तिदैवज्ञवर्योऽजनि चंगदेवः।
श्रीभास्कराचार्यनिबद्धशास्त्रविस्तारहेतोः कुरुते मठं यः ।।२३।।
भास्कररचितग्रन्थाः सिद्धान्तशिरोमणिप्रमुखाः।
तद्वंश्यकृताश्चान्ये व्याख्येया मन्मठे नियमात् ।।२४।।

त्रिविक्रम
|
भास्करभट्ट
|
गोविन्द
|
प्रभाकर
|
मनोरथ
|
महेश्वर
|
भास्कर
|
लक्ष्मीधर
|
चंगदेव

इन श्लोकों द्वारा भास्कराचार्य की यह पार्श्वस्थित वंशावली निष्पन्न होती है। इसमें लिखे हुए भास्कराचार्य के गोत्र और पिता के नाम भास्करोक्त नामों से मिलते हैं। शिलालेख में भास्कराचार्य के षष्ठ पूर्वपुरुष भास्करभट्ट भोजराज के विद्यापति बतलाये गये हैं। सिद्धान्तशिरोमणिकार भास्कराचार्य का जन्म शक १०३६ में हुआ था। प्रत्येक पीढ़ी में २० वर्ष का अन्तर मानने से भास्करभट्ट का जन्मकाल शक ९३६ आता है। अतः उनका शके ९६४ में बने हुए राजमृगांक के कर्त्ता भोज का विद्यापति होना असम्भव नहीं है। शिलालेख में लिखा है कि राजा जैत्रपाल ने सिद्धान्तशिरोमणिकार भास्कराचार्य के पुत्र लक्ष्मीधर को लाकर अपनी सभा में रखा था और उनका पुत्र चंगदेव सिंघण चक्रवर्ती का ज्योतिषी था। यादववंशीय जैत्रपाल राजा का राज्य देवगिरि में शके १११३ से ११३२ तक और उनके पुत्र सिंघण का ११३२ से ११६९ तक था।[1]

खानदेश में चालीसगांव से १० मील उत्तर गिरण के पास वहाल नाम का एक गांव है। वहां सारजा देवी के मन्दिर में एक शिलालेख है। उसमें लिखा है—शाण्डिल्यगोत्रीय मनोरथ के पुत्र महेश्वर हुए। उनके पुत्र श्रीपति हुए। उनके पुत्र गणपति और गणपति के पुत्र अनन्तदेव हुए। ये यादववंशीय सिंह (सिंघण) राजा के दरबार में दैवज्ञाग्रणी थे। इन्होंने शके ११४४ में यह देवी का मन्दिर बनवाया। यह शिलालेख भी उन्हीं का है।[2] यह वंशवर्णन चंगदेव के लेख के वर्णन से मिलता है। मालूम

---

१. प्रोफेसर भण्डारकर का दक्षिण का इतिहास (पृष्ठ ८२ इंग्लिश) देखिए।

२. यह लेख Epigraphia Indica, vol. 111, P. 112 में छपा है। लेख में देवी का नाम द्वारजा है।

होता है, इस कुल में विद्वत्परम्परा वहुत दिनों तक चली थी और यह कुल बड़ा प्रतिष्ठित था। चंगदेव के शिलालेख के प्रथम पुरुष त्रिविक्रम दमयन्तीकथा नामक ग्रन्थ के कर्ता हैं।

स्थान

भास्कराचार्य किस राजा के दरबार में रहते थे, इसके विषय में उन्होंने स्वयं कुछ नहीं लिखा है और न तो उपर्युक्त दोनों शिलालेखों में ही इसका वर्णन है। उन्होंने अपना वसतिस्थान विज्जड़विड़ लिखा है। इस शब्द के अन्तिम दो अक्षरों से अनुमान होता है कि वह स्थान बीड़ होगा, परन्तु बीड़ अहमदनगर से ४० कोस पूर्व मोगलाई में है। वह सह्याद्रि के पास नहीं है और मैंने पता लगाया है, वहां भास्कराचार्य का कोई वंशज भी नहीं है। अकबर ने सन् १५८७ ईसवी (शके १५०६) में भास्कर की 'लीलावती' का परशियन भाषा में अनुसाद कराया था। अनुवादक ने उसमें लिखा है कि भास्कराचार्य की जन्मभूमि दक्षिण में बेदर नामक स्थान है।[1] वेदर सोलापुर से लगभग ५० कोस पूर्व मोगलाई में है और वह भी सह्याद्रि के पास नहीं है। मोगलाई में बेदर से १५ कोस पश्चिम कल्याण नामक प्रसिद्ध शहर है। भास्कराचार्य के समय वहां चालुक्यवंश का राज्य था। इतने पास एक विस्तृत राज्य रहते हुए भास्कराचार्य का उससे किसी प्रगार का सम्बन्ध होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता, अतः बेदर भास्कराचार्य का वसतिस्थान नहीं है।

चंगदेव के शिलालेख के २२वें श्लोक में लिखा है—भास्कराचार्य के पुत्र लक्ष्मीधर को राजा जैत्रपाल ने इस (पाटण) पुर से बुलवाया। पाटण गाँव यादवों की राजधानी देवगिरि (दौलताबाद) के पास ही है और सह्याद्रि की एक शाखा "चाँदवड़ की पहाड़ी" से लगा हुआ है अर्थात् भास्कराचार्य के लेखानुसार वह सह्याचलाश्रित है। वहाल नामक गांव भी—जिसमें भास्कर के वंशज अनन्तदेव का बनवाया हुआ देवी का मन्दिर है—पाटण के पास ही २० मील पर है। इससे निःसंशय सिद्ध होता है कि भास्करा-चार्य का मूल निवासस्थान पाटण अथवा उसके पास ही विजलविड़ सरीखे नाम वाला गांव था। सम्प्रति वह प्रसिद्ध नहीं है।

सिद्धान्तशिरोमणि-विषय

सिद्धान्तशिरोमणि में मुख्य चार खण्ड हैं। इन्हें अध्याय भी कहते हैं। इन अध्यायों में भी अध्याय हैं। प्रथम खण्ड को ग्रन्थकार ने पाटीगणित या लीलावती कहा है। अङ्कगणित और महत्त्वमापन (क्षेत्रफल, घनफल) का यह स्वतन्त्र ग्रन्थ कहा जा सकता

---

१. Pott's Algebra, 1886, Se. II.

है। इसमें सब लगभग २७८ पद्य हैं। बीच में उदाहरणों का स्पष्टीकरण इत्यादि गद्य में भी किया है। इसमें आरम्भ में विविध परिमाणों के कुछ पैमाने और परार्ध पर्यन्त संख्याओं के नाम दिये हैं। इसके बाद पूर्णांकों का योग, अन्तर, गुणा, भाग, वर्ग, वर्गमूल, घन और घनमूल हैं। इन आठ कृत्यों को इसमें परिकर्माष्टिक कहा है। इसके बाद भिन्न (अपूर्णांक) परिकर्माष्टिक, शून्यपरिकर्माष्टिक, इष्टकर्म, त्रैराशिक, पञ्चराशिक, श्रेढ़ी, भिन्न-भिन्न प्रकार के क्षेत्रों और घनों के क्षेत्रफल, घनफल इत्यादि विषय हैं। इसके बाद कुट्टकगणित तथा पाक्षिक विपर्यय और सर्वांशिक विपर्यय सम्बन्धी कुछ बातें और उनके उदाहरण इत्यादि हैं। बीच में एक विशेष महत्त्व का उदाहरण यह है—९ हाथ ऊँचे स्तम्भ पर एक मोर बैठा था। उसने स्तम्भमूल से २७ हाथ दूर एक सर्प देखा जो कि स्तम्भमूल में स्थित बिल की ओर आ रहा था। वह उसे पकड़ने के लिए सर्प की ही गति से चला तो उसने सर्प को बिल से कितनी दूरी पर पकड़ा? इसका उत्तर १२ हाथ लिखा है। समकोणत्रिभुज के कर्ण में अर्थात् सरल रेखा में मोर का गमन १५ हाथ मानने से यह उत्तर आता है, परन्तु मोर का गमनमार्ग वृत्तपरिधि से भिन्न एक वक्ररेखा होती है। ऐसे महत्व का गणितविचार अन्य किसी संस्कृतग्रन्थ में नहीं है। भास्कराचार्य के मस्तिष्क में वह आया था, यह ध्यान देने योग्य बात है। यद्यपि स्पष्ट है कि लीलावती पढ़ने से पेड़ की पत्तियां तक गिनना आ जाता है, इत्यादि वृद्धों की धारणाएँ व्यर्थ हैं, तथापि इससे उनकी लीलावती के प्रति पूज्यबुद्धि व्यक्त होती है। द्वितीय खण्ड बीजगणित में धनर्ण संख्याओं का योग इत्यादि, अव्यक्त का योग इत्यादि, करणी संख्याओं के योगादि, इसके बाद कुट्टक, वर्गप्रकृति, एकवर्ण समीकरण, अनेकवर्णसमीकरण, एकानेकवर्णवर्गादिसमीकरण, इत्यादि विषय हैं। इसमें लगभग २१३ पद्य हैं और बीच में कुछ गद्य हैं। गणिताध्याय और गोलाध्याय नामक दो खण्डों में ज्योतिषशास्त्र है। प्रथम में उपोद्घात में बतलाये हुए अधिकारों के ग्रहगणितसम्बन्धी सब विषय हैं। टीकासहित इसकी ग्रन्थसंया ४३४६ लिखी है। गोलाध्याय में ग्रहगणिताध्याय के सब विषयों की उपपत्ति, त्रैलोक्यसंस्थानवर्णन, यन्त्राध्याय इत्यादि विषय है। इसकी ग्रन्थसंख्या २१०० लिखी है। अन्त में ज्योत्पत्ति नामक एक छोटा सा पर बड़े महत्त्व का प्रकरण है। बीच में ऋतुवर्णन नाम का एक छोटा सा प्रकरण भास्कराचार्य ने अपनी कविता दिखलाने के लिए लिखा है।

कर्तृत्व

मध्यमाधिकार के ग्रहभगणादि सब मान और स्पष्टाधिकार के परिध्यंश इत्यादि सब मान भास्कराचार्य ने ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त से लिये हैं। मध्यमग्रह सम्बन्धी बीजसंस्कार अक्षरशः राजमृगाङ्क से लिया है। अयनगति भी प्राचीन ग्रन्थों की ही है। सारांश

यह कि इनके सिद्धान्त में वेधसाध्य कोई भी नवीन विषय नहीं है, परन्तु केवल विचार-साध्य से वह भरा है। ऐसा ज्ञान है ज्योतिषसिद्धान्तों की उपपत्ति। अहर्गण द्वारा ग्रहसाधन ऐसे सामान्य विषय से लेकर लम्बन, ज्योत्पत्ति इत्यादि गहन विषयों तक की भिन्न-भिन्न सुलभ रीतियों और उनकी उपपत्ति इत्यादिकों से युक्त होने के कारण सिद्धान्तशिरोमणि इतना उत्कृष्ट ग्रन्थ बन गया है कि केवल उसी का अध्ययन कर लेने से भारतवर्षीय ज्योतिषशास्त्र का सर्वस्व यथार्थ रूप में ज्ञात हो जाता है और मालूम होता है इसी कारण भास्कराचार्य की इतनी कीर्ति हुई है। इनके सिद्धान्त के कारण अनेक उत्तम और निकृष्ट ग्रन्थ लुप्त हो गये होंगे। इनका गुरुस्थानीय ब्राह्म-सिद्धान्त ही इनके सिद्धान्त के कारण पीछे पड़ गया तो अन्य कितने ग्रन्थों का लोप हुआ होगा, इसका अनुमान सहज किया जा सकता है। प्रथम आर्यभट से भास्कर पर्यन्त सीमा का काल भारतीय ज्योतिषशास्त्र के पूर्ण विकास का काल है। इसी काल में बगदाद के खलीफ़ा भारत से ज्योतिषी ले गये, हिन्दू ग्रन्थों का अरबी और लैटिन भाषाओं में अनुवाद हुआ, अरब और ग्रीक लोग ज्योतिषशास्त्र में हिन्दुओं के शिष्य हुए और अयनगति का पूर्ण विचार हुआ। अतः ज्योतिषशास्त्र के इस उन्नतिकाल में अनेक ग्रन्थकार हुए होंगे परन्तु इनमें से कुछ केवल नामशेष रह गये हैं और कुछ का इतना भी भाग्य नहीं है।[1] कालमाहात्म्य के साथ-साथ भास्कराचार्य का ग्रन्थ भी मेरी समझ से इसका एक बड़ा कारण है। इनके बाद दूसरा कोई ऐसा ग्रन्थकार नहीं हुआ। भास्कराचार्य के ग्रन्थों का प्रचार भारत के कोने-कोने तक है, इतना ही नहीं, विदेशी भाषाओं में भी इसके अनुवाद हो चुके हैं, परन्तु इतने बड़े कल्पक ने आधुनिक यूरोपियन अन्वेषणों सरीखा कोई महत्वशाली अन्वेषण नहीं किया, न तो किसी आविष्कार की नींव ही डाली, यह हमारे देश का दुर्भाग्य है। भास्कर ने वेध सम्बन्धी प्रयत्न कुछ भी नहीं किया। इन्होंने अपनीं सम्पूर्ण बुद्धि उपपत्तिविवेचन में ही लगा दी जो कि केवल एक टीकाकार का कार्य है। मुझे स्वकीय अत्यल्प अनुभव से भी ज्ञात होता है कि ये

---

१. करणचूड़ामणि, लोकानन्दकृत लोकानन्दकरण और भहिलकृत भहिलकरण का नाम लिखने के बाद बेरुनी ने (भाग १ पृष्ठ १५७) लिखा है कि ऐसे ग्रन्थ असंख्य हैं। इससे मेरे उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। देश और कालभेद के कारण अनेक करण-ग्रन्थों का बनना स्वाभाविक है। सम्प्रति वे उपलब्ध नहीं हैं। यद्यपि उपलब्ध होने पर भी आज उनकी आवश्यकता नहीं है तथापि ज्योतिषशास्त्र और सामान्यतः अपने देश का इतिहास जानने के लिए वे बड़े उपयोगी हैं।

यदि इस कार्य को छोड़कर वेधानुसन्धान करते तो इनका झुकाव नवीन आविष्कार की ओर अवश्य हुआ होता।

नवीन विशेषताओं का सर्वथा अभाव होते हुए भी उपपत्ति में सम्पूर्ण बुद्धि लगा देने के कारण इनके ग्रन्थ में वेधसाध्य तो नहीं, पर केवल विचारसाध्य कुछ नवीन बातें आयी हैं। गोल तो मालूम होता है इन्हें करतलामलकवत् था। त्रिप्रश्नाधिकार में इन्होंने बहुत सी नवीन रीतियां लिखी हैं और उसमें अनेक विषयों में अपना विशेष कौशल दिखाया है। शंकु सम्बन्धी इष्टदिक्छायासाधन किया है जो कि पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों में नहीं है। पूर्वाचार्यों के पातसाधन को भ्रमपूर्ण कह कर उसकी नवीन रीति लिखी है। इनके पहिले के आचार्य ग्रहों का शर क्रान्तिसूत्र में अर्थात् ध्रुवाभिमुख मानते थे, परन्तु इन्होंने स्पष्ट दिखा दिया है कि शर क्रान्तिवृत्त पर लम्ब होता है। उदयान्तर इनकी एक नवीन शोध है। उसका स्वरूप यह है—अहर्गण द्वारा यह लाने में सब दिन समान मानने पड़ते हैं, पर वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। विषुववृत्त में भी अहोरात्र ६० घटी से कुछ न्यूनाधिक होता है। इससे मध्यम और स्पष्ट सूर्योदय में अन्तर पड़ता है। अहर्गणागत ग्रह मध्यम सूर्योदय के होते हैं। उन्हें स्पष्टोदयकालीन करने के लिए पूर्वग्रन्थकारों ने भुजान्तर और चर-संस्कार लिखे हैं। भास्कर ने उदयान्तर एक अधिक संस्कार लिखा। सूर्य की गति क्रान्तिवृत्त में सदा समान नहीं रहती। इष्टकालीन मध्यम और स्पष्ट रवि के अन्तर अर्थात् फलसंस्कार के अनुसार स्पष्टोदय आगे-पीछे होता है। इस सम्बन्धी संस्कार को भुजान्तर कहते हैं। पृथ्वी अपनी धुरी पर विषुववृत्त में घूमती है, क्रान्तिवृत्त में नहीं। इसलिए क्षितिज में क्रान्तिवृत्तीय ३० अंश का उदय होने में जितना समय लगता है, नाड़ीवृत्त के ३० अंश का उदय होने में सदा उतना ही नहीं लगता। इस विषय संस्कार को भास्कर ने उदयान्तर कहा है। यह संस्कार अपेक्षित है, इसमें सन्देह नहीं। यूरोपियन ज्योतिष में 'इक्वेशन आफ टाइम' नाम का एक संस्कार है। उसमें भुजान्तर और उदयान्तर दोनों का अन्तर्भाव हो जाता है। सारांश यह कि उदयान्तर भास्कर का एक आविष्कार है। सूर्यसिद्धान्त के स्पष्टाधिकार के ५९वें श्लोक की टीका में रङ्गनाथ ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सूर्यसिद्धान्तकार को यह संस्कार अभीष्ट था, पर उन्होंने स्वल्पान्तरत्वात् इसका त्याग किया। सिद्धान्ततत्त्वविवेककार ने भास्कर के उदयान्तर का खण्डन करने का व्यर्थ और दुराग्रहपूर्ण यत्न किया है। उदयान्तर के अतिरिक्त सिद्धान्त-शिरोमणि में कुछ और भी फुटकर बातें नवीन हैं। दो-तीन स्थानों पर इसमें ब्रह्मगुप्त की त्रुटियां दिखायी हैं।

करणकुतुहल

यह करणग्रन्थ है। इसमें आरम्भकाल शक ११०५ है। क्षेपक शक ११०४ फाल्गुन कृष्ण ३० गुरुवार के सूर्योदय के हैं। मध्यमग्रहसाधन अहर्गण द्वारा किया है। भास्कराचार्य ने इस ग्रन्थ को ब्रह्मतुल्य कहा है, पर यह राजमृगाङ्कोक्त-वीजसंस्कृत ब्रह्मतुल्य है। इसका नाम 'ग्रहागमकुतूहल' भी है। पहिले इसकी बड़ी प्रसिद्धी थी। कुछ लोग आजकल भी इससे गणित करते हैं। ग्रहलाघवोक्त ब्रह्मपक्षीय ग्रह इसी के हैं। इससे गणित करने का जगच्चन्द्रिकासारणी नामक एक विस्तृत सारणीग्रन्थ है। इसमें मध्यम, स्पष्ट, त्रिप्रश्न, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, उदयास्त, शृंङ्गोन्नति, ग्रहयुति, पात और पूर्वसम्भव ये १० अधिकार और उनमें क्रमशः १७, २३, १७, २४, १०, १५, ५, ७, १६, ५ अर्थात् सब १३९ पद्य हैं।

टीकाएं

भास्कराचार्य के ग्रन्थ की जितनी टीकाएं अन्य किसी ज्योतिषग्रन्थ की नहीं होंगी। कुछ टीकाएं सिद्धान्तशिरोमणि के चारों भागों पर है, कुछ केवल लीलावती पर, कुछ केवल बीजगणित पर और कुछ केवल ग्रहगणिताध्याय-गोलाध्याय पर है लीलावती की टीकाएं ये हैं—

जम्बूनिवासी गोवर्धनपुत्र गङ्गाधर की गणितामृतसागरी नाम की टीका है। यह प्रायः शक १३४२ की होगी। आफ्रेचसूची में लिखा है कि इसका नाम अङ्कामृतसागरी भी है और गङ्गाधर का एक और नामलक्ष्मीधर था। ग्रहलाघवकार गणेश दैवज्ञ की शक १४६७ की बुद्धिविलासिनी नाम की टीका है। धनेश्वर दैवज्ञकी लीलावतीभूषण नाम्नी टीका है। शक १५०६ की एक महीदास की टीका है। मुनीश्वर की शक १५५७ के आसपास की लीलावतीविवृति नाम की टीका है। महीधर की लीलावती-विवरण नाम की टीका है। उसमें मुनीश्वर का उल्लेख है, अतः वह शक १५५७ के बाद ही होगी। आफ्रेचसूची में इनके अतिरिक्त ये अन्य टीकाएँ भी लिखी हैं— नृसिंहपुत्र रामकृष्ण की सन् १३३९ की गणितामृतलहरी, नृसिंहपुत्र नारायण की सन् १३५७ की पाटीगणितकौमुदी, सदादेव के पुत्र रामकृष्णदेव की मनोरंजना, रामचन्द्रकृत लीलावतीभूषण, विश्वरूपकृत, निसृष्टदूती, सूर्यदासकृत गणितामृत-कूपिका, चन्द्रशेखर पट्टनायककृत उदाहरण, विश्वेश्वरकृत उदाहरण, दामोदर, देवीसहाय, परशुराम, रामदत्त, लक्ष्मीनाथ, वृन्दावन और श्रीधरमैथिलकृत टीका। निसृष्टदूती टीका मुनीश्वर की होगी क्योंकि उनका नाम विश्वरूप भी था।

वीजगणित की टीकाएँ—जहांगीर बादशाह के आश्रित सुप्रसिद्ध ज्योतिषी कृष्ण

की शक १५२४ के आसपास की वीज-नवांकुर नामक टीका है। उसे बीजपल्लव और कल्पलतावतार भी कहते हैं। यह बड़ी विस्तृत है। अमरावतीस्थ नृसिंहदैवज्ञात्मजलक्ष्मणसुत रामकृष्ण की बीजप्रबोध नाम्नी टीका है। रामकृष्ण ने अपने को मुनीश्वरशिष्य कहा है। अतः यह लगभग शक १५७० की होगी। आफ्रेचसूची में परमसुख की बीजविवृतिकल्पलता और कृपारामकृत उदाहरण—ये दो और टीकाएं लिखी हैं। ग्रहगणिताध्याय और गोलाध्याय पर ग्रहलाघवकार गणेश दैवज्ञ की टीका है और उनके प्रपौत्र गणेश की शक १५०० के आसपास की शिरोमणिप्रकाश नाम की टीका है। गोलग्रामस्थ नृसिंह की शक १५४३ की वासनाकल्पलता अथवा वासनावार्तिक नाम की टीका है। मुनीश्वर अथवा विश्वरूप की शक १५५७ की मरीचि नाम्नी टीका बड़ी ही उत्कृष्ट तथा विस्तृत है। भैरवात्मज रघुनाथानुज गोपीनाथ की शक १४५० के बाद की सिद्धान्तसूर्योदय नाम की टीका है।

सम्पूर्ण सिद्धान्तशिरोमणि की टीकाएँ—ज्ञानराज के पुत्र सूर्यदास की सूर्यप्रकाश नाम्नी टीका चारों खण्डों पर है। उसमें लीलावती और बीजगणित की टीकाएं शक १४६३ की हैं। प्रथम आर्यभट के टीकाकार परमादीश्वर ने सुनते हैं भास्कर के ग्रन्थों पर सिद्धान्तदीपिका नाम की टीका की थी। अनुमानतः वह चारों अध्यायों पर थी। गोलग्रामस्थ नृसिंहपुत्र रङ्गनाथ की मितभाषिणी नाम्नी टीका शक १५८० के थोड़े ही दिनों बाद बनी है। आफ्रेचसूची में सिद्धान्तशिरोमणि की अन्य टीकाओं के ये नाम हैं—सन् १५०१ की वाचस्पतिपुत्र लक्ष्मीदास की गणिततत्वचिन्तामणि नाम्नी टीका, विश्वनाथ का उदाहरण, राजगिरिप्रवासी, चक्रचूड़ामणि, जयलक्ष्मण या जयलक्ष्मी, महेश्वर, मोहनदास, लक्ष्मीनाथ, वाचस्पतिमित्र (?) और हरिहर की टीकाएँ हैं। सम्भवतः इनमें अधिक टीकाएँ केवल ग्रहगणिताध्याय और गोलाध्याय पर होंगी।

करणकुतूहल पर सोढ़ल, नार्मदात्मज पद्मनाभ और शंकर कवि की टीकाएँ हैं। शंकर कवि की टीका में उदाहरणार्थ शक १५४१ लिया गया है। शक १४८२ की एक उदाहरणात्मक टीका है। इसका कर्ता उन्नतदुर्ग का निवासी था। उस स्थान की पलभा ४।४८ और देशान्तर ६० योजन पश्चिम है। आफ्रेचसूची में ये अन्य टीकाएँ हैं—केशवार्ककृत ब्रह्मतुल्यगणितसार, हर्षगणितकृत गणककुमुद-कौमुदी, विश्वनाथीय उदाहरण और एकनाथकृत टीका।

भास्कर के ग्रन्थों की अन्य भी बहुत सी टीकाएँ होंगी।[1] शक १५०९ में लीलावती

---

[1] उपर्युक्त कुछ टीकाओं का पता मुझे अन्य ग्रन्थों द्वारा लगा है। मैंने यह सब टीकायें नहीं देखी हैं।

का और शक १५९७ में बीजगणित का पर्शियन भाषा में अनुवाद हुआ है। कोलब्रूक ने सन् १८१७ में लीलावती और बीजगणित का इंग्लिश में अनुवाद करके छपाया है। सन् १८६१ में बापूदेव शास्त्री ने बिब्लिओथिका इण्डिका में गोलाध्याय का स्वकीय इंगलिश अनुवाद छपाया है। उसमें बहुत-सी टिप्पणियाँ भी हैं। सिद्धान्तशिरोमणि के चारों खण्ड और करणकुतूहलग्रन्थ सम्प्रति हमारे देश में अनेक स्थानों में छप चुके हैं।

रत्नमाला के टीकाकार माधव (शक ११८५) और अन्य ग्रन्थकारों ने भास्कर-व्यवहार नामक एक मुहुर्त ग्रन्थ का उल्लेख किया है। वह इन्हीं का होगा। रामकृत विवाहपटलटीका (शक १४४६) में भास्कर का विवाह विषयक एक श्लोक आया है। भास्करकृत विवाहपटल का उल्लेख मुझे शार्ङ्गीय विवाहपटल और अन्य भी दो एक ग्रन्थों में मिला है। डेक्कन कालेज संग्रह में भास्करविवाहपटल नाम का एक छोटा-सा ग्रन्थ है। उसमें ग्रन्थकार का केवल नाम मात्र है, फिर भी अनुमानतः भास्कराचार्य का विवाहपटल नाम का ग्रन्थ रहा होगा।

अनन्तदेव

ये भास्कराचार्य के वंशज थे। इनके बहाल नामक गांव के उपर्युक्त शक ११४४ के शिलालेख में लिखा है कि इन्होंने ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त के छन्दश्चित्युत्तर नामक २०वें अध्याय की और बृहज्जातक की टीकाएँ की थीं।

आदित्यप्रतापसिद्धान्त

श्रीपतिकृत रत्नमाला की महादेवकृत टीका में इस सिद्धान्त के कुछ वाक्य दिये हैं। महादेव की टीका शके ११८५ की है, अतः यह ग्रन्थ इसके पहिले का होगा। आफ्रेचसूची में इसके कर्ता भोजराज बतलाये हैं। यदि यह सत्य है तो इसका रचनाकाल शक ९६४ के आसपास होगा।

वाविलालकोच्चन्ना

तैलङ्ग प्रान्त में वाविलालकोच्चन्ना नामक ज्योतिषी का बनाया हुआ शके १२२० का एक करणग्रन्थ है। उसमें क्षेपक शके १२१९ फाल्गुन कृष्ण ३० गुरुवार के दोपहर के हैं। वर्तमान सूर्यसिद्धान्त द्वारा मैंने इस समय के ग्रह निकाले, वे इसके क्षेपकों से पूर्णतया मिलते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रन्थ वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के आधार पर बना है। मकरन्दादि ग्रन्थों में कथित सूर्यसिद्धान्त का दिया हुआ बीजसंस्कार इसमें नहीं है। वारन नामक एक यूरोपियन ने, जो कि मद्रास की ओर रहते थे, सन् १८२५ में अंगरेज़ी में कालसंकलित नाम का एक ग्रन्थ लिखा है। उसमें इस करण-सम्बन्धी कुछ बातें आयी हैं। उनसे ज्ञात होता है कि तैलङ्ग प्रान्त में यह ग्रन्थ अभी भी

प्रचलित है और इससे पञ्चाङ्ग बनते हैं। उस पञ्चाङ्गको सिद्धान्तचान्द्रपञ्चाङ्ग कहते हैं।

केशव

इन्होंने विवाहवृन्दावन नामक ग्रन्थ बनाया है। ग्रहलाघवकार गणेश दैवज्ञ ने इसकी टीका की है। उनका कथन है कि करणकण्ठीरव नामक ग्रन्थ इन्हीं केशव का है। इसके नाम से स्पष्ट है कि यह करणग्रन्थ है; यह मुझे कहीं नहीं मिला। ये केशव भारद्वाजगोत्रीय औदीच्य ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम राणग, पितामह का नाम श्रियादित्य और प्रपितामह का जनार्दन था। विवाहवृन्दावन प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह छप चुका है। इसमें लग्नशुद्धि प्रकरण में नार्मदीय पलभा ४।४८ लिखी है। इस पलभा द्वारा अक्षांश २१।४८ आते हैं। नर्मदातटवर्ती भड़ोच शहर का अक्षांश २१।४१ है अतः इसका स्थान इसी के आसपास नर्मदा के किनारे रहा होगा। आफ्रेचसूची में विवाहवृन्दावन की कल्याणवर्मकृत एक और टीका लिखी है। ग्रहलाघवकार गणेश दैवज्ञ के पिता केशव से ये प्राचीन होने चाहिए। पीताम्बरकृत विवाहपटल की शक १४४६ की निर्णयामृत नाम की टीका में विवाहवृन्दावन का उल्लेख है। अतः ये शक १४०० से अर्वाचीन नहीं होंगे। विवाहवृन्दावन में "त्रिभागशेषे ध्रुवनाम्नि" इत्यादि श्लोक में लिखा है—ध्रुवयोग का तृतीय भाग रह जाने पर व्यतीपात महापात होता है। यह स्थिति उस समय थी, जब कि अयनांश १२$\frac{1}{3}$ थे। गणेश दैवज्ञ ने इसकी टीका में लिखा है—ग्रन्थनिर्माणकाल में अयनांश १२ थे, इसीलिए ऐसा लिखा है। इससे सिद्ध होता है कि इनका समय १२ अयनांश काल अर्थात् शक ११६५ के आसपास है।

महादेवकृत ग्रहसिद्धि

यह करणग्रन्थ है। इसे महादेवी सारणी भी कहते हैं। इसमें आरम्भवर्ष शक १२३८ है, अतः इसका रचनाकाल इसी के लगभग होगा। इसके आरम्भ में ही ग्रन्थकार ने लिखा है—

चक्रेश्वरारब्धनभश्चराशुसिद्धिं महादेव ऋषींश्च नत्वा ।।१।।

इससे अनुमान होता है कि चक्रेश्वर नामक ज्योतिषी के आरम्भ किये हुए इस अपूर्ण ग्रन्थ को महादेव ने पूर्ण किया है। इस पर धनराजकृत टीका है। आरम्भ के ४ श्लोकों में महादेव ने अपना कुलवृत्तान्त लिखा था, परन्तु उनके अत्यन्त अशुद्ध होने के कारण टीकाकार ने उनकी टीका नहीं की। इस टीका की एक प्रति डेक्कन कालेज संग्रह

में है। आनन्दाश्रम में इस ग्रन्थ की एक टीका विरहित प्रति (नं० २०८६) है। उसमें ये श्लोक हैं। वे भी अशुद्ध ही हैं, तो भी उनसे ज्ञात होता है कि महादेव गौतमगोत्रीय ब्राह्मण थे और उनके पिता का नाम पद्मनाभ पथा पितामह का नाम माधव था। गणकतरङ्गिणीकारलिखित इस ग्रन्थ के कुलवृतान्त सम्बन्धी श्लोक शुद्ध हैं। उनसे ज्ञात होता है कि इनके पिता इत्यादि के नाम क्रमशः परशुराम, पद्मनाभ, माधव और जोजदेव थे और ये गोदावरी के निकट रासिण नामक स्थान में रहते थे। वहां की पलभा ४$\frac{1}{2}$ थी। अहमदनगर के दक्षिण रासिन नाम का एक गांव है, पर उसकी पलभा ४ के लगभग है और वह गोदा के पास नहीं बल्कि महाराष्ट्र में भीमा के पास है। वंश-वृत्तान्त में आरम्भ में ही लिखा है—

कुल और स्थान

ईश्वरकौवेरजजौदाससमस्तज्जजोग्रजन्मासीत्।
श्रीजोजदेवनामा गौतमगोत्रः स दैवज्ञः॥

इससे ये गुजराती ज्ञात होते हैं। संस्कृत और गुजराती भाषा में लिखा हुआ जातकसार नामक एक प्राचीन ग्रन्थ मुझे मिला। उसमें महादेवी सारणी द्वारा ग्रह-साधन करने का आदेश किया है। महादेवी सारणी की डेक्कनकालेजसंग्रहवाली प्रति अहमदाबाद में मिली है। उसका टीकाकार भी गुजर देश के पास का ही है और स्वयं महादेव ने भी चरसाधनार्थ पलभा ४$\frac{1}{2}$ ली है, अतः इनका मूलस्थान गुजरात में सूरत के पास रहा होगा और ये स्वयं अथवा इनके कोई पूर्वज बाद में रासिन में आकर बसे होंगे। इनका ग्रन्थ गुजरात में बहुत दिनों तक प्रचलित रहा होगा।

विषय

इस ग्रन्थ में लगभग ४३ पद्य हैं। उनमें केवल मध्यम और स्पष्ट ग्रहों का साधन है। क्षेपक मध्यम-मेषसंक्रान्तिकालीन है और वर्षगण द्वारा मध्यमग्रहसाधन करने के लिए सारणियां बनायी हैं। इससे ग्रहसाधन में बड़ी सुविधा होती है। ग्रहगति-स्थिति राजमृगाङ्कोक्तबीजसंस्कृत-ब्रह्मसिद्धान्ततुल्य है। टीकाकार ने अन्त में अपना वंश-वृत्तान्त लिखा है। उसका कुछ भाग यह है—

टीका

वर्षे नेत्रनवांगभू १६९२ परिमिते ज्येष्ठस्य पक्षे सिते-
ऽष्टम्यां सद्गुण पृथक्यमन्नरयु (?) पद्मावतीपत्तने।
राजा ह्युत्करवैरिनागदमनो राठोडवंशोद्भवः

श्रीमान् श्रीगजसिंहभूपतिवरोऽस्ति श्रीमरोर्मण्डले ।।
जैने शासन एवमञ्चलगणे. . . ।।

इससे ज्ञात होता है कि टीकाकार जैन थे। इन्होंने अपना नाम धनराज लिखा है। टीका में सिरोही (उज्जयिनी से ३० योजन पश्चिम) का देशान्तरसाधन किया है, अतः इनका निवासस्थान वहीं रहा होगा। टीका का नाम महादेवीदीपिका है। उसकी टीकासंख्या १५०० लिखी है। उपर्युक्ट श्लोक का १६९२ विक्रमसंवत् है अर्थात् टीका-काल शक १५५७ है।

महादेवकृत कामधेनुकरण, शक १२८६

गोदातीरस्थ त्र्यम्बक की राजसभा के मान्य कौंडिन्य गोत्रीय वोपदेव के पुत्र महादेव ने ब्राह्म और आर्यपक्षों के अनुसार कामधेनु ग्रन्थ बनाया है। इसमें ३५ श्लोक और सारणियां हैं। वर्षगति और क्षेपक दिये हैं। इसमें लिखा है कि २२ कोष्ठकों के पट में तिथिसिद्धि होती है।

नार्मद

सूर्यसिद्धान्त-विचार में लिख चुके हैं कि नार्मद ने वर्तमान सूर्यसिद्धान्त की टीका की होगी अथवा उसके आधार पर कोई ग्रन्थ बनाया होगा। इनका काल शक १३०० के आसपास होगा। इसका विवेचन नीचे दामोदरीय भटतुल्यविवेचन में किया है। इनकी टीका या ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध नहीं है।

पद्मनाभ

ये उपर्युक्त नार्मद के पुत्र हैं। इनका काल लगभग शक १३२० है। इसका विवेचन नीचे किया है। इनका यन्त्ररत्नावली नाम का एक ग्रन्थ है। उसका द्वितीय अध्याय ध्रुवभ्रमयन्त्र मेरे पास है। उस पर ग्रन्थकार की ही टीका है। इस ग्रन्थ का विवेचन आगे यन्त्रप्रकरण में करेंगे।

दामोदर

इनका भटतुल्य नामक एक ग्रन्थ है। उसमें आरम्भवर्ष शक १३३९ है। ग्रन्थकार ने लिखा है—

दामोदरः श्रीगुरुपाद्मनाभपादारविन्दं शिरसा प्रणम्य।
प्रत्यब्दशुद्धयार्यभटस्य तुल्यं विदां मुदेऽहं करणं करोमि ।।२।।
मध्यमाधिकार

श्रीनर्मदादेवसुतस्य मत्पितुः श्रीपद्मनाभस्य समस्य भावतः।
यस्मात् सुसम्पन्नमनुग्रहाद् गुरोर्भूयादिहैतत्पठनात् प्रदं श्रियः ॥१६॥

सच्छिष्यैरसकृत् कृतप्रणतिभिः सम्प्रार्थितो बीजविद्
वक्त्राम्भोजरविश्चकार करणं दामोदरः सत्कृती ॥१९॥

उपसंहार

इससे ज्ञात होता है कि दामोदर के पिता का नाम पद्मनाभ था और वे ही इनके गुरू भी थे और इनके पितामह का नाम नर्मदादेव था। उपर्युक्त ध्रुवभ्रमयन्त्र नामक ग्रन्थ के आरम्भ में ग्रन्थकार ने लिखा है--

श्रीनर्मदानुग्रहलब्धजन्मनः पादारविन्दं जनकस्य सद्गुरोः।
नत्वा त्रियामासमयादिबोधकं ध्रुवभ्रमं यन्त्रवरं ब्रवीम्यथ ॥१॥

और अन्त में लिखा है--

इति श्रीनार्मदात्मजश्रीपद्मनाभविरचितयन्त्ररत्नावल्यां
स्वविवृतौ ध्रुवभ्रमणाधिकारो द्वितीयः ॥

इससे निःसंशय प्रतीत होता है कि पद्मनाभ के पिता नार्मद थे और ये पद्मनाभ दामोदर के पिता थे। दामोदर का ग्रन्थ शक १३३९ का है। अतः पद्मनाभ के ग्रन्थ का काल शक १३२० के लगभग होगा। शके १४६० के जातकाभरण नामक ग्रन्थ में ध्रुवभ्रमयन्त्र का उल्लेख है, इससे भी इस अनुमान की पुष्टि होती है। यद्यपि उपर्युक्त श्लोक से यह निःसंशय सिद्ध नहीं होता कि रङ्गनाथ ने जिस नार्मद का श्लोक लिखा है वे ही पद्मनाभ के पिता हैं, पर नामसादृश्य अवश्य है। पद्मनाभ के लेख से ज्ञात होता है कि उनके पिता नार्मद विद्वान् थे और वे ही उनके गुरू भी थे, अतः उनका ग्रन्थकार होना असम्भव नहीं है। रङ्गनाथकथित नार्मद रङ्गनाथ (शक १५२५) से प्राचीन होने चाहिए। इससे भी उपर्युक्त कथन में कोई विरोध नहीं आता और सब से अधिक महत्व की बात यह है कि दामोदर ने अपने भटतुल्य ग्रन्थ में वार्षिक अयनगति ५४ विकला मानी है। यह गति सूर्यसिद्धान्त की है। अब तक वर्णित किसी भी पौरुष ग्रन्थकार ने इतनी अयनगति नहीं मानी है और दामोदर ने मानी है, अतः इनके पितामह नार्मद ही रङ्गनाथकथित सूर्यसिद्धान्त के टीकाकार होंगे--इसमें सन्देह नहीं है। इनकी टीका का काल शक १३०० होगा।

भटतुल्य ग्रन्थ में क्षेपक शके १३३९ के मध्यमेषसंक्रान्तिकाल के हैं। ये प्रथम आर्यसिद्धान्त में लल्लोक्त बीजसंस्कार देकर लाये गये हैं। मन्दोच्च और पात प्रथम आर्यसिद्धान्त के अनुसार हैं। इसमें वार्षिक अयनगति ५४ विकला और शून्यायनांश वर्ष शक ३४२ है। इसका अधिक विवेचन आगे करेंगे। इसमें मध्यम, स्फुटीकरण पञ्चतारास्फुटीकरण, त्रिप्रश्न, चन्द्रग्रहण, उदयास्त और ग्रहयुति ये ८ अधिकार तथा भिन्न-भिन्न वृत्तों के २२२ पद्य हैं। ग्रन्थकार ने अन्त में अनुष्टुपछन्दानुसार इसकी ग्रन्थसंख्या ४०० लिखी है। इसका त्रिप्रश्नाध्याय बड़ा विस्तृत है इसमें ८७ पद्य हैं, उनमें कुछ प्रश्न भी हैं। प्रश्नों में ५ पलभा कई बार आयी है। प्रथम आर्यसिद्धान्त में नक्षत्रभोग नहीं दिये हैं। आर्यपक्षीय ग्रन्थ करणप्रकाश में भी नही हैं, पर दामोदर के ग्रन्थ में हैं और वे अन्य सब ग्रन्थों से कुछ-कुछ भिन्न हैं, अतः इसका अनुसंधान इन्होंने स्वयं किया होगा। नक्षत्रयुत्यधिकार में इसका कुछ अधिक विवेचन करेंगे।

गङ्गाधर, शक १३५६

इन्होंने कलिवर्ष ४५३५ (शक १३५६) में वर्तमान सूर्यसिद्धान्तानुसारी 'चान्द्रमान' नामक तन्त्र बनाया है। काशी के राजकीय पुस्तकसंग्रह में यह ग्रन्थ है। ज्ञात होता है, इसमें केवल मध्यम और स्पष्ट ग्रहों का साधन है। इसमें लगभग २०० श्लोक हैं, मध्यमग्रह चान्द्रमासगण द्वारा बनाये हैं और मालूम होता है, सौरमान का भी वर्णन है। मध्यरेखास्थित श्रीशैल के पश्चिम, कृष्णा-वेणी और भीमरथी के बीच सगर नामक नगर इनका निवासस्थान था। ये जामदग्न्यगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता इत्यादिकों के नाम चन्द्रभट, भट्टार्य और विट्ठल थे। सौरमताभिमानी, विद्यापुरस्थ नृपति के प्रिय श्रीचन्दल नाम के ज्योतिषी इसी वंश में हुए थे। उनके पुत्र विश्वनाथ के गङ्गाधरकृत चान्द्रमान तन्त्र को अत्यन्त कठिन समझ कर उसको सुबोध पद्यों में बनाया। इनका समय ज्ञात नहीं है।

मकरन्द

मकरन्द सरल रीति से पञ्चाङ्ग बनाने योग्य एक सारणीग्रन्थ है। इसे काशी में मकरन्द नामक ज्योतिषी ने सूर्यसिद्धान्तानुसार बनाया है। इसके आरम्भ में लिखा है—

श्रीसूर्यसिद्धान्तमतेन सम्यग्विश्वोपकाराय गुरुप्रसादात्।
तिथ्यादिपत्रं वितनोति काश्यामानन्दकन्दो मकरन्दनामा ॥१॥

इस ग्रन्थ द्वारा लाये हुए तिथ्यादिकों के घटी-पल मुख्यतः काशी के आते हैं। उपपत्ति से ज्ञात होता है कि इसमें बतलाया हुआ सूर्यसिद्धान्त वर्तमान सूर्यसिद्धान्त है।

काशी की छपी हुई पुस्तक में ग्रन्थारम्भकाल शक १४०० लिखा है। मुझे इसका अन्तः या वाह्य कोई प्रमाण नहीं मिला पर इसे असत्य कहने का भी कोई कारण दिखाई नहीं देता। दिवाकर ने शक १५४० के आसपास इस पर मकरन्दविवरण नाम की टीका की है। इस ग्रन्थ द्वारा तिथ्यादिकों की घटी-पल और सब ग्रह वहुत थोड़े परिश्रम से आते हैं। ग्रन्थविस्तार होने के भय से यहां इसकी पद्धति नहीं लिखी है। सम्प्रति उत्तर भारत में काशी, ग्वालियर इत्यादि अनेक स्थानों में इससे पञ्चाङ्ग बनते हैं और वे उन प्रदेशों में चलते भी हैं। यह ग्रन्थ काशी में छपा है। गोकुलनाथ दैवज्ञ ने शक १६८८ में इसकी सारणियों की उपपत्ति लिखी है, वह भी छपी है। मकरन्द ने सूर्यसिद्धान्त में बीजसंस्कार दिया है, यह पहिले लिख ही चुके हैं।

केशव (द्वितीय)

सुप्रसिद्ध ज्योतिषी, ग्रहलाघवकार गणेश दैवज्ञ के ये पिता थे। ये स्वयं भी बहुत बड़े विद्वान् थे। इनके पुत्र गणेश दैवज्ञ ग्रहगणित के इनसे बड़े पण्डित हुए, यह बात 'सर्वत्र विजयं चेच्छेत् शिष्यादिच्छेत् पराजयम्' न्याय से इनके लिए बड़ी भूषणास्पद है। यदि ये स्वयम् विद्वान् न होते तो इनके पुत्र का इतना बड़ा पण्डित होना असम्भव था। इनका ग्रहकौतुक नामक एक करणग्रन्थ है, उसमें आरम्भवर्ष शक १४१८ है। अतः इनका काल इसी के आसपास है। मुहूर्ततत्त्व के अन्त में इन्होंने लिखा है :—

... ...गुरुवैजनाथचरणद्वन्द्वे रतः केशवः।
नन्दिग्रामगतः सुतस्तु कमलज्योतिर्विदग्र्यस्य..।

इसकी टीका में इनके पुत्र गणेश दैवज्ञ ने लिखा है—'नन्दिग्रामगतः अपरान्तदेशे पश्चिमसमुद्रस्य पूर्वतीरस्थितो नन्दिग्रामः प्रसिद्धस्तत्र गतः निवासीत्यर्थः।' इससे ज्ञात होता है कि इनके पिता का नाम कमलाकर था और वे भी वहुत बड़े ज्योतिषी थे, इनके गुरु का नाम वैजनाथ था और इनका निवासस्थान समुद्र के किनारे कोंकण प्रान्त में नन्दिग्राम नामक गांव था। सम्प्रति यह गांव जंजीरा रियासत में है और उसे नांदगांव कहते हैं। यह बम्बई से लगभग २० कोस दक्षिण है। गणेश दैवज्ञ लिखित वंशवृत्तान्त से ज्ञात होता है कि इनका गोत्र कौशिक था और केशव की पत्नी का नाम लक्ष्मी था। वंशवृत्तान्त इनके अन्य ग्रन्थों में भी है। इनके ग्रन्थों का नाम गणेश दैवज्ञ ने मुहूर्ततत्त्व की टीका में इस प्रकार लिखा है—

ग्रन्थ

सोपायं ग्रहकौतुकं खगकृतिं तच्चालनाख्यं तिथेः,
सिद्धिं जातकपद्धतिं सविवृतिं तार्तीयके पद्धतिम् ।
सिद्धान्तेऽप्युपपत्तिपाठनिचयं मौहूर्ततत्त्वाभिधं,
कायस्थादिजधर्मपद्धतिमुखं श्रीकेशवार्योऽकरोत् ।।

ग्रहकौतुकतट्टीकावर्षग्रहसिद्धितिथिसिद्धिग्रहचालनगणितदीपिका-जातकपद्धतितट्टीकाताजिकपद्धतिसिद्धान्तपाठकायस्थाद्याचारपद्धतिकुण्डाष्ट-लक्षणादिग्रन्थजातनिबन्धानन्तरमहं केशवो मुहूर्ततत्त्वं वक्ष्ये।

इनमें से जातकपद्धति और ताजिकपद्धति ग्रन्थ सम्प्रति प्रसिद्ध हैं। इन्हें 'केशवी' भी कहते हैं और बहुत से ज्योतिषी इनका उपयोग करते हैं। दोनों ग्रन्थ छप चुके हैं। मुहूर्ततत्त्व भी छपा है। शक १४९३ में देवगिरि (दौलताबाद) के पास निर्मित मुहूर्त-मार्तण्ड नामक ग्रन्थ में केशवी जातकपद्धति का और शक १५२५ में काशी में रङ्गनाथ की बनायी हुई सूर्यसिद्धान्त की टीका में मुहूर्ततत्त्व का उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि केशव के थोड़े ही दिनों बाद इस देश में इन ग्रन्थों का पर्याप्त प्रचार हो गया था।

वेध

यद्यपि इनके पुत्र के ग्रन्थों के कारण इनके ग्रन्थ दब गये तथापि वेध के विषय में इनकी योग्यता बहुत बड़ी थी। ऐसे ज्योतिषी हमारे देश में बहुत कम हुए हैं। ग्रहकौ-तुक की स्वकीय मिताक्षरा टीका में इन्होंने लिखा है--

ब्राह्मार्यभटसौराद्येष्वष्टापि ग्रहकरणेषु बुधशुक्रयोर्महदन्तरं अङ्कतया दृश्यते। मन्दे आकाशे नक्षत्रग्रहयोगे उदयेऽस्ते च पञ्चभागा अधिकाः प्रत्यक्षमन्तरं दृश्यते। . . . एवं क्षेपेष्वन्तरं वर्षभोगेष्वपि अन्तरमस्ति। एवं बहुकाले बह्वन्तरं भविष्यति। यतो ब्राह्माद्येष्वपि भगणानां सावनादीनाञ्च बह्वन्तरं दृश्यते। एवं बहुकाले बह्वन्तरं भवत्येव।. . .एवं बह्वन्तरं भविष्यैः सुगणकैः नक्षत्रयोगग्रहयोगोदयास्तादिभिर्वर्तं-मानघटनामवलोक्य न्यूनाधिकभगणाद्यैर्ग्रहगणितानि कार्याणि। यद्वा तत्कालक्षेपक-वर्षभोगान् प्रकल्प्य लघुकरणानि कार्याणि।. . .एवं मया परमफलस्थाने चन्द्रग्रहण-तिथ्यन्ताद्विलोमविधिना मध्यश्चन्द्रो ज्ञातः। तत्र फल ह्रासवृद्ध्यभावात्। केन्द्रगोलादि-स्थाने ग्रहणतिथ्यन्ताद्विलोमविधिना चन्द्रोच्चमाकलितम्। तत्र फलस्य परमह्रास-वृद्धित्वात्। तत्र चन्द्रः सूर्यपक्षात् पञ्चकलोनो दृष्टः। उच्चं ब्रह्मपक्षाश्रितम्। सूर्यः

सर्वपक्षेऽपीषदन्तरः स सौरो गृहीतः। अन्ये ग्रहा नक्षत्रग्रहयोगग्रहयोगास्तोदयादिभिर्वर्तमानघटनामवलोक्य साधिताः। तत्रेदानीं भौमेज्यौ ब्राह्मपक्षाश्रितौ घटतः। ब्राह्मो बुधः। ब्राह्मार्यमध्ये शुक्रः। शनिः पक्षत्रयात् पञ्चभागाधिको दृष्टः। एवं वर्तमानघटनामवलोक्य लघुकर्मणा ग्रहगणितं कृतम्।

स्वयं किये हुए वेधों का ऐसा वर्णन मुझे अन्य किसी भी ज्योतिषी के ग्रन्थ में नहीं मिला। अधिक क्या, केशव के विषय में मेरी तो यहां तक धारणा है कि मूल-सूर्यसिद्धान्तकार, प्रथम आर्यभट, ब्रह्मगुप्त और भोज के ज्योतिषियों को छोड़कर इनके सदृश ज्योतिषी दूसरा हुआ ही नहीं। इन्होंने वेधदिवस और वेध द्वारा ग्रहानयनप्रकार इत्यादि बातें उपर की भाँति लिखी होतीं तो उनसे बड़ा लाभ होता, परन्तु दुःख है कि हमारे देश के ज्योतिषियों में इन सब बातों को ग्रन्थ में लिख रखने की पूर्वपरम्परा ही नहीं है। ग्रहकौतुक द्वारा गणित करने से मुझे ज्ञात हुआ कि इन्हें ग्रहों का जैसा अनुभव हुआ तदनुसार इन्होंने ग्रहकौतुक में ग्रहों के क्षेपक और वर्षगतियां लिखी हैं। ग्रहकौतुक और जातकपद्धति की इन्होंने स्वयं टीकाएं की हैं।

गणेश दैवज्ञ

ये एक बहुत बड़े ज्योतिषी हो चुके हैं। सम्प्रति सम्पूर्ण भारत के जितने प्रदेशों में इनके ग्रहगणित-ग्रन्थ प्रचलित है, उतने अन्य किसी के भी नहीं। इनके पिता का नाम केशव, माता का लक्ष्मी, गोत्र कौशिक और वसतिस्थान पश्चिमसमुद्रतटवर्ती नांदगांव था, इत्यादि बातें ऊपर लिख ही चुके हैं। इनके ग्रहलाघव की टीका में विश्वनाथ दैवज्ञ ने लिखा है—श्रीमद्गुरुणा गणेशदैवज्ञेन ये ग्रन्थाः कृतास्ते तद्भ्रातृपुत्रेण नृसिंहज्योतिर्विदा स्वकृतग्रहलाघवटीकायां श्लोकद्वयेन निबद्धाः। ते यथा—

... ... **ग्रन्थ**

कृत्वादौ ग्रहलाघवं लघुबृहत्तिथ्यादिचिन्तामणी
सत्सिद्धान्तशिरोमणौ च विवृतिं लीलावतीव्याकृतिम्।
श्रीवृन्दावनटीकिकां च विवृतिं मौहूर्ततत्त्वस्य वै
सत्-श्राद्धादिविनिर्णयं सुविवृतिं छन्दोर्णवाख्यस्य वै ॥१॥
सुधीरञ्जनं तर्जनीयन्त्रकञ्च सुकृष्णाष्टमीनिर्णयं होलिकायाः।
लघूपायपातस्तथान्याः ... ...॥

इससे ज्ञात होता है कि इन्होंने ग्रहलाघव, लघुतिथिचिन्तामणि, बृहत्तिथिचिन्तामणि, सिद्धान्तशिरोमणिटीका, लीलावतीटीका, विवाहवृन्दावनटीका, मुहूर्ततत्त्वटीका, श्राद्धनिर्णय, छन्दोर्णवटीका, तर्जनीयन्त्र, कृष्णाष्टमीनिर्णय, होलिकानिर्णय, लघूपायपात (पातसारणी) इत्यादि ग्रन्थ बनाये थे। विवाहवृन्दावन की टीका में इन्होंने स्वयं भी अपने कुछ ग्रन्थों के नाम लिखे हैं। वे ये हैं–

कृत्वादौ ग्रहलाघवाख्यकरणं तिथ्यादिसिद्धिद्वयं
श्लोकैः श्राद्धविधिं सवासनतया लीलावतीव्याकृतिम्।
सप्रक्षेपमुहूर्ततत्त्वविवृतिं पर्वादिसन्निर्णयं
तस्मान्मङ्गलनिर्णयाद्यथकृता वैवाहसद्दीपिका ।।

काल

इसमें ऊपर की अपेक्षा पर्वनिर्णय एक अधिक ग्रन्थ है। ये नाम कालक्रमानुसार लिखे हैं, यह बात नहीं है, तथापि ग्रहलाघव इनका सर्वप्रथम ग्रन्थ ज्ञात होता है। इसमें आरम्भवर्ष शक १४४२ है। इस समय ये २०–२२ वर्ष के अवश्य रहे होंगे अर्थात् इनका जन्मकाल लगभग शक १४२० है। लघु चिन्तामणि ग्रन्थ शक १४४७ का है। लीलावतीटीका शक १४६७ की है। पातसारणी से उसका रचनाकाल शक १४६० के बाद ज्ञात होता है। विवाहवृन्दावन की मैंने एक मुद्रित प्रति देखी। उसमें टीका-काल बड़ी विचित्र रीति से लिखा है। वह यह है—

हायनार्क १२ लघुतुल्यमायनं तद्युती रस ६ युता युतिर्भवेत्।
सापि सागर ४ युतोडुपोद्गुकं तत्त्रिनेत्र २३ लव एव पक्षकः ।।१।।
पक्षः सपक्षो २ यदि वासरः स्यात् तदीयरामां ३ शसमस्तिथिः स्यात्।
यच्चाखिलैक्यं[1] कुयमाहतं तत् नन्दाधिकं मत्शकवत्सराः स्युः ।।
तदयनतिथिपक्षास्तुल्यतां यान्ति यस्मिन्... ... ...।।

इससे ज्ञात होता है—शक १५००, बहुधान्य संवत्सर, उदगयन, माघ शुक्ल १ भौमवार, धनिष्ठानक्षत्र, परिघयोग––में यह टीका समाप्त हुई। शक १५०० माघ शुक्ल १ का गणित करने से उपर्युक्त वार, नक्षत्र और योग ठीक मिलते हैं।

१. { संवत्० अयन योग नक्षत्र पक्ष वासर तिथि मास
१२+१+१९+२३+१+३+१+११ +२१+९=१५००

गणेशकृत विवाहवृन्दावन की टीका का काल यदि यही है तो उस समय इनकी अवस्था ८० वर्ष की रही होगी। १६ वर्ष की अवस्था में ग्रहलाघव की रचना मानने से टीका के समय अवस्था ७५ वर्ष आती है। यह असम्भव नहीं है तथापि मुझे कोंकण में दापोली तालुके के मुरुड़ नामक अपने गांव में रघुनाथ जोशी के पास विवाहवृन्दावन की टीका की एक हस्तलिखित प्रति मिली है, उसमें एक सरल श्लोक में लिखा है—'रसनगमनुतुल्ये शाक आनन्दवर्षे' (शक १४७६ आनन्द नामक संवत्सर में) टीका की है। यह लेख विश्वसनीय है। उपर्युक्त श्लोक दूसरे किसी का होगा।

ग्रहलाघव

ग्रहलाघव में आरम्भ-वर्ष शक १४४२ है। इसके क्षेपक शक १४४१ अमान्त फाल्गुन कृष्ण ३० सोमवार (ता० १९ मार्च, सन् १५२०) के सूर्योदय के हैं। वे ये हैं—

	रा०	अं०	क०		रा०	अं०	क०
सूर्य	११	१९	४१	बुधशीघ्रकेन्द्र	८	२९	३३
जन्द्र	११	१९	६	गुरु	७	२	१६
चन्द्रोच्च	५	१७	३३	शुक्रशीघ्रकेन्द्र	७	२०	९
राहु	०	२७	३८	शनि	९	१५	२१
मंगल	१०	७	८				

कौन-सा ग्रह किस ग्रन्थ का आकाश में ठीक मिलता है, इसके विषय में गणेश दैवज्ञ ने लिखा है—

सौरोऽर्कोऽपि विधूच्चमङ्ककलिकोनाब्जो गुरुस्त्वार्यजो-
ऽसृग्राहू च कुजज्ञकेन्द्रकमथार्यः सेषुभागः शनिः।
शौक्रं केन्द्रमजार्यमध्यगमितीमे यान्ति दृक्तुल्यताय्॥

मध्यमाधिकार

इसका अभिप्राय यह है कि वर्तमान सूर्यसिद्धान्तानुसार सूर्य और चन्द्रोच्च मिलते हैं। उसके चन्द्रमा में से ९ कला घटा देनी चाहिए। आर्यपक्षीय ग्रन्थ करणप्रकाश द्वारा लाये हुए गुरु, मंगल और राहु मिलते हैं। उसके शनि में ५ अंश जोड़ देना चाहिए। ब्राह्मपक्षीय ग्रन्थ करणकुतूहल से लाया हुआ बुधकेन्द्र ठीक होता है। करणप्रकाश

और करणकुतूहल द्वारा लाये हुए शुक्रकेन्द्रों को जोड़कर आधा करने से वह ठीक होता है। इस कथनानुसार शके १४४१ फाल्गुन कृष्ण ३० सोमवार के प्रातःकाल के ग्रह लाने से इन क्षेपकों से ठीक मिलते हैं, परन्तु गणेश ने विकलाएँ बिलकुल छोड़ दी हैं और कहीं-कहीं कलाएँ भी कुछ न्यूनाधिक कर दी हैं, इससे कहीं-कहीं कलाओं में थोड़ा अन्तर पड़ गया है। उपर्युक्त ग्रह लाने में करणप्रकाश का अहर्गण १५६३३४ और करणकुतूहल का १२३११३ आता है,[1] इससे ज्ञात हो सकता है कि यह गणित करना कितना कठिन है। गणेश ने अहर्गण द्वारा ही ग्रहसाधन करने की रीति दी है, पर उसमें ऐसी युक्ति की गयी है जिससे वह अधिक बढ़ने न पाये। वह युक्ति यह है—११ वर्षों में लगभग ४०१६ दिन होते हैं। इतने अहर्गण का एक चक्र मान लिया है और इतने दिनों में ग्रहों की जितनी मध्यम गति होती है उसका नाम ध्रुव रख दिया है। इस गति का संस्कार[2] करके मध्यम ग्रह लाये गये हैं। इस युक्ति से अहर्गण कभी भी ४०१६ से अधिक नहीं होता।

विशेषता

ग्रहलाघव की एक और विशेषता यह है कि इसमें ज्याचाप का सम्बन्ध बिलकुल नहीं रखा गया है और ऐसा होने पर भी प्राचीन किसी भी करणग्रन्थ से यह कम सूक्ष्म नहीं है—यह निःसंकोच कहा जा सकता है। आधुनिक अंग्रेजी ग्रन्थों में प्रत्येक अंश की ही नहीं प्रत्येक कला की भुजज्या इत्यादि दी रहती है। कुछ तो ऐसे भी ग्रन्थ बन गये हैं जिनमें प्रत्येक विकला की भुजज्या दी हैं। हमारे सिद्धान्तों में प्रति पौने चार अंश की भुजज्याएँ हैं अर्थात् उनमें सब २४ ज्यापिण्ड हैं, परन्तु करणग्रन्थों में बहुधा ९ (प्रत्येक १० अंश पर) अथवा इससे भी कम ज्यापिण्ड होते हैं। ग्रहलाघव में भुजज्याओं का प्रयोग न होते हुए भी उससे लाया हुआ स्पष्ट सूर्य उन करणग्रन्थों की अपेक्षा सूक्ष्म होता है जिनमें ये हैं, इतना ही नहीं, कभी-कभी तो २४ ज्यापिण्डों वाले सिद्धान्तग्रन्थों से भी सूक्ष्म आता है। इस ग्रन्थ में गणेश ने सभी पदार्थों को सुलभ रीति से लाने का प्रयत्न किया है, इस कारण कुछ विषयों में स्थूलता तो अवश्य आ

---

१. मेरी तरह किसी भी टीकाकार ने यह नहीं दिखाया है कि गणेश ने मुकामुकअ ग्रह अमुक ग्रन्थ से लिये हैं।

२. ११ वर्षों में दिवस कुछ न्यूनाधिक होते हैं। वे छूटने न पायें, इसके लिए युक्ति की है। चक्रसंबंधी ग्रहगति चक्रशुद्ध की होने के कारण उसे क्षेपक में से घटा कर अहर्गणागत गति उसमें जोड़ने से इष्टकालीन मध्यम ग्रह आता है।

गयी है, पर अन्य करण ग्रन्थों की भी यही स्थिति है। उपसंहार में इन्होंने लिखा है—

पूर्वे प्रौढ़तराः क्वचित् किमपि यच्जक्रुर्धनुर्ज्ये विना,
ते तेनैव महातिगर्वकुभृदुच्छ्रृङ्गेऽधिरोहन्ति हि।
सिद्धान्तोक्तमिहाखिलं लघु कृतं हित्वा धनुर्ज्ये मया
तद्गर्वो मयि मास्तु किं न यदहं तच्छास्त्रतो वृद्धधीः ।।

इसका तात्पर्य यह है कि प्राचीन प्रौढ़तर गणक कहीं-कहीं थोड़ा-सा ही गणितकर्म[1] ज्याचाप के बिना करके गर्व के पर्वत के शिखर पर चढ़ गये हैं तब सिद्धान्तोक्त सब कर्म बिना ज्याचाप के करने का अभिमान मुझे क्यों न हो, परन्तु वह मुझे नहीं है क्योंकि मैंने उन्हीं के ग्रन्थों द्वारा ज्ञान प्राप्त किया है। गणेश का यह कथन कि मैंने सिद्धान्तोक्त सब विषय ग्रहलाघव में दिये हैं, सत्य है और इसी कारण ग्रहलाघव सिथान्त-रहस्य कहा जाता है। मैंने बहुत से करणग्रन्थ देखे हैं, उनमें अधिक ऐसे हैं जिनमें केवल ग्रहस्पष्टीकरण मात्र है। करणकुतूहलादि केवल तीन-चार करण ऐसे हैं जिनसे सिद्धान्तोक्त अधिकांश कर्म किये जा सकते हैं, पर उनमें ग्रहलाघव जितना पूर्ण कोई नहीं है। इस पर शक १५०८ की गङ्गाधर की, शक १५२४ की मल्लारि की और लगभग शक १५३४ की विश्वनाथ की टीका है। कुछ और भी टीकाएँ हैं। वार्शी में मुझे शक १६०५ में लिखी हुई ग्रहलाघव की एक पुस्तक मिली। इससे ज्ञात होता है कि इसके बनने के थोड़े ही दिनों बाद दूर-दूर तक इसका प्रचार हो गया था। सम्प्रति सम्पूर्ण महाराष्ट्र, गुजरात और कर्नाटक के अधिकांश भागों में इसी द्वारा गणित किया जाता है। काशी, ग्वालियर, इन्दौर इत्यादि प्रान्तों के दक्षिणी लोग इसी से गणित करते हैं।[2] अन्य प्रान्तों में भी इसका पर्याप्त प्रचार मालूम होता है। अत्यन्त सरल गणित-पद्धतियुक्त तथा सिद्धान्त की सभी आवश्यकताओं को पूर्ण करने वाले इस ग्रन्थ का सर्वत्र शीघ्र ही प्रचलित हो जाना और इसके कारण प्राचीन करणग्रन्थों का दब जाना बिलकुल स्वाभाविक है।

ग्रहशुद्धि

आधुनिक यूरोपियन ग्रन्थों द्वारा लाये हुए ग्रहों से ग्रहलाघवोक्त ग्रहों की सूर्य

---

१. करणकुतुहल के त्रिप्रश्नाधिकार में भास्कराचार्य ने लिखा है—इति कृतं लघु-कार्मुकशिञ्जिनीग्रहणकर्मविना द्युतिसाधनम्।

२. इन्दौर और ग्वालियर के सरकारी पञ्चांग ग्रहलाघव और तिथिचिन्तामणि से बनते हैं और वहां सर्वत्र प्रायः वे ही चलते हैं। हैदराबाद रियासत के अधिकांश भागों में ग्रहलाघवीय पञ्चांग ही चलता है।

सम्बन्धी तुलना करने पर शक १४४२ के आरम्भ में ग्रहलाघव के मध्यम ग्रह कितने न्यूनाधिक आते हैं, यह नीचे दिखाया है—

		अंश	कला			अंश	कला
सूर्य		०	०	बुधशीघ्रोच्च	+	८	२१
चन्द्र	—	०	२	गुरु	+	०	५८
चन्द्रोच्च	+	१	५५	शुक्रशीघ्रोच्च	+	१	२२
राहु	—	०	१७	शनि	+	१	२६
मंगल	+	०	४४				

यहां बुध में अधिक त्रुटि है। शुक्र, शनि और चन्द्रोच्च में १ से २ अंश तक और शेष में एक अंश से कम ही अशुद्धि है। चन्द्रमा तो बहुत ही सूक्ष्म है। राहु भी अधिक अशुद्ध नहीं है। इनके पिता केशव के वर्णन में लिख ही चुके हैं कि चन्द्रमा और राहु सूर्यग्रहण द्वारा लाये गये हैं। बुध वर्ष में बहुत थोड़े ही दिन दिखाई देता है इससे उसके वेध का अवसर कम मिलता है। मालूम होता है, इसी कारण उसमें अधिक अशुद्धि हुई है। और भी ध्यान देने योग्य बात यह है कि ये अशुद्धियां मध्यम ग्रहों की हैं। वेध द्वारा स्पष्टग्रह आते हैं। उनमें ग्रहलाघवकाल में इससे कम अशुद्धि रही होगी, इसका विचार ऊपर बेंटली की पद्धति के विवेचन में कर चुके हैं। आगे पञ्चाङ्ग-विचार में यह दिखाया है कि सम्प्रति ग्रहलाघवागत स्पष्ट ग्रहों में कितना अन्तर पड़ता है।

गणेश ने लिखा है कि अमुक ग्रन्थ के अमुक ग्रह को इतना न्यूनाधिक कर देने से वह दृक्तुल्य होता है, उसमें उन्होंने शनि में बहुत अधिक अर्थात् ५ अंश का अन्तर किया है, अन्य ग्रहों में भी कुछ कलाएँ न्यूनाधिक की हैं। इससे स्पष्ट है कि पुराने ग्रन्थों का आधार केवल नाम मात्र के लिए लेकर इन्होंने अपने समय की अनुभूत ग्रह-स्थिति ली है।

प्राचीन ग्रन्थों के ग्रहों में अन्तर पड़ता देखकर इनके पिता केशव ने वेध करके उनमें चालन देने की बहुत कुछ तैयारी की थी और तदनुसार 'ग्रहकौतुक' ग्रन्थ भी बनाया था। गणेश दैवज्ञ ने लघुचिन्तामणि में लिखा है कि उसमें भी कुछ अन्तर पड़ते देखकर मैंने ग्रहशुद्धि की। ग्रहकौतुक और ग्रहलाघव की तुलना से भी ऐसा ही ज्ञात होता है। ग्रहलाघव के उदयास्ताधिकार में इन्होंने लिखा है—

पूर्वोक्ता भृगुचन्द्रयोः क्षणलवाः स्पष्टा भृगोश्चोनिता
द्वाभ्यां तैरुदयास्तदृष्टिसमता स्याल्लक्षितैषा मया ।।२०।।

यहाँ इनका कथन यह है कि प्राचीन-आचार्यकथित शुक्र के कालांश में २ अंश कम कर देने से उदयास्त का ठीक अनुभव होता है, इसे मैंने देखा है। इन सब बातों से ज्ञात होता है कि ये स्वयं वेध करते थे। इनके विषय में सम्प्रति कई दन्तकथाएँ प्रचलित हैं। कुछ लोगों का कथन है कि इनके पैरों में भी आंखें थीं, जिससे इन्हें चलते समय भूमि की ओर नहीं देखना पड़ता था। यह बात असम्भव है तथापि इससे सिद्ध होता है कि इनका ध्यान सदा आकाश की ओर रहता था। कुछ लोग कहते हैं कि ये समुद्र के किनारे ऊँची शिला पर बैठकर आकाश की ओर देखते रहते थे। यह सम्भव है। कोंकण में समुद्रतट पर ऐसी बहुत-सी शिलाएँ हैं और वह शान्त प्रदेश वस्तुतः वेध करने योग्य है।

योग्यता

ग्रहलाघव में केशव और गणेश दोनों के अनुभवों का उपयोग होने के कारण ग्रहकौतुक की अपेक्षा उसे अधिक दृक्प्रत्ययद होना चाहिए। कहीं-कहीं ग्रहकौतुक की गणित करने की पद्धति ग्रहलाघव की अपेक्षा सरल है पर कुछ बातों में ग्रहलाघव की पद्धति अधिक सुविधाजनक है। मालूम होता है, इसी कारण ग्रहकौतुक का लोप और ग्रहलाघव का प्रचार हुआ। सब बातों का विचार करने से मुझे गणेश की अपेक्षा केशव की योग्यता अधिक मालूम होती है, पर ग्रहलाघव की योग्यता ग्रहकौतुक की अपेक्षा अधिक है, क्योंकि उसमें पिता-पुत्र दोनों के अनुभव एकत्र हो गये हैं।

ग्रहलाघव में मध्यमाधिकार, स्पष्टाधिकार, पञ्चताराधिकार, त्रिप्रश्न, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, मासग्रहण, स्थूल ग्रहसाधन, उदयास्त, छाया, नक्षत्रछाया, शृङ्गोन्नति, ग्रहयुति और महापात ये १४ अधिकार और उनमें भिन्न-भिन्न छन्दों के क्रमशः १६, १०, १७, २६, १३, १३, १६, ८, २५, ६, १२, ४, ४, १४ और सब मिलकर १८७ श्लोक हैं। सम्प्रति इस ग्रन्थ के १४ही अधिकार प्रसिद्ध हैं, परन्तु विश्वनाथ और मल्लारि की टीकाओं में १५ श्लोकों का पञ्चाङ्गग्रहणाधिकार नामक एक और १५वाँ अधिकार है। १४ अधिकारों में ४ ग्रहणविषयक हैं। अतः ग्रहणविषयक अन्य अधिकार की आवश्यकता न होने के कारण इसका लोप हुआ होगा। गणित को सरल करने की ओर अधिक झुकाव होने के कारण मालूम होता है, गणेश ने कहीं-कही जान-बूझकर सूक्ष्मत्व की उपेक्षा की है और इसी लिए १४ अधिकारों में चन्द्रसूर्यग्रहणविषयक दो अधिकारों के रहते हुए भी सातवें और आठवें दो और अधिकार लिखे हैं, परन्तु वस्तुतः इनका कोई प्रयोजन नहीं है। ग्रहलाघव में अन्यत्र भी कुछ श्लोक न्यूनाधिक हुए हैं। शक १६०५ में लिखी हुई ग्रहलाघव की एक प्रति मुझे बार्शी में मिली, उसमें १५वाँ

अधिकार नहीं है और पञ्चताराधिकार में ३ श्लोक अधिक हैं। उनमें ग्रहोदयास्त सम्बन्धी कुछ बातें हैं। वे श्लोक विश्वनाथ की टीका में नहीं हैं। कुछ श्लोकों में पाठभेद है। कुछ श्लोक विश्वनाथ की टीका में हैं और कृष्णशास्त्री गोडबोले की छपायी हुई पुस्तक में नहीं हैं। चन्द्रमा का सूक्ष्म शर लाने के विषय में एक श्लोक है। वह विश्वनाथी टीका और कृष्णशास्त्री के छपाये हुए ग्रहलाघव में है, पर बार्शी वाली प्रति में नहीं है। भिन्न-भिन्न पुस्तकों में कुछ श्लोकों का क्रम भिन्न-भिन्न हैं। नक्षत्र-छायाधिकार के एक श्लोक के विषय में विश्वनाथ दैवज्ञ ने लिखा है कि यह गणेश दैवज्ञ के पौत्र नृसिंह का है। यह बार्शी की प्रति में नहीं है। इस न्यूनाधिकत्व के होते हुए भी इसके कारण ग्रन्थकार की पद्धति में कहीं विरोध नहीं आया है।

अन्य ग्रन्थ

गणेश के अन्य पञ्चाङ्गोपयोगी ग्रन्थ 'बृहच्चिन्तामणि' और 'लघुचिन्तामणि' हैं। इनसे तिथि, नक्षत्र और योग बहुत शीघ्र आते हैं। ग्रहलाघव द्वारा स्पष्ट रवि, चन्द्र लाकर तिथ्यादि बनाने में सतत परिश्रम करने पर ६ मास लगेंगे। मध्यमस्पष्ट सूर्य, चन्द्र लाने के लिए सारणियाँ बनायी गयी हैं। उनका उपयोग करने से वर्ष के तिथि, नक्षत्र, योग बनाने में सतत परिश्रम करने पर लगभग २४ दिन लगेंगे, यह मेरा अनुमान है। परन्तु लघुचिन्तामणि द्वारा मैंने तिथि, नक्षत्र, योग ३ दिन में बनाये हैं। बृहच्चिन्तामणि द्वारा गणित करने में इससे भी कम समय लगेगा। ऐसा होने पर भी तिथिचिन्तामणि और प्रत्यक्ष ग्रहलाघव द्वारा लाये हुए घटी-पलों में लगभग ३० पल से अधिक अन्तर नहीं पड़ता, इसकी मैंने स्वयं परीक्षा की है। ग्रन्थविस्तार के भय से यहाँ तिथिचिन्तामणि के स्वरूप[1] का वर्णन नहीं किया है। गणेश दैवज्ञ के ग्रंथ से प्राचीन इस प्रकार का कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। ऊपर बतलाये ग्रन्थ मकरन्द से भी गणित शीघ्र होता है, पर उसकी पद्धति कुछ भिन्न है और वह शक १४०० का है। गणेश दैवज्ञ ने कदाचित् उसे देखा भी न रहा हो। इस स्थिति में उन्हें तिथिचिन्तामणि सदृश अत्यन्त उपयोगी और अत्यल्प श्रमद ग्रन्थ स्वतन्त्रतया बनाने का श्रेय देना अनुचित नहीं है।

---

१. केरोपन्त ने अपने ग्रहसाधन कोष्ठक में प्रथम तिथिसाधन गणेशदैवज्ञ की तिथि चिन्तामणि की रीति से किया है, परन्तु उसमें उपपत्ति नहीं लिखी है। मैंने सन् १८८७ के अप्रैल की इण्डियन ऐंटिक्वरी में एक निबन्ध छपा है, उसमें उन रीतियों सम्बन्धी प्रत्येक बात की उपपत्ति लिखी है।

दोषारोपण

केरो लक्ष्मण क्षत्रे ने गणेशदैवज्ञ को यह दोष दिया है कि उन्होंने सरल युक्तियाँ बनाकर गणित सुलभ तो कर दिया...परन्तु...इससे उसमें स्थूलता आकर... भविष्यकालीन अशुद्धि की नींव पड़ गयी। दूसरा परिणाम...सिद्धान्तज्योतिष के अध्ययन और वेध का लोप हो गया, जिससे ज्योतिषियों को शास्त्र के मूल सिद्धान्तों का ज्ञान ही नहीं रह गया।[1] कुछ और लोग भी ग्रहलाघव में यही दोष दिखाते हैं। आधुनिक यूरोपियन ग्रन्थों से तुलना करते हुए उसमें स्थूलता का दोष दिखाना मेरी समझ से ठीक नहीं है। पहिले यह सोचना चाहिए कि उस समय जो साधन उपलब्ध थे, उनसे कहाँ तक कार्य किया जा सकता था। प्राचीन करणग्रन्थकारों का गणित गणेश की अपेक्षा सूक्ष्म है अथवा नहीं और गणेश ने वेध सम्बन्धी क्या-क्या आविष्कार किये हैं, इत्यादि बातों का विचार करने के अब तक पर्याप्त साधन नहीं थे। हम समझते हैं, इसी से केरोपन्त और अन्य दोष देनेवालों ने इसका विचार ही नहीं किया। यदि वे विचार करते तो गणेश को दोष कभी न देते। सिद्धान्तग्रन्थों द्वारा अत्यन्त परिश्रमपूर्वक जो फल लाया जाता है, वही यदि थोड़े श्रम में आता है तो उसे लेने में मुझे कोई दोष नहीं दीखता। दूसरी बात यह कि गणेश गणित में सौकर्य लाकर भी सूक्ष्मता में किसी भी विषय में प्राचीन ग्रन्थकारों से पीछे नहीं हैं। सब सिद्धान्त-करण ग्रन्थों का मैंने यहाँ तक जो सम्बन्ध दिखाया है, उससे ज्ञात होगा कि केरोपन्त का यह कथन कि गणेश दैवज्ञ से अशुद्धि का आरम्भ हुआ, भ्रमपूर्ण है। यदि वे वर्तमान को अशुद्ध कहते हैं तो वह पहिले से ही अशुद्ध है। कल्पकता और क्रियावत्ता, दोनों गुणों वाले ज्योतिषी मेरी समझ से गणेश के पहले बहुत कम हुए हैं। वेध के विषय में तो ये भास्कराचार्य से भी निःसंशय श्रेष्ठ थे। सम्प्रति ज्योतिषसिद्धान्तग्रन्थों का अध्ययन लुप्तप्राय ही है। सम्पूर्ण ग्रहलाघव पढ़े हुए ज्योतिषी भी कम मिलते हैं तो फिर सिद्धान्त का तो कहना ही क्या है। परन्तु यह दोष गणेश के ग्रन्थों का नहीं है। अग्रिम इतिहास देखने से ज्ञात होगा कि इनके पश्चात् ज्योतिषसिद्धान्त के रहस्यवेत्ता, सिद्धान्त-ग्रन्थकर्ता और वेध करनेवाले ज्योतिषी अनेक हुए हैं। सिद्धान्तशिरोमणि और लीलावती की इन्होंने स्वयं टीकाएँ की हैं। उपपत्तिविषयक ग्रन्थ लिखने का कार्य भास्कराचार्य कर ही चुके थे। आधुनिक यूरोपियन अन्वेषणों का आरम्भ लगभग इन्हीं के समय से हुआ है। यद्यपि यह सत्य है कि इस ओर इनकी प्रवृत्ति नहीं हुई, परन्तु इस देश में उस समय लोकसमुदाय की अभिरुचि विद्या की ओर कम थी और अनेक कारणों से नवीन

---

१. केरोपन्त ग्रहसाधनकोष्ठक की प्रस्तावना का पृष्ठ २ देखिए।

शोध करने का नाम ही नहीं रह गया था। इस विषय में गणेश के माथे दोष मढ़ना अनुचित है।

टीकाएँ

ग्रहलाघव पर टापरग्रामस्थ गङ्गाधर की शक १५०८ की टीका है। मल्लारि की टीका शक १५२४ की और विश्वनाथ की शक १५३४ के आसपास की है। उसमें उदाहरण हैं। इस टीका को उदाहरण भी कहते हैं। मल्लारि और विश्वनाथ की टीकाएँ छप चुकी हैं। बृहच्चिन्तामणि में कोष्ठक अधिक होने से कारण प्रायः उससे कोई गणित नहीं करता। लघुचिन्तामणि से गणित किया जाता है। यह छपी है। इसमें अंक ही अधिक हैं। क्रमशः बढ़ते-बढ़ते इसमें अशुद्धियाँ वहुत हो गयी हैं। मैंने इसकी सारणियाँ प्रायः शुद्ध की हैं। बृहच्चिन्तामणि पर विष्णु दैवज्ञ की सुबोधिनी नाम की टीका है। उसमें उपपत्ति है। लघुचिन्तामणि पर यज्ञेश्वर नामक ज्योतिषी ने 'चिन्तामणिकान्ति' नाम की टीका की है। उसमें उपपत्ति है। मुहूर्ततत्त्व और विवाहवृन्दावन की टीकाएँ छप चुकी हैं। तर्जनीयन्त्र कालसाधनोपयोगी है। उसे प्रतोदयन्त्र भी कहते हैं। उस पर सखाराम की और सङ्गमेश्वरनिवासी गोपीनाथ की टीकाएँ हैं। गोपीनाथ के पिता का नाम भैरव और पितामह का राम था। इस ग्रन्थ का अधिक विवेचन यन्त्रप्रकरण में करेंगे।

ताजकभूषणकार गणेश और जातकालंकार के कर्ता गणेश, ये दोनों ग्रहलाघवकार से भिन्न हैं।

दन्तकथाएँ

कहते हैं, केशव ने एक बार ग्रहण निकाला। उसमें अन्तर पड़ता देखकर वहाँ के किसी यवन राजा ने उनका उपहास किया। यह बात उन्हें बहुत बुरी लगी। वे नन्दिग्राम के गणेश के एक मन्दिर में तपस्या करने लगे। उस समय उनकी वृद्धावस्था थी। उनकी यह दशा और निष्ठा देखकर गणेश ने स्वप्न में कहा कि अब तुझसे ग्रहशोधन का कार्य नहीं हो सकता। इसे मैं ही तेरे पुत्ररूप में अवतार लेकर सम्पन्न करूँगा। तदनुसार उन्हें पुत्र हुआ और उसका नाम गणेश ही रखा गया। आजकल के ज्योतिषी गणेश को ईश्वरीय अवतार मानते हैं। इनके विषय की दो और दन्तकथाएँ ऊपर लिख चुके हैं। इससे इनके प्रति लोगों की पूज्य बुद्धि प्रकट होती है। ऐसे बुद्धिमान् पुरुषों को ईश्वरीय अंश मान लेने से मनुष्य की यह दृढ़ धारणा हो जाती

है कि मुझसे इनके जैसा महत्वशाली कार्य नहीं हो सकता। यही बात देश में नवीन आविष्कारों के अभाव का बड़ा कारण है।

वंशज

इनके वंश में और भी विद्वान् पुरुष हुए हैं। गनेश के लघुभ्राता अनन्त ने शक १४५६ जय नाम संवत्सर में वराहमिहिर के लघुजातक की टीका की है। अनन्त ने इसे उत्पल की टीका से लघुतर और सुगम कहा है। अनन्त अपने बड़े भाई गणेश के ही शिष्य थे। विश्वनाथ की टीका से ज्ञात होता है कि ग्रहलाघव पर गणेश के पौत्र नृसिंह की टीका थी, पर मुझे वह कहीं नहीं मिली। गणेश के पौत्र तथा केशव के पुत्र गणेश ने सिद्धान्तशिरोमणि की शिरोमणिप्रकाश नाम की टीका की थी। वह शक १५२० के आसपास की होगी। इसी वंश के रुद्र के पुत्र केशव ने शक १६२९ सर्वजित् संवत्सर में 'लग्नकलाप्रदीप' नामक ग्रन्थ बनाया है।

कल्पद्रुमकरण

करणकुतूहल की शक १४८२ की एक टीका में इस करण का उल्लेख है। उस टीका से ज्ञात होता है कि उसे रामचन्द्र नामक ज्योतिषी ने बनाया है और उन्होंने करणकुतूहल में बीजसंस्कार दिया है। आगे-वर्णित दिनकर और श्रीनाथ के ग्रन्थों के रामबीज के अंक उस टीकाकार के दिये हुए अंकों से भिन्न हैं, अतः रामबीज उससे भिन्न होगा।

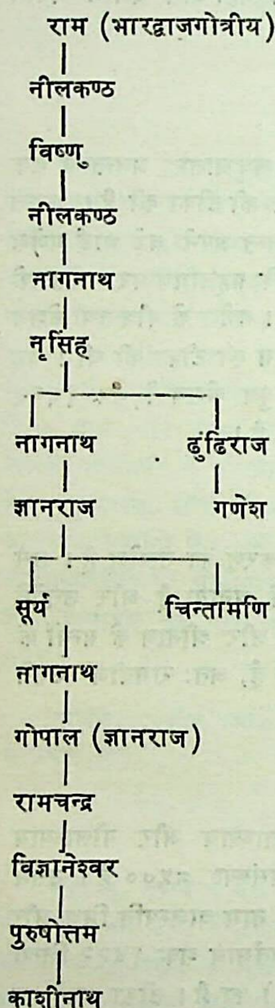
लक्ष्मीदास, शक १४२२

इन्होंने भास्कराचार्य के सिद्धान्तशिरोमणि के गणिताध्याय और गोलाध्याय पर गणिततत्वचिन्तामणि नाम्नी टीका की है। उसकी ग्रन्थसंख्या ८५०० है। उसमें उपपत्ति और उदाहरण हैं। इनका गोत्र उपमन्यु, पिता का नाम वाचस्पति मिश्र और पितामह का नाम केशव था। मुख्य उदाहरण में इन्होंने वर्तमान शक १४२२ लिखा है। ग्रहण का उदाहरण कलिगतवर्ष ४५९९ (शक १४२०) का है। टीका करने का कारण इन्होंने लिखा है—

शिरोमणिविबोधने सुजननागनाथेरितः सुहृद्गुणगणाकरप्रगुणदेवनाथार्थितः।
हितैरनघराघवैरपि निजानुजोर्वीधरप्रियप्रतिविधैषयास्मि विविधप्रयत्नोन्मुखः॥

ये उत्तम कवि भी ज्ञात होते हैं।

ज्ञानराज, शक १४२५



ज्ञानराज का जन्म एक ऐसे प्रसिद्ध विद्वत्कुल में हुआ था जिनकी विद्वत्परम्परा अभी तक चल रही है। मुझे शक १८०७ में वार्शी में सम्प्रति मोगलाई के बीड़ नामक स्थान के निवासी, इस वंश के काशीनाथ शास्त्री नामक एक विद्वान् मिले थे। उनका बतलाया हुआ ज्ञानराज का थोड़ा सा कुलवृत्त मैंने लिख रखा था। उसे ज्ञानराज के कुलवृत्त से मिलता देखकर सम्प्रति (शक १८१७) उनसे उसके विषय में और बातें पूछीं। उन्होंने कुछ और बातें और वंशवृक्ष लिख भेजा। उससे, आफ्रेचसूची में दिये हुए वंशवृत्त से और स्वयं प्राप्त किये हुए साधनों के आधार पर मैंने पार्श्वस्थित वंशावली लिखी है। इसमें आरम्भ के पाँच पुरुष केवल आफ्रेचसूची के आधार पर लिखे हैं। उसमें भी उस सूची में तीन स्थानों के लेखों में थोड़ा पूर्वापर विरोध है। मुझे जो नाम सुसङ्गत ज्ञात हुए वे ही लिखे हैं। आफ्रेचसूची में लिखा है कि प्रथम पुरुष राम देवगिरि के राजा राम की सभा में रहते थे। काशीनाथ शास्त्री के भेजे हुए वंशवृक्ष में नृसिंह के पिता का नाम दैवज्ञराज है और वहीं से आरम्भ हुआ है। मालूम होता है, नागराज अथवा उनके किसी पूर्वपुरुष की दैवज्ञराज उपाधि थी।[1]

---

१. बाद में भेजे हुए काशीनाथ शास्त्री के एक पत्र का शारांश यह है—'सूर्यादिकों के जन्म-मरण शक—सूर्य १४२६-१५१०, नागनाथ १४८०-१५३७, गोगाल १५४५-९०, ज्ञानराज जन्म १५९५, रामभरण १७३१, विज्ञानेश्वर १७१२-६९, पुरुषोत्तम १७४८-९९, काशीनाथ जन्म १७६८। सूर्यपुत्र नागनाथ को दिल्ली दरबार से रणशूर

आफ्रेचसूची में लिखा है कि रामपार्थपुर के निवासी थे। सूर्य पण्डित ने भास्करीय लीलावती की अमृतकूपिका नाम की टीका की है। उसमें अपने पिता और पितामह का वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है—

स्थान

आस्ते त्रस्तसमस्तदोषनिचयं गोदाविदर्भायुतेः
क्रोशेनोत्तरतस्तदुत्तरतटे पार्थाभिधानं पुरम्।
तत्राभूद् गणकोत्तमः पृथुयशाः श्रीनागनाथाभिधो
भारद्वाजकुले सदैव परमाचारो द्विजन्माग्रणीः ।।१।।

भास्करीय बीजगणित की टीका में लिखा है—

गोदोदक्तटपूर्णतीर्थनिकटावासे तथा मङ्गला-
गङ्गासङ्गमतस्तु पश्चिमदिसि क्रोशान्तरेण स्थिते।
श्रीमत्पार्थपुरे बभूव....श्रीनागनाथाभिधः ।।

सम्प्रति पैठण से लगभग ७० मील पूर्व गोदावरी के उत्तर तट के पास ही पाथरी नामक गाँव है। वही इस श्लोक का पार्थपुर है। यह देवगिरि (दौलताबाद) से लगभग ८५ मील आग्नेय में है। विदर्भा नदी का ही दूसरा नाम मङ्गला होगा। उपर्युक्त वर्णनानुसार विदर्भा और गोदा के सङ्गम से वायव्य में एक कोस पर पार्थपुर है। कमलाकर दैवज्ञ ने इस पाथरी का वर्णन किया है (आगे विष्णु का वर्णन देखिए)। इन्होंने लिखा है—यह विदर्भ देश में है, राजाओं की नगरी है और देवगिरि से १६ योजन आग्नेय में है। ५ मील का योजान मानने से १६ योजन की ठीक सङ्गति लगती है। इस समय के कुछ अन्य ग्रन्थों में भी पाथरी विदर्भ देश में वतलायी गयी है।

पदवी मिली थी। उन्होंने नरपतिजयचर्या नामक ग्रन्थ बनाया है। सूरिचूड़ामणि पदवी (काशीनाथ शास्त्री को) शक १८६३ में मिली है। वंशवृक्ष में सूर्य के नीचे लिखे हुए नागराज सूर्य के पुत्र हैं। गोपाल और ज्ञानराज भिन्न-भिन्न दो पुरुष होंगे। नागनाथ और गोपाल तथा गोपाल और ज्ञानराज, इन दो-दो के बीच में एक-एक पुरुष और होंगे अथवा इनके शक अशुद्ध होंगे। उपर्युक्त शकों पर पूर्ण विश्वास न होते हुए भी मैंने ये अगत्या लिखे हैं। नागनाथ को रणशूर पदवी अकबर या जहाँगीर के दरबार में मिली होगी। नरपतिजयचर्या नामक प्राचीन ग्रन्थ शक १०९७ का है। इसीलिए मैंने लिखा है कि नागनाथ ने नरपतिजयचर्या की टीका की है, पर इसी नाम का उनका स्वतन्त्र ग्रन्थ भी हो सकता है।

काल

ज्ञानराज ने 'सिद्धान्तसुन्दर' में क्षेपकादि शक १४२५ के दिये हैं। अतः उनका काल यही है। प्रति पीढ़ी में लगभग ३० वर्ष का अन्तर मानने से उपर्युक्त वंशवृक्ष के प्रथम पुरुष राम का काल लगभग शक १२१५ आता है। यह देवगिरि के राजा राम के काल से मिलता है।

ज्ञानराज ने सिद्धान्तसुन्दर नामक ज्योतिषसिद्धान्त ग्रन्थ बनाया है। मैंने इसके दो मुख्य भाग गणिताध्याय और गोलाध्याय (आनन्दाश्रमपुस्तकाङ्क ४३५०) देखे हैं। गोलाध्याय में भुवनकोश, मध्यमगतिहेतु छेद्यक, मण्डलवर्णन, यन्त्रमाला और ऋतुवर्णन ये ६ अधिकार और उनमें क्रमशः ७६, ३०, २१, १६, ४४, ३४ श्लोक हैं। गणिताध्याय में मध्यम, स्पष्ट, त्रिप्रश्न, पर्वसम्भूति, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, ग्रहास्तोदय, नक्षत्रच्छायादि, शृङ्गोन्नति, ग्रहयोग, महापात ये ११ अधिकार और उसमें क्रमशः ८६, ४८, ४३, ७, ४०, १६, १६, २०, १८, १०, ११ श्लोक हैं। सुन्दरसिद्धान्त पर ज्ञानराज के पुत्र चिन्तामणि की टीका है, उसके एक स्थान के लेख से ज्ञात होता है कि सुन्दरसिद्धान्त में बीजगणित भी है, पर मैंने उसे नहीं देखा है। सुधाकर द्विवेदी ने लिखा है[1] कि वह भास्करीय बीजछायानुरूप है और उसमें भास्कर के "सरूपके वर्णकृती तु यत्र" सूत्र का खण्डन है।

सिद्धान्तसुन्दर वर्तमान सूर्यसिद्धान्तानुसार बना है। इसमें ग्रहगणित के लिए करणग्रन्थों की भाँति क्षेपक और वर्षगतियाँ दी हैं। क्षेपक शक १४२५ के हैं। उसमें यह नहीं लिखा है कि वे किस समय के हैं, परन्तु गणित करने से मुझे ज्ञात हुआ है कि वे उस वर्ष के आश्विन शुक्ल ८ गुरुवार के सूर्योदय से ५६ घटी ३६ पल के हैं। क्षेपक और वर्षगतियाँ विलकुल वर्तमान सूर्यसिद्धान्तानुसार हैं। इसमें मध्यम सूर्य ६।०।१४।१७ है अर्थात् वह मध्यम तुलासक्रान्ति के ठीक १५ घटी बाद का है। इससे ज्ञात होता है कि ग्रन्थकार का उद्देश्य इसी समय का क्षेपक देने का था। मध्यमाधिकार में ग्रहों में निम्नलिखित बीजसंस्कार दिया है—

खाभ्रखाभ्राष्टभूमिगतं यत्कलेस्तष्टमेतस्य यातैष्ययोरल्पकम्।
तद्भुवा पावकैः सिद्धसंख्यैर्हतं दृग्यमैः खाग्निभिः खाङ्कैर्वह्निभिः ।।८३।।

---

१. काशी की राजकीय संस्कृत पाठशाला के गणिताध्यापक सुधाकर द्विवेदी ने संस्कृत में गणकतरंगिणी नामक गणकों के इतिहास का ग्रन्थ शक १८१४ में लिखा है। उसका ५६ वाँ पृष्ठ देखिए।

नन्दविग्नायुतेनाप्तभागैर्युताः सूर्यसौरावनीजाः परे वर्जिताः।
दृक्समत्वं ग्रहाणामनेन स्फुटं प्राह दामोदराचार्य एवं बुधः॥८४॥

वर्तमान सूर्यसिद्धान्त सम्बन्धी एक वीजसंस्कार ऊपर लिखा है। उससे यह ३० गुना है। शेष बातों में दोनों बिलकुल समान हैं। उक्त पृष्ठ में दिये हुए अङ्कानुसार शक १३२१ में सूर्य का वीजसंस्कार केवल ६ विकला आता है। यह बहुत थोड़ा है। ज्ञानराजकथित दामोदरोक्त संस्कार इस वर्ष में ३ कला आता है। यही सम्भवनीय ज्ञात होता है। सूर्यसिद्धान्त के बीजोपनयनाध्याय के ७वें श्लोक के 'भागादि' के स्थान में 'राश्यादि' पाठ मानने से वह संस्कार दामोदरोक्त संस्कार से ठीक-ठीक मिलता है। भागादि पाठ लेखकप्रमाद के कारण प्रचलित हुआ होगा और सूर्यसिद्धान्त में वतलाया हुआ यह संस्कार अनुमानतः दामोदरोक्त ही होगा। दामोदरोक्त रवि-संस्कार का मान वर्ष में +२५ विकला आता है। इससे सौरवर्षमान विपलादि २।२६।६ कम हो जाता है, अर्थात् सूर्यसिद्धान्तोक्त वर्षमान ३६५।१५।३१।३१।२४ हो जाता है। ऊपर के पृष्ठों में वर्णित शक १३३९ के पास के दामोदर ये ही होंगे।

ज्ञानराज ने अपने समय के अयनांश कहीं नहीं लिखे हैं। उनके बारे में केवल इतना ही लिखा है कि मध्याह्नछाया द्वारा लाये हुए रवि और करणागत स्पष्टरवि का अन्तर अयनांश होता है। इन्होंने वार्षिक अयनगति एक कला लिखी है। अयनांश लाने की सूर्यसिद्धान्त की भी रीति दी है। उससे वर्षगति ५४ विकला आती है। चन्द्र-शृङ्गोन्नत्यधिकार में चन्द्रकला की क्षयवृद्धि के विषय में श्रुतिपुराण-मत बताने के बाद इन्होंने लिखा है—

वेदे सुराः सूर्यकराः प्रसिद्धास्त एव यच्छन्ति कलाः
क्रमेण। सितेऽसिते ते क्रमशो हरन्ति... ॥६५॥

अर्थ—वेदों में सूर्यकिरणों को ही देव कहा है। वे ही शुक्ल और कृष्ण पक्ष में (चन्द्रमा को) कलाएँ देतीं और हरती हैं।

अन्य ग्रन्थ

सुन्दरसिद्धान्त में वेधसम्बन्धी कोई नवीनता नहीं है तथापि कहीं-कहीं भास्कर-सिद्धान्त से विशिष्ट उपपत्तियाँ हैं। यन्त्रमालाधिकार में एक नवीन यन्त्र बनाया है। सिद्धान्तसुन्दर अपने नाम सरीखा ही है, ऐसा कह सकते हैं।

सूर्य ने भास्करीय वीज-भाष्य में लिखा है कि ज्ञानराज ने सिद्धान्तसुन्दर के अतिरिक्त जातक, साहित्य और सङ्गीत विषयक एक-एक ग्रन्थ बनाये हैं।

वंशवृत्त

इस वंश के ढुण्ढिराज, गणेश और सूर्य का आगे पृथक् वर्णन किया है। चिन्तामणि ने सुन्दरसिद्धान्त की टीका की है, यह ऊपर लिख ही चुके हैं। काशीनाथ शास्त्री के भेजे हुए वृत्तान्त के आधार पर इस वंश के कुछ और विद्वानों का वर्णन करते हैं।

यह वंश पाथरी से वीड़ कव गया, इसका पता नहीं चलता। वीड़ पाथरी से लगभग ५० मील पश्चिम--नैऋत्य, दौलतावाद से लगभग ६० मील दक्षिण और पैठण से लगभग ५० मील आग्नेय में है। नागनाथ ने नरपतिजयचर्या की टीका की है। पुरुषोत्तम ने 'केशवीप्रकाश' और 'वर्षसंग्रह' नाम के ज्योतिषग्रन्थ बनाये हैं और 'दत्त-कुतूहल' नाम का एक और ग्रन्थ वनाया है। केशवीप्रकाश में उन्होंने लिखा है कि रामचन्द्र होराशास्त्रपारङ्गत थे और विज्ञानेश्वर न्यायव्याकरणज्योतिषशास्त्रज्ञ तथा बाजीराव-नृपतिसम्मान्य थे। ये वाजीराव अन्तिम बाजीराव पेशवा (शक १७१७-३९) हैं। काशीनाथ शास्त्री सम्प्रति विद्यमान हैं। ये न्यायव्याकरणज्योतिषज्ञ हैं। वीड़ में ये सर्वाधिकारी हैं। हैदरावाद संस्थान में इनकी अच्छी प्रतिष्ठा है। हम्पी-विरुपाक्ष के शंकराचार्य ने इन्हें 'सूरिचूड़ामणि' उपाधि दी है। इन्होंने 'न्यायपोत' नामक ग्रन्थ वनाया है। सम्प्रति देवीभागवतचूर्णिका बना रहे हैं। उसके पाँच स्कन्ध समाप्त हो चुके हैं।

सूर्य, जन्मशक १४३०

सिद्धान्तसुन्दरकार ज्ञानराज के ये पुत्र हैं। इन्होंने भास्करीय वीज का भाष्य किया है, उसमें अपने को सूर्यदास और ग्रन्थ को सूर्यप्रकाश कहा है। टीकाकाल इन्होंने अपने वय का ३१वाँ वर्ष शक १४६० लिखा है, अतः इनका जन्म शक १४२९ या १४३० होगा। इस टीका की संख्या २५०० है। कहीं-कहीं इन्होंने अपना नाम सूर्य लिखा है। भास्कराचार्य की लीलावती पर इनकी शक १४६३ की 'गणितामृतकूपिका' नाम की टीका है। इसमें उपपत्ति व्यक्त संख्याओं द्वारा ही लिखी है और लीलावती को काव्य समझ कर उसके किसी-किसी श्लोक के अनेक अर्थ किये हैं। इस टीका की ग्रन्थसंख्या ३५०० है। इन दोनों ग्रन्थों के अन्त में एक श्लोक है, उसमें लिखा है कि सूर्य ने अमुकामुक ८ ग्रन्थ बनाये हैं। ग्रन्थों के नाम ये हैं---लीलावतीटीका, बीजटीका, श्रीपतिपद्धति गणित, वीजगणित, ताजिकग्रन्थ, काव्यद्वय, वोधसुधाकर नामक आध्यात्मिक ग्रन्थ। इसमें चतुर्थ ग्रन्थ बीजगणित सूर्य का स्वतन्त्र ग्रन्थ है। ताजिकग्रन्थ का नाम

ताजिकालंकार है। उसकी एक प्रति डेक्कन कालेज संग्रह में है। उपर्युक्त श्लोक उसमें भी है। उसमें काव्यद्वय के स्थान में काव्याष्टक पाठ है। काशीनाथ शास्त्री ने भी लिखा है कि सूर्य पण्डित ने काव्याष्टक बनाया है। उन्होंने ग्रन्थों के नाम पद्यामृत-तरङ्गिणी, रामकृष्णकाव्य, शंकराभरण, नृसिंहचम्पू, विघ्नमोचन, भगवतीगीत इत्यादि लिखे हैं। रामकृष्णकाव्य प्रसिद्ध है। वह द्व्यर्थी है। उसका एक अर्थ राम पर और दूसरा कृष्ण पर है।

कोलब्रूक ने लिखा है[1] कि "सूर्यदास ने सम्पूर्ण सिद्धान्तशिरोमणि की टीका की है और गणितविषयक 'गणितमालती' नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ बनाया है। 'सिद्धान्त संहितासारसमुच्चय' नामक इनका एक और ग्रन्थ है, उसमें शिरोमणि टीका का उल्लेख है।" इन तीनों ग्रन्थों के नाम उपर्युक्त ८ ग्रन्थों में नहीं है, काशीनाथ शास्त्री के भेजे हुए वृत्तान्त में भी नहीं है और मैंने भी नहीं देखे हैं। आफ्रेचसूची में सूर्यसूरि, सूर्यदास अथवा सूर्यकृत ग्रन्थों के नामों में ये तीन नाम, उपर्युक्त नामों में से अधिकतर और उनके अतिरिक्त ग्रहविनोद, कविकल्पलताटीका, परमार्थप्रपा, नाम की भगवद्गीताटीका, भक्तिशत, वेदान्तशतश्लोकी टीका, शृङ्गारतरङ्गिणी नाम की अमरुकशतक की टीका, ये नाम हैं। सारांश यह कि सूर्य बहुत बड़े विद्वान् थे। गणितामृतकूपिका में इन्होंने अपने को 'गणितार्णवप्रसरणसत्कर्णधार, छन्दोलंकृतिगीतशास्त्रनिपुण वैदग्ध्य-पारङ्गत' कहा है, वह यथार्थ है। अमृतकूपिका में इन्होने लिखा है—'अहं सूर्याभिधानः कविः स्वप्रज्ञापरिणामतः लीलावतीं व्याख्यातुं विहितादरोस्मि।' और भी लिखा है—

निर्मथ्य बीजगणितार्णवमात्मयत्नात् सद्वासनामृतमवाप्तमिदं मया यत्॥
तत् संग्रहाय गणितार्णवकूपिकेयं टीका विरच्यत इहावनिदेवतुष्ट्यै॥

बीजभाष्य के आरम्भ में लिखा है—

यत्पादाम्बुरुहप्रसादकणिकासञ्जातबोधादहं पाटीकुट्टकबीजतन्त्र—
गहनाकूपारपारङ्गमः। छन्दोलंकृतिकाव्यनाटकमह (?) सङ्गीतशा—
स्त्रार्थवित् तं वन्दे निजतातमुत्तमगुणं श्रीज्ञानराजं गुरुम्॥२॥

---

१. Miscellaneous Essays, 2nd Ed. Vol. II, p. 451.

कोलब्रूक ने इनकी लीलावती टीका का काल भूल से शक १४६० लिखा है वस्तुतः वह शक १४६३ की है।

पर अन्त में लिखा है—

तत्सूनुः (ज्ञानराजसूनुः) सूर्यदासः सुजनविधिविदां प्रीतये।
बीजभाष्यं चक्रे सूर्यप्रकाशं स्वमतिपरिचयादादितिः सोपपत्ति ।।३।।

इससे ज्ञात होता है कि इन्होने अपने पिता से ज्ञान प्राप्त किया था, फिर भी मुख्यतः यह सब इनका स्वकीय बुद्धिवैभव है।

अनन्त, शक १४४७

इन्होंने सूर्यसिद्धान्तानुसार अनन्तसुधारस नाम का पञ्चाङ्गगणितग्रन्थ शक १४४७ में बनाया है। उसके आरम्भ में लिखा है—

ढुण्ढिविनायकचरणद्वंद्व मुदमादधन् नत्वा।
सूक्त्यानन्तरसाख्यं तनुते श्रीकान्तजोऽनन्तः ।।

अतः इनके पिता का नाम श्रीकान्त था। मैंने यह ग्रन्थ नहीं देखा है। यह वर्णन सुधाकर की गणकतरङ्गिणी के आधार पर लिखा है। सुधाकर का कथन है कि "यह सारणीग्रन्थ है। मुहूर्तमार्तण्डकार नारायण के पिता अनन्त के पिता का नाम हरि था (आगे गङ्गाधर—शक १५०८ का वर्णन देखिए)। इस अनन्त के पिता का नाम श्रीकान्त भी हरि का ही पर्याय है। दोनों का समय भी लगभग एक ही है, अतः ये मुहूर्त मार्तण्डकार के पिता होंगे।" परन्तु अनन्तकृत सुधारस पर ढुण्ढिराज की 'सुधारसकरण-चषक' नाम की टीका है और ग्रहणोदय नाम का इस ग्रन्थ का एक भाग काशी-राजकीय संस्कृत पाठशाला के पुस्तकालय तथा आफ्रेचसूची में है इससे ज्ञात होता है कि यह करणग्रन्थ है और इसमें पञ्चाङ्गोपयोगी सारणियाँ भी हैं। मुहूर्तमार्तण्डकार नारायण और उनके पुत्र गङ्गाधर के ग्रन्थों में वंशवर्णन दो-तीन स्थानों में है, उनमें सर्वत्र अनन्त के पिता का नाम हरि ही है, श्रीकान्त कहीं नहीं है और अनन्त का अन्य बहुत सा वर्णन होते हुए भी उनके ग्रन्थ का नाम कहीं नहीं है। अतः ये अनन्त मुहूर्तमार्तण्डकार के पिता हैं, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

ढुण्ढिराज

इन्होंने अपने 'जातकाभरण' में और इनके पुत्र गणेश ने 'ताजिकभूषण' में वंशवर्णन किया है, इससे सिद्ध होता है कि ये देवगिरि (दौलताबाद) के पास गोदावरी के उत्तर पार्थपुर (पाथरी) नामक स्थान में रहते थे। इन्होंने अपने पिता का नाम नृसिंह लिखा है। ज्ञानराज के वर्णन में मैंने काशीनाथ शास्त्री के भेजे हुए वंशवृक्षानुसार इन्हें नृसिंह का

पुत्र लिखा है, तदनुसार ये सिद्धान्तसुन्दरकार ज्ञानराज के पितृव्य होते हैं, परन्तु इन्होंने अपने जातकाभरण में ज्ञानराज गुरु की वन्दना की है। इससे शंका होती है कि इनके गुरु ज्ञानराज सिद्धान्तसुन्दरकार से भिन्न होंगे अथवा ढुण्ढिराज इसी वंश के किसी अन्य नृसिह के पुत्र होंगे। आफ्रेचसूची में लिखा है कि ढुण्ढिराज ने अनन्तकृत सुधारस नामक करण की 'सुधारसकरणचषक' नाम्नी टीका की है और ग्रहलाघवोदाहरण, ग्रहफलोपपत्ति, पञ्चाङ्गफल और कुण्डकल्पलता ग्रन्थ बनाये हैं। यदि ये और जातकाभरणकार ढुण्ढिराज एक ही हैं तो इनका काल शक १४४७ से अर्वाचीन होगा। जातकाभरणकार के पुत्र गणेश के ताजिकभूषण ग्रन्थ का उल्लेख विश्वनाथ (शक १५५१) ने किया है[1] अतः जातकाभरण का काल शक १५०० से प्राचीन होगा।[2]

ढुण्ढिराज का जातकाभरण बड़ा प्रसिद्ध ग्रन्थ है। वह छप चुका है। उससे ज्ञात होता है कि ढुण्ढिराज के चाचा ने एक जातक ग्रन्थ बनाया था। इनके चाचा और उनके ग्रन्थ के नाम ज्ञात नहीं हैं। गणेश का ताजिकभूषण भी प्रसिद्ध ग्रन्थ है। आफ्रेचसूची में इस गणेश का गणितमञ्जरी नामक ग्रन्थ भी लिखा है।

नृसिंह

ये ग्रहलाघवकार गणेश दैवज्ञ के भ्राता राम के पुत्र थे। राम गणेश दैवज्ञ के लघु भ्राता होंगे। सुधाकर ने लिखा है कि इन्होंने शक १४८० में महादेवी ग्रहसिद्धि के अनुसार 'मध्यमग्रहसिद्धि' नामक ग्रन्थ बनाया है। उसमें केवल मध्यम ग्रह हैं। स्पष्ट ग्रह महादेव के ग्रन्थ से बनाये हैं। कृष्णशास्त्री गोडबोले की हस्तलिखित मराठी पुस्तक में लिखा है कि "केशव दैवज्ञ के पौत्र, राम के पुत्र नृसिंह ने शक १५१० में ग्रहकौमुदी नामक ग्रन्थ बनाया है और नृसिह का जन्म शक १४७० है।" यह और उपर्युक्त शक १४८०, इन दोनों में एक अशुद्ध होगा। नृसिंह ने शक में से १४८० घटाकर शेष में

---

१. विश्वनाथ ने ताजिकनीलकण्ठी की टीका में लिखा है कि —"जन्मकालनलिनी विलासिना नैव याति तुलनां फलासु चेत्। वर्षकालनलिनीपति. . . . ।।— इस श्लोक का ताजिकभूषणकार का कथन अशुद्ध है, विश्वनाथ का यह कथन ठीक है।

२. काशीनाथ शास्त्री ने लिखा है कि ढुण्ढिराज ने ज्ञानराज से ही अध्ययन किया था। भतीजे से चचा की अवस्था कम होने के अनेक उदाहरण मिलते हैं, अतः इसे असम्भव नहीं कहा जा सकता। इससे अनुमान होता है कि जातकाभरणकार के ग्रन्थ का काल लगभग शक १४३० से १४६० पर्यन्त और ताजिकभूषण का काल शक १४८० होगा।

वर्षगण का गुणा कर ग्रह लाने को कहा है, अतः यह शक अशुद्ध नहीं होगा। सम्भव है शक १४८० के कुछ वर्षों बाद नृसिंह ने यह ग्रन्थ बनाया हो।

अनन्त

'कामधेनु' नामक एक तिथ्यादिपञ्चाङ्गसाधनोपयोगी ग्रन्थ है। अनन्त ने उसकी टीका की है। कामधेनुग्रन्थ गोदातीरस्थ त्र्यम्बक नामक स्थान के निवासी वोपदेवात्मज महादेव ने शक १२७९ में बनाया है। इसमें ब्राह्म और आर्य पक्षानुसार तिथ्यादि-साधनार्थ सारणियाँ बनायी हैं। इन अनन्त के पुत्र नीलकण्ठ और राम के ग्रन्थ क्रमशः शक १५०९ और १५१२ हैं, अतः अनन्तकृत कामधेनुटीका का काल लगभग शक १४८० होगा। जातकपद्धति नामक अनन्त का एक जातकग्रन्थ है।[1] इनके पुत्र राम ने अपने मुहूर्तचिन्तामणि के उपसंहार में अपना कुलवृत्तान्त इस प्रकार लिखा है—

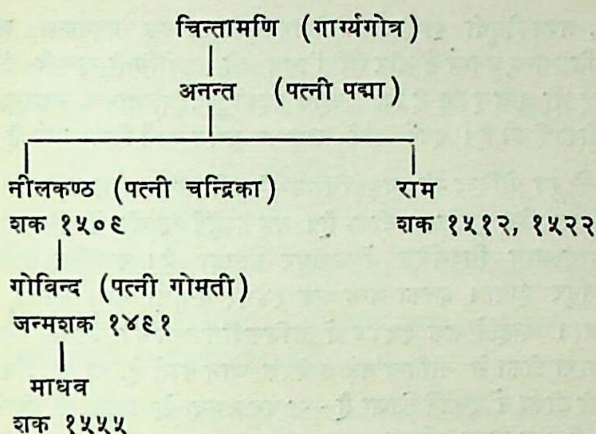
वंशवृत्त

आसीद्धर्मपुरे षडङ्गनिगमाध्येतृद्विजैर्मण्डिते
ज्योतिर्वित्तिलकः फणीन्द्ररचिते भाष्ये कृतातिश्रमः।
तत्तज्जातकसंहितागणितकृन्मान्यो महाभूभुजां
तर्कालंकृतिवेदवाक्यविलसद्बुद्धिः स चिन्तामणिः।।८।।
ज्योतिर्विदगणवन्दितांघ्रि कमलस्तत्सूनुरासीत् कृती
नाम्नानन्त इति प्रथामधिगतो भूमण्डलाहस्करः।
यो रम्यां जनिपद्धतिं समकरोद्दुष्टाशयध्वंसिनीं
टीकां चोत्तमकामधेनुगणितेऽकार्षीत सतां प्रीतये।।९।।
तदात्मज उदारधीर्विबुधनीलकण्ठानुजो
गणेशपदपंकजं हृदि निधाय रामाभिधः।
गिरीशनगरे वरे भुजभुजेषुचन्द्रैर्मिते १४२२
शके विनिरमादिमं खलु मुहूर्तचिन्तामणिम्।।१०।।

इसके और इनके अन्य वंशजों के लिखे हुए कुलवृत्तान्त के आधार पर इनकी वंशावली नीचे लिखी है। इनका गोत्र गार्ग्य था। इनका मूल निवासस्थान गोदा के पास विदर्भ देश में धर्मपुरी नामक गाँव था। अनन्त वहाँ से काशी आये। इनके बाद के पुरुष काशी में ही रहे हैं।

---

१. मैंने अनन्त के ग्रन्थ नहीं देखे हैं। यह वर्णन उनके वंशजों के लिखे हुए वर्णन और सुधाकरकृत गणकतरंगिणी के आधार पर लिखा है।



नीलकण्ठ और रामकृत वर्णनों से ज्ञात होता है कि चिन्तामणि ज्योतिष और अन्य शास्त्रों के बहुत बड़े पण्डित थे। अनन्त का वर्णन कर ही चुके हैं। नीलकण्ठ की माता का नाम पद्मा था। इन्होंने 'टोडरानन्द' नामक ग्रन्थ बनाया था। अन्य ग्रन्थों में आये हुए उसके वर्णनों से अनुमान होता है कि उसमें गणित, मुहूर्त और होरा, तीनों स्कन्ध रहे होंगे। नीलकण्ठ के पौत्र माधव ने भी ऐसा ही लिखा है। पीयूषधाराकार ने लिखा है कि उसके चन्द्रवारविलासप्रकरण में ग्रहास्तोदय का और कालशुद्धिसौख्यप्रकरण में न्यूनाधिमास का विवेचन है। इस ग्रन्थ का कुछ भाग (आनन्दाश्रमग्रन्थाङ्क ५०८८) मैंने देखा है, इसमें मुहूर्तस्कन्ध मात्र है। इसमें प्राचीन ग्रन्थकारों के वचनों का बहुत बड़ा संग्रह है। मैंने जो भाग देखा है उसकी ग्रन्थसंख्या १००० के लगभग होते हुए भी उसमें केवल यात्राप्रकरण है और वह भी अपूर्ण। अतः सम्पूर्ण ग्रन्थ बहुत बड़ा होगा। अकबर के प्रधान टोडरमल के नाम पर ही इस ग्रन्थ का नाम टोडरानन्द रखा गया होगा। पुत्र गोविन्द के लेख से ज्ञात होता है कि नीलकण्ठ मीमांसा और सांख्य शास्त्रों के भी बहुत बड़े ज्ञाता थे और अकबर बादशाह की सभा में पण्डितेन्द्र थे। ताजिक-विषयक नीलकण्ठ का 'समातन्त्र' (वर्षतन्त्र) नामक ग्रन्थ है। इसे नीलकण्ठी भी कहते हैं। यह बड़ा प्रसिद्ध है और अनेक टीकाओं सहित छप भी चुका है। नीलकण्ठ ने इसे शक १५०९ में बनाया है। इस पर विश्वनाथ की शक १५५१ की सोदाहरण टीका है। आफ्रेचसूची में इसकी द्विघटिका, लक्ष्मीपतिकृत और श्रीहर्ष की श्रीफल वर्धिनी ये तीन और टीकाएँ लिखी हैं। अन्य टीकाओं का वर्णन नीचे किया है। गणकतरङ्गिणीकार ने लिखा है कि नीलकण्ठ की एक जातकपद्धति है, उसमें ६० श्लोक हैं और वह मिथिला प्रान्त में प्रसिद्ध है। आफ्रेचसूची में लिखा है कि नीलकण्ठ ने

तिथिरत्नमाला, प्रश्नकौमुदी अथवा ज्योतिषकौमुदी नामक प्रश्नग्रन्थ और दैवज्ञ-वल्लभा ये ज्योतिष ग्रन्थ बनाये हैं और जैमिनिसूत्र की सुबोधिनी नाम्नी टीका की है। उस सूची से यह भी ज्ञात होता है कि इन्होंने ग्रहकौतुक, ग्रहलाघव, मकरन्द और एक मुहूर्तग्रन्थ की टीकाएँ की हैं। इनके भाई राम का वर्णन आगे किया गया है।

नीलकण्ठ के पुत्र गोविन्द की मुहूर्तचिन्तामणि की शक १५२५ की पीयूषधारा नाम्नी बड़ी विस्तृत और सुप्रसिद्ध टीका है। यह इन्होंने काशी में बनायी है। उसमें अपना मूल निवासस्थान विदर्भदेश में मातृपुर बताया है। कदाचित् धर्मपुर का ही दूसरा नाम मातृपुर होगा। इनका जन्म शक १४९१ में हुआ था। इनकी माता का नाम चन्द्रिका था। इन्होंने शक १५४४ में ताजिकनीलकण्ठी की रसाला नाम्नी टीका की है। पीयूषधारा टीका से गोविन्द बड़े अन्वेषक जान पड़ते हैं, परन्तु संक्रान्तिप्रकरण के नवें श्लोक की टीका में इन्होंने लिखा है—सायन गणना से ग्रहण में विसंवाद होता है, शक १५१६ वैशाख शुक्ल पूर्णिमा वाला चन्द्रग्रहण सायन गणना से नहीं आता। इससे ज्ञात होता है कि इन्हें गणित का मार्मिक ज्ञान नहीं था। केवल चन्द्रमा को सायन करके इन्होंने दिखाया है कि ग्रहण नहीं आता, परन्तु इन्हें जानना चाहिए था कि सायन गणना में राहु भी सायन करना पड़ता है।

गोविन्द के पुत्र माधव ने काशी में शक १५५५ में नीलकण्ठी की शिशुबोधिनी समाविवेकविवृति नाम की टीका की है। इसमें उदाहरण भी हैं। इन्होंने अपने पिता पीयूषधाराकार के विषय में लिखा है कि वे जहांगीर बादशाह के मान्य थे। इन वर्णनों से ज्ञात होगा कि इस वंश में बहुत से उत्तम विद्वान् हुए हैं।

रघुनाथ, शक १४८४

इनका सुबोधमञ्जरी नामक एक ब्राह्मपक्षीय करणग्रन्थ डे० का० सं० (नं० २१७ सन् १८८३-४) में है। इसमें आरम्भवर्ष शक १४८४ है। इसमें ग्रहसाधन अहर्गण द्वारा किया है। शून्यायनांशवर्ष शक ४४४ माना है।

रघुनाथ, शक १४८७

सोमभट्टात्मज रघुनाथ का 'मणिप्रदीप' नामक करणग्रन्थ शक १४८७ का है। इन्होंने लिखा है कि भास्करकृत सब ग्रन्थों को देखकर सूर्यमतानुसार संक्षेप में ग्रहसाधन करता हूँ। इस ग्रन्थ में कोई विशेषता नहीं है। मैंने इसे देखा नहीं है। यह वर्णन सुधाकर की गणतरङ्गिणी द्वारा लिखा है।

कृपाराम

आफ्रेचसूची से ज्ञात होता है कि इन्होंने सर्वार्थचिन्तामणि, पञ्चपक्षी और

मुहूर्ततत्व की टीकाएँ की हैं, वास्तुचन्द्रिका नामक ग्रन्थ वनाया है और बीजगणित मकरन्द तथा यन्त्रचिन्तामणि की उदाहरण रूपी टीकाएँ की हैं। केशवकृत मुहूर्ततत्त्व का काल लगभग शक १४२० है अत: इनका समय शक १४२० से अर्वाचीन होगा।

दिनकर

इनके खेटकसिद्धि और चन्द्रार्की नामक दो करणग्रन्थ मैंने डेक्कनकालेजसंग्रह (नं० ३०३, ३०८ सन् १८८२-८३) में देखे हैं। खेटकसिद्धि में इन्होंने लिखा है—

> विना द्युवृन्दाशुमृदुक्रियाद्यैः श्रीब्रह्मसिद्धान्तसमाश्च खेटा ।
> करोम्यहं तां गगनेचराणां सिद्धि . . . ।।२।।

क्षेपक शक १५०० मध्यम मेष के हैं। वे और गतियाँ राजमृगाङ्कबीजसंस्कृत ब्राह्म-तुल्य हैं। ग्रन्थ में केवल ग्रहों का स्पष्टीकरण मात्र है और सब ४६ श्लोक हैं। ग्रन्थ के साथ सारणियाँ भी होनी चाहिए। मेरी देखी हुई पुस्तक में वे नहीं हैं परन्तु उनके बिना गणित नहीं किया जा सकता। ग्रन्थकार ने इसे लघुखेटकसिद्धि कहा है, इससे अनुमान होता है कि इनकी अन्य बृहत्खेटकसिद्धि भी होगी। महादेवी सारणी की टीका में दिनकर के कुछ श्लोक दिये हैं, वे इसमें नहीं हैं। इससे भी अनुमान की पुष्टि होती है। इन्होंने अपने विषय में लिखा है—

> श्रीमद्गोत्रे कौशिके साग्निकोऽभूदुन्दाक्षोयं ज्ञातिमोढप्रसूतः।
> जातो ग्रामे साभ्रमत्याः समीपे वारेजाख्ये विप्रवर्याश्रिते च ।।३१।।
> तत्पुत्रजो दिनकरः सकलानि खेटकर्माणि वीक्ष्य सततं हि सवासनानि।
> चक्रे शके खखतिथि १५०० प्रमिते च संवत्पञ्चाग्निभूपतिमिते १६३५
> लघुखेटकसिद्धिम् ।।३२।।

चन्द्रार्की ग्रन्थ में सब ३३ श्लोक हैं और उसमें केवल सूर्य तथा चन्द्रमा का स्पष्टी-करण है। उसमें भी आरम्भ वर्ष शक १५०० ही है। ग्रन्थ के साथ-साथ चन्द्रसूर्य-स्पष्टीकरणार्थ फलसारणियाँ भी रही होंगी। उनके द्वारा स्पष्ट सूर्य-चन्द्र लाकर तिथ्यादि साधन करना कहा है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय तक गुजरात में गणेश दैवज्ञकृत लघुचिन्तामणि की सारणियाँ प्रचलित नहीं हुई थीं।

दोनों ग्रन्थों में एक बीजसंस्कार दिया है। उसके विषय में लिखा है—'गुर्जरप्रदेश-बीजम्।' आगे वर्णित ग्रहचिन्तामणि और महादेवीसारणी की टीका में भी यह बीज है। इसे कहीं-कहीं रामबीज कहा है।

गङ्गाधर, शक १५०८

अनन्त
|
कृष्ण
|
हरि
|
अनन्त
|
नारायण
|
गङ्गाधर

इन्होंने शक १५०८ में ग्रहलाघव की मनोरमा नाम्नी टीका की। मुहूर्तमार्तण्डकार नारायण के ये पुत्र हैं। दोनों के दिये हुए वंशवृत्त के आधार पर यह वंशवृक्ष बनाया है। मुहूर्तमार्तण्ड ग्रन्थ शक १४९३ का है। उसमें ग्रन्थकार ने अपना कुलवृत्तान्त लिखा है। उससे ज्ञात होता है कि वे कौशिकगोत्रीय वाजसनेयी ब्राह्मण थे, देवगिरि (दौलताबाद) के उत्तर शिवालय (घृणेश्वर) नामक जो प्रसिद्ध स्थान है, उसके उत्तर टापर नामक गांव के ये निवासी थे और इनके पूर्वजों का मूल निवासस्थान सासमणूर था। दौलताबाद के पास ही दो कोस पर वेरुळ नामक गांव है, वहां सम्प्रति घृष्णेश्वर का मन्दिर है। जनार्दन हरि आठले ने शक १७७९ में मराठी टीका सहित मुहूर्तमार्तण्ड छपाया है। उसकी प्रस्तावना में उन्होंने लिखा है कि टापर गांव और उसके आसपास पता लगाने से ज्ञात हुआ कि अब ग्रन्थकार का केवल मातुलवंश रह गया है।

रामभट, शक १५१२

इनका 'रामविनोद' नामक एक करणग्रन्थ है। इसमें आरम्भवर्ष शक १५१२ है और वर्षमान, क्षेपक तथा ग्रहगतियां वर्तमान सूर्यसिद्धान्त की हैं। ग्रहगति में दिये हुए बीजसंस्कार का वर्णन ऊपर के पृष्ठों में कर ही चुके हैं। अकबर के प्रधान श्री महाराज रामदास की आज्ञानुसार अकबर शक ३५ (शालिवाहनशक १५१२) में रामभट ने रामविनोद बनाया है।[1] इसमें ११ अधिकार और २८० श्लोक हैं। इस पर विश्वनाथकृत उदाहरण है। इस ग्रन्थ का अङ्गभूत १७ श्लोकों का तिथ्यादि-साधनोपयोगी सारणीग्रन्थ राम ने बनाया है और उसके अनुसार जयपुर की ओर पञ्चाङ्ग बनाते हैं, ऐसा सुधाकर द्विवेदी ने लिखा है।

इनका 'मुहूर्तचिन्तामणि' बड़ा प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसे इन्होंने शक १५२२ में काशी में बनाया है। इस पर ग्रन्थकार की प्रमिताक्षरा और इनके भ्रातृपुत्र गोविन्द की पीयूषधारा नाम की प्रसिद्ध टीका है। ये दोनों छप चुकी हैं। इनका वंशवृत्त ऊपर पृष्ठ ३७७ में लिख ही चुके हैं।

---

१. प्रोफेसर भण्डारकर का कथन है (सन् १८८३-८४ के पुस्तकसंग्रह की रिपोर्ट का पृष्ठ ८४ देखिए) कि यह ग्रन्थ इन्होंने शक १५३५ में बनाया है, पर यह उनकी भूल है।

श्रीनाथ, शक १५१२

इनका शक १५१२ का 'ग्रहचिन्तामणि' नामक करणग्रन्थ है। उसमें वर्षगण द्वारा-ग्रहसाधन किया है। ग्रन्थ के साथ सारणियाँ भी होनी चाहिए। मेरी देखी हुई पुस्तक (डे० का० सं० नं० ३०४, सन् १८८२-८३) में वे नहीं थीं पर उनके बिना ग्रन्थ निरुपयोगी है। इसमें क्षेपक नहीं हैं और अन्य भी कोई ऐसा साधन नहीं है जिससे पता चले कि यह किस पक्ष का ग्रन्थ है। इसमें दो अध्याय हैं। साधन (होरास्कंध) भी इसी में हैं। श्रीनाथ के पिता का नाम राम[1] और ज्येष्ठ भ्राता का नाम रघुनाथ था।

विष्णु

विदर्भ देश में पाथरी नामक एक प्रसिद्ध ग्राम है। उसका वर्णन ऊपर के पृष्ठों में कर चुके हैं। उससे २।। योजन पश्चिम गोदा नदी के उत्तर तट के पास ही गोला नामक ग्राम है। पहिले वहां एक बड़ा प्रसिद्ध विद्वत्-कुल रहता था। बाद में वह काशी चला गया। उसमें बहुत से ग्रन्थकार हुए हैं। विष्णु भी उसी मे हैं। इन्होंने एक सौरपक्षीय करणग्रन्थ बनाया है। उसमें आरम्भवर्ष शक १५३० है। ग्रहलाघवकार गणेश दैवज्ञ की बृहच्चिन्तामणि पर इनकी सुबोधिनी नामक टीका है। उसमें उपपत्ति है। ज्योतिषशास्त्र का नवीन ग्रन्थ बनानेवालों के लिए ऐसी टीकाएँ बड़ी उपयोगी होती हैं। इनके करणग्रन्थ पर इनके भाई विश्वनाथ का उदाहरण है। मुहूर्तचूड़ामणि में शिव ने विष्णु को जगद्गुरु कहा है। प्रसिद्ध टीकाकार विश्वनाथ और सिद्धान्ततत्त्वविवेककार कमलाकर इसी वंश में हुए हैं। कमलाकर ने अपना कुलवृत्तान्त इस प्रकार लिखा है—

> अथात्र सार्धाम्बरदस्र २०।३० संख्यपलांशकैरस्ति च दक्षिणस्याम्।
> गोदावरीसौम्यविभागसंस्थं दुर्गञ्च यद्देवगिरीति नाम्ना ।।१।।
> प्रसिद्धमस्मान्नृप १६ योजनैः प्राक् याम्यान्तराशास्थितपाथरी च।
> विदर्भदेशान्तरगास्ति रम्या राज्ञां पुरी तद्गतदेशमध्ये ।।२।।
> तस्यास्तु किञ्चित परभाग एव सार्धद्वितुल्यैः २½ किल योजनैश्च।
> गोदा वरीवर्ति सदैव गङ्गा या गौतमप्रार्थनया प्रसिद्धा ।।३।।

---

१. प्रोफेसर भण्डारकर ने लिखा है (१८८२-८३ पुस्तक संग्रह रिपोर्ट का पृष्ठ २८) कि ये राम और मुहूर्त चिन्तामणिकार राम प्रायः एक ही हैं, परन्तु मुहूर्त चिन्तामणिकार राम के उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि उनका यह कथन असम्भव है।

अस्याः सतां सौम्यतटोपकण्ठे ग्रामोऽस्ति गोलाभिधया प्रसिद्धः।
तथैव याम्ये पुरुषोत्तमाख्या पुरी तयोरन्तरगा स्वयं सा ॥४॥
गोदावरीसौम्यतटोपकण्ठगोलाख्यसद्ग्रामसुसिद्धभूमौ।
विप्रो महाराष्ट्र इति प्रसिद्धो रामो भारद्वाजकुलावतंसः ॥७॥
वभूव तज्जोऽखिलमान्यभट्टाचार्योऽतिशास्त्रे निपुणः पवित्रः।
सदा मुदा सेवितभर्गसूनुर्दिवाकरस्तत्तनयो वभूव ॥८॥

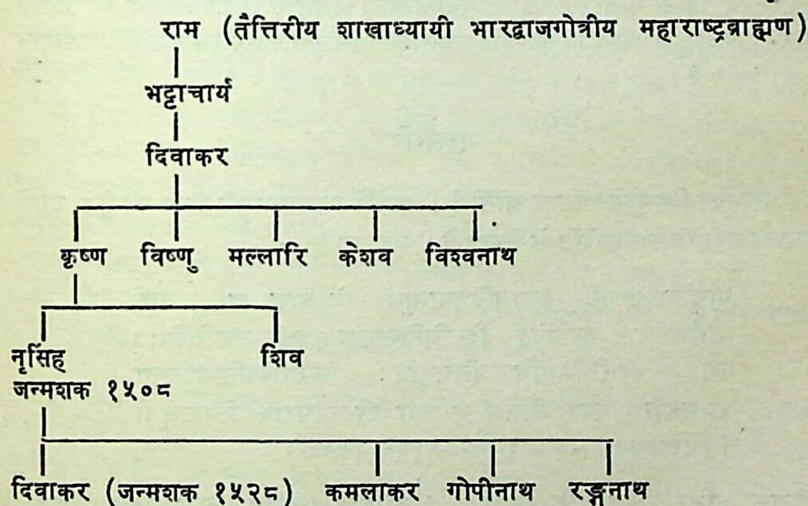
इस वंश के विश्वनाथ, नृसिंह और मल्लारि प्रभृति ग्रन्थकारों के लिखे हुए कुल-वृत्तान्त से ज्ञात होता है कि राम ज्योतिषी थे, भट्टाचार्य उत्तम मीमांसक तथा नैयायिक थे और दिवाकर उत्तम ज्योतिषी थे। वे ग्रहलाघवकार गणेश दैवज्ञ के शिष्य थे। दिवाकर के पाँच पुत्र थे। विश्वनाथ उनमें सबसे छोटे थे। ताजिकनीलकण्ठी की टीका में उन्होंने अपने भाइयों के गुणादिकों का निम्नलिखित बड़ा सुन्दर वर्णन किया है।

दिवाकरो नाम वभूव विद्वान् दिवाकराभो गणितेषु मन्ये।
स्वकल्पितैर्येन निवन्धवृन्दैर्वद्धं जगद्दर्शितविश्वरूपम् ॥२॥
तस्यात्मजाः पञ्च समा वभूवुः पञ्चेन्द्रकल्पा गणितागमेषु।
पञ्चानना वादिगजेन्द्रभेदे पञ्चाग्निकल्पा द्विजकर्मणा च ॥३॥
अजनिष्ट कृष्णनामा ज्येष्ठस्तेषां कनिष्ठानाम्।
विद्यानवद्यवाचां वेत्ता स स्याज्जगत्ख्यातः ॥४॥
तस्माज्जातः कनिष्ठो विवुधवुधगणात् खेष्टतां प्राप जाग्र-
ज्ज्योतिःशास्त्रेण शश्वत्प्रकटितविभवो यस्य शिष्यः प्रशिष्यः।
विष्णुर्ज्योतिर्विदुर्वीपतिविदितगुणो भूमिदर्वीकरेन्द्रो
ग्रन्थव्याख्यानखर्वीकृतविवुधगुरुर्गर्वहा गर्वभाजाम् ॥५॥
आसीदासिन्धुदासीकृतगणकगणग्रामनीगर्वभेत्ता
नेता ग्रन्थान्तराणां मतिगुरुरनुजस्तस्य कस्याप्यतेजाः।
मल्लारिर्वादिवृन्दप्रशमनविधये कोऽपि मल्लारिनामा
व्यक्ताव्यक्तप्रवक्ता जगति विशदयत् सर्वसिद्धान्तवक्ता ॥६॥
तस्यानुजः केशवनामधेयो ज्योतिर्विदानन्दसमुद्रचन्द्रः।
वाणीप्रवीणान् वचनामृतेन संजीवयामास कलाविलासी ॥७॥
तस्यानुजः सम्प्रति विश्वनाथो विष्णुप्रसादाद् गुणमात्र विष्णुः।
सर्वज्ञदैवज्ञविलाससुज्ञात् नृसिंहतः साधितसर्वविद्यः ॥८॥

कमलाकर के ऊपर लिखे हुए श्लोकों के वाद के श्लोक ये हैं—

अस्यार्यवीर्यस्य दिवाकरस्य श्रीकृष्णदैवज्ञ इति प्रसिद्धः ।।९।।
तज्जस्तु सद्गोलविदां वरिष्ठो नृसिंहनामा गणकार्यवन्द्यः ।।१०।।
बभूव येनात्र च सौरभाष्यं शिरोमणेर्वातिकमुत्तमं हि ।
स्वार्थं परार्थञ्च कृतं त्वपूर्वसद्युक्तियुक्तं ग्रहगोलतत्त्वम् ।।११।।
तज्जस्तु तस्यैव कृपालवेन स्वज्येष्ठसद्बन्धुदिवाकराख्यात् ।
सांवत्सरार्याद् गुरुतः प्रलब्धशास्त्रावबोधो गणकार्यतुष्टयै ।।१२।।
दृग्गोलजक्षेत्रनवीनयुक्त्या पूर्वोक्तितः श्रीकमलाकराख्यः ।
समस्तसिद्धान्तसुगोलतत्त्वविवेकसंज्ञं किल सौरतत्त्वम् ।।१३।।
खनागपञ्चेन्दुशकेष्वतीते सिद्धान्तमार्याभिमतं समग्रम् ।
भागीरथीसौम्यतटोपकण्ठवाराणसीस्थो रचयाम्बभूव ।।१४।।

इसके तथा कुछ अन्य वर्णनों के आधार पर इनकी निम्नलिखित वंशावली निश्चित होती है।



दिवाकर के ज्येष्ठ पुत्र कृष्ण के विषय में उनके ज्येष्ठ पुत्र नृसिंह ने सूर्यसिद्धान्त

१. काशी में सुधाकर द्विवेदी के छपाये हुए सिद्धान्ततत्त्वविवेक का पृष्ठ ४०७-८ देखिए।

की टीका में लिखा है कि इन्होंने वीजगणित का सूत्रात्मक ग्रन्थ वनाया है। इनके कनिष्ठ पुत्र शिव ने अपने मुहूर्तचूड़ामणि में और पौत्र दिवाकर ने अपने ग्रन्थ में लिखा है कि ये त्रिकालज्ञ थे, राजसभा में इनकी वड़ी प्रतिष्ठा थी और इन्होंने अन्य शास्त्रों के भी ग्रन्थ बनाये हैं। आफ्रेचसूची से ज्ञात होता है कि दिवाकर के पुत्र और शिव के पितृव्य केशव ने सन् १५६४ (शक १४८६) में ज्योतिषमणिमाला नामक ग्रन्थ बनाया था। नामों से तो ये इसी वंश के केशव ज्ञात होते हैं परन्तु मल्लारि और विश्वनाथ के समयों से —जो कि निश्चित ज्ञात है—इनके इस समय की संगति नहीं लगती। इस वंश के शेष ग्रन्थकारों का वर्णन आगे है। मल्लारि के लेख से ज्ञात होता है कि इस वंश के कुलदेवता मल्लारि थे।

नृसिंह ने शक १५४३ में बनायी हुई सिद्धान्तशिरोमणि की अपनी टीका में लिखा है कि दिवाकर का देहान्त काशी में हुआ। वे गणेश दैवज्ञ के साक्षात् शिष्य थे अतः लगभग शक १५०० तक दक्षिण में ही रहे होंगे। इस वंश के ग्रन्थकारों के शक १५३३ के वाद के ग्रन्थ काशी में वने हैं, इससे ज्ञात होता है कि यह विद्वत्-कुल शक १५०० के वाद २०-२५ वर्ष के भीतर ही काशी गया होगा। इनमें से किसी विद्वान को दिल्ली दरवार का प्रत्यक्ष आश्रय होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता, पर इस वंश के राजमान्य होने का वर्णन है।

मल्लारि

ये उपर्युक्त विष्णु के कनिष्ठ भ्राता हैं। इन्होंने ग्रहलाघव की टीका की है। उसमें टीकाकाल वड़ी विलक्षण रीति से लिखा है। वह यह है—

> वाणोनाच्छकतः कुरामविहृतान्मूलं हि मासः स युक्
> वाणैर्भञ्च दशोनितं दिनमितिस्तस्या दलं स्यात्तिथिः।
> पक्षः स्यात्तिथिसंमितोऽखिलयुतिः सप्ताब्धितिथ्युन्मिता
> बालाख्यो गणको लिलेख च तदा टीकां परार्थं त्विमाम्॥
> (१५२४+७+१+१+२+१२=१५४७)

इसका अभिप्राय यह है कि शके १५२४, आश्विन (सप्तम) मास, शुक्ल (प्रथम) पक्ष, प्रतिपदा (१), सोम (द्वितीय) वार, उत्तराफाल्गुनी (१२वें) नक्षत्र में वाल नामक गणक ने यह टीका लिखी है। इसका रचनाकाल भी यही होगा, क्योंकि यह इनके भाई विश्वनाथ के समय से मिलता है।

इस टीका में मल्लारि ने ग्रहलाघव की उपपत्ति लिखी है। ग्रहलाघव सरीखे ग्रन्थ

की उपपत्ति लिखना सिद्धान्त की उपपत्ति की अपेक्षा कठिन है तथापि मल्लारि ने यह कार्य उत्तम रीति से सम्पन्न किया है।

विश्वनाथ

ये भटोत्पल सरीखे एक टीकाकार हुए हैं। गोलग्रामस्थ दिवाकर के ये पुत्र हैं। इनका कुलवृत्तान्त विष्णु के वर्णन में लिखा है। ताजिकनीलकण्ठी की टीका में इन्होंने टीकाकाल इस प्रकार लिखा है—

चन्द्रबाणशरचन्द्र १५५१ सम्मिते हायने नृपतिशालिवाहने।
मार्गशीर्षसितपञ्चमीतिथौ विश्वनाथविदुषा समापितम् ।।

नीलकण्ठी की इनकी टीका की मैंने अनेक पुस्तकें देखीं, यह श्लोक उन सबों में नहीं है पर कुछ में है। हम लोग ग्रन्थरचना-कालज्ञान के विषय में उदासीन रहते हैं, इसका यह एक उदाहरण है। अधिक लोगों ने उपेक्षाबुद्धि से यह श्लोक नहीं लिखा है। इस शक में सन्देह बिलकुल नहीं है। उसी टीका के अन्य दो-चार स्थलों के उल्लेखों से उसकी सत्यता स्पष्ट हो जाती है। विश्वनाथ ने सूर्यसिद्धान्तादि अनेक ग्रन्थों की उदाहरणरूपी टीकाएँ की हैं। उदाहरण में मुख्यतया शक १५३४ लिया है और कारणवशात् शक १५३०, ३२, ४२, ५५ भी लिये हैं। पातसारणी की टीका में उदाहरणार्थ शक १५५३ और केशवी-जातकपद्धति में १५०८ लिया है। जातकपद्धति से लोग जन्मपत्रिका बनाते हैं अतः १५०८ अनुमानतः विश्वनाथ का जन्मशक होगा और इनके ग्रन्थों का रचनाकाल शक १५३४ से १५५६ पर्यन्त होगा। ग्रहलाघवटीका का इनका एक वाक्य ऊपर दिया है। उसमें इन्होंने गणेश दैवज्ञ को गुरु कहा है। यह कथन केवल औपचारिक है, जैसे कि शक १२३८ की महादेवीसारणी के टीकाकार धनराज ने अपनी शक १५५७ की टीका में महादेव को गुरु कहा है।

कृष्णशास्त्री गोडबोले ने ग्रहलाघव के अन्त में ३ श्लोक दिये हैं। उन्होंने लिखा है कि उनमें ग्रह लाघव बनने के २११ वर्ष बाद विश्वनाथ ने दृक्प्रत्यय के लिए बीजसंस्कार दिया है। इस प्रकार विश्वनाथ का काल शक १६५३ होता है परन्तु ग्रहलाघवटीकाकार विश्वनाथ के वंशवृत्त और ग्रन्थों से यह निर्विवाद सिद्ध हो चुका है कि उनका काल शक की १७ वीं नहीं बल्कि १६ वीं शताब्दी है। ग्रहलाघव की विश्वनाथकृत टीका की मैंने अनेक पुस्तकें देखी हैं। उपर्युक्त श्लोक उनमें से मुझे एक में भी नहीं मिले। इन श्लोकों के कर्ता विश्वनाथ दूसरे होंगे। गोपालात्मज विश्वनाथ दैवज्ञ संगमेश्वरकर ने काशी में शक १६५८ में व्रतराज नामक ग्रन्थ बनाया है। ये श्लोक उन्हीं के होंगे।

ग्रन्थ

विश्वनाथ के उदाहरणरूप टीकाग्रन्थ ये हैं—(१) सूर्यसिद्धान्त पर इनकी गहनार्थप्रकाशिका नाम्नी टीका है। उसमें इन्होंने लिखा है कि मैं सूर्यसिद्धान्त पर उदाहरण लिख रहा हूँ, इसकी उपपत्ति नृसिंह दैवज्ञ ने लिखी है। नृसिंह का सौरभाष्य शक १५३३ का है अतः विश्वनाथ का उदाहरण इसके बाद का होगा। इसकी ग्रन्थसंख्या ५०००है। (२) सिद्धान्तशिरोमणि-टीका, (३) करणकुतूहलटीका, (४) मकरन्दटीका, (५) ग्रहलाघवटीका, (६) गणेशदैवज्ञकृत पातसारणीटीका, (७) अनन्तसुधारसटीका, (८) रामविनोदकरणटीका, (९) अपने भाई विष्णु के करण की टीका, यह शक १५४५ की है। (१०) केशवीजातकपद्धति की टीका, (११) ताजिकनीलकण्ठी की समातन्त्रप्रकाशिका नाम्नी शक १५५१ की टीका। आफ्रेचसूची में इनकी ये अन्य टीकाएँ लिखी हैं—(१२) सोमसिद्धान्तटीका, (१३) तिथिचिन्तामणिटीका, (१४) चन्द्रमानतन्त्रटीका, (?) (१५) वृहज्जातकटीका, (१६) श्रीपतिपद्धति-टीका, (१७) वसिष्ठसंहिताटीका, (१८) वृहत्संहिताटीका।[1]

टीकाओं में विश्वनाथ ने उदाहरण दिये हैं अतः वे अभ्यास करने वालों के लिए बड़े उपयोगी हैं। कृष्णशास्त्री गोडबोले ने मराठी में सोदाहरण ग्रहलाघव छपाया है, वह विश्वनाथी टीका का प्रायः अनुवाद है। विश्वनाथ ने टीकाओं में यद्यपि उपपत्ति नहीं लिखी है पर उनसे ज्ञात होता है कि ये सिद्धान्त के अच्छे ज्ञाता थे। ये सब ग्रन्थ इन्होंने काशी में बनाये हैं।

नृसिंह, जन्मशक १५०८

गोलग्रामस्थ दिवाकर के ज्येष्ठ पुत्र कृष्ण के ये पुत्र थे। इनका जन्म शक १५०८ में हुआ था। इन्होंने अपने पितृव्य विष्णु और मल्लारि से अध्ययन किया था। शक १५३३ में इन्होंने सूर्यसिद्धान्त पर सौरभाष्य नाम की टीका की है, उसमें उपपत्ति है। इसकी ग्रन्थसंख्या ४२०० है। सिद्धान्तशिरोमणि पर इनकी वासनावार्तिक नाम की शक १५४३ की टीका है। उसे वासनाकल्पलता भी कहते हैं। इसकी ग्रन्थसंख्या ५५०० है। इन दोनों टीकाओं से ज्ञात होता है कि इन्हें ज्योतिषसिद्धान्त का अच्छा ज्ञान था। इनके पुत्र दिवाकर के लेख से ज्ञात होता है कि ये अच्छे मीमांसक भी थे।

---

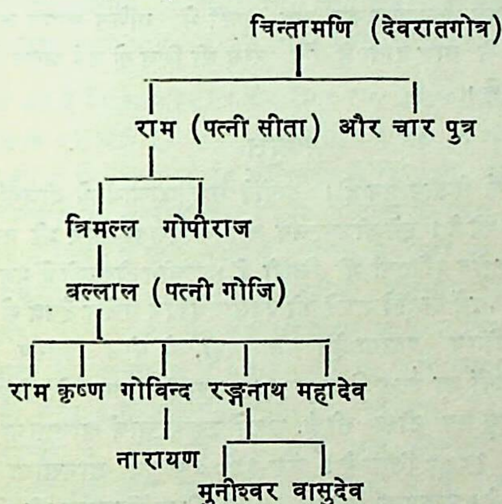
१. इनमें से २, ७, ८, ९ ये चार टीकाएँ मैंने देखी हैं। इनके नाम गणकतरङ्गिणी से लिखे हैं।

शिव

ये ऊपर के पृष्ठ ३८३ में दिये हुए विष्णु के वंशज कृष्ण के पुत्र और नृसिंह के भ्राता हैं। इनका जन्मशक १५१० होगा। सुधाकर ने लिखा है कि इन्होंने अनन्तसुधारस की टीका की है। मुहूर्तचूड़ामणि नामक इनका एक मुहूर्त ग्रन्थ है। इनके शिष्य और भ्रातृपुत्र दिवाकर ने अपनी जातकपद्धति में इन्हें जगद्गुरु कहा है। इनके दूसरे भतीजे रङ्गनाथ ने भी सिद्धान्तचूड़ामणि में इनकी बड़ी बड़ाई की है। सुधाकर ने लिखा है कि एक अन्य शिव ने, जो कि राम दैवज्ञ के पुत्र थे, जन्मचिन्तामणि नामक ग्रन्थ बनाया है।

कृष्ण

इनका कुल बड़ा प्रसिद्ध है। इसमें बहुत से विद्वान् हुए हैं। उनके किये हुए वंशवर्णन के आधार पर यह वंशवृक्ष दिया है—



स्थान

चिन्तामणि यजुर्वेदी ब्राह्मण थे। ये विदर्भ देश में पयोष्णी-तट पर दधिग्राम में रहते थे। इसके विषय में मुनीश्वर ने मरीचि टीका के अन्त में लिखा है—'एलिचपुरसमदेशे तटे पयोष्ण्याः शुभे दधिग्रामे।' गोविन्द के पुत्र नारायण की जातककेशवी की टीका से ज्ञात होता है कि दधिग्राम की पलभा ४॥ अर्थात् अक्षांश २१।१५ है। एलिचपुर के अक्षांश इतने ही हैं अतः इसी अक्षवृत्त पर एलिचपुर के पूर्व या पश्चिम

दहीगांव होना चाहिए। वल्लाल काशी चले गये। इनके बाद के इनके वंशजों के ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि वे काशी में ही रहते थे, तथापि जातककेशवी की नारायणकृत टीका से ज्ञात होता है कि वह दधिग्राम में ही बनी है।

पूर्वजवृत्त

कृष्ण और मुनीश्वर ने लिखा है कि चिन्तामणि के पुत्र राम को इतना अच्छा भविष्यज्ञान था कि विदर्भ देश के राजा उनकी आज्ञानुसार चलते थे। कृष्ण, रङ्गनाथ इत्यादिकों के कालानुसार राम का काल लगभग शक १४४० होगा। सन् १५०० (शक १४२२) के लगभग ब्राह्मणी राज्य के ५ भाग हुए। उनमें से एक राज्य वरार (विदर्भ देश) में हुआ। उसकी राजधानी एलिचपुर थी। राम के निदेशवर्ती विदर्भ-राज एलिचपुर के ही राजा होंगे। वल्लाल रुद्र के बड़े भक्त थे। रङ्गनाथ ने सूर्य-सिद्धान्त की टीका में लिखा है कि वल्लाल के ज्येष्ठ पुत्र राम ने अनन्तसुधाकर की उपपत्ति लिखी है। यह अनन्तसुधाकर गत पृष्ठों में वर्णित अनन्त का सुधारस ही होगा। मरीचिटीका से ज्ञात होता है कि राम भी शिव के बड़े भक्त थे और वे शक १५५७ में विद्यमान थे।

स्ववृत्त

कृष्ण वल्लाल के द्वितीय पुत्र हैं। इन्होंने भास्कराचार्य के वीजगणित की वीज-नवांकुर नाम्नी टीका की है। इसे वीजपल्लव और कल्पलतावतार भी कहते हैं। इसमें इन्होंने कुछ स्वकीय नवीन युक्तियाँ भी लिखी हैं। प्राचीन टीकाओं में यह टीका उत्कृष्ट और विद्वन्मान्य है। इसमें इन्होंने अपने को ग्रहलाघवकार गणेश दैवज्ञ के भतीजे नृसिंह के शिष्य विष्णु का शिष्य बताया है। पता नहीं, ये गोल ग्रामस्थ विष्णु हैं या अन्य कोई। इन दोनों का काल बिलकुल पास-पास है। कृष्ण ने श्रीपतिकृत जातक-पद्धति की उदारहण रूप टीका की है, उसमें उदाहरणार्थ खानखाना नामक प्रधान का जन्मकाल शक १४७८ लिया है। शक १५०० के पूर्व खानखाना के प्रधान होने की सम्भावना नहीं है। रङ्गनाथ ने शक १५२५ की सूर्यसिद्धान्त की टीका में कृष्ण-कृत दोनों टीकाओं का उल्लेख किया है और वहीं यह भी लिखा है कि दिल्ली के बादशाह जहांगीर के दरबार में कृष्ण की बड़ी प्रतिष्ठा थी। जहांगीर शक १५२७ से १५४९ पर्यन्त गद्दी पर थे अतः कृष्ण ने ये दोनों टीकाएँ लगभग शक १५०० और १५३० के मध्य में बनायी होंगी। इनका छादकनिर्णय नामक एक और ग्रन्थ है, उसे सुधाकर द्विवेदी ने छपाया है। मरीचिटीका से ज्ञात होता है कि ये नूरदिन नामक यवन अधिकारी के प्रिय थे और शक १५५७ में विद्यमान नहीं थे।

वंशज

गोविन्द के पुत्र नारायण ने केशवी जातक-पद्धति की टीका की है, उसमें उदाहरणार्थ शक १५०९ लिया है। यह कदाचित् उनका जन्मशक होगा। नारायणीय बीज नामक एक बीजगणित का ग्रन्थ है, उसमें सब सूत्र आर्याबद्ध हैं। सुधाकर द्विवेदी का कथन है कि यह ग्रन्थ इन्हीं नारायण का होगा। मुनीश्वर के गुरु नारायण ये ही होंगे। इस वंश के कुछ पुरुषों का वर्णन आगे किया है।

रङ्गनाथ

इनका वंशवृत्त ऊपर कृष्ण के वर्णन में लिख चुके हैं। सूर्यसिद्धान्त की इन्होंने गूढ़ार्थप्रकाशिका नाम की टीका की है। उसका बहुत-सा विवेचन पहले प्रसंगवशात् हो चुका है। उसमें उसके रचनाकाल के विषय में लिखा है—

शके तत्त्वतिथ्युन्मिते १५२५ चैत्रमासे सिते शंभुतिथ्यां बुधेऽर्कोदयान्मे।
दलाढ्यद्विनाराचनाडीषु ५२।३० जातौ मुनीशार्कसिद्धान्तगूढ़प्रकाशौ ॥

इसका अर्थ यह है कि शक १५२५ चैत्र सित (या असित) पक्ष में शिवतिथि बुधवार को सूर्योदय से ५२ घटी ३० पल पर मुनीश्वर नामक पुत्र और गूढ़ार्थप्रकाशिका टीका, ये दोनों हुए। इस टीका में यह भी लिखा है कि कृष्ण जहाँगीर के मान्य थे। जहाँगीर के राज्यकाल का आरम्भ शक १५२७ से होता है, इसके पहिले वे राजा नहीं थे, अतः इस शक के विषय में सन्देह होता है। परन्तु मुनीश्वर के ग्रन्थ शक १५५७, १५६८, १५७२ के हैं, अतः यह शक असम्भव नहीं है। रङ्गनाथ ने शक १५२५, में टीका आरम्भ की होगी। शक १५२५ गत चैत्र की शुक्ल या कृष्ण किसी भी एकादशी को बुधवार नहीं आता है। शुक्लपक्ष में बुधवार को १० घटी चतुर्दशी थी, अतः शिव का अर्थ चतुर्दशी करने से ठीक संगति लगती है। गत शक १५२४ के चैत्र कृष्ण में बुधवार को दशमी ८ घटी थी और इसके बाद एकादशी थी, अतः वर्तमान शक १५२५, असित पक्ष और एकादशी अर्थ करने से भी ठीक संगति लगती है। सारांश यह कि शक १५२५ में रङ्गनाथ थे। मरीचिटीका से ज्ञात होता है कि वे शक १५५७ में नहीं थे।

रङ्गनाथ ने सूर्यसिद्धान्त की टीका काशी में बनायी है। उसमें सर्वत्र उपपत्ति दी है। उससे ज्ञात होता है कि इन्हें ज्योतिषसिद्धान्त का और विशेषतः भास्करीय सिद्धान्त का अच्छा ज्ञान था और इन्होंने गोलादि यन्त्र स्वयं बनाकर उनके द्वारा शिष्याध्यापन इत्यादि किया था।

ग्रहप्रबोध, शक १५४१

यह करणग्रन्थ है। इसमें आरम्भवर्ष शक १५४१ और सब ३८ श्लोक हैं। इनमें केवल ग्रहस्पष्टीकरण है। अहर्गणसाधनरीति, ११ वर्ष का चक्र इत्यादि इसकी सभी बातें ग्रहलाघव सदृश ही हैं। अन्त में ग्रन्थकार ने लिखा है

आसीत् गार्य (? ग्यं) कुलैकभूषणमणिर्विद्वज्जनानन्दकृत्
शिष्याज्ञानतमोनिवारणरविर्भूमीपतिप्रार्थितः।
ज्योतिःशास्त्रमहाभिमानमहिमास्पष्टीकृतब्रह्मधी-
धैर्योदार्यनिधिस्तुकेश्वर इति ख्यातो महीमण्डले ।।३६।।
तदात्मजस्तच्चरणैकभक्तिस्तद्वत् प्रसिद्धः शिवनामधेयः।
तदङ्गजो दृग्गणितानुसारं ग्रहप्रबोधं व्यतनोच्च नागः ।।३७।।

इससे ज्ञात होता है कि ग्रन्थकार का नाम नागेश, उनके पिता का नाम शिव और पितामह का नाम तुकेश्वर था। तुकेश्वर और शिव का वर्णन पता नहीं कहां तक सत्य है, पर ग्रन्थकार का यह कथन कि मैंने दृग्गणितानुसार ग्रन्थ बनाया है उनके ग्रन्थ को देखने से निरर्थक जान पड़ता है। इन्होंने अपना स्थान नहीं लिखा है, पर चरखण्ड ४½ पलभा के दिये हैं। ग्रन्थ में क्षेपक या चक्रध्रुवक नहीं हैं, परन्तु अनुमानतः वे सारणीयुक्त ग्रन्थ में होंगे। मेरी देखी हुई पुस्तक (डेक्कन कालेज संग्रह, नं० ४२२, सन् १८८१-८२, आनन्दाश्रम नं० २६१९) में सारणियाँ नहीं हैं। नागनाथ के शिष्य यादव ने इस पर शक १५८५ का उदाहरण दिया है।

मुनीश्वर

गूढ़ार्थप्रकाशिकाकार रङ्गनाथ के ये पुत्र हैं। उस टीका का काल (शक १५२५) ही इनका जन्मकाल है। इनके तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। एक भास्कराचार्य की लीलावती की निसृष्टार्थदूती लीलावतीविवृति नाम्नी टीका, दूसरा सिद्धान्तशिरोमणि के गणिताध्याय और गोलाध्याय की मरीचि नाम्नी टीका और तीसरा सिद्धान्तसार्वभौम इनका स्वतन्त्र सिद्धान्तग्रन्थ है। गणकतरङ्गिणीकार ने लिखा है कि इनके अतिरिक्त पाटीसार नामक इनका एक ग्रन्थ है। यह इनका पाटीगणित का स्वतन्त्र ग्रन्थ होगा। मरीचिटीका के अन्त में इन्होंने पूर्वार्धसमाप्तिकाल बड़ी विलक्षण रीति से लिखा है। वह यह है :—

शको भूयुतो नन्दभूहृत् फलस्य निलेकस्य मूलं निरेकं भवेद् भम्।
तदर्धं भवेन्मास इन्दूनितोऽयं तिथिर्द्व्यूनिता पक्षवारौ भवेताम्।।

नक्षत्रवारतिथिपक्षयुतिश्च योगो विश्वैर्युताखिलयुतिः पदमभ्रवेदाः।
अस्या यदात्र परिपूर्तिमितो मरीचिः श्रीवासुदेवगणकाग्रजनिर्मितोऽयम् ।।१३।।

इससे सिद्ध होता है कि शक १५५७ आषाढ़ (४) शुक्ल पक्ष (१) तृतीय (३) रविवार (१) पुष्य नक्षत्र (८) व्याघात योग (१३) में टीका समाप्त हुई। मरीचि का उत्तरार्ध शक १५६० में समाप्त हुआ है।

सुधाकर ने लिखा है कि सिद्धान्तसार्वभौम शक १५६८ में और मुनीश्वरकृत उसकी टीका शक १५७२ में समाप्त हुई है। मरीचिटीका बड़ी विस्तृत है। उसकी ग्रन्थसंख्या २५००० है। उसमें प्राचीन वचनों का बहुत बड़ा संग्रह है। लीलावती-टीका लगभग ७००० है। वह भी विद्वन्मान्य है। सार्वभौम के पूर्वार्ध की टीका ८००० है। मुनीश्वर के ग्रन्थों के अनेक स्थलों से ज्ञात होता है कि वे भास्कर के बड़े अभिमानी थे। सार्वभौमसिद्धान्त में वर्षमान, ग्रहभगण इत्यादि मान सूर्यसिद्धान्त के ही लिये हैं।

मुनीश्वर का दूसरा नाम विश्वरूप था। मरीचिटीका में उन्होंने लिखा है कि कार्तिक स्वामी की कृपा से मुझे ज्ञान प्राप्ति हुई। कृष्ण के शिष्य नारायण को इन्होंने अपना गुरु बताया है। ये दोनों इसी वंश के होंगे। मुनीश्वर के ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि इन्हें बादशाह शाहजहां का आश्रय था। इन्होंने सिद्धान्तसार्वभौम में शाहजहां के राज्याभिषेक का हिजरी सन्, समय और उस समय की लग्नकुण्डली दी है। उससे ज्ञात होता है कि हिजरी सन् १०३७, शक १५४९ माघ शुक्ल १० इन्दुवार, ता० ४ फरवरी सन् १६२८ ई० को सूर्योदय के ३ घटी बाद मुहूर्त में राज्याभिषेक हुआ।

दिवाकर जन्मशक १५२८

ये गोलग्रामस्थ विद्वत्कुलोद्भूत नृसिंह के पुत्र हैं। इनका जन्म शक १५२८ है। इन्होंने अपने काका शिव से अध्ययन किया था। शक १५४७ में १९ वर्ष की अवस्था में इन्होंने 'जातकमार्गपद्म' नामक ग्रन्थ बनाया। उसे पद्मजातक भी कहते हैं। केशवीय जातकपद्धति की इन्होंने शक १५४८ में प्रौढ़मनोरमा नाम की और अपनी जातकपद्धति की शक १५४९ में गणितत्त्वचिन्तामणि नाम्नी सोदाहरण टीका की है। पञ्चाङ्गसाधक ग्रन्थ मकरन्द की इन्होंने मकरन्दविवरण नाम की सोदाहरण टीका की है। इनके ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि ये व्याकरण, न्याय, काव्य और साहित्य में निपुण थे। मकरन्दविवरण मैंने देखा है। शेष

वृत्त गणकतरङ्गिणी के आधार पर लिखा है। इनके भाई कमलाकर इन्हीं के शिष्य थे।

कमलाकरकृत सिद्धान्ततत्त्वविवेक

'सिद्धान्ततत्वविवेक' कमलाकरकृत सिद्धान्तग्रन्थ है। इनका वंशवृत्त ऊपर विष्णु के वर्णन में दिया है। इनका जन्मशक लगभग १५३० होगा। इन्होंने तत्त्वविवेक शक १५८० में काशी में बनाया है। यह पूर्णतया वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के अनुयायी हैं। सूर्यसिद्धान्त का कमलाकर को इतना अधिक अभिमान था कि इन्होंने—जो बातें सूर्यसिद्धान्त में नहीं हैं वे सब झूठी हैं और सूर्यसिद्धान्त की किसी स्थूल रीति की अपेक्षा अन्य ग्रन्थ की रीति यदि सूक्ष्म है तो भी वह झूठी है—इस आशय तक की बातें कह डाली हैं। उदाहरणार्थ—उदयान्तर संस्कार का भास्कर ने आविष्कार किया, वह सूर्यसिद्धान्त में नहीं है, इसलिए अशुद्ध है। व्यासवर्ग में १० का गुणा कर गुणनफल का वर्गमूल होने से परिधि आती है, सूर्यसिद्धान्त की यह रीति शुद्ध है और इससे सूक्ष्म भास्करादिकों की रीतियाँ अशुद्ध हैं—यह सिद्ध करने का इन्होंने प्रयत्न किया है। भगणादि सब मान इन्होंने सूर्यसिद्धान्त के लिये हैं, यह कहना ही नहीं है। सूर्यसिद्धान्त के कुछ श्लोक अक्षरशः लिये हैं। इस सिद्धान्त में मध्यम, स्पष्ट, त्रिप्रश्न, बिम्ब, छाया, शृङ्गोन्नति, उदयास्त, पर्वसम्भव, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, भग्रहयुति, पात, महाप्रश्न ये १३ अधिकार और भिन्न-भिन्न वृत्तों के सब ३०२४ पद्य हैं। बीच में बहुत-सा गद्य भी है। ग्रन्थ के कुछ विषयों की उपपत्ति अन्त में शेषवासना नामक प्रकरण में दी है। इस ग्रन्थ को काशी में सुधाकर द्विवेदी ने बनारससीरीज में छपाया है।

कमलाकर में उपर्युक्त दोष होते हुए भी उनके सिद्धान्त में बहुत-सी ऐसी नवीन बातें आयी हैं, जो कि इनके पहिले के सिद्धान्तों में नहीं हैं। वे ये हैं—इन्होंने लिखा है कि सम्पात में गति होने के कारण ध्रुव नक्षत्र अस्थिर है और सम्प्रति जो ध्रुव तारा दिखाई देता है, वह ठीक ध्रुव स्थान में नहीं है। पूर्व रात्रि और उत्तर रात्रि के उसके स्थान भिन्न-भिन्न होते हैं। इनका कथन है कि यवनमतानुसार पृथ्वी का अधिक पृष्ठ-भाग जल से व्याप्त है और थोड़ा बाहर है। किसी भी याम्योत्तरवृत्त से पूर्वापर अंशात्मक अन्तर को सम्प्रति रेखांश कहते हैं। इन्हें कमलाकर ने तूलांश कहा है और विषुववृत्तवर्ती खालदात्त नामक नगर को मुख्य याम्योत्तरवृत्त में मानकर २० नगरों के अक्षांश और रेखांश दिये हैं। वे ये हैं—

	अक्षांश	तूलांश		अक्षांश	तूलांश
कावुल	३४।४०	१०४।०	अहमदावाद	२३।०	१०८।२०
खम्वायत	२२।२०	१०९।२०	वरारपुर	२१।०	१११।०
उज्जयिनी	२२।१	११२।०	लाहौर	३१।५०	१०९।२०
इन्द्रप्रस्थ	२८।१३	११४।१८	अर्गलापुर	२६।३५	११५।०
सोमनाथ	२२।३५	१०६।०	बीजापुर	१७।२०	११८।०
काशी	२६।५५	११७।२०	गोलकुण्डा	१८।४	११४।१९
लखनऊ	२६।३०	११४।१३	अजमेर	२६।५	१११।५
देवगिरि	२०।३०	१११।०	मुलतान	२९।४०	१०७।३५
कन्नौज	२६।३५	११५।०	माण्डव	२७।०	१२१।०
कश्मीर	३५।०	१०८।०	समरकन्द	३९।४०	९९।०

तुरीययन्त्र से वेध करने की इन्होंने विस्तृत विधि लिखी है। त्रिप्रश्नाधिकार और ग्रहणाधिकार में बहुत से नवीन प्रकार दिये हैं। लिखा है कि सूर्यग्रहण के समय चन्द्रपृष्ठनिवासियों को पृथ्वीग्रहण दिखायी देता है और यवनों ने शुक्रकृत सूर्यविम्व-भेद देखा है। मेघ, ओला, भूकम्प और उल्कापात के कारण बताये हैं, वे पूर्ण सत्य तो नहीं पर विलकुल भोलेपन के भी नहीं हैं। वास्तविक कारण के वे बहुत कुछ सन्निकट हैं। अंकगणित, रेखागणित, क्षेत्रविचार और ज्यासाधन सम्वन्धी वहुत-से नवीन प्रकार इनके ग्रन्थ में हैं। अन्य सिद्धान्तों में ३४३८ त्रिज्या मानकर प्रति पौने चार अंश की भुजज्याएँ दी हैं, पर इसमें ६० त्रिज्या मानकर प्रति अंश की भुजज्याएँ दी हैं। इससे गणित में बड़ी सुविधा होती है। ग्रहभोग द्वारा विषुवांश लाने की इन्होंने सारणी दी है। यह सारणी अथवा इसे बढ़ाने की रीति अन्य सिद्धान्तों में नहीं है, केवल केरोपन्तीय ग्रहसाधन कोष्ठक में है। सारांश यह कि इनके ग्रंथ में बहुत-सी नवीन रीतियाँ हैं। इनमें से कितनी इनकी स्वकीय हैं, यह जानना बड़ा कठिन है। दुःख की वात है कि इनके ग्रंथ में वर्णित नवीन शोधों की बाद में वृद्धि नहीं हुई।

कमलाकर के ज्येष्ठ बन्धु दिवाकर इनके गुरु थे, इत्यादि बातों के द्योतक इनके श्लोक पहिले लिख चुके हैं। सिद्धान्त सार्वभौमकार मुनीश्वर से इनका अत्यन्त विरोध था। दोनों समकालीन थे। पता नहीं, मुनीश्वर से द्वेष होने के कारण ही ये उनके और भास्कर के ग्रन्थों का विरोध करने लगे अथवा इसका अन्य कोई कारण था। ग्रहस्पष्टीकरण के लिए बनायी हुई मुनीश्वर की भङ्गी का कमलाकर के कनिष्ठ बन्धु

रङ्गनाथ ने भङ्गी-विभङ्गी नामक खण्डन किया था और मुनीश्वर ने उसका प्रति-खण्डन किया था (गणकतरङ्गिणी पृष्ठ ९२)।

रङ्गनाथ

ये गोलग्रामस्थ प्रसिद्ध विद्वत्कुल में हुए हैं। इनका जन्मशक लगभग १५२४ होगा। सिद्धान्तशिरोमणि की इनकी मितभाषिणी नाम की टीका है। सुधाकर ने लिखा है कि इनका सिद्धान्तचूड़ामणि नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। उसमें १२ अधिकार और ४०० श्लोक हैं। वह सूर्यसिद्धान्तानुयायी है। रङ्गनाथ ने उसके रचनाकाल के विषय में लिखा है—

> मासानां कृतिरब्धिहृद्युतिरसौ खाब्जैर्विहीना तिथि-
> र्वाणैर्हृद्द्विहतोडुवासरामितिर्वाराङ्गभागात्पदम्।
> पक्षः सर्वयुतिः शको द्विखदिनैर्युक्ताः...... ॥[1]

इससे सिद्ध होता है कि शके १५६५ पौष (१०) शुक्ल (१) पूर्णिमा (१५) आर्द्रानक्षत्र (६) ब्रह्मयोग (२५) शुक्रवार (६) को ग्रन्थ समाप्त हुआ।

नित्यानन्दकृत सिद्धान्तराज, शक १५६१

नित्यानन्द ने विक्रमसंवत् १६९६ (शक १५६१) में 'सर्वसिद्धान्तराज' बनाया है। इनका निवासस्थान कुरुक्षेत्र के समीप इन्द्रपुरी, गोत्र मुद्गल, गौड़कुल और अनुशासन डुलीनहट्ट था। सुधाकर ने लिखा है कि डुलीनहट्ट इनका परम्परागत मूलस्थान था। इनके पिता-पितामह इत्यादिकों के नाम क्रमशः देवदत्त, नारायण, लक्ष्मण और इच्छा हैं।

सिद्धान्तराज में गणिताध्याय और गोलाध्याय मुख्य दो भाग हैं। प्रथम में मीमांसा, मध्यम, स्पष्ट, त्रिप्रश्न, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, शृङ्गोन्नति, भग्रहयुति, छाया ये ९ अधिकार और द्वितीय में भुवनकोश, गोलबन्ध तथा यन्त्राधिकार हैं। अब तक वर्णित सिद्धान्तादि सब ग्रन्थों से इसमें एक विशेषता यह है कि यह ग्रन्थ सायन मान का है। आरम्भ में ही मीमांसाध्याय में इस बात का विस्तृत विवेचन किया है कि सायन

---

१. सुधाकर ने इस श्लोक द्वारा शक १५६२ निकाला है परन्तु दृष्टिदोष के कारण ऐसा हुआ है। उस शक में पौष की पूर्णिमा को तीसरा नक्षत्र होना—जैसा कि उन्होंने लिखा है—असम्भव है, छठा आता है। उससे योग १५६२ नहीं आता।

गणना ही मुख्य और देवर्षिसम्मत है। ग्रहों की प्रदक्षिणासंख्या प्रभृति इस ग्रन्थ के मान ये हैं—

कल्प में अर्थात् ४३२००००००० वर्षों में—

रवि	४३२०००००००	शनि	१४६६८३५९८१
रव्युच्च	१७१९४५	सावनदिन	१५७७८४७७४८१०१
चन्द्र	५७७५०९६६८९६५	सौरमास	५१८४००००००
चन्द्रोच्च	४८८३२७१०३	अधिमास	१५९०९६८९६५
मङ्गल	२२९६९९६८६३९	चान्द्रमास	५३४३०९६८९६५
बुध	१७९३९५३४११४	तिथि	१६०२९२९०६८९५०
गुरु	३६४३५६६९८	क्षयाह	२५०८१३२०८४९

शुक्र ७०२२१८०५३८ कल्पारम्भ से सृष्ट्युत्पत्ति पर्यन्त दिव्य वर्ष ९०४१०

वर्षमान ३६५.२४२५३४२८=३६५।१४।३३।७.४०४४८

आधुनिक सूक्ष्म सायन वर्षमान ३६५।१४।३१।५३.४२

स्पष्ट है कि पीछे वर्णित प्रत्येक सिद्धान्त के अंकों से ये अंक वहुत भिन्न हैं। इसके कल्प-दिन कम हैं, इस कारण वर्षमान भी दूसरों से न्यून है और प्रदक्षिणासंख्याएँ अधिक हैं। शुक्र की प्रदक्षिणासंख्या कम है, परन्तु उसमें कुछ अशुद्धि मालूम होती है। ग्रहों में निम्नलिखित वीजसंस्कार दिया है।

> सृष्ट्यादितो गतसमा खयुगाङ्गनागै ४ (?) ६४० स्तष्टा गतैष्यत
> इहाब्दचयोऽल्पको यः।...... ग्राह्यः स एव विबुधैर्ग्रहवीजसिध्यै।।
> वीजाब्दास्त्र्यगसिन्धुभिः ४७३० क्षितिभुजै २१० रष्टाब्धिभि ४८०
> दोंरसैः ६२० पञ्चाङ्गैः ६५०...४९० रूपाभ्रचन्द्रैः १०१० क्रमात्।।
> भूविश्वैर्दशसंगुणैश्च विहृता लब्धं कलाद्यं वियुक्
> सूर्यादिद्युचरेषु युक्तमथ तच्चन्द्रोच्चपाताख्यया।।
> सूर्योच्चे पञ्च लिप्ताः सदा स्वम्।।

ग्रन्थकार ने आरम्भ में ही लिखा है—

> दृष्ट्वा रोमकसिद्धान्त सौरञ्च ब्रह्मगुप्तकम्।
> पृथक् स्पष्टान् ग्रहान् ज्ञात्वा सिद्धान्तं निर्ममे स्फुटम्।।१४।।

पता नहीं चलता, यह रोमकसिद्धान्त कौन-सा है। मानों की भिन्नता से स्पष्ट है कि यह पञ्चसिद्धान्तिकोक्त अथवा टालमी का रोमक नहीं है। सिद्धान्तसम्राट्

(शक १६५१) में रोमकसिद्धान्त का उल्लेख है। वह सिद्धान्त कौन-सा है और नित्यानन्दकथित रोमक वही है या दूसरा कोई—यह जानने का मेरे पास सम्प्रति साधन नहीं है। मालूम होता है, नित्यानन्द स्वयं वेध करते थे। उनके समय (सन् १६३९ ई०) दिल्ली दरबार में मुसलमान ज्योतिषी रहे होंगे और उनके पास मुसलमानी ज्योतिष के कुछ ग्रन्थ रहे होंगे। सिद्धान्तसम्राट् में इस प्रकार के कुछ ग्रन्थों का उल्लेख है। नित्यानन्द ने ये ग्रन्थ भी देखे होंगे।

इस ग्रन्थ की प्रति मुझे कैलाशवासी रावसाहब विश्वनाथ नारायण मण्डलीक के पास मिली। उन्होंने यह जयपुर के एक विद्वान् की पुस्तक से लिखायी थी। इससे अनुमान होता है कि उस प्रान्त में यह सिद्धान्त प्रसिद्ध होगा। पता नहीं, पञ्चाङ्गादि गणित में इसका प्रत्यक्ष उपयोग कभी होता था या नहीं।

कृष्ण, शक १५७५

काश्यपगोत्रीय महादेवात्मज कृष्णकृत 'करणकौस्तुभ' नामक एक करणग्रन्थ शक १५७५ का है। इसमें यह नहीं लिखा है कि यह ग्रन्थ अमुक सिद्धान्तानुसार बना है, तथापि ग्रहकौतुक और ग्रहलाघव में थोड़ा-सा फेर-फार करके इसमें ग्रहगतियाँ और क्षेपक दिये हैं। ग्रन्थकार ने ग्रहकौतुककार केशव की वन्दना की है और आरम्भ में लिखा है—

प्रकुरु तत्करणं ग्रहसिद्धये सुगमदृग्गणितैक्यविधायि यत्।
इति नृपेन्द्रशिवाभिधनोदितः, प्रकुरुते कृतिकृष्णविधिज्ञराट्॥

इससे ज्ञात होता है कि इन्होंने उपर्युक्त दोनों ग्रन्थ और स्वकृत वेध के आधार पर यह ग्रन्थ बनाया है। इसमें लिखित 'शिव' मराठा राज्य के संस्थापक शिवाजी हैं। शक १५७५ (सन् १६५३ ई०) में कृष्ण ग्रन्थलेखन और वेधादि में प्रवृत्त हो गये थे, इसमें सन्देह नहीं है। उस समय शिवाजी २६ वर्ष के थे और वे राजस्थापन के ही प्रपञ्च में लगे थे। उस स्थिति में भी उन्होंने ग्रन्थकार से दृक्प्रत्ययद ग्रन्थ बनाने को कहा यह बात बड़े महत्व की है। ग्रन्थकार ने लिखा है—'कृष्णः कोङ्कणसत्तटाकनगरे देशस्थवर्यो वसन्।' इससे ज्ञात होता है कि ये सह्याद्रिनिकटस्थ मावल नामक स्थान के निवासी देशस्थ महाराष्ट्र ब्राह्मण थे।

इस करण में मध्यग्रहसाधन वर्षगण द्वारा किया है। शक ४५० में शून्य अयनांश और वार्षिकगति ६० विकला मानी है। ग्रहलाघव में ज्याचाप की सहायता नहीं ली गयी है, पर इसमें ली है। तन्त्ररत्न नामक इनका एक बहुत बड़ा ग्रन्थ है। इन्होंने अपने करण को इसका भाग कहा है। मैंने तन्त्ररत्न नहीं देखा है।

रत्नकण्ठकृत पञ्चाङ्गकौतुक, शक १५८०

सुलभ रीति से पञ्चाङ्ग बनाने का यह एक सारणीग्रन्थ है। इसमें आरम्भशक १५८० है। यह खण्डखाद्यानुसारी है। इसके कर्ता रत्नकण्ठ हैं। इनका जन्मकाल शक १५४६ है। इनके पिता का नाम शंकर था। शिवकण्ठ नामक पुत्र के लिए इन्होंने यह ग्रन्थ बनाया है। ग्रन्थकार ने लिखा है कि इस ग्रन्थ से पूरा पञ्चाङ्ग दो दिन में बनाया जा सकता है। ऊपर हम लिख चुके हैं कि ये काश्मीरवासी होंगे।

इस ग्रन्थ में सूर्यचन्द्रगति और तिथ्यादि भोग्यमानों द्वारा तिथ्यादिकों के घटी-पल लाने के लिए कोष्ठक बनाये हैं। स्पष्ट सूर्य-चन्द्र और उनकी गति लाने के बाद तिथ्यादि बनाने में इस ग्रन्थ का उपयोग होगा अर्थात् इसमें तिथिचिन्तामणि की अपेक्षा अधिक परिश्रम करना पड़ेगा।

विद्दणकृत वार्षिक तन्त्र

यह ग्रन्थ प्रथम मुझे शोलापुर में मिला। इसमें कलियुगारम्भ से गणित का आरम्भ किया है, इसलिए इसे तन्त्र कहा है। कौण्डिन्य गोत्रीय मल्लय के पुत्र विद्दण ने इसे बनाया है। इसमें ग्रन्थकार का काल और स्थान नहीं लिखा है। इसकी एक टीका है, उसमें उदाहरणार्थ शक १६३४ लिया है। टीकाकार ने अपना नाम नहीं लिखा है। टीका से उनका स्थान बंकापुर ज्ञात होता है। बंकापुर की पलभा ३।१८ (अक्षांश लगभग १५।२५) और देशान्तर कार्तिक पर्वत से पश्चिम १३ योजन (लगभग १ अंश) लिखा है, अतः यह धारवाड़ जिले में है। इससे और ग्रन्थकार के नाम से ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ कर्नाटक में प्रचलित था और इसका रचनाकाल शक १६०० से प्राचीन है। बहुत प्राचीन भी हो सकता है। इसमें ग्रहलाघव का एक श्लोक है। पता नहीं, ग्रहलाघवकार ने वह इससे लिया है या इसी में ग्रहलाघव से लिया गया है।

इसमें वर्षमान और ग्रहभगण, सब वर्तमान सूर्यसिद्धान्तानुसार हैं और तदर्थ बीजसंस्कार लिखा है। मकरन्द में बुधसंस्कार ऋण और इसमें धन है। मकरन्द म मङ्गल में संस्कार नहीं दिया है, पर इसमें २$\frac{3}{8}$ भगण धन दिया है। शेष बातें मकरन्द की तरह ही हैं। इस संस्कार से ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ शक १४०० से प्राचीन नहीं होगा। आफ्रेचसूची में विद्दणकृत एक ग्रहणमुकुर नामक ग्रन्थ लिखा है।

जटाधरकृत फत्तेशाहप्रकाश, शक १६२६

यह करणग्रन्थ है। बदरी, केदार और श्रीनगर के चन्द्रवंशीय राजा फत्तेशाह के राज्य का ४८वाँ वर्ष अर्थात् शक १६२६ इस करण का आरम्भ वर्ष है। इसके

रचयिता का नाम जटाधर, गोत्र गर्ग और उनके पिता, पितामह, प्रपितामह, के नाम क्रमशः वनमाली, दुर्गामिश्र और उद्धव हैं। जटाधर सरहिन्द निवासी थे (प्रो० भण्डारकर की पु० सं० रिपोर्ट सन् १८८३–८४ का पृष्ठ ८४ देखिए)।

दादाभट

दादाभट अथवा दादाभाई नामक चितपावन महाराष्ट्र ब्राह्मण ने शक १६४१ में सूर्यसिद्धान्त की किरणावली नाम की टीका की है। इनके पिता का नाम माधव और उपनाम गांवकर था। सूर्यसिद्धान्तविचार में इस टीका का वर्णन कर चुके हैं। आफ्रेचसूची में माधव का सामुद्रिकचिन्तामणि नामक एक ग्रन्थ लिखा है। दादाभट के पुत्र नारायण ने ताजकसुधानिधि के उपसंहार में लिखा है कि माधव पशुपतिनगर में श्रीशपादाब्जसेवी थे, अतः वे कदाचित् काशी में रहे होंगे। माधव के दो पुत्र थे, दादाभट उनमें ज्येष्ठ थे। दादाभट के दो पुत्र थे, नारायण उनमें कनिष्ठ थे। नारायणकृत ग्रन्थ ये हैं—होरासारसुधानिधि, नरजातकव्याख्या, गणकप्रिया नामक प्रश्नग्रन्थ, स्वरसागर नामक शकुनग्रन्थ और ताजकसुधानिधि। इन ग्रन्थों का काल लगभग शक १६६० होगा।

जयसिंह

भारतवर्षीय ज्योतिषशास्त्र के सम्बन्ध में जयसिंह एक अपूर्व पुरुष हुए। जिस समय हमारे देश में केशव और गणेश दैवज्ञ अन्वेषक ज्योतिषी हुए, उसी समय यूरोपखण्ड में कोपर्निकस का जन्म हुआ। उस समय तक दोनों देशों में ज्योतिष शास्त्र की स्थिति प्रायः समान थी, परन्तु यूरोप में बाद में क्रमशः उन्नति होते-होते उसमें बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया। ग्रहगतिस्थिति के सम्बन्ध में तो यहाँ तक कह सकते हैं कि यूरोपीय ज्योतिष अपनी पूर्णावस्था को पहुँच चुका है। यद्यपि यह सत्य है कि ऐसा स्थित्यन्तर होने में दूरबीन की कल्पना और नौकागमन की आवश्यकता, ये दो बातें अधिक सहायक हुईं, तथापि इसका मुख्य कारण यह है कि उस देश में उद्योगी और बुद्धिमान पुरुष बहुत से हुए। मुझे अपने देश में उनकी जोड़ी के पुरुष एक मात्र जयसिंह ही दिखाई देते हैं।

जयसिंह राजपूताने के एक राजा थे। विक्रमसंवत् १७५० (शक १६१५, सन् १६९३ ई०) में ये आमेर में गद्दी पर बैठे। बाद में इन्होंने वर्तमान जयपुर शहर बसाया और उसे अपनी राजधानी बनाया। इनके सिद्धान्तसम्राट् मे इन्हें मत्स्यदेशाधिपति कहा है। भारतीय, मुसलमानी और यूरोपीय ज्योतिषग्रन्थों से दृक्प्रत्यय न होता देख-

कर इन्होंने वेधशालाएँ और नवीन यन्त्र बनवाकर उनके द्वारा वेध करके नवीन ग्रन्थ बनाना चाहा और तदनुसार बनवाया। जयपुर, इन्द्रप्रस्थ[1] (दिल्ली), उज्जैन, काशी और मथुरा में वेधशालाएँ बनवायीं, धातुओं के यन्त्र छोटे होते हैं और वे घिसते हैं, इत्यादि कारणों से वेधोपयोगी पत्थर और चूने के बड़े-बड़े सुदृढ़ यन्त्र बनवाये, जयप्रकाश, यन्त्रसम्राट्, भित्तियन्त्र, वृत्तषष्ठांश इत्यादि कुछ नवीन यन्त्रों की कल्पना की और उत्तम ज्योतिषियों द्वारा सात-आठ वर्ष वेध कराकर अरबी में जिजमहम्मद और संस्कृत में सिद्धान्तसम्राट् नामक ग्रन्थ बनवाया। उस समय दिल्ली का बादशाह महम्मदशाह था। प्रथम ग्रन्थ उसी के नाम पर बना है। इसी का नाम शायद मिजस्ति भी है, इसका रचनाकाल हिजरी सन् ११४१ (शक १६५०) है। सिद्धान्तसम्राट् शक १६५३ (सन् १९३१ ई०) में इन्होंने जगन्नाथ पण्डित द्वारा बनवाया है। मुख्यतः यह मिजस्ति का ही अनुवाद है। इसमें १३ अध्याय, १४१ प्रकरण और १९६ क्षेत्रों का विवेचन है। इसमें शक १६५०, ५१, ५२ में किये हुए वेधों का उल्लेख है और उलूगवेग इत्यादिकों के कुछ प्राचीन वेधों की अपने वेधों से तुलना करके ग्रहगत्यादिक मान लाये गये हैं।

इस प्रान्त में मुझे सम्पूर्ण सिद्धान्त सम्राट नहीं मिला। कोल्हापुर के राज्यज्योतिषियों की अपूर्ण पुस्तक से लिखायी हुई इसकी एक प्रति आनन्दाश्रम में है। उसके आरम्भ के दो अध्यायों में भूमिका रूप में खगोल और भूगोल का समान्य विवेचन है। प्रथमाध्याय में १४ प्रकरण, १६ क्षेत्र और द्वितीयाध्याय में १३ प्रकरण २५ क्षेत्र हैं। इनके अतिरिक्त पुस्तक में यन्त्र, ज्याचापादि रेखागणितसाध्य, त्रिप्रश्न, मध्यम और स्पष्टाध्याय हैं। स्पष्टाध्याय अपूर्ण है। इतने में ६७ क्षेत्र हैं और इन सबों की ग्रन्थसंख्या लगभग ५५०० है, अतः सम्पूर्ण ग्रन्थ लगभग १० सहस्र होगा। उसकी ग्रन्थसंख्या ५० सहस्र होने की दन्तकथा का उल्लेख सुधाकर ने किया है, पर यह असम्भव है। उन्होंने भी सम्पूर्ण ग्रन्थ नहीं देखा है।

जयसिंह की वेधशाला, वेध, ग्रन्थ और उनकी अदृष्टपूर्व बातों का विस्तृत वर्णन करने से एक छोटा-सा ग्रन्थ बन जायगा। यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त है कि उस समय यूरोपवालों की ग्रहगति-स्थिति की अपेक्षा जयसिंह की अधिक सूक्ष्म होती थी। यह बात उनके और हमारे देश के लिए बड़ी भूषणास्पद है। इस ग्रन्थ में वर्षमान सायन लिया है और वार्षिक अयनगति लगभग ५१.४ मानी है। मालूम होता है ग्रन्थ से सायन ग्रह आते हैं। सायन ग्रहों में अयनांश का संस्कार करके अर्थात् निरयन

---

१. इन्द्रप्रस्थ के अक्षांश २८।३९ दिये हैं। ये वर्तमान अक्षांशतुल्य ही हैं।

ग्रह लाना कहा गया है। सूर्यसिद्धान्तानुसार भी भगणादि मान देकर, मालूम होता है तदर्थ बीजसंस्कार दिया है।

अरबी का सम्पूर्ण ग्रन्थ जयसिंह ने ही नहीं बनाया होगा। उनके यहाँ बहुत से विद्वान् रहते थे, उन्हीं से उन्होंने बनवाया होगा। सिद्धान्तसम्राट् में उसी के अधिकांश प्रकरणों का जगन्नाथ पण्डितकृत अनुवाद है। जयसिंह स्वयं भी वेधकुशल, गणितज्ञ और ज्योतिषज्ञ थे। ग्रन्थ में लिखा है कि कुछ विषयों की उपपत्ति नवीन प्रकार से उन्होंने स्वयं की है। वेध करके दृक्तुल्य नवीन ग्रन्थ बनाने की कल्पना प्रथम उन्होंने की। उन्होंने अपने यहाँ उत्तम कारीगर और अरबी, संस्कृत दोनों अथवा एक भाषा जाननेवाले विद्वान् रखे थे। वेध करने के लिए अन्य देशों में भी ज्योतिषी भेजे थे। वेध का कार्य अनेक स्थानों में और अनेक मनुष्यों द्वारा होता है, यह स्पष्ट ही है। जयसिंह निर्मित नवीन यन्त्रों का वर्णन सिद्धान्तसम्राट् में है। उनकी वेधशालाओं और यन्त्रों का वर्णन आगे वेधप्रकरण में किया है।

सिद्धान्तसम्राट् में प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के अतिरिक्त तैमूरलंग के पौत्र उलूगबेग के हिजरी सन् ८४१ (शक १३५९) के ग्रन्थ का उल्लेख है। बूसनस्सर के ग्रन्थ का भी वर्णन है। इसका काल जयसिंह के ग्रन्थ से ६१९ वर्ष पूर्व ज्ञात होता है। ये वर्ष हिज्री सन् के होंगे। रोमकसिद्धान्त तथा बतलमजुप और अबरवस नामक यवनाचार्यों का भी उल्लेख है। युक्लिड की भूमिति की १५ पुस्तकों का रेखागणित नामक संस्कृत ग्रन्थ जयसिंह की आज्ञा से जगन्नाथ पण्डित ने शक १६४१ में बनाया है। वह जयपुर प्रान्त में प्रसिद्ध है। पूना के आनन्दाश्रम में उसकी एक प्रति (ग्रन्थांक ३६९३) है। इसमें युक्लिड का नाम नहीं है। लिखा है कि यह ग्रन्थ ऋषिप्रणीत ग्रन्थों द्वारा बनाया है, परन्तु वह युक्लिड के ग्रन्थ के आधार पर बना है, इसमें सन्देह नहीं है। यह किसी अरबी ग्रन्थ के आधार पर बना होगा। मूल ग्रन्थ में उसके कर्ता के विषय में कुछ नहीं लिखा रहा होगा अथवा उसे अपौरुष बताया होगा, इसी कारण संस्कृत ग्रन्थ में भी ऐसा ही लिखा गया होगा।

सुधाकर ने लिखा है कि जयसिंह ने जगन्नाथ को कुछ गांव दिये थे, वे अभी भी उनके वंशजों के पास हैं। जयसिंह ने नयन सुखोपाध्याय नामक पण्डित से 'कटर' नामक एक और ग्रन्थ बनवाया है। वह युक्लिड के ग्रन्थ सरीखा ही पर उससे भिन्न स्वतन्त्र ग्रन्थ है। उसमें ३ अध्याय और उनमें क्रमशः २२, २३ (या २२), १४ अर्थात् सब ५८ या ५९ क्षेत्र (सिद्धान्त) हैं। प्रथम दो अध्यायों में गोलीय वृत्त सम्बन्धी सिद्धान्त हैं। इसमें लिखा है कि मूल ग्रन्थ यूनानी (ग्रीक) भाषा में सावजू - सयूस ने बनाया था। तदनन्तर अबुलअब्बास अहमद की आज्ञा से उसका अरबी में अनु-

बाद हुआ, नसीर ने उसकी टीका की और उसके बाद अरबी से संस्कृत में बना है।

जयसिंह के आरम्भ किये हुए उद्योग बाद में बन्द हो गये। उनकी वेधशालाओं का उपयोग कोई नहीं करता और अब वे बेमरम्मत भी हो गयी हैं। न तो उनके ग्रन्थ ही प्रचलित हुए और न उनके अनुसार पञ्चाङ्गों का संशोधन ही हुआ। पहिले का ही वर्षमान अब भी चल रहा है। जयसिंह के पहिले जिन ग्रन्थों से पञ्चाङ्ग बनते थे उन्हीं से आज भी प्रायः सर्वत्र बनते हैं। राजपूताने में भी इनके ग्रन्थों का प्रचार होने का प्रमाण नहीं मिलता। यह बात बड़ी शोचनीय और विचारणीय है।

शंङ्करकृत वैष्णवकरण, शक १६८८

शङ्कर वसिष्ठगोत्रीय रैवतकाचल-वासी थे। इनके पिता इत्यादिकों के नाम शुक्र, धनेश्वर, राम और हरिहर थे। शक १६८८ में इन्होंने वैष्णवकरण नामक करणग्रन्थ बनाया है। यद्यपि इन्होंने लिखा है कि मैं विष्णुगुप्त के मतानुसार ग्रन्थ बना रहा हूँ तथापि इनका ग्रन्थ भास्कराचार्य के मतानुसार है। सम्भव है, विष्णुगुप्त के स्थान में इनका उद्देश्य जिष्णुसुत ब्रह्मगुप्त कहने का हो। इसमें लगभग ३०० श्लोक हैं। शून्यायनांशवर्ष शक ४४५ माना है। यद्यपि लिखा है कि इस ग्रन्थ के ग्रह दृक्तुल्य हैं तथापि प्राचीन ग्रन्थों की अपेक्षा इसमें कोई विशेषता नहीं दिखाई देती (गणकतरङ्गिणी, पृष्ठ ११०–११ देखिए)।

मणिरामकृत ग्रहगणितचिन्तामणि, शक १६९६

मणिराम भारद्वाजगोत्रीय यजुर्वेदी ब्राह्मण हैं। इनके पिता इत्यादिकों के नाम लालमणि, देवीदास और लीलाधर थे। काश्यपगोत्रीय वत्सराज नामक पण्डित इनके गुरु थे। इन नामों से ये गुर्जर ज्ञात होते हैं। इनके कुलवृत्त सम्बन्धी श्लोकों से अनुमान होता है कि इनका नाम कदाचित् केवल 'राम' भी रहा होगा।

ग्रहगणितचिन्तामणि में शक १६९६ चैत्र शुक्ल १ रविवार (ता० १३ मार्च सन् १७७४) के प्रातःकाल के क्षेपक दिये हैं। वे ये हैं—

सू०	च	च०उ०	रा०	मं०	बु०शी०	गु०	शु०शी०	श०
११	११	१	५	१०	१	११	४	४
०	४	२९	१	१३	१७	२९	२३	२७
१५	५०	६	३६	४	५	५७	५४	४
१	६	२१	५५	५१	१२	०	५४	१२

ग्रहलाघव से न्यूनाधिक अंशादि (ग्रहलाघवचक्र २३ अहर्गण ३८८)

+	+	+	−	−	+	+	−	−
०	०	१	०	०	१	०	२	०
०	०	३६	१७	६	१४	२०	५६	९
२४	५१	८	२२	३७	३१	३३	३४	१७

अहर्गण न बढ़ने देने के लिए ग्रहलाघव में जो युक्ति की है, वही इसमें भी है, अर्थात् ११ वर्षों का चक्र मानकर तत्सम्बन्धी ग्रहगति को चक्रशुद्ध कर उसका नाम ध्रुव रखा है। इसके ध्रुवांक ग्रहलाघव से सूक्ष्म हैं। ग्रन्थकार सूर्यसिद्धान्तानुयायी हैं तथापि उन्होंने पूर्णतया सूर्यसिद्धान्त के ही ग्रह नहीं लिये हैं। इसी प्रकार इस ग्रन्थ की पद्धति प्रायः ग्रहलाघव सदृश है तो भी इसमें ग्रहलाघवागत ग्रह नहीं लिये गये हैं। इससे और उपसंहार के—विद्वानों की लिखी हुई वेधपद्धति द्वारा वेध करके मैंने यह ग्रन्थ बनाया है, विद्वान् यन्त्रों द्वारा इसका अनुभव करें—इस कथन से ज्ञात होता है कि ग्रन्थकार ने स्वयं वेध करके तदनुसार क्षेपक दिये हैं।

इस ग्रन्थ में मध्यमग्रहों में रेखान्तरसंस्कार दिया है और भुजान्तर तथा चर का संस्कार सब ग्रहों में किया है। अयनांश सूर्यसिद्धान्तानुसार और ग्रहस्पष्टीकरण ग्रहलाघव की भाँति है। केवल मन्दाङ्क और शीघ्राङ्क कुछ भिन्न हैं। इसमें मध्यम रविचन्द्रस्पष्टीकरण, ग्रहस्पष्टीकरण, लग्नादिसाधन, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, परिलेख चन्द्रदर्शन, नलिकाबन्धादि, शृङ्गोन्नति, उदयास्त, पात ये १२ अधिकार और उनमें क्रमशः १९, ११, १४, ७, ५, ३, ७, ३, २६, ४, ६, १५ अर्थात् सब १२० श्लोक हैं। पूना के आनन्दाश्रम में इसकी एक प्रति (ग्रन्थाङ्क ३१०३) है।

ग्रहलाघव के बाद वैसा ग्रन्थ बनाने का प्रयत्न बहुतों ने किया है पर मुझे उनमें इसके ऐसा सुन्दर दूसरा ग्रन्थ नहीं मिला। इस ग्रन्थ के कर्ता की स्वतन्त्र योग्यता ग्रहलाघवकार सरीखी तो नहीं है, पर इन्होंने अपने मत से ग्रह वेधतुल्य दिये हैं और केवल करणग्रन्थ की दृष्टि से देखा जाय तो इसकी योग्यता ग्रहलाघव से कम नहीं है, तथापि ग्रहलाघव का सर्वत्र प्रचार है और इतना समय बीतने पर भी अभी उससे गणित करने में कठिनाई नहीं होती। इसके अतिरिक्त ज्योतिषियों ने थोड़े परिश्रम से उससे गणित करने के लिए अनेक सारणियाँ बनायी हैं। इसी कारण ग्रहलाघव बाद में निर्मित ग्रन्थों के कारण नहीं दबा।

ब्रह्मसिद्धान्तसार, शक १७०३

इस नाम का एक ब्रह्मपक्षीय ग्रन्थ है। इसमें १२ अधिकार हैं और आरम्भवर्ष

शक १७०३ है। प्रथम अधिकार में १२४ श्लोक हैं। उनमें सिद्धान्तशिरोमणि के मध्यमाधिकार का संक्षेप है। इसके बाद मूल ग्रन्थ है। इसमें अहर्गण द्वारा ग्रहसाधन किया है। इसकी पद्धति कुछ ग्रहलाघव सरीखी है। ग्रन्थकार देवीभक्त थे। उनका नाम भुला और उनके पिता का नाम नारायण था। वे गार्ग्यगोत्रीय ब्राह्मण थे। नर्मदासंगम से ३ कोस पूर्व दधीचि नामक इनका निवास स्थान था।

मथुरानाथकृत यन्त्रराजघटना, शक १७०४

ये मालवीय ब्राह्मण थे। काशी संस्कृतपाठशाला[1] के पुस्तकालय में ये सन् १८१३ से १८१८ तक (शक १७३५–४०) थे। ये ज्योतिषसिद्धान्त के अच्छे ज्ञाता थे और फारसी भी जानते थे। यन्त्रराजघटना इन्होंने शक १७०४ में बनायी है। इसकी ग्रन्थसंख्या लगभग १००० है। काशी के सुप्रसिद्ध व्यक्ति राजा शिवप्रसाद के पितामह दयालुचन्द्र (डालचन्द) का इन्हें आश्रय था। इस ग्रन्थ में कुछ तारों के शक १७०४ के वेधागत शरभोग दिये हैं (गणकतरङ्गिणी, पृष्ठ ११४–६)।

यन्त्रराज नामक एक वेधोपयोगी यन्त्र है। तद्विषयक यन्त्रराज नाम का ही एक शक १२९२ का ग्रन्थ है। उसका वर्णन आगे वेध प्रकरण में किया है। मथुरानाथ की यन्त्रराजघटना में उस यन्त्र की रचना, उससे वेध करने की रीति इत्यादि का वर्णन होगा।

इनका ज्योतिषसिद्धान्तसार नामक एक ग्रन्थ शक १७०४ का है। इसमें ८ अध्याय हैं। मालूम होता है, यह ग्रन्थ यूरोपियन ग्रन्थों के आधार पर बना है। इनके पिता सदानन्द का मूल स्थान पटना था। बाद में वे काशी में रहने लगे थे।[2]

---

१. काशी के रेजिडेण्ट जीनाथन डंकन साहब ने सन् १७९१ (शक १७१३) २८ अक्टूबर को काशी संस्कृत पाठशाला की स्थापना की। वह अभी तक (सं० विश्व वि०) है। उसमें प्राचीन शास्त्र और आधुनिक गणितादि शास्त्र संस्कृत में पढ़ाये जाते हैं।

२. निम्नलिखित कुछ गणित ग्रन्थों के नाम बाद में ज्ञात हुए हैं। Notes on the Hindu Astronomy By J. Burgess. 1893 द्वारा)—

(१) यूरोपियन लोगों को हिन्दू ज्योतिष का उल्लेखनीय ज्ञान प्रथम स्याम में मिले हुए एक ज्योतिष ग्रन्थ द्वारा हुआ। इसमें वर्षमान ३६५।१५।३१।३० (अर्थात् मूलसूर्यसिद्धान्त, खण्डखाद्य इत्यादिकों जितना) है और क्षेपक २१ मार्च सन् ६३८ शनिवार अमावस्या के हैं—ऐसा क्यासिनी नामक फ्रेंच ज्योतिषी ने लिखा है। (मूलसूर्यसिद्धान्तानुसार शक ५६० में मध्यम मेषसंक्रान्ति वैशाख शुक्ल २ तदनुसार

चिन्तामणि दीक्षित

इनका जन्मकाल लगभग शक १६५८ और मृत्युकाल शक १७३३ है। पेशवा के समय इन्हें १२५ रुपया दक्षिणा मिलती थी। ये सतारा के निवासी थे। इन्होंने

---

२२ मार्च सन् ६३८ रविवार को १२ घटी ५८ पल पर आती है और उसके पूर्व चैत्र का मध्यम अमान्त शुक्रवार को ४६ घटी ३५ पल पर अर्थात् यूरोपियन मान से २१ मार्च शनिवार को आता है।) मूलक्षेपक गोदावरी जिले के पीठापुर-निकटस्थ नरसिंहपुर के अथवा काशी के होने चाहिए। इस ग्रन्थ में सूर्योच्च ८० अंश, रविपरमफल २।१४ और चन्द्रपरमफल ४।५६ है। इससे ज्ञात होता है कि यह मूलसूर्यसिद्धान्त अथवा उसके आधार पर निर्मित आर्यभट के अनुपलब्ध करणग्रन्थ के अनुसार बना है। (२) डल्लुमुडयन का करण—शक ११६५। (३) वाक्यकरण, कृष्णापुर—शक १४१३। इसमें क्षेपक पूर्व के फाल्गुन की अमावस्या—१० मार्च के हैं। वारन का कथन है कि इसके रचयिता वररुचि हैं। (४) पञ्चाङ्गशिरोमणि, नरसापुर—सन् १५६६ (अथवा १६५६)। इन दो ग्रन्थों में वर्षमान ३६५।१५।३१।१५ अर्थात् प्रथम आर्य सिद्धान्त के अनुसार है पर रविफल २।१०।३४ और चन्द्रफल ५।२। २६ है। (५) ग्रहतरङ्गिणी—शक (?) १६१८। (६) सिद्धान्तमञ्जरी—१६१९।

वारन के कालसंकलित द्वारा—(७) मल्लिकार्जुन का करण—शक ११००, इसमें अब्दप इत्यादि रामेश्वर की रेखा के हैं। मल्लिकार्जुन तैलंग थे अतः यह ग्रन्थ, सूर्यसिद्धान्तानुसार बना होगा। (८) बालादित्य कल्लू का करण ग्रन्थ—शक १३७८, रामेश्वर की रेखा।

केम्ब्रिज स्थित बेंटली के पुस्तकसंग्रह की सूची द्वारा—(९) ब्रह्मसिद्धान्त—इसमें २६ अभ्यास हैं उनमें से ११ गणित के हैं। शेष में मुहूर्त इत्यादिकों का विचार है। आरम्भ का श्लोक है—ओंश्र्यर्कः परमो ब्रह्मा श्र्यर्कः परमः शिवः। (१०) विष्णुसिद्धान्त—इसमें ११ अधिकार हैं। उपर्युक्त ब्रह्मसिद्धान्त का ही श्लोक इसके भी आरम्भ में है। (११) सिद्धान्तलघुखमाणिक—यह ईसवी सन् की १५वीं शताब्दी में बना है। इसके कर्ता का नाम केशव है। इसमें ९ अधिकार हैं और यह सूर्यसिद्धान्तानुयायी है। (१२) सूर्यसिद्धान्तरहस्य—शक १५१३। इसके रचयिता राघव हैं। (१३) सूर्यसिद्धान्तमञ्जरी—शक १५३१। इसे शत्रुजित् राजा के ज्योतिषी मथुरानाथ ने बनाया है। (१४) ग्रहमञ्जरी—इसका रचनाकाल लिखा है पर समझ में नहीं आता।

सूर्यसिद्धान्त की सारणी बनायी है और शक १७१३ में गोलानन्द नामक वेधयन्त्रविषयक ग्रन्थ बनाया है। उसका वर्णन आगे वेधप्रकरण में करेंगे। उस पर यज्ञेश्वर अथवा बाबा जोशी रोड़े की टीका है। चिन्तामणि दीक्षित के वंशज इस समय सतारा में रहते हैं। इनके पौत्र भाऊ दीक्षित चिपलूणकर मुझे शके १८०९ में पूना में मिले थे। उन्होंने कहा था कि मेरे पास पीतल का गोलानन्द यन्त्र है और वेध के लिए दिक्साधन इत्यादि सतारा में किया है। उनकी बतलायी बातों और चिन्तामणि के ग्रन्थ के आधार पर मैंने यह वृत्त लिखा है। गोलानन्द में इनका गोत्र, वत्स, पितृनाम विनायक और पूर्वजों का वसतिस्थान चिपलूण लिखा है।

राघव

ये ताप्ती से दो योजन दक्षिण खानदेशान्तर्गत पारोले नामक स्थान में रहते थे, नगर जिले में गोदातट पर पुण्यस्तम्भ (पुणतांबे) में भी ये रहते थे। इन्होंने कुछ ग्रन्थ यहीं बनाये हैं। इनका उपनाम खांडेकर और पितृनाम आपा पन्त था।

इन्होंने खेटकृति और पञ्चाङ्गार्क नामक गणितग्रन्थ और पद्धतिचन्द्रिका नामक जातकग्रन्थ बनाया है। खेटकृति शक १७३२ की है। यह प्रायः ग्रहलाघवानुयायी ही है। इसमें ग्रहलाघव के आवश्यक विषय लिये गये हैं। गति इत्यादि कुछ मान ग्रहलाघव से स्थूल हैं। मध्यमग्रहादि लाने के लिए भिन्न-भिन्न युक्तियाँ दी हैं, इससे गणित करने में कहीं कहीं ग्रहलाघव से कुछ सरल पड़ जाता है। इसमें तिथिचिन्तामणि के श्लोक और स्वकालीन क्षेपकों द्वारा तिथ्यादिसाधन भी किया है, तथापि इसकी योग्यता ग्रहलाघव से बहुत कम है। राघव का दूसरा ग्रन्थ पञ्चाङ्गार्क इससे अच्छा है। यह शक १७३९ का है। प्राचीन गणकों ने पञ्चाङ्गसाधन किया पर उन्होंने अब्दपादि संज्ञाओं के कारण गुप्त रखे, इसलिए राघव ने पञ्चाङ्गार्क बनाया है। इस पर ग्रन्थकार की ही टीका है। यह पुणातांबे में बना है। केवल इसी ग्रन्थ से निर्वाह नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें पराख्य संस्कार लघुचिन्तामणि का लेने के लिए कहा है और केवल मध्यम ग्रहसाधन किया है। स्पष्टीकरण बिलकुल नहीं है। पता नहीं, मध्यम ग्रह किसको कहा है। वर्षमान ३६५।१५।३१।३१ लिया है और मध्यम ग्रहसाधन वर्षगण द्वारा किया है। इसकी वर्षगतियाँ सूर्यसिद्धान्त की अपेक्षा बहुत स्थूल हैं। वे किसी कारण से बदली हैं, यह बात भी नहीं है। द्वितीय अध्याय में लग्नसाधन और तृतीय-चतुर्थ में नक्षत्र द्वारा चन्द्रसूर्यग्रहणसाधन किया है। चारों अध्यायों में सब १०३ पद्य हैं।

जातकग्रन्थ पद्धतिचन्द्रिका शक १७४० का है। वह पुण्यस्तम्भ में पूर्ण हुआ है।

उस पर शक १७४१ में कृष्णातीरान्तर्गत रेवड़ाग्रामस्थ खिरे इत्युपनामक रामात्मज आप्पा गोस्वामी ने ललिता नाम की टीका की है।

शिवकृत तिथिपारिजात

शिव विश्वामित्रगोत्रीय महादेव के पुत्र थे। इनका निवासस्थान लक्ष्मेश्वर था। इन्होंने शक १७३७ में तिथिपारिजात नामक ग्रन्थ बनाया है। वह ग्रहलाघवानुसारी है। उसमें तिथिसाधनार्थ तिथिचिन्तामणि सरीखी सारणियाँ दी हैं (देखिए गणकतरङ्गिणी)। पता नहीं, इनका निवासस्थान लक्ष्मेश्वर धारवाड़ जिले का ही लक्ष्मेश्वर है या अन्य कोई।

दिनकर

पूना के आनन्दाश्रम में दिनकर-विरचित और पूनानिवासी माधवराव पेंडसे लिखित बहुत से ग्रन्थ हैं। एक ग्रन्थ में उदाहरणार्थ पलभा ४ और देशान्तर योजन २८ पश्चिम लिये हैं। ये पूना के हैं अतः दिनकर पूना के ही निवासी रहे होंगे। दिनकरकृत यन्त्रचिन्तामणि टीका में इनके पिता का नाम अनन्त और गोत्र शाण्डिल्य है।

इन्होंने सब गणितग्रन्थ ग्रहलाघवानुसार सरल रीति से ग्रहगणित करने के लिए बनाये हैं। वे प्रायः सारणी रूप हैं। उनमें उदाहरण भी करके दिखाये हैं, अतः अध्ययन करनेवालों के लिए वे बड़े उपयोगी हैं। ग्रन्थ ये हैं—(१) ग्रहविज्ञानसारणी—इसमें मध्यम और स्पष्टग्रहोपयोगी सारणियाँ हैं। उदाहरणार्थ शक १७३४, ३९ और ४४ लिये हैं। (२) मास प्रवेशसारणी—इसमें ताजिकसम्बन्धी वर्षप्रवेश, मासप्रवेश और दिनप्रवेश लाने के लिए दैनन्दिन स्पष्ट रवि दिया है। उदाहरणार्थ शक १७४४, पलभा ४ और देशान्तरयोजन २८ पश्चिम लिया है। (३) लग्नसारणी, (४) क्रान्तिसारणी, उदाहरणशक १७५३, (५) चन्द्रोदयाङ्कजाल, उदाहरणशक १७५७, (६) दृक्कर्मसारणी, उदाहरणशक १७५८, (७) ग्रहणाङ्कजाल, उदाहरणशक १७५५—१७६१, (८) गणेशकृत पातसारणी (शक १४४४) की टीका, उदाहरणशक १७६१, (९) यन्त्रचिन्तामणिटीका—यह चक्रधरकृत यन्त्रग्रन्थ की टीका है।

दिनकर के ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि ये उत्तम कल्पक गणितज्ञ थे और इन्हें वेध का भी ज्ञान था।

ग्रहलाघव द्वारा प्रत्येक गणित करने के लिए, मुख्यतः मध्यम और स्पष्टग्रहानयनोपयोगी दिनकर सरीखी सारणियाँ बहुत-से ज्योतिषियों के पास मिलती हैं।

ग्रहलाघव के श्लोकों में बतायी हुई रीतियों द्वारा गणित करने में इन सारणियों से पाँच छः गुना समय लगता है। वामन कृष्ण जोशी कन्नड़कर ने शक १८०३ में ऐसी सारणियों का 'बृहत्तञ्चाङ्गसाधनोदाहरण' नामक ग्रन्थ छपाया है। केशवी में भी ऐसी सारणियाँ छपी हैं। ऐसे भी ज्योतिषी बहुत हैं जिन्हें इन युक्तियों की कल्पना तक नहीं है और वे अत्यन्त परिश्रमपूर्वक गणित करते हैं।

यज्ञेश्वर अथवा बाबा जोशी रोडे

इनके पिता का नाम सदाशिव, पितामह का राम और गोत्र शाण्डिल्य था। चिन्तामणि दीक्षित सतारकर के ये दौहित्र थे। महाराष्ट्र में अँगरेजी राज्य होने के बाद पूना में एक संस्कृत पाठशाला स्थापित हुई थी, उसमें ये सन् १८३८ के सितम्बर (शक १७६०) तक अध्यापक थे।[1] कब से थे, इसका पता नहीं है। मालवा प्रान्त में सिहोर में एक संस्कृत पाठशाला थी। वहाँ के मुख्य पण्डित सुबाजी बापू ने 'सिद्धान्तशिरोमणिप्रकाश' नाम का एक छोटा सा ग्रन्थ बनाया है। उसमें ज्योतिषसम्बन्धी, संस्कृतज्योतिषसिद्धान्तमत और कोपर्निकस के मतों की तुलना की है। भारतीय अर्वाचीन इतिहास के कर्ता र० भा० गोडबोले ने लिखा है कि यज्ञेश्वर ने अपने 'ज्योतिषपुराणविरोधमर्दन' नामक ग्रन्थ में इस ग्रन्थ का खंडन किया है। क्यांडीसाहब ने लिखा है कि ये बड़े बुद्धिमान् और विद्वान् परन्तु दुराग्रहवश पुराणमत के अभिमानी थे। परन्तु नीलकण्ठकृत अविरोधप्रकाश नामक एक ग्रन्थ है, उसमें यह दिखलाया है कि ज्योतिष और पुराण के मतों में विरोध नहीं है। सिहोर के पोलिटिकल एजेंट विलकिनसन को भारतीय ज्योतिष का अच्छा ज्ञान था। उन्होंने सन् १८४१ (शक १७६३) में सिद्धान्तशिरोमणि कलकत्ते में छपाया है। उनके आदेशानुसार सुबाजी बापू ने अविरोधप्रकाश—खण्डनात्मक अविरोधप्रकाशविवेक नामक ग्रन्थ शक १७५९ में बनाया और उसे पूना में बाबा जोशी के पास भेजा। उन्होंने उसका मण्डन किया। गणकतरङ्गिणी में इस सम्बन्धी पत्रव्यवहार यथामूल दिया है।[2] यह वर्णन उसी के आधार पर लिखा है।

---

१. पूना संस्कृत पाठशाला (Poona Sanskrit College) की स्थापना सन् १८२१ में दक्षिण के कमिश्नर चापलेल साहब ने की। सन् १८५१ में उसका स्वरूप बिलकुल बदल गया—या यों कहिए कि उस समय उसका सर्वथा लोप हो गया। (बोर्ड आफ एजुकेशन १८४०, ४१, ५१, ५२ की रिपोर्ट देखिए)।

२. काशी में शिवलाल पाठक ने अविरोधप्रकाशखण्डन पर सिद्धान्तमञ्जूषा नामक

यज्ञेश्वरकृत ग्रन्थ ये हैं—यन्त्रराज पर इनकी शक १७६४ की यन्त्रराजवासना नाम की टीका है। चिन्तामणिदीक्षित-कृत गोलानन्द पर अनुभाविका नाम्नी टीका है। लघुचिन्तामणि की यज्ञेश्वरकृत मणिकान्ति नाम्नी टीका इन्हीं की होगी। इन ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि इन्हें ज्योतिषसिद्धान्त का अच्छा ज्ञान था। गोलानन्द की टीका में इन्होंने प्रश्नोत्तरमालिका नामक स्वकृत ग्रन्थ का उल्लेख किया है।

नृसिंह अथवा बापूदेव शास्त्री, जन्मशक १७४३

अंगरेजी राज्य होने के बाद हमारे देश में भारतीय और यूरोपीय दोनों गणितों और ज्योतिषशास्त्र में जिन विद्वानों ने नैपुण्य प्राप्त किया, बापूदेव शास्त्री भी उन्हीं में हैं। ये ऋग्वेदी चितपावन ब्राह्मण थे। इनका मूल-निवासस्थान अहमदनगर जिले में गोदातट पर टोके नाम का था। इनका जन्म शक १७४३ कार्तिक शुक्ल ६ तदनुसार सन् १८२१ की पहिली नवम्बर को हुआ था। इनके पिता का नाम सीताराम और माता का सत्यभामा था। इनका अध्ययन प्रथम नागपुर में मराठी पाठशाला में हुआ, वहीं इन्होंने ढुण्ढिराज नामक कान्यकुब्ज विद्वान् से भास्करीय लीलावती और बीज-गणित पढ़े। शक १७६० में सिहोर के एजेंट एल० विलकिनसन साहब इन्हें गणित में निपुण देखकर सिहोर की संस्कृतपाठशाला में पढ़ने के लिए ले गये। वहाँ इन्होंने सेवाराम से रेखागणित इत्यादि पढ़े। इसके बाद शक १७६३ (सन् १८४१) में विलकि-नसन द्वारा काशीसंस्कृतपाठशाला में रेखागणित पढ़ाने के लिए इनकी नियुक्ति हुई। तब से अन्त तक वहीं रहे। इसी पाठशाला में ये शक १७८१ में मुख्य गणिताध्यापक हुए। शक १८११ में इन्हें पेंशन मिली और शक १८१२ में वैशाख में ६९ वर्ष की अवस्था में परलोकवासी हुए।

इन्होंने बहुत से शिष्य तैयार किए। सन् १८६४ में ये ग्रेटब्रिटेन और आयरलैण्ड की रायल एशियाटिक सोसायटी के और सन् १८६८ में बंगाल की एशियाटिक सोसायटी के आदरकृत (Honorar) सभासद हुए। सन् १८६९ में कलकत्ता-विश्वविद्यालय के पारिषद (Fellow) हुए। इलाहाबाद-विश्वविद्यालय के भी ये पारिषद थे। अंगरेजी सरकार की ओर से इन्हें सन् १८७८ में सी० आई० ई० और सन् १८८७ में महा-रानी विक्टोरिया के शतार्धोत्सव के समय महामहोपाध्याय पदवी मिली थी। जम्बू के

और शिवलाल के लघु भ्राता के शिष्य बालकृष्ण ने दुष्टमुखचपेटिका, नामक ग्रन्थ बनाया था। ये दोनों ग्रन्थ शक १७५९ के पहिले के हैं।

राजा ने एक बार इन्हें ठीक ठीक चन्द्रग्रहण लाने के पुरस्कार में एक सहस्र रुपया दिया था।

इनके बनाये हुए ग्रन्थ ये हैं—रेखागणित प्रथमाध्याय, त्रिकोणमिति का कुछ भाग, सायनवाद, प्राचीन ज्योतिषाचार्याशयवर्णन, अष्टादशविचित्रप्रश्नसंग्रह सोत्तर, तत्वविवेकपरीक्षा, मानमन्दिरस्थ यन्त्रवर्णन, अङ्कगणित। इनमें से कुछ छोटे हैं और कुछ बड़े। ये संस्कृत में हैं और सब छप चुके हैं। इनके संस्कृत के अमुद्रित छोटे-बड़े ग्रन्थ ये हैं—चलनकलनसिद्धान्तबोधक २० श्लोक, चापीयत्रिकोणमितिसम्बन्धी कुछ सूत्र, सिद्धान्तग्रन्थोपयोगी टिप्पणियाँ, यन्त्रराजोपयोगी छेद्यक, लघुशंकुच्छिन्नक्षेत्रगुण। हिन्दी में इन्होंने अङ्कगणित, बीजगणित और फलितविचार ग्रन्थ बनाये हैं। ये छप चुके हैं। सिद्धान्तशिरोमणि के विलकिनसनकृत इंगलिश अनुवाद का इन्होंने संशोधन किया है और सूर्यसिद्धान्त का इंगलिश में अनुवाद किया है। ये दोनों आर्च डीकन प्राट की देखरेख में सन् १८६१-६२ में छपे हैं। इन्होंने भास्करीय सिद्धान्तशिरोमणि के गणिताध्याय और गोलाध्याय का संशोधन करके टिप्पणियों सहित उन्हें शक १७८८ और इसी प्रकार लीलावती को सन् १८०५ में छपाया है।[1]

शक १७९७ से १८१२ पर्यन्त ये नाटिकल आल्मनाक द्वारा पञ्चाङ्ग बनाकर छपाते थे। उसका वर्णन आगे पञ्चाङ्गविचार में किया है। इन्होंने कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं बनाया है जिससे वह पञ्चाङ्ग बनाया जाय।

नीलाम्बर शर्मा, जन्मशक १७४५

गङ्गागण्डकी के सङ्गम से दो कोस पर पाटलिपुत्र (पटना) नगर इनका निवास स्थान था। ये मैथिल ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम शम्भुनाथ था। ज्येष्ठबन्धु जीवनाथ से और कुछ दिनों तक काशीसंस्कृतपाठशाला में इन्होंने अध्ययन किया था। अलवर के राजा शिव के ये प्रधान ज्योतिषी थे। काशी में शक १८०५ में इनका देहान्त हुआ। पाश्चात्य पद्धति के अनुसार इन्होंने संस्कृत में गोलप्रकाश नामक ग्रन्थ बनाया है। शक १७९३ में इसे काशी में बापूदेव शास्त्री ने छपाया है। इसमें पाँच अध्याय हैं। उनमें ज्योत्पत्ति, त्रिकोणमितिसिद्धान्त, चापीयरेखागणितसिद्धान्त, चापीयत्रिकोणमितिसिद्धान्त और प्रश्न विषय हैं। इंगलिश न जाननेवालों के लिए यह ग्रन्थ बड़ा उपयोगी है। भास्करीय ग्रन्थों के कुछ भागों की इन्होंने टीकाएँ की हैं। इनके ज्येष्ठ बन्धु जीवनाथ ने भास्करीय बीज की टीका की है और भावप्रकाशादि फलग्रन्थ बनाये हैं।

---

१. यह वृत्तान्त मुख्यतः गणकतरङ्गिणी द्वारा लिखा है।

विनायक अथवा केरो लक्ष्मण छत्रे, जन्मशक १७४६

भारत में अंग्रेजों का राज्य होने के बाद महाराष्ट्र के जिन लोगों ने पाश्चात्य विद्या में नैपुण्य प्राप्त किया उनमें केरोपन्त नाना का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। ये मुख्यतः गणित, ज्योतिष और सृष्टिशास्त्रों में प्रवीण थे। इनका जन्म बम्बई से १३ कोस दक्षिण अष्टागर प्रान्त के समुद्रतटवर्ती नागांव नामक गांव में सन् १८२४ की मई में हुआ था। ये काश्यपगोत्रीय ऋग्वेदी चितपावन ब्राह्मण थे। इन्होंने अंगरेजी भाषा और तदन्तर्गत शास्त्रों का अध्ययन बम्बई के एल्फिन्स्टन इन्स्टिटयूशन नामक विद्यालय में किया था। प्रोफेसर आर्लिबार साहब के ये प्रिय शिष्य थे। सन् १८४० में अन्तरिक्ष चमत्कार और लोहचुम्बक का अनुभव करने के लिए बम्बई में कुलाबा समुद्रतट पर एक वेधशाला बनी। उसके संस्थापक आर्लिबार साहब थे। उन्होंने केरोपन्त को वहाँ असिस्टेंट पद पर नियुक्त किया था। सन् १८५१ के जून की सातवीं तारीख को पूना-संस्कृतपाठशाला के स्थान में पूना कालेज बना। उसके कुछ मास बाद वहाँ के मराठी और नार्मलस्कूल-विभाग में सृष्टिशास्त्र और गणित पढ़ाने के लिए असिस्टेंट प्रोफेसर पद पर इनकी नियुक्ति हुई। उस कालेज में ये उन विषयों को मराठी और इंगलिश में पढ़ाते थे। कुछ दिनों बाद उस कालेज का नार्मल स्कूल विभाग अलग कर दिया गया। उसमें ये कुछ दिनों तक अध्यापक रहे और बाद में उसके सुपरिन्टेन्डेन्ट हो गये। उस समय वह विद्यालय वर्नाक्यूलर कालेज भी कहा जाता था। आजकल उसे ट्रेनिंग कालेज कहते हैं। केरोपन्त उन दिनों इंजीनियरिंग कालेज में भी सृष्टिशास्त्र पर व्याख्यान दिया करते थे। बीच में कुछ दिनों तक अहमदनगर के अंगरेजी स्कूल में हेडमास्टर थे। सन् १८६५ में पूना कालेज में गणित और सृष्टिशास्त्र के अध्यापक हुए। वहाँ इन विषयों को ये इंगलिश में पढ़ाते थे। उसी कालेज का नाम बाद में डेक्कन कालेज पड़ा। सन् १८७९ में इन्होंने पेंशन ले ली। उस समय इनका मासिक वेतन एक सहस्र रुपया था। भारतीयों को मिलने वाली बहुत बड़ी पेंशन ५ सहस्र रुपया वार्षिक इन्हें मिली। सन् १८७७ में दिल्ली-दरबार के समय अंगरेजी सरकार की ओर से इन्हें रावबहादुर की पदवी मिली। सन् १८८४ के १९ मार्च को ६० वर्ष की अवस्था में इनका देहान्त हुआ। इनका लोकप्रिय नाम नाना था। इनके अनेक सद्गुणों में से सतत विद्याव्यासङ्ग और स्वभावसौजन्य विशेष प्रशंसनीय हैं।

शक १७७२ के लगभग इन्होंने फ्रेंच और इंगलिश ज्योतिषग्रन्थों के आधार पर मराठी में 'ग्रहसाधनकोष्ठक' नामक ग्रन्थ बनाया है और उसे शक १७८२ (सन् १८६०

ई०) में छपाया।[1] इसके पहिले मराठी या संस्कृत में ऐसा ग्रन्थ नहीं था इसलिए इसकी उपयोगिता बहुत बड़ी है।

इस ग्रन्थ में वर्षमान सूर्यसिद्धान्तीय और ग्रहगतिस्थिति सायन ली गयी है, इसलिए इससे सायन ग्रह आते हैं। रेवती योगतारा जीटापीशियम माना है। वह शक ४९६ में मेषसम्पात में था इसलिए ४९६ में शून्य अयनांश माना है और अयनगति प्रतिवर्ष ५०.२ विकला मानकर तदनुसार अयनांश लाकर उसका सायन ग्रहों में संस्कार करके निरयन ग्रह लाने को कहा है। ऐसा करने से निरयन वर्षमान शुद्ध अर्थात् ३६५।१५। २३ मानने सरीखा हो जाता है। यह वर्षमान और ५०.२ विकला अयनगति मान कर नाना ने शक १७८७ से नाटिकल आल्मनाक द्वारा अपना स्वतन्त्र पञ्चाङ्ग बनाना आरम्भ किया। कैलाशवासी आवा साहब पटवर्द्धन इनके बहुत बड़े सहायक थे। उपर्युक्त ग्रन्थ भी उन्हीं की प्रेरणा से बना था। नाना ने अपने पञ्चाङ्ग का नाम पटवर्धनी ही रखा। ग्रहसाधनकोष्ठक द्वारा ग्रहस्थिति बहुत शुद्ध आती है परन्तु उसका और पटवर्धनी पञ्चाङ्ग का प्रचार नहीं है। उस पञ्चाङ्ग को प्रायः कोई नहीं मानता। उसका विस्तृत वर्णन आगे करेंगे।

तिथिसाधन के लिए नाना ने चिन्तामणि सरीखा एक ग्रन्थ बनाया है, वह काशी में छपा है। यहाँ उसे छपानेवाला कोई नहीं मिला। इधर लोग प्रायः उसे जानते भी नहीं हैं और न तो वह कहीं मिलता ही है। ग्रहसाधनकोष्ठक भी अब नहीं मिलता। उसमें वर्षशुद्ध निरयन नहीं है और ग्रहसायन हैं इसलिए उससे ग्रहलाघवीय निरयन, शुद्ध निरयन या सायन कोई भी पञ्चाङ्ग नहीं बनाया जा सकता। इसके अतिरिक्त उससे पञ्चाङ्ग बनाने में लाग्रथम और त्रिकोणमिति की आवश्यकता पड़ती है। प्राचीन ज्योतिषियों के लिए वह बिलकुल निरुपयोगी है। उससे गणित करने वाले दस पाँच नवीन शिक्षित भी शायद ही मिलेंगे। नाना ने मराठी पाठशालोपयोगी पदार्थ-विज्ञान शास्त्र और अंकगणित नाम की दो पुस्तकें लिखी हैं। महाराष्ट्र में उनके प्रत्यक्ष और परम्परागत शिष्य सहस्रों हैं।

विसाजी रघुनाथ लेले, जन्मशक १७४९

हमारे देश में ये एक अत्यन्त बुद्धिमान् तथा कल्पक पुरुष हो गये हैं। इनका जन्म शक १७४९ में ग्रहलाघवीय मान से श्रावण कृष्ण १० शुक्रवार को मकर लग्न में नासिक

---

१. R. S. Vince ने सन् १८०८ में एक ग्रन्थ बनाया था। कृष्णशास्त्री गोडबोले का कथन है कि यह ग्रन्थ उसी के आधार पर बना है।

में हुआ था। ये काश्यपगोत्रीय हिरण्यकेशीय शाखा के महाराष्ट्र चितपावन ब्राह्मण थे। लड़कपन में ११ वर्ष की अवस्था तक इन्होंने नासिक के एक मराठी स्कूल में पूर्णांक-अपूर्णांक इत्यादि सीखा और अपने मामा के यहाँ थोड़ा सा संस्कृत का अभ्यास किया। गुरु-मुख से इन्होंने बस इतना ही अध्ययन किया था, परन्तु अपनी तीक्ष्ण बुद्धि और सतत् प्रयत्न द्वारा अपनी योग्यता इतनी बढ़ा ली थी कि गणित सम्बन्धी उन प्रश्नों को जो कि विश्वविद्यालय के पदवी-प्राप्त लोगों के लिए भी असाध्य थे—सुलझा दिया करते थे। नासिक में कुछ दिन फुटकर नौकरियाँ करने के बाद ये शक १७८२ के लगभग ग्वालियर गये। बाद में सिंधिया सरकार के राज्य में पैमाइश और हिसाबी खाते में नौकर हो गये थे। ये नागरी और मोड़ी लिपियों के अक्षर बड़े सुन्दर लिखते थे और नकशा बड़ा अच्छा बनाते थे। इनके हिसाब में तो अशुद्धि कभी होती ही नहीं थी। ३३ वर्ष नौकरी करने के बाद शक १८१६ के लगभग पेंशनर हुए और शक १८१७ कार्तिक कृष्ण ६ शुक्रवार को ६९ वर्ष की अवस्था में ग्वालियर में स्वर्गवासी हुए।[1]

सायन पञ्चाङ्ग

बहुत से लोग ऐसा सोचते हैं कि पञ्चाङ्ग सायन होना चाहिए। लेले के पहिले बहुतों का ऐसा विचार रहा होगा और था। इनके मन में भी यह बात स्वभावतः ही आयी। इनका यह निश्चिय हो गया था कि सायन पञ्चाङ्ग धर्मशास्त्रानुकल है। कुछ दिन तक ये ग्रहलाघव की सहायता से साधारण सायन पञ्चाङ्ग बनाते थे। बाद में नाटिकल आल्मनाक द्वारा बनाने लगे, परन्तु कई वर्ष तक उसे प्रकाशित करने का सुयोग प्राप्त नहीं हुआ। नाटिकल आल्मनाक के समझने योग्य साधारण इंगलिश का ज्ञान इन्होंने स्वयं सम्पादित किया था। शक १७८७ से केरोपन्त ने शुद्ध निरयन पञ्चाङ्ग बनाना आरम्भ किया। वे सायन मान स्वीकार करें—इस उद्देश्य से लेले ने "स्फुटवक्ता अभियोगी" नाम से समाचार-पत्रों द्वारा कई वर्ष तक विवाद किया, परन्तु उन लेखों पर तथा पञ्चाङ्ग की धर्मशास्त्रानुकूलता की ओर उनका ध्यान आकृष्ट न होते देख उनसे वादविवाद करना छोड़कर शक १८०६ से कुछ लोगों के साथ ये अपना स्वतन्त्र सायन पञ्चाङ्ग बनाने लगे। आगे पञ्चाङ्ग प्रकरण में उसका वर्णन किया है।

---

१. इनसे मेरा प्रत्यक्ष और पत्र द्वारा परिचय था। यह चरित्र प्रायः उसी के आधार पर लिखा है। सन् १८८८ के अक्टूबर की बालबोध मासिक पत्रिका में इनका जीवन-चरित्र प्रकाशित हुआ है।

इन्होंने कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं बनाया जिससे सायन पञ्चाङ्ग बनाया जा सके अतः उसका प्रचार होना पराधीन है।

चिन्तामणि रघुनाथ आचार्य, जन्मशक १७५०

इनका जन्म सौरमान से शक १७४९ सर्वजित् संवत्सर में पंगुणी मास के छठें दिन अर्थात् चान्द्रसौर मान से शक १७५० चैत्र शुक्ल २ तदनुसार १७ मार्च सन् १८२८ को हुआ था। इनकी जन्मभाषा और देश तमिल (द्रविड़) प्रतीत होता है। महाराष्ट्र में केरोपन्त और काशी की ओर बापूदेव शास्त्री की भाँति मद्रास प्रान्त में इनकी विशेष प्रसिद्धि थी। ये मद्रास की ज्योतिष-वेधशाला में १७ वर्ष तक फर्स्ट असिस्टेंट पद पर थे। इन्होंने स्वयं लिखा है कि मुझे संस्कृत भाषा नहीं आती, पर यूरोपियन गणित और ज्योतिष का उत्तम ज्ञान होने के कारण इन्हें भारतीय ज्योतिष का ज्ञान सहज ही हो गया और ये वेध में तो बड़े प्रसिद्ध थे। सन् १८७२ से ये विलायत की रायल ऐस्ट्रानामिकल सोसायटी के फेलो थे। सन् १८४७ में मद्रास की वेधशाला में नियुक्त हुए और अन्त तक वहीं रहे। शक १८०१ पौष तदनुसार ५ फरवरी को ५२ वर्ष की अवस्था में इनका देहावसान हुआ। ज्योतिष इनका वंशपरम्परागत विषय था। इनके पिता भी मद्रास की वेधशाला में असिस्टेंट थे। मद्रास वेधशाला के तारास्थितिपत्रक (कैटलाग) के बहुत से वेध इन्होंने किये हैं। सन् १८६७ और १८६८ में इन्होंने दो रूपविकारी तारों की खोज की। ऐसे आविष्कार करने वाले हिन्दुओं की सूची में आपका नाम प्रथम है।

इन्होंने 'ज्योतिष-चिन्तामणि' नामक ग्रन्थ बनाया है। मालूम होता है यह द्राविड़ी (तमिल) भाषा में है। इसमें तीन भाग हैं। प्रथम में मध्यमगति तथा पृथ्वी प्रभृति ग्रहों के आकार और विस्तार इत्यादि का वर्णन है और द्वितीय में स्फुट गति-स्थिति इत्यादि हैं। इस ग्रन्थ का संस्कृत में अनुवाद करके उसे तमिल, तैलगु और देवनागरी लिपियों में छापने के विषय में विचार करने के लिए सन् १८७४ में मद्रास में एक सभा हुई थी। उसमें अनुमान किया गया था कि इसकी ५०० प्रतियाँ छपाने में लगभग ७००० रुपये लगेंगे और ग्रन्थ में अठपेजी सांचे के लगभग ८०० पृष्ठ होंगे, परन्तु ग्रन्थ छपा नहीं।[1]

---

१. सन् १८७४ में शुक्रग्रस्त सूर्यग्रहण हुआ था। रघुनाथाचार्य ने उसका गणित करके उसे अनेक भाषाओं में प्रकाशित कराया था। उनके अंगरेजी ग्रन्थ में इस उद्योग का वर्णन है। मैंने उनका यह जीवन-चरित्र मुख्यतः उस ग्रन्थ के आधार पर तथा मद्रास

शक १७९१ से ये नाटिकल आल्मनाक के आधार पर दृग्गणित-पञ्चाङ्ग नामक पञ्चाङ्ग बनाते थे। इनके बाद इनके दो पुत्रों द्वारा बनाया हुआ शक १८०८ का पञ्चाङ्ग मैंने देखा है। उसमें अयनांश २२।५ और वर्षमान सूर्यसिद्धान्त का ज्ञात होता है। इनके ज्येष्ठ पुत्र सी० राघवाचार्य शक १८११ में स्वर्गवासी हुए। आजकल इनके कनिष्ठ पुत्र तथा मद्रास वेधशाला के वर्तमान फर्स्ट असिस्टेंट पी० राघवाचार्य वह पञ्चाङ्ग बनाते हैं।

कृष्णशास्त्री गोडबोले, जन्मशक १७५३

ये कौशिक गोत्रीय हिरण्यकेशीय शाखाध्यायी महाराष्ट्र चितपावन ब्राह्मण थे। इनका जन्म शक १७५३ में श्रावण कृष्ण १० तदनुसार १ सितम्बर को वाई में हुआ था। विद्याभ्यास पहिले पूना के एक मराठी स्कूल में और उसके बाद संस्कृत पाठशाला तथा पूना कालेज में हुआ। गणित की रुचि इन्हें बाल्यावस्था से ही थी। शंकर जोशी से इन्होंने ज्योतिषशास्त्र का अध्ययन किया। १९ अक्टूबर सन् १८५५ को पूनाकालेज के नार्मल स्कूल में ये अध्यापक पद पर नियुक्त हुए, वहाँ मुख्यतः गणित पढ़ाते थे। १८६४-६५ में कुछ दिन बम्बई में कुलाबा वेधशाला में, १८६५ में फिर पूना के ट्रेनिंग कालेज में, १८६६ में सिंध के हैदराबाद हाईस्कूल में और १८६७ में कराची हाईस्कूल में नियुक्त हुए। १८७२ में कुछ दिन पूना हाईस्कूल में और बाद में कुछ दिन बम्बई के एल्फिन्स्टन हाईस्कूल में असिस्टेंट मास्टर थे। उसके बाद उसी साल से १८८२ के मार्च तक बम्बई में फणसवाड़ी ऐंग्लो -मराठी स्कूल के हेडमास्टर थे। इसके बाद पेंशन लेकर पूना में अपने घर ही रहने लगे थे। १८८६ की २२ नवम्बर को इनका देहान्त हुआ। सिन्ध प्रान्त में रहते समय इन्होंने सिन्धी भाषा का अच्छा अध्ययन किया था, साथ ही साथ कुछ फारसी भी सीखी थी। १८७१ से १८७९ तक बम्बई की विश्वविद्यालयपरीक्षा में ये सिन्धी भाषा के परीक्षक थे।

शक १७७८ में इन्होंने और वामन कृष्ण जोशी गद्रे ने मिलकर ग्रहलाघव का सोदाहरण मराठी अनुवाद किया। इसकी दो आवृत्तियाँ छप चुकी हैं। अधिकतर यह विश्वनाथी टीका का अनुवाद है। इन्होंने मराठी में ग्रहलाघव की उपपत्ति भी लिखी है। मालूम होता है, उसमें मल्लारि की टीका के दोष सुधारे हैं। यह छपाने योग्य है। शक १८०७ के लगभग लिखा हुआ इनका ज्योतिषशास्त्र के इतिहास का एक छोटा सा

के श्री एस० एम० नटेश शास्त्री द्वारा भेजी हुई सामाचारपत्र इत्यादि में छपी बातों के आधार पर लिखा है।

लेख मैंने देखा है। सन् १८६२ में चेम्बर्स की अंगरेजी पुस्तक के आधार पर इन्होंने मराठी में 'ज्योतिशशास्त्र' नामक एक पुस्तक लिखकर छपवायी है। आजकल वह प्रचलित नहीं है। हडन के बीजगणित के प्राचीन मराठी अनुवाद का संशोधन करके इन्होंने उसे सन् १८५४ में छपाया। वह बहुत दिनों तक स्कूल में चलता रहा। सन् १८७४ में इन्होंने और गोविन्द विट्ठल करकरे ने मिलकर युक्लिड के रेखागणित की प्रथम चार पुस्तकों का मराठी में अनुवाद किया। इसके पहिले मराठी स्कूलों में युक्लिड की पुस्तकों का नाना शास्त्री आपटेकृत अनुवाद पढ़ाया जाता था। बाद में सन् १८८५ से कैलाशसवासी रा० मो० देवकुले की पुस्तक पढ़ायी जाने लगी। इन्होंने सन् १८८२ में अंगरेजी में 'वेदों का प्राचीनत्व' शीर्षक एक निबन्ध थियासोफिस्ट मासिक पत्रिका में दिया था, वह अलग छपा है। मैं समझता हूँ, उसमें कोई ऐसा प्रबल हेतु नहीं दिखाया गया है जिससे वेदकाल शकपूर्व १२०० वर्ष से प्राचीन निर्विवाद सिद्ध किया जा सके। गीता के 'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्' वाक्य द्वारा मार्गशीर्ष में वसन्त मानकर उसमें यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि वेद शकपूर्व ३० सहस्र वर्ष से प्राचीन हैं। इन्होंने सन् १८६८ में सिंधी भाषा विषयक एक पुस्तक लिखी और सन् १८६९ में सिन्धी भाषा में अंकगणित की एक पुस्तक बनायी। सन् १८६७ में मराठी का एक उत्तम तथा लोकप्रिय व्याकरण बनाया। सन् १८९५ में उसकी तृतीय आवृत्ति छपी है।[१]

एक बार इनका यह मत प्रकाशित हुआ था कि पञ्चाङ्ग मध्यम सूर्य-चन्द्र द्वारा बनाना चाहिए।

पूर्वोक्त वामन कृष्ण गद्रे ने शक १७९१ में पञ्चाङ्गसाधनसार नामक ग्रन्थ छपाया है। उसमें लघु चिन्तामणि का सोदाहरण मराठी अनुवाद है। सारणियों में अशुद्धियां बहुत हैं।

---

१. वह शास्त्रीजी के सुपुत्र अनन्त कृष्ण ने छपवायी है। उसमें उन्होंने कृष्ण शास्त्री का जीवन-चरित्र लिखा है। उसके आधार पर तथा स्वयं प्राप्त की हुई जानकारियों द्वारा मैंने इनका यह जीवनचरित्र लिखा है।

विद्यमान ज्योतिषगणित ग्रन्थकार

वेंकटेश बापूजी केतकर

इनका जन्मकाल शक १७७५ पौष शुक्ल १४ शुक्रवार है। ये गार्ग्य गोत्रीय ऋग्वेदी महाराष्ट्र चितपावन ब्राह्मण हैं। इस प्रान्त के शिक्षा-विभाग में ये सन् १८७४ से शिक्षक हैं। इधर कुछ वर्षों से बागलकोट के अंगरेजी स्कूल में हेडमास्टर हैं। इनका अध्ययन प्रायः बेलगांव में हुआ। इनके पिता भी अच्छे ज्योतिषी थे। केरोपन्तीय ग्रहसाधन कोष्ठक का उन्होंने संस्कृत में अनुवाद किया है। वह अभी छपा नहीं है। इनके पूर्वजों की पाँच छः पीढ़ियाँ पैठण में रही थीं। बापू शास्त्री वहाँ से नरगुन्द और बाद में रामदुर्ग गये। वहाँ के संस्थानिकों का उन्हें आश्रय था।

इन्होंने 'ज्योतिर्गणित' नामक एक बड़ा उपयोगी संस्कृत ग्रन्थ शक १८१२ के लगभग बनाया है। उसमें आरम्भवर्ष शक १८०० है। नाटिकल आल्मनाक जिस फ्रेंच ग्रन्थ द्वारा बनता है उसी के आधार पर यह बनाया गया है। इससे लाये हुए ग्रह अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं। उनमें और नाटिकल आल्मनाक द्वारा लाये हुए ग्रहों में एक कला से अधिक अन्तर नहीं पड़ता। हमारे देश में आज तक ऐसा ग्रन्थ नहीं बना था। इसमें वर्षमान शुद्ध नाक्षत्र अर्थात् ३६५।१५।२२।५३ और अयनगति वास्तव अर्थात लगभग ५०.२ विकला मानी गयी है। जीटापिशियम को रेवती का योग तारा मानकर उसका भोग अयनांश माना गया है, अर्थात् शक १८०० में १८° ।१०'।२५" अयनांश माने गये हैं। ग्रहलाघवोक्त अयनांश के पास के अयनांश ग्रहण करने की सूचना मैंने इन्हें दी थी। रेवती के जिस तारा का भोग ग्रहलाघवीय अयनांश तुल्य है, उसे भगणारम्भ-स्थान माना जा सकता था। अथवा चित्रा-तारा का भोग १८० अंश मानने से भी ग्रहलाघव के पास के अयनांश आ सकते थे और यह बात केतकर के ध्यान में आ चुकी है। सारांश यह कि शक १८०० में यदि २२ के लगभग अयनांश माने होते, तो मैं समझता हूँ इनका ग्रन्थ सहज प्रचलित हो गया होता।[1] इसमें मुख्य चार भाग हैं। प्रथम में पञ्चाङ्ग गणित

---

१. इन्होंने ऐसा ही किया है। बाद में इनका मत बदल गया था और ये चित्रा पक्ष के समर्थक तथा जीटा-पक्ष के कट्टर विरोधी हो गये थे। इस विषय में समाचारपत्रों द्वारा महाराष्ट्र के अन्य विद्वानों से इनका बहुत दिनों तक शास्त्रार्थ होता रहा, पर अन्त तक कोई निर्णय नहीं हो सका और न तो निकट भविष्य में होने की कोई आशा है। इन्होंने ज्योतिर्गणित की द्वितीय आवृत्ति में कुछ सुधार करने का आदेश किया था, उनमें एक यह भी था। इनके उद्देश्य के अनुसार ज्योतिर्गणित की द्वितीय संशोधित आवृत्ति में

है। क्षेपक सर्वत्र स्पष्ट मेषसंक्रान्ति-कालीन हैं। द्वितीय में ग्रहस्थानगणित है। उसमें ग्रहों के मध्यम और स्पष्ट भोग, विषुवांश, नक्षत्र-ताराओं के भोगादि तथा खस्थों के उदय-अस्त इत्यादि विषय हैं। तृतीय में ग्रहण, युति, शृङ्गोन्नति इत्यादि चमत्कारों का गणित है। चतुर्थ में त्रिप्रश्नाधिकार के लग्नमान इत्यादि विषय हैं। ग्रन्थ में प्रायः सर्वत्र रीति, उदाहरण, कोष्ठक और उपपत्ति—यह क्रम है। प्रायः सभी गणितों के लिए कोष्ठक बना दिये जाने के कारण त्रिकोणमिति, लाग्रथम इत्यादि न जाननेवाला गणक भी इससे गणित कर सकता है। इससे केरोपन्तीय पञ्चाङ्ग भी बनाया-जा सकता है। यह ग्रन्थ अभी छपा नहीं है।

बाल गङ्गाधर तिलक

इनका जन्मकाल शक १७७८ आषाढ़ कृष्ण ६ बुधवार, कर्कलग्न है। इनकी इस देश में ही नहीं परदेश में भी बड़ी प्रसिद्धि है। ये फर्ग्युसन कालेज में बहुत दिनों तक गणित, ज्योतिष इत्यादि विषयों के अध्यापक थे।

इन्होंने सन् १८९३ (शक १९१५) में इंगलिश में Orion नामक ग्रन्थ बनाया है। उसमें ऋग्वेद के सूक्तों और अन्य श्रुत्यादि प्रमाणों के आधार पर इस बात का सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन किया है कि जिस समय Orion (मृग) नक्षत्रपुञ्ज में वसन्त-सम्पात था अर्थात् शकपूर्व ४००० वर्ष के लगभग ऋग्वेद के कुछ सूक्तों की रचना हुई।

श्री दत्तराज ने चित्रा के ठीक सामने १८० अंश पर भगणारम्भ मानकर शके १८०० में २२।६ अयनांश को शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा गणितशुद्ध, शास्त्रशुद्ध तथा परम्पराशुद्ध सिद्ध किया है—

"तस्मात् खखाष्टभू १८०० शाके द्वाविंशत्ययनांशकाः।
कलाभिर्नवभिर्युक्ताः सिद्धास्ते स्वीकृता मया।।"

फिर भी यह विषय अभी वाद-ग्रस्त ही है। बहुत-से विद्वान् इसे शास्त्रीय वचनों के आधार पर अशास्त्रीय और अशुद्ध सिद्ध करते हुए जीटापिशियम की ही रेवती-योगतारा मानने की सलाह देते हैं। इस विषय में ज्योतिर्गणित की भूमिका में वेंकटेश और दत्तात्रय केतकर के लेख, श्री रघुनाथ शास्त्री पटवर्धन द्वारा सम्पादित साप्ताहिक पत्र भविष्य-चिन्तामणि के सन् १९३५ के अगस्त, सितम्बर, अक्टूबर और नवम्बर के सब अङ्क तथा मराठी केतकर-चरित्र इत्यादि के लेख पठनीय हैं। दोनों पक्षों की ओर से संप्रयुक्त शास्त्रार्थ की भाषा इतने बड़े-बड़े विद्वानों को शोभा नहीं देती।
(—अनुवादक)

विनायक पाण्डुरङ्ग खानापुरकर

इनका जन्मकाल शक १७८० है। ये जामदग्न्यगोत्रीय ऋग्वेदी महाराष्ट्र देशस्थ ब्राह्मण हैं। इनका स्थान सतारा जिले में खानापुर नामक है। इन्होंने प्राचीन पद्धति से संस्कृतभाषा और ज्योतिष इत्यादि का अध्ययन किया है, साथ ही साथ केरोपन्त, नाना छत्रे और रावजी मोरेश्वर देवकुले से यूरोपियन गणित और ज्योतिष का भी अध्ययन किया है। पूना की वेदशास्त्रोत्तेजक सभा में—जिसकी स्थापना शक १७९६ में हुई है—इनकी भारतीय ज्योतिष और संस्कृत व्याकरण की परीक्षा हुई है।

इन्होंने 'वैनायकीय द्वादशाध्यायी' नामक वर्षफलोपयोगी बड़ा ही सरल ताजिक-ग्रन्थ बनाया है। इनके संस्कृत ग्रन्थ हैं कुण्डसार, अर्धकाण्ड, युक्लिड की दो पुस्तकों की प्रतिज्ञाओं का श्लोकबद्ध संस्कृत अनुवाद और सिद्धान्तसार। सिद्धान्तसार में आधुनिक मतानुसार पृथ्वी की गति इत्यादि का विवेचन किया गया है। इन्होंने भास्करीय लीलावती, बीजगणित और गोलाध्याय के मराठी में सोपपत्तिक अनुवाद किये हैं और इस समय गणिताध्याय का कर रहे हैं। ये ग्रन्थ अभी छपे नहीं हैं।

सुधाकर द्विवेदी

इनका जन्मकाल शक १७८२ चैत्र शुक्ल ४ सोमवार है। ये इस समय काशी के राजकीय संस्कृत कालेज में गणित और ज्योतिष के मुख्य अध्यापक हैं। शक १८११ में बापूदेव शास्त्री के पेंशन लेने पर उनके स्थान में इनकी नियुक्ति हुई। इसके पहिले ये वहीं पुस्तकालयाध्यक्ष थे। इंगलिश सरकार की ओर से इन्हें महामहोपाध्याय पदवी मिली है। इनके बनाये हुये संस्कृत ग्रन्थ ये हैं:—

(१) दीर्घवृत्तलक्षण, शक १८००—इसमें दीर्घवृत्त के नियम विस्तारपूर्वक सोपपत्तिक बतलाये हैं। (२) विचित्रप्रश्न सभङ्ग, शक १८०१—इसमें गणितसम्बन्धी २० कठिन प्रश्न और उनके उत्तर हैं। (३) वास्तव-चन्द्र-शृङ्गोन्नति-साधन, शक १८०२—इसमें लल्ल, भास्कर, ज्ञानराज, गणेश, कमलाकर और बापूदेव के शृङ्गोन्नतिसाधन के दोष दिखलाकर यूरोपीय ज्योतिषशास्त्र के अनुसार सूक्ष्म शृङ्गोन्नति-साधन बतलाया गया है। इसमें ९२ श्लोक हैं। (४) द्युचरचार, शक १८०४—इसमें आधुनिक यूरोपीय ज्योतिषशास्त्रानुसार ग्रहकक्षा-मार्ग का विवेचन है। (५) पिण्ड-प्रभाकर, शक १८०७—यह वास्तुविषयक ग्रन्थ है। (६) भाभ्रमरेखा निरूपण—इसमें सूचीछेदविचारपूर्वक छाया के भ्रमणमार्ग का ज्ञान कराया गया है। (७) धराभ्रम—इसमें पृथ्वी के दैनन्दिन भ्रमण का विचार है। (८) ग्रहणकरण—इसमें ग्रहण का गणित करने की रीति बतलायी है। (९) गोलीय रेखागणित। (१०) युक्लिड की ६, ११, १२ पुस्तकों का संस्कृत श्लोकबद्ध अनुवाद है। (११) गणकतरङ्गिणी,

शक १८१२--इसमें भारतीय गणकों का इतिहास है। पहिले यह काशी के 'पण्डित' नामक मासिक पत्र में छपी थी, शक १८१४ में अलग छपी है। इसमें अठपेजी साँचे के १२४ पृष्ठ हैं। शेष प्रायः सब ग्रन्थ छप चुके हैं। इन्होंने शक १७९५ की अपनी 'प्रतिभाबोधक' नामक टीका तथा मलयेन्दु सूरिकृत टीकासहित यन्त्रराज का संशोधन करके उसे शक १८०४ में छपाया है। नवीन उपपत्ति और अनेक विशेष प्रकारों से युक्त भास्करीय लीलावती शक १८०० में छपायी है और नवीन टीकासहित भास्करीय बीजगणित भी छपाया है। अपनी 'वासनाविभूषण' नामक टीकासहित करणकुतूहल शक १८०३ में छपाया है। शक १८१० में इन्होंने वराहमिहिर की पञ्चसिद्धान्तिका की 'पञ्च-सिद्धान्तिकाप्रकाश' नामक टीका की। बनारस संस्कृत कालेज के उस समय के प्रिंसिपल डाक्टर जी० थीबो कृत इंगलिश अनुवाद और उस टीकासहित पञ्चसिद्धा-न्तिका सन् १८८९ में छपी है। ये सब टीकाएँ संस्कृत में हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने कृष्णकृत छादकनिर्णय, कमलाकरकृत सिद्धान्ततत्वविवेक और लल्लकृत धीवृद्धिदतन्त्र संशोधन करके क्रमशः शके १८०६, १८०७ और १८०८ में छपाये हैं। इस समय में उत्पलटीका सहित बृहत्संहिता का संशोधन करके उसे छपा रहे हैं। संस्कृत में इन्होंने भाषाविषयक 'भाषा-बोधक' नामक ग्रन्थ बनाया है। हिन्दी गणित की चलन-कलन (Calculas) नाम की दो पुस्तकें लिखीं हैं और हिन्दी भाषा का व्याकरण बनाया है।

द्विवेदी जी की गणकतरङ्गिणी उपयोगी ग्रन्थ है। उससे और उनके अन्य ग्रन्थों से भारतीय और यूरोपीय गणित ज्योतिष में उनका उत्कृष्ट ज्ञान प्रकट होता है तथापि गणकतरङ्गिणी में कहीं-कहीं "आर्यभट ने किसी परदेशी यवन पण्डित को देवतारूप मानकर उसके कृपालव से प्राप्त की हुई भगणादि संख्याएँ गुप्त रखने के विचार से नवीन संकेतों द्वारा बतलायी हैं। "भास्कराचार्य ने ग्रन्थ समाप्त होने के बाद बिना उपपत्ति के ज्योत्पत्ति लिखी है, इससे अनुमान होता है कि उन्होंने परदेश आये हुए किसी यवन से केवल ज्योत्पत्तिसम्बन्धी रीतियाँ सीख लीं, उनकी उपपत्तियाँ नहीं सीखीं।" इस प्रकार की उनकी निराधार कल्पनाएँ उमड़ आयी हैं।" अंगरेजी नाटिकल आल्मनाक जिस फ्रेंच ग्रन्थ द्वारा बनाया जाता है उसके आधार पर संस्कृत ग्रन्थ बनाने की इनकी योग्यता है। यदि ये उसे बनायें तो अच्छा होगा।

द्वितीय प्रकरण

भुवनसंख्या

भुवनसंस्था का थोड़ा सा परिचय उपोद्घात में दे चुके हैं। अब यहां उसकी अवशिष्ट बातें लिखेंगे। हमारे यहां सब ग्रहों की योजनात्मक गति समान मानी गयी है। वे अपनी कक्षा में एक दिन में लगभग ११८५८ $\frac{3}{4}$ योजन चलते हैं और इस प्रकार कल्प भर में जितना चलते हैं उसे आकाशकक्षा कहते हैं। पृथ्वी के चारों ओर ग्रह जिन मार्गों में घूमते हैं उनका नाम कक्षा है। कक्षा की एक प्रदक्षिणा को भगण कहते हैं। आकाशकक्षा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। ग्रहकक्षा इत्यादि का मान लाने के लिए उसकी कल्पना की गयी है। कल्प में ग्रह अपनी कक्षा की जितनी प्रदक्षिणाएँ करता है अर्थात् उसके जितने भगण होते हैं, उस संख्या का आकाशकक्षा में भाग देने से उसकी कक्षा का योजनात्मक मान आता है। सूर्यसिद्धान्तोक्त कक्षामान ये हैं—

	कक्षामान-योजन		कक्षामान-योजन		कक्षामान-योजन
चन्द्र	३२४०००	सूर्य	४३३१५००	शनि	१२७६६८२५५
बुधशीघ्र	१०४३२०९	मङ्गल	८१४६९०९	नक्षत्रमण्डल	२५९८९००१२
शुक्रशीघ्र	२६६४६३७	गुरु	५१३७५७६४	आकाश	१८७१२०८०८६४००००००

पृथ्वी से चन्द्रमा की दूरी

प्रथम आर्यसिद्धान्त को छोड़ अन्य सब सिद्धान्तों की योजनाबद्ध ग्रह-दिनगतियाँ समान हैं, फिर भी प्रत्येक की कल्पदिनसंख्या में थोड़ा अन्तर होने के कारण आकाशकक्षा और ग्रहकक्षाओं में भी थोड़ा भेद है। उन सब को यहां लिखने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उनमें वास्तविक अंश बहुत थोड़ा है। अधिकांश बातें केवल कल्पित हैं, तथापि चन्द्रकक्षा बिलकुल कल्पित भी नहीं है, उसमें सत्य का अंश बहुत अधिक है। प्रथम आर्यभट के अतिरिक्त अन्य सभी आचार्यों ने चन्द्रकक्षाप्रदेश मे उसकी कक्षा की एक कला का मान १५ योजन माना है। इस प्रकार सम्पूर्ण कक्षा का मान (३६० × ६० × १५ =) ३२४००० और उसकी त्रिज्या ५१५६६ योजन आती है। यही पृथ्वी से चन्द्रमा की दूरी है। सूर्य सिद्धान्तानुसार पृथ्वी की त्रिज्या ८०० योजन है अतः पृथ्वी और चन्द्रमा का अन्तर पृथ्वीत्रिज्या का ६४.४६ गुना हुआ। आधुनिक मतानुसार ५०.९६ गुना है। इससे सिद्ध हुआ कि हमारे सिद्धान्तकारों की निश्चित की हुई पृथ्वी की चन्द्रमा से दूरी और उसकी कक्षा का मान वास्तविक मान के बिलकुल पास है। इतना शुद्ध मान निश्चित करनेवाले वे आचार्य वस्तुतः स्तुत्य हैं।

हमारे यहां सब ग्रहों की स्वकक्षामण्डलस्थ योजनात्मक गति समान मानी गयी है और ग्रहों की कल्पभगणसंख्या का आकाशकक्षा में भाग देकर कक्षामान लाये गये हैं। इसका अर्थ यह होता है कि ग्रहों के प्रदक्षिणाकाल और उनकी कक्षाएं अर्थात् पृथ्वी से उनके अन्तर नियमित रहते हैं। आधुनिक ज्योतिषशास्त्रानुसार यह नियम अशुद्ध है। केप्लर द्वारा आविष्कृत और न्यूटनादिकों द्वारा स्वीकृत आधुनिक सिद्धान्त यह है कि ग्रहों के प्रदक्षिणाकाल के वर्ग और सूर्य से ग्रह पर्यन्त की दूरी के घन नियमित होते हैं।

पृथ्वी से ग्रहों की दूरी

सूर्यसिद्धान्तानुसार पृथ्वी से सूर्य का अन्तर ६८९४३० योजन अर्थात् भूत्रिज्या का लगभग ८६२ गुना है, परन्तु आधुनिक मतानुसार लगभग २३३०० गुना है। इस प्रकार हमारे सिद्धान्तों में बताये हुए सूर्य के उस पार के ग्रहों के अन्तर अधिक अशुद्ध हैं। हमारे ज्योतिषियों ने वेदाधिकों द्वारा आकाशकक्षामान और ग्रहों की स्वकक्षा-मण्डलस्थ योजनात्मक दिनगति निश्चित करके तदनुसार कक्षामान और ग्रहों के प्रदक्षिणाकाल नहीं निकाले हैं। उन्होंने वेदाधिकों द्वारा प्रथम प्रदक्षिणाकाल और चन्द्रकक्षामान निश्चित करने के बाद तदनुसार आकाशकक्षा और ग्रहकक्षाओं के मान निकाले हैं, यह बिलकुल स्पष्ट है। क्योंकि एक तो पञ्चसिद्धान्तिका में ग्रहकक्षा और आकाशकक्षा के योजनात्मक मान नहीं दिये हैं, चन्द्रकक्षामान भी नहीं है, अतः ये मान मूलसूर्यसिद्धान्त में भी नहीं रहे होंगे। वर्तमान सूर्यसिद्धान्त में हैं और मैं अनुमान कर चुका हूँ कि वर्तमान सूर्यसिद्धान्त पञ्चसिद्धान्तिका से प्राचीन है, तथापि वर्तमान सूर्यसिद्धान्तोक्त कक्षामानों का उसमें बाद में प्रक्षिप्त होना असम्भव नहीं है।[1] दूसरे, प्रथम आर्यसिद्धान्त के अतिरिक्त सब सिद्धान्तों में चन्द्रकक्षा की एक कला १५ योजन मानी गयी है। तीसरी बात यह कि ग्रहों के कक्षामाननियमित हैं, उनमें वे सदा भ्रमण करते हैं, उनके स्थान नहीं बदलते। अतः यह कथन व्यर्थ है कि सब ग्रह कल्प में आकाश की एक प्रदक्षिणा करते हैं। भास्कराचार्य ने तो सिद्धान्तशिरोमणि के कक्षाध्याय में स्पष्ट लिखा है—

> ब्रह्माण्डमेतन्मितमस्तु नो वा कल्पे ग्रहः क्रामति योजनानि।
> यावन्ति पूर्वैरिह तत्प्रमाणं प्रोक्तं खकक्षाख्यमिदं मतं नः ॥३॥

अर्थात् ब्रह्माण्ड परिमित (खकक्षामित) हो अथवा न हो, मेरे मतानुसार कल्प में ग्रह जितने योजन चलता है उसी को प्राचीन आचार्यों ने खकक्षा कहा है। अतः हमारे

---

१. ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त (शक ५५०) में कक्षामान हैं, अतः यदि वे सूर्यसिद्धान्त में बाद में आये होंगे तो भी शक ५५० के थोड़े ही दिनों बाद आये होंगे।

ज्योतिषियों ने चन्द्रकक्षा और ग्रहप्रदक्षिणाकाल की सहायता से ग्रहकक्षाएँ निश्चित की हैं। उन्हें निश्चित करने का आधारभूत सिद्धान्त—प्रदक्षिणाकाल और ग्रहकक्षाएँ नियमित होती हैं—अशुद्ध होने के कारण कक्षामान भी अशुद्ध हो गये और आकाश-कक्षामान का केवल कल्पित होना स्पष्ट ही है।

यद्यपि हमारे ग्रन्थों के कक्षामान अर्थात् ग्रहमाला के मध्य से ग्रहों के अन्तर अशुद्ध हैं तथापि इसके कारण उनकी स्पष्टस्थिति में जो एक प्रकार का अन्तर पड़ता है—जिसे शीघ्र-फलसंस्कार कहते हैं—वह हमारे ग्रन्थों में दिया है। उसके द्वारा लाये हुए ग्रह मालामध्य से ग्रहों के अन्तर अर्थात् मन्दकर्ण आधुनिक मानों से प्रायः मिलते हैं। नीचे के कोष्ठक में यह बात दिखायी है। इसमें टालमी के भी मान दिये हैं। (टालमी के मान बर्जेस के सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद से और आधुनिक मान लूमिस के ग्रन्थ से लिये हैं।)

ग्रह	सूर्यसिद्धान्त		टालमी	आधुनिक
	युग्मपदान्त में	ओजपदान्त में		
सूर्य (या पृथ्वी)	१	१	१	१
बुध	.३६९४	.३६६७	.३७५०	.३८७१
शुक्र	.७२७८	.७२२२	.७१९४	.७२३३
मंगल	१.५१३९	१.५५१७	१.५१९०	१.५२३७
गुरु	५.१४२९	५	५.२१७४	५.२०२८
शनि	९.२३०८	९	९.२३०८	९.५३८८

यहां जो सूर्यसिद्धान्तीय मान लिखे हैं वे, बुध-शुक्र के मन्दकर्ण उनकी कक्षा की परिधि का अर्थात् ३६० का उनकी नीचोच्चवृत्तपरिधि[1] में भाग देकर और वहिर्वर्ती[2] ग्रहों के मन्दकर्ण नीचोच्चवृत्तपरिधि का ३६० अंश में भाग देकर लाये गये हैं।

प्रथम आर्यभट का चन्द्रकक्षामान भिन्न है। उन्होंने दशगीतिकापाद में लिखा है—

शशिराशयष्ठ १२ चक्रं तेंशकलायोजनानि य ३० व ६० ञ १० गुणाः ।।४।।

इसमें बताया है कि चन्द्र कक्षा की कलाओं में १० का गुणा करने से योजन होते हैं। अर्थात् एक कला में १० योजन माने हैं, पर अन्य सिद्धान्तों में १५ योजन माने हैं।

१. नीचोच्चवृत्तपरिधियाँ आगे लिखी हैं और इस विषय का अधिक विवेचन आगे स्पष्टाधिकार में किया है।

२. बुध-शुक्र अन्तर्वर्ती और शेष ग्रह बहिर्वर्ती हैं।

देखने में यह बात अन्य सिद्धान्तों से विरुद्ध ज्ञात होती है पर वस्तुतः विरुद्ध नहीं है। अन्य सिद्धान्तों का चन्द्रकक्षामान आर्यभट के मान का डेढ़गुना है पर अन्य मान भी डेढ़गुने हैं। जैसे—

	प्रथमार्यसिद्धान्त-योजन	सिद्धान्तशिरोमणि-योजन
भूव्यास	१०५०	१५८१
सूर्यविम्वव्यास	४४१०	६५२२
चन्द्रविम्वव्यास	३१५	४८०

भूत्रिज्या

प्रथम आर्यसिद्धान्तानुसार पृथ्वी से चन्द्रमा का अन्तर ३४३७७ योजन है। यह उस सिद्धान्त की भूत्रिज्या ५२५ का ६५.५ गुना है, अतः निष्पत्ति की दृष्टि से आर्य-सिद्धान्त का औरों से विरोध नहीं है। संख्याएँ भिन्न होने के कारण योजनमान की भिन्नता है। लल्ल प्रथम आर्यभट के प्रायः अनुयायी हैं, इसलिये उनके मान भी प्रथम आर्यभट के अनुसार ही हैं। द्वितीय आर्यभट के मान अन्य सिद्धान्तों के अनुसार हैं।

उपर्युक्त विवेचन से भूत्रिज्या का सम्बन्ध है अतः यहां उसका भी थोड़ा विवेचन करेंगे। भिन्न-भिन्न ग्रन्थों के योजनात्मक भूव्यास ये हैं—

ग्रन्थ	भूव्यास
पञ्चसिद्धान्तिका	१०१८.६
वर्तमान सूर्यसिद्धान्त, सोमसिद्धान्त, शाकल्योक्त ब्रह्मसिद्धान्त	१६००
प्रथमार्यसिद्धान्त, लल्ल	१०५०
ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त, सिद्धान्तशिरोमणि, वसिष्ठसिद्धान्त	१५८१
द्वितीय आर्यसिद्धान्त	२१०९

योजनमान

योजन का ठीक प्रमाण ज्ञात न होने के कारण इस बात का पता नहीं लगता कि हमारे ग्रन्थों के भूव्यास कहाँ तक शुद्ध हैं। हमारे अधिकांश ग्रन्थों में योजन में ३२००० हाथ माने हैं। १९.८ इञ्च का हाथ मानने से योजन में १० इंगलिश मील होते हैं। इस नियमानुसार सबसे न्यून पञ्चसिद्धान्तिका का भूव्यास भी १०१८६ मील आता है। आधुनिक सिद्धान्तानुसार पृथ्वी का पूर्व पश्चिम व्यास ७९२५ मील है। वस्तुतः योजन का मान १० मील से कम होगा।

वाचस्पति और शब्दार्णव कोशों में १६००० हाथ का योजन बताया है, अतः उनके अनुसार योजन में ५ मील होंगे। ईसवी सन् की सातवीं शताब्दी के मध्य में ह्वेन-सांग नामक चीनी यात्री भारत में आया था। उसने सम्पूर्ण भारत का वर्णन लिखा है। उसने स्थानों के अन्तर 'ली' नामक चीनी मापक से लिखे हैं। उसका कथन है कि[१] प्राचीन पद्धति के अनुसार योजन ४० ली तुल्य है और भारत के वर्तमान राज्यों में प्रचलित योजन ३० ली का है, परन्तु शास्त्रीय ग्रन्थों में लिखित योजन १६ ली के बराबर है। ईसवी सन् की सातवीं शताब्दी में चीन में जो ली प्रचलित थी उसका मान सें० मार्टिन ने ३२९ मीटर अर्थात् १०८० इंगलिश फुट माना है।[२] इसके अनुसार ह्वेनसांग के बताये हुए तीन योजनों के मान ८ १/५, ६ १/८, ३ १/४, इंगलिश मील होते हैं। अर्थात् उस समय इस देश में प्रचलित योजन ६ १/८ मील तुल्य था। ज० कनिंघम ने भी ह्वेनसांगलिखित भिन्न-भिन्न प्रसिद्ध स्थानों के वर्तमान अन्तरों द्वारा ह्वेनसांग की ६ ली का मान एक मील निश्चित किया है।[३] पर उनका मत है कि ह्वेनसांग ने ये अन्तर उन मार्गों के आधार पर लिखे हैं जिनसे होकर उसने यात्रा की थी और मार्ग सीधे नहीं होते इसलिए सरल-रेखात्मक अन्तर जानने के लिए इनमें से एक षष्ठांश घटा देना चाहिए। इस प्रकार कनिंघम और सें० मार्टिन के योजनमान मिलते-जुलते हैं। इन सब बातों का विचार करने से मालूम होता है कि ह्वेनसांग के समय ३० ली का योजन प्रचलित था और कनिंघम के नियमानुसार ६ ली का मील मानना चाहिए। सारांश यह कि उस समय प्रचलित योजन का सरलरेखात्मक मान (३० ÷ ६ =) ५ मील था। ईसवी सन् की सातवीं शताब्दी में ह्वेनसांग के भारत में आने के कुछ ही पूर्व अथवा उसी के आस-पास यहां ब्रह्मगुप्त विद्यमान थे। उन्होंने भूव्यास का मान १५८१ योजन अर्थात् ७९०५ मील लिखा है। यह सूक्ष्म रीतियों द्वारा निश्चित किये हुए वर्तमान व्यास ७९२५ मील के लगभग तुल्य ही है।

अंश

भास्कराचार्य ने सिद्धान्तशिरोमणि के भुवनकोश में लिखा है—

---

१. Julien's Memoirs de Hiouen Tsang I.59 बर्जेस के सूर्यसिद्धान्तानुवाद का पृष्ठ ३६।

२. Julien's Memoirs de Hiouen Tsang II. 251, बर्जेस के सूर्यसिद्धान्तानुवाद का पृष्ठ २८४।

३. कनिंघम के प्राचीन भूगोल के आरम्भ का सामान्य वर्णन देखिए।

निरक्षदेशात् क्षितिषोडशांशे भवेदवन्ती[1] गणितेन यस्मात्।
तदनन्तरं षोडशसंगुणं स्याद् भूमानम्.........।।१५।।

निरक्ष देश से भूगोल के १६वें भाग पर अवन्ती है, इसलिए दोनों के अन्तर में १६ का गुणा करने से पृथ्वी की परिधि आयेगी।[1] इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि हमारे ज्योतिषी यह जानते थे कि धरातल का एक अंश किस प्रकार नापना चाहिए और उससे भूपरिधि किस प्रकार लानी चाहिए। तथापि यह भी सत्य है कि भूपरिधि के एक अंश का सूक्ष्म मान जानने के लिए यूरोप की भांति हमारे देश में पर्याप्त प्रयत्न नहीं हुए हैं।

भुवनाधार

हमारे ज्योतिषियों का मत है कि पृथ्वी विश्व के मध्य भाग में आकाश में निराधार स्थित है और ग्रह उसके चारों ओर घूमते हैं। पर ग्रहों के आधार के विषय में उन्होंने स्पष्टतया कुछ नहीं लिखा है तथापि ग्रह और नक्षत्रों में गति होने का कारण प्रवह वायु बताया है। इससे ज्ञात होता है कि उनके मतानुसार प्रवह के आधार पर ग्रहादिक आकाश में स्थित हैं। द्वितीय आर्यभट ने १६वें अध्याय में लिखा है—

निजनिजकर्मविपाकैर्जीवैरुपभुज्यते फलं चित्रम्।
तद्भोगस्थानानि स्वर्गादिकसंज्ञका लोका:।।३।।
अनिलाधारा: केचित् केचिल्लोका वसुन्धराधारा:।
वसुधा नान्याधारा तिष्ठति गगने स्वशक्त्यैव।।४।।

यहां कुछ लोकों को वायु के आधार पर स्थित बताया है पर ग्रह और नक्षत्रों को लोक नहीं कहा है। मालूम होता है, हमारे ज्योतिषियों को यह कल्पना नहीं थी कि ग्रह और नक्षत्र भी हमारे भूगोल सरीखे विस्तृत जड़ गोल हैं।

भास्कराचार्य ने पृथ्वी में आकर्षण शक्ति मानी है; उन्होंने गोलाध्याय के भुवनकोश में लिखा है—

आकृष्टिशक्तिश्च मही तया यत् खस्थं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्त्या।
आकृष्यते तत्पततीव भाति.....।।६।।

---

१. इसके अनुसार अवन्ती का अक्षांश (३६०–१६) २२ आता है। सम्प्रति उज्जयिनी का अक्षांश २३।६ निश्चित किया गया है।

अर्थात् पृथ्वी में आकर्षणशक्ति है, वह आकाशस्थ जड़ पदार्थों को स्वशक्ति से अपनी ओर खींचती है, इससे वे पदार्थ गिरते हुए ज्ञात होते हैं। यहां पदार्थ के पतन का कारण आकर्षण बताया है। न्यूटन ने भी पदार्थपतन के ही आधार पर पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति का आविष्कार किया, पर उन्होंने गणित द्वारा यह भी सिद्ध कर दिखाया कि ग्रहमाला आकर्षणशक्ति द्वारा ही सूर्य के चारों ओर घूमती है। हमारे देश में यह अग्रिम कार्य नहीं हुआ।

जगत्संस्था के वर्णन में सब सिद्धान्तों में धरातलस्थ सप्त समुद्र, सप्त महाद्वीप, पर्वत और नदियों का भी वर्णन है, परन्तु वह वस्तुतः भूगोल का विषय है इसलिए विस्तार-भय से यहां नहीं लिखा है। विषुववृत्तस्थ प्रदेशों में ध्रुव क्षितिज में दिखाई देता है और ग्रहादिक क्षितिज पर लम्बरूप में ही उदित और अस्त होते हैं, ज्यों ज्यों उत्तर जायँ, ध्रुव क्रमशः ऊँचा दिखाई देता है और ग्रहादिकों का दैनन्दिन गतिसम्बन्धी गमन-मार्ग क्षितिज पर तिरछा होता जाता है, ध्रुवस्थान में सूर्यादि क्षितिज के समानान्तर मार्ग में भ्रमण करते हैं, इत्यादि बातों का विवेचन सभी सिद्धान्तों में रहता है। विस्तार-भय से यहां मूलवचन नहीं दिये हैं। उत्तरगोलार्ध में कुछ अक्षांशों पर राशिचक्र का कुछ भाग कभी भी नहीं दिखाई देता, कुछ अक्षांशों पर कुछ राशियां नहीं दिखाई देतीं, कुछ स्थानों पर सूर्य ६० घटी अथवा इससे भी अधिक समय तक दिखाई देता है—इत्यादि बातों का भी विवेचन कुछ सिद्धान्तों में है, पर यहां उसे विस्तारपूर्वक लिखने की आवश्यकता नहीं है।

मेरु, सप्त लोक

ध्रुवस्थान में मेरु माना गया है। भास्कराचार्य ने उसी पर ब्रह्मा, विष्णु, महेश इत्यादि लोकपालों के स्थानों की कल्पना की है। भूरादि सात लोकों के विषय में उन्होंने लिखा है—

भूर्लोकाख्यो दक्षिणे व्यक्षदेशात्
तस्मात् सौम्योऽयं भुवः स्वश्च मेरुः।
लभ्यः पुण्यैः खे महः स्याज्जनोऽतो
ऽनल्पानल्पैः स्वैस्तपः सत्यमन्त्यः ॥४३॥

भुवनकोश

इसमें बताया है कि निरक्ष देश के दक्षिण में भूलोक और उत्तर में जहाँ हम लोग रहते हैं भुवर्लोक है। मेरु स्वर्लोक है। महः, जनः, तपः और सत्य लोक आकाश में

है। उनमें सत्य अन्त में है। महाद्वीप, सप्तसमुद्र और भू इत्यादि लोकों के विषय में भास्कराचार्य ने लिखा है कि इनका वर्णन पुराणाश्रित है।

इस वर्णन में सब ग्रन्थों की पूर्णतया एकवाक्यता नहीं है।

भूवायु

भास्कराचार्य ने मध्यगतिवासनाप्रकरण में लिखा है—

भूमेर्बहिर्द्वादशयोजनानि भूवायुरत्राम्बुदविद्युदाद्यम् ।।२।।

अर्थात् भूपृष्ठ से १२ योजन पर्यन्त भूवायु रहता है। मेघ, बिजली इत्यादि इसी में रहते हैं। दोनों आर्यभट और लल्ल ने भी वातावरण की ऊँचाई इतनी ही मानी है। १२ योजन में ६० मील होते हैं। आधुनिक शोध के अनुसार वातावरण की ऊँचाई ४५ से १०० मील पर्यन्त है। श्रीपति ने लिखा है—

निर्घातोल्काघनसुरधनुर्विद्युदन्तः कुवायोः सन्दृश्यन्ते खनगरपरीवेषपूर्वम्[1]....।

अर्थात् निर्घात, उल्का, घन, इन्द्रधनुष, बिजली, गन्धर्वनगर और परिवेष भुवायु में रहते हैं। लल्ल, श्रीपति, भास्कराचार्य इत्यादिकों ने भूवायु के ऊपर अन्य प्रवहादि वायुओं की कल्पना की है। लल्ल ने लिखा है—

आवहः प्रवह उद्वहस्तथा संवहः सुपरिपूर्वको वहौ।
सप्तमस्तु पवनः परावहः कीर्तितः कुमरुदावहो परैः ।।१।।

धीवृद्धिदतन्त्र, ग्रहभ्रमसंस्था

ग्रहभगण

ग्रहमध्यमगति के हेतु का विवेचन ऊपर कर चुके हैं। भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों में बतायी हुई कल्पीय या महायुगीय ग्रहभगणसंख्याएँ भी ऊपर लिखी हैं। बुध और शुक्र के विषय में एक विशेष बात यह बतानी है कि वे सदा सूर्य के पास रहने के कारण, नक्षत्रमण्डल की सूर्य-जितनी ही प्रदक्षिणाएँ करते हैं। इसलिए हमारे ग्रन्थकारों ने उनके भगण और मध्यगतियां सूर्य तुल्य ही मानी हैं तथापि उन्होंने बुधशीघ्र और शुक्रशीघ्र की कल्पनाएँ करके उनके भगण पृथक दिये हैं। वे उतने ही हैं जितनी बुध-शुक्र सूर्य की प्रदक्षिणाएँ करते हैं। सारांश यह कि हमारे ज्योतिषियों को यह कल्पना नहीं थी

---

१. बापूदेव शास्त्री-प्रकाशित सिद्धान्तशिरोमणि पृष्ठ २६७ की टिप्पणी देखिए।

कि ग्रह सूर्य के चारों ओर घूमते हैं, पर उन्होंने बुधशुक्र-शीघ्रभगण को महत्व दिया है--यह बात ध्यान देने योग्य है।

ग्रहप्रकाश

हमारे ज्योतिषशास्त्र का मत है कि ग्रह स्वयंप्रकाशित नहीं हैं, उन्हें प्रकाश सूर्य द्वारा मिलता है। प्रथम आर्यभट ने लिखा है—

भूग्रहभानां गोलार्धानि स्वच्छायया विवर्णानि।
अर्धानि यथासारं सूर्याभिमुखानि दीप्यन्ते ॥५॥

गोलपाद

यहां भू और ग्रह के साथ-साथ नक्षत्रों को भी सूर्य से ही प्रकाशित बताया है पर यह कथन ठीक नहीं है। चन्द्रमा की क्षय-वृद्धि और उसकी शृङ्गोन्नति का हमारे ग्रन्थों में पर्याप्त विवेचन है।

ग्रहविक्षेप

ग्रहों के मध्यम विक्षेपमान अर्थात् क्रान्तिवृत्त से उनकी कक्षाओं के दूरत्व कुछ सिद्धान्तों में मध्यमाधिकार में ही दिये हैं, अतः भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों के विक्षेपमान यहीं लिखते हैं। टालमी के मान और आधुनिक मान भी यहीं लिखे हैं।

	वर्तमान सूर्यसिद्धान्त		प्रथमार्यसि-लल्ल		ब्रह्मसिद्धा-शिरोमणि		द्वितीय आर्यसिद्धा.		टालमी		आधुनिक		
	अंश	कला	अंश	कला	अंश	कला	अंश	कला	अंश	कला	अंश	कला	विकला
चन्द्र	४	३०	४	३०	४	३०	४	३०	५	०	५	८	४७.९
मङ्गल	१	३०	१	३०	१	५०	१	४६	१	०	१	५१	२
बुध	२	०	२	०	२	३२	२	१८	७	०	७	०	७.७
गुरु	१	०	१	०	१	१६	१	१४	१	३०	१	१८	४१.४
शुक्र	२	०	२	०	२	१६	२	१६	३	३०	३	२३	३४.६
शनि	२	०	२	०	२	१०	२	१०	२	३०	२	२९	३९.५

१. टालमी के मान बर्जेश के सूर्यसिद्धान्तानुवाद से और आधुनिक मान लिह्वेरिअन कथित लिये हैं।

हमारे विक्षेपमानों की आधुनिक मानों से सीधी तुलना करना ठीक नहीं है। योग्य तुलना करने से ज्ञात होगा कि हमारे मान सूक्ष्म हैं। यहां इसका विवेचन करेंगे।

विक्षेपमान शरों द्वारा लाये जाते हैं। क्रान्तिवृत्त से ग्रह के कदम्वाभिमुख अन्तर को शर कहते हैं। ग्रहकक्षा और क्रान्तिवृत्त के सम्पात में शर शून्य रहता है और वहा से ३ राशि पर महत्तम होता है। ग्रहकक्षाएँ ठीक वृत्ताकार नहीं हैं। अपनी कक्षा के मध्य से ग्रह सदा समान अन्तर पर नहीं रहते। चन्द्रमा पृथ्वी की प्रदक्षिणा करता है इस कारण जब वह पात से त्रिभान्तरित रहता है उस स्थिति मे उसका प्रत्यक्ष अन्तर सदा समान न होने पर ही अंशात्मक अन्तर समान ही रहता है। अन्य ग्रहों की यह स्थिति नहीं है। वे सूर्य की प्रदक्षिणा करते हैं। सूर्यस्थ द्रष्टा को सर्वदा उपर्युक्त आधुनिक विक्षेपों के तुल्य ही उनका परमशर दिखाई देगा, परन्तु भूस्थित द्रष्टा को न्यूनाधिक दिखाई देगा। उसमें दो कारणों से अन्तर पड़ेगा। सूर्य से उनके अन्तर अर्थात् मन्दकर्ण ज्यों-ज्यों न्यूनाधिक होंगे त्यों-त्यों शर न्यूनाधिक दिखाई देंगे। इसी प्रकार पृथ्वी से उनके अन्तर अर्थात् शीघ्रकर्ण के न्यूनाधिकत्व के कारण भी शर में अन्तर पड़ेगा। इन दोनों में से द्वितीय कारण की अपेक्षा प्रथम कारण द्वारा कम अन्तर पड़ता है। हमारे ज्योतिषियों ने प्रथम कारण द्वारा होनेवाले अन्तर की गणना नहीं की है पर दूसरे का विचार किया है। विक्षेपमान के विषय में भास्कराचार्य ने लिखा है—

> (यदा) त्रिज्यातुल्यः शीघ्रकर्णो भवति तस्मिन् दिने वेधवलये यावान् परमो विक्षेप उपलभ्यते तावान् ग्रहस्य परमो मध्यमविक्षेपः ।।
>
> ग्रहच्छायाधिकार, श्लोक १ टीका

इसे हमारे ग्रन्थों के विक्षेपमान का लक्षण कह सकते हैं। शीघ्रकर्ण मध्यम होने पर ग्रह पात से त्रिभान्तरित रहेगा—यह नियम नहीं है। शीघ्रकर्ण मध्यम हो और ग्रह पात से त्रिभान्तरित हो, उस स्थिति में उसका जो शर होगा उसी को हमारे ज्योतिषियों ने परम मध्यमविक्षेप माना है। यहां मन्दकर्ण का विचार नहीं किया है। वहिर्वर्ती ग्रहों के शर में मन्दकर्ण के न्यूनाधिकत्व के कारण अधिक अन्तर नहीं पड़ता, पर अन्तर्वर्ती ग्रहों के शर में पड़ता है, अतः उपर्युक्त कोष्ठक में जो हमारे ग्रन्थों के विक्षेपमान दिये हैं उनमें बुध और शुक्र को छोड़ शेष के विक्षेपमानों की आधुनिक मानों से तुलना करने में विशेष हानि नहीं है। तुलना करने से ज्ञात होता है कि हमारे ग्रन्थों के मङ्गल और गुरु के विक्षेपमानों का आधुनिक मानों से टालमी के मानों की अपेक्षा अधिक साम्य है।

ब्रह्मसिद्धान्त और द्वितीय आर्यसिद्धान्त के मान तो आधुनिक मानों के बहुत ही आसन्न हैं। शनि के मान में कुछ कलाओं की त्रुटि है। बुध और शुक्र के शरों का विचार करने से ज्ञात हुआ कि सम्प्रति बुध का मन्दस्पष्ट शर परम होने पर उसका मन्दकर्ण एक बार .३३८२ और एक बार .४११४ रहता है[1] और उस स्थिति में यदि उसका शीघ्रकर्ण मध्यम हो तो स्पष्टशर क्रमशः २ अंश २३ कला और २ अंश ५३ कला रहता है। इन दोनों समयों के शरों का मध्यममान २ अंश ३८ कला आता है। यह हमारे ग्रन्थों के मान के बहुत निकट है। शुक्र का मन्दस्पष्ट शर परम होने पर उसका मन्दकर्ण एक बार .७१९३ और एक बार .७२९३ रहता है। दोनों समयों में यदि उसका शीघ्रकर्ण मध्यम हो तो स्पष्टशर लगभग २ अंश २८ कला रहता है। यह भी हमारे ग्रन्थों के मान के बिलकुल निकट है। यहां लिखते हुए आधुनिक मान सन् १८८३ से १८८८ पर्यन्त ६ वर्ष के इंगलिश नाटिकल आल्मनाक द्वारा गणित करके लाये गये हैं। बुध का मन्दस्पष्ट शर परम होने की स्थिति में उसका शीघ्रकर्ण ६ वर्षों में केवल दो-तीन ही वार ठीक मध्यम तुल्य अथवा उसके बिलकुल पास-पास हुआ और शुक्र का तो एक बार भी नहीं हुआ। इससे ज्ञात होता है कि अनेक वर्षों तक वेध किये विना इनका सूक्ष्म ज्ञान नहीं हो सकता, अतः अति सूक्ष्म मान लानेवाले हमारे ज्योतिषी स्तुति के पात्र हैं। ग्रहकक्षापात में थोड़ी गति अवश्य है अतः आधुनिक शोध के अनुसार ब्रह्मगुप्त और आर्यभटकालीन शर लाये जायं तो वे वास्तविक मान के कदाचित् और भी आसन्न होंगे।[2] उपर्युक्त कोष्ठक में दिये हुए दोनों आर्यभट और ब्रह्मगुप्त के मान एक दूसरे से भिन्न हैं अतः स्पष्ट है कि उन्होंने अपने-अपने मान स्वयं वेध द्वारा लिये हैं। तीनों के वे भिन्न-भिन्न अंक मनःकल्पित भी नहीं कहे जा सकते। हमारे ज्योतिषियों ने स्वयं वेध करके अपने ग्रन्थों के भिन्न-भिन्न मान लिये हैं, इस बात को सिद्ध करने के लिए यह एक ही प्रमाण—उनके उपर्युक्त विक्षेपमान—पर्याप्त है।

---

१. बुध का मध्यम मन्दकर्ण, ३८७१ और शुक्र का १.७२२३ है। (Loomis' practical Astronomy)

२. हमारे ग्रन्थों के और आधुनिक विक्षेपमानों के केवल एकत्र लिख देने से ही उनकी वास्तविक तुलना नहीं होती। बुध और शुक्र के शरमानों की जिस प्रकार मैंने ऊपर तुलना की है वैसी मैंने आज तक अन्यत्र कहीं नहीं देखी।

तृतीय प्रकरण

अयनचलन

सूर्य-चन्द्रमा के दक्षिणोत्तर-अयन क्रान्तिवृत्त के जिन विन्दुओं में होते हैं उनके पास के तारे सदा उन्हीं स्थानों में नहीं रहते। कुछ दिनों बाद वे पूर्व की ओर चले जाते हैं या यों कहिए कि अयनबिन्दु ही पश्चिम ओर खिसक आते हैं। वेदाङ्गज्योतिष, काल में उत्तरायणारम्भ धनिष्ठारम्भ म होता था। उसके कुछ दिनों बाद श्रवण में और वराहमिहिर के समय उत्तराषाढ़ा में होने लगा था। इसी प्रकार नाड़ी-क्रान्तिवृत्तों के सम्पातविन्दु भी पश्चिम ओर हटते रहते हैं, क्योंकि वृत्त के एक बिन्दु के चलने पर सब बिन्दु चल पड़ते हैं। इस चलन का ज्ञान प्रथम सूर्य के अयनों द्वारा हुआ, इसलिए हमारे अधिकतर ग्रन्थों में इसे अयनचलन कहा है। द्वितीय आर्यभट इत्यादिकों ने अयन को एक ग्रह माना है और उसके भगण लिखे हैं। भास्कराचार्य ने इसे सम्पात-चलन भी कहा है। आधुनिक यूरोपियन विद्वान् इसको विषुवचलन (Precession of Equinoxes) कहते हैं। सिद्धान्तशिरोमणि को छोड़ अन्य सब सिद्धान्तों में अयनचलन सम्बन्धी गति नक्षत्रमण्डल में मानी गयी है। उनमें नक्षत्रमण्डल पश्चिम से पूर्व की ओर जाता हुआ बतलाया गया है, पर भास्कराचार्य ने सिद्धान्तशिरोमणि के गोलबन्धाधिकार में लिखा है—

> तस्य (विषुवत्क्रान्तिपातस्य) अपि चलनमस्ति। येऽयन-चलनभागाः प्रसिद्धास्त एव विलोमगस्य क्रान्तिपातस्य भागाः।

इससे ज्ञात होता है कि वे पात की ही विलोमगति मानते थे। आधुनिक यूरोपियन विद्वान् भी सम्पात में ही गति मानते हैं।

अयनचलनमान

वराहमिहिर की पञ्चसिद्धान्तिका में अयनचलन की चर्चा बिलकुल नहीं है अतः मूल सूर्यादि पांच सिद्धान्तों में इसके विषय में कुछ रहा होगा—यह नहीं कहा जा सकता। वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के त्रिप्रश्नाधिकार में लिखा है—

> त्रिंशत ३० कृत्यो २० युगे भानां चक्रं प्राक् परिलम्बते।
> तद्गुणाद् भूदिनैर्भक्ताद् द्युगणाद्यदवाप्यते ॥९॥
> तद्दोस्त्रिघ्ना दशाप्तांशा विज्ञेया अयनाभिधाः।
> तत्संस्कृताद् ग्रहात्क्रान्तिच्छाया - चरदलादिकम् ॥१०॥
> स्फुटं दृक्तुल्यतां गच्छेदयने विषुवद्वये।

प्राक्चक्रं चलितं हीने छायार्कात्करणागते ।।११।।
अन्तरांशैरथावृत्य पश्चाच्छेषैस्तथाधिके ।

अर्थ—(महा) युग में भचक्र (३०×२०=) ६०० बार पूर्व ओर जाता है। उस (६००) का अहर्गण में गुणा करके उसमे युगीय सावनदिनों का भाग देने से जो आता है, उसके भुज में ३ का गुणा करके १० का भाग देने से जो अंश आते हैं वे अयन संज्ञक होते हैं। उनसे संस्कृत ग्रह द्वारा क्रान्ति, छाया, चरार्ध इत्यादि लाने चाहिए। चक्र का चलन अयन और दोनों विषुव दिनों में स्पष्ट दिखाई देता है। छाया द्वारा लाये हुए सूर्य से करणागत सूर्य न्यून हो तो चक्र दोनों के अन्तरांश-जितना पूर्व की ओर गया है और अधिक हो तो (भचक्र) लौटकर पश्चिम ओर गया है, ऐसा समझना चाहिए।

इस प्रकार सूर्यसिद्धान्तानुसार एक महायुग में ६०० और कल्प में ६लाख अयन-भगण सिद्ध होते हैं, पर भास्कराचार्य ने गोलबन्धाधिकार में लिखा है—

तद्भगणाः सौरोक्ता व्यस्ता अयुतत्रयं कल्पे ।।१७।।

इसका अर्थ यह है कि सूर्यसिद्धान्त में कल्प में ३ अयुत अर्थात् एक महायुग में ३० अयनभगण बतलाये हैं। इससे ज्ञात होता है कि भास्कराचार्य के समय उपर्युक्त श्लोक के 'त्रिंशत्कृत्यः' के स्थान में 'त्रिंशत्कृत्वः' (३० बार) पाठ था। भास्कराचार्य के इस श्लोक के 'व्यस्ता अयुतत्रयम्' का 'व्यस्त तीन अयुत अर्थात् ३० सहस्र' से भिन्न अर्थ करके सूर्यसिद्धान्त के आधुनिक 'त्रिंशत्कृत्यः' पाठ से उसकी एकवाक्यता करने का टीकाकारों और ग्रन्थकारों ने बड़ा प्रयत्न किया है। मुनीश्वर ने सिद्धान्तशिरोमणि की अपनी मरीचि नाम की टीका में लिखा है—'कोई कोई अयुतत्रय के स्थान में नियुत-त्रय पाठ बतलाते हैं[1] और कोई कोई कल्प शब्द का अर्थ वास्तविक कल्प का २०वाँ भाग लगाते हैं।' ऐसा करने से महायुग में ६०० भगण आते हैं। मुनीश्वर स्वयं "व्यस्त अयुतत्रय" का एक अर्थ करते हैं—"वि=विंशति, उससे अस्त=गुणित, अयुतत्रय" और दूसरा अर्थ करते हैं—"तद्भगणाः=उसके भगण, सौरोक्ताः=सूर्यसिद्धान्त में बतलाये हैं और एक दूसरे ग्रन्थ में—व्यस्ता अयुतत्रयं कल्पे=कल्प में विलोम तीन अयुत बतलाये हैं।" इस प्रकार वे यह दिखलाना चाहते हैं कि सूर्यसिद्धान्त का अयुत-त्रय से कोई सम्बन्ध नहीं है, पर यह सब खींचातानी है। भास्कराचार्य ने स्वयं इस श्लोक की टीका में लिखा है "क्रान्तिपातस्य भगणाः कल्पेऽयुतत्रयं तावत्सूर्यसिद्धान्तोक्ताः"

---

१. नृसिंह दैवज्ञ ने वासनावार्तिक में ऐसा लिखा है। कल्प में तीन नियुत मानने से महायुग में ३०० भगण आते हैं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें यही अर्थ अभिप्रेत था कि सूर्यसिद्धान्त में क्रान्तिपात के कल्प में ३ अयुत अर्थात् महायुग में ३० भगण बतलाये हैं।

सूर्यसिद्धान्त के उपर्युक्त श्लोकों में बतायी हुई रीति द्वारा २७ से अधिक अयनांश कभी नहीं आते। उसमें भचक्र का पूर्व और पश्चिम में गमन बतलाया है। इससे सूर्यसिद्धान्त का मत यह ज्ञात होता है कि ग्रहादिकों की भाँति सम्पात सम्पूर्ण नक्षत्र-मंडल की प्रदक्षिणा नहीं करता, बल्कि भचक्र एक बार सम्पात से २७ अंश पूर्व जाकर पुनः मूल स्थान में आता है। इसके बाद २७ अंश पश्चिम जाता है और फिर मूलस्थान में आ जाता है। अर्थात् उसकी एक प्रदक्षिणा १०८ अंशों की होती है। आजकल सूक्ष्म अन्वेषकों द्वारा सम्पात की वार्षिक गति ५०.२ विकला निश्चित की गयी है। महायुग में ३० भगण और एक भगण में १०८ अंश मानने से वार्षिक गति २.७ विकला आती है। यह बहुत थोड़ी है। ३० भगण और पूर्ण प्रदक्षिणा मानने से ९ विकला आती है। यह भी थोड़ी ही है। आधुनिक 'त्रिंशत्कृत्यः' पाठ के अनुसार महायुग में ६०० भगण और एक भगण में १०८ अंश मानने से ५४ विकला आती है। यह बहुत सूक्ष्म है। सम्प्रति यही अर्थ सर्वमान्य है। आजकल के प्रचलित सभी ज्योतिषग्रन्थों में सम्पात की वार्षिक गति ६० विकला मानी गयी है और वही ठीक भी है—यह मैंने आगे सिद्ध किया है। महायुग में ६०० भगण और एक भगण में ३६० अंश मानने से वार्षिक गति १८० विकला आती है। यह बहुत अधिक है।

वर्तमान रोमश, सोम और शाकल्योक्त-ब्रह्मसिद्धान्तों में महायुग में ६०० अयन-भगण बतलाये हैं। अयनचलन विषयक उनके वचन ये हैं—

> द्युगणः षट्शतघ्नोऽर्कशुद्धोदयहृतो ग्रहः ।।३१।।
> आयनस्त्रिघ्नतद्वाहुभागा दिग्भिर्विभाजिताः।
> अयनांशास्तदूर्ध्वार्धे धनं पूर्वदले ऋणम् ।।३२।।
>
> रोमशसिद्धान्त-स्पष्टाधिकार

> इत्येतदेतत् प्राक्चलनं युगे तानि च षट्शतम् ।।१९६।।
> युक्त्यायनग्रहस्तस्मिन् तुलादौ प्राक्चलं भवेत्।
> यद्वा तच्छुद्धचक्रे वा मेषादौ प्राक्चलं भवेत् ।।१९७।।
> अयनांशास्तद्भुजांशास्त्रिघ्नाः सन्तो दशोद्धृताः ।।
>
> शाकल्यब्रह्मसिद्धान्त, अध्याय २

> युगे षट्शतकृत्वो हि भचक्रं प्राग्विलम्बते।
> तद्गुणो भूदिनैर्भक्तो द्युगणोऽयनखेचरः ।।३१।।

तच्छुद्धचक्रदोर्लिप्ता द्विशत्याप्तायनांशकाः।
संस्कार्या जूकमेषादौ केन्द्रे स्वर्णं ग्रहे किल।।३२।।

सोमसिद्धान्त-स्पष्टाधिकार

वर्तमान वसिष्ठसिद्धान्त में, जिसे कोई कोई लघुवसिष्ठसिद्धान्त भी कहते हैं, अयनांश लाने की रीति यह है—

अब्दाः खखर्तु ६०० भिर्भाज्यास्तद्दोस्त्रिघ्ना दशोद्धृताः।
अयनांशा ग्रहे युक्ताः ... ...।।५५।।

स्पष्टाधिकार

इसका अर्थ यह है कि वर्षगण में ६०० का भाग देने से जो आता है उसके भुज में ३ का गुणा करके १० का भाग देने से अयनांश आते हैं। यहां यह स्पष्ट नहीं बताया है कि ६०० का भाग देने से जो पदार्थ आता है वह राशि है या अंश है अथवा भगण है। ६०० वर्षों में एक राशि मानने से महायुग में ६०० भगण आते और इतने ही उद्दिष्ट भी मालूम होते हैं।

इससे ज्ञात होता है कि वर्तमान सूर्यादि पांच सिद्धान्तों में परम अयनांश २७, सम्पात का पूर्व और पश्चिम में २७ अंश आन्दोलन और उसकी वार्षिक गति ५४ विकला मानी गयी है।

प्रथम आर्यभट और लल्ल ने अयनगति के विषय में कुछ नहीं लिखा है। ब्रह्मगुप्त ने श्रीषेण और विष्णुचन्द्र के दोषों का वर्णन करते हुए लिखा है—

परमाल्पा मिथुनान्ते द्युरात्रिनाड्योऽर्कगतिवशादृतवः।
नायनयुगं .. ..।।५४।।

अध्याय ११

इसका अर्थ यह है कि मिथुनान्त में दिन की घटियां परम और रात्रि की अल्प होती हैं, ऋतुएँ सूर्य की गति के अनुसार होती हैं अतः अयनयुग नहीं है। पृथूदक ने इसकी टीका में लिखा—"कल्प में उस (अयन) के १८९४११ भगण होते हैं, इसे अयनयुग कहते हैं, यह ब्रह्मा अर्क इत्यादिकों को मान्य है—ऐसा अयनयुग के विषय में विष्णुचन्द्र ने कहा है.. .. .. । सम्प्रति दिन और रात्रि के वृद्धि-क्षय मिथुनान्त में नहीं होते। 'आश्लेषार्धात्' इत्यादि वचनों से भी केवल अयनगति ही सिद्ध होती है।

उसके बहुत से भगण नहीं सिद्ध होते।"[1] कल्प में अयनभगणसंख्या १८९४११ मानने से वर्तमान कलियुग के आरम्भ में सम्पात का चक्रशुद्ध राश्यादि भोग ०।११।१९। ५५.२ आता है। अन्य ग्रन्थों की शून्यायनांश-वर्षसंख्या लगभग शके ४४४ से इसकी कुछ भी संगति नहीं लगती, अतः इस कल्पभगणसंख्या में कुछ अशुद्धि होगी अथवा विष्णुचन्द्र की युगपद्धति ही भिन्न होगी। सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा मानने से इस संख्या द्वारा वार्षिक अयनगति ५६.८२१३३ विकला आती है। यह बहुत सूक्ष्म है और इससे ज्ञात होता है कि विष्णुचन्द्र सम्पात की पूर्व प्रदक्षिणा मानते थे। संभव है, उनका अभिप्राय यह रहा हो कि १८९४११ वर्षों में एक अयनभगण होता है। ऐसा अर्थ करने से कल्प में अयनभगणसंख्या लगभग २२८० आती है। यह अशुद्ध होते हुए भी भास्करोक्त सूर्यसिद्धान्त की संख्या ३ अयुत के पास है। कुछ भी हो, अयनगति विषयक विष्णुचन्द्र का वचन बड़े महत्व का है। उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनके समय अर्थात् शके ५०० के लगभग[2] भारतीयों को अयनगति का ज्ञान था।

अयनगति के सम्बन्ध में भास्कराचार्य ने ब्रह्मगुप्त के विषय में लिखा है—

"तत्कथं ब्रह्मगुप्तादिभिर्निपुणैरपि [क्रान्तिपातः] नोक्त इति चेत्तदा स्वल्पत्वात् तैर्नोपलब्धः। इदानीं बहुत्वात् साम्प्रतिकैरुपलब्धः। अतएव तस्य गतिरस्तीत्यवगतम्। पद्येवमनुपलब्धोऽपि सौरसिद्धान्तोक्तत्वादागमप्रामाण्येन भगणपरिध्यादिवत् कथं तैर्नोक्तः।"

यहां भास्कर का कथन यह है कि ब्रह्मगुप्त के समय अयनांश बहुत थोड़े थे इसलिए उन्हें वे वेध द्वारा नहीं ज्ञात हुए। पर यहां शङ्का होगी कि जैसे उन्होंने कुछ अन्य अनुपलब्ध मान आगम को प्रमाण मानकर लिखे हैं, उसी प्रकार सूर्यसिद्धान्त के आधार पर

---

१. Coolebrooke's Mis. Ess. II 465, 380. कोलब्रूक की पुस्तक में विष्णुचन्द्र का वचन बहुत अशुद्ध था इसलिए उन्होंने उसे नहीं लिखा। मुझे पृथूदक-टीका का वह भाग नहीं मिला। कोलब्रूक लिखते हैं कि नृसिंह और दादाभाई की टीकाओं में वह वचन है, पर मुझे नहीं मिला।

२. पञ्चसिद्धान्तिका में अयनगति का वर्णन नहीं है, अतः मूल सूर्यसिद्धान्त में वह था—ऐसा नहीं कह सकते। पर विष्णुचन्द्र के कथन से सूर्यसिद्धान्त में उसका अस्तित्व सिद्ध होता है। इससे ज्ञात होता है कि उन्होंने वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के उद्देश्य से ऐसा कहा है। इससे वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के काल के विषय में पिछले पृष्ठों में जो अनुमान किये गये हैं उनकी पुष्टि होती है।

क्रान्तिपात भगण क्यों नहीं लिखे। यद्यपि यह सत्य है कि ब्रह्मगुप्त ने अपने ग्रन्थ में अयनभगण नहीं लिखे हैं और अयनसंस्कार कहीं नहीं बतलाया है, तथापि उपर्युक्त आर्या और उसकी पृथूदकटीका से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमें ब्रह्मगुप्त के पहिले अयनचलन का ज्ञान था। ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थ में उसका वर्णन न होने का कारण यह है कि वे सायन रवि की संक्रान्ति की ही अर्थात् सायन मिथुनान्त को ही दक्षिणायनारम्भ मानते थे। (यह बात पीछे उनके वर्णन में लिख चुके हैं)। इसीलिए उन्होंने गणित से अयनगति का सम्बन्ध बिलकुल नहीं रखा।

पिछले पृष्ठों में मुंजाल की आर्याएँ लिखी हैं। उनमें अयनभगणसंख्या कल्प में १९९६६९ बतायी हैं। सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा होती है या नहीं, इस विषय में यद्यपि उनमें कुछ नहीं लिखा है तथापि पूर्ण प्रदक्षिणा मानने से कलियुग के आरम्भ में सम्पात का चक्रशुद्ध राश्यादि भोग ९।२९।३७।४०.८, शून्यायनांश वर्ष शक ४४९ और वार्षिक अयनगति ५९.९००७ विकला आती है। इन सबों का विचार करने से मुझे इस बात का सन्देह नहीं रह जाता कि मुंजाल सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा मानते थे। शक ८५४ के उनके लघुमानस करण में वार्षिक अयनगति एक कला है।

द्वितीय आर्यसिद्धान्त में अयन को ग्रह मानकर उसके भगण बतलाये हैं और तदनुसार अयनांश लाने की निम्नलिखित रीति लिखी है—

अयनग्रहदोःक्रान्तिज्याचापं केन्द्रवद्धनर्णं स्यात्।
अयनलवास्तत्संस्कृतखेटादयनचरापमलग्नानि ॥१२॥

स्पष्टाधिकार

अर्थ—अयनग्रह का भुज करके क्रान्तिज्याचाप लाओ। उसका धनर्ण केन्द्र की तरह होता है। वे चापांश ही अयनांश कहलाते हैं। (अयनग्रह मेषादि ६ राशि के भीतर हो तो अयनांश धन और तुलादि ६ राशि के भीतर हो तो ऋण होते हैं।)[1] उनसे संस्कृत ग्रहों द्वारा अयन, चर, क्रान्ति और लग्न लाने चाहिए।

यह रीति क्रान्ति लाने की रीति सरीखी ही है। हमारे सब सिद्धान्त और द्वितीय आर्यभभ भी परमक्रान्ति २४ अंश मानते हैं, इसलिए द्वितीय आर्यभट के मतानुसार अयनांश २४ से अधिक नहीं होते। इनका अर्थ यह है कि धन अयनांश शून्य से आरम्भ कर २४ अंश पर्यन्त बढ़ते हैं और तदनन्तर क्रमशः घटते-घटते शून्य तक आ जाते हैं।

---

१. यह धनर्णसंकेत ग्रहों के विषय में इसी अधिकार में पहिले आ चुका है।

इसके बाद ऋण होकर शून्य से २४ अंश तक बढ़कर पुनः घटते-घटते शून्य हो जाते हैं। अर्थात् सम्पात की एक प्रदक्षिणा ९६ अंशों की होती है।

द्वितीय आर्यसिद्धान्त में अयनग्रह के कल्पीय भगण 'मसिहटमुथा' अर्थात् ५७८-१५९[1] बतलाये हैं। ९६ अंश का भगण मानने से इन भगणों द्वारा वार्षिक अयनगति ४६.३ विकला आती है, परन्तु यहां अयनांशलाने की रीति क्रान्ति की रीति सदृश होने के कारण अयनगति सर्वदा समान नहीं आयेगी। पूर्वोक्त भगणों द्वारा अयनग्रह की वर्षगति २ कला ५३.४ विकला आती है। इससे वर्ष में अयनगति कभी तो ६९.४ विकला आयेगी और कभी ६.१ विकला या इससे भी कम। अयनग्रह का एक भगण लगभग ७४७२ वर्षों में पूर्ण होता है। इसके एक चतुर्थांश के प्रथम दशांश में अर्थात् लगभग १८७ वर्षों तक अयनगति ६९.४ विकला रहेगी। द्वितीय दशांश में भी प्रायः इतनी ही रहेगी। तृतीय में ६३.७ विकला हो जायगी और आगे ५८.१, ५२, ४३.३, ३०.६, २०.४, ६.१ होगी। इस प्रकार २४ अयनांश हो जाने के बाद द्वितीय चतुर्थांश में जब कि अयनांश घटते रहेंगे प्रत्येक दशांश में ये ही गतियां उत्क्रम से आयेंगी। तृतीय चतुर्थांश में फिर क्रम से और चतुर्थ में पुनः उत्क्रम से आयेंगी, पर अनुभव ऐसा नहीं है। अयनगति में अन्तर पड़ता है पर बहुत थोड़ा। इतना कि अयनगति सदा समान रहती है, ऐसा कह सकते हैं।

द्वितीयआर्यभट ने पराशर-मतानुसार कल्प में अयनग्रह के ५८१७०९ भगण माने हैं। इससे शून्यायनांश वर्ष शक ५३२ आता है और अयनांश लाने की रीति क्रान्ति सरीखी होने के कारण अयनगति सदा समान नहीं आतीं। उसका मध्यम मान ४६.५ विकला आता है।

सम्पातभगण कितने होते हैं और सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा होती है या १०८ अंश की, इस विषय में भास्कराचार्य ने स्वकीय मत कुछ भी नहीं लिखा है।[2] सौरोक्त भगणों का अनुवाद करने के बाद वे आगे लिखते हैं—

अयनचलनं यदुक्तं मुंजालाद्यैः स एवायम (क्रान्तिपातः)।
तत्पक्षे तद्भगणाः कल्पे गोऽङ्गर्तुनन्दगोचन्द्राः १९९६६९ ॥१८॥
गोलबन्धाधिकार

---

१. पाठ भेदादिकों का पूर्ण विचार करके यह संख्या निश्चित की गयी है।

२. प्रो० ह्विटने ने (सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद के पृष्ठ १०४ में) लिखा है—भास्कराचार्य ने कल्प में १९९६६९ सम्पातभगण बतलाये हैं। पर यह उनका भ्रम है, भास्कराचार्य ने यहां मुंजालोक्त भगण उद्धृत किये हैं।

इसकी टीका में सौरोक्त और मुंजालोक्त अयनभगणसंख्या बतलाने के बाद वे लिखते हैं—

> अथ च ये वा ते वा भगणा भवन्तु यदा येंऽशा निपुणैरुपलभ्यन्ते तदा स एव क्रान्तिपातः ।

यहां उन्होंने केवल इतना ही कहा है कि जिस समय वेध से जो अयनांश उपलब्ध हों वे ही लेने चाहिए। "साम्प्रतोपलब्ध्यनुसारिणी कापि गतिरङ्गीकर्तव्या" कथन से उनका यह मत प्रकट होता है कि उपलब्ध अयनांशों द्वारा कल्पीय भगणों की कल्पना करनी चाहिए। भास्कर के ग्रन्थ में मुझे उनकी यह उक्ति कहीं नहीं मिली कि सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा होती है। वे यह भी नहीं कहते कि पूर्ण प्रदक्षिणा नहीं होती है। करणकुतूहल में उन्होंने वार्षिक अयनगति एक कला और शक ११०५ में ११ अर्थात् शक ४४५ में शून्य अयनांश माना है।

अयनगति-भगण और वार्षिक अयनगति विषयक उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है कि सूर्यादि पांच सिद्धान्तों में वार्षिक अयनगति ५४ विकला, मुंजाल के मत से ५९.९ विकला और द्वितीय आर्यभट तथा पराशर के मत से ४६.३ और ४६.५ विकला है। तथापि मेरी समझ से यह कथन अनुचित न होगा कि शक ८५४ से ६० विकला वार्षिक गति का ही विशेष प्रचार है। उस समय से लेकर आज तक जितने करणग्रन्थ बने हैं प्रायः उन सबों में वार्षिक गति इतनी ही है। हाँ, भटतुल्य करण और सूर्यसिद्धान्तानुयायी दो एक करण ऐसे हैं जिनमें ५४ विकला भी है।

सम्पात का पूर्ण भ्रमण अथवा आन्दोलन

मुंजाल के मतानुसार सम्पात विलोम गति से सम्पूर्ण नक्षत्रमण्डल में भ्रमण करता है। कोलब्रूक लिखते हैं कि ब्रह्मसिद्धान्त के टीकाकार पृथूदक और सिद्धान्तशिरोमणि-टीकाकार नृसिंह ने सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा का द्योतक वसिष्ठसिद्धान्तकार विष्णुचन्द्र का एक वचन उद्धृत किया है। इसका विवेचन कर चुके हैं। सूर्यादि पांच सिद्धान्त सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा नहीं मानते। उनके मत में वह रेवती तारा से २७ अंश पर्यन्त पूर्व और पश्चिम जाता है। द्वितीय आर्यसिद्धान्त में यह पूर्वपश्चिम-गमन २४ अंश तक ही बतलाया है। किसी भी करणग्रन्थ में स्पष्टतया यह नहीं लिखा है कि सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा होती है, पर उनकी अयनांशनयन रीति से अयनांश ३६० अंश पर्यन्त आते हैं। जब वे २४ या २७ से अधिक होने लगें उस समय वार्षिक गति ६० विकला को ऋण मानकर क्रमशः कम करते जाना चाहिए, ऐसा प्रायः किसी भी करणग्रन्थ में नहीं लिखा है। शून्यायनांशवर्ष शक ४४५ और वार्षिक अयनगति एक

कला मानने वाले करणग्रन्थों के अनुसार शक १८८५ में २४ और २०६५ में २७ अयनांश होंगे। सूर्यसिद्धान्तानुसार २७ अयनांश शके २२२१ में और द्वितीय आर्यभट तथा पराशर के मतानुसार २४ शके २४०० के लगभग होंगे। यदि यह सिद्धान्त सत्य है कि सम्पात सम्पूर्ण नक्षत्रमण्डल में नहीं घूमता, तो शके १८८५ के बाद अधिकाधिक ६०० वर्षों के भीतर ही इसका अनुभव होने लगना चाहिए। अर्वाचीन यूरोपियन ज्योतिषी उसकी पूर्ण प्रदक्षिणा मानते हैं। यदि उनका सिद्धान्त ठीक ोगा तो कालान्तर में चैत्र-वैशाख में वर्षा ऋतु आने लगेगी। आधुनिक सायनपञ्चाङ्गकार ललकार कर कहते हैं कि कुछ दिनों में सचमुच ऐसा ही होगा और उनके इस कथन को कोई भी असत्य नहीं कह सकता। श्रुतियों में वसन्त ऋतु मधु-माधव (चैत्र-वैशाख) मासों में ही बतायी है। इस स्थिति में मुंजाल का यह मत कि सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा होती है—श्रुतिवचनों के विरुद्ध पड़ता है। इसलिए मरीचिकारादिकों ने उसे वेदवाह्य कहकर सदोष ठहराया है और उनकी दृष्टि से यह ठीक भी है, पर वे यह नहीं समझ सके कि पूर्ण प्रदक्षिणा होना या न होना अपने अधिकार के बाहर की बात है। वेदाङ्गज्योतिष में उदगयनप्रवृत्ति धनिष्ठारम्भ में बतायी है। इसका अर्थ यह है कि उस समय सम्पात भरणी के चतुर्थ चरण के आरम्भ में अर्थात् आरम्भस्थान से २३ अंश २० कला पर था। वेदों में नक्षत्रारम्भ कृत्तिका से है अतः उस समय सम्पात संभवतः कृत्तिका के आरम्भ में अर्थात् आरम्भस्थान से २६ अंश ४० कला पर रहा होगा। पहिले वह अश्विनी से आगे था और बाद में पीछे चला आया, इसी से लोगों ने समझा होगा कि उसका आन्दोलन होता है। उसके लगभग २४ अंश या २७ अंश तक के चलन का अनुभव होने के कारण अथवा परमक्रांति २४ अंश होने के कारण हमारे कुछ सिद्धान्तकारों ने २४ या २७ अंश आन्दोलन मान लिया, बाद में अनुभव चाहे जो हो। यदि पूर्ण प्रदक्षिणा मानते हैं तो ऋतुएँ श्रुतिसम्मत नहीं होतीं, इस सद्योदोष को टालने में उनकी यह आन्दोलन की कल्पना वस्तुतः बड़ा काम कर गयी।

अयनगतिसूक्ष्मत्व

अब भारतीयों द्वारा निश्चित की हुई वार्षिक अयनगति और शून्यायनांशवर्ष के सूक्ष्मत्व का विचार करेंगे। स्पष्ट है कि वर्ष में सूर्य एक बार सम्पात से चलकर पुनः सम्पात में आने के बाद जितना आगे जाय वही वार्षिक अयनगति माननी चाहिए। ऊपर पञ्चसिद्धान्तिकोक्त रोमकसिद्धान्त के विवेचन में भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों के वर्षमान दिये हैं। उनमें से वेदाङ्गज्योतिष, पितामह और पुलिशसिद्धान्तों के वर्षमान शके ४२७ (पञ्चसिद्धान्तिका) के पहिले ही व्यवहार से बहिर्गत हो चुके थे और रोमक के वर्षमान का प्रचार हमारे देश में कभी था ही नहीं, यह भी वहीं सिद्ध कर चुके

हैं। ब्रह्मगुप्त का वर्षमान ३६५।१५।३०।२२।३० शक ९६४ के बाद भी कभी प्रचलित था, ऐसा नहीं मालूम होता। शेष सब ३६५।१५।३१।१५ से ३६५।१५।३१।३१।२४ पर्यन्त हैं और शके १००० से ये ही प्रचलित हैं। ईसवी सन् १९०० का सायन वर्षमान ३६५।१४।३१।५३।२५ है अर्थात् इतने समय में सूर्य सम्पात से चलकर पुनः सम्पात में आ जाता है। इसे सूर्यसिद्धान्त के वर्षमान ३६५।१५।३१।३१।२४ में से घटाने से जो शेष बचता है उतने समय में सायन रवि की गति ५८.७७७[1] अथवा किञ्चित स्थूल लेने से ५८.८ विकला आती है और शके १००० से प्रचलित उपर्युक्त वर्षमानों में से न्यूनतम मान लेने से सम्पातगति लगभग .२६९ विकला कम अर्थात् ५८.५०८ आती है। ब्रह्मगुप्त का वर्षमान लेने से ५७.५५७ आती है, पर अयनगति निश्चित करते समय यह वर्ष नहीं लिया गया था, यह मेरा मत है। सायन सौरवर्ष का मान थोड़ा-थोड़ा न्यून होता जा रहा है। शक ७०० के पास का मान लेने से उपर्युक्त प्रत्येक अयनगति लगभग .२४ विकला कम हो जायगी। इन सब बातों का विचार करने से निश्चय यह होता है कि हमारे ग्रन्थों के उपर्युक्त वर्षमानों के औसतमान के अनुसार ५८.४ विकला वार्षिक अयनगति अत्यन्त सूक्ष्म होगी। सम्प्रति ग्रहलाघव और मकरन्द, ये दोनों ग्रन्थ मिलकर सम्पूर्ण भारत के आधे से अधिक भाग में प्रचलित हैं और दोनों में वर्षमान वर्तमान सूर्यसिद्धान्त का है। उसके अनुसार ५८.६ विकला वर्षगति सूक्ष्म होगी। इससे सिद्ध होता है कि मुंजाल की वार्षिक गति ५९.९ विकला और सम्प्रति सर्वत्र प्रचलित ६० विकला, ये दोनों बहुत सूक्ष्म हैं, अर्थात् हमारे ज्योतिषियों द्वारा निश्चित की हुई गति में केवल १.४ विकला का अन्तर है।[2] अयनगति विषयक अन्य राष्ट्रों के अन्वेषण का थोड़ा सा इतिहास आगे दिया है। उससे ज्ञात होता है कि हमारे ज्योतिषियों ने इसका इतना सूक्ष्म ज्ञान स्वयं सम्पादित किया है, किसी अन्य राष्ट्र ने नहीं लिया है और यह एक ही बात यूरोपियनों के इस झूठे आरोप को कि हिन्दू वेध करने में बिलकुल अनाड़ी हैं--अनुचित सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।[3] कोलब्रूक ने लिखा है कि हिन्दुओं की अयनगति टालमी से सूक्ष्म है।[4]

---

१. केरोपन्त ने ग्रहसाधनकोष्ठक (पृष्ठ ३२) में ५८.५२१ लिखी है पर यह कुछ सान्तर ज्ञात होती है।

२. हमारे यहाँ १.४ विकला अधिक मानी गयी है, तदनुसार आधुनिक यूरोपियन ग्रन्थागत सायन रवि और ग्रहलाघवीय सायन रवि में अन्तर पड़ता है।

३. सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद की टिप्पणी में ह्विटने ने वेध के विषय में हिन्दुओं का अनेकों स्थानों पर बड़ा उपहास किया है।

४. Essays, Vol. II, p, 411

सम्पातगति विषयक अन्य राष्ट्रों का अन्वेषण

यूरोप में सम्पातगति का अन्वेषण सर्वप्रथम हिपार्कस ने ई० पू० १२५ के लगभग अपने और अपने से लगभग १७० वर्ष प्राचीन टिमोकेरिस के वेधों द्वारा किया। उसके लगभग ३०० वर्ष बाद टालमी ने सम्पातगति के अस्तित्व की निश्चित रूप से स्थापना की। उसके ग्रन्थ सिन्टाक्सिस के सातवें भाग में इसका विवेचन है। उसने लिखा है—हिपार्कस के समय से आज तक २६७ वर्षों में तारों के भोग २ अंश ४० कला बढ़े हैं। तदनुसार उसने १०० वर्षों में एक अंश अर्थात् ३६ विकला वार्षिक गति निश्चित की। टालमी का कथन है कि हिपार्कस ने भी इतनी ही मानी थी। यह बहुत थोड़ी है। २६७ वर्षों में भोग लगभग ३ अंश ३७ कला बढ़ना चाहिए था और टालमी ने २।४० लिखा है अर्थात् इसमें लगभग एक अंश की अशुद्धि है। वेध स्थूल रहे हों तो भी इतनी अशुद्धि होना असम्भव है। इसी कारण बहुत से सुप्रसिद्ध ज्योतिषियों ने अनुमान किया है कि टालमी ने वेध कभी किया ही नहीं था। उसने हिपार्कस के नक्षत्र भोग में २।४० मिलाकर अपना सन् १३७ का नक्षत्रपट तैयार कर लिया था। टालमी पर किये गये इस आरोप को सत्य सिद्ध करने वाले बहुत से प्रबल प्रमाण हैं। डिलाम्बर ने टालमी और फ्लामस्टेड[1] के तारकादर्शों के ३१२ तारों के भोगों की तुलना करके और दोनों ज्योतिषियों के समयों में १५५३ वर्ष का अन्तर मानकर वार्षिक गति ५२.४ विकला निकाली है। यह वास्तविक गति से २ विकला अधिक अर्थात् बहुत अधिक है। इसी प्रकार उन्होंने टालमी के नक्शे में दिये हुए नक्षत्र भोगों में से २।४० घटाकर उन्हें हिपार्कस के भोग मानकर फ्लामस्टेड के भोगों से उनकी तुलना करके दोनों के समयों का अन्तर १८२० वर्ष मान कर वार्षिक गति ५०.१२ विकला निकाली है। वर्तमान गति और इसमें बहुत थोड़ा अन्तर है (इससे टालमी ने स्वयं वेध नहीं किया था, इस कथन की पुष्टि होती है)। यूरोप के अर्वाचीन ज्योतिषी सम्पातगति निश्चित करने में सतत प्रयत्नशील रहे हैं। टायकोब्राहे ने ५१ विकला और फ्लामस्टेड ने ५० विकला सम्पात गति निश्चित की थी। लालांडी ने चित्रा तारे के हिपार्कसकथित तथा सन् १७५० में स्वयं निकाले हुए भोग द्वारा ५०.५ निश्चित की। डिलाम्बर ने ब्राडले, मेयर और

---

१. फ्लामस्टेड इंगलिश ज्योतिषी—जन्म सन् १६४६ मृत्यु १७१९
ब्रैडले इंगलिश ज्योतिषी—जन्म सन् १६९३ मृत्यु १७६२
मेयर जर्मन ज्योतिषी—जन्म सन् १७२३ मृत्यु १७६८
लालांडी फ्रेंच ज्योतिषी—जन्म सन् १७३२ मृत्यु १८०७
डिलाम्बर फ्रेंच ज्योतिषी—जन्म सन् १७४९ मृत्यु १८२२
ब्रेसेल जर्मन ज्योतिषी—जन्म सन् १७८४ मृत्यु १८४६

लासिले के तथा स्वकीय वेधों द्वारा ५०.१ निश्चित की। बेसेल ने सम्पातगति के स्वरूप का पूर्ण विवेचन किया। उन्होंने सन् १७५० में ५०.२११२९ विकला निश्चित की।[1] सन् १९०० में ३६५ दिनों में सम्पातगति ५०.२६३८ है।

[2]ईसवी सन् की ११ वीं शताब्दी के स्पेनिश ज्योतिषी अर्जाएल का मत था कि सम्पातगति ७२ वर्षों में एक अंश अर्थात् प्रतिवर्ष ५० विकला है और सम्पात का पूर्व पश्चिम १० अंश आन्दोलन होता है। १३वीं शताब्दी के थिविथ विन खोरा नामक ज्योतिषी ने २२ अंश आन्दोलन माना था। नवीं शताब्दी के एक ज्योतिषी का मत था कि सम्पात ४।१८।४३ त्रिज्या के वृत्त में भ्रमण करता है। अरब के प्रख्यात ज्योतिषी अलबटानी (सन् ८८० ई०) का मत था कि सम्पात का आन्दोलन होता है और उसकी गति ६६ वर्षों में एक अंश अर्थात् प्रतिवर्ष लगभग ५५.५ विकला है।[3] उसके पूर्व कुछ अरब ज्योतिषी ८० या ८४ वर्षों में एक अंश अर्थात् प्रतिवर्ष ४५ या ४३ विकला गति और पूर्व पश्चिम ८ अंश आन्दोलन मानते थे। अलबटानी की गति सूर्यसिद्धान्त से मिलती है।

शून्यायनांशवर्ष का सूक्ष्मत्व

अब इस बात का विवेचन करेंगे कि हमारे ज्योतिषियों द्वारा निश्चित किये हुए शून्यायनांशवर्ष कहां तक सूक्ष्म हैं। पहिले यहां भिन्न-भिन्न ग्रन्थों के शून्यायनांश वर्ष लिखते हैं।

	शक
वर्तमान सूर्यादि पांच सिद्धान्त, सिद्धान्ततत्वविवेक	४२१
मुञ्जाल	४४९
राजमृगाङ्क, करणप्रकाश, करणकुतूहल इत्यादि	४४५

---

१. इस अनुच्छेद में आया हुआ वृत्तान्त Grant's History of Physical Astronomy (P. P. 318–320) के आधार पर लिखा है।

२. इस अनुच्छेद में लिखा हुआ वृत्तान्त कोलब्रूक के निबन्ध के आधार पर दिया गया है (एशियाटिक रिसर्चेस पु० १२, पृष्ठ २०९ इत्यादि देखिए)।

३. रेहट सेक का कथन है (Journal of the Bombay B. R. A. S. vol XI. No. XXXII art VIII) कि अलबटानी के मत से सम्पातगति ७० वर्षों में १ अंश अर्थात् प्रतिवर्ष ५१.४ विकला है। दोनों में से किसे ठीक मानें?

करणकमलमार्तण्ड, ग्रहलाघव, इत्यादि	४४४
भास्वतीकरण	४५०
करणोत्तम	४३८
द्वितीय आर्यसिद्धान्त	५२७
द्वितीयार्यसिद्धान्तोक्त पराशरमत	५३२
दामोदरीय भटतुल्य	३४२

यहां अन्तिम ग्रन्थ भटतुल्य का काल विचारणीय है। उस ग्रन्थ में स्पष्टतया यह नहीं लिखा है कि शक ३४२ में अयनांश शून्य था। यह वर्ष उसमें दी हुई अयनांशानयन की रीति द्वारा लाया गया है। उसमें आरम्भ वर्ष ३४२ मानने का यह कारण है कि वह ग्रन्थ शक १३३९ का है और उसमे वर्षगति सूर्यसिद्धान्त की अर्थात् ५४ विकला ली है। ३४२ को आरम्भ वर्ष मानने से शक १३३९ में अयनांश १४।५७ आते हैं। शक ४४४ को आरम्भ वर्ष और वर्षगति ६० विकला मानने से शक १३३९ में अयनांश लगभग इतने ही अर्थात् १४।५५ आते हैं। अन्य करणग्रन्थों के अनुसार भी लगभग इतने ही आते हैं। ग्रन्थकार इस अयनांश को छोड़ नहीं सकते थे और उन्हें अयनगति ५४ विकला माननी थी। इसलिए उन्होंने शून्यायनांशवर्ष ३४२ माना। द्वितीय आर्य-सिद्धान्त और पराशर के वर्षों को छोड़ अब यहां शेष का विचार करेंगे। उन दोनों का विचार बाद में करेंगे। किसी भी सिद्धान्त का शून्यायनांशवर्ष वह है जिसमें उसकी स्पष्ट और शायन मेषसंक्रान्तियां एक ही समय अथवा बिल्कुल पास-पास हों। शक ४५० में भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों के मध्यम और स्पष्ट मेषसंक्रमणकाल ये आते हैं—

	मध्यम मेष (शक ४५०)	[1]स्पष्ट मेष (शक ४५०)
	चैत्र शुक्ल १४ सोमवार (२० मार्च सन् ५२८)	चैत्र शुक्ल १२ शनिवार (१८ मार्च सन् ५२८)
	उज्जयिनी के मध्यम सूर्योदय से घटी पल	उज्जयिनी के मध्यम सूर्योदय से घटी पल
मूल सूर्यसिद्धान्त	४५ १३.५	३४ ४९
वर्तमान सूर्यादि पांच सिद्धान्त	४६ ३८.२	३६ १४

---

१. सूर्यसिद्धान्तानुसार स्पष्ट मेषसंक्रान्ति मध्यम मेषसंक्रान्ति से २ दिन १० घटी १५ पल पूर्व और ब्रह्मसिद्धान्तानुसार २।१०।२४ पूर्व होती है, परन्तु यहां अन्तर सर्वत्र २।१०।२४ ही लिया है तथापि इससे फल में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ेगा।

प्रथम आर्यसिद्धान्त	४५ ६.२		३४	४२
द्वितीय आर्यसिद्धान्त	४७ १३.२		३६	४९
राजमृगाङ्क, करणकुतूहल	४७ २४.६		३७	१
ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त (चैत्र शुक्ल १३ रवौ)	५२ १०.८	(चैत्र शुक्ल ११ भृगौ)	४१	४७

उपर्युक्त भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों के स्पष्ट मेषसंक्रमणकाल में सायन रवि[1] निम्नलिखित आता है।

	रा०	अं०	क०
मूल सूर्यसिद्धान्त	११	२९	५८.९
वर्तमान सूर्यादि पांच सिद्धान्त	०	०	०.३
प्रथम आर्यसिद्धान्त	११	२९	५८.८
द्वितीय आर्यसिद्धान्त	०	०	०.९
राजमृगाङ्कादि	०	०	१.१
ब्रह्मसिद्धान्त	११	२९	७.१

यहां ब्रह्मसिद्धान्त की संक्रान्ति और सायन संक्रान्तियों में शक ४५० में बहुत अर्थात् लगभग ५४ घटी का अन्तर है। इस सिद्धान्त के अनुसार शक ५०९ में दोनों संक्रान्तियाँ एक समय आती हैं, परन्तु ब्रह्मगुप्त का वर्षमान इतरों से भिन्न होने के कारण ऐसा होता है। इस वर्षमान का विस्तृत विवेचन ब्रह्मगुप्त के वर्णन में कर चुके हैं। उससे औंर उपर्युक्त सायन मेषसंक्रमणकाल से ज्ञात होता है कि शून्यायनांशवर्ष ब्रह्मगुप्त के वर्षमान के आधार पर नहीं निश्चित किया गया है। शेष ग्रन्थों द्वारा उनकी स्पष्ट और सायन-मेषसंक्रान्तियों के एक समय आने के काल अर्थात् शून्यायनांशवर्ष नीचे लिखे हैं—

वर्तमान सूर्यादि पांच सिद्धान्तों के वर्ष द्वारा	शक ४५०
मूल सूर्यसिद्धान्त, प्रथम आर्यसिद्धान्त के वर्ष द्वारा	४५१
द्वितीय आर्यसिद्धान्त, राजमृगांकादि के वर्ष द्वारा	४४९

---

१. सायन रवि केरोपन्तीय ग्रहसाधनकोष्ठक द्वारा लाया गया है। उसे लाते समय कालान्तरसंस्कार ३ कला माना है। केरोपन्त ने अपने ग्रन्थ में निरयन स्पष्ट मेषसंक्रमण वर्तमान सूर्यसिद्धान्त से लिया है, परन्तु उनके निश्चित किये हुए उसके समय में थोड़ी अशुद्धि है। प्रत्यक्ष सूर्यसिद्धान्त द्वारा लाया हुआ काल केरोपन्तलिखित मेषसंक्रमणकाल से ५१ पल कम आता है।

इससे सिद्ध होता है कि उपर्युक्त (पृष्ठ ४४४) भिन्न-भिन्न ग्रन्थों के शून्यायनांश वर्षों में से मुंजाल और भास्वतीकरण के वर्ष अत्यन्त सूक्ष्म हैं। सम्प्रति प्रचलित वर्ग शक ४४४ या ४४५ भी बहुत सूक्ष्म[1] हैं। सूर्य सिद्धान्तानुसार ७२०० वर्षों में एक अयनान्दोलन होता है अर्थात् सम्पात एक स्थान से चलकर ३६०० वर्षों में फिर वही आ जाता है। कलियुगारम्भ में वह मूल स्थान में था। कलियुगारम्भ से ३६०० वर्ष शक ४२१ में पूर्ण होते हैं और उस वर्ष में सूर्यसिद्धान्त की मेषसंक्रान्ति सायन-संक्रान्ति के कुछ ही अर्थात् लगभग २९ घटी पूर्व होती है, अतः सूर्यसिद्धान्ता-नुसार शून्यायनांशवर्ष शक ४२१ माना गया है। करणोत्तम का वर्ष शक ४३८ है। मैंने वह ग्रन्थ प्रत्यक्ष नहीं देखा है अतः उसके विषय में विशेष नहीं लिखा जा सकता तथापि वह वर्ष सूक्ष्म वर्ष के बिलकुल पास है। द्वितीय आर्यसिद्धान्त में दी हुई रीति द्वारा शून्यायनांशवर्ष शक ५२७ आता है। उसकी अयनांशानयन रीति क्रान्ति की रीति सदृश होने के कारण अयनगति सदा समान नहीं आती। द्वितीय आर्यसिद्धान्त शक ५२७ के बाद बना है। उसके रचनाकाल में अन्य ग्रन्थों के अयनांश, द्वितीयार्य-सिद्धान्तोक्त रीति द्वारा लाये हुए अयनांश और छाया द्वारा वेध से लाये हुए अयनांश पास-पास थे, उनके अनुसार उसमें अयनग्रहभगणों की कल्पना, की गयी और इसी कारण उसका शून्यायनांशवर्ष शक ५२७ आता है—यह मेरा मत[2] है। द्वितीयार्यसिद्धान्तान्तर्गत पराशरमत की भी यही स्थिति है। इससे निर्विवाद सिद्ध होता है कि हमारे ग्रन्थों का शून्यायनांशकाल बहुत सूक्ष्म है। आधुनिक सूक्ष्म यूरोपियन गणित से सिद्ध होता है कि रेवतीयोगतारा शक ४९६ में सम्पात में था इसलिये कोई कोई कहते हैं कि शून्यायनांश-वर्ष शक ४९६ मानना चाहिए। परन्तु यह ठीक नहीं है। इसका विचार आगे किया है।

अयनगति और शून्यायनांशकाल निश्चित करने की विधि

यहां तक आधुनिक सूक्ष्म अयनगति और यूरोपियन ग्रन्थों से लाये हुए सायन रवि द्वारा हमारे ज्योतिषियों की अयन गति और शून्यायनांशवर्ष के सूक्ष्मत्व का विचार किया गया। अब यह देखना है कि ये बातें किस प्रकार निश्चित की गयी हैं। भास्करा-चार्य ने लिखा है—

---

१. उपर्युक्त सायन रवि अत्यन्त सूक्ष्म नहीं होगा। उसमें एक कला का अन्तर पड़ने से शून्यायनांशकाल एक वर्ष आगे या पीछे चला जायगा।

२. इस बात को सिद्ध मानकर द्वितीय आर्यसिद्धान्त का रचनाकाल लगभग शक ९०० लाया गया है।

यस्मिन्दिने सम्यक् प्राच्यां रविरुदितो दृष्टस्तद्विषुवदिनम्।
तस्मिन्दिने गणितेन स्फुटो रविः कार्यः। तस्य रवेर्मेषादेश्च
यदन्तरं तेऽयनांशा:। एवमुत्तरगमने सति। दक्षिणे तु तस्यार्कस्य
तुलादेश्चान्तरमयनांशाः।। पाताधिकार, श्लोक २ टीका।

भास्कराचार्य के इस कथन का तात्पर्य यह है कि मेषविषुवकालीन अथवा तुला-विषुवकालीन ग्रन्थागत रवि और मेषादि अथवा तुलादि के अन्तर तुल्य अयनांश होते हैं। आगे उन्होंने यह भी लिखा है कि प्रत्यक्ष उत्तरायण अथवा दक्षिणायनकालीन ग्रन्थागत रवि और ३ या ९ राशि के अन्तर-तुल्य अयनांश होते हैं। सारांश यह कि सायन रवि और ग्रन्थागत रवि के अन्तर तुल्य अयनांश होता है। सूर्यसिद्धान्त में लिखा है—

स्फुटं दृक्तुल्यतां गच्छेदयने विषुवद्वये।
प्राक् चक्रं चलितं हीने छायार्कात् करणागते।।११।।
अन्तरांशैरथावृत्य पश्चाच्छेषैस्तथाधिके।।[1]
त्रिप्रश्नाधिकार

सूर्यसिद्धान्त के त्रिप्रश्नाधिकार में श्लोक १७ से १९ पर्यन्त छाया द्वारा सूर्य का भोग लाने की रीति दी है। उस रवि का सायन होना निर्विवाद है। इससे सिद्ध होता है कि सायन रवि और ग्रन्थागत रवि का अन्तर हमारे ग्रन्थों में अयनांश माना गया है और हमारे ज्योतियो ने शक ४४५ के बाद वार-वार छाया द्वारा ,रवि लाकर प्रथम तत्कालीन अयनांश, उसके बाद अयनगति और उसके द्वारा शून्यायनांश निश्चि किया है। इसके लिए उन्हें अनेक वर्षो तक वेध करने पड़े होंगे। स्पष्ट है कि जितने अधिक वेध किये जायेंगे, बातें उतनी ही सूक्ष्म ज्ञात होंगी।

रेवती योगतारे का अयनांश से सम्बन्ध

उपर्युक्त विवेचन से ही यह भी ज्ञात होता है कि रेवती योगतारे से अयनांश या अयनगति का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसका थोड़ा अधिक विवेचन करेंगे। आधुनिक सूक्ष्म नाक्षत्र-सौरवर्ष का मान ३६५ दिन १५ घटी २२ पल ५३ विपल १३ प्रतिविपल

---

१. इस श्लोक का अर्थ पहले (पृष्ठ ४३४ पर) लिख चुके हैं।

है। हमारे ग्रन्थों का वर्षमान यदि इतना ही होता तो कह सकते थे कि रेवती योगतारे को अथवा दूसरे तारे को आरम्भस्थान मानना है तो उसका अयनगति से सम्बन्ध है। अर्थात् रेवती योगतारे (जीटापीशियम) को आरम्भस्थान मानें तो वह शक ४९६ में सम्पात में था, अतः उस वर्ष को शून्यायनांशकाल और उसके बाद रेवती योगतारे से सम्पात तक के अन्तर को अयनांश मानना चाहिए था। परन्तु हमारा वर्षमान इतना नहीं है, अतः निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह नाक्षरसौर है। वस्तुतः रेवती योगतारा हमारे यहां आरम्भस्थान नहीं माना गया है, क्योंकि सूर्यसिद्धान्त और लल्ल के ग्रन्थ में उसका भोग शून्य नहीं है। आर्यभट और वराहमिहिर ने योगतारों के भोग ही नहीं लिखे हैं, ब्रह्मगुप्त और उनके बाद के बहुत से ज्योतिषियों ने रेवती भोगशून्य माना है, परन्तु उनका आरम्भस्थान रेवती योगतारा कभी नहीं था और न हो सकता है। वर्तमान सूर्यसिद्धान्त की स्पष्ट मेषसंक्रान्ति के समय रेवतीयोगतारे में सूर्य के रहने का समय गंणित द्वारा शक १७७ आता है और तब से सूर्यसिद्धान्त का आरम्भ-स्थान प्रतिवर्ष रेवती योगतारे से ८.५१ विकला पूर्व जाता है।[2] ब्रह्मसिद्धान्त को छोड़ अन्य ग्रन्थों का आरम्भ स्थान रेवती होने का वर्ष और प्रतिवर्ष उसके आगे जाने का मान लगभग सूर्यसिद्धान्त तुल्य ही है। ब्रह्मसिद्धान्त की स्पष्ट मेषसंक्रान्ति के समय रेवती योगतारे में सूर्य के रहने का गणितागत वर्ष शक ५९८ है और उसका आरम्भस्थान प्रतिवर्ष ७.३८ विकला रेवती के आगे जाता रहता है। सरांश यह है कि यदि हमारे ग्रन्थों का वर्ष नाक्षत्र सौर और आरम्भस्थान रेवती योगतारा होता तो रेवती योगतारे के सम्पात में आने के काल को शून्यायनांशवर्ष और सम्पात से उसके अन्तर को अयनांश मानना उचित था, परन्तु वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं है। हमारे ग्रन्थों का वर्षमान भिन्न होने के कारण ऐसा परिणाम नहीं होता। दूसरी बात यह कि यूरोपियन ज्योतिषी जिसे जीटापीशियम कहते हैं और कोलब्रूक इत्यादि यूरोपियन विद्वानों ने जिसे रेवती योगतारा माना है वह तारा बहुत छोटा है। तारों के महत्व और तेजस्विता के आधार पर उनकी कई प्रतियाँ मानी गयी हैं। चित्रा स्वाती, रोहिणी, इत्यादि बड़े-बड़े तारे प्रथम कृति के हैं। उत्तरा, फाल्गुनी अनुराधा इत्यादि कुछ तारे द्वितीय प्रति में हैं। कृत्तिकादि कुछ तृतीय प्रति के और पुष्यादि चतुर्थ प्रति के हैं। रेवती योगतारा चतुर्थ और पञ्चम प्रति के मध्य में है। कोई-कोई उसकी गणना षष्ठ

---

१. Le Verrie's Tables.

२. सूर्य सिद्धान्त के वर्षमान और आधुनिक सूक्ष्म वर्षमान के अन्तर -तुल्य समय में मध्यम रवि की गति इतनी होती है।

प्रति में करते हैं। २७ तारों में इसके तुल्य या इससे छोटे दो, तीन ही हैं। सम्प्रति उसे पहिचाननेवाले पुराने ज्योतिषी बहुत कम मिलेंगे। सारांश यह कि वह बहुत छोटा है और वेध के लिये प्रायः निरुपयोगी है। अयनांश लाने में उसका उपयोग नहीं होता था, यह तो उपर्युक्त भास्करोक्ति और सूर्यसिद्धान्त के वचन से स्पष्ट ही है। हमारे ग्रन्थों में अन्यत्र भी वेध की जो रीतियाँ वतायी हैं उनमें वेध का स्थिर तारों से बहुत कम सम्बन्ध है। मालम होता है, ग्रह को सायन करके सम्पात या सायन रवि के सम्बन्ध से वेध करने की रीति पहले विशेष प्रचलित थी।[1] यदि हमारे ज्योतिषियों ने अयनगति का सम्बन्ध रेवती योगतारे से रखा होता अर्थात् वार्षिक अयनगति ५०.२ विकला और सम्पात तथा रेवती योगतारे के अन्तर को अयनांश माना होता तो परिणाम कितना विपरीत होता, इसका यहां एक उदाहरण देते हैं। शक १८०९ में आश्विन शुक्ल ७ शुक्रवार ता० २३ सितम्बर सन् १८८७ को प्रातःकाल ग्रहलाघव द्वारा स्पष्ट रवि ५।७।५।३७ आता है। उस वर्ष का ग्रहलाघवीय अयनांश २२।४५ है। इसे जोड़ देने से सायन रवि ५।२९। ५०।३७ आता है। इससे सिद्ध होता है कि उस दिन सूर्योदय से लगभग ९ घटी के बाद सायन तुलासंक्रान्ति हुई अतः वही विषुवदिन हुआ। ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग में दिनमान उसी दिन ३० घटी है। केरोपन्तीय और सायनपञ्चाङ्गों में भी उसी दिन ३० घटी दिनमान है, अतः स्पष्ट है कि ग्रहलाघव का दिनमान शुद्ध है। केरोपन्तीय पञ्चाङ्ग में उस समय का अयनांश लगभग १८।१८।१३ है। यह सम्पात और रेवती योगतारे का अन्तर तुल्य है। इसे उपर्युक्त ग्रहलाघवीय रवि में जोड़ने से सायन रवि ५।२५।२३।५० होगा। इस प्रकार आश्विन शुक्ल ५ के लगभग चार पांच दिन बाद विषुवदिन आता है जो कि अशुद्ध है। इससे सिद्ध होता है कि हमारे ज्योतिषियों ने छायादिकों द्वारा लाये हुए रवि और ग्रन्थागत रवि के अन्तरतुल्य अयनांश माना और तदनुसार ही अयनगति निश्चित की, यह बड़ा अच्छा किया। अयनगति का बदलना तभी उचित होगा जब कि वर्षमान भी बदल दिया जाय।

अयनगतिमान-निर्णयकाल

सम्प्रति यह बताना कठिन है कि हमारे ज्योतिषियों ने अयनगति कब निश्चित की। लघुमानस करण शक ८५४ में बना है। उसमें तत्कालीन अयनांश लिखे हैं और अयनगति ६० विकला मानी है। ये दोनों अत्यन्त सूक्ष्म हैं अतः लगभग शक ८०० के पूर्व हमारे यहाँ अयनगति का पूर्ण ज्ञान हो चुका था, इसमें सन्देह नहीं है। मूल 'सूर्य-

---

१. आगे वेधप्रकरण और त्रिप्रश्नाधिकार की नलिकाबन्ध की रीति देखिए।

सिद्धान्त, प्रथम आर्यसिद्धान्त और पञ्चसिद्धान्तिका में अर्थात् शक ४२७ के पहिले के ग्रन्थों में अयनगति के विषय में कुछ नहीं लिखा है, अतः शक ४२७ तक अयनगति का विचार नहीं हुआ होगा। वर्तमान सूर्यसिद्धान्त में अयनगति है। उसका विचार हम (पृष्ठ ४३४ में) कर चुके हैं। ब्रह्मगुप्त और लल्ल के ग्रन्थों में अयनगतिसंस्कार कहीं नहीं है और उनसे प्राचीन वर्तमान सूर्यसिद्धान्त में है, इससे सहज ही कल्पना होती है कि अयनचलन-सम्बन्धी श्लोक उसमें बाद में मिला दिये गये होंगे। वे श्लोक त्रिप्रश्नाधिकार में हैं। वस्तुतः अयन-भगण अन्य भगणों के साथ मध्यमाधिकार में लिखे जाने चाहिए थे। स्पष्टाधिकार में और उसमें भी विशेषतः क्रान्ति-चर इत्यादिकों के साधन में तो अयनसंस्कार अवश्य बताना चाहिए था, पर वहाँ नहीं है। त्रिप्रश्नाधिकार के अतिरिक्त उसका उल्लेख ग्रन्थ भर में अन्यत्र केवल एक स्थान पर—पाताधिकार के छठे श्लोक में है। मानाधिकार में मकर-कर्कसंक्रान्तियों को ही अयन कहा है। त्रिप्रश्नाधिकार में वे श्लोक जहाँ हैं वहाँ से निकाल दिये जायँ तो ग्रन्थ में कोई असम्बद्धता नहीं आती। इन हेतुओं से यह अनुमान दृढ़ होता है कि वे श्लोक प्रक्षिप्त हैं। तथापि भास्कराचार्य के लेख से ज्ञात होता है कि ब्रह्मगुप्त के पहिले भी सूर्यसिद्धान्त में अयनचलनविचार था। भास्कराचार्य ब्रह्मगुप्त के ५०० वर्ष बाद हुए हैं। अतः उनका अनुमान ब्रह्मगुप्त के १२०० वर्ष बाद के आधुनिकों के अनुमान की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक है। अतः कह सकते हैं कि ब्रह्मगुप्त के पहिले भी वर्तमान सूर्यसिद्धान्त में अयनगतिविचार रहा होगा। ब्रह्मगुप्त से प्राचीन शक ५०० के लगभग के विष्णुचन्द्र के ग्रन्थ में तो वह था, इसमें सन्देह ही नहीं है (देखिए पृ० ४३६)। ब्रह्मगुप्त का मत था (ब्रह्मगुप्त का वर्णन देखिए) कि सायन रवि की संक्रान्ति ही संक्रान्ति है, अर्थात् सायन-मिथुनान्त ही दक्षिणायनारम्भ है। मालूम होता है कि इसी कारण उन्होंने अयनगति का बिलकुल विचार नहीं किया। लल्ल के ग्रन्थ में अयनगति के विषय में कुछ नहीं लिखा है, परन्तु मालूम होता है दक्षिणायनारम्भ और मिथुनान्त को एक ही मानने के कारण अथवा उस समय रवि और सायन रवि में बहुत थोड़ा अन्तर होने के कारण ऐसा हुआ होगा। सारांश यह कि शक ५०० के लगभग हमारे यहाँ अयनगति का विचार आरम्भ हुआ और शक ८०० के पूर्व उसका सूक्ष्म ज्ञान हो चुका था।

चतुर्थ प्रकरण
वेदप्रकरण

वेध शब्द 'व्यध्' धातु से उत्पन्न हुआ है। शलाका, यष्टि अथवा किसी अन्य पदार्थ द्वारा सूर्यादि खस्थ पदार्थों को देखने का नाम वेध है। उन शलाकादिकों द्वारा खस्थ बिम्ब विद्ध होता है, इसलिए इस क्रिया का नाम वेध पड़ा। केवल दृष्टि से खस्थ पदार्थों को देखना अवलोकन है, पर इसे भी वेध कह सकते हैं। सुविधा के लिए यहाँ इसे दृष्टि-वेध कहेंगे। यष्टि इत्यादि वेधसाधनों द्वारा—जिन्हें सामान्यतः यन्त्र कहते हैं—किया जानेवाला वेध यन्त्रवेध है।

हमारे देश में वेध परम्परा

यूरोपियन कहते हैं कि भारतीयों को वेधज्ञान नहीं है, उनके यहाँ वेध परम्परा नह है और न तो वेध यन्त्र हैं। इसी बात को एक मुख्य हेतु मानकर वे यह भी सिद्ध करना चाहते हैं कि हिन्दुओं ने ज्योतिषशास्त्र ग्रीकों से लिया है। हम लोगों को सृष्टिचमत्कार के अवलोकन का शौक नहीं है, यह तो कभी कहा ही नहीं जा सकता। प्रथम भाग के अनेकों वर्णनों से यह बात सिद्ध हो जाती है। २७ नक्षत्रों का ज्ञान तो हमें अत्यन्त प्राचीन काल में अर्थात् ऋग्वेदकाल में ही था। ऋग्वेद में सप्तर्षि तारों और ग्रहों का भी उल्लेख है। यजुर्वेद में २७ नक्षत्रों का वर्णन अनेक स्थानों में है। इनके अतिरिक्त दो दिव्य श्वान, दिव्य नौका, नक्षत्रिय प्रजापति नामक तारापुंजों का वर्णन पहले कर चुके हैं। नक्षत्रतारों में रोहिणी के विषय में तैत्तिरीयसंहिता में एक विस्तृत कथा है कि उस पर चन्द्रमा की अत्यन्त प्रीति है। चन्द्रमा-रोहिणी की निकटयुति अथवा १९ वर्षों में ६ वर्ष लगातार चन्द्रमा द्वारा रोहिणी का आच्छादन ही इस कथा का मूल वीज है। आश्वलायनसूत्र में ध्रुव और रोहिणी का उल्लेख है। शनिकृत रोहिणीशकटभेद का ज्ञान तो हमें आज के ७ सहस्र वर्ष पूर्व ही हो चुका था। महाभारत में ग्रह, धूमकेतु और तारों का उल्लेख अनेक स्थानों में है, यह पहिले लिख ही चुके हैं। वाल्मीकि रामायण में भी अनेक स्थानों पर नक्षत्रों और ग्रहों का वर्णन है। याज्ञवल्क्य-स्मृति में नक्षत्र-वीथियों का उल्लेख है। केवल ज्योतिषशास्त्रविषयक न होते हुए भी इन ग्रन्थों में नक्षत्र-ग्रहों का यह पर्याप्त वर्णन सिद्ध करता है कि हमें प्राचीन काल से ही आकाशाव लोकन में अभिरुचि रही है। गर्गादि संहिताओं में से कुछ संहिताएँ हमारे देश में ज्योतिष-गणितपद्धति निश्चित होने के पहिले की हैं, इसमें सन्देह नहीं। उनमें भी ग्रहचार अर्थात् नक्षत्रों में ग्रहों के गमन का वर्णन एक मुख्य विषय रहता है। वराहमिहिर ने

बृहत्संहिता के केतुचार नामक एक विस्तृत अध्याय में अनेक धूमकेतुओं का वर्णन किया है। अध्याय के आरम्भ का एक श्लोक है—

> गार्गीयं शिखिचारं पाराशरमसितदेवलकृतञ्च ।
> अन्यांश्च बहून् दृष्ट्वा क्रियतेऽयमनाकुलश्चारः ।।

इसमें उन्होंने लिखा है कि मैं गर्ग, पराशर, असित, देवल और अन्य अनेक ऋषियों के वर्णनों के आधार पर यह केतुचार लिख रहा हूँ। भटोत्पल ने इसकी टीका में पराशरादिकों के अनेक वाक्य दिये हैं। उनमें से कुछ ये हैं—

> 'पैतामहश्चलकेतुः पञ्चवर्षशतं प्रोष्य उदित :. . . अथोद्दालकः श्वेतकेतुर्दशोत्तरं वर्षशतं प्रोष्य. . .दृश्यः। . . .शूलग्राकारां शिखां दर्शयन् ब्राह्मनक्षत्रमुपसृत्य मनाक् ध्रुवं ब्रह्मराशि सप्तर्षीन् संस्पृश्य. . .काश्यपः श्वेतकेतुः पञ्चदशं वर्षशतं प्रोष्यैन्द्रयां पद्मकेतोश्चारान्ते . . .नभसस्त्रिभागमाक्रम्यापसव्यं निवृत्यार्धप्रदक्षिणजटाकारशिखः स यावन्तो मासान् दृश्यते तावद्वर्षाणि सुभिक्षमावहति।. . .अथ रश्मिकेतुर्विभावसुजः प्रोष्य शतमावर्तकेतोरुदितश्चारान्ते कृत्तिकासु धूमशिखः।।'
>
> —पराशर

भावार्थ—पैतामह केतु पाँच सौ वर्ष प्रवास करने (एक बार दिखाई देकर पाँच सौ वर्ष अदृश्य होने) के बाद उगता है। उद्दालक श्वेतकेतु ११० वर्ष प्रवास करने के बाद उगता है। शूलाग्र सदृश शिखा धारण करने वाला काश्यपश्वेत केतु १५०० वर्ष प्रवास करके पद्मकेतु नामक धूमकेतु आ जाने के बाद, पूर्व दिशा में उदित होकर ब्राह्म (अभिजित्) नक्षत्र का स्पर्श करके और ध्रुव, ब्रह्मराशि तथा सप्तर्षियों का थोड़ा स्पर्श करके आकाश के तृतीयांश पर आक्रमण करके अपसव्य मार्ग से जाता हुआ जितने दिनों तक अर्ध-प्रदक्षिणाकार जटा धारण किये दिखाई देता है, उतने दिनों तक सुभिक्ष रहता है।[1] विभावसुज रश्मिकेतु १०० वर्ष प्रवास करने के बाद आवर्तकेतु के पश्चात् कृत्तिका नक्षत्र में उगता है। वह धूमशिख है।

इसी प्रकार अन्य भी अनेक केतुओं का वर्णन है। उद्दालक, कश्यप इत्यादि ऋषियों

---

१. प्रथम भाग में महाभारत भीष्मपर्व अध्याय ३ की ग्रहस्थिति लिखी है, उसमें ब्रह्मराशि शब्द आया है,। उससे, इस उल्लेख से और ब्रह्मा अभिजित् नक्षत्र का देवता

द्वारा पता लगाये जाने के कारण इनके उद्दालकादि नाम पड़े होंगे, जैसे कि आजकल यूरोपियन ज्योतिषियों के नामानुसार एनकी का धूमकेतु, हाले का धूमकेतु इत्यादि नाम पड़े हैं। स्पष्ट है कि कई शताब्दियों के लगातार अन्वेषण के बाद ये परिणाम आये हैं। आर्यभट और ब्रह्मगुप्त का यह कथन कि सूर्यचन्द्रस्थितियाँ ग्रहण द्वारा लायी गयी हैं, पहिले लिख ही चुके हैं। वेध कार्य अनेक वर्षों तक सतत होते रहने से उसका बड़ा उपयोग होता है और यह कार्य राज्याश्रय बिना होना कठिन है। वराहमिहिर ने ज्योतिषियों का बड़ा पूज्यत्व बताया है। उन्होंने यह भी लिखा है कि राजाओं को अपने यहाँ ज्योतिषी रखकर और आकाश बाँटकर उनमें से कुछ द्वारा आकाश के भिन्न-भिन्न भागों का सतत अवलोकन कराना चाहिए। भोज राजा के राजमृगांक और वल्लभवंशीय दशबल राजा के करणकमलमार्तण्ड से भी ज्ञात होता है कि बहुत से ज्योतिषी उनके आश्रित थे। इसी प्रकार अनेक ज्योतिष ग्रन्थकारों के राज्याश्रय होने का वर्णन है। इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में हमारे यहाँ राज्याश्रय द्वारा वेध का कार्य होता था। भिन्न-भिन्न ज्योतिषियों द्वारा मध्यम ग्रहों में दिये हुए बीजसंस्कार का वर्णन पहले कई स्थानों पर किया गया है। स्पष्ट है कि उनकी कल्पना बिना वेध के नहीं हुई होगी। केशव ने स्वकृत वेध का उल्लेख किया है और सिद्धान्ततत्त्वविवेककार कमलाकर ने ध्रुव तारे को चल बताया है।

आज भी आकाशावलोकन में अभिरुचि रखने वाले पुरुष हमारे यहाँ अनेक हैं और कुछ तो ऐसे हैं जिन्होंने ज्योतिष का अध्ययन बिलकुल नहीं किया है फिर भी वे बहुत से नक्षत्रों और ग्रहों को पहिचानते हैं। अंग्रेजी और संस्कृत भाषाओं तथा ज्योतिष से सर्वथा अनभिज्ञ दो मनुष्यों ने मुझसे सहज ही कहा था कि ध्रुव नक्षत्र स्थिर नहीं है। उन्हीं मे से एक को नक्षत्र और ग्रहों का उदयास्त इत्यादि देखने में बड़ी रुचि थी और उससे मुझे बड़ी सहायता मिली। आगाशीनिवासी पाध्ये उपनामक एक वैदिक मुझे शक १८०९ में पूना में मिले थे। किसी ज्योतिष का अध्ययन न होने पर भी उन्हें यह मालूम था कि आकाश में तारे प्रतिदिन प्रायः पूर्व से पश्चिम जाते हैं, पर कुछ (उत्तर ध्रुव के पास के) तारे कुछ समय तक पश्चिम से पूर्व जाते हैं। पूछने पर मालूम हुआ कि यह बात उन्हें उनके भाई ने बतायी थी। भाई का देहान्त शक १७९५ में २२ वर्ष की

है, इससे ज्ञात होता है कि अपिजित् नक्षत्र के आसपास के तारापुंज को ब्रह्मराशि कहते थे। धूमकेतु का जो स्थान बताया है उसे खगोल पर देखने से ठीक संगति लगती है। उसमें कोई असम्भव बात नहीं है। विशेषतः अर्धदक्षिणाकार शिखा की तारों के विषय में बतायी हुई स्थिति से ठीक संगति लगती है।

अवस्था में हुआ था। वे बड़े बुद्धिमान् थे। ऐसे अनेक पुरुष सम्प्रति विद्यमान होंगे। कुछ लोगों को ये बातें अनावश्यक मालूम होंगी, पर प्रथम ज्योतिषशास्त्र का ज्ञान ऐसे ही पुरुषों के प्रयत्न से हुआ होगा और हममें वह स्वभाव आज भी है—यह दिखाने के लिए ही ये बातें लिखी हैं।

सौरार्यब्राह्मादि सिद्धान्तों में उनमें पठित भगणादि मानों के लाने की विधि का और किसी प्रकार के वेध का वर्णन नहीं है। यूरोपियनों को यह बात बड़ी आश्चर्यजनक प्रतीत होती है, पर वे प्राचीन स्थिति और हमारी धारणाओं का विचार नहीं करते। प्रेसों की तो बात ही जाने दीजिए, जिस काल में लिपिप्रचार, लिपिसाधन, अधिक क्या, लिपि के अस्तित्व तक की सम्भावना नहीं है, स्पष्ट है कि उस समय सभी बातें गुरुशिष्य परम्परया मुख से ही सिखायी जाती रही होंगी, अतः उस समय के अन्वेषकों द्वारा निश्चित किये हुए केवल सिद्धान्तों का रह जाना और और उनके साधनों का नष्ट हो जाना बिलकुल स्वाभाविक है। यदि आज हमसे कोई कहे कि अमुक समय ग्रहण लगेगा तो इसमें हमें आश्चर्य नहीं होगा, परन्तु प्राचीन काल में इस प्रकार के भविष्य बताने वालों को अलौकिक पुरुष समझना स्वाभाविक नहीं है। वह मनुष्य यदि ग्रन्थ बनायेगा तो उसमें किसी भी सिद्धान्त का पूर्वरूप और उसके साधनों का वर्णन नहीं करेगा, बल्कि अन्तिम सिद्धान्त ही लिखेगा। कुछ दिनों के बाद उसका नाम लुप्त हो जायगा और उसके ग्रन्थ को लोग अपौरुष मानने लगेंगे, यह भी सम्भव है। एक बार यह पद्धति पड़ जाने के कारण बाद के पुरुष ग्रन्थकारों ने भी अपने अनुमानों के पूर्व अङ्ग नहीं लिखे हैं। टालमी के ग्रन्थ में उनके और हिपार्कस के वेधों का वर्णन है, उनके बाद के पाश्चात्य ज्यातिषियों के भी वेध लिखे हैं, पर हमारे ग्रन्थों में यह बात नहीं है। इसका कारण सम्भवतः उपर्युक्त ही होगा। तथापि वेध के सम्बन्ध में व्यक्ति विषयक प्रयत्नों का थोड़ा वर्णन पहिले कर चुके हैं, कुछ आगे भी करेंगें।

यन्त्रवर्णन

अब ग्रहस्थितिमापक और कालमापक यन्त्रों का वर्णन करेंगे। भास्कराचार्य के ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध हैं। अतः पहिले उनके बताये हुए यन्त्रों का[1] और बाद में अन्य यन्त्रों का संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

---

१. सिद्धान्तशिरोमणि के गोलबन्धाधिकार और यन्त्राध्याय के स्थान पर यह वर्णन किया है। इसमें आये हुए नाड़ीवलय इत्यादि शब्दों का लक्षण सहित विस्तृत विवेचन करने से बड़ा विस्तार होगा और विस्तार करने पर भी बिना देखे यन्त्रों का

गोलयन्त्र—एक सीधी, गोल और सर्वत्र समान मोटी लकड़ी लीजिए। इसका नाम ध्रुवयष्टि है। छोटा-सा पृथ्वी-गोल इस प्रकार बनाइए कि यष्टि में पहनाने पर वह आगे-पीछे हटाया जा सके। उसे यष्टि के बीच में पहनाइए। उसके बाहर भूगोल बनाइये जिसमें बैठे हुए सूर्यादि ग्रह पृथ्वी की प्रदक्षिणा करते हैं। भूगोल इस प्रकार बनेगा—ठीक वृत्ताकार एक वलय[1] बनाइए। उसे ध्रुवयष्टि के दो बिन्दुओं में इस प्रकार बाँधिए कि ध्रुवयष्टि द्वारा उसके दो समान भाग हो जायँ। ठीक ऐसा ही एक और वृत्त बनाकर यष्टि के उन्हीं दो बिन्दुओं में इस प्रकार बाँधिए कि वह प्रथम वृत्त पर लम्ब हो और ध्रुवयष्टि द्वारा उसके भी दो समान भाग हो जायँ। इन दोनों को आधारवृत्त कहते हैं। तीसरा एक इतना ही बड़ा वलय लेकर आधारवृत्तों के चार बिन्दुओं में इस प्रकार बाँधिए कि वह दोनों आधारवृत्तों पर लम्ब हो और ध्रुवयष्टि उसका अक्ष हो। इसका नाम नाडीवलय अथवा विषुववृत्त है। इसके ६० समान भाग कीजिए। ये ६० नाड़ी (घटी) के द्योतक होंगे। इतना ही बड़ा एक और वृत्त इसमें इस प्रकार बाँधिए कि वह इसे दो स्थानों पर काटे और दोनों मे २४ अंश का कोण बन जाय। इसे क्रान्तिवृत्त कहेंगे। इसी में सूर्य घूमता है। इसके राशिदर्शक १२ भाग कीजिए। यदि भूगोल को ही सूर्येतर ग्रहगोल मानना है तो क्रान्तिवृत्त में क्षेपांशतुल्य कोण बनाने वाले क्षेपवृत्त बाँधिए। इनके भी राशिदर्शक १२ भाग कीजिए। क्रान्तिवृत्त पर अहोरात्रवृत्त बाँधिए। वृत्त इस प्रकार बाँधिए कि ध्रुवयष्टि के दोनों अग्र कुछ बाहर निकले रहें। इन दोनों अग्रों को दो नलियों में डाल दीजिए। भूगोल के बाहर खगोल बनाना पड़ता है, उसी में ये नलियाँ बैठायी जायँगी। ध्रुवयष्टि के दोनों अग्रों को दक्षिणोत्तर ध्रुवों के सामने रखना होगा। खगोल में जो क्षितिजवृत्त रहता है, उसके उत्तर बिन्दु से अक्षांश-जितनी ऊँचाई पर ध्रुवयष्टि का उत्तर अग्र भाग रहेगा। ध्रुवयष्टि के दोनों अग्रों को नलियों में इस प्रकार बैठाइए कि खगोल को स्थिर रखकर भूगोल घुमाया जा सके। भूगोल के बाहर खगोल इस प्रकार बनेगा—

यथार्थ ज्ञान होना कठिन है, इसलिए यहाँ संक्षिप्त ही वर्णन किया है। तथापि मुझे विश्वास है कि इसकी सहायता से सामान्य मनुष्य भी भास्कराचार्य का गोलबन्धाधिकार और यन्त्राध्याय अच्छी तरह समझ सकेगा। छत्रेस्मारक में यदि ये यन्त्र रखे जायँ तो थोड़े व्यय में बहुत बड़ा कार्य होगा।

१. ये वलय सीधे लचीले बाँसों की शलाकाओं (तीलियों) से बनाने के लिये कहे गये हैं। धातुओं के मोटे-मोटे तारों के भी हो सकते हैं। ये वलय ही वृत्त-परिधि हैं।

इसके वृत्त भगोल के वृत्तों से कुछ बड़े रहेंगे। चार समान वृत्त बनाइए। एक स्वस्तिक, अधःस्वस्तिक और पूर्वापर विन्दुओं में होता हुआ जायगा। इसका नाम समवृत्त है। दूसरा याम्योत्तरवृत्त और दो कोणवृत्त रहेंगे। ये सभी ऊर्ध्वाधः स्वस्तिकों में होते हुए जायँगे। इन सबों का समद्विभाग करनेवाला क्षितिजवृत्त इस प्रकार बाँधिए कि उत्तर ध्रुव उससे उस स्थान के अक्षांश-जितना ऊपर पड़े और दक्षिण ध्रुव उतना ही नीचे। पूर्वापर और ध्रुवविन्दुद्वयप्रोत उन्मण्डलवृत्त बनाइए। भगोलीय विषुववृत्त के धरातल में उससे बड़ा विषुववृत्त बनाइए। इसमें भी घटियों के चिह्न बनाइए। इसके बाद खस्वस्तिक और अधःस्वस्तिक स्थानों में दो काँटे लगाकर उन्हीं में एक वृत्त यों फँसा दीजिए कि वह चारों ओर घुमाया जा सके। इसे दृङमण्डल कहते हैं। इसी का नाम वेधवलय भी है। चूँकि इसे खगोल के भीतर घुमाना है इसलिए यह कुछ छोटा रहेगा। ग्रह आकाश में जहाँ रहेगा वहीं इसे घुमाकर इससे ग्रह का वेध किया जायगा। खगोल इस प्रकार बनाना चाहिए कि इसके भीतर बैठायी हुई दो नलियों में ध्रुवयष्टि के दोनों अग्र भाग ठीक बैठ जायँ, इसके बाहर दो नलियाँ लगाकर दृग्गोल बनाइए। खगोल और भगोल दोनों के सब वृत्त इसमें पुनः बनाने होंगे। अग्रा, कुज्या इत्यादि द्विगोलजात क्षेत्रों को समझने के लिए यह आवश्यक है। इन सब क्षेत्रों के समुदाय को गोल कहते हैं। (हमारे ज्योतिषी कभी-कभी रेखाओं को भी क्षेत्र कहते हैं।)

लिखा है कि इसी गोल में आवश्यकतानुसार नीचोच्चवृत्तों के साथ-साथ सब ग्रहों की कक्षाएँ पृथक्-पृथक् बनायी जा सकती हैं। ब्रह्माण्डगोल की रचना दिखाने के लिए ही इस गोल का यह वर्णन किया गया है। वस्तुतः इतने वृत्तों का एकत्र बाँधना कठिन है और इनकी सहायता से वेध करना उससे भी कठिन है। उदाहरणार्थ, खगोल के भीतर भगोल बनाने के बाद वेधवलय नहीं बनाया जा सकता। ये अड़चनें भास्करा-चार्यादिकों के ध्यान में नहीं आयी होंगी, यह बात नहीं है। वेध थोड़े से आवश्यक वृत्तों द्वारा ही करना चाहिए। हिपार्कस के आस्ट्रोलेब सरीखा हमारे यहाँ कोई यन्त्र नहीं है, पर इससे हमारे ग्रन्थों की स्वतन्त्रता ही व्यक्त होती है। इस गोल से आस्ट्रोलेब का कार्य किया जा सकता है। ब्रह्मगुप्त, लल्ल और दोनों आर्यभटों ने प्रायः ऐसा ही गोलबन्ध लिखा है। प्रथम आर्यभट के गोल में इससे कम प्रपञ्च है।

भास्कराचार्य ने यन्त्राध्याय में मुख्यतः ९ यन्त्रों का वर्णन किया है। उन्होंने उनका मुख्य उद्देश्य कालसाधन ही बताया है, पर उनमें से तीन मुख्यतः वेधोपयोगी हैं। यहाँ उनका संक्षिप्त स्वरूप लिखते हैं।

१. **चक्रयन्त्र**—धातुमय अथवा काष्ठमय चक्र बनाकर उसके बीच में छिद्र करें। चक्र की नेमि पर यन्त्र को धारण करने के लिए शृंखलादि आधार बनाये। आधार

और मध्यविन्दु में होकर जाती हुई एक लम्बरूप रेखा बनाये। उसके ऊपर लम्बरूप एक दूसरी रेखा मध्यविन्दु में होकर जाती हुई बनाये। चक्रपरिधि पर अंशों के चिह्न बनाये। मध्यविन्दुस्थ छिद्र में एक शलाका डालें जो कि चक्र पर लम्ब हो। यही अक्ष है। आधार द्वारा चक्र को इतना घुमायें कि उसकी परिधि ठीक सूर्य के सामने आ जाय। ऐसा करने पर अक्ष की छाया परिधि में जहाँ लगे वहाँ से उस ओर की तिर्यक् रेखा पर्यन्त सूर्य का उन्नतांश और छाया से चक्राधोविन्दुपर्यन्त नतांश जाने (इससे काल लाया जा सकता है)। इसी चक्र को इस प्रकार पकड़ें कि पुष्प, मघा, शतभिषक् और रेवती, इन शून्य शरवाले तारों में से दो उसकी परिधि पर आ जायँ। (ऐसा करने से वह क्रान्तिवृत्त के धरातल में आ जायगा) फिर दृष्टि आगे-पीछे करके ग्रह देखें। वह प्रायः अक्षगत दिखाई देगा। इस रीति से ग्रहों के भोगशर ज्ञात होंगे। यह यन्त्र गोलयन्त्र के दृङ्मण्डल सदृश ही है। इसके वर्णन से स्पष्ट है कि यह गोलयन्त्र के वलय सदृश नहीं बल्कि पत्ररूप है।

२. **चाप**—चक्र का आधा करने से चाप होता है।

३. **तुर्यगोल** (तुरीययन्त्र)—चाप का आधा तुर्य है।

४. **गोलयन्त्र**—ऊपर लिखी हुई विधि से खगोल में भगोल बनाने के बाद क्रान्तिवृत्त में इष्ट दिन के रविस्थान का चिह्न बनाये। भगोल को घुमाकर वह चिह्न क्षितिज में ले आयें। भगोलीय विषुववृत्त का जो विन्दु क्षितिज के सामने आये, वहाँ चिह्न बनावे। भूगोल को फिर इस प्रकार घुमाये कि रविचिह्न की छाया पृथ्वीगोल पर पड़े। इस स्थिति में विषुववृत्तीय चिह्न से क्षितिज पर्यन्त नाडीवलय में जितनी घटियाँ हों, उन्हें सूर्योदय से गतघटी जाने। उस समय क्रान्तिवृत्त का जो विन्दु क्षितिज में लगा रहेगा उससे लग्न का ज्ञान होगा।

५. **नाडीवलय**—एक चक्र बनाकर उसकी नेमि पर ६० घटियों के चिह्न बनाये। उसके मध्य में एक शलाका डाले जो कि उस पर लम्ब हो। शलाका को ध्रुवाभिमुख करने से उसकी छाया परिधि पर पड़ेगी। उससे नतोन्नत काल का ज्ञान होगा। इसी चक्र को गोल में नाडीवृत्त धरातल में रखकर उस पर घटिका, स्वदेशीय उदय और षड्वर्ग (लग्न, होरा, द्रेष्कोण, नवांश, द्वादशांश, त्रिशांश) के चिह्न बनाने से यष्टि-छाया द्वारा दिनगत काल और षड्वर्ग ज्ञात होंगे।

६. **घटिका**—द्रोणाकार हलके ताम्रपात्र के पेंदे में एक छेद कर दिया जाता है। इसी का नाम घटिका है। इसे दूसरे जलपूर्ण पात्र में छोड़ दिया जाता है। छिद्र द्वारा पानी भीतर जाने लगता है और घटिका ठीक एक घटी में डूब जाती है। छिद्र पात्र के आकार के अनुसार छोटा बड़ा बनाया जाता है।

७. **शंकु**—शंकु हाथीदाँत अथवा उसी प्रकार के किसी घन पदार्थ का बनाया जाता है। यह १२ अंगुल लम्बा, गोल और ऊपर से नीचे तक समान मोटा होता है। इसका तल और मस्तक सपाट होता है। इसकी छाया द्वारा कालादि लाने की रीति त्रिप्रश्नाधिकार में दी रहती है।

८. **फलकयन्त्र**—चक्र के ही आधार पर भास्कराचार्य ने इस कालसाधन यन्त्र की कल्पना की है। इसकी रचना यन्त्राध्याय में देखिए। यहाँ लिखने से ग्रन्थविस्तार होगा।

९. **यष्टियन्त्र**—सम भूमि पर त्रिज्यामिति व्यासार्ध का एक वृत्त बनाकर उस पर दिशाओं के चिह्न बनायें और पूर्व-पश्चिम भागों में ज्यार्ध की तरह अग्रा बनाये, उसी वृत्त के केन्द्र से द्युज्यामिति व्यासार्ध का एक दूसरा छोटा वृत्त बनावे। उस पर ६० घटियों के चिह्न बनाये। बड़े वृत्त की त्रिज्या तुल्य एक यष्टि लेकर उसका एक अग्र केन्द्र में रखे और दूसरा सूर्याभिमुख करे, जिससे उसकी छाया बिलकुल न पड़े। दूसरा अग्र और पूर्वाग्र का अग्र, इन दोनों के अन्तरतुल्य लम्बी एक शलाका द्युज्यावृत्त में ज्या की तरह रखे। इसके दोनों सिरों के बीच में जितनी घटिकाएँ हों, उतना दिन गत जाने। सूर्य पश्चिम ओर रहने पर इसी प्रकार पश्चिमाग्र द्वारा दिनशेष का ज्ञान करे। इस यष्टियन्त्र द्वारा पलभा इत्यादि अन्य अनेक पदार्थ लाने की रीतियाँ होती हैं। इससे किञ्चित् भिन्न यष्टियन्त्र द्वारा सूर्य-चन्द्रान्तर और उससे तिथि निकालने की रीति ब्रह्मगुप्त और लल्ल ने लिखी है।

भास्कराचार्य ने इसके अतिरिक्त कालसाधनार्थ दो और स्वयंवह यन्त्र लिखे हैं।

अथर्वज्योतिष में द्वादशाङ्गुल शंकु की छाया का वर्णन है। इससे सिद्ध होता है कि पाश्चात्य और हमारे ज्योतिषज्ञान का सम्बन्ध होने के पहिले से ही हमें शंकुयन्त्र ज्ञात है (अथर्वज्योतिषविचार देखिए)। पञ्चसिद्धान्तिका में यन्त्राध्याय है, पर वह समझ में नहीं आता, तथापि सम्भवतः ब्रह्मगुप्तादिकों के यन्त्रों में से अधिकांश उस समय प्रचलित थे। प्रथम आर्यभट ने यन्त्रों का वर्णन बिलकुल नहीं किया है। तथापि उपर्युक्त गोल सरीखा गोल बनाया है। इसके अतिरिक्त कालसाधन के लिए पारा, तेल अथवा जल से घूमनेवाला गोल बनाने को कहा है (आर्यभटीय गोलपाद, आर्या २२)। ब्रह्मगुप्त और भास्कराचार्य ने एक स्वयंवह यन्त्र लिखा है। वह यह है—एक चक्र बनाये। उसमें कुछ तिरछे और भीतर से पोले अरे लगाये। उनका आधा भाग पारे से भरके मुँह बन्द कर दे। ऐसा करने से वह यन्त्र स्वयं घूमने लगेगा। पञ्चसिद्धान्तिका में यन्त्रों द्वारा स्वयं होनेवाले चमत्कारों का वर्णन है। उससे और आर्यभट के उपर्युक्त गोलयन्त्र से ज्ञात होता है कि इस प्रकार के और दूसरे भी चमत्कारिक स्वयंवह यन्त्र वराहमिहिर के समय थे। वराहमिहिर और आर्यभट ने इनके बनाने की विधि नहीं लिखी है।

ब्रह्मगुप्त ने भी उपर्युक्त यन्त्र के अतिरिक्त स्वयं होनेवाले अन्य चमत्कारों का वर्णन किया है, परन्तु उन्हें बनाने की विधि नहीं लिखी है। भास्कराचार्य के सभी यन्त्रों का उल्लेख उसी अथवा कुछ न्यूनाधिक प्रकार से ब्रह्मगुप्त और लल्ल ने किया है।[1] उनके अतिरिक्त कर्तरी, कपाल, पीठ नामक कालसाधनयन्त्रों का भी वर्णन किया है। वर्तमान सूर्यसिद्धान्त में यन्त्रों का विस्तृत वर्णन नहीं है, फिर भी स्वयंवह, गोल, यष्टि, धन, चक्र और कपाल के नाम आये हैं। यहाँ एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि पञ्चसिद्धान्तिका, आर्यभटीय, वर्तमान सूर्यसिद्धान्त और लल्लतन्त्र में[2] तुरीय यन्त्र का नाम नहीं आया है। पाश्चात्य ज्योतिषियों में प्रथम तुरीय यन्त्र का आविष्कार टालमी ने किया। उसके पहिले वेध में सम्पूर्ण चक्र का उपयोग किया जाता था, पर बाद में पाश्चात्य ज्योतिषियों में सर्वत्र तुरीय यन्त्र का ही प्रचार हो गया। आजकल यूरोप में सम्पूर्ण चक्र ही प्रचलित है, तुरीय यन्त्र का नाम तक नहीं है। आधुनिक विद्वान् टालमी को यह दोष देते हैं कि उसने सुधारक्रम का विरोध किया।[3] कहने का उद्देश्य यह कि टालमी के सिद्धान्त में तुरीय यन्त्र है, पर हमारे यहाँ लगभग शक ५०० पर्यन्त यह नहीं था। इससे सिद्ध होता है कि रोमकसिद्धान्त न तो टालमी के ग्रन्थ का अनुवाद है और न उसके आधार पर बना है। कम से कम शक ५०० पर्यन्त टालमी का सिद्धान्त हमें मालूम ही नहीं था। पहले रोमक सिद्धान्त का विवेचन कर चुके हैं, उससे भी यही बात सिद्ध होती है। एक और महत्व की बात यह है कि हमारे सब यन्त्र हमारे ही ज्योतिषियों द्वारा आविष्कृत हैं और तुरीय यन्त्र की भी—जिसका प्रचार बाद में हुआ है—यही स्थिति है। चक्र और चाप द्वारा उसकी कल्पना सहज ही ध्यान में आने योग्य है और तदनुसार वह ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थ में प्रथम मिलता है, अतः उसकी कल्पना उन्हीं ने की होगी।[4]

---

१. फलकयन्त्र की कल्पना भास्कराचार्य ने की है पर उसका बीज चक्रयन्त्र में ही है। शेष आठ में से गोल और नाडीवलय का वर्णन ब्रह्मगुप्त ने पृथक् नहीं किया है पर गोलबन्ध बताया है। उसमें ये आ जाते हैं। लल्ल ने ८ में से नाडीवलय नहीं लिखा है पर गोल में वह आ जाता है। आश्चर्य है कि उन्होंने तुर्ययन्त्र नहीं लिखा है।

२. यह बात ध्यान में आने पर तुरीय शब्द ही के लिए प्रत्येक शब्द की ओर ध्यान देकर इन ग्रन्थों को पढ़ने का अवकाश मुझे नहीं मिला, तथापि तुरीय यन्त्र की जहाँ जहाँ सम्भावना थी वे सब स्थान मैंने देखे। अन्त में नहीं मिला।

३. Grant's History of Ph. Astronomy, p. 440.

४. वर्तमान सूर्यसिद्धान्त ब्रह्मगुप्त से प्राचीन है, इसका एक प्रमाण यह है कि उसमें तुरीय यन्त्र नहीं है।

द्वितीय आर्यसिद्धान्त और वर्तमान रोमश, शाकल्य, ब्रह्म और सोमसिद्धान्तों में यन्त्राध्याय बिलकुल है ही नहीं।[1]

पाश्चात्यों के प्राचीन वेध

पाश्चात्यों के[2] प्राचीन वेधों का थोड़ा-सा वर्णन यहाँ अप्रासङ्गिक नहीं होगा। यूरोपियन विद्वान् कहते हैं कि ज्योतिषशास्त्र प्रथम खाल्डियन लोगों में उत्पन्न हुआ, पर वे वेध में प्रवीण नहीं मालूम होते। टालमी ने[3] उनके ग्रहणों के वेध लिखे हैं, वे बहुत स्थूल हैं। उन्होंने ग्रहणकाल केवल घण्टों में बताया है और ग्रासप्रमाण विम्ब का आधा और चतुर्थांश लिखा है। हिराडोटस ने लिखा है कि ग्रीकों को पोल और शंकु यन्त्र तथा दिन में १२ घण्टा मानने की पद्धति बाबिलोन से मिली। पोल एक अन्तर्गोल अर्धवृत्ताकार छायायन्त्र था। उसके बीच में एक लकड़ी डाली जाती थी। अनुमानतः उससे दिन के १२ विभागों का ज्ञान किया जाता था। खाल्डियनों ने शंकु द्वारा अत्यासन्न वर्षमान निकाला, परन्तु उन्होंने उसका इससे अधिक उपयोग किया अथवा ग्रहगति सम्बन्धी नियम बनाने योग्य सामग्री वेध द्वारा तैयार की—इसका प्रमाण नहीं मिलता। परन्तु उन्होंने ग्रहणादिक चमत्कार लिख रखे और उनके द्वारा बहुत थोड़े स्थूल सामान्य नियम बनाये। उनके ग्रहणों द्वारा कुछ ग्रीक गणितज्ञों ने चन्द्रमा की मध्यमगति का बहुत सूक्ष्म मापन किया। ई० पू० ४३० में मेटन ने उत्तरायणारम्भकाल का पता लगाया। अलेक्जण्ड्रिया में ज्योतिषीवर्ग उत्पन्न होने के पहले का ग्रीकों का प्राचीन वेध यही है। मेटन ने हेलिओमीटर नामक यन्त्र से इसका ज्ञान किया। यह यन्त्र शंकु का ही एक भेद होगा। यह उदगयनदिन मेटन के १९ वर्ष के चक्र का[4] आरम्भ-दिन

---

१. तथापि इस कारण वे सूर्यसिद्धान्तादिकों से प्राचीन नहीं कहे जा सकते।

२. इस अनुच्छेद में लिखा हुआ वृत्तान्त Grant's Historp of Ph. Astronomy, Ch. XVIII के आधार पर लिखा है।

३. रेहटसेक का कथन है कि इनमें अति प्राचीन वेध ई० पू० ७१९ और ७२० के तीन ग्रहण हैं। (Jour. B. B. R. A. S., Vol. XI)

४. मेटन ने १९ सौरवर्षों में ६९४० दिन निश्चित किये (कनिंघमकृत Indian Eras पृष्ठ ४३) अर्थात् वर्षमान ३६५।१५।४७.३६८ निकाला। कालिपस ने ई० पू० ३३० में मेटन के चक्र में सुधार करके ७६ वर्षों का चक्र बनाया और तदनुसार वर्षमान ३६५।१५ निश्चित किया (Indian Eras पृष्ठ ४३)। ये चक्र अथवा वर्षमान हमारे किसी भी ग्रन्थ में नहीं हैं, यह बात ध्यान देने योग्य है।

था। अलेक्ज़ण्ड्रिया के राजाओं की प्रेरणा से ज्योतिषशास्त्र के इतिहास में नवीन काल का आरम्भ हुआ। अलेक्ज़ण्ड्रिया में एक भव्य वेधशाला बनायी गयी। उसमें वृत्ताकार यन्त्रों का उपयोग किया जाने लगा और सतत वेध का कार्य होने लगा। वहाँ के सबसे प्राचीन वेधकर्ता टायमोकेरीस और आरिस्टिलस थे। उनका काल ई० पू० ३०० है। टालमी (सन् १५० ई०) ने अपने ग्रन्थ में उनके वेध लिखे हैं, उनसे ज्ञात होता है कि उन्होंने केवल कुछ तारों की क्रान्ति निकाली थी और ग्रहण का वेध किया था। तारों का विषुवांश लाने की रीति अनुमानतः उन्हें नहीं ज्ञात थी। अलेक्ज़ण्ड्रिया के ज्योतिषी इराटोस्थेनीस (ई० पू० लगभग २७५) ने क्रान्तिवृत्त के तिर्यक्त्व का वेध किया। वह उसे २३।५१।१९ ज्ञात हुआ। स्पष्ट है कि ये वेध यन्त्रों बिना नहीं हुए होंगे। टालमी ने सूर्य का मध्योन्नतांश लाने के लिए एक यन्त्र लिखा है। उसमें दो समकेन्द्र चक्र—जिनमें एक दूसरे के भीतर घूमता रहता है—याम्योत्तरवृत्त में खड़े रहते हैं। उसे इस प्रकार रखे कि व्यास पर आमने-सामने लगाये हुए दो काँटों में से एक की छाया दूसरे पर पड़े। इससे उन्नतांश का ज्ञान होगा। इसी प्रकार के किसी यन्त्र द्वारा दोनों अयनकालों में सूर्योन्नतांश का ज्ञान करके इराटोस्थेनीस ने क्रान्तिवृत्त का तिर्यक्त्व ज्ञात किया होगा। टालमी ने हिपार्कस का एक वचन लिखा है, उससे ज्ञात होता है कि अलेक्जण्ड्रिया में एक यन्त्र का उपयोग करते थे—वह इस प्रकार लगाया जाता था कि विषुववृत्त के धरातल में रखे हुए एक वलय के ऊपरी आधे भाग की छाया नीचे के आधे पर पड़े। इससे सूर्य का विषुवागमनकाल निकालते थे। पता नहीं चलता, वहाँ के ज्योतिषियों ने तारों की क्रान्ति का ज्ञान किस प्रकार किया था। वेधपद्धति के विषय में अलेक्ज़ण्ड्रिया के ज्योतिषी स्तुत्य हैं तथापि वेध द्वारा निश्चित ग्रहस्थिति के आधार पर ज्योतिषशास्त्र के गणितस्कन्ध की स्थापना करने का श्रेय हिपार्कस को देना चाहिए। उन्होंने वर्षमान ३६५।१४।४८ निश्चित किया। इसके पहिले ३६५।१५ था। इन्होंने आस्ट्रोलेब यन्त्र का प्रथम आविष्कार किया। उससे वे खस्थों के भोगशर निकालते थे। सूर्य की स्पष्ट गति का ज्ञान इनके पहिले किसी को नहीं था और सूर्य की स्पष्ट स्थिति का गणित करने के लिए इन्हीं ने सर्वप्रथम कोष्ठक बनाये। इसके पहिले वे किसी को ज्ञात नहीं थे। इन्होंने चन्द्रमा का वेध किया और मालूम होता है चन्द्रमा की स्पष्ट स्थिति का साधन करने के लिए कोष्ठक भी बनाये। इन्होंने ग्रहों के भी वेध किये। टालमी ने चन्द्रमा का इवेक्शन संस्कार लाने और ग्रहगति का नियम बनाने में हिपार्कस के वेधों का उपयोग किया। टालमी वेध में कुशल नहीं थे। उन्होंने तुर्ययन्त्र बनाया। यह स्पष्टतया कहीं भी नहीं लिखा है कि ये ज्योतिषी कालसाधन किस प्रकार करते थे ? मालूम होता है,

घटीयन्त्र और छायायन्त्र द्वारा कालगणना करते थे। कभी-कभी वे यह भी लिखते थे कि वेधकाल में क्रान्तिवृत्त का कौन-सा भाग याम्योत्तर में है। अरब-निवासियों ने वेधयन्त्रों में विशेष सुधार नहीं किया तथापि उनके यन्त्र ग्रीकों से बड़े और अच्छे थे। उनका आस्ट्रोलेब बड़ा प्रपञ्चात्मक था।

उपर्युक्त इतिहास से ज्ञात होगा कि इसमें का एक भी वर्षमान हमारे वर्षमानों से नहीं मिलता। मूल रोमकसिद्धान्त हिपार्कस के ग्रन्थ के आधार पर बना होगा, रोमकसिद्धान्त हमारे ज्योतिष का आद्यग्रन्थ नहीं है और हमारे यहाँ उसके पहिले ज्योतिषगणितग्रन्थ थे, यह प्राचीन सिद्धान्तपञ्चक के विवेचन में सिद्ध कर चुके हैं।

अब यन्त्र विषयक अपने स्वतन्त्र ग्रन्थों और वेधशालाओं का वर्णन करेंगे।

सर्वतोभद्रयन्त्र—भास्कराचार्य के सिद्धान्तशिरोमणि के यन्त्राध्याय के दो श्लोकों से ज्ञात होता है कि उन्होंने इस नाम का एक यन्त्रग्रन्थ बनाया था, परन्तु वह सम्प्रति उपलब्ध नहीं है, अतः उसके विषय में कुछ लिखा नहीं जा सकता।

यन्त्रराज—भृगुपुर में मदनसूरि नामक एक ज्योतिषी रहते थे। उनके शिष्य महेन्द्रसूरि ने शक १२९२ में यह ग्रन्थ बनाया है। ग्रन्थारम्भ में सर्वज्ञ की वन्दना की है, इससे ग्रन्थकार जैन मालूम होते हैं। इसमें गणित, यन्त्रघटन, यन्त्ररचना, यन्त्रसाधन और यन्त्रविचारणा—ये पाँच अध्याय और सब १८२ श्लोक हैं। इस पर मलयेन्दुसूरि की टीका है। टीका में लिखा है कि महेन्द्रसूरि फीरोजशाह के मुख्य ज्योतिषी थे। टीका में उदाहरणार्थ संवत् १४३५ (शक १३००) अनेक बार लिया है। एक बार १४२७ और एक बार १४४७ भी लिया है। टीकाकार ने महेन्द्र को गुरु कहा है, अतः वे उनके प्रत्यक्ष शिष्य होंगे। टीकाकाल लगभग शक १३०० होगा। काशी में सुधाकर द्विवेदी ने यह ग्रन्थ छपाया है। ग्रन्थकार ने प्रथम अध्याय में ही लिखा है—

क्लृप्तास्तथा बहुविधा यवनैः स्ववाण्यां यन्त्रागमा निजनिजप्रतिभाविशेषात्।
तान् वारिधीनिव विलोक्य मया सुधावत् तत्सारभूतमखिलं प्रणिगद्यतेऽत्र ॥

इन्होंने त्रिज्या ३६०० और परमक्रान्ति २३।४५ मानी है। प्रत्येक अंश की भुजज्या, क्रान्ति और द्युज्या की सारणियाँ दी हैं। १ से आरम्भ कर ९० पर्यन्त प्रत्येक उन्नतांश की सप्ताङ्गुल शंकु की छाया दी है। टीकाकार ने लगभग ७५ नगरों के अक्षांश दिये हैं। ग्रन्थकार ने वेधोपयोगी ३२ तारों के सायन भोगशर दिये हैं। अयनवर्षगति ५४ विकला मानी है। यन्त्रराज की रचना थोड़े में नहीं लिखी जा सकती इसलिए यहाँ नहीं लिखी है। इसकी सहायता से सूर्य-ग्रह-तारों के उन्नतांश, नतांश, भोगशर, दो खस्थों के अंशात्मक अन्तर, अक्षांश, लग्न, काल, दिनमान इत्यादि का

ज्ञान केवल वेध से किया जा सकता है। इस ग्रन्थ पर यज्ञेश्वरकृत शक १७६४ की टीका है।

ध्रुवभ्रमयन्त्र—यह ग्रन्थ नार्मदात्मज पद्मनाभ ने बनाया है। पद्मनाभ का काल लगभग शक १३२० है। इस ग्रन्थ में ३१ श्लोक हैं। इस पर ग्रन्थकार की ही टीका है। ध्रुवभ्रमयन्त्र कालसाधन के लिए बनाया गया है। यहाँ इसकी सम्पूर्ण रचना नहीं लिखते। इसमें एक पट्टी में जिसकी लम्बाई चौड़ाई से दूनी हो छेद करके उसमें से ध्रुवमत्स्य का वेध करने को कहा है। ग्रन्थकार ने ध्रुवमत्स्य के विषय में (११वें श्लोक की टीका में) लिखा है—"उत्तरध्रुव के चारों ओर १२ तारों का एक नक्षत्रपुञ्ज है। उसे ध्रुवमत्स्य कहते हैं। उसके मुख और पुच्छ स्थानों में एक एक बड़ा तारा है। पहिला ध्रुव के एक ओर ३ अंश पर और दूसरा दूसरी ओर १३ अंश पर है।" इस यन्त्र द्वारा मुखपुच्छस्थित तारों के वेध से रात में कालज्ञान किया जाता है। अन्य नक्षत्रों और दिन में सूर्य के वेध से भी कालसाधन करने की रीति लिखी है। इससे इष्टकालीन लग्न का भी ज्ञान होता है। स्पष्ट है कि वह लग्न सायन होगा। नक्षत्रों का वेध करने के लिए २८ नक्षत्रयोगतारों के २४ अक्षांशप्रदेश के मध्योन्नतांश लिखे हैं। अतः ग्रन्थकार के निवासस्थान का अक्षांश २४ रहा होगा।

यन्त्रचिन्तामणि—वामनात्मज चक्रधर नामक गणक ने यह यन्त्रग्रन्थ बनाया है। इस पर ग्रन्थकार की और गोदावरीतीरस्थ पार्थपुरनिवासी मधुसूदनात्मज राम की टीका है। ग्रन्थकार ने अपना काल नहीं लिखा है पर टीका में भास्कराचार्य के सिद्धान्त-शिरोमणि के वचन दिये हैं और टीकाकार राम ने टीकाकाल शक १५४७ लिखा है, अतः इसका काल शक ११०० और १५०० के मध्य में होगा। इन्होंने लिखा है—'क्षितिपालमौलिविलसद्रत्नं ग्रहज्ञाग्रणीश्चक्रधरः।' इससे ज्ञात होता है कि ये किसी राजा के आश्रित थे। ग्रन्थ में ४ प्रकरण और २६ श्लोक हैं। इस पर शाण्डिल्यगोत्रीय अनन्तात्मज दिनकर की शक १७६७ की उदाहरणरूपी टीका है। यन्त्रचिन्तामणि एक प्रकार का तुरीय यन्त्र है। इससे रविचन्द्रभोग, पञ्चग्रहों के भोगशर, इष्टकाल, लग्न इत्यादि वेध द्वारा ज्ञात होते हैं। ग्रह और लग्न सायन आते हैं।

प्रतोदयन्त्र—यह यन्त्रग्रन्थ ग्रहलाघवकार गणेश दैवज्ञ का है। इसमें १३ श्लोक हैं। ग्रन्थकार ने लिखा है कि घोड़े पर जाते हुए भी इस यन्त्र से वेध द्वारा कालज्ञान और शंकुच्छायादि ज्ञान होता है। ग्रन्थविस्तार होने के भय से यहाँ उसकी रचना नहीं लिखी है। इस पर सखाराम और गोपीनाथ की टीकाएँ हैं।

गोलानन्द—इस यन्त्र की कल्पना चिन्तामणि दीक्षित ने की है। उनका गोलानन्द नामक १२४ श्लोकों का ग्रन्थ है। उसमें यन्त्ररचना, मध्यमाधिकार, स्पष्टा-

धिकार, त्रिप्रश्न, ग्रहण, छायोदयास्त, वेध और युति अधिकार हैं। गोलानन्द द्वारा वेध करने से फलसंस्कार, शीघ्रकर्ण, स्पष्टगति, क्रान्ति, चर, लग्न, दिशा, अग्रा, नतांश, वलन, लम्बन, नति, शर, दृक्कर्मसंस्कार और इष्टकाल ज्ञात होते हैं। इस पर यज्ञेश्वर-कृत गोलानन्दानुभाविका नाम की टीका है। यन्त्र सम्बन्धी ऐसे ही अन्य भी बहुत-से ग्रंथ होंगे। यन्त्रचिन्तामणिटीकाकार राम ने लिखा है—

> विलोकितानि यन्त्राणि कृतानि बहुधा बुधैः।
> मतः शिरोमणिस्तेषां यन्त्रचिन्तामणिर्मम ।।

इससे ज्ञात होता है कि उस समय अनेक यन्त्र प्रचलित थे।

उपर्युक्त सिद्धान्तशिरोमणि के और अन्य स्वतन्त्र यन्त्र बने-बनाये बहुत कम दृष्टिगोचर होते हैं। शंकु और तुरीय यन्त्र कहीं-कहीं मिलते हैं। दिनगत घटिकाज्ञापक एक-दो यन्त्र अनेक स्थानों में मिलते हैं।[1]

---

१. यह प्रकरण छपते समय (शक १८१८ वैशाख-ज्येष्ठ) मिरजनिवासी नरसो गणेश भानु ने कागज पर बनायी हुई कुछ यन्त्रों की प्रतियां मेरे पास भेजीं। भानु यद्यपि ज्योतिषी नहीं हैं, एक पेंशनर गृहस्थ हैं तथापि वे इस विषय के बड़े शौकीन हैं। उन्होंने ये प्रतियां कोल्हापुर निकटस्थ कोडोली निवासी सखाराम ज्योतिषी द्वारा शक १७१२ से १७१८ पर्यन्त बनाये हुए यन्त्रों के आधार पर बनायी है। भानु के लेख से ज्ञात होता है कि उनमें से कुछ यन्त्र पीतल के ढलवे पत्रों के होंगे। उनमें कुछ यन्त्रों की प्रतियां हैं और तुर्य, फलक तथा ध्रुवभ्रम-यन्त्र हैं। एक यन्त्रराज शक १७१२ में सप्तर्षि (सतारा) में बनाया गया है। उसमें सतारा के अक्षांश १७।४२ लिखे हैं और २७ नक्षत्रों के योगतारों के तथा कुछ और तारों के सतारा के मध्यान्हकालीन उन्नतांश दिशाओं के सहित लिखे हैं। जैसे मघा तारे के अंश ८३।५७ दक्षिण हैं। दूसरा एक यंत्रराज करवीर (कोडोली) के लिए शक १७१८ में बनाया है। उसमें करवीर के अक्षांश १७।२१ और मघा तारे के उन्नतांश दक्षिण ८४।१५ लिखे हैं। आधुनिक शोध के अनुसार सतारा का अक्षांश १७।४१ और कोल्हापुर का १६।४१ है और शक १७१८ में मघा योगतारे की उत्तरक्रान्ति लगभग १२ अंश थी, अतः उसका मध्यान्हकालीन उन्नतांश सतारा में ८५।१६ और कोल्हापुर में ८५।१६ था। सखाराम जोशी बड़े उद्योगी पुरुष ज्ञात होते हैं। सम्प्रति ये यन्त्र बेलगांवनिकटस्थ कड़ेगुद्दी तालुकास्थित शहापुर में उनके प्रपौत्र सखाराम शास्त्री के पास हैं। उनके दूसरे प्रपौत्र मोरशास्त्री मिरज में रहते हैं। कुछ यन्त्र उनके पास भी हैं।

वेधशालाएँ

स्पष्ट है कि एक स्थान में गाड़ दिये गये स्थिर वेधयन्त्र अधिक उपयोगी होते हैं। वेधशाला उस गृह को कहते हैं जहाँ अनेक स्थिर यन्त्रों द्वारा वेध किया जाता है। राज्याश्रय द्वारा निर्मित ऐसे वेधगृह प्राचीन काल में हमारे यहाँ सम्भवतः रहे होंगे, परन्तु उनका वर्णन कहीं नहीं मिलता। कहीं-कहीं ऐसे पत्थर मिलते हैं जिन पर दिक्-साधन किया रहता है। सतारा मे चिन्तामणि दीक्षित के यहाँ इस प्रकार दिक्साधन किया है। सन् १८८४ में सायनपञ्चाङ्गवाद के लिए मैं इन्दौर गया था। वहाँ पता लगा कि सरकारवाड़े में वेध के लिए एक स्थान बना है। वहाँ दिक्साधन किया जाता है। तुकोजी महाराज के ज्योतिषी वहाँ कभी-कभी वेध करते थे; मुझे बीड़ के एक ज्योतिषी मिले थे, वे कहते थे कि कुछ वर्ष पूर्व हैदराबाद की मुग़ल-सरकार ने कुछ ज्योतिषियों द्वारा सतत वेध कराने के विचार से कुछ यन्त्र बनवाये थे, पर बाद में वह कार्य बन्द हो गया। नलिकाबन्ध करके वेध करने वाले कुछ ज्योतिषी मैंने देखे हैं। वेध सम्बन्धी ऐसे छोटे-छोटे प्रयत्न सदा होते रहे होंगे, परन्तु दीर्घ प्रयत्न सम्प्रति एक ही ज्ञात है। वह है जयसिंह की पाँच वेधशालाएँ। उनके जिजमहमद नामक ग्रन्थ की प्रस्तावना का कुछ उद्धरण यहाँ देते हैं।[1] इससे पूरा विवरण ज्ञात होगा।

"सर्वव्यापक ईश्वर की शक्ति के ज्ञान में मनुष्य बिलकुल असमर्थ है। हिपार्कस और टालमी उस ज्ञान के विषय में एक गँवार किसान हैं। युक्लिड के सिद्धान्त ईश्वरीय कृत्य के बिलकुल अपूर्ण रूप हैं। जमसेदकाशी और नसीरतुसी सरीखे सहस्रों व्यर्थ में परिश्रम करके थक गये, पर किसी ने उसका पार नहीं पाया। सम्प्रति प्रचलित गणितग्रन्थ सैयद गुरगणी, खयानी के ग्रन्थ, इनशिलल मुलाचन्द, अकबरशाही ग्रन्थ, हिन्दुओं और यूरोपियनों के ग्रन्थ, इत्यादि कोई भी दृक्प्रत्ययद नहीं हैं। विशेषतः इनके नूतन चन्द्रदर्शन, ग्रहों के उदयास्त, ग्रहण और ग्रहयुतियाँ वेध से नहीं मिलतीं। मुहम्मदशाह बादशाह[2] को यह बात मालूम होने पर उन्होंने जयसिंह से इसका निर्णय करने को कहा। समरकन्द में मिर्जा उलूगबेग ने जैसे यन्त्र बनाये थे वैसे ही दिल्ली में बनवाये गये...। जयसिंह ने सोचा कि सूक्ष्मताविषयक मेरी कल्पनाएँ पीतल के यन्त्रों से नहीं सिद्ध होंगी, क्योंकि वे छोटे होते हैं, उनमें कलाओं के भाग नहीं बनाते

---

१. एशि० रिसर्चेस, पु० ५, पृ० १७७-२११ के विलियम हण्टर नामक विद्वान् के लेख से यह उद्धरण लिया गया है।

२. यह सन् १७२० से १७४८ तक दिल्ली की गद्दी पर था।

बनते, धुरे घिस जाते हैं, खिसक जाते हैं, वृत्त के मध्यछिद्र मोटे हो जाते हैं और वे यन्त्र टेढ़े हो जाया करते हैं। उन्हें मालूम हुआ कि हिपार्कस और टालमी इत्यादिकों के गणित इसी कारण वेध से नहीं मिलते। यह सोचकर उन्होंने जयप्रकाश, रामयन्त्र, सम्राट्यन्त्र इत्यादि पत्थर और चूने के पूर्ण सुदृढ़ ऐसे यन्त्र बनवाये जिनके व्यासाय १८ हाथ हैं और जिनकी परिधि में एक कला डेढ़ जौ के बराबर है। उनके घिसे हुए वृत्तादि, चलित मध्यबिन्दु और न्यूनाधिक कलाएँ बाद में ठीक की जा सकती हैं। रेखागणित के नियम, याम्योत्तरवृत्त, अक्षांश इत्यादि का पूर्ण ध्यान रखकर बड़ी सावधानी से नाप तोलकर वे बैठाये गये। इस प्रकार दिल्ली में वेधशाला की स्थापना की गयी और उन यन्त्रों द्वारा वेध करके ग्रहमध्यमगति इत्यादि दृक्प्रत्ययविरुद्ध बातें ठीक की गयीं। दिल्ली में किये हुए वेधों की परीक्षा करने के लिए सवाई जयपुर, मथुरा, काशी और उज्जैन में वेधशालाएँ बनवायी गयीं। सब स्थानों के वेधों की एकवाक्यता हो गयी। सात वर्ष वेध करने के बाद मालूम हुआ कि यूरोप में भी इसी प्रकार वेध किया जा रहा है। पादरी मान्युएल और कुछ अन्य विद्वानों को भेजकर वहाँ ३० वर्ष पहिले के रचित और लियेल[1] के नाम से प्रसिद्ध ग्रहकोष्ठक मँगाये गये। देखने पर मालूम हुआ कि उसका भी गणित वेध से नहीं मिलता। उसके चन्द्रमा में लगभग आधा अंश और अन्य ग्रहों में भी थोड़ी अशुद्धि है, इसलिए बादशाह की आज्ञानुसार ऐसा ग्रन्थ बनाया गया जिसके गणितविषयक नियम अत्यन्त सूक्ष्म और शुद्ध हैं। इससे लायी हुई स्थिति वेध से ठीक-ठीक मिलती है (बादशाह की प्रतिष्ठा के लिए उन्हीं का नाम इस ग्रन्थ का भी रखा गया)।"

हण्टर ने सन् १७९९ के लगभग पांच में से चार वेधशालाएँ देखकर उनका वर्णन उपर्युक्त एशियाटिक रिसर्चेस में किया है। ग्रन्थविस्तार होने के भय से यहां वह सब नहीं लिखते। शेरिंग ने काशीक्षेत्रवर्णन (सन् १८६८) नामक अपने अंगरेजी ग्रन्थ में काशी की वेधशाला का वर्णन बापूदेवशास्त्री के मानमन्दिरस्थ-यन्त्रवर्णन[2] नामक ग्रन्थ के आधार पर किया है, उसे यहां लिखते हैं। अन्य वेधशालाओं की रचना भी ऐसी ही है।

---

१. जयसिंह का ग्रन्थ हिजरी सन् ११४१ (सन् १७२८ ई०, शक १६५०) में पूर्ण हुआ। यूरोप से लाया हुआ ग्रन्थ डिलाहायर का था। वह प्रथम सन् १६७८ में और दूसरी बार सन् १७०२ में प्रकाशित हुआ।

२. बहुत प्रत्यन करने पर भी बापूदेवशास्त्री का ग्रन्थ मुझे नहीं मिला।

इस वेधशाला का नाम मानमन्दिर[1] है। यह काशी मे गङ्गा के किनारे मानमन्दिर घाट पर है। सम्प्रति यह मन्दिर और सम्पूर्ण मुहल्ला जयपुर के राजा के अधिकार में है। मन्दिर बड़ा सुदृढ़ बना है। बाहर की सीढ़ियां चढ़ने के बाद एक आंगन पड़ता है। उसमें कुछ दूर जाकर कुछ सीढ़ियां चढ़ने के बाद वेधशाला का मुख्य भाग पड़ता है। यहां के कुछ यन्त्र बहुत बड़े हैं। वे सहस्रों वर्ष टिकने योग्य सुदृढ़ एवं कर्ता के उद्देश्यानुसार सूक्ष्म भी हैं। इनकी देखरेख के लिए एक ब्राह्मण नियुक्त किया गया है पर उसके द्वारा ठीक व्यवस्था नहीं होती। गर्मी और बरसात के कारण यन्त्र बिगड़ते जा रहे हैं और उनके भाग-प्रभाग घिसकर अदृश्य से हो रहे हैं। वेधशाला में जाने पर प्रथम भित्तियन्त्र दिखाई देता है। यह ११ फुट ऊँची और ९ फुट १$\frac{1}{2}$ इञ्च चौड़ी एक दक्षिणोत्तर दीवार है। इससे मध्याह्नकालीन सूर्य के नतांश, उन्नतांश, सूर्य की परमक्रान्ति और अक्षांश ज्ञात होते हैं। पास ही दो और बड़े वृत्त हैं। एक चूने का और दूसरा पत्थर का है। एक वर्गाकार पत्थर है। इससे शङ्कुच्छाया और दिगंश लाते रहे होंगे। सम्प्रति इसके सब चिह्न मिट गये हैं। यन्त्रसम्राट नामक एक बहुत बड़ा यन्त्र है। यह याम्योत्तरवृत्त में बनायी हुई ३६ फुट लम्बी, ४$\frac{1}{2}$ फुट चौड़ी दीवार है। इसका एक किनारा ६ फुट ४$\frac{1}{2}$ इंच और दूसरा २२ फुट ३$\frac{1}{2}$ इंच ऊँचा है। यह उत्तर ओर क्रमशः ऊंची होती गयी है जिसमें ध्रुव दिखाई दे। इस यन्त्र द्वारा खस्थों के याम्योत्तर से अन्तर, क्रान्ति और विषुवांश लाये जा सकते हैं। इसके पास ही एक दोहरा भित्तियन्त्र है। इसके पूर्व में पत्थर का नाड़ीवलय है। दूसरा कुछ छोटा यन्त्रसम्राट् है। इसके पास ही चक्रयन्त्र है। इससे तारों की क्रान्ति का ज्ञान किया जाता था पर इस समय बेमरम्मत हो गया है। उसके पास ही एक भव्य दिगंशयन्त्र है। इससे तारों के दिगंश लाते थे। वह ४ फुट २ इंच ऊंचा ३ फुट ७$\frac{1}{2}$ इंच मोटा एक खंभा है। उसके चारों ओर ७ फुट ३$\frac{1}{2}$ इंच दूरी पर उससे दूनी ऊँची दूसरी दीवार है। दोनों दीवारों के शिखरपृष्ठ के ३६० भाग किये गये हैं और उन पर दिशाएं लिखी हैं। उसके दक्षिण एक और नाड़ीवलय है पर उसके चिह्न मिट गये हैं।

---

१. मैं समझता हूँ, ग्रहगत्यादिकों के मान लाने का स्थान होने के कारण इसका नाम मानमन्दिर पड़ा होगा।

(२) स्पष्टाधिकार

प्रथम प्रकरण

ग्रहों की स्पष्ट गतिस्थिति

ग्रह को भू-मण्डल की एक प्रदक्षिणा करने में जितना समय लगता है तदनुसार उसकी एक दिन की जो मध्यम गति आती है, आकाश में प्रति दिन उतनी ही नहीं बल्कि उससे कुछ न्यून या अधिक का अनुभव होता है। इस कारण मध्यम गति द्वारा इष्टकाल में उसकी स्थिति जहां आती है वहां वह उस समय नहीं दिखाई देता। आकाश में प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली गतिस्थिति को स्पष्ट गतिस्थिति कहते हैं। गणितागत मध्यम गतिस्थिति द्वारा ग्रह की स्पष्ट गतिस्थिति लाना स्पष्टाधिकार का विषय है। (हमारे ग्रन्थों में ग्रह की स्पष्ट स्थिति को प्रायः स्पष्ट ग्रह कहने की पद्धति है, इसलिए आगे कहीं-कहीं इस शब्द का भी प्रयोग किया गया है।)

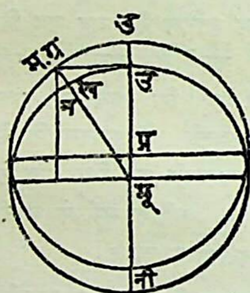
कोपर्निकस द्वारा आविष्कृत और केप्लर, न्यूटन इत्यादिकों द्वारा दृढ़ता से स्थापित ग्रहगति के सम्प्रति प्रायः सर्वमान्य बने हुए वास्तव सिद्धान्तों के अनुसार सूर्य और चन्द्रमा की मध्यमगति से स्पष्टगति भिन्न होने का एक मुख्य कारण है। वह यह कि पृथ्वी सूर्य की और चन्द्रमा पृथ्वी की प्रदक्षिणा दीर्घवृत्त में करते हैं। अन्य ग्रहों की मध्यमगति से स्पष्टगति भिन्न होने के कारण दो हैं। एक तो यह कि बुधादि पांच ग्रह सूर्य के चारों ओर दीर्घवृत्त में घूमते हैं इसलिए उनके कक्षावृत्तों में मध्यमगति से स्पष्टगति भिन्न होती है और दूसरा कारण यह है कि सूर्य सम्बधी यह भिन्न स्थिति हम पृथ्वी पर से देखनेवालों को और भी भिन्न दिखाई देती है, क्योंकि सूर्य के चारों ओर घूमते रहने के कारण आकाश में पृथ्वी का स्थान सदा बदलता रहता है।

यद्यपि हमारे प्राचीन ज्योतिषियों को उपर्युक्त सूर्य-चन्द्रसम्बन्धी एक कारण और पञ्चग्रह सम्बन्धी दो कारणों के वास्तव रूप नहीं ज्ञात थे, तथापि ग्रहों को स्पष्टस्थिति लाने के लिए उन्होंने इन्हीं कारणों को दूसरे ढंग से आधार भूत माना है। वास्तव रूप में इनका ज्ञान होने के बाद ग्रहस्पष्टस्थिति लाने के लिए पाश्चात्यों की बनायी हुई रीतियों द्वारा जो स्पष्टस्थिति आती है, ठीक उतनी ही नहीं पर उससे बहुत कुछ मिलती जुलती ग्रहस्पष्टस्थिति हमारे ग्रन्थों द्वारा आती है। दोनों की मध्यमस्थिति समान होने पर पाश्चात्यों की रीति से आकाश में ग्रह जहां आता है, हमारे ग्रन्थों द्वारा भी कभी ठीक उसी स्थान में और कभी उसके बिल्कुल पास आता है। अन्तर पड़ने का कारण है गणित सम्बन्धी हमारे उपकरणों का किञ्चित् दोष अथवा उनकी स्थूलता और

उपर्युक्त दो मुख्य कारणों के अतिरिक्त प्राचीन काल में हमारे यहां आजकल के कुछ नवीन उपकरणों का अभाव ।

निम्नलिखित विवेचन से ज्ञात होगा कि उपर्युक्त दोनों कारण दूसरे प्रकार से हमारे ज्योतिषियों को ज्ञात थे।

मध्यमयग्रह द्वारा स्पष्टग्रह लाने की रीति की उपपत्ति हमारे ग्रन्थों में परिलेख अर्थात् क्षेत्र द्वारा दी है। ग्रह के मध्यम स्थान और स्पष्ट स्थान में अन्तर पड़ने के कारणों सम्बन्धी हमारे ज्योतिषियों की कल्पनाओं का ज्ञान होने के लिए उसे यहां लिखते हैं। पृथ्वी के मध्य को केन्द्र मानकर ग्रहकक्षावृत्त वनाओ। भूमध्य के बाहर एक विन्दु को केन्द्र मानकर दूसरा इतना ही बड़ा वृत बनाओ। इसे प्रतिवृत्त कहते हैं। यही मध्यमग्रह का भ्रमणमार्ग माना जाता है। मध्यमग्रह कक्षावृत्त में जहां दिखाई देगा वहीं उसका स्पष्टस्थान होगा। इस क्षेत्र में भू-केन्द्रवाला वृत्त कक्षावृत्त और प्र-केन्द्रवाला प्रतिवृत्त है। म.ग्र मध्यमग्रह है और तदनुसार कक्षावृत्त में भी म उसका स्थान है। प्रतिवृत्तीय म. ग्र से भू पर्यन्त जानेवाली रेखा में भूमिस्थ द्रष्टा को ग्रह दिखाई देता है। इस रेखा को कर्ण कहते हैं। यह कर्ण कक्षावृत्त में स्पष्टस्थान में लगता है। कक्षावृत्त में यही स्पष्टग्रह दिखाई देता है । मध्यम और स्पष्ट ग्रह



के अन्तर म-स्प को फलसंस्कार कहते हैं। इस फल का अनुभूत परमाधिक मान परमफल या अन्त्यफल कहलाता है। प्रतिवृत्त का केन्द्र भकेन्द्र से अन्त्यफल की भुजज्या तुल्य अन्तर पर रहता है। इस फल को मन्दफल कहते हैं। मध्यमग्रह में इस मन्दफल का संस्कार करने से मन्दस्पष्ट ग्रह आता है । सूर्य और चन्द्रमा में इस एक ही फल का संस्कार करने से वे स्पष्ट हो जाते हैं परन्तु अन्य पांच ग्रह इस प्रकार लायी हुई मन्दस्पष्ट स्थिति के अनुसार भूस्थित द्रष्टा को नहीं दिखाई देते (आधुनिक सिद्धान्तानुसार यह कहना चाहिए कि सूर्यस्थित द्रष्टा को उनकी यह स्थिति दिखाई देगी)। उनमें एक और शीघ्रफल नामक संस्कार करने से जो स्थिति आती है उसके अनुसार वे पृथ्वीस्थित द्रष्टा को दिखाई देते हैं। शीघ्रफल लाने के लिए शीघ्रप्रतिवृत्त की कल्पना करनी पड़ती है और मन्दस्पष्ट ग्रह को मध्यमग्रह मानकर शीघ्रफल लाया जाता है। मन्दफल और शीघ्रफल लाने की क्रियाओं को क्रमशः मन्दकर्म और शीघ्रकर्म कहते हैं। शीघ्रकर्म का स्वरूप यह है—

मन्दकर्म में जिसे कक्षावृत्त कहते हैं उसी को शीघ्रकर्म में शीघ्रप्रतिवृत्त मानते

हैं और उसके केन्द्र से परमशीघ्रफलज्या तुल्य अन्तर पर केन्द्र मानकर दूसरा कक्षावृत्त बनाते हैं। इस शीघ्रकर्मसम्बन्धी कक्षावृत्त के मध्य में पृथ्वी को ही मानते हैं। शीघ्रप्रतिवृत्त में अपनी गति से भ्रमण करता हुआ मन्दस्पष्ट ग्रह इस शीघ्रकक्षावृत्त में जहां दिखाई देता है वहीं उसका शीघ्रस्पष्ट स्थान होता है। पृथ्वीस्थित द्रष्टा को ग्रह यहीं दिखाई देता है। कोई-कोई मन्दकक्षावृत्त को ही शीघ्रकक्षावृत्त मानकर उसके केन्द्र से शीघ्रान्त्यफलज्या तुल्य अन्तर पर कक्षावृत्ततुल्य ही शीघ्रप्रतिवृत्त बनाते हैं और मन्द कक्षावृत्त में प्रथम कृति द्वारा आये हुए मन्दस्पष्ट ग्रह को शीघ्रप्रतिवृत्त में ले जाने पर वह कक्षावृत्त में जहां दिखाई देता है वहीं उसका स्पष्ट स्थान मानते हैं। दोनों विधियों का परिणाम समान ही होता है।

उपयुक्त क्षेत्र से ज्ञात होगा कि प्रतिवृत्त में भ्रमण करनेवाले ग्रह का पृथ्वी से सर्वत्र समान अन्तर नहीं रहता। ग्रह जिस समय उ विन्दु में अर्थात् उच्च में रहता है उस समय उसका अन्तर महत्तम और नी विन्दु अर्थात् नीच में रहने पर लघुतम होता है। यह प्रकार ग्रहों की कक्षा दीर्घवृत्ताकार मानने जैसा ही हुआ। भू इस दीर्घवृत्त का एक केन्द्र है।

प्रथम आर्यभट के टीकाकार परमेश्वर का मन्दशीघ्रफल सम्बन्धी परिलेख बड़ा सुबोध है। क्षेत्र बनाने की इतनी सरल रीति मुझे अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं मिली, इसलिए उसे यहां लिखता हूँ।

त्रिज्याकृतं कुमध्यं कक्षावृत्तं भवेत्तु तच्छैघ्र्यम्।
शीघ्रदिशि तस्य केन्द्रात् शीघ्रान्त्यफलान्तरे पुनः केन्द्रम् ॥२॥
कृत्वा विलिखेद् वृत्तं शीघ्रप्रतिमण्डलाख्यमुदितमिदम्।
इदमेव भवेन्मान्दे कक्षावृत्तं पुनस्तु तत्केन्द्रात् ॥३॥
केन्द्रं कृत्वा मन्दान्त्यफलान्तरे वृत्तमपि च मन्ददिशि।
कुर्यात् प्रतिमण्डलमिदमुदितं मान्दं शनीज्यभूपुत्राः ॥४॥
मान्दप्रतिमण्डलगास्तत्कक्षायां तु यत्र लक्ष्यन्ते।
तत्र हि तेषां मन्दस्फुटाः प्रदिष्टास्तथैव शैघ्रे ते ॥५॥
प्रतिमण्डले स्थिताः स्युस्ते लक्ष्यन्ते पुनस्तु शैघ्राख्ये।
कक्षावृत्ते यस्मिन् भागे तत्र स्फुटग्रहास्ते स्युः ॥६॥
मान्दं कक्षावृत्तं प्रथमं बुधशुक्रयोः कुमध्यं स्यात्।
तत्केन्द्रान्मन्ददिशि मन्दान्त्यफलान्तरे तु मध्यं स्यात् ॥७॥
मान्दप्रतिमण्डलस्य तस्मिन् यत्र स्थितो रविस्तत्र।

प्रतिमण्डलस्य मध्यं शैघ्रस्य तस्य मानमपि च गदितम् ॥१०॥
शीघ्रस्ववृत्ततुल्यं तस्मिंश्चरतः सदा ज्ञशुक्रौ च ॥

अर्थ—पृथ्वी को मध्य और त्रिज्या[1] को व्यासार्ध मानकर बनाया हुआ कक्षावृत्त ही शैघ्र (शीघ्रकर्मसम्बन्धी कक्षावृत्त) है। इसके केन्द्र से शीघ्रदिशा में शीघ्रान्त्यफल तुल्य अन्तर पर केन्द्र मानकर पुनः एक वृत्त बनाओ। इसे शीघ्रप्रतिमण्डल कहेंगे। मन्दकर्म में यही कक्षावृत्त होता है। इसके केन्द्र से मन्ददिशा मन्दान्त्यफल तुल्य अन्तर पर केन्द्र मानकर फिर एक वृत्त बनाओ। इसे मन्दप्रतिवृत्त कहते हैं। शनि, गुरु और मङ्गल मन्दप्रतिवृत्त में गमन करते समय मन्दकक्षावृत्त में जहां दिखाई देते हैं वहीं उनके मन्दस्पष्ट बताये हैं (वे मन्दस्पष्ट शनि, गुरु और भौम के स्थान हैं)। इसी प्रकार शीघ्रप्रतिवृत्त में भी समझना चाहिए। वे शीघ्रकक्षावृत्त में जहां दिखाई देते हैं वहां उनका स्पष्टस्थान जानो। बुध शुक्र के मन्दकक्षावृत्तों का मध्य पृथ्वी है। उनके केन्द्रों से मन्दान्त्यफल तुल्य अन्तर पर मन्दप्रतिमण्डल का मध्य होता है। उसमें जहां सूर्य हो वहां शीघ्रप्रतिमण्डल का मध्य जानो। उसका (शीघ्रप्रतिवृत्त का) मान शीघ्रस्ववृत्ते तुल्यबताया है। बुध शुक्र सदा उसी वृत्त में घूमते रहते हैं।

नीचोच्चवृत्त नामक एक वृत्त के आधार पर फलसंस्कार की उपपत्ति की एक और रीति है। भास्कराचार्य ने उसके विषय में लिखा है—

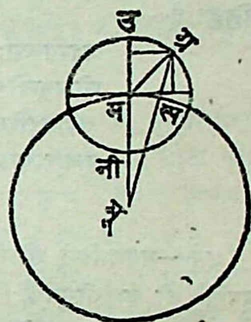
कक्षास्थमध्यग्रहचिह्नतोऽथ वृत्तं लिखेदन्त्यफलज्यया तत्।
नीचोच्चसंज्ञं रचयेच्च रेखां कुमध्यतो मध्यखगोपरिस्थाम् ॥२४॥
कुमध्यतो दूरतरे प्रदेशे रेखायुते तुङ्गमिह प्रकल्प्यम्।
नीचं तथासन्नतरेऽथ तिर्यङ् नीचोच्चमध्ये रचयेच्च रेखाम् ॥२५॥
नीचोच्चवृत्ते भगणाङ्किितेऽस्मिन् मान्दे विलोमं निजकेन्द्रगत्या।
शैघ्र्येऽनुलोमं भ्रमति स्वतुङ्गादारभ्य मध्यद्युचरो हि यस्मात् ॥२६॥
अतो यथोक्तं मृदुशीघ्रकेन्द्रं देयं निजोच्चाद् द्युचरस्तदग्रे ॥

छेद्यकाधिकार

---

१. सम्प्रति त्रिज्या को व्यासार्ध का पर्याय समझने लगे हैं परन्तु उसका मूल अर्थ है ३ राशि की ज्या। हमारे ज्योतिषग्रन्थों में इसका प्रयोग प्रायः इसी अर्थ में किया गया है। वृत्तपरिधि २१६०० कला मानने से उसके व्यासार्ध का मान ३४३८ आता है। ३ राशि की ज्या व्यासार्ध तुल्य होती है इसलिए हमारे ग्रन्थों में त्रिज्या का अर्थ सामान्यतः '३४३८ कला लम्बी रेखा' माना गया है।

अर्थ--कक्षास्थित मध्यमग्रह को केन्द्र मानकर अन्त्यफलज्या तुल्य व्यासार्ध का एक वृत्त बनाओ । इसे नीचोच्चवृत्त कहते हैं। भूमध्य और मध्यग्रह में जाती हुई एक रेखा खींचो। वह भूमध्य से अत्यधिक दूरी पर (नीचोच्च वृत्तपरिधि में) जहां लगे उसे उच्च और अत्यल्प दूरी पर जहां लगे उसे नीच जानो। नीचोच्च के मध्य में एक तिर्यक् रेखा खींचो। नीचोच्चवृत्त की परिधि में राशि-अंशों के चिह्न बनाओ। मध्यमग्रह अपने अपने उच्च से आरम्भ कर अपनी-अपनी (मन्द या शीघ्र) केन्द्रगति से मन्दनीचोच्चवृत्त में विलोम और शीघ्रनीचोच्चवृत्त में अनुलोम भ्रमण करते हैं, अतः उसके अनुसार अपने-अपने (मन्दशीघ्र) उच्च से मन्दशीघ्रकेन्द्र दो। उसके आगे (मन्द के आगे मन्दस्पष्ट और शीघ्र के आगे शीघ्रस्पष्ट) ग्रह दिखाई देता है।



इस क्षेत्र में बड़ा वृत्त कक्षावृत्त है। भू इसका केन्द्र है। म मान्दकर्म में मध्यमग्रह का और शीघ्रकर्म में शीघ्रस्पष्ट ग्रह का स्थान है। यही मन्द अथवा शीघ्र-नीचोच्चवृत्त का केन्द्र है। इसको केन्द्र मानकर परम-फलज्या तुल्य व्यासार्ध का नीचोच्चवृत्त बनाया गया है। उसमें ग्र ग्रह है। वहां से भू पर्यन्त आनेवाली रेखा कक्षावृत्त को स्प विन्दु में काटती है। यही स्पष्टग्रह (मन्दस्पष्ट या शीघ्रस्पष्ट) का स्थान है। इस उपपत्ति के विषय में भास्कराचार्य ने ही लिखा है—

> ग्रहः पूर्वगत्या प्रतिमण्डलेनैव भ्रमति। यदेतन्नीचोच्चवृत्तं
> तत् प्राज्ञैर्गणकैः फलार्थं कल्पितम्॥
>
> गोलाध्याय. छेद्यकाधिकार

अर्थ--ग्रह वस्तुतः पूर्वगति से प्रतिमण्डल में ही भ्रमण करते हैं। बुद्धिमान गणकों ने यह नीचोच्चवृत्त की कल्पना फल के लिए की है।

उपर्युक्त आकृति में प्रतिवृत्त का उ विन्दु अन्य विन्दुओं की अपेक्षा भूमध्य से अधिक दूर है। उसे उच्च कहते हैं। नी विन्दु अति समीप है। उसे नीच कहते हैं। मन्द प्रतिवृत्त के उच्च को मन्दोच्च और शीघ्र प्रतिवृत्त के उच्च को शीघ्रोच्च कहते हैं। प्रथम आर्यभट के वर्णन में मन्दोच्चों के भोग और उनकी गति का पर्याप्त विवेचन कर चुके हैं। मन्दोच्चों की गति अत्यल्प[1] है। भौमादि वहिर्वर्ती ग्रहों का शीघ्रोच्च

---

१. ग्रांट का कथन है कि (History of Phy. Astro. p. 97) रविमन्दोच्च

सूर्य ही माना जाता है और आधुनिक सिद्धान्तानुसार बुध और शुक्र की कक्षाओं में उनकी जो मध्यम गतियां हैं वे ही हमारे ग्रन्थों में उनके शीघ्रोच्चों की मानी हैं। उपर्युक्त आकृति से ज्ञात होगा कि जिस समय ग्रह उच्च या नीच स्थानों में रहता है उस समय कक्षावृत्त में मध्यम और स्पष्टग्रह एक ही स्थान में दिखाई देते हैं अर्थात् उस समय उनका फलसंस्कार शून्य रहता है। उच्च से ग्रह ज्यों-ज्यों तीन राशि पर्यन्त आगे जाता है त्यों-त्यों उसका फलसंस्कार बढ़ता जाता है। उसके बाद नीच पर्यन्त कम होता जाता है और उसके बाद तीन राशि पर्यन्त बढ़ता है। फिर घटते-घटते उच्च में शून्य हो जाता है। सारांश यह कि उच्च के ही कारण ग्रहों की मध्यम गति में अन्तर पड़ता है। यह बात दोनों उच्चों में लागू होती है। इन उच्चों के विषय में सूर्यसिद्धान्त में लिखा है—

अदृश्यरूपाः कालस्य मूर्तयो भगणाश्रिताः।
शीघ्रमन्दोच्चपाताख्या ग्रहाणां गतिहेतवः॥१॥
तद्वातरश्मिभिर्बद्धास्तैः सव्येतरपाणिभिः।
प्राक्पश्चादपकृष्यन्ते यथासन्नं स्वदिङ्मुखम्॥२॥

स्पष्टाधिकार

अर्थ—भगणाश्रित शीघ्रोच्च, मन्दोच्च और पात नामक काल की अदृश्य मूर्तियां ग्रहगति[1] की कारणीभूत हैं। वे अपनी (हस्तस्थित) वायुरूपी रश्मियों में बद्ध ग्रहों को दाहिने-बायें हाथों से आगे[2] पीछे अपनी ओर खींचती हैं।

गतिमान् है, इस बात का पता प्रथम अरब ज्योतिषी अलबटानी (सन् ८८०) ने लगाया अर्थात् सूर्य तथा अन्य ग्रहों के मन्दोच्चों के गतिमान् होने की बात हिपार्कस और टालमी को नहीं मालूम थी। परन्तु हमारे ब्रह्मगुप्त (सन् ६२८) ने मन्दोच्च गति लिखी है और वर्तमान सूर्यसिद्धान्त में भी वह है। हमारे ग्रन्थों की मन्दोच्च गति बहुत थोड़ी है इसलिए प्रो० ह्विटने ने उनका केवल उपहास किया है। परन्तु इसका एकमात्र कारण यह है कि टालमी को उच्च गति का ज्ञान नहीं था और हिन्दू उसे जानते थे—इस बात को स्वीकार कर पाश्चात्यों को नीचा दिखाना पक्षपात-स्वभावी ह्विटने को असह्य था। परन्तु प्रथम आर्यभट के वर्णन में सिद्ध कर चुके हैं कि हमारे ग्रन्थों की उच्च गति उन्हें जितनी स्वल्प मालूम होती है वस्तुतः उतनी अल्प नहीं है।

१. यहाँ गति का अर्थ स्पष्टगति है।

२. आगे पीछे का अर्थ है मध्यमग्रह से आगे पीछे। (यहाँ रंगनाथ ने थोड़ा भिन्न अर्थ किया है। पातों के कारण दक्षिणोत्तर स्थिति बदलती है।)

उच्चों को जीव मानकर उन्हें सूर्यसिद्धान्त की भांति अन्य किसी भी ग्रन्थ में इतना महत्व नहीं दिया गया है। ब्रह्मगुप्त ने उनके विषय में केवल इतना ही लिखा है—

प्रतिपादनार्थमुच्चाः प्रकल्पिता ग्रहगतेस्तथा पाताः ॥२९॥

गोलाध्याय

अर्थात् ग्रहगति के प्रतिपादन के लिए उच्च और पातों की कल्पना की गयी है। यहां गति का अर्थ स्पष्ट गति है।

सूर्यसिद्धान्त में स्पष्टतया कहीं नहीं लिखा है कि ग्रह प्रतिवृत्त में घूमते हैं। मालूम होता है इसी कारण उसमें उच्च के स्थान में मूर्ति की कल्पना की गयी है, परन्तु प्रतिवृत्त में ग्रहों का भ्रमण मान लेने से उनकी मध्यस्थिति में भेद सहज ही उत्पन्न हो जाता है। वात इतनी ही है कि वह भेद उच्च और ग्रह के अन्तर के अनुसार न्यूनाधिक होता है।

ऊपर बताया है कि कक्षावृत्त के मध्य से परममन्द या शीघ्रफल के भुजज्यातुल्य अन्तर पर प्रतिवृत्त रहता है। हमारे ग्रन्थों में प्रत्येक ग्रह के वे मन्द और शीघ्र फल लिखे रहते हैं। उनके लिखने की पद्धति यह है कि परम फल तुल्य त्रिज्या मानकर बनाये हुए वृत्त की परिधि कक्षावृत्त में जितने अंश घेरती है वे अंश ही दिये रहते हैं और उन्हें सामान्यतः परिधि ही कहते हैं। मन्दफलसम्बन्धी परिधि को मन्दपरिधि और शीघ्रफलसम्बन्धी परिधि को शीघ्रपरिधि कहते हैं। इन फलों को परिधिरूप में लिखने का कारण उपर्युक्त नीचोच्चवृत्त ज्ञात होता है। वस्तुतः नीचोच्च वृत्त परिधि में भी अंश ३६० ही होते हैं परन्तु फल की गणना कक्षावृत्त के अंशों से करनी पड़ती है इसलिए नीचोच्च वृत्तपरिधि का मान भी उन्हीं अंशों में लिखा रहता है।

भिन्न-भिन्न ग्रन्थों की मन्दशीघ्रपरिधियां अगले कोष्ठक में दी हैं और उनकी गणितागत त्रिज्याएँ भी लिखी हैं। ये त्रिज्याएँ ही परम फलों के मान हैं। त्रिज्याएँ लाते समय परिधि और त्रिज्या की निष्पत्ति प्रथम आर्यभट और भास्कराचार्य कथित अर्थात् ६२८३२ : १०००० मानी है।

केन्द्र की तीन-तीन राशियों का एक पद होता है। प्रथम और तृतीय पद को ओज तथा द्वितीय और चतुर्थ को युग्म कहते हैं। कुछ सिद्धान्तों में कुछ ग्रहों के परिधिमान ओज और युग्म पदान्तों में भिन्न-भिन्न और मध्य में तदनुसार न्यूनाधिक हैं। अग्रिम कोष्ठक में पञ्चसिद्धान्तिका की कुछ ग्रहों की परिधियां नहीं लिखी हैं। इसका कारण यह है कि पञ्चसिद्धान्तिका की पुस्तक से वे निःसंशय ज्ञात नहीं होतीं। शेष सिद्धान्तों में जहां युग्मान्त परिधि नहीं लिखी है वहां वह ओजपदान्तीय तुल्य ही है।

मन्दपरिधियाँ और उनकी त्रिज्याएँ अर्थात् परम मन्दफल

	पञ्चसिद्धान्तिकोक्त				वर्तमान सूर्यसिद्धान्त										प्रथम आर्यसिद्धान्त				
	सूर्यसिद्धान्त				ओजपदान्त में					युग्मपदान्त में					ओजपदान्त में				
	परिधि	त्रिज्या			परिधि		त्रिज्या			परिधि	त्रिज्या			परिधि		त्रिज्या		
ग्रह	अं०	अं०	क०	वि०	अं०	क०	अं०	क०	वि०	अं०	अं०	क०	वि०	अं०	क०	अं०	क०	वि०
सूर्य	१४	२	१३	४१	१३	४०	२	१०	३०	१४	२	१३	४१	१३	३०	२	८	५५
चन्द्र	३१	४	५६	२	३१	४०	५	२	२४	३२	५	५	३५	३१	३०	५	०	४८
मंगल	७०	११	८	२७	७२		११	२७	३३	७५	११	५६	१२	६३	०	१०	१	३६
वुध	२८	४	२७	२३	२८		४	२७	२३	३०	४	४६	२९	३१	३०	५	०	४८
गुरु	३२	५	५	३५	३२		५	५	३५	३३	५	१५	८	३१	३०	५	०	४८
शुक्र					११		१	४५	२	१२	१	५४	३५	८	०	२	५	५३
शनि					४८		७	३८	२२	४९	७	४७	५५	४०	३०	६	२६	४५

ग्रह	प्रथम आर्यसिद्धान्त					ब्रह्मसिद्धान्त									द्वितीय आर्यसिद्धान्त				
	युग्मपदान्त में					ओजपदान्त में					युग्मपदान्त में								
	परिधि		त्रिज्या			परिधि		त्रिज्या			परिधि	त्रिज्या			परिधि		त्रिज्या		
	अं०	क०	अं०	क०	वि०	अं०	क०	अं०	क०	वि०	अं०	अं०	क०	वि०	अं०	क०	अं०	क०	वि०
सूर्य						१३	४०	२	१०	३०					१३	४०	२	१०	३०
चन्द्र						३१	३६	५	११	४५					३१	३४	५	१	२६
मंगल	८१	०	१२	५३	२९	७०	०	११	८	२७					६७	३०	१०	२५	२६
बुध	२२	३०	३	३४	५१	३८	०	६	२	५२					२७	३६	४	२३	३४
गुरु	३६	०	५	४३	४६	३३	०	५	१५	८					२८	१५	४	२९	४६
शुक्र	९	०	१	२५	५७		०	१	२५	५७	११	१	४५	२	९	३५	१	३१	३१
शनि	५८	३०	६	१८	३८		०	४	४६	२६					५२	४२	८	२३	१५

शीघ्रपरिधियाँ और उनकी त्रिज्याएँ अर्थात् परम शीघ्रफल

ग्रह	पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त				वर्तमान सूर्यसिद्धान्त ओजपदान्त में				वर्तमान सूर्यसिद्धान्त युग्मपदान्त में				प्रथम आर्यसिद्धान्त ओजपदान्त में				
	परिधि	त्रिज्या			परिधि	त्रिज्या			परिधि	त्रिज्या			परिधि		त्रिज्या		
	अं०	अं०	क०	वि०	अं०	अं०	क०	वि०	अं०	अं०	क०	वि०	अं०	क०	अं०	क०	वि०
मंगल	२३४	३७	४१	३२	२३२	३६	५५	२६	२३५	३७	२४	५	२३८	३०	३७	५७	३०
बुध	१४२	२१	०	३०	१३२	२१	०	३०	१३३	२१	१०	३	१३६	३०	२२	१२	७
गुरु	७२	११	२७	३३	७२	११	२७	३३	७०	११	८	२७	७२	०	११	२७	३३
शुक्र	२६०	४१	२२	४६	२६०	४१	२२	४६	२६२	४१	४१	५५	२६५	३०	४२	१५	२०
शनि	४०	६	२१	५८	४०	६	२१	५८	३६	६	१२	२५	४०	३०	६	२६	४५

	प्रथम आर्यसिद्धान्त					ब्रह्मसिद्धान्त									द्वितीय आर्यसिद्धान्त				
	युग्मपदान्त में					ओजपदान्त में					युग्मपदान्त में				ओजपदान्त में				
	परिधि		त्रिज्या			परिधि		त्रिज्या			त्रिज्या	त्रिज्या			परिधि		त्रिज्या		
ग्रह	अं०	क०	अं०	क०	वि०	अं०	क०	अं०	क०	वि०	अं०	अं०	क०	वि०	अं०	क०	अं०	क०	वि०
मंगल	२२९	३०	३६	३१	३३	२४३	४०	३८	४६	५०					२३०	५६	३६	४५	४३
बुध	१३०	३०	२०	४६	११	१३२		२१	०	३०					१३४	३०	२१	२४	२३
गुरु	६७	३०	१०	४४	३५	६८		१०	४६	२१					६९	३०	११	३	४०
शुक्र	२५६	३०	४०	४६	२३	२६३		४१	५१	२८					२६१	३०	४१	३७	८
शनि	३६	०	५	४३	४६	३५		५	३४	१३	२५८	४१	३	४३	४०	४०	६	२८	२०

टालमी के और आधुनिक यूरोपियन ज्योतिषियों के परम मन्दफलमान[1] नीचे के कोष्ठक में दिये हैं। उनकी हमारे ग्रन्थों के मानों से तुलना करने में सुविधा होने के लिए यहां प्रथम आर्यभट के ओजपदान्त के परम मन्दफल पुनः लिख दिये हैं।

परममन्दफल

	प्रथम आर्यसिद्धान्त			टालमी		आधुनिक		
-	अं०	क०	वि०	अं०	क०	अं०	क०	वि०
सूर्य	२	८	५५	२	२३	१	२५	२७
चन्द्र	५	०	४८	.५	१	६	१७	१२
मंगल	१०	१	३६	११	३२	१०	४१	३३
बुध	५	०	४८	२	५२	२३	४०	४३
गुरु	५	०	४८	५	१६	५	३१	१४
शुक्र	२	५१	५३	२	२३	०	४७	११
शनि	६	२६	४५	६	३२	६	२६	१२

बुध-शुक्र के आधुनिक मानों से हमारे ग्रन्थों के मानों की तुलना करना ठीक नहीं है क्योंकि उनके आधुनिक मान सूर्यबिम्बस्थ द्रष्टा की दृष्टि और हमारे भूस्थ द्रष्टा की दृष्टि से दिये गये हैं। शेष ग्रहों सम्बन्धी दोनों मानों की तुलना करने से ज्ञात होता है कि हमारे मान आधुनिक मानों के बिलकुल सन्निकट हैं। आधुनिक सिद्धान्तानुसार चन्द्रमा और ग्रहों की कक्षाएँ दीर्घवृत्ताकार हैं। उनकी कक्षाकेन्द्रच्युति के न्यूनाधिकत्वके अनुसार उनके मंदफल न्यूनाधिक होते हैं। हमारे ग्रन्थों के मन्दफल उनसे मिलते हैं। ऊपर हमारे ग्रन्थों की ग्रहगति का स्वरुप परिलेख द्वारा दिखाया है। उससे ज्ञात होता है कि हमारे ग्रन्थकारों ने ग्रहकक्षाएँ यद्यपि दीर्घवृत्ताकार नहीं मानी हैं तथापि उन्होंने कक्षा के मध्य से ग्रह का अन्तर सदा समान नहीं माना है और उन कक्षाओं में उच्चनीच स्थान मानकर तदनुसार फल में भेद माना है। इससे सिद्ध होता है कि ग्रह की मध्यम और स्पष्ट गतियों में अन्तर पड़ने का एक मुख्य कारण ग्रह (या चन्द्रमा) का दीर्घ-वृत्त में भ्रमण करना हमारे ग्रन्थकारों को दूसरे प्रकार से ज्ञात था। मन्दस्पष्टग्रह अपनी कक्षा में पृथ्वी से जितने न्यून या अधिक अन्तर पर रहता है उसी के अनुसार

---

1. ये बर्जेसकृत सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद (पृष्ठ ७६) से लिये हैं।

उसमें शीघ्रफल-संस्कार उत्पन्न होता है। हमारे ग्रन्थों का वह शीघ्रफल संस्कार पिछले कोष्ठक में लिखा है और उसके द्वारा लाये हुए ग्रहों के मन्दकर्ण आधुनिकों से मिलते हैं, यह पहले दिखा चुके हैं। उससे और उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि सूर्य के चारों ओर पृथ्वी के घूमते रहने के कारण सूर्य-सम्बन्ध से ग्रहों के मन्दस्पष्ट स्थान में पृथ्वी स्थित द्रष्टाओं को अधिक अन्तर दिखाई देता है—ग्रहों की मध्यम और स्पष्ट गति में अन्तर पड़ने का यह जो दूसरा कारण है, उसे भी हमारे ज्योतिषी जानते थे।

टालमी के उपर्युक्त मन्दफल हमारे किसी भी सिद्धान्त से नहीं मिलने। हमारे किसी भी सिद्धान्त से टालमी का कोई भी सम्बन्ध नहीं है, इसके अनेक प्रमाणों में से एक यह भी है।[1]

मन्दशीघ्रपरिधि सम्बन्धी कुछ और उल्लेखनीय बातें यहाँ लिखते हैं। कुछ सिद्धान्तों में ओज और युग्म पदान्तों की परिधियां भिन्न-भिन्न हैं। प्रथम आर्यभट के इन दोनों मानों में अधिक अंतर है। सूर्यसिद्धान्त के मानों में विशेष अन्तर नहीं है। ब्रह्मगुप्त ने केवल शुक्र के परिधिमान ओज और युग्म पदान्तों में भिन्न-भिन्न माने हैं। वर्तमान रोमक, सोम, शाकल्योक्त ब्रह्म और वसिष्ठसिद्धान्तों के मान प्रायः वर्तमान सूर्यसिद्धान्ततुल्य ही हैं। तथापि रोमक और सोमसिद्धान्त की परिधियां सर्वत्र समान हैं और वे सूर्यसिद्धान्त की युग्मान्त परिधियों से मिलती हैं। सोमसिद्धान्त में बुध की मन्दपरिधि ३४ है, केवल वही नहीं मिलती। वसिष्ठसिद्धान्त में मन्दपरिधियां लिखी ही नहीं हैं।[2] शीघ्रपरिधियां लिखी हैं, पर वे सूर्यसिद्धान्त से नहीं मिलतीं। उनके मान ये हैं—

मंगल २३४, बुध १३३, गुरु ७१, शुक्र २६१, शनि ३९।

ये दोनों पदान्तों में इतनी ही हैं। यद्यपि ये सूर्यसिद्धान्त से नहीं मिलतीं तथापि स्पष्ट है कि उनके दोनों पदान्तों की परिधियों के ये स्थूल मध्यमान हैं। शाकल्योक्त ब्रह्मसिद्धान्त की मेरी पुस्तक में परिधियां हैं ही नहीं परन्तु जहां उनके होने की संभावना है, मेरी पुस्तक का वह भाग निःसन्देह खण्डित है।[3] मूल पुस्तक में वे अवश्य रहीं

---

१. पञ्चसिद्धान्तिकोक्त रोमकसिद्धान्त में चन्द्रमा का परम मन्दफल ४ अंश ५७ कला है (प० सि० ८ और ९)। यह टालमी के मन्दफल से भिन्न है। पञ्चसिद्धान्तिकोक्त रोमकसिद्धान्त टालमी का नहीं है, इसका यह एक प्रमाण है।

२. काशी की छपी हुई प्रति और डेक्कन कालेज संग्रह की प्रति, दोनों में वे नहीं हैं।

३. प्रथमाध्याय के १११ श्लोकों के बाद अग्रिम श्लोक का केवल 'मौर्व्याचतुष्के' अंश ही लिखा है और उसके बाद द्वितीय अध्याय है। उसके आरम्भ में दूसरा ही

होंगी। लल्ल प्रथम आर्यभट के अनुयायी थे अतः उन दोनों के परिधिमान बिलकुल समान हैं। भास्कराचार्य ब्रह्मगुप्त के अनुयायी हैं अतः उन दोनों के मान भी समान ही ह परन्तु भास्कराचार्य ने शनि की मन्दपरिधि ५० और शीघ्रपरिधि ४० लिखी है। ज्ञानराजकृत सिद्धान्तसुन्दर के मान वर्तमान सूर्यसिद्धान्ततुल्य हैं। सिद्धान्तसार्वभौम-कार मुनीश्वर के मत में ओज और युग्म पदान्तों में भिन्न-भिन्न परिधियां मानना अयुक्त है। उन्होंने अपने सिद्धान्त में वर्तमान सूर्यसिद्धान्त की ओज और युग्मपदान्तीय परिधियों का मध्यमान लिखा है। प्रायः सभी करणग्रन्थों के परिधिमानों में थोड़ा बहुत अन्तर है पर मालूम होता है सूक्ष्मता की ओर कम ध्यान देने के कारण ऐसा हुआ है। इस विषय में कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं है।

उपर्युक्त कोष्ठक मे दिये हुए मन्दफलों के आधुनिक मान सदा समान नहीं रहते। कुछ समय बाद उनमें अन्तर पड़ जाता है। सूर्य के मन्दफल सम्बन्धी अन्तर का ज्ञान नीचे के कोष्ठक से होगा। यह कोष्ठक केरोपन्त के ग्रहसाधनकोष्ठक से लिया है।

शकारम्भ के पहिले के वर्ष	परमफल		शकारंभ के बाद के वर्ष	परमफल	
	अं०	क०		°	क०
१००००	२	३१	०	२	१
९०००	२	२८	१०००	१	५८
८०००	२	२५	२०००	१	५५
७०००	२	२२	३०००	१	५२
६०००	२	१९	४०००	१	४९
५०००	२	१६	५०००	१	४६
४०००	२	१३	६०००	१	४३
३०००	२	१०	७०००	१	४०
२०००	२	७	८०००	१	३७
१०००	२	४	९०००	१	३४
०	२	१	१००००	१	३१

प्रकरण है। सम्भवतः इन्हीं दोनों के बीच में परिधिमान र होंगे। (आश्चर्य यह है कि ग्वालियर, आप्टे और पूना के आनन्दाश्रम (४३४१) की प्रतियाँ भी इसी स्थान पर खण्डित हैं।)

इससे ज्ञात होता है कि सूर्य का फलसंस्कार क्रमशः न्यून होता जा रहा है। हमारे ग्रन्थों में वह २।१३।४१ से २।८।५५ पर्यन्त है। उपर्युक्त कोष्ठक से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह हमारे प्राचीन ग्रन्थों में अधिक और अर्वाचीन ग्रन्थों में कम है। इससे सिद्ध होता है कि वह भिन्न-भिन्न समयों में वेध द्वारा लाया गया है। हमारे ज्योतिषियों ने रविचन्द्रसंस्कार ग्रहण के वेध द्वारा अर्थात् उनकी पर्वान्तिकालीन स्थिति के आधार पर निश्चित किये हैं। मध्यम चन्द्र को स्पष्ट करने के लिए आधुनिक यूरोपियन सूक्ष्मगणित में बड़े-बड़े ५ संस्कार हैं। आगे दिखाया है कि उनमें से पर्वान्तिकालीन ४ संस्कारों को एकत्रित करने से जितना फल होता है उतना ही हमारे ज्योतिषियों ने चन्द्रमा का परमफल माना है। पञ्चम संस्कार का परममान ११ कला है (के० ग्र० सा० को० पृ० १०५)। उसका उपकरण रविकेन्द्र होने के कारण वह रविफलसदृश समझकर रवि में ही दे दिया गया और जहाँ चन्द्रमा में धनर्ण होना चाहिए था, वहाँ रवि में ऋणधन कर दिया गया, इससे ग्रहणसम्बन्धी परिणाम में कोई अशुद्धि नहीं हुई। सारांश यह कि हमारे प्राचीन ग्रन्थों में दिया हुआ रविपरमफल २ अंश १४ कला वस्तुतः ११ कला न्यून अर्थात् २ अंश ३ कला ही है। इतना रविफल शकपूर्व ५०० वर्ष में था, इससे ज्ञात होता है कि हमारे ज्योतिषियों ने उसी समय अथवा कम से कम शकारम्भ के दो तीन शताब्दी पूर्व उसे निश्चित किया। टालमी का रविसंस्कार २ अंश २३ कला है अर्थात् हमारे ग्रन्थों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। टालमी ने रविफल २।२३ लिखा है परन्तु वह उस समय (लगभग शक ७०) वस्तुतः २ अंश था, अतः उन्होंने वह स्वयं नहीं निकाला होगा बल्कि किसी अन्य ग्रन्थ से लिया होगा। उनके पहिले रविस्पष्टीकरण का ज्ञान हिपार्कस के अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं हुआ था और दूसरी बात यह कि टालमी और हिपार्कस का वर्षमान एक ही[1] (३६५।१४।४८) है। इन दोनों हेतुओं से अनुमान होता है कि टालमी ने रविफलसंस्कार हिपार्कस का ही लिया होगा। हिपार्कस के आधार पर विरचित रोमकसिद्धान्त में रविपरमफल २।२३।२३ है, इससे इस अनुमान की और भी पुष्टि होती है। यह मत किसी का भी नहीं है कि हिन्दुओं ने टालमी के बाद के किसी ग्रन्थ से ज्योतिषगणित लिया है। टालमी के बाद तीन चार सौ वर्षों तक वैसा ज्योतिषी कोई हुआ ही नहीं। मूल रोमकसिद्धान्त का रविफलसंस्कार हमारे अन्य किसी भी सिद्धान्त में नहीं है। इन सब हेतुओं से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि हमारे ज्योतिषियों ने रविफलसंस्कार किसी पाश्चात्य ग्रन्थ से नहीं लिया है, बल्कि

---

१. Grant's History of the Ph. Astronomy, chap. XVIII.

शक के पूर्व ही स्वयं निकाला है और यह बात प्रत्येक निष्पक्ष मनुष्य स्वीकार करेगा।

चन्द्रमा का आधुनिक परममन्दफल ६ अंश १७ कला है, परन्तु मध्यम और स्पष्ट चन्द्रमा में अन्तर उत्पन्न करनेवाले हेतु मन्दफल के अतिरिक्त अन्य भी हैं। उनके कारण कभी-कभी मध्यम और स्पष्ट चन्द्रमा में ८ या ८½ अंश का अन्तर पड़ जाता है। इसे लाने के लिए मध्यम चन्द्रमा में लगभग ४० संस्कार करने पड़ते हैं। उनमें उपर्युक्त मन्दफलसंस्कार बहुत बड़ा है। चार और बड़े-बड़े हैं। उनमें एक व्हेरिएशन (पाक्षिक अथवा तैथिक) नाम का है। उसका उपकरण है 'चन्द्रमा-स्पष्टरवि'। पूर्णिमा और अमावास्या के अन्त में यह उपकरण ६ राशि और शून्य रहता है और वह संस्कार शून्य होता है (केरोपन्तीय ग्र० सा० को० पृष्ठ ११०)। चार में से दूसरा संस्कार इव्हेक्शन (च्युति) नामक है। उसका उपकरण '२ (संस्कृतचन्द्र-स्पष्टरवि) —चन्द्रकेन्द्र' है। इसका प्रथम पद पूर्णिमा और अमावास्या के अन्त में शून्य रहता है अर्थात् उस समय केवल '०—चन्द्रकेन्द्र' भाग ही शेष रह जाता है। यह उपकरण ३ या ९ राशि होने पर संस्कार महत्तम अर्थात् १ अंश २०.२ कला होता है, अतः पूर्णिमान्त या अमान्त में चन्द्रकेन्द्र ३ या ९ राशि पर होने पर इव्हेक्शन-संस्कार का उपकरण—

०—३ राशि = ९ राशि } और इव्हेक्शनसंस्कार + १ अंश २० कला
०—३ राशि = ३ राशि } — १ अंश २० कला

होगा (ग्र० सा० को० पृष्ठ १०६) और उस समय

चन्द्रकेन्द्र ३ राशि रहने पर मन्दफलसंस्कार—६ अंश १७ कला और

चन्द्रकेन्द्र ९ राशि रहने पर मन्दफलसंस्कार + ६ अंश १७ कला होगा (ग्र० सा० को० पृष्ठ १०९)।

अर्थात् पूर्णिमान्त या अमान्त में मन्दफलसंस्कार और इव्हेक्शनसंस्कार मिलकर

+ १ अंश २० कला — ६ अंश १७ कला = — ४ अंश ५७ कला या

— १ अंश २० कला + ६ अंश १७ कला = + ४ अंश ५७ कला से अधिक नहीं होंगे।

उपर्युक्त चार संस्कारों में से एक संस्कार जिसका मान ११ कला है, रवि में दे दिया गया। इसे ऊपर लिख चुके हैं। चतुर्थ संस्कार का मान लगभग ७ कला है (केरोपन्तीय ग्र० सा० को० पृष्ठ १०५ और १११)। उपर्युक्त ४ अंश ५७ कला में इसे जोड़ देने से फल ५ अंश ४ कला आता है। ४० में से शेष ३५ संस्कार बहुत छोटे-छोटे हैं। हमारे सिद्धान्तों में चन्द्रमा का परमफल ४।५६ से ५।६ पर्यन्त है, अतः सिद्ध

हुआ कि वह बहुत सूक्ष्म है।[1] ग्रहण सूर्य और चन्द्रमा के फलों के सूक्ष्मत्व की परीक्षा करने का उत्तम साधन है और हमारे ज्योतिषियों ने चन्द्रमा और सूर्य के फलसंस्कार ग्रहणों द्वारा ही निश्चित किये हैं।

सुधाकर ने लिखा है कि मुंजाल ने चन्द्रमा में च्युतिसंस्कार सदृश एक संस्कार और पाक्षिक संस्कार तथा नित्यानन्द ने पाक्षिक और पातसंस्कार बताये हैं।

टालमी के पहिले पञ्चग्रहस्पष्टीकरण कोई भी पाश्चात्य ज्योतिषी नहीं जानता था, हिपार्कस को भी उसका ज्ञान नहीं था[2] और टालमी के परमफल हमारे किसी भी ग्रन्थ से नहीं मिलते। इससे सिद्ध होता है कि हमारे ज्योतिषियों ने पञ्चग्रहों का स्पष्टीकरण स्वयं किया है। रवि-चन्द्र तथा अन्य पाँच ग्रहों का स्पष्टीकरण ही ज्योतिष-गणित का महत्व का विषय है। इतना ही नहीं, यही ज्योतिषगणित का सर्वस्व है और हमने यह पाश्चात्यों से नहीं लिया है।

हमारे यहाँ फलसंस्कार इस "परिधि × ग्रहकेन्द्रभुजज्या ÷ त्रिज्या" सारणी से लाते हैं। उच्च और ग्रह के अन्तर को केन्द्र कहते हैं। सूर्य और चन्द्रमा में केवल मन्द-फल का ही संस्कार किया जाता है, परन्तु शेष ग्रहों में मन्द और शीघ्र दो संस्कार देने पड़ते हैं और उसमें शीघ्रकर्ण का उपयोग करना पड़ता है।

भुजज्या और त्रिज्या

सिद्धान्तग्रन्थों में ३$\frac{३}{४}$ अंशों का एक-एक खण्ड मानकर उनकी भुजज्याएँ दी रहती हैं। करणग्रन्थों में सूक्ष्मता का अधिक विचार न रहने के कारण १०, १५ इत्यादि अंशों का एक-एक खण्ड माना है। सिद्धान्तों में भुजज्या लाने के लिए त्रिज्या प्रायः ३४३८ मानी है पर ब्रह्मगुप्त ने ३२७० मानी है। सिद्धान्ततत्त्वविवेककार कमलाकर ने ६० त्रिज्या मानकर प्रत्येक अंश की भुजज्या दी है। करणग्रन्थों में प्रायः १२० त्रिज्या रहती है। सुधाकर का कथन है कि मुंजाल ने ८ अंश ८ कला और चान्द्रमानकार गङ्गाधर ने १९१ मानी है। यन्त्रराज में त्रिज्या ३६०० है और प्रत्येक अंश की भुजज्या दी है। केरोपन्त ने (ग्र० सा० को० पृष्ठ ३१४ में) लिखा है कि हिन्दू ज्योतिषियों की त्रिज्या ३४३८ बड़ी बेढब है। इससे गुणन-भजन में बड़ा विस्तार होता है। उनका कथन कुछ अंशों में सत्य है, परन्तु हमारे ज्योतिषियों ने गुणन-भजन न बढ़ने देने की युक्तियाँ की हैं और ३४३८ त्रिज्या कारणवशात् मानी है। कारण यह है कि वृत्तपरिधि में २१६००

१. रविचन्द्र फल की यह उपपत्ति व्यंकटेश बापूजी केतकर ने सुझायी।

२. Grant's History of Ph. Astronomy, chap. XVIII.

कलाएँ होती हैं और तदनुसार व्यासार्ध ३४३८ आता है। व्यास और परिधि के अत्यन्त सूक्ष्म सम्बन्ध १ : ३.१४१५९२७ द्वारा २१६०० परिधि का व्यासार्ध ३४३७$\frac{3}{4}$ आता है। हमारे ग्रन्थकारों ने अत्यन्त स्वल्प अन्तर होने के कारण ३४३८ मान लिया है। इससे सिद्ध होता है कि हमारे ज्योतिषियों की त्रिज्या बहुत सूक्ष्म है।[1]

व्यास और परिधि की हमारे ग्रन्थों में बतायी हुई भिन्न-भिन्न निष्पत्तियां नीचे लिखी हैं। उनसे ज्ञात होगा कि हमारे ग्रन्थकार उनका सूक्ष्म सम्बन्ध जानते थे। कहीं-कहीं स्थूल मान भी मिलते हैं, परन्तु उन्होंने वे व्यवहार में सुविधा होने के लिए दिये हैं।

सूर्यसिद्धान्त, ब्रह्मगुप्त, द्वितीय आर्यभट	१ : $\sqrt{१०}$ अर्थात् १ : ३.१६२३
प्रथम आर्यभट	२०००० : ६२८३२ अर्थात् १ : ३.१४१६
द्वितीय आर्यभट, भास्कराचार्य[2]	७ : २२ अर्थात् १ : ३.१४२८
भास्कराचार्य	१२५० : ३९२७ अर्थात् १ : ३.१४१६
३४३८ त्रिज्या द्वारा	१ : ३.१४१३६
आधुनिक यूरोपियन सूक्ष्ममान	१ : ३.१४१५९२७

ब्रह्मगुप्त ने व्यासार्ध ३२७० माना है। इसका कारण वे बताते हैं—

भगणकलाव्यासार्धं भवति कलाभिर्यतो न सकलाभिः।
ज्यार्धानि न स्फुटानि ततः कृतं व्यासदलमन्यत्॥१६॥

गोलाध्याय

सूक्ष्म निष्पत्ति द्वारा २१६०० परिधि का व्यासार्ध पूर्ण ३४३८ नहीं आता और इस कारण ज्यार्ध सूक्ष्म नहीं होते, यह कथन तो ठीक है, परन्तु ब्रह्मगुप्त ने व्यास और परिधि की जो निष्पत्ति मानी है (१ : $\sqrt{१०}$) उससे या किसी अन्य रीति द्वारा मुझे उनके व्यासार्ध ३२७० की सङ्गति लगती नहीं दिखाई देती।

भास्कराचार्य ने ज्यासाधन की भिन्न-भिन्न रीतियों और ज्योत्पत्ति का विवेचन

---

१. यूरोपियन गणक १० के दस घात या अन्य किसी घात तुल्य त्रिज्या मानते हैं। (उनके ग्रन्थों में उस त्रिज्या सम्बन्धी भुजज्यादि मान दिये रहते हैं, इससे गणित करने में बड़ी सुविधा होती है और बहुत बड़ी त्रिज्या रहने के कारण फल अत्यन्त सूक्ष्म आते हैं।)

२. द्वितीय आर्यभट और भास्कराचार्य ने ये निष्पत्तियां दो प्रकार बतायी हैं।

बहुत किया है। कमलाकर ने भी पर्याप्त विचार किया है। यहाँ उसका विस्तार करने की आवश्यकता नहीं है। हमारे ग्रन्थों की ज्योत्पत्ति के विषय में प्लेफेअर नामक एक यूरोपियन विद्वान् (सन् १७८२) ने लिखा है (एशियाटिक रिसर्चेस पु० ४) कि "हिन्दू ज्योतिषियों की ज्यासाधन की रीतियों में यह —तीन चापों में से, जिनमें प्रथम और द्वितीय की निष्पत्ति द्वितीय और तृतीय की निष्पत्ति के बराबर है, आद्य और अन्त्य की भुजज्याओं का योग तथा मध्यवर्ती चाप की भुजज्या के दूने की निष्पत्ति आद्यन्त्य चापों के अन्तर की कोटिज्या और त्रिज्या की निष्पत्ति के तुल्य होती है—साध्य गर्भित है। यह साध्य यूरोपियन गणकों को १७वीं शताब्दी के आरम्भ तक ज्ञात था, इसका प्रमाण नहीं मिलता।" यह बात हमारे लिए भूषणास्पद है। ग्रीक केवल ज्याओं को ही जानते थे। ज्यार्धों का प्रयोग करना उन्हें नहीं मालूम था। अरब ज्योतिषियों को भी यह ईसा की नवीं शताब्दी तक नहीं ज्ञात था। प्रथम आर्यभट के वर्णन में लिख चुके हैं कि हमारे ज्योतिषियों को यह शक ४२१ से ही मालूम है। इतना अवश्य है कि स्पर्शरेखा, छेदनरेखा इत्यादि की कल्पना उन्हें नहीं हुई, पर केवल भुजज्याओं से निर्वाह हो जाता है।

स्पष्टाधिकार में ग्रहों के वक्री, मार्गी, उदित और अस्त होने के समयों का विचार तथा कुछ अन्य फुटकर बातें भी रहती हैं, पर यहाँ उनका विस्तृत वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है।

क्रान्ति

हमारे ग्रन्थों में सूर्य की परमक्रान्ति २४ अंश मानी है। क्रान्तिवृत्त का इतना तिर्यक्त्व शकपूर्व २४०० वर्ष के लगभग था। वह क्रमशः न्यून होता जा रहा है। शक १८१८ के आरम्भ का उसका मान २३।२७।१० है अर्थात् सम्प्रति हमारे ग्रन्थों की क्रान्ति में ३२' ५०" अशुद्धि है। शक ४०० के आसपास तिर्यक्त्व लगभग २३।३९ था। टालमी के ग्रन्थ में (सिंटाक्सिस भाग १) वह २३।५० और २३।५२।३० के मध्य में है। प्रो० ह्विटने के लेख (बर्जेसकृत सूर्यसिद्धान्त का अनुवाद, पृष्ठ ५७) से ज्ञात होता है कि टालमी ने वह हिपार्कस के ग्रन्थ से लिया है। वह तिर्यक्त्व हमारे ग्रन्थों से नहीं मिलता। इससे सिद्ध होता है कि हमारे ज्योतिषियों ने वह हिपार्कस या टालमी के ग्रन्थ से लिया है, बल्कि शक के पूर्व ही किसी समय स्वयं निकाला है। यन्त्रराज में क्रान्तिवृत्त का तिर्यक्त्व २३।३५ माना है (शक ९०० के लगभग वह वस्तुतः उतना ही था भी), परन्तु उसके बाद अन्य किसी ग्रन्थकार ने उसे स्वीकार नहीं किया और न तो उसका मान स्वयं ही निकाला।

द्वितीय प्रकरण

पञ्चाङ्ग

पञ्चाङ्ग के पाँच अङ्गों का गणित स्पष्टाधिकार में ही रहता है, इसलिए उनका विचार इसी अधिकार में करेंगे। शककाल, वर्षारम्भ, संवत्सर, पूर्णिमान्त-अमान्त मान इत्यादि कुछ बातें पञ्चाङ्ग की ही अङ्गभूत हैं। प्रथम उनका और उनके बाद पञ्चाङ्ग के पाँच अङ्ग, भिन्न-भिन्न प्रकार के पञ्चाङ्ग इत्यादि का विचार करेंगे।

ज्योतिषगणित में ग्रहस्थिति लाने के लिए कोई न कोई आरम्भकाल मानना आवश्यक होता है। सिद्धान्तग्रन्थों में महायुगारम्भ अथवा किसी युग का आरम्भ, विशेषतः कलियुगारम्भ और करणग्रन्थों में शककाल का कोई वर्ष गणितारम्भकाल माना रहता है। दो एक ग्रन्थों में शक के साथ साथ विक्रमसंवत् भी दिया है। रामविनोदकरण में शककाल और अकबरकाल तथा फत्तेशाहप्रकाश में शककाल और फत्तेशाहकाल दो-दो दिये हैं। वार्षिकतन्त्र वस्तुतः करणग्रन्थ है,परन्तु उसमें गणित कलियुगारम्भ से किया है और तदनुसार ग्रन्थकार ने उसको तन्त्र कहा है, फिर भी उसमें शककाल का सम्बन्ध आया है।

भिन्न-भिन्न कालों का विवेचन

हमारे पञ्चाङ्ग के आरम्भ में संवत्सर फल विचार में युधिष्ठिर, विक्रम, शालिवाहन इत्यादि कलियुग के ६ शककर्ताओं के नाम लिखे रहते हैं। उनमें से युधिष्ठिरादि तीन बीत चुके हैं और तीन आगे होंगे। शक शब्द वस्तुतः एक जाति का बोधक है। भटोत्पल इत्यादिकों ने लिखा है कि विक्रमादित्य द्वारा शकों के पराजित होने के समय से शक नाम से कालगणना आरम्भ हुई, पर यह कथन सयुक्तिक नहीं प्रतीत होता। शक जाति के ही राजाओं ने अपने नाम पर कालगणना का आरम्भ किया होगा। शक शब्द प्रथम एक जाति का द्योतक था, परतु आज वह युधिष्ठिरशक, विक्रमशक इयादि शब्दों में काल अर्थ का अर्थात् इंगलिश के इरा (Era) और अरबी के सन् अर्थ का वाचक हो गया है। प्राचीन ताम्रपत्रादि लेखों में सन् अर्थ में संस्कृत के काल शब्द का प्रयोग मिलता है, जैसे—शकनृपकाल, विक्रमकाल, गुप्तकाल (गुप्त राजाओं के नाम पर आरम्भ किया हुआ काल)। इसलिए मैंने अगले विवेचन में सन् अर्थ में काल शब्द का प्रयोग किया है। इस देश में विक्रमकाल, शककाल इत्यादि अनेक काल प्रचलित थे और हैं। यहाँ उनका संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

गत और वर्तमान वर्ष

उनका वर्णन करने के पहिले गत और वर्तमान वर्ष के विषय में थोड़ा लिख

देना आवश्यक है। ब्रह्मगुप्त के वर्णन में उत्तरपुराण का एक श्लोक दिया है, उसमें उसका रचनाकाल शक ८२० लिखा है, परन्तु उसमें बतायी हुई ग्रहस्थिति शक ८२० में नहीं, बल्कि आधुनिक पद्धति के शक ८१९ में मिलती है, अतः शंका होती है कि उस पुराण का रचनाकाल शक ८१९ है या ८२०। इस देश के अधिकांश प्रान्तों में जिसे शक का १८१८वाँ वर्ष कहते हैं, उसी को तमिल, तेलगु, और मैसूर की कनाड़ी लिपि में छपे हुए कुछ पञ्चाङ्गों में १८१९वाँ वर्ष लिखा है। इस भेद का कारण मुझे यह मालूम होता है कि सिद्धान्तग्रन्थों में दिये हुए कलियुगारम्भकालीन ग्रह कलि के प्रथम वर्ष के आरम्भ के रहते हैं। कलि के ११वें वर्ष के आरम्भ के ग्रह लाने हों तो गत १० वर्ष सम्बन्धी गति युगारम्भकालीन स्थिति में जोड़नी पड़ेगी। इस प्रकार के गणितों में ११ के स्थान में १० लेना पड़ता है। उपर्युक्त पुराणरचना सम्बन्धी शक ८१९ और ८२० की भी यही स्थिति होगी, अर्थात् शक ८१९ गत और ८२० वर्तमान होगा। ताम्र-पत्रादि लेखों में इसके कुछ उदाहरण मिलते हैं। ऊपर बताया है कि शक के जिस वर्ष को इस प्रान्त में १८१८वाँ कहते हैं उसी को कुछ मद्रासी पञ्चाङ्गों में १८१९वाँ कहा है, पर पता नहीं, उधर के लोग गत और वर्तमान भेद को जानते हैं या नहीं। सम्प्रति तञ्जौर प्रान्त के अण्णा अय्यंगर के बनाये हुए तमिल लिपि में मुद्रित पञ्चाङ्ग मद्रास के तमिल प्रान्तों में चलते हैं। कई वर्षों के वे पञ्चाङ्ग मेरे पास हैं। गत सर्वजित नामक संवत्सर के उस पञ्चाङ्ग में शकवर्ष १८०९ लिखा है और उसी के आगे वाले सर्वधारी संवत्सर के पञ्चाङ्ग में, जो कि उसी कर्ता का बनाया है, शक १८११ लिखा है। इन वर्षों को अन्य प्रान्तों में क्रमशः १८०९ और १८१० कहते हैं। इससे ज्ञात होता है कि पञ्चाङ्ग-कर्ता को ही गत और वर्तमान भेद का पता नहीं है। इस स्थिति में सामान्य लोग उसे कैसे जान सकते हैं? पता लगाने पर मद्रास के सुप्रसिद्ध व्यक्ति नटेशशास्त्री तथा तञ्जौर प्रान्त के तिरुवादि नामक स्थान के निवासी प्रसिद्ध विद्वान् सुन्दरेश्वर श्रौती और व्यंकटे-श्वर दीक्षित के भेजे हुए पत्रों से ज्ञात हुआ कि ऊपर जिसे वर्तमान वर्ष कहा है उसका प्रचार सम्प्रति उस प्रान्त में बिल्कुल नहीं है, अतः यह भी कहा जा सकता है कि गत और वर्तमान भेद वास्तविक नहीं बल्कि कल्पित है और इसकी कल्पना एक ही वर्ष में किसी समय प्रमाद से दो अंक लगा दिये जाने के कारण हुई है। यदि यह भेद सत्य है तो इसकी सम्भावना केवल दो ही कालों, कलिकाल और शककाल, में हो सकती है। क्योंकि ज्योतिषगणित ग्रन्थों में इन्हीं का प्रयोग मिलता है। कलिवर्ष में यह भेद स्पष्ट-तया लागू होता है। विक्रम इत्यादि कालों का प्रचार ज्योतिषगणित में नहीं है, अतः उनमें यह भेद होने का कोई हेतु नहीं दिखाई देता। कभी-कभी विक्रम के भी एक ही वर्ष में दो अंकों का प्रयोग मिलता है, परन्तु वह भ्रम से किया गया होगा। अनेक दृष्टियों

से विचार करके मैंने अपना मत यह निश्चित किया है कि वर्तमान और गत भेद वास्तविक नहीं है, सभी वर्ष वर्तमान ही हैं। आगे भिन्न-भिन्न कालों के वर्षों का अङ्क देकर तुलना की है, उसमें वर्ष का अङ्क लिखने में मैंने भारत की वर्तमान प्रचलित पद्धति का ही अनुसरण किया है। कहीं-कहीं गत और वर्तमान संज्ञाओं का भी प्रयोग किया है, पर वहां ऐसा नहीं किया है जहाँ एक ही वर्ष में दो अंकों का सम्बन्ध आया है। अब भिन्न-भिन्न कालों का विचार करेंगे।

कलिकाल—ज्योतिषग्रन्थों और पञ्चाङ्गों में कालगणना में कलियुग का भी उपयोग करते हैं। इस काल के चैत्रादि और मेषादि दो वर्ष प्रचलित हैं। पञ्चाङ्गों में कभी इसका गत वर्ष, कभी वर्तमान वर्ष और कभी-कभी दोनों लिखते हैं। ताम्रपत्रादि लेखों में इसका अधिक प्रयोग नहीं मिलता। व्यवहार में भी इस समय इसका प्रचार कहीं नहीं है, परन्तु मद्रास प्रान्त में कुछ ऐसे पञ्चाङ्ग मिलते हैं जिनमें केवल कलिवर्ष लिखा रहता है। शक में ३१७९ जोड़ने से गत कलिवर्ष आता है।[1]

सप्तर्षिकाल—सम्प्रति यह काल कश्मीर में और उसके आसपास प्रचलित है। मालूम होता है बेरुनी के समय (शक ९५२) यह कश्मीर, मुलातान और कुछ अन्य प्रान्तों में भी प्रचलित था। राजतरङ्गिणी में सम्पूर्ण इतिहास इसी काल के वर्षों में लिखा है। इसे लौकिककाल या शास्त्रकाल भी कहते हैं। सप्तर्षियों में गति है, वे १०० वर्ष में एक नक्षत्र चलते हैं और २७०० वर्षों में भचक्र की पूरी प्रदक्षिणा करते हैं, इस कल्पना के आधार पर इस काल गणना का प्रचार हुआ है। इसी कारण इसमें २७०० वर्षों का एक चक्र माना जाता है, परन्तु प्रचलित पद्धति में शताब्दी का अंक प्रायः छोड़ देते हैं अर्थात् १०० वर्ष पूर्ण हो जाने पर फिर प्रथम वर्ष से गणना करते हैं। कश्मीर के ज्योतिषियों के मतानुसार वर्तमान कलिवर्ष २७ चैत्र शुक्ल १ को सप्तर्षिकाल आरम्भ हुआ है। शताब्दियां छोड़ दें तो सप्तर्षिवर्ष में ४६ जोड़ने से वर्तमान पद्धति का शकवर्ष और २४–२५ जोड़ने से ईसवी सन् आता है। सप्तर्षिवर्ष चैत्रादि है। डाक्टर कीलहार्न को पता लगा है[2] कि इसका वर्ष वर्तमान और मास पूर्णिमान्त है।[3]

विक्रमकाल—सम्प्रति यह गुजरात में और बङ्गाल को छोड़ सम्पूर्ण उत्तर भारत में

---

१. जगनलाल गुप्त ने इस विषय में 'संसार के संवत्' नाम का एक बड़ा अच्छा ग्रन्थ लिखा है। वह विकम संवत् १९८१ में छपा है। (अनुवादक)

२. Indian Antiquary, XX, p. 149 ff.

३. पूर्णिमान्त और अमान्त पद्धतियों का विवेचन आगे किया है।

प्रचलित है। उन प्रान्तों के लोग अन्यत्र भी जहाँ हैं, इसी का प्रयोग करते हैं। नर्मदा के उत्तर इसके वर्ष का आरम्भ चैत्र से होता है और मास पूर्णिमान्त हैं, परन्तु गुजरात में वर्ष कार्तिकादि है और मास अमान्त हैं। प्रोफेसर कीलहार्न ने विक्रम संवत् ८९८ से १८७७ तक के १५० प्राचीन लेखों के आधार पर निम्नलिखित तीन अनुमान किये हैं।[1]

(१) सामान्यतः इस काल का गतवर्ष प्रचलित है पर कहीं-कहीं वर्तमान वर्ष का भी प्रचार है।[2]

(२) विक्रमवर्ष आरम्भ में कार्तिकादि था, परन्तु मालूम होता है शकवर्ष के साहचर्य के कारण नर्मदा के उत्तर भाग में वह धीरे-धीरे चैत्रादि हो गया। इस काल की १४वीं शताब्दी तक तो एक ही प्रान्त में कार्तिकादि और चैत्रादि दोनों वर्ष प्रचलित थे, पर कार्तिकादि का अधिक प्रचार था।

(३) कार्तिकादि वर्ष के मास अमान्त और पूर्णिमान्त दोनों और चैत्रादि वर्ष के प्रायः पूर्णिमान्त ही पाये जाते हैं, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इसका कोई एक निश्चित नियम था।

सन् ४५० ई० से ८५० पर्यन्त इस काल को मालवकाल कहते थे। विक्रमशब्द का प्रयोग सर्वप्रथम विक्रम संवत् ८९८ के एक लेख में मिलता है, पर उससे भी यह स्पष्ट नहीं ज्ञात होता कि वह विक्रम राजा के ही उद्देश्य से किया गया है। वैसा स्पष्ट उल्लेख विक्रम संवत् १०५० के एक काव्य में सर्वप्रथम मिलता है। सम्प्रति विक्रमकाल को विक्रमसंवत् अथवा केवल संवत् भी कहते हैं। संवत् शब्द वस्तुतः संवत्सर का अपभ्रंश है। शकसंवत् सिंहसंवत्, वलभीसंवत् इत्यादि प्रयोग अनेक स्थानों में मिलते हैं। मद्रास प्रान्त के कुछ पञ्चाङ्गों में शकवर्ष के साथ-साथ विक्रम का भी वर्तमान-वर्ष लिखा रहता है। इधर जिस वर्ष को शक १८१८ कहते हैं, उसे वहाँ शक १८१९ और विक्रम संवत् १९५४ कहते हैं। शक में १३४–१३५ जोड़ने से कार्तिकादि और १३५ जोड़ने से चैत्रादि विक्रम वर्ष आता है।

ख्रिस्ती सन् (ईसवी सन्)—हमारे देश में इस सन् का प्रचार अंगरेजों का राज्य होने के बाद हुआ है। इसका वर्ष सायन सौर है। उसका आरम्भ जनवरी की पहली तारीख से होता है। सम्प्रति जनवरी का आरम्भ अमान्त पौष या माघ में होता है। यह पद्धति सन् १७५२ ई० से चली है। उसके पूर्व जनवरी का आरम्भ ११ दिन पहले होता था। शक में ७८ या ७९ जोड़ने से ख्रिस्ती वर्ष आता है।

---

१. Indian Antiquary, XX, p. 398 ff.

२. गत और वर्तमान वर्ष का उपर्युक्त विवेचन देखिए।

शककाल—ज्योतिष करणग्रन्थों में यही काल लिया गया है। ज्योतिषियों का आश्रय प्राप्त होने के कारण ही यह आज तक टिका है, अन्यथा गुप्तकाल, शिवाजी के राज्याभिषेक शक इत्यादिकों की भाँति यह भी बहुत पहिले ही लुप्त हो गया होता। सम्प्रति टिनेवल्ली और मलाबार के कुछ भाग को छोड़कर सम्पूर्ण दक्षिण भारत में व्यवहार में मुख्यतः इसी काल का प्रचार है। भारत के अन्य भागों में भी यह स्थानिक काल के साथ-साथ प्रचलित है। इसका वर्ष चान्द्र और सौर है। तमिल और बङ्गाल प्रान्त में सौरवर्ष और अन्य प्रान्तों में इसका चान्द्रवर्ष प्रचलित है। चान्द्र वर्ष चैत्रादि और सौर वर्ष मेषादि है। नर्मदा के उत्तर भाग में इसके मास पूर्णिमान्त और दक्षिण में अमान्त हैं।

चेदिकाल अथवा कलचुरिकाल—यह काल सम्प्रति प्रचलित नहीं है। चेदिवर्ष ७९३ से ९३४ तक के १० ताम्रपत्रादि लेखों के आधार पर प्रोफेसर कीलहार्न ने अनुमान किया है कि चैत्रादि विक्रमसंवत् ३०५ (शकसंवत् १७०, सन् २४८–४९ ई०) आश्विन शुक्ल प्रतिपदा को चेदिकाल आरम्भ हुआ, उसका वर्ष आश्विनादि है, वह वर्तमान है और उसके मास पूर्णिमान्त हैं। चेदिवर्ष में १६९–७० जोड़ने से शकवर्ष और २४७–४८ जोड़ने से ईसवी सन् आता है। पश्चिम भारत और मध्य भारत के कलचुरी राजा इस काल का उपयोग करते थे। सम्भवतः उनके पहिले भी उन भागों में यह प्रचलित रहा होगा। मेरा अनुमान है कि पूर्णिमान्त आश्विन कृष्ण १ अर्थात् अमान्त भाद्रपद कृष्ण १ चेदिवर्ष का आरम्भकाल होगा।

गुप्तकाल—सम्प्रति यह प्रचलित नहीं है। डाक्टर फ्लीट ने इसका विस्तृत विवेचन किया है।[1] गुप्तवर्ष १६३ से ३८६ तक के ताम्रपत्रादि लेखों के आधार पर उन्होंने अनुमान किया है कि इसका वर्ष वर्तमान है, उसका आरम्भ चैत्र से होता है और मास पूर्णिमान्त हैं। शकवर्ष २४२ चैत्र शुक्ल प्रतिपदा गुप्तकाल का आरम्भकाल है। गुप्तवर्ष में २४१ जोड़ने से शकवर्ष और ३१९-२० जोड़ने से ईसवी सन् आता है मध्यभारत और नेपाल में यह काल प्रचलित था। गुप्तोपनामक राजा इसका उपयोग करते थे।

वलभीकाल—गुप्तकाल को ही बाद में वलभीकाल कहने लगे थे। उसकी चतुर्थ शताब्दी में वह काठियावाड़ में प्रचलित हुआ,। उस समय उसके वर्ष का आरम्भ चैत्र में होता था, पर बाद में उस चैत्र के पूर्ववर्ती कार्तिक की शुक्ल प्रतिपदा को अर्थात्

१. Corpus Inscrip. Ind. vol. iii. Gupta Inscriptions, Indian Antiquary vol. xx, p. 376 ff.

पाँच मास पीछे होने लगा। उसका वर्ष वर्तमान है और कार्तिकादि है। मास पूर्णिमान्त और अमान्त दोनों है। वलभीवर्ष में २४०–२४१ जोड़ने से शकवर्ष और ३१८–१९ जोड़ने से ईसवी सन् आता है। गुप्तसंवत् अथवा वलभीसंवत् ८२ से ९४५ तक के ताम्रपत्रादि लेख मिले हैं।

हिजरी सन्—इसकी उत्पत्ति अरब में हुई है। हमारे देश में इसका प्रचार मुसलमानी राज्यकाल से हुआ है। हिज्र का अर्थ है भागना। मुसलमानों के पैगम्बर मुहम्मद साहब १५ जुलाई सन् ६२२ ई० तदनुसार शक ५४४ श्रावण शुक्ल १ गुरुवार की रात्रि (मुसलमानों की शुक्रवार की रात) को मक्का से भागकर मदीना गये थे। उनके भागने का समय ही इस सन् का आरम्भकाल है और इसी लिए इसे हिजरी सन् कहते हैं। इसके मोहर्रम इत्यादि मास चान्द्र हैं। अधिकमास लेने की पद्धति न होने के कारण यह वर्ष केवल चान्द्र अर्थात् ३५४ या ३५५ दिनों का होता है और इस कारण प्रति ३२ या ३३ सौर वर्षों में इस सन् के वर्ष का अंक किसी भी सौरकाल के वर्ष के अंक की अपेक्षा १ बढ़ जाता है। मास का आरम्भ शुक्लपक्ष की प्रतिपदा या द्वितीया के चन्द्रदर्शन के बाद होता है। मास के दिनों को प्रथम दिन, द्वितीय दिन न कहकर प्रथमचन्द्र, द्वितीयचन्द्र इत्यादि कहते हैं। मास में इस प्रकार के चन्द्र (तिथियाँ) २९ या ३० होते हैं। वार और तारीख़ का आरम्भ सूर्यास्त से होता है। इस कारण हमारे गुरुवार की रात्रि मुसलमानी पद्धति के अनुसार शुक्रवार की रात्रि होती है, पर दिन के नाम में अन्तर नहीं पड़ता।

बङ्गाली सन्—यह सन् बङ्गाल में प्रचलित है। इसका वर्ष सौर है। इसका आरम्भ मेषसंक्रान्ति से होता है। महीनों के नाम चैत्र, वैशाख इत्यादि चान्द्र ही हैं। जिस महीने का आरम्भ मेषसंक्रान्ति से होता है उसे वैशाख कहते हैं (तमिल प्रान्त में उसी को चैत्र कहते हैं)। बङ्गाली सन् में ५१५ जोड़ने से शकवर्ष और ५९३–९४ जोड़ने से ईसवी सन् आता है।

बिलायती सन्—यह सन् बङ्गाल के कुछ भाग में और मुख्यतः उड़ीसा प्रान्त में प्रचलित है। इसका वर्ष सौर है, परन्तु महीनों के नाम चान्द्र ही हैं। वर्ष का आरम्भ कन्या संक्रान्ति के दिन होता है। बङ्गाल में मास का आरम्भ संक्रान्ति के दूसरे या तीसरे दिन करते हैं, परन्तु बिलायती सन् के मास का आरम्भ संक्रान्ति के दिन ही होता है।[1]

---

१. वारन ने लिखा है कि बिलायती सन् के वर्ष का आरम्भ चैत्र कृष्ण १ को होता है। (काल संकलित, Tables p. ix सन् १८२५ ई०) यह पद्धति भी कहीं प्रचलित होगी।

बिलायती सन् के वर्ष में ५१४–१५ जोड़ने से शकवर्ष और ५९२–९३ जोड़ने से ईसवी सन् आता है।

अमली सन्—गिरीशचन्द्र के Chron l.gical Tables नामक ग्रन्थ में लिखा है कि अमली सन् का वर्ष ओड़िसा प्रान्त के राजा इन्द्रद्युम्न की जन्मतिथि भाद्रपद शुक्ल १२ से और उसका मास संक्रान्तिकाल से आरम्भ होता है। इससे ज्ञात होता है कि इसके मास सौर हैं परन्तु वर्ष चान्द्र है। इसके मास भी चान्द्र हो सकते हैं। बिलायती सन् और अमली सन् के वर्षांक समान होते हैं।

फसली सन्—फसल तैयार होने के काल के अनुसार इसे अकबर बादशाह ने चलाया है। पहिले हिजरी सन् का ही वर्षांक इसमें लगाया गया, परन्तु हिजरी सन् केवल चान्द्र (३५४ दिन का) और फसली सन् सौर होने के कारण बाद में दोनों के वर्षांकों में अन्तर पड़ने लगा। हिजरीसन् ९६३, ईसवीसन् १५५६ में अकबर गद्दी पर बैठा। उत्तर भारत में फसली सन् उसी समय आरम्भ हुआ और दक्षिण में शाहजहाँ ने उसे ईसवी सन् १६३६ अर्थात् हिजरीसन् १०४६ में आरम्भ किया। प्रथम उसमें हिजरीसन् का ही वर्षांक अर्थात् १०४६ लगाया गया। उस समय उत्तर के फसली-सन् का वर्षांक १०४४ था। इसलिए दक्षिण का अंक उत्तर की अपेक्षा दो अधिक हो गया। हिजरी वर्ष के केवल चान्द्र होने के कारण ऐसा हुआ। उत्तर और दक्षिण का वर्षारम्भ भिन्न होने के कारण दोनों में कुछ और महीनों का भी अन्तर पड़ गया। इस वर्ष का उपयोग केवल सरकारी कामों में होता है। धार्मिक कृत्यों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। मालूम होता है इसी कारण इसका आरम्भकाल अनियमित हो गया। मद्रास प्रान्त में प्रथम इस वर्ष का आरम्भ आड़ी (कर्क) मास के प्रथम दिन होता था अंगरेज सरकार ने सन् १८०० ई० मे इसका आरम्भकाल जुलाई की १३वीं तारीख और बाद में सन् १८५५ ई० में जुलाई की पहिली तारीख निश्चित किया। बम्बई हाते के कुछ भागों में जिस दिन सूर्य मृगशिरा नक्षत्र में प्रवेश करता है (सम्प्रति जून की ५, ६ या ७वीं तारीख) उसे फसली वर्ष का आरम्भ दिन मानते हैं, अर्थात् वह सौर वर्ष है परन्तु उसके मोहर्रम इत्यादि मास चान्द्र हैं। उत्तर भारत में प्रायः सर्वत्र पूर्णिमान्त आश्विन की कृष्ण प्रतिपदा को फसली वर्ष का आरम्भ मानते हैं अर्थात् वहाँ यह वर्ष चान्द्रसौर है। बङ्गाल में फसली सन् के १३००वें वर्ष का आरम्भ सन् १८९२ ई० के सितम्बर में और दक्षिण में १३००वें वर्ष का आरम्भ सन् १८९० ई० के जून या जुलाई में हुआ। दक्षिण के फसली सन् के वर्ष में ५१२–१३ जोड़ने से शकवर्ष और ५९०–९१ जोड़ने से ईसवी सन् आता है। बङ्गाल के फसली वर्ष में ५१४–१५ जोड़ने से शकवर्ष और ५९२–९३ जोड़ने से ईसवी सन् आता है। बङ्गाल के फसली, बिलायती

और अमली, तीनों सनों का वर्षांक एक ही रहता है। उनमें वर्ष में अधिक से अधिक १८ दिन तक ही अन्तर रहता है। बंगाली सन् इन तीनों से लगभग ६, ७ मास ही छोटा है। वस्तुतः बंगाली, विलायती अमली और बंगाली-फसली, इन सबों का मूल फसली सन् ही है। बाद में इनके आरम्भकाल में थोड़ा-थोड़ा अन्तर पड़ गया।

सूरसन् या शाहूरसन्—इसे कभी-कभी अरबी सन् भी कहते हैं। यह सन् १३४४ ई० अर्थात् हिजरी सन् ७४५ में आरम्भ हुआ और प्रथम इसमें हिजरीसन् का वर्षांक ७४५ ही लगाया गया। दक्षिण में फसली सन् हिजरी सन् १०४६ में अर्थात् सूरसन् के २९२ वर्ष बाद आरम्भ हुआ। उस समय सूरसन १०३७ था। इस कारण सूरसन और दक्षिणफसली सन् में ९ का अन्तर पड़ गया। मरहठों के राज्यकाल में सूरसन का बड़ा प्रचार था। यह बम्बई के फसली सन् से ९ वर्ष छोटा है परन्तु अन्य बातों में दोनों बिलकुल समान हैं। इसके वर्ष का आरम्भ उस दिन होता है जिस दिन सूर्य मृगशिरा नक्षत्र में प्रवेश करता है अर्थात् इसका वर्ष सौर है परन्तु इसके मोहर्रम इत्यादि मास चान्द्र हैं। सूरसन् के वर्ष में ५२१-२२ जोड़ने से शकवर्ष और ५९९-६०० जोड़ने से ईसवी सन् आता है—

बंगाली, विलायती और अमली सन् उत्तर के फसली सन् के विशिष्ट भेद हैं और उत्तर का फसली, दक्षिण का फसली तथा सूरसन्, ये हिजरी सन् के विशिष्ट प्रकार हैं।

हर्षकाल—इसे कन्नौज के राजा हर्षवर्धन ने चलाया था। ब्रेरुनी के समय यह मथुरा और कन्नौज प्रान्तों में प्रचलित था। इस समय इसका प्रचार नहीं है। इस काल की प्रथम और द्वितीय शताब्दी के १०-१२ ताम्रपत्रादि लेख नेपाल में मिले हैं। उनमें वर्षांक के पीछे केवल संवत् शब्द लिखा है। हर्ष संवत् में ५२८ जोड़ने से शक और ६०६-६०७ जोड़ने से ईसवी सन् आता है।

मगी सन्—यह सन् चटगाँव प्रान्त में प्रचलित है। यह बंगाली सन् से ४५ वर्ष छोटा है। दोनों की शेष सभी बातें समान हैं।[1]

कोल्लमकाल अथवा परशुरामकाल—इसके वर्ष को कोल्लम आण्डु कहते हैं। कोल्लम का अर्थ है पश्चिमी और आण्डु वर्ष को कहते हैं। यह काल मलाबार प्रान्त में मंगलोर से कुमारी पर्यन्त और तिनेवल्ली जिले में प्रचलित है। इसका वर्ष सौर है। मलाबार के उत्तर भाग में कन्नी (कन्या) मास से और दक्षिणी भाग में तथा तिनेवल्ली प्रान्त में चिगम (सिंह) मास से इसका वर्ष आरम्भ होता है। मलाबार प्रान्त में इसके मासों के नाम मेष, वृष इत्यादि राशियों के अपभ्रंश हैं। लोग कहते हैं कि

---

१. Chronological Tables for A.D. 1764-1900 by Girish Chandra.

१००० वर्ष का इसका एक चक्र होता है और वर्तमान चक्र चतुर्थ है, परन्तु सम्प्रति प्रचलित इसका वर्षांक १००० से अधिक है। शक १८१८ के आरम्भ में कोल्समवर्ष १०७२ है। शक ७४७ में प्रथम कोल्लमवर्ष था। इसके पूर्व कोल्लमकाल के प्रचलित होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। कोल्लमवर्ष में ७४६-४७ जोड़ने से शकवर्ष और ८२४-२५ जोड़ने से ईसवी सन् आता है।

नेवारकाल—यह नेपाल में शक १६९० पर्यन्त प्रचलित था। इसका वर्ष कार्तिकादि है और मास अमान्त हैं। संस्कृत ग्रन्थों में और ताम्रपत्रादि लेखों में इसे नेपालकाल कहा है। इसके वर्ष में ८००-८०१ जोड़ने से शकवर्ष, ८७८-७९ जोड़ने से ईसवी सन् और ९३५ जोड़ने से कार्तिकादि विक्रम संवत् आता है।

चालुक्यकाल—इसे चालुक्य राजा विक्रमादित्य ने शक ९९८ के आसपास आरम्भ किया। विजय कलचुरी ने शक १०८४ में पूर्व के चालुक्य राजाओं को पराजित किया। मालूम होता है उसी समय से इसका प्रचार बन्द हो गया। इसके मास और पक्ष की पद्धति महाराष्ट्र की पद्धति सरीखी है। इसके वर्षारम्भकाल का ठीक पता नहीं लगा है। चालुक्य वर्ष में ९९७-९८ जोड़ने से शकवर्ष और १०७५-७६ जोड़ने से ईसवी सन् आता है।

सिंहसंवत्—यह काठियावाड़ और गुजरात में प्रचलित था। सिंहसंवत् ३२, ९३, ९६, ५१ के लेख मिले हैं।[1] उनसे मुझे अनुमान होता है कि उसका वर्ष चान्द्र-सौर और वर्षांक वर्तमान है। मास अमान्त है (केवल एक उदाहरण में पूर्णिमान्त हैं)। वर्ष प्रायः आषाढ़ादि है। यह निश्चित है कि चैत्रादि अथवा कार्तिकादि नहीं है। सिंहसंवत् में १०३५-३६ जोड़ने से शकवर्ष, १११३-१४ जोड़ने से ईसवी सन् और ११७० जोड़ने से आषाढ़ादि विक्रमसंवत् आता है।

लक्ष्मणसेनकाल—यह काल तिरहुत और मिथिला प्रान्तों में विक्रमकाल या शककाल के साथ-साथ चलता है। इसके आरम्भकाल के विषय में मतभेद है। कोलब्रूक (सन् १७९६ ई०) का कथन है कि सन् ११०५ ई० में इसका प्रथम वर्ष था। बुकनन (सन् १८१० ई०) ने लिखा है कि इसका प्रथम वर्ष सन् ११०५ या ११०६ ईसवी में था। ईसवी सन् १७७६ से १८८० तक के तिरहुत प्रान्त के पञ्चाङ्गों को देखने से ज्ञात होता है कि प्रथम वर्ष ईसवी सन् ११०८ या ११०९ में था। बुकनन ने लिखा है कि इसका वर्ष अषाढ़ी पूर्णिमा के दूसरे दिन अर्थात् श्रावण कृष्ण प्रतिपदा को आरम्भ होता है परन्तु राजेन्द्रलाल मित्र (सन् १८७८ ई०) और जनरल कनिंघम लिखते हैं कि वह

---

१. Indian Antiquary Vol, XVIII, XIX.

(पूर्णिमान्त) माघ कृष्ण प्रतिपदा को आरम्भ होता है।[1] डाक्टर कीलहार्न ने ईसवी सन् ११९४ से १५५१ तक के ६ लेखों के आधार पर अनुमान किया है[2] कि इस काल का वर्ष कार्तिकादि है, मास अमान्त हैं और इसका प्रथम वर्ष शक १०४०-४१ में था। यह अनुमान अकबरनामा नामक ग्रन्थ के अबुलफ़ज़ल के लेख से मिलता है। इस प्रकार इस काल के वर्ष में १०४०-४१ जोड़ने से शकवर्ष, १११८-१९ जोड़ने से ईसवीसन् और ११७५ जोड़ने से कार्तिकादि विक्रमसंवत् आता है।

इलाही सन्—इसे अकबर बादशाह ने चलाया है । इसे अकबरी सन् भी कहते हैं। हिजरी सन् ९६३ के रबीउस्सानी मास की तारीख २ शुक्रवार (१४ फरवरी सन् १५५६, शक १४७७) को अकबर गद्दी पर बैठा। यही वर्ष इस सन् का प्रथम वर्ष माना गया।[3] अकबर और जहाँगीर के सम्बन्ध में इस सन् का उल्लेख अनेक स्थानों में है। शाहजहाँ के समय इसका प्रचार मन्द पड़ गया। इसका वर्ष सौर है अबुल-फ़ज़ल ने लिखा है कि "इस सन् के दिन और मास नैसर्गिक सौर (सावन) हैं। मास में दिनों की क्षयवृद्धि नहीं होती। मास और दिनों के नाम प्राचीन पारसी हैं। मास में २९ या ३० दिन होते हैं। प्रत्येक के भिन्न-भिन्न नाम हैं। सप्ताह नहीं हैं। कुछ मासों में ३२ दिन होते हैं।"[4] यहाँ मास में २९ या ३० दिन बताये हैं, परन्तु प्राचीन पारसी पञ्चाङ्गों में प्रत्येक महीने में ३० दिन रहते थे। पारसी महीनों के फरव-र्दिन इत्यादि जो नाम सम्प्रति पञ्चाङ्गों में रहते हैं वे ही इस सन् के महीनों के भी हैं।

---

१. यहाँ तक इस काल का वर्णन कनिंघम के Indian Eras के आधार पर किया गया है।

२ Indian Antiquary, XIX P. 7 ff

३. अबुलफ़ज़ल के लिखे हुए अकबरी ५२ वर्षों के आरम्भदिन कनिंघम ने लिखे हैं (Indian Eras p. 225.)। उनमें प्रथम वर्ष का आरम्भ दिन रबीउल आखिर की २७वीं तारीख (१० मार्च मंगलवार) है और आगे सब वर्षों के आरम्भदिन पुरानी पद्धति के अनुसार १० मार्च के लगभग अर्थात् सायन मेष संक्रान्ति के समय हैं। अतः प्रचलित मान के अनुसार २१ मार्च के लगभग अकबरी वर्ष का आरम्भ दिन आता है। अकबर रबीउल आखिर की दूसरी तारीख को गद्दी पर बैठा था तथापि जान-बूझ कर २५ दिन बाद सन् का आरम्भ माना गया। इससे ज्ञात होता है कि अकबर का उद्देश्य विषुवदिन में (सायन मेष में) जब कि दिन और रात्रि के मान समान होते हैं, वर्षारम्भ मानना था।

४. Prinsep's Indian Antiquities, II, Useful tables, p. 171.

इलाही सन् के वर्ष में १४७६-७७ जोड़ने से शकवर्ष और १५५५-५६ जोड़ने से ईसवी सन् आता है।

राजशक अथवा राज्याभिषेक शक—मराठा राज्य के संस्थापक शिवाजी ने यह शक चलाया था। शिवाजी का राज्याभिषेकदिन अर्थात् ज्येष्ठ शुक्ल १३ शक १५९६ आनन्द संवत्सर इसका आरम्भकाल है। इसका वर्ष इसी तिथि को बदलता है। इसकी शेष बातें दक्षिण के चान्द्रसौर अमान्त शकवर्ष सदृश ही हैं। इस काल के वर्ष में १५९५-९६ जोड़ने से शकवर्ष और १६७३-७४ जोड़ने से ईसवी सन् का वर्ष आता है।[1]

प्रचलित और लुप्त सब कालों के वर्षांकों का अन्तर जानने में सुविधा होने के लिए निम्नलिखित कोष्ठक में वे एकत्र लिखे हैं। इसमें कलिवर्ष के गत और वर्तमान दोनों अंक लिखे हैं। शेष कालों में वर्षांक में वस्तुतः गत और वर्तमान भेद नहीं है। सम्प्रति हमारे देश में प्रायः जो वर्षांक प्रचलित हैं उन्हें वर्तमान मानकर इस कोष्ठक में अनेक अंक दिये हैं। कालों के नाम के नीचे उनके वर्षारम्भकालीन मास या दिन भी दिये हैं। उनमें चान्द्रमास अमान्त हैं।

कलि	सप्तर्षि	विक्रम		ईसवी	शक
चैत्र, मेष गत ४९७९ वर्त. ४९८०	चैत्र ४९५४	चैत्र १९३५	आषाढ़ कार्तिक १९३४	जनवरी १८७८	चैत्र, मेष १८००
चेदि	गुप्तवलभी	गुप्त	हिजरी	फसली दक्षिणी	फसली बंगाली
भाद्रकृष्ण १ १६३०	कार्तिक १५५९	चैत्र १५५६	मोहर्रम १२९५	मृग, जुलाई १२८७	भाद्रकृष्ण १ १२८५
विलायती	अमली	बंगाली	अरबी, सूर	हर्ष	मगी
कन्या १२८५	भाद्रशुक्ल १२ १२८५	मेष १२८५	मृग १२७८	१२७२	मेष १२४०
कोलम	नेवार, नेपाल	चालुक्य	सिंह | लक्ष्मण	इलाही अकबरी	शिवाजी राजशक
सिंह कन्या १०५३	कार्तिक ९९९	८०२	आषाढ़ ७६४ | कार्तिक ७५९	सायनमेष ३२३	ज्येष्ठशुक्ल १३ २०४

१. ऊपर एक (छोटे) काल के वर्षांक में कुछ जोड़कर जो दूसरे (बड़े) काल के

इस कोष्ठक में शक १८०० चैत्र शुक्ल ११ शनिवार, १३ अप्रैल सन् १८७८ के प्रत्येक काल के वर्षांक दिये हैं। उस दिन चान्द्रसौर मान से बहुधान्य (१२ वाँ) और बार्हस्पत्य मान से विकृति (२४वाँ) संवत्सर था। मेषसंक्रान्ति उसके कुछ ही पूर्व अर्थात् चैत्र शुक्ल ९ गुरुवार की मध्यरात्रि के लगभग १० घटी बाद हुई थी। सौरमान का कलिवर्ष और शकवर्ष कहीं कहीं उसी दिन, कुछ स्थानों में उसके दूसरे दिन और कहीं कहीं उसके तीसरे दिन अर्थात् चैत्रशुक्ल ११ शनिवार को आरम्भ हो गया था। चान्द्रमान के अनुसार तिथि सर्वत्र चैत्रशुक्ल ११ ही थी। उस दिन बंगाल में सौरमान से शक और बंगाली सनों के सौर वैशाख (मेष) का प्रथम दिन और फसली चैत्र का २६ वाँ दिन था। ओड़िसा प्रान्त में विलायती और अमली सनों के सौर वैशाख का तीसरा दिन था। तमिल (द्रविड़) देश में सौर चैत्र (मेष) का दूसरा दिन और उत्तर, दक्षिण मलाबार में कोलम (परशुराम) वर्ष के मेष मास का दूसरा दिन था। हिज़री सन् तथा हमारे (महाराष्ट्र) प्रान्त के फसली और सूर सन् के रबीउस्सानी का ९वाँ चन्द्रमा था।

चान्द्रसौर मान

अब यहाँ चान्द्र और सौर वर्षों के प्रचार का थोड़ा सा विवेचन करेंगे। हमारे यहाँ कई मान प्रचलित हैं। धर्मशास्त्रोक्त अधिकांश कृत्यों का सम्बन्ध तिथि से अर्थात् चान्द्रमान से है, कुछ कर्म संक्रान्ति से अर्थात् सौरमान से सम्बन्ध रखते हैं और प्रभ-वादि संवत्सरों की उत्पत्ति बार्हस्पत्य मान से हुई है तथापि कुछ प्रान्तों में सौर मान

वर्षाङ्क लाये गये हैं उनमें कहीं-कहीं दो अंक दिये हैं। उनके विषय में यह नियम ध्यान में रखना चाहिए—

जहाँ अभीष्ट दिन छोटे काल के वर्षारम्भ दिन के बाद और बड़े काल के वर्षारम्भ दिन के पूर्व हो वहाँ प्रथम अंक और इससे भिन्न स्थिति में द्वितीय अंक जोड़े। उदाहरण—

(१) श्रावण शुक्ल १ शक १८०१ श्रावण शुक्ल १ कार्तिकादि विक्रम संवत् १९३५, आषाढ़ादि विक्रम संवत् १९३६, सन् १८७९ ई०।

(२) माघ शुक्ल १ शक १८०१ माघ शुक्ल १ आषाढ़ादि और कार्तिकादि विक्रम संवत् १९३६, सन् १८८० ई०।

(३) श्रावण शुक्ल १ फसली सन् दक्षिणी १२८९ श्रावण शुक्ल १ शक १८०१ सन् १८७९ ई०।

(४) चैत्र कृष्ण ३० फसली १२८९ चैत्र कृष्ण ३० शक १८०२, सन् १८८० ई०।

का और कुछ में चान्द्रमान का विशेष प्रचार है। बंगाल में सौरवर्ष प्रचलित है। मद्रास में छपे ज्वालापति सिद्धान्तीकृत शक १८०९ के पञ्चाङ्ग में लिखा है कि इस देश में लोकव्यवहारार्थ चान्द्रमान ग्राह्य है और शेषाचल के दक्षिण सौरमान ग्राह्य है। उपर्युक्त पञ्चाङ्ग मैंने मद्रास के उत्तर नेलोर नामक स्थान के निवासी एक तैलंग ब्राह्मण के पास देखा था। उसने कहा था कि हमारे देश में चान्द्रमान प्रचलित है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रान्तों के लोगों से प्रत्यक्ष भेंट करके ज्ञात की हुई बातों से तथा मेरे पास के मद्रास-प्रान्तीय अनेक पञ्चाङ्गों से विदित होता है कि बंगाल और मलाबार में तथा मद्रास के उन प्रान्तों में जहाँ कि तमिल भाषा बोली जाती है, लौकिक व्यवहार में सौर मान प्रचलित है और भारत के अन्य प्रान्तों का व्यवहार चान्द्रमान के अनुसार होता है। धार्मिक कृत्य धर्मशास्त्रोक्त मानानुसार किये जाते हैं। इस मान के मास, मासारम्भ इत्यादि का विचार आगे करेंगे।

वर्षारम्भ

यजुर्वेदसंहिताकाल में और तदनुसार उसके बाद सभी वैदिक कालों में वसन्त ऋतु तथा मधुमास के आरम्भ में वर्ष का आरम्भ माना जाता था। वैदिक काल के अन्त में मधुमास का नाम चैत्र पड़ा। संवत्सरसत्र के अनुवाक तथा कुछ अन्य वाक्यों से ज्ञात होता है कि चित्रापूर्णमास (चैत्रशुक्ल १५ अथवा कृष्ण १), फल्गुनीपूर्णमास (फाल्गुन शुक्ल १५ अथवा कृष्ण १) और कदाचित् अमान्त माघ कृष्ण ८ (एकाष्टका) को भी किसी समय वर्षारम्भ मानते थे। एक वाक्य में फाल्गुन को संवत्सर का मुख कहा है। पता नहीं यह फाल्गुन अमान्त है या पूर्णिमान्त। संभवतः किसी समय पूर्णिमान्त पौषारम्भ में भी वर्षारम्भ होता था, परन्तु उस समय पौष नाम नहीं था। वेदाङ्गज्योतिष में अमान्त माघ के आरम्भ में वर्षारम्भ माना है। महाभारत में मार्गशीर्ष के वर्षारम्भ होने के उल्लेख हैं तथापि सूत्रादिकों से ज्ञात होता है कि वेदाङ्गकाल में चैत्रादि वर्ष का प्राधान्य था। अब आगे के समयों का विचार करेंगे ज्योतिषग्रन्थकार अपनी सुविधा के अनुसार सौरवर्षारम्भ से अथवा चान्द्रसौर वर्षारम्भ से गणित करते हैं। गणेश दैवज्ञ ने ग्रहलाघव में चान्द्रसौर[1] वर्षारम्भ से गणित किया है, परन्तु उन्हीं ने तिथिचिन्तामणि में मेषसंक्रान्ति को वर्षारम्भ माना है। सौरवर्ष का

---

१. चान्द्रसौर वर्ष उसे कहते हैं जिसके मास तो चान्द्र होते हैं, परन्तु सौर वर्ष से मेल रखने के लिए जिसमें अधिक मास प्रक्षिप्त किया जाता है।

आरम्भ अधिकतर मध्यम मेषसंक्रान्ति और कोई-कोई स्पष्ट मेषसंक्रान्ति से करते हैं। चान्द्रसौर वर्ष का आरम्भ चैत्रशुक्ल प्रतिपदा के आरम्भ से ही किया जाता है, यह कोई नियम नहीं है। प्रायः उस दिन सूर्योदय से और कभी-कभी मध्यरात्रि, मध्याह्न अथवा सूर्यास्त से भी वर्षारम्भ मानते हैं।

धर्मशास्त्र में चैत्र के आरम्भ से वर्षारम्भ माना है।

अव व्यावहारिक वर्षारम्भ का विचार करेंगे। धर्म और व्यवहार का निकट सम्वन्ध होने के कारण दोनों प्रकार के वर्षारम्भ का भी निकट सम्वन्ध है। भारत के अधिक भाग में वर्षारम्भ चैत्र से होता है। जिन प्रान्तों में शक काल और चान्द्रमान का व्यवहार होता है उनमें चैत्रशुक्ल प्रतिपदा को वर्षारम्भ होता है। नर्मदा के उत्तर वंगाल को छोड़ शेष प्रान्तों में विक्रमसंवत् चान्द्रमान और पूर्णिमान्त मास का प्रचार है तो भी वर्षारम्भ चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को ही होता है। वंगाल में शककाल और सौरमान प्रचलित हैं। वहाँ वर्षारम्भ सौर वैशाख से अर्थात् स्पष्ट मेषसंक्रान्ति से होता है परन्तु चान्द्र चैत्र शुक्ल प्रतिपदा का महत्त्व वहाँ भी होगा। तमिल प्रान्त में सौर मान प्रचलित है। वहाँ वर्षारम्भ स्पष्ट मेषसंक्रान्ति से मानते हैं पर चैत्र शुक्ल प्रतिपदा का माहात्म्य वहाँ भी होगा।

चैत्र मास अधिक होने पर वर्षारम्भ अधिक चैत्र में करना चाहिए या शुद्ध चैत्र में, इस विषय में मतभेद दिखाई देता है।

सम्प्रति मेषसंक्रान्ति से वर्षारम्भ माननेवाले प्रान्तों में उसका आरम्भ स्पष्ट मेष-संक्रान्ति से किया जाता है, परन्तु मालूम होता है, पहिले मध्यम मेष[1] से वर्षारम्भ करते थे, क्योंकि ज्योतिषग्रन्थों में उसी का प्राधान्य है। भास्वतीकरण (शक १०२१) में स्पष्ट मेषसंक्रान्ति को आरम्भकाल माना है। उसके पहिले के किसी भी ग्रन्थ में स्पष्ट मेष आरम्भकाल नहीं है। शिलालेखों में शक १०८३ के वाद के मलावार प्रान्त के वहुत से उदाहरण मिले हैं जिनसे ज्ञात होता है कि मासारम्भ स्पष्ट संक्रान्तियों से होता था।[2] श्रीपति ने मध्यम मान के अधिमास का निषेध किया है और स्पष्टाधिमास को प्रशस्त वताया है। इससे अनुमान होता है कि लगभग शक १००० के पहिले व्यवहार

---

१. स्पष्ट मेष के कुछ समय बाद मध्यम मेष होता है। दोनों के अन्तर को शोध्य कहते हैं। इसका मान भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों में भिन्न-भिन्न है। प्रथम आर्यसिद्धान्त में यह २ दिन ८ घं० ५१ पल १५ वि० और वर्तमान सूर्यसिद्धान्त में २ दिन १० घं० १४ पल ३० विपल है।

२. Indian Antiquary, XXV p. 53 ff.

में भी वर्षारम्भ मध्यम मेष से ही होता रहा होगा पर बाद में स्पष्ट मेष का प्रचार हुआ होगा।

चैत्रमास अथवा मेषमास के किस क्षण में वर्षारम्भ होता है, इसका विवेचन आगे मासविचार में करेंगे। चैत्र अथवा मेष के अतिरिक्त अन्य मासों में भी वर्षारम्भ होता है। यहाँ इसी का वर्णन करेंगे।

नर्मदा के दक्षिण और गुजरात के कुछ भागों में विक्रम संवत् का वर्ष कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा को आरम्भ होता है। अहमदाबाद में छपा हुआ शक १८१० (सन् १८८८-८९ ई०) का एक पञ्चाङ्ग मेरे पास है। उसमें आषाढ़ादि विक्रमसंवत् १९४५ लिखा है अर्थात् उसमें शक १८१० की आषाढ़ शुक्ल प्रतिपदा से विक्रम संवत् १९४५ आरम्भ हुआ है। बार्सी मे काठियावाड़ के एक प्रसिद्ध व्यापारी ने शक १८१० में मुझसे कहा था कि राजकोट, जामनगर, मोरवी, टंकारा, जोड़िया, खंभालिया इत्यादि शहरों में अर्थात् काठियावाड़ के हालार प्रान्त में और अमरेली, दामनगर, जेतपूर इत्यादि स्थानों में, सारांश यह कि लगभग सम्पूर्ण काठियावाड़ में व्यवहार में और वहीखाता लिखने में आषाढ़ शुक्ल प्रतिपदा से नवीन संवत् का आरम्भ माना जाता है। उस व्यापारी के यहाँ काठियावाड़ से आये हुए पत्रों से भी मुझे ज्ञात हुआ कि शक १८१० की आषाढ़ शुक्ल प्रतिपदा को संवत् १९४४ समाप्त होकर १९४५ लगता है। डाक्टर फ्लीट ने भी लिखा है कि हालार संवत् आषाढ़ से आरम्भ होता है।[1] ईडर प्रान्त के कुछ व्यापारी मुझे शके १८१० में बार्सी में मिले थे। उनके कथन से ज्ञात हुआ कि उस प्रान्त में और उसके आसपास लगभग १०० मील तक अमान्त आषाढ़ कृष्ण २ से वर्षारम्भ होता है। बंगाल में और उत्तर भारत के कुछ अन्य प्रान्तों में फसली सन् का आरम्भ पूर्णिमान्त आश्विन कृष्ण प्रतिपदा को होता है। ओड़िसा प्रान्त में भाद्रपद शुक्ल १२ को वर्षारम्भ होता है। तिरहुत और मिथिला प्रान्तों में लक्ष्मणसेन वर्ष का आरम्भ पूर्णिमान्त श्रावण या माघ के आरम्भ में होता है।

कोचीन और त्रिवेन्द्रम में छपे हुए पञ्चाङ्गों से तथा कुछ अन्य हेतुओं से ज्ञात होता है कि दक्षिण मलावार और तिनेवल्ली प्रान्तों में वर्षारम्भ सिंहसंक्रान्ति को होता है। कालीकट और मंगलोर में छपे हुए पञ्चाङ्गों तथा अन्य हेतुओं से ज्ञात होता है कि उत्तर मलावार में कन्या मास के आरम्भ में वर्षारम्भ होता है। मद्रास प्रान्त के कर्क मास के साथ साथ फसली सन् आरम्भ होता था। बाद में वह १३ जुलाई को आरम्भ होने लगा और आजकल पहिली जुलाई को होता है। महाराष्ट्र में फसली सन्

---

१. Corpus inscriptionum indicarum, vol. iii.

का आरम्भ मृग नक्षत्र में होता है। उड़ीसा प्रान्त में विलायती सन् का आरम्भ कन्या संक्रान्ति से होता है।

यहाँ तक वर्तमान पद्धति का वर्णन किया गया। अब प्राचीन पद्धति का विचार करेंगे। हमारे किसी भी ज्योतिष या अन्य विषय के ग्रन्थ में वर्षारम्भ का इतिहास नहीं लिखा है और न तो उसके विषय में कोई विचार या निर्णय ही मिलता है। इस कारण सम्प्रति उसका इतिहास जानना कठिन हो गया है। शिवाजी का राज्याभिषेक-वर्ष ज्येष्ठ शुक्ल १३ को और अकबरी सन् सायन मेषसंक्रान्ति के समय आरम्भ होता था। कीलहार्न के मतानुसार चेदिसंवत् का आरम्भ आश्विन में होता था। इस विषय का बेरुनी का लेख (शक ९५२) बड़े महत्त्व का है। उसने लिखा है—"ज्योतिषी लोग शकवर्ष का प्रयोग करते हैं। वर्ष का आरम्भ चैत्र के साथ होता है। कश्मीर की सीमा पर रहने वाले कनीर के लोग भाद्रपद से वर्षारम्भ करते हैं। बरदारी और मारीगल के मध्य में रहनेवाले कार्तिक से वर्षारम्भ मानते हैं। मारीगल के उस ओर नीरहार प्रान्त के लोग तथा ताकेश्वर और लोहावर तक एवं लंघानवाले वर्षारम्भ मार्गशीर्ष से करते हैं। मुलतान वालों ने मुझसे कहा कि सिंध और कन्नौज प्रान्तों में यही वर्षारम्भ है और मुलतान में भी यही था, परन्तु कुछ ही वर्षों से मुलतान वालों ने यह वर्ष छोड़ दिया है। अब वे कश्मीर का चैत्रादि वर्ष मानते हैं।"[1]

अमान्त चान्द्रमान के सब वर्षारम्भ इतने हैं—मधु मासारम्भ (चैत्र शुक्ल १), चैत्र कृष्ण १, ज्येष्ठ शुक्ल १३, आषाढ़ शुक्ल १, आषाढ़ कृष्ण १, आषाढ़ कृष्ण २, भाद्रपद शुक्ल १, भाद्रपद शुक्ल १२, भाद्रपद कृष्ण १, कदाचित् आश्विन शुक्ल १, कार्तिक शुक्ल १, अमान्त कार्तिक कृष्ण १ अथवा मार्गशीर्ष शुक्ल १ (मार्गशीर्षारम्भ), कदाचित् मार्गशीर्ष कृष्ण १ (पूर्णिमान्त पौषारम्भ), पौषकृष्ण १, माघ शुक्ल १, कदाचित् माघ कृष्ण १ (पूर्णिमान्त फाल्गुनारम्भ), माघ कृष्ण ८, कदाचित् फाल्गुन शुक्ल १, फाल्गुन कृष्ण १। निरयन सौरमान के अनुसार मेषारम्भ, मृग नक्षत्र (वृष मास का लगभग २५ वाँ दिन), कर्कारम्भ, सिंहारम्भ, कन्यारम्भ वर्षारम्भकाल हैं। ये अमान्त चान्द्रमान के क्रमशः चैत्र, ज्येष्ठ (कदाचित् वैशाख), आषाढ़ श्रावण और भाद्रपद महीनों में पड़ते हैं। मेषारम्भ और जुलाई की पहिली तारीख (सायन कर्क का लगभग ११ वाँ दिन) सायन सौरमान सम्बन्धी वर्षारम्भ हैं।

अब वर्षारम्भ सम्बन्धी ये भिन्न-भिन्न मास और दिन किस समय कहाँ प्रचलित थे अथवा हैं, इसका क्रमशः संक्षिप्त वर्णन करेंगे। वसन्त में मधु मास के आरम्भ अर्थात्

---

१. Beruni's India, ii, p. 8.

चैत्रारम्भ में वर्षारम्भ होने का वर्णन श्रुति, वेदाङ्ग स्मृति, पुराण, ज्योतिषगणितग्रन्थ तथा धर्मशास्त्र के प्राचीन और अर्वाचीन निवन्धग्रन्थ, सभी में है। गुप्तसंवत् १५६ से २०९ तक के अर्थात् शकवर्ष ३९७ से ४५० तक के गुप्त राजाओं के जो ताम्रपत्रादि लेख मिले हैं, उनमें लिखित ज्योतिष सम्बन्धी सभी बातों की संगति चैत्रारम्भ में वर्षारम्भ मानने से लगती है।[1] इन गुप्तों की सत्ता एक समय उत्तर भारत के अधिकतर भाग में व्याप्त थी। बेरूनी ने भी चैत्रारम्भ में वर्षारम्भ लिखा है। सारांश यह कि यह वर्षारम्भ सार्वकालिक, सार्वत्रिक और सर्वमान्य है। इसके रहते हुए भी कहीं-कहीं अन्य वर्षारम्भ थे और हैं। चैत्र कृष्ण प्रतिपदा वसन्त में ही पड़ती है। मालम होता है, इसी कारण पूर्णिमान्त पद्धति के अनुसार वैदिक काल के कुछ भागों में कहीं-कहीं उसे भी वर्षारम्भ मानते थे। बंगाल में सौर वैशाख के आरम्भ में अर्थात् मेषारम्भ में वर्षारम्भ मानते हैं। यद्यपि निश्चित पता नहीं लगता कि यह कितना प्राचीन है तथापि बंगाल के जीमूतवाहन के धर्मशास्त्रग्रन्थ में इसका वर्णन है और जीमूतवाहन का काल शक १०१४ के लगभग ज्ञात होता है।[2] भास्वतीकरण की रचना शक १०२१ में जगन्नाथ क्षेत्र में हुई है। उसमें मेषसंक्रान्ति को वर्षारम्भ माना है। तमिलप्रान्त में भी यही (सौर चैत्रारम्भ) वर्षारम्भ है। यह वहाँ कब से प्रचलित है, इसका पता नहीं लगता, परन्तु शककाल की १२ वीं शताब्दी के जो उस प्रान्त के ताम्रपत्रादि लेख मिले हैं[3] उनमें सौरमास हैं। उस प्रान्त में आर्यसिद्धान्त का प्रचार है। संभव है यह मासारम्भ भी उतना ही (शक ४२१) प्राचीन हो। सूर्य ज्येष्ठ में और कभी-कभी वैशाख में मृग नक्षत्र में प्रवेश करता है। महाराष्ट्र में और उसके आसपास के प्रान्तों में सूर सन् और फसली सन् का वर्ष उसी समय आरम्भ होता है। वह शकवर्ष १२६६ (सन् १३४४ ई०) से प्रचलित है। वह ऋतुओं के अनुसार है। ज्येष्ठ शुक्ल १३ को आरम्भ होनेवाले वर्ष का सम्बन्ध शिवाजी से है। आषाढ़ शुक्ल १ को वर्षारम्भ मानने की प्रथा काठियावाड़ में कम से कम सिंहसंवत् के आरम्भकाल (शक १०३६) से प्रचलित है। आषाढ़ कृष्ण २ की भी यही स्थिति होगी। आषाढ़ कृष्ण १ को वर्षारम्भ मानने की प्रथा लक्ष्मणसेन संवत् के सम्बन्ध से तिरहुत और मिथिला प्रान्तों में शक १०४१ के बाद किसी समय प्रचलित हुई होगी। यद्यपि ये तीनों वर्ष आषाढ़ की तीन तिथियों से आरम्भ हुए हैं तथापि स्पष्ट है कि इनका सम्बन्ध वृष्ट्यारम्भ से अर्थात् ऋतु से

---

१. Gupta Inscriptions Introduction.

२. कालतत्त्वविवेचन नामक ग्रन्थ का मासतत्त्वविवेचन देखिए।

३. मेरे Indian Calendar का पृष्ठ ८६ देखिए।

है। मद्रास प्रान्त में फसली सन् का आरम्भ पहिले कर्कारम्भ (आषाढ़) में होता था। आजकल जुलाई की पहली तारीख (ज्येष्ठ या आषाढ़) से होता है अर्थात् इसका भी सम्बन्ध ऋतु से है। हमारे प्रान्त (महाराष्ट्र) में सम्प्रति सरकारी मुल्की वर्ष अगस्त से आरम्भ होता है। (सरकारी वर्ष का आरम्भ अप्रैल से भी होता है। जनवरी में वर्षारम्भ मानने की पद्धति भी सम्प्रति सर्वत्र प्रचलित हो गयी है)। मलाबार में सिंहारम्भ (श्रावण) और कन्यारम्भ (भाद्रपद) से वर्षारम्भ होता है। यह कोल्लमकाल के तुल्य प्राचीन (शक ७४७) होगा। बंगाल में कन्यारम्भ से वर्षारम्भ होता है, यह फसली सन् सम्बन्धी वर्षारम्भ अकबर के समय से चला है। बेरुनी के समय कश्मीर के आसपास भाद्रपद में वर्षारम्भ होता था। उड़ीसा प्रान्त में भाद्रपद शुक्ल १२ को जो वर्षारम्भ होता है उसका सम्बन्ध एक व्यक्ति से है। चेदिवर्ष का आरम्भकाल भाद्रपद कृष्ण १ होगा। आश्विन शुक्ल १ भी हो सकता है। चेदिवर्ष ७९३ (शक ९६२) के बाद के ताम्रपत्र मिले हैं अतः यह इतना प्राचीन अवश्य होगा। कार्तिक को संवत्सरारम्भमास मानने की पद्धति बहुत प्राचीन ज्ञात होती है। बृहत्संहिता की टीका में भटोत्पल ने प्राचीन संहिताकारों के जो वचन उद्धृत किये हैं उनमें कहीं-कहीं प्रसंगवशात् सब मासों का वर्णन है। उसमें कहीं-कहीं कार्तिक को आरम्भमास कहा है। सूर्यसिद्धान्त में भी यह वर्षारम्भ है। उत्तर भारत में यह वर्षारम्भ विक्रमसंवत् के आरम्भकाल से प्रचलित होगा। उत्तर भारत में विक्रमवर्ष ८९८ के बाद के अनेक ऐसे ताम्रपत्रादि लेख मिले हैं जिनमें विक्रम-वर्ष कार्तिकादि है। बेरुनी के समय भी कार्तिकादि वर्ष था। नेपाल में भी यह सन् १७४८ ई० पर्यन्त था। इस समय केवल गुजरात में है। कृत्तिका नक्षत्र के प्राथम्य के कारण कार्तिक प्रथम मास हुआ। कृत्तिका से मार्गशीर्षादि वर्ष का भी सम्बन्ध ज्ञात होता है। मालूम होता है, प्रथम नक्षत्र कृत्तिका से युक्त पूर्णिमा को (उसके दूसरे दिन) आरम्भ होनेवाला जो मास था (उसकी पूर्णिमा मृगशीर्ष से युक्त होने के कारण उसका नाम मार्गशीर्ष रखकर) उसे प्रथम मास मान लिया। महाभारत में प्रथम मास कार्तिक नहीं बल्कि मार्गशीर्ष है। इससे ज्ञात होता है कि कार्तिक को प्रथम मास मानने की पद्धति की अपेक्षा मार्गशीर्ष को प्रथम मास मानने की पद्धति प्राचीन है। वह शकपूर्व २००० वर्ष से ही प्रचलित होगी। बेरुनी के समय अनेक प्रान्तों में मार्ग-शीर्ष में वर्षारम्भ होता था। अब वह प्रथा नहीं है। मृगशीर्ष के आग्रहायणी नाम से ज्ञात होता है कि जब मृगशीर्ष प्रथम नक्षत्र माना जाता रहा होगा (शकपूर्व ४०००) उस समय मृगशीर्षयुक्त पूर्णिमा के दूसरे दिन से वर्षारम्भ करते रहे होंगे। उस समय यह पौष इत्यादि नाम प्रचलित होते तो पौष ही वर्षारम्भ मास माना गया होता, परन्तु

उनका प्रचार नहीं था। इसी कारण पौषादि मास का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। उसका न मिलना इस बात का भी एक प्रमाण है कि जिस समय कृत्तिका प्रथम नक्षत्र माना जाता था उस काल के बाद मासों की चैत्रादि संज्ञाएँ प्रचलित हुई हैं। लक्ष्मण-सेन वर्ष का आरम्भकाल बंगाल में किसी समय पौष कृष्ण १ रहा होगा। माघारम्भ में वर्षारम्भ होने का वर्णन वेदाङ्गज्योतिष में है। यह प्रथा अधिक प्रदेशों में बहुत दिनों तक नहीं रहीं होगी। 'फाल्गुन संवत्सर का मुख है'—इस वाक्य में कथित वर्षारम्भ माघ कृष्ण १ अथवा फाल्गुन शुक्ल १ होगा। यह एकदेशीय ज्ञात होता है। माघ कृष्ण ८ (एकाष्टका) भी ऐसा हीं ज्ञात होता है क्योंकि संवत्सरसत्र के आरम्भ में वह नियुक्त नहीं किया गया है। ('मीमांसकों का कथन है कि जैमिनी ने संवत्सरसत्र के अनुवाकों से यह निष्कर्ष निकाला है कि माघी पूर्णिमा के ४ दिन पूर्व सत्रारम्भ करना चाहिए।) आश्वलायन ने फाल्गुनी अथवा चैत्री पूर्णिमा को सत्रारम्भ करने के लिए कहा है। इससे भी वही बात सिद्ध होती है। फाल्गुनी पूर्णिमा को जो वर्षा-रम्भ बताया है उसका सम्बन्ध वसन्त से है, परन्तु वेदकाल में फाल्गुन में विषुव नहीं होता था, यह पहिले दिखा चुके हैं।

ऐसा एक भी अमान्त चान्द्रमास नहीं है जिसका किसी न किसी समय वर्षारम्भ से सम्बन्ध न रहा हो। उनमें चैत्र का सम्बन्ध सबसे अधिक है। कार्तिक और मार्ग-शीर्ष का उससे बहुत कम है तो भी बहुत है। भाद्रपद का उनसे कम है, परन्तु बहुत कम नहीं है। ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण, माघ और फाल्गुन का थोड़ा सा है। वैशाख और आश्विन का बहुत थोड़ा है।

उपर्युक्त प्रायः सभी वर्षारम्भों का कारण ऋतु हैं।

एक ही प्रान्त में एक ही समय कई वर्षारम्भ प्रचलित थे और हैं। जैसे महाराष्ट्र में सम्प्रति चैत्र शुक्ल १, मृगशिरा नक्षत्र, कार्तिक शुक्ल १, जनवरी इत्यादि वर्षारम्भ हैं। कम से कम दो वर्षारम्भ तो सभी प्रान्तों में हैं।

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होगा कि किसी एक मास में होने वाला वर्षारम्भ कुछ समय बाद पूर्व के मास में चला गया हो और उसके बाद भी वह क्रमशः पीछे खिसकता रहा हो, ऐसा नहीं हुआ हैं।

नक्षत्रचक्रारम्भ

वेदों में नक्षत्रारम्भ कृत्तिका से है। अनुमान होता है कि कृत्तिका के पूर्व मृगशीर्ष से नक्षत्रगणना करते रहे होंगे, पर इसका प्रत्यक्ष उल्लेख कहीं नहीं मिलता। ज्योतिष-सिद्धान्तग्रन्थों में अश्विनी को आदि-नक्षत्र माना है। वैदिक काल या वेदाङ्गकाल में

यह पद्धति नहीं थी। वेदाङ्गज्योतिष में धनिष्ठा से गणना की है। महाभारत से ज्ञात होता है कि एक समय श्रवण प्रथम नक्षत्र था, अर्थात् ये दोनों वेदाङ्गकाल में प्रथम नक्षत्र माने जाते थे। उस समय कृत्तिका भी प्रथम नक्षत्र था ही। मृग, कृत्तिका और अश्विनी के प्राथम्य का सम्बन्ध वसन्त से अथवा वसन्तान्तर्गत विषुव से है और धनिष्ठा तथा श्रवण का सम्बन्ध उत्तरायणारम्भ से है।

नक्षत्रचक्र के आरम्भ में क्रमशः एक-एक नक्षत्र पीछे मानने की परम्परा चली आ रही हो, ऐसा नहीं ज्ञात होता।

संवत्सर

बार्हस्पत्य संवत्सर

यह शब्द वस्तुतः वर्ष अर्थ का वाचक है, परन्तु एक पद्धति यह है कि ६० वर्षों के प्रभाव इत्यादि क्रमशः ६० नाम रख दिये गये हैं, उन नामों को भी संवत्सर कहा जाता है। इन संवत्सरों की उत्पत्ति बृहस्पति की गति से होने के कारण इन्हें बार्हस्पत्य संवत्सर कहते हैं। बृहस्पति को नक्षत्रमण्डल की एक प्रदक्षिणा करने में लगभग १२ वर्ष लगते हैं, यह बात ज्ञात हो जाने पर बार्हस्पत्य संवत्सर की उत्पत्ति हुई होगी। जैसे सूर्य को नक्षत्रमण्डल की एक प्रदक्षिणा करने में जितना समय लगता है उसे वर्ष और उसके १२वें भाग को मास कहते हैं, उसी प्रकार पहले गुरु की एक प्रदक्षिणा सम्बन्धी कालको गुरुवर्ष और उसके लगभग १२वें भाग को गुरुमास कहते रहे होंगे। चान्द्र मासों के चैत्रादि १२ नाम नक्षत्रों के नाम पर पड़े हैं। सूर्यसान्निध्य के कारण गुरु-वर्ष में कुछ दिन अस्त रहता है। जिस नक्षत्र में उसका उदय होता है उसी के नाम पर चान्द्र मास की भाँति गुरुमासों के भी नाम रखे गये। ये गुरु के मास वस्तुतः सौर वर्षों के नाम हैं। इसी लिये इन्हें चैत्रसंवत्सर, वैशाखसंवत्सर इत्यादि कहने लगे।

द्वादश-संवत्सरचक्र

वर्षसंख्या गिनने का एक उत्तम साधन है द्वादश-संवत्सरचक्र। ये दो प्रकार के हैं। एक तो वह है जिसमें संवत्सर का नाम गुरु के उदयानुसार रखा जाता है। इसे उदय-पद्धति कहेंगे। गुरु का एक उदय होने के लगभग ४०० दिनों के बाद दूसरा उदय होता है और एक गुरुभगण में अर्थात् १२ वर्षों में ११ गुरूदय होते हैं और एक संवत्सर का लोप हो जाता है। इस पद्धति में थोड़ी असुविधा है। इसी लिए ज्योतिषियों ने गुरु की मध्यम गति का ठीक ज्ञान हो जाने पर नक्षत्रमण्डल का १२वाँ भाग अर्थात् एक राशि चलने में गुरु को जितना समय लगता है उसे गुरु का मास अर्थात संवत्सर

मानने का निश्चय किया। इस प्रकार १२ वर्ष में संवत्सर का लोप नहीं होता। इसे मध्यम-राशिपद्धति कहेंगे। गुरु को एक राशि चलने में मध्यम मान से कितना समय लगता है, यह जानना उतना सरल और स्वाभाविक नहीं है जितना गुरु का उदय देखना और समझना। इससे सिद्ध होता है कि उदयपद्धति का आविष्कार पहिले हुआ होगा।[1] महाभारत से ज्ञात होता है कि यह पद्धति शकपूर्व ५०० के पूर्व प्रचलित थी। चैत्रादिक संवत्सरों को हमारे प्रान्त में लोग नहीं जानते, पर मारवाड़ी चण्डूपञ्चाङ्ग में मध्यम-राशिपद्धति के अनुसार संवत्सर का नाम 'चैत्रसंवत्सर' इत्यादि लिखा रहता है। मद्रासप्रान्तीय चान्द्रमान के तैलङ्गी पञ्चाङ्गों में संवत्सरनाम उदयपद्धति के अनुसार लिखा रहता है। आज तक जो अनेक प्राचीन ताम्रपत्र और शिलालेख मिले हैं उनमें गुप्त राजाओं के शक ३९७ और ४५० के मध्य के पाँच लेख हैं। उनमें चैत्रादि संवत्सरों का प्रयोग है (मैंने सिद्ध किया है कि ये संवत्सर उदयपद्धति के हैं)। दक्षिण के मृगवर्मा कदम्ब नामक राजा के दो लेख मिले हैं, उनमें भी ये संवत्सर हैं।

६० संवत्सर

जैसे वेदाङ्गज्योतिष में ५ वर्षों का एक युग माना है, उसी प्रकार ५ गुरुवर्षों का एक युग माना गया। उसमें लगभग ६० सौरवर्ष होते हैं। उसके संवत्सरों के प्रभव इत्यादि नाम रख दिये गये। इस प्रकार षष्टिसंवत्सरचक्र उत्पन्न हुआ। स्पष्ट है कि इसकी उत्पत्ति द्वादश-संवत्सरचक्र के बाद हुई होगी। वर्षसंख्या गिनने का यह उससे भी उत्तम साधन है। प्रथम इसके भी संवत्सरों की गणना गुरु के उदय से की जाती थी, परन्तु बाद में यह पद्धति छोड़ दी गयी और गुरु के मध्य राशिभोगकाल के अनुसार गणना की जाने लगी। गुरु को मध्यमगति से एक राशि भोगने में सूर्यसिद्धान्तानुसार ३६१ दिन १ घटी ३६ पल और अन्य सिद्धान्तों के अनुसार इससे कुछ पल न्यून या अधिक समय लगता है। एक बार्हस्पत्य संवत्सर का यह मान सौरवर्ष से थोड़ा कम है। इस कारण ८५ सौरवर्षों में ८६ बार्हस्पत्य संवत् होते हैं अर्थात् एक बार्हस्पत्य संवत् का लोप हो जाता है और इसका आरम्भकाल निश्चित नहीं रहता। इस संवत्सर की एक और पद्धति है। उसमें संवत्सर का लोप नहीं किया जाता, उसका मान सौरवर्ष

---

१. इण्डियन ऐंटिक्वैरी नामक अंग्रेजी मासिक पत्रिका के सन् १८८८ के दो अंकों में मैंने Twelve year Cycle of Jupitor शीर्षक लेख में इस विषय का विस्तृत विवेचन किया है।

तुल्य ही मान लिया जाता है। इसी कारण उसे सौरसंवत्सर कहते हैं। चान्द्र वर्ष के साथ आरम्भ होने के कारण उसे चान्द्र संवत्सर भी कहते हैं। सम्प्रति नर्मदा के उत्तर बार्हस्पत्य और दक्षिण में चान्द्रसौर संवत्सर प्रचलित हैं। कोई कोई नर्मदा के दक्षिण वाले संवत्सर को भी बार्हस्पत्य संवत्सर कहते हैं, पर यह ठीक नहीं है। अब उसमें बार्हस्पत्यत्व नहीं रह गया है।

चान्द्रसौर संवत्सर

दक्षिण में यह पद्धति बाद में चली है। चान्द्रसौर संवत्सर का उल्लेख वर्तमान रोमकसिद्धान्त और शाकल्योक्त ब्रह्मसिद्धान्त में है, परन्तु वे ग्रन्थ अन्य ज्योतिष-सिद्धान्तों के तुल्य प्राचीन नहीं हैं। अन्य सभी सिद्धान्तों में संवत्सर केवल बार्हस्पत्य मान का ही लेने को कहा है। ज्योतिषग्रन्थों में सावनादि भिन्न-भिन्न मानों के वर्णन में स्पष्ट लिखा है कि संवत्सर बार्हस्पत्य मान का लेना चाहिए ताम्रपत्रादि प्राचीन लेखों से सिद्ध होता है कि दक्षिण में भी पहिले बार्हस्पत्य संवत्सर प्रचलित था। उदाहरणार्थ--राष्ट्रकूट, राजा तृतीय गोविन्द का शकवर्ष ७२६, सुभानु संवत्सर, वैशाख कृष्ण ५ गुरुवार का एक ताम्रपत्र मिला है।[1] गणित करने से ज्ञात हुआ कि शक ७२६ को गतवर्ष मानने से वैशाख कृष्ण ५ अमान्त मान से ३ मई सन् ८०४ शुक्रवार को आती है और पूर्णिमान्त मान से ४ अप्रैल सन् ८०४ गुरुवार को आती है अर्थात् पूर्णिमान्त मान से लेख की सङ्गति लगती है। ७२६ को वर्तमान वर्ष मानने से सङ्गति नहीं लगती। शक ७२६ में दक्षिण की वर्तमान पद्धति के अनुसार १८वाँ संवत्सर तारण आता है, परन्तु लेख में १७वाँ सुभानु है। नर्मदा के उत्तर वाले अर्थात् वास्तविक बार्हस्पत्य मान से सुभानु संवत्सर का आरम्भ अधिक आषाढ़ कृष्ण ९ शनिवार शक ७२५ (गत), १७ जून सन् ८०३ को आता है और आगे चल कर आषाढ़ शुक्ल प्रतिपदा बुधवार, १२ जून सन् ८०४ को तारण संवत्सर लगता है अर्थात् ताम्रपत्र का लेखनदिन सुभानु में ही आता है। इससे सिद्ध हुआ कि शक ७२६ पर्यन्त दक्षिण में वास्तव बार्हस्पत्य मान प्रचलित था।

दक्षिण में बार्हस्पत्य संवत्सर

तुङ्गभद्रा के तटवर्ती उस प्रदेश में तो यह अवश्य ही प्रचलित रहा होगा, जहाँ वह ताम्रपत्र मिला है। इस प्रकार के कुछ और भी उदाहरण हैं। वास्तविक बार्हस्पत्य मान से संवत्सर का आरम्भ चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को नहीं आता और ८५ वर्षों में

---

१. इण्डियन ऐंटिक्वैरी, पुस्तक १, पृष्ठ १२६ देखिए।

एक संवत्सर लुप्त हो जाता है, इस प्रपञ्चात्मक पद्धति का त्याग कर सदा चान्द्र अथवा सौर वर्ष के साथ संवत्सरारम्भ करने की ओर झुकाव होना बिलकुल स्वाभाविक है। दक्षिण में चान्द्रसौर पद्धति का प्रचार इसी कारण अथवा प्रति ८५ वर्ष के बाद एक संवत्सर लुप्त करने की पद्धति की उपेक्षा कर देने से हुआ होगा। परन्तु वास्तविक बार्हस्पत्य मान से जो संवत्सर आता है, वही चान्द्रसौर पद्धति द्वारा भी जिस समय आता रहा होगा उसी समय से इसका प्रचार हुआ होगा, यह बिलकुल स्पष्ट है। शक ७४३ से ८२७ पर्यन्त दोनों पद्धतियों द्वारा एक ही संवत्सर आता था। उसके बाद उत्तर में नियमानुसार संवत्सर का लोप होता रहा और दक्षिण में वह बन्द हो गया। इस कारण दक्षिण का संवत्सर पीछे हटने लगा। शक १८१८ के आरम्भ में दक्षिण में दुर्मुख अर्थात् ३०वाँ और उत्तर में ४२वाँ कीलक संवत्सर है। सारांश यह कि दक्षिण में शक ८२७ से चान्द्रसौर संवत्सर प्रचलित हुआ।

पूर्णिमान्त और अमान्त मास

प्रथम भाग में दिखा चुके हैं कि वेदकाल में मास की अमान्त और पूर्णिमान्त दोनों पद्धतियाँ प्रचलित थीं। सम्प्रति नर्मदा के उत्तर पूर्णिमान्त और दक्षिण भाग में अमान्त मान प्रचलित है, तथापि कार्तिकस्नान इत्यादि कुछ धार्मिक कर्म दक्षिण में भी पूर्णिमान्त मान से ही किये जाते हैं। ऊपर षष्टिसंवत्सरचक्र के विवेचन में शक ७२६ का एक उदाहरण दिया है, उससे ज्ञात होता है कि उस समय दक्षिण में अथवा कम से कम तुङ्गभद्रा पर्यन्त व्यवहार में पूर्णिमान्त मान प्रचलित था। उसके पहिले के भी इसके कुछ उदाहरण मिले हैं। हरिहर राजा के मन्त्री माधवाचार्य (विद्यारण्य) के ताम्रपत्र में लिखा है—"शके १३१३ वैशाखमासे कृष्णपक्षे अमावास्यायां सौम्य-दिने सूर्योपरागपुण्यकाले।" पूर्णिमान्त मान के वैशाख की ही अमावास्या को बुधवार और सूर्यग्रहण आता है, अमान्त वैशाख की अमावास्या को नहीं आता। इससे ज्ञात होता है कि शक की १४वीं शताब्दी में भी दक्षिण में कभी-कभी पूर्णिमान्त मास का उपयोग किया जाता था।

यद्यपि उत्तर भारत में सम्प्रति पूर्णिमान्त मास प्रचलित है तथापि मासों के नाम और अधिकमास वहाँ भी अमान्त मान से ही निश्चित किये जाते हैं। इसका विवेचन आगे करेंगे। जहाँ सौर मास प्रचलित हैं वहाँ इस वाद की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

मास और अधिकमास की चैत्रादि संज्ञाएँ प्रथम चित्रादि नक्षत्रों द्वारा उत्पन्न हुई

१. Memoirs of Savantvadi State, p. 287.

अर्थात् चन्द्रमा जिन नक्षत्रों में पूर्ण होता था उन्हीं के नाम पर मास के नाम रखे गये, परन्तु चैत्र में चन्द्रमा सदा चित्रा नक्षत्र में ही नहीं पूर्ण होता। कभी चित्रा में, कभी स्वाती में और कभी हस्त में पूर्ण होता है, अतः आगे चलकर इसके लिए दूसरा नियम बनाना पड़ा। उस नियम के अनुसार कृत्तिकादि दो-दो नक्षत्रों में जिन मासों की पूर्णिमा को चन्द्रमा पूर्ण होता था, उनके क्रमशः कार्तिकादि नाम रखे गये, उसमें भी फाल्गुन, भाद्रपद और आश्विन मासों को तीन-तीन नक्षत्र दिये गये।[1] इस नियम से भी मास का नाम कभी-कभी बड़ा विचित्र आता है। उदाहरण—शक १८१५ के ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग में आषाढ़ी पूर्णिमा के अन्त में श्रवण नक्षत्र था, अतः नियमानुसार उसका नाम श्रावण हो जाता है। गणित करने से मुझे यह भी मालूम हुआ (ग्रन्थविस्तार होने के भय से यहाँ गणित नहीं दिया है) कि ८०० कलाओं का एक नक्षत्र मानें तो भी इस नियम से अधिकमास और क्षयमास बार-बार आयेंगे और वे नियमपूर्वक नहीं आयेंगे। नक्षत्रों के तारों से गणना करेंगे तो और भी अव्यवस्था होगी, क्योंकि उनमें समान अन्तर नहीं है। चन्द्रमा की गति का सूक्ष्म ज्ञान होने के पूर्व यह पद्धति स्थूल रूप में अर्थात् विशेष अधिमास और क्षयमास न मानते हुए कुछ काल तक प्रचलित रही होगी। वेदाङ्गज्योतिष में चन्द्रगति बहुत सूक्ष्म है, उस समय से यह पद्धति छूट गयी। वेदाङ्गज्योतिष के अनुसार ३० मास में एक अधिमास आता है। वेदाङ्ग-ज्योतिष-विचार में लिख चुके हैं कि सूक्ष्म न होने के कारण यह नियम भी शीघ्र ही व्यवहार से उठ गया होगा। उस नियम के स्थान में ३२ या ३३ मासों में अधिकमास मानने की पद्धति बाद में प्रचलित हुई होगी। पितामह-सिद्धान्त में ३२ मास में एक अधिमास माना है। पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्तादि सूक्ष्म ग्रन्थ बन जाने पर सूक्ष्म गणित द्वारा अधिमास लाया जाने लगा। सम्प्रति मास का नाम रखने का सामान्य नियम यह है कि जिन चान्द्र मासों में स्पष्ट मेषादि संक्रान्तियाँ होती हैं, उन्हें क्रमशः चैत्र, वैशाख इत्यादि कहते हैं जिस मास में संक्रान्ति नहीं होती उसे अधिमास और जिसमें दो संक्रान्तियाँ होती हैं उसे क्षयमास कहते हैं। परन्तु इसकी दो परिभाषाएँ मिलती हैं। एक यह है—

> मेषादिस्थे सवितरि यो यो मासः प्रपूर्यते चान्द्रः।
> चैत्राद्यः स ज्ञेयः पूर्तिद्वित्वेऽधिमासोऽन्त्यः ।।

---

१. सूर्यसिद्धान्त के मानाधिकार का १६वाँ श्लोक देखिए। इण्डियन ऐंटिक्वैरी सन् १८८८ जनवरी के अङ्क में Twelve year cycle शीर्षक लेख में मैंने इसका विस्तृत विवेचन किया है।

यह वचन ब्रह्मसिद्धान्त का कहा जाता है, परन्तु ब्रह्मगुप्त और शाकल्य किसी के भी ब्रह्मसिद्धान्त में नहीं मिलता। माधवाचार्य (विद्यारण्य) कृत कालमाधव में जो कि शक १३०० के आसपास बना है, यह वचन है। इसका अर्थ यह है कि मेषादि राशियों में सूर्य के रहने पर जो चान्द्रमास पूर्ण होंगे, उन्हें चैत्रादि कहेंगे और एक सौर मास में यदि दो चान्द्रमास पूर्ण होंगे तो उनमें से दूसरे को अधिमास कहेंगे (नाम पूर्व नियमानुसार ही रखा जायगा)। दूसरा निम्नलिखित वचन कालतत्त्वविवेचन नामक धर्मशास्त्रग्रन्थ में व्यास के नाम पर दिया है।[1]

मीनादिस्थो　रविर्येषामारंभप्रथमे　क्षणे।
भवेत्तेऽब्दे　चान्द्रमासाश्चैत्राद्या　द्वादश　स्मृताः॥

इसका अर्थ यह है कि जिन चान्द्रमासों के आरम्भकाल में सूर्य मीनादि राशियों में रहता है उन्हें चैत्रादि कहते हैं। ये मास वर्ष में १२ होते हैं। मासों के नाम तो दोनों पद्धतियों से एक ही आते हैं, पर अधिमास और क्षयमास के नाम भिन्न आते हैं। अधिक मास का उदाहरण—मान लीजिए किसी चान्द्रमास की कृष्ण चतुर्दशी को मेषसंक्रान्ति हुई, द्वितीय मास में संक्रान्ति नहीं हुई, तृतीय मास की शुक्ल प्रतिपदा की वृषसंक्रान्ति और चतुर्थ की शुक्ल द्वितीया को मिथुन संक्रान्ति हुई। प्रथम और द्वितीय चान्द्र-मासों की समाप्ति के समय सूर्य क्रमशः मेष और वृष राशियों में था, अतः प्रथम श्लोक के अनुसार उनके नाम चैत्र और वैशाख हुए। दोनों के आरम्भकाल में क्रमशः मीनस्थ और मेषस्थ सूर्य होने के कारण द्वितीय श्लोक से भी वे ही नाम आये। द्वितीय मास में संक्रान्ति नहीं हुई है, अतः वही अधिक मास है। उसकी समाप्ति के समय सूर्य मेष में था, अतः प्रथम श्लोक के अनुसार उसका नाम चैत्र और आरम्भकाल में मेषस्थ सूर्य होने के कारण द्वितीय श्लोकानुसार वैशाख हुआ। आजकल द्वितीय पद्धति ही सर्वत्र प्रचलित है। इसके अनुसार अधिक मास अग्रिम मास के नाम से पुकारा जाता है। भास्कराचार्य ने सिद्धान्तशिरोमणि के मध्यमाधिकार में 'असंक्रान्तिमासोऽधिमासः स्फुटं स्यात्' श्लोक की टीका में 'क्षयमासात् पूर्वं मासत्रयान्तर एकोऽधिमासोऽग्रतश्च मासत्रयान्तरितोऽन्यश्चासंक्रान्तिमासः स्यात्' लिखकर आगे लिखा है—'पूर्वं किल भाद्रपदोऽसंक्रान्तिर्जातस्ततो मार्गशीर्षो द्विसंक्रान्तिस्ततः पुनः चैत्रोऽप्यसंक्रान्तिः।' इससे सिद्ध होता है कि उस समय भी वर्तमान पद्धति ही प्रचलित थी।

---

१. पूना के आनन्दाश्रम में इस ग्रन्थ की एक प्रति है (नं० ४४१३)। इसका रचनाकाल शक १५४२ है।

कालमाधव में शक १२५९ ईश्वर संवत्सर में श्रावण अधिक मास लिखा है। वर्तमान पद्धति से भी वही आता है, अतः उस समय भी यही पद्धति रही होगी। प्रथम श्लोकानुसार उस अधिमास का नाम आषाढ़ आता है। एक ताम्रपत्र के लेख से ज्ञात होता है कि प्रथम श्लोकोक्त पद्धति भी कुछ दिनों तक प्रचलित थी। उसका वर्णन, आगे किया है।

मध्यम और स्पष्ट अधिमास

सम्प्रति अधिक या क्षयमास स्पष्ट संक्रान्ति द्वारा लाये जाते हैं, पर मालूम होता है एक समय मध्यममान से अधिकमास मानने की भी पद्धति थी। मध्यमगति सदा समान नहीं रहती है। उसके अनुसार ३२ चान्द्रमास १६ तिथि ३ घटी ५५ पल में अर्थात् कभी ३२ और कभी ३३ महीने में अधिकमास आता है। मध्यमगति के अनुसार सौरमास का मान ३० दिन २६ घटी १८ पल और चान्द्रमास का मान २९ दिन ३१ घटी ५० पल आता है, अतः मध्यममान से एक चान्द्रमास में दो संक्रान्तियाँ कभी नहीं होतीं, अर्थात् क्षयमास कभी नहीं आता, पर सूर्य की स्पष्टगति सदा समान न होने के कारण स्पष्ट सौरमास छोटे-बड़े हुआ करते हैं, अतः एक चान्द्रमास में दो संक्रान्तियाँ हो सकती हैं, अर्थात् स्पष्टमान से क्षयमास आता है। क्षयमास आने पर वर्ष में दो अधिमास होते हैं। स्पष्टमान से दो अधिमासों का लघुतम अन्तर २८ मास[1] और महत्तम अन्तर ३५ मास आता है। धरसेन चतुर्थ का गुप्तवलभी संवत् ३३० द्वितीय मार्गशीर्ष शुक्ल २ का एक ताम्रपत्र खेड़ा से मिला है। द्वितीय विशेषण से स्पष्ट हो जाता है कि उसमें मार्गशीर्ष अधिकमास है। गुप्तवलभी संवत् ३३० अर्थात् शक ५७० में स्पष्टमान से कार्तिक अधिमास आता है, परन्तु मध्यममान से और 'मेषादिस्थे सवितरि' परिभाषा से मार्गशीर्ष अधिक आता है। अन्य किसी भी रीति से उपर्युक्त मार्गशीर्षाधिमास की उपपत्ति नहीं लगती। इससे सिद्ध होता है कि शक ५७० में गुजरात में मध्यममान से और 'मेषादिस्थे सवितरि' परिभाषा के अनुसार अधिकमास माना जाता था। मध्यममानिक अधिकमास के प्रचार का प्रमाण ग्रन्थों में भी मिलता है। ज्योतिषदर्पण नामक मुहूर्तग्रन्थ में श्रीपति (शक ९६१) के सिद्धान्तशेखर से निम्नलिखित श्लोक दिये हैं।

---

१. कभी-कभी २७ मास का अन्तर भी पड़ जाता है। शक १३११ में ज्येष्ठ और १३१३ में भाद्रपद अधिक था।

मध्यमरविसंक्रमयोर्मध्ये मध्यार्कचन्द्रयोर्योगे ।
अधिमासः संसर्पः स्फुटयोरंहस्पतिर्भवेद्योगे ।।
मध्यग्रहसंभूतास्तिथयो योग्या न सन्ति लोकेऽस्मिन् ।
ग्रहणं ग्रहयुद्धानि च यतो न दृश्यानि तज्जानि ।।
रविमध्यमसंक्रान्तिप्रवेशरहितो भवेदधिकः ।
मध्यश्चान्द्रो मासो मध्याधिकलक्षणञ्चैतत् ।।
विद्वांसस्त्वाचार्या निरस्य मध्याधिकं मासम् ।
कुर्युः स्फुटमानेन हि यतोऽधिकः स्पष्ट एव स्यात् ।।

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि मध्यममान से अधिकमास मानने का प्रचार पहिले था। मध्यममान से क्षयमास बिलकुल आता ही नहीं, पर भास्कराचार्य ने उसका वर्णन किया है, इससे ज्ञात होता है कि उनके समय में मध्यममान की पद्धति प्रचलित नहीं थी। शक १००० के लगभग उसका सर्वथा लोप हो गया होगा।

मैंने और राबर्ट सेवेल ने मिलकर इंगलिश में इण्डियन कलेण्डर नामक ग्रन्थ लिखा है। उसमें सन् ३०० ईसवी से १९०० तक के स्पष्टाधिमास और सन् ३०० से ११०० तक के मध्यममान के अधिमास दिये हैं। (वह ग्रन्थ सन् १८९६ के जून में छपा है।)

नर्मदा से उत्तर अधिक मास

नर्मदा के उत्तर यद्यपि सम्प्रति पूर्णिमान्त मास प्रचलित हैं तथापि मासों के नाम औरअधिमास अमान्तमान के ही माने जाते हैं। पूर्णिमान्त और अमान्त दोनों के शुक्ल पक्ष एक ही मास के कहे जाते हैं, पर दक्षिण (अमान्तमान) का कृष्ण पक्ष जिस मास का होगा, उत्तर (पूर्णिमान्तमान) वाले उसे अग्रिम मास का कृष्ण पक्ष कहेंगे। दक्षिणी जिसे चैत्र शुक्ल कहते हैं, उसे उत्तर वाले भी चैत्र शुक्ल ही कहते हैं, परन्तु दक्षिण के चैत्र कृष्ण को उत्तर में वैशाख कृष्ण कहते हैं, संक्रान्ति चाहे जिस समय हो। वास्तविक पूर्णिमान्तमान की पद्धति इससे भिन्न है। पञ्चसिद्धान्तिका के वर्णन में लिख चुके हैं कि वराहमिहिर के समय जिस पूर्णिमान्त मास में मेषसंक्रान्ति होती थी, उसी को चैत्र कहते थे, संक्रान्ति चाहे शुक्लपक्ष में हो या कृष्णपक्ष में। नीचे के कोष्ठक से इसका स्पष्टीकरण हो जायगा।

वास्तव पूर्णिमान्त			अमान्त
फाल्गुन		१ शुक्लपक्ष	
	मेषेर्कः	२ कृष्णपक्ष	चैत्र
चैत्र		३ शुक्लपक्ष	
		४ कृष्णपक्ष	अधिमास
वैशाख	वृषेर्कः	५ शुक्लपक्ष	
		६ कृष्णपक्ष	वैशाख
ज्येष्ठ	मिथुनेर्कः	७ शुक्लपक्ष	ज्येष्ठ

यहाँ वास्तव पूर्णिमान्त मान से अधिमास नहीं आता, क्योंकि पूर्णिमा को समाप्त होने वाले प्रत्येक मास में संक्रान्ति हुई है। अमान्त मान से तृतीय और चतुर्थ पक्ष अधिमास में आते हैं। नर्मदा के उत्तर भी इसी को अधिमास मानते हैं। उत्तर की पद्धति में विचित्रता यह है कि अधिमास के पूर्व और पश्चात् शुद्ध मास का एक-एक पक्ष रहता है। उपर्युक्त कोष्ठक का द्वितीय पक्ष अधिक नहीं बल्कि शुद्ध वैशाख का कृष्णपक्ष है, तृतीय और चतुर्थ अधिक वैशाख के हैं और पंचम पक्ष फिर शुद्ध वैशाख का शुक्लपक्ष है।[1]

मासारम्भ

तिथि का आरम्भ और सूर्य-संक्रमण (उसका एक राशि से दूसरी में गमन) दिन में किसी भी समय हो सकता है और वस्तुतः चान्द्र और सौर मासों का आरम्भ क्रमशः इन्हीं समयों से होता है, परन्तु सूर्योदय से मासारम्भ मानने से व्यवहार में सुविधा होती है इसलिए जिस दिन सूर्योदय में प्रतिपदा रहती है, उसी दिन चान्द्रमास का आरम्भ मान लेते हैं। प्रतिपदा दो दिन सूर्योदय काल में रहने पर मासारम्भ प्रथम दिन माना जाता है। सौरमासारम्भ के निम्नलिखित कई नियम प्रचलित हैं।

(१. क) बंगाल में सूर्योदय और मध्यरात्रि के बीच में संक्रान्ति होने पर पर्वकाल उसी दिन मानते हैं और मासारम्भ दूसरे दिन करते हैं। मध्यरात्रि के बाद और सूर्योदय के पूर्व संक्रान्ति हुई तो पर्वकाल दूसरे दिन और मासारम्भ तीसरे दिन मानते हैं। (१. ख) उड़ीसा प्रान्त में अमली और विलायती सनों के मासों का आरम्भ संक्रान्ति

---

१. नामों में जो यह अव्यवस्था दिखाई दे रही है, उसे दूर करने के लिए उपर्युक्त उदाहरण के द्वितीय और तृतीय पक्ष को प्रथम वैशाख तथा चतुर्थ और पंचम को द्वितीय वैशाख कहते हैं।

के दिन ही होता है, संक्रान्ति चाहे जिस समय हो। मद्रास में भी दो नियम हैं। (२. क) तमिल प्रान्त में सूर्यास्त के पूर्व संक्रान्ति होने पर उसी दिन और सूर्यास्त के बाद होने पर दूसरे दिन मासारम्भ मानते हैं। (२. ख) मलाबार प्रान्त में अपराह्न का आरम्भ होने के पूर्व संक्रान्ति होने पर उसी दिन और बाद में होने पर दूसरे दिन मासारम्भ मानते हैं।[1] मैंने ये चार नियम उन प्रान्तों के पञ्चाङ्गों तथा कुछ अन्य बातों के आधार पर लिखे हैं, पर इनके अपवाद भी हो सकते हैं। मद्रास में छपे हुए शक १८१५ के एक तमिल पञ्चाङ्ग में मध्यरात्रि के पूर्व संक्रान्ति होने पर उसी दिन और बाद में होने पर दूसरे दिन मासारम्भ माना है। कलकत्ता हाईकोर्ट की आज्ञा से एक कोष्ठक (Chronological Tables) प्रति वर्ष छपता है। उसमें सन् १८८२, १८८३ ई० की पुस्तक में विलायती सन् के महीनों का आरम्भ इसी नियम के अनुसार किया गया है।

पञ्चाङ्ग के अङ्ग

अब पञ्चाङ्ग के मुख्य पाँच अङ्गों का विचार करेंगे। पञ्चाङ्ग के तिथि, वार, नक्षत्र, योग और करण ये पाँच अङ्ग माने जाते हैं। आकाश में सूर्य और चन्द्रमा के एकत्र होने पर अर्थात् उनका योग समान होने पर अमावास्या समाप्त होती है। इसके बाद गति अधिक होने के कारण चन्द्रमा सूर्य से आगे जाने लगता है। दोनों में १२ अंश का अन्तर पड़ने में जितना समय लगता है उसे तिथि कहते हैं। इस प्रकार दोनों के पुनः एकत्र होने तक अर्थात् एक चान्द्रमास में (३६० ÷ १२) ३० तिथियाँ होती हैं। सूर्य और चन्द्रमा में ६ अंश अन्तर पड़ने में जो समय लगता है उसे करण कहते हैं।[2] एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक के काल को वार कहते हैं। नक्षत्रमण्डल के आठ-आठ सौ कलाओं के २७ समान भाग माने गये हैं प्रत्येक भाग को और उसे भोगने में चन्द्रमा को जितना समय लगता है, उसे नक्षत्र कहते हैं। सूर्य-चन्द्र के भोगों के योग द्वारा योग

---

१. त्रिचनापल्ली निकटस्थ श्रीरंगम् से ५ मील उत्तर कन्ननूर नामक स्थान में एक मन्दिर में शक ११९६ का एक शिलालेख है। उसमें २ क, २ ख में से एक नियम है, यह बात सिद्ध हो चुकी है। देखिए Epigraphia Indica, III p. 10

२. परन्तु वस्तुतः पञ्चाङ्गों में करण का अलग साधन नहीं करते अर्थात् सूर्य-चन्द्र में ६ अंश अन्तर पड़ने में तात्कालिक गत्यन्तर द्वारा जो समय आयेगा उसे करण नहीं मानते, बल्कि तिथिकाल के आधे को करणकाल कहते हैं और ऐसा ही विधान भी है (—अनुवादक)।

लाया जाता है। सूर्य और चन्द्रमा की गति का योग ८०० कला होने में जितना समय लगता है उसे योग कहते हैं।

पाँचों अङ्गों का प्रचारकाल

हमारे यहाँ पञ्चाङ्ग बनाने की प्रथा बड़ी पुरानी है। पञ्चाङ्ग तभी से प्रचलित हुआ होगा जब कि हमें ज्योतिष का थोड़ा-बहुत ज्ञान होने लगा था, पर यह निश्चित है कि वह पुराना पञ्चाङ्ग आज सरीखा नहीं था। पञ्च-अङ्ग के स्थान में पहिले किसी समय चतुरंग, त्र्यङ्ग, द्व्यङ्ग अथवा एकाङ्ग भी प्रचलित थे और लिपि का ज्ञान होने के पहिले तो कदाचित् जबानी ही उनका ज्ञान कर लेते रहे होंगे। परन्तु इतना अवश्य है कि ज्योतिषस्थिति-दर्शक कोई पदार्थ अति प्राचीन काल से ही प्रचलित रहा है। यहाँ उसे ज्योतिर्दर्पण कहेंगे। वेदों में भी लिखा है कि अमुक दिन, नक्षत्र और ऋतु में अमुकामुक कर्म करने चाहिए, अतः स्पष्ट है कि ज्योतिर्दर्पण बहुत प्राचीन है। उसका प्रथम अङ्ग सावन दिन है। सम्प्रति सावन दिन के स्थान में वार का प्रयोग किया जाता है। सावन दिन के बाद नक्षत्रों का ज्ञान हुआ और नक्षत्र दूसरा अंग बना। उसके बाद तिथि का ज्ञान हुआ। वेदाङ्गज्योतिषकाल अर्थात् शकपूर्व १४००वें वर्ष में तिथि और नक्षत्र अथवा सावन दिन और नक्षत्र दो ही अङ्ग थे। तिथि का मान लगभग ६० घटी होता है अर्थात् उसे अहो-रात्र-दर्शक कहना चाहिए। तदनुसार केवल दिन अथवा केवल रात्रि के दर्शक तिथ्यर्ध अर्थात् करण नामक अङ्ग का प्रचार तिथि के थोड़े ही दिनों बाद हुआ होगा और उसके बाद वार प्रचलित हुए होंगे। अथर्वज्योतिष में करण और वार दोनों हैं। पहले लिख चुके हैं कि हमारे देश में शकारम्भ के ५०० वर्ष पूर्व मेषादि संज्ञाओं का प्रचार हुआ होगा और यह भी दिखा चुके हैं कि अथर्वज्योतिष और याज्ञवल्क्यस्मृति से ज्ञात होता है कि राशियों का ज्ञान होने के कई शताब्दी पूर्व वारों का ज्ञान हुआ होगा। एक अन्य ग्रन्थ में भी इसका प्रमाण मिलता है। ऋग्गृह्य-परिशिष्ट में तिथि,करण, मुहूर्त, नक्षत्र, तिथि की नन्दादि संज्ञाओं, दिनक्षय और वार का वर्णन है, पर मेषादि राशियाँ नहीं हैं। ये तीनों ग्रन्थ मेषादि राशियों का प्रचार होने के पहिले के हैं पर तीनों एक ही समय नहीं बने होंगे। इससे ज्ञात होता है कि वारों का प्रचार मेषादि संज्ञाओं से कई शताब्दी पूर्व हुआ है। वारों और मेषादि संज्ञाओं की उत्पत्ति सर्वप्रथम चाहे जहाँ हुई हो पर उनका सर्वत्र प्रचार होने में अधिक समय नहीं लगा होगा, क्योंकि उनमें गणितादि का कोई प्रपञ्च नहीं है। उनकी उत्पत्ति चाहे जहाँ हुई हो, पर उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे देश में दोनों एक साथ नहीं प्रचलित हुए हैं। वारों का

प्रचार मेषादि राशियों से लगभग ५०० वर्ष पूर्व अर्थात् शकपूर्व १००० के आसपास हुआ होगा। शकपूर्व ४०० से अर्वाचीन तो वे नहीं ही हैं।[1]

करण नामक काल-विभाग तिथि द्वारा अपने आप ध्यान में आने योग्य है, अतः तिथि के कुछ ही दिनों बाद और वार के पूर्व उसका प्रचार हुआ होगा। वेदाङ्गकालीन जिन ग्रन्थों का विवेचन पीछे किया है, उनमें से अथर्वज्योतिष, याज्ञवल्क्यस्मृति और ऋग्गृह्यपरिशिष्ट, इन तीन में वार आये हैं और इन तीनों में से याज्ञवल्क्यमृति में करण नहीं हैं, शेष दो में हैं। इससे शंका होती है कि वार के पहिले करणों का प्रचार नहीं रहा होगा। यदि यह ठीक है तो दोनों का प्रचार प्रायः एक ही समय हुआ होगा अथवा करण वारों के कुछ दिनों बाद शीघ्र ही प्रचलित हुए होंगे। यह निश्चित है कि वे शकपूर्व ४०० से अर्वाचीन नहीं हैं।[2]

शनिवार, रविवार, सोमवार इत्यादि वारक्रम की उपपत्ति पहिले लिख चुके हैं। उससे ज्ञात होता है कि इस क्रम का मूल कारण होरा नामक कालविभाग है। निम्नलिखित और भी एक प्रकार से इसकी उपपत्ति लगायी जा सकती है। चन्द्रमा से आरम्भ कर ऊर्ध्वक्रम से घटिकाधिपति मानें तो प्रथम दिन का स्वामी अर्थात् प्रथम दिन की प्रथम घटी का स्वामी चन्द्रमा और दूसरे दिन की प्रथम घटी अर्थात् दूसरे दिन का स्वामी (चूंकि ६० मे ७ का भाग देने से शेष ४ बचता है) उससे पाँचवाँ अर्थात् मङ्गल होगा। वराहमिहिर ने पञ्चसिद्धान्तिका के त्रैलोक्य संस्थान में लिखा भी है—"ऊर्ध्वक्रमेण दिनपाश्च पञ्चमाः।" परन्तु इस पक्ष में आपत्ति यह है कि होराधिपों का वर्णन वराहमिहिरादिकों के ग्रन्थों में है, परन्तु घटिकाधिप की चर्चा किसी ने भी नहीं की है। दूसरी विप्रतिपत्ति यह है कि इस पद्धति में प्रथम वार सोम आता है, जिसका

---

१. रोमकसिद्धान्त कितना भी नवीन हो पर यह निश्चित है कि वह शकारम्भ के बाद का नहीं है। सूर्यादिक प्राचीन चार सिद्धान्त उससे प्राचीन हैं। ज्योतिषसंहिताएं उनसे भी प्राचीन हैं और मेषादि संज्ञाएँ संहिताओं से भी प्राचीन हैं। अतः मेषादि संज्ञाएँ शकपूर्व ३०० के बाद की कभी भी नहीं हो सकतीं और वार उनसे कम से-कम १०० वर्ष प्राचीन अवश्य हैं।

२. महाभारत में मेषादि संज्ञाएं उनसे प्राचीन वार और करण भी उल्लिखित नहीं हैं, अतः उसकी रचना कम-से-कम शकपूर्व ४०० वर्ष से पहले ही हुई होगी। ऋग्गृह्य-परिशिष्ट, अथर्वज्योतिष और याज्ञवल्क्यस्मृति का रचनाकाल शकपूर्व ३०० वर्ष से अर्वाचीन नहीं है।

एक भी प्रमाण नहीं मिलता। अतः मानना पड़ता है कि वारों की उत्पत्ति होरा से ही हुई है और यह कालविभाग तथा यह शब्द हमारे देश का नहीं है।

वारों की उत्पत्ति हमारे देश में नहीं हुई है, क्योंकि उनकी उत्पत्ति का सम्बन्ध होरा नामक पदार्थ से है जो कि हमारे देश का नहीं है। साथ ही साथ इसके सम्बन्ध में एक और भी बड़े महत्व की बात है। पहले बता चुके हैं कि होराधीश शनि, गुरु, भौम इत्यादि क्रम से माने जाते हैं, अतः जिसने होराधीश निश्चित किये होंगे उसे पृथ्वी की प्रदक्षिणा करनेवाले ग्रहों का चन्द्र, बुध, शुक्र इत्यादि क्रम ज्ञात रहा होगा, अर्थात् उसे ग्रहगति का उत्तम ज्ञान रहा होगा। ज्योतिष के प्राचीन इतिहास में यह बात बड़े महत्त्व की है। हमारे ज्योतिषगणित-ग्रन्थों में ग्रहगति सूर्य, चन्द्र, मङ्गल इत्यादि वारों के क्रम से लिखी है, चन्द्र, बुध, शुक्र इत्यादि कक्षाक्रम से नहीं। वारों का प्रचार होने के पहिले यदि गत्यनुसारी ग्रहक्रम का ज्ञान रहा होता तो हमारे आचार्य ग्रहगति सूर्य, चन्द्र इत्यादि क्रम से नहीं बल्कि चन्द्र, बुध, शुक्र इत्यादि क्रम से लिखते, पर उन्होंने ऐसा नहीं किया है। ग्रहक्रम का ज्ञान होने के पहिले से हमारे मन में समाया हुआ वारक्रम का महत्त्व, किंबहुना, पूज्यत्व ही इसका कारण है। दूसरे यह कि ज्योतिषसंहिता,-ग्रन्थों में ग्रहचार प्रचरण में ग्रहों का वर्णन सूर्य, चन्द्र, मङ्गल इत्यादि क्रम से हीं रहता है। कुछ संहिताग्रन्थ सूर्यसिद्धान्तादि गणित ग्रन्थों से प्राचीन हैं और वारोत्पत्ति के लिए जितने ज्ञान की आवश्यकता है उतना उनमें नहीं दिखाई देता। इन दोनों हेतुओं और होरा नामक कालविभाग हमारे देश का नहीं है, इस बात से यह सिद्ध होता है कि वार हमारे देश में नहीं उत्पन्न हुए हैं।

उपर्युक्त कथन में यह भी गर्भित है कि यदि हमने गत्यनुसारी ग्रहक्रम का ज्ञान स्वयं प्राप्त किया हो तो भी हमसे पहिले परदेशी उसे प्राप्त कर चुके थे।

सम्प्रति भूमण्डल में जहाँ-जहाँ वार प्रचलित हैं, सर्वत्र सात ही हैं और उनका क्रम भी सर्वत्र एक है, अतः वारों की उत्पत्ति किसी एक ही स्थान में हुई होगी। किसी यूरोपियन विद्वान् ने उनका उत्पत्तिस्थान मिस्र और किसी ने खाल्डिया बताया है। कनिंघम का कथन है[१] कि "डायन काशिअस (सन् २०० ई०) ने लिखा है कि वारों की पद्धति मिस्र देश की है, पर मिस्र के लोग सात दिन के सप्ताह द्वारा मास का विभाग नहीं करते थे, बल्कि वे एक-एक भाग दस-दस दिन का मानते थे।" इससे कहा जा सकता है कि वारों का उद्गम स्थान मिस्र नहीं है, पर वहाँ की प्राचीन लिपि और प्राचीन भाषा में निष्णात रेनुफ नामक विद्वान् ने अपने सन् १८९० ई० के ग्रन्थ में

१. Indian Antiquary, xiv p. 1-4.

लिखा है[1] कि मिस्र देश में अहोरात्र का होरा या होरस् देवता मानते थे। इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन मिस्र मे होरा शब्द और वह कालविभाग प्रचलित था, अतः वहाँ वारों की उत्पत्ति की भी सम्भावना हो सकती है। आजकल होरा शब्द ग्रीक माना जाता है, परन्तु हिराडोटस (ई० पू० ५वीं शताब्दी) का कथन है कि वह कालविभाग ग्रीकों को वस्तुतः बाबिलोन अर्थात् खाल्डिया से ही मिला है। पहिले गत्यनसारी ग्रहक्रम का ज्ञान खाल्डिया और मिस्र दोनों में से किसी एक को था या नहीं, यदि था तो किसे था और पहिले किसे प्राप्त हुआ, इसका पता नहीं लगता, अतः वारों का उत्पत्ति-स्थान निश्चयपूर्वक नहीं बताया जा सकता। सम्भव है कि उनकी उत्पत्ति ग्रीस में हुई हो, परन्तु यह निश्चित है कि उनका उत्पत्ति-स्थान इन तीनों देशों के अतिरिक्त अन्य नहीं है।

अन्य देशों में वारों का प्रचार कब से है, इसके विषय में कनिंघम ने लिखा है[2] कि "(रोमन) टिब्युलस ने ई० पू० २० में शनिवार का उल्लेख किया है और जुलिअसफण्टिनस (सन् ७०—८० ई०) ने लिखा है कि जरुसलेम शनिवार को लिया गया। इससे ज्ञात होता है कि रोमन लोगों ने ईसवीं सन् के आरम्भ के आसपास वारों का व्यवहार आरम्भ किया था। परन्तु उसके लगभग अथवा उसके पूर्व ही ईरानी और हिन्दुओं को वार ज्ञात हो चुके थे। सेलसस ने—जो आगस्टस (ई० पू० २७) और टायबेरिअस नामक रोमन राजाओं के राज्यकाल में था—लिखा है कि ईरान के मन्दिर में सात ग्रहों के नाम के दरवाजे थे और वे उन्हीं धातुओं और रंगों से बनाये गये थे जो कि उन ग्रहों को प्रिय हैं।[3]"

हमारे देश में अब तक अनेकों ताम्रपत्र और शिलालेख मिले हैं। उनमें वारों के प्रयोग का प्राचीनतम उदाहरण शक ४०६ का है। मध्यप्रान्त के एरन नामक स्थान में एक खम्भे पर बुधगुप्त राजा का गुप्त-वर्ष १६५ अर्थात् शक ४०६ आषाढ़ शुक्ल १२ गुरुवार का एक शिलालेख है। सम्प्रति इससे प्राचीन ज्योतिष का ऐसा कोई भी पौरुष ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, जिसके लेख से यह विदित होता हो कि सचमुच वह शक ४०६ से प्राचीन है।

---

१. मत्कृत धर्ममीमांसा, भौतिक धर्म, पं० १२७ देखिए।

२. Indian Antiquary, xiv p. 1-4.

३. हमारे ग्रन्थों में भी लिखा है कि किस ग्रह को सुवर्णादि कौन-सी धातु और कौन-सा रंग प्रिय है। कोई-कोई सातवारों को भिन्न-भिन्न सात रंगों की पगड़ियाँ पहनते हैं।

योगों का उत्पत्तिकाल

केरोपन्त ने लिखा है (ग्रहसाधनकोष्ठक, पृष्ठ १६३) कि "पता नहीं चलता, करण आकाशस्थ ग्रहों की कौन सी स्थिति दिखाते हैं। इनका उपयोग केवल फलग्रन्थों में है, उनका यह कथन ठीक नहीं है । करण तिथि का आधा होता है। जैसे तिथि से यह ज्ञात होता है कि सूर्य और चन्द्रमा में १२ अंश और अधिक अन्तर हो गया उसी प्रकार करण बताता है कि सूर्य-चन्द्रमा का अन्तर ६ अंश और बढ़ गया। करण का मान लगभग ३० घटी है, अतः वह एक उचित कालविभाग है। करणे पर नहीं पर केरोपन्त का कथन विष्कम्भादि २७ योगों पर लागू हो सकता है। एक मनुष्य पूना से १० कोस पर और दूसरा २० कोस पर है। दोनों का योग ३० कोस हुआ। यह ३० कोस किसी भी स्थिति का द्योतक नहीं है और मेरी तो धारणा है कि पञ्चाङ्ग के पाँच अङ्गों में योग का प्रवेश अन्य अङ्गों के कई शताब्दी बाद हुआ है। पञ्चसिद्धान्तिका में तिथि और नक्षत्रसाधन की रीति है पर योगसाधन की नहीं है। इसी प्रकार बृहत्संहिता में नक्षत्रों के फल के विषय में बहुत लिखा है, पर योगों के विषय में कुछ भी नहीं। इससे मुझे ज्ञात होता है कि वराहमिहिर के समय योग नहीं थे। आर्यभट ने तिथि और नक्षत्र निकालने की रीति नहीं लिखी है, अतः उनके सम्बन्ध में योगों के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

ब्रह्मगुप्त ने ब्रह्मसिद्धान्त में तिथि-नक्षत्रानयन की रीति दी है । वहीं योग लाने की भी एक आर्या है, परन्तु मुझे वह प्रक्षिप्त मालूम होती है, क्योंकि पूना कालेज की जिस प्रति की मैंने नकल की है, उसमें वह आर्या ६२वीं और ६३वीं आर्याओं के मध्य में है अर्थात् उसके आगे श्लोकसंख्या नहीं लिखी है। वह आर्या दूसरे अध्याय में है। उस अध्याय के अन्त में ब्रह्मगुप्त ने श्लोकसंख्या ६७ लिखी है,पर उस आर्या को भी गिनने से श्लोक-संख्या ६८ हो जाती है। दूसरी बात यह कि उस पर पृथूदक की टीका नहीं है। इतना ही नहीं, पृथूदकटीका वाली पुस्तक में वह आर्या है ही नहीं। इसके अतिरिक्त तिथि, नक्षत्र और करण शब्दों को ब्रह्मगुप्त ने कई स्थानों में एकत्रित लिखा है, पर उनमें योग का नाम कहीं भी नहीं है। यथा—

(१) संक्रान्तिभतिथिकरणव्यतिपाताद्यन्तगणितानि ।।६६।।

(२) ज्यापरिधिस्पष्टीकरणदिनगतिचरार्धभतिथिकरणेषु ।।६७।।

(अध्याय २)

(३) संक्रान्तेराद्यन्तौ ग्रहस्य यो राशिभतिथिकरणान्तान् ।
व्यतिपाताद्यन्तौ वा यो वेत्ति स्फुटगतिज्ञः सः ॥३६॥

(४) एवं नक्षत्रान्तात्तिथिकरणान्ताच्छशिप्रमाणार्द्धात् । १॥

(अध्याय १४)

इस प्रकार ब्रह्मसिद्धान्त में ४ स्थानों में नक्षत्रतिथिकरणों का एकत्र उल्लेख रहते हुए उनमें योग का नाम एक जगह भी नहीं है। खण्डखाद्य में सम्प्रति योगसाधनोपयोगी एक आर्या मिलती है, पर वह भी प्रक्षिप्त ही है। वेरुनी ने खण्डखाद्य की बहुत सी बातें लिखी हैं, पर योग नहीं दिये हैं (इण्डिका भाग २, पृष्ठ २०९)। उसने लिखा है कि करणतिलक में २७ योग हैं। यदि खण्डखाद्य में योगानयन की रीति होती तो वेरुनी के ग्रन्थों में उसका वर्णन अवश्य रहता। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्मगुप्त के समय भी योग नहीं थे।

अथर्वज्योतिष में लिखा है कि अमुक मुहुर्त, तिथि, करण में अमूकामुक कर्म करने चाहिए पर उसमें योगों सम्बन्धी कर्म नहीं लिखा हैं। इसके आगे लिखा है—

चतुर्भिः कारयेत् कर्म सिद्धिहेतोर्विचक्षणः ।
तिथि-नक्षत्र-करण-मुहूर्तेनेति नित्यशः ॥

यहाँ शुभ कर्म में तिथि, नक्षत्र, करण और मुहूर्त का ही ग्रहण किया है। योग का नाम नहीं लिया है, परन्तु इसके आगे लिखा है—

तिथिरेकगुणा प्रोक्ता नक्षत्रञ्च चतुर्गुणम् ।
वारश्चाष्टगुणः प्रोक्तः करणं षोडशान्वितम् ॥८०॥
द्वात्रिंशद्गुणको योगस्तारा षष्टिसमन्विता ।
चन्द्रः शतगुणः प्रोक्तः ॥९१॥

यहाँ योग शब्द आया है पर उसका अर्थ दूसरा है। अमुक नक्षत्र और अमुक वार का संयोग होने से अमुक योग होता है, इस प्रकार फलग्रन्थों में २८ योग बताये हैं यह योग वही होगा अथवा यह श्लोक ही प्रक्षिप्त होगा। ऋग्गृह्यपरिशिष्ट में योग नहीं हैं।

वर्तमान धी वृद्धिदतन्त्र में योग है, परन्तु वे प्रक्षिप्त होंगे अथवा उसकी रचना गनके कुछ ही पूर्व उस प्रान्त में उनका प्रचार हुआ होगा। इन सब बातों से मुझे यह ब्रह्मसंशय प्रतीत होता है कि शक ६०० पर्यन्त योग नामक अङ्ग पञ्चाङ्ग में नहीं था। ब्रह्मगुप्त की उपर्युक्त आर्याओं मे व्यतीपात शब्द दो जगह आया है परन्तु वह व्यतीपात २७

योगों में का नहीं है, बल्कि उसका सम्बन्ध सूर्य-चन्द्र के क्रान्तिसाम्य से है जिसे सम्प्रति महापात भी कहते हैं। पूर्वापर सन्दर्भ और टीका इत्यादिकों का विचार करने से इस विषय में सन्देह नहीं रह जाता। क्रान्तिसाम्य जानने का एक स्थूल साधन—जिसका गणितग्रन्थों में उपयोग भी किया रहता है—यह है कि सूर्य और चन्द्रमा (के भोगों का योग ६ या १२ राशि होने पर उनका क्रान्तिसाम्य होता है। इनमें से पहिले को व्यतीपात और दूसरे को वैधृति कहते हैं। यह क्रान्तिसाम्य लाने के लिए सूर्य-चन्द्रमा का योग करना पड़ता है। सम्भवतः इसी आधार पर जैसे सूर्य-चन्द्र के अन्तर द्वारा तिथि लाते थे उसी प्रकार सदा उनके योग द्वारा २७ योग लाये गये होंगे।

सूक्ष्म नक्षत्र

एक नक्षत्र का मान सामान्यतः क्रान्तिवृत्त का २७वाँ भाग अर्थात् ८०० कला है, परन्तु प्राचीन काल में एक और पद्धति प्रचलित थी। उसमें कुछ नक्षत्रों को अर्धभोग, कुछ को समभोग (एक भोग) और कुछ को अध्यर्ध (डेढ़) भोग मानते थे। यह पद्धति गर्गादिकों ने फलादेश के लिए लिखी है—ऐसा कहकर ब्रह्मगुप्त ने और तदनुसार भास्कराचार्य ने उसका उल्लेख किया है। उसमें भरणी, आर्द्रा, आश्लेषा, स्वाती, ज्येष्ठा और शतभिषक् ये ६ नक्षत्र अर्धभोग, रोहिणी, पुनर्वसु, उत्तरात्रय, विशाखा ये ६ अध्यर्ध भोग और शेष १५ समभोग माने गये हैं।

गर्गपद्धति, ब्रह्मसिद्धान्तपद्धति

गर्ग ने भोग का प्रमाण ८०० कला और ब्रह्मगुप्त ने चन्द्र-मध्यम-दिनगति अर्थात् ७९० कला ३५ विकला माना है। इसीलिए ब्रह्मसिद्धान्त में अभिजित् नक्षत्र लेकर चक्रकला की पूर्ति के लिए उसका भोग (चक्रकला—२७ × ७९०।३५=) ४ अंश १४ कला १५ विकला दिया है। नारद ने इस पद्धति के अनुसार अर्धभोग नक्षत्रों का कालात्मक मान १५ मुहूर्त (३० घटी), समभोग वालों का ३० मुहूर्त और अध्यर्ध भोग वालों का ४५ मुहूर्त लिखा है और मध्यम मान से यह ठीक भी है। मालूम होता है इस पद्धति का कुछ दिनों तक प्रत्यक्ष व्यवहार किया जाता था। कन्नौज के राजा भोजदेव का एक शिलालेख झाँसी से लगभग ६० मील नैर्ऋत्य की ओर देवगढ़ नामक स्थान में मिला है। उसमें लिखा है—"संवत् ९१९ आश्विन-शुक्लपक्ष-चतुर्दश्यां बृहस्पतिदिने उत्तराभाद्रपदानक्षत्रे...शककालाब्दसप्तशतानि चतुरशीत्यधिकानि ७८४।" इसमें लिखे हुए नक्षत्र की सङ्गति उपर्युक्त गर्गोक्त या ब्रह्मसिद्धान्त पद्धति से ही लगती है, ८००

कला का नक्षत्र मानने से नहीं लगती।[1] आजकल सूर्य की संक्रान्ति जिस दैनन्दिन नक्षत्र में होती है, उसी के मान के अनुसार उसका १५, ३० या ४५ मुहूर्त मान लेते हैं और तदनुसार सुभिक्ष-दुर्भिक्ष का निर्णय करते हैं। इसका मूल यह उपर्युक्त पद्धति ही है। नक्षत्रों का भोग आधा, सम या डेढ़ गुना मानने का मूल कारण नक्षत्रों के तारों का समान अन्तर पर न होना ही होगा। नक्षत्र-चक्र के आरम्भ का विवेचन पहले कर चुके हैं।

भिन्न-भिन्न प्रान्तों के पञ्चाङ्ग

अब यहाँ इस देश के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में प्रचलित पञ्चाङ्गों का विचार करेंगे। मैंने अनेक प्रान्तों के पञ्चाङ्ग देखे हैं और वे मेरे संग्रह में भी हैं। उनके अवलोकन से ज्ञात होता है कि सब प्रान्तों के पञ्चाङ्गों की पद्धति प्रायः एक ही है। उनमें तिथि, नक्षत्र, योग और करण के घटी-पलों में एवं संक्रान्तिकाल तथा स्पष्टग्रहों में थोड़ा बहुत अन्तर पड़ जाता है, पर उसका कारण यह है कि भिन्न-भिन्न प्रान्तों में पञ्चाङ्ग सौर, ब्राह्म अथवा आर्यपक्ष के भिन्न-भिन्न ग्रन्थों द्वारा बनाये जाते हैं।

तीन पक्ष

इन तीनों पक्षों के विषय में पिछले पृष्ठों में थोड़ा लिख चुके हैं। ग्रहलाघव (शक १४४२) में इन तीनों पक्षों का स्पष्ट उल्लेख है। गणेश दैवज्ञ ने लिखा है कि अमुक पक्ष का अमुक ग्रह ठीक मिलता है और तदनुसार उन्होंने उसे ग्रहण किया है। उनके मत में सूर्यसिद्धान्त, करणप्रकाश और करणकुतूहल क्रमशः सौर, आर्य और ब्राह्म पक्ष के ग्रन्थ हैं। मुहूर्तमार्तण्ड नामक मुहूर्तग्रन्थ में (शक १४९३) भी इन पक्षों का स्पष्ट उल्लेख है। विश्वनाथी टीका इत्यादि ग्रन्थों में भी कहीं-कहीं इनका वर्णन मिलता है। इस समय भी इन तीनों पक्षों के अभिमानी ज्योतिषी हैं। वैष्णव आर्यपक्ष को मानते हैं। सुधाकर ने लिखा है कि माध्वसम्प्रदाय के कृष्णामृतवाक्यार्थ नामक ग्रन्थ में निम्नलिखित वाक्य हैं—

"विष्णोश्च जन्मदिवसाश्च हरेर्दिनञ्च विष्णुव्रतानि विविधानि च विष्णुभं च।
....................कार्याणि चार्यभटशास्त्रत एव सर्वैः ॥"

"आर्यभटसिद्धान्तसम्मतकरण प्रकाशग्रन्थः"

---

१. मेरा किया हुआ इसका ब्यौरेवार गणित इण्डि० ऐंटि०, जनवरी १८८८ पृष्ठ २४ में देखिए। उसी अंक के Twelve-year cycle of Jupitor निबन्ध में मैंने इस पद्धति का विस्तृत विवेचन किया है।

स्मृत्यर्थसार नामक धर्मशास्त्र ग्रन्थ में भी इसी अर्थ के कुछ वाक्य मिले हैं। मालूम होता है गणेश दैवज्ञ के समय इन तीन पक्षों का अभिमान दृढ़ हो गया था जिसके कारण सबको प्रसन्न रखने के लिये उन्हें यह युक्ति निकालनी पड़ी कि मैंने अमुक पक्ष का अमुक ग्रह लिया है, अन्यथा उन्हें जो ग्रह लेने थे वे सब 'आर्यः सेषुभागः शनिः' की तरह अथवा कुछ बीजसंस्कार मानकर किसी भी एक ही ग्रन्थ से लिये जा सकते थे। करण-कुतूहल के पूर्व का ब्रह्मपक्षीय ग्रन्थ राजमृगांक उसके सर्वथा समान था। उसका रचना-काल शक ९६४ है। लल्लोक्त बीजसंस्कार उससे लगभग ३०० वर्ष पहिले का है (आर्यसिद्धान्त में उसका संस्कार करके करणप्रकाश ग्रन्थ बना है, और वर्तमान सूर्यसिद्धान्त का प्राबल्य भी अनुमानतः लगभग लल्ल के समय से ही है, अर्थात् ये तीनों पक्ष बड़े प्राचीन हैं परन्तु राजमृगांक के समय से इनके भिन्नत्व की दृढ़ स्थपना हुई होगी और एक-एक पक्ष का विशेष अभिमान उत्पन्न हुआ होगा।[1] कोई मनुष्य जिस किसी ग्रन्थ से गणित करता है उसके वंशज और शिष्य भी प्रायः उसी का अनुकरण करते हैं और इस प्रकार स्वभावतः उनका उस ग्रन्थ और पक्ष के प्रति अभिमान बढ़ता जाता है। कभी-कभी भिन्न पक्ष के अनुयायियों में द्वेष भी हो जाता है। वस्तुतः इन पक्षों में भेद इतना ही है कि उनके वर्षमान और ग्रहगतियों में थोड़ी भिन्नता होने के कारण सूर्यसंक्रान्ति में कुछ घटियों का और अन्य ग्रहों के संक्रमण काल में ग्रहों की शीघ्रमन्द गति के अनुसार कुछ दिनों का अन्तर पड़ जाता है। वस्तुतः उन पक्षों के लिए ततत् सिद्धान्तों के आधार नाम मात्र का है, यह हम उन सिद्धान्तों के वर्णन में दिखा चुके हैं। ज्योतिषियों को अपने समय में वेध द्वारा ग्रहों में जितना अन्तर दिखाई पड़ा उसे दूर करने के लिए उन्होंने अपनी इच्छानुसार भिन्न-भिन्न बीजसंस्कारों की कल्पना की है, अतः किसी पक्षविशेष का दुरभिमान करना व्यर्थ है।

पञ्चाङ्ग का गणित और प्रसिद्धि

मैंने इस प्रान्त में छपा हुआ सबसे पुराना पञ्चाङ्ग शक १७५३ का देखा है। इससे अनुमान होता है कि महाराष्ट्र में लगभग इसी समय से पञ्चाङ्ग छपने लगा था। बम्बई और पूना में मराठी लिपि में जितने पञ्चाङ्ग छपते हैं वे सब ग्रहलाघव और लघु-चिन्तामणि से बनाये जाते हैं। तिथि, नक्षत्र और योग के घटी-पल लघुचिन्तामणि से लाते हैं और शेष गणित ग्रहलाघव से करते हैं। कोंकण प्रान्त में लघुचिन्तामणि की अपेक्षा बृहत्चिन्तामणि का अधिक प्रचार है। उसके द्वारा लाये हुए तिथ्यादिकों के

---

१. इससे प्राचीन इसके तुल्य कोई ग्रन्थ अभी तक मुझे नहीं मिला है।

घटीपलों में कुछ पलों का सूक्ष्मत्व रहता है। बम्बई और पूना के पञ्चाङ्गों में पलभा ४ और देशान्तर ४० योजन पश्चिम मानते हैं। बहुत दिनों तक प्रायः मुद्रित पञ्चाङ्गों का गणित बसई से आबा जोशी मोघे करते थे। लगभग शक १७९८ से उनके पुत्र पांडुरंग आबा करने लगे थे। शक १८१८ से उनके पुत्र रामचन्द्र पांडुरंग करते हैं। निर्णयसागर प्रेस का पञ्चाङ्ग बहुत दिनों से बसई के ही चिन्तामणि पुरुषोत्तम पुरन्दरे जोशी बनाते हैं। यह पञ्चाङ्ग और गणपत कृष्णाजी के प्रेस का पञ्चाङ्ग जिसे मोघे बनाते हैं, दोनों में औरों की अपेक्षा विशेषता केवल इतनी ही है कि इनके कुछ पदार्थ दूसरों की अपेक्षा कुछ अधिक सूक्ष्म रहते हैं। वस्तुतः बम्बई और पूना के छपे हुए सब पञ्चाङ्ग बिलकुल एक ही हैं और सम्पूर्ण महाराष्ट्र में इनका प्रचार है, ऐसा कहने में कोई आपत्ति नहीं है। बहुत से पुस्तकविक्रेताओं से मुझे पता लगा है कि बम्बई और पूना के पञ्चाङ्गों की खपत हैदराबाद राज्यनिवासी सभी महाराष्ट्र-भाषाभाषियों में तथा सरहद पर के तैलंगी और कर्नाटकी प्रान्तों में भी होती है। महाराष्ट्र में कुछ जिलों के मुख्य स्थानों में कभी कभी पञ्चाङ्ग छपते हैं, वे भी ग्रहलाघवीय ही रहते हैं। बेलगाँव और धारवाड़ में छपे हुए पञ्चाङ्गों का व्यवहार वहाँ आसपास के प्रान्तों में होता है, वे पञ्चाङ्ग भी ग्रहलाघवीय ही हैं। बीजापुर और कारवाड़ जिलों में तथा मद्रास प्रान्त के बेलारी जिले में ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग ही चलता है। मद्रास की ओर कानड़ी जिलों में भी अनुमानतः यही पञ्चाङ्ग चलता होगा। बरार और नागपुर प्रान्तों में भी ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग का ही व्यवहार होता है। इन्दौर और ग्वालियर राज्यों में राज्य की ओर से अथवा राज्य के आश्रय से इस समय जो पञ्चाङ्ग छपते हैं और इसी कारण जो वहाँ प्रायः या यों कहिए कि सर्वत्र प्रचलित हैं, वे भी ग्रहलाघवीय ही हैं। इस प्रकार जहां दक्षिणी लोगों का प्राबल्य है अथवा जहां उनकी बस्ती अधिक है उन सभी स्थानों में ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग का ही प्रचार होगा।

बम्बई के 'अखबारे सौदागर' प्रेस से गुजराती लिपि तथा गुजराती और संस्कृत भाषा में छपा हुआ एक पञ्चाङ्ग मेरे पास है। वह बम्बई के मराठी पञ्चाङ्गों के बिलकुल समान है। बम्बई में छपे हुए और बम्बई में या अन्यत्र रहने वाले गुजराती लोगों में प्रचलित सभी पञ्चाङ्ग संभवतः ऐसे ही होंगे। नवसारी से हमारे एक मित्र लिखते हैं कि यहाँ केवल बम्बई के ही छपे हुए पञ्चाङ्ग चलते हैं। बम्बई के पञ्चाङ्गों का प्रचार सूरत में भी है। काठियावाड़ से हमारे एक मित्र लिखते हैं कि यहाँ बम्बई के छपे हुए मराठी या गुजराती पञ्चाङ्ग और अहमदाबाद के भी पञ्चाङ्ग चलते हैं। इसी मित्र ने अहमदाबाद के यूनियन प्रिंटिंग प्रेस में देवनागरी लिपि और गुजराती तथा संस्कृत भाषा में छपा हुआ शक १८१० का एक पञ्चाङ्ग मेरे पास भेजा। उसके ग्रह

शुद्ध ग्रहलाघवीय हैं और तिथ्यादिक भी प्रायः तिथिचिन्तामणि के ही हैं। बड़ौदा राज्य में ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग ही चलता है। अतः यह कहने में कोई आपत्ति नहीं है कि सभी गुर्जर प्रान्तों में ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग का ही प्रचार है।

पहिले बड़े-बड़े नगरों (गाँवों) में ज्योतिषी लोग पञ्चाङ्ग स्वयं बनाते थे, आजकल भी कहीं कहीं बनाते हैं, परन्तु इस समय मुद्रित पञ्चाङ्ग बहुत थोड़े मूल्य में मिलने लगे हैं, इस कारण हस्तलिखित पञ्चाङ्ग प्रायः लुप्त हो गये। पहिले अनेक ज्योतिषी पञ्चाङ्ग बनाते थे अतः उस समय महाराष्ट्र और गुजरात में ब्राह्म और आर्य पक्ष के भी पञ्चाङ्ग कुछ लोग बनाते रहे होंगे। इसके प्रमाण भी मिलते हैं। एक ताजिकग्रन्थ की टीका में विश्वनाथ दैवज्ञ का इस आशय का एक लेख है कि जिस पक्ष के मान से कुण्डली बनायी हो, वर्षपत्रिका में रवि उसी पक्ष का लेना चाहिए। मुहूर्तमार्तण्डकार का निवासस्थान देवगढ़ (दौलताबाद) के पास था। उन्होंने क्षयमास सम्बन्धी एक उदाहरण में ब्राह्म और आर्यपक्षीय संक्रान्ति और तिथि का गणित दिया है। इससे ज्ञात होता है कि उस प्रान्त में इन पक्षों के पञ्चाङ्ग भी उनके सामने आया करते थे। हमारे नवसारी के मित्र ने लिखा है कि यहाँ ज्योतिषी ब्रह्ममानसारणी द्वारा भी पञ्चाङ्ग बनाते हैं पर वे पञ्चाङ्ग छपते नहीं। कुछ अन्य प्रमाणों से भी गुजरात में ब्राह्मपक्ष का प्राबल्य ज्ञात होता है। पञ्चाङ्ग छपने से यह हानि हुई है कि पञ्चाङ्गनिर्माता ज्योतिषी दिनोंदिन दुर्लभ होते जा रहे हैं, परन्तु एक दृष्टि से यह लाभ भी हुआ है कि सर्वत्र एक प्रकार के पञ्चाङ्ग प्रचलित हो गये हैं।

मारवाड़ियों के यहाँ चंडूपञ्चाङ्ग चलता है। उसमें पलभा ६ और देशान्तर जोधपुर के रहते हैं। बम्बई में छपे हुए इस प्रकार के कुछ पञ्चाङ्ग मेरे पास हैं। उनमें सूर्य और उसकी संक्रान्तियाँ ब्राह्मपक्षीय हैं और अहर्गण भी दिया है। अहर्गण करण-कुतूहल का है पर उनमें एक लघु अहर्गण भी दिया रहता है। ग्रह करणकुतूहल के ग्रहों से नहीं मिलते। तिथ्यादिकों में भी कुछ भिन्नता है। इससे ज्ञात होता है कि करणकुतूहल में कुछ बीजसंस्कार देकर इन्होंने कोई नया ग्रह बनाया है और उसी से यह पञ्चाङ्ग बनाते हैं।

काशी, ग्वालियर और उत्तर भारत के अन्य भी अनेक प्रान्तों में मकरन्द का अधिक प्रचार है। वहाँ मकरन्दीय पञ्चाङ्ग चलता है।

तैलंगी लिपि में मद्रास का छपा हुआ मेरे पास शक १८०९ का एक सिद्धान्त-पञ्चाङ्ग है। वह ३½ के लगभग पलभा मानकर बनाया गया है। इससे और पिछले पृष्ठों में लिखे हुए उसके वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि उसका प्रचार मद्रास के उत्तर तैलंग प्रान्त में है। उसमें दिये हुए सूर्यसंक्रान्तिकाल से उसका सूर्य सूर्यसिद्धान्तीय

ज्ञात होता है। परन्तु शेष ग्रह ग्रहलाघवीय या मकरन्दीय पञ्चाङ्ग से नहीं मिलते। पता नहीं चलता, उनका आनयन किस ग्रन्थ से किया गया है। संभव है सूर्यसिद्धान्त में कोई दूसरा बीज-संस्कार देकर तदनुसार वे लाये गये हैं।

कोचीन में छपे हुए मेरे पास मलयाली लिपि के कुछ पञ्चाङ्ग हैं। उनमें शक १८०९ के पञ्चाङ्ग में मेषसंक्रान्ति अमान्त चैत्र कृष्ण ५ भौमवार को ८ घटी ५७ पल पर लगी है।

भिन्न-भिन्न पक्षों के स्पष्ट मेषसंक्रान्तिकाल में सम्प्रति कितना अन्तर पड़ता है इसे जानने के लिये यहाँ कुछ ग्रन्थों के मेषसंक्रान्तिकाल लिखते हैं। यह मेषसंक्रान्ति शक १८०९ में अमान्त चैत्र कृष्ण ५ भौमवार (१२ अप्रैल सन् १८८७) को उज्जयिनी के मध्यमोदय से निम्नलिखित घटी-पलों पर हुई है।

	घटी	पल	
मूल सूर्यसिद्धान्त	१३	१८	
वर्तमान सूर्यसिद्धान्त	१५	१४	सौरपक्ष
प्रथम आर्यसिद्धान्त, करणप्रकाश	७	३१	आर्यपक्ष
द्वितीय आर्यसिद्धान्त	१०	२५	
राजमृगांक, करणकुतूहल	१०	४५	ब्राह्मपक्ष

ब्रह्मसिद्धान्तानुसार यह संक्रमण चैत्र कृष्ण ३ रविवार को ५४ घटी ४६ पल पर अर्थात् लगभग सवा दिन पूर्व आता है, परन्तु पहले बता चुके हैं कि लगभग शक ९६४ से ही प्रत्यक्ष व्यवहार में ब्रह्मसिद्धान्त का उपयोग बन्द है। उपर्युक्तमलयाली पञ्चाङ्ग का संक्रान्तिकाल प्रथम आर्यसिद्धान्त से मिलता है। उसमें १ घटी २६ पल का अन्तर देशान्तर और चर के कारण पड़ा है। इससे सिद्ध होता है कि वह पञ्चाङ्ग आर्यपक्ष का है। उसके कुछ अन्य ग्रह करणप्रकाशीय ग्रहों से मिलते हैं,[1] पर कुछ नहीं मिलते। मालूम होता है उनके बीजसंस्कारों में कुछ भिन्नता है। कुछ अन्य प्रमाणों से भी इस बात की पुष्टि होती है कि मद्रास की ओर जिन प्रान्तों में मलयाली और तमिल भाषाएँ बोली जाती हैं वहाँ प्रायः आर्यपक्ष ही प्रचलित है। सुनते हैं वहाँ वाक्यकरण नामक ग्रन्थ द्वारा पञ्चाङ्ग बनाते हैं। यद्यपि मैंने वह ग्रन्थ नहीं देखा है तथापि यह निश्चित

---

१. यद्यपि मुझे मलयाली और तमिल लिपियों का पूर्ण ज्ञान नहीं है तथापि उन दोनों पञ्चाङ्गों को बड़ी सावधानी से पढ़कर मैंने उपर्युक्त वर्णन किया है। इसमें अशुद्धि नहीं है, इस बात का मुझे पूर्ण विश्वास है।

है कि वहाँ उस ग्रन्थ से अथवा आर्यसिद्धान्तानुकूल किसी अन्य ग्रन्थ से पञ्चाङ्ग बनाते हैं।

कलकत्ते का छपा हुआ एक पञ्चाङ्ग मेरे पास है। वह किस ग्रन्थ द्वारा बनाया गया है, इसका पता नहीं लगता, पर उसमें वर्षमान सूर्यसिद्धान्तीय है। इससे ज्ञात होता है कि बंगाल में उस वर्षमान का प्रचार है।

पञ्चाङ्गकौतुक ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि कश्मीर में बहुत दिनों तक अर्थात् लगभग शक १५८० पर्यन्त खण्डखाद्यानुसार पञ्चाङ्ग बनाते थे और इस समय भी बनाते होंगे। परन्तु खण्डखाद्य अब तक अपने प्रारंभिक रूप में ही चला आ रहा है, यह बात नहीं है। टीकाग्रन्थों से ज्ञात होता है कि उसमें अनेकों बीजसंस्कार दिये गये हैं। खण्डखाद्य से लाया हुआ सूर्यसंक्रान्तिकाल मूलसूर्यसिद्धान्ततुल्य होता है और वह औरों की अपेक्षा वर्तमान सूर्यसिद्धान्त द्वारा लाये हुए काल के विशेष सन्निकट होता है।

ग्रन्थप्राधान्य

इस समय सामान्यतः ग्रहलाघव और तिथिचिन्तामणि का सबसे अधिक प्रचार है और उसके बाद मकरन्द का है। इन तीनों ग्रन्थों का वर्षमान वर्तमान सूर्यसिद्धान्त का है। बंगाल और तैलंग प्रान्तों में इसी वर्षमान का प्रचार है अर्थात् इस देश के लगभग ⅘ भाग में यही वर्षमान चलता है। मारवाड़ में ब्राह्मपक्ष का, द्रविड़ और मलाबार प्रान्तों में आर्यपक्ष का तथा कश्मीर में मूल सूर्यसिद्धान्त का वर्षमान चलता है। जब कि पञ्चाङ्ग छपते नहीं थे, प्रायः सर्वत्र बड़े बड़े ज्योतिषी पञ्चाङ्ग बनाते थे। संभव है, उस समय वे किसी अन्य पक्ष के भी पञ्चाङ्ग बनाते रहे हों पर सामान्यतः उपर्युक्त व्यवस्था ही रही होगी और उस समय तो वही है। ज्योतिषसिद्धान्तकाल के आरम्भ से किस सिद्धान्तग्रन्थ, करणग्रन्थ और सारणीग्रन्थ का पञ्चाङ्गगणित में कहाँ और किस समय प्राधान्य था, इसका वर्णन मध्यमाधिकार में विस्तारपूर्वक कर चुके हैं।

दृक्प्रत्ययद नवीन पञ्चाङ्ग

सम्प्रति हमारे देश में प्रचलित सब निरयन पञ्चाङ्गों से दृक्प्रतीति नहीं होती अर्थात् उनमें लिखी परिस्थिति आकाश में नेत्रों से प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देती, अतः कुछ लोगों ने नवीन दृक्प्रत्ययद सूक्ष्म पञ्चाङ्ग बनाना आरम्भ किया है। यहाँ उन्हीं का वर्णन करेंगे।

केरोपन्ती अथवा पटवर्धनी पञ्चाङ्ग—यह पञ्चाङ्ग शक १७८७ से छपता है इसमें अक्षांश और रेखा बम्बई के हैं कैलासवासी केरो लक्ष्मण छत्रे इसके कर्ता और

कैलासवासी आबा साहब पटवर्धन प्रवर्तक थे। आरम्भ में कुछ दिनों तक छत्रे ने इसक गणित स्वयं किया होगा। बाद में उनकी देखरेख में वसई के आबा जोशी मोघे करते थे। उनका स्वर्गवास हो जाने के बाद उनके वंशज करते हैं। केरोपन्त के बाद उसका निरीक्षण उनके पुत्र नीलकंठ विनायक छत्रे करते हैं। सुनते हैं, केरोपन्त के एक दूसरे पुत्र और कई शिष्य भी कुछ गणित करते हैं। रत्नागिरि के जगन्मित्र प्रेस के मालिक जनार्दन हरि आठले की इस पञ्चाङ्ग पर बड़ी श्रद्धा है। शक १७९१ से १८११ पर्यन्त वे इसे अपने व्यय से छापते थे। पहिले इसका नाम नवीन पञ्चाङ्ग था। इसके गणित का खर्च आबा साहब पटवर्धन देते थे। उन्हें यह विषय बड़ा प्रिय था। उन्होंने तीन चार सहस्र रूपया व्यय करके कुछ यन्त्र भी मोल लिये थे और वे स्वयं वेध करते थे। यद्यपि यह सत्य है कि इस पद्धति के कल्पक केरोपन्त हैं परन्तु आबासाहब प्रोत्साहन न देते तो इसका उदय न हुआ होता। पटवर्धन की स्मृति में शक १७९९ से इसका नाम नवीन या पटवर्धनीय पञ्चाङ्ग रखा गया। शक १८१२ से पूना के चित्रशाला प्रेस के मालिक वासुदेव गणेश जोशी इसे अपने व्यय से छपाते थे। पञ्चाङ्ग की बिक्री कम होने के कारण उन्हें इसमें घाटा हुआ करता है। आठले और जोशी ने यदि छापना स्वीकार न किया होता तो यह पञ्चाङ्ग कभी का लुप्त हो चुका होता परन्तु किसी ने उनका प्रत्यक्ष आभार भी नहीं माना। इतना हीं नहीं, वे अपने व्यय से पञ्चाङ्ग छपाते हैं, यह बात किसी ने प्रकाशित तक नहीं की।

इस देश में प्रचलित अन्य पञ्चाङ्गों से केरोपन्ती पञ्चाङ्ग में दो बातें भिन्न हैं। एक यह कि रेवती योगतारा (जीटापीशियम) शक ४९६ में सम्पात में था, अतः उस वर्ष अयनांश शून्य और अयनगति वास्तविक अर्थात् लगभग ५०-२ विकला मानी है। अतः स्पष्ट है कि वर्षमान वास्तविक नाक्षत्र सौर अर्थात् ३६५ दिन १५ घटी २२ पल ५३ विपल है। इस प्रकार प्रतिवर्षीय रेवती योगतारे और सम्पात के अन्तर को उस वर्ष का अयनांश माना है। शक १८१८ के आरम्भ में अयनांश १८ अंश १७ कला माना है।[1] दूसरी बात यह है कि इस पञ्चाङ्ग की ग्रहगतिस्थिति शुद्ध होने के कारण इसके ग्रहण, ग्रहयुति इत्यादि आकाश से ठीक मिलते हैं।[2] यह पञ्चाङ्ग नाटिकल

---

१. जीटापीशियम की स्थिति के आधार पर अत्यन्त सूक्ष्म गणित करने से शक १८१८ के आरम्भ में अयनाँश १८।१७।१० आता है। पटवर्धनी पञ्चाङ्ग में १० विकला की अशुद्धि है।

२. ग्रहों के उदयास्त में कभी-कभी अन्तर पड़ जाता है। उसका कारण दूसरा है। आगे उदयास्ताधिकार में उसका विवेचन किया है।

आल्मनाक से बनाया जाता है। चूंकि वह इंगलिश पञ्चाङ्ग अत्यन्त सूक्ष्म दृक्प्रत्ययद होता है अतः केरोपन्ती पञ्चाङ्ग का भी वैसा होना स्वाभाविक है। आगे पञ्चाङ्ग-शोधनविचार में इस पञ्चाङ्ग का विस्तृत विवेचन किया है। केरोपन्त ने संस्कृत या मराठी में ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं लिखा है जिससे यह पञ्चाङ्ग बनाया जा सके। वेंकटेश बापूजी केतकर ने हाल ही में वैसा ग्रन्थ बनाया है।

दृग्गणितपञ्चाङ्ग—मद्रासनिवासी रघुनाथाचार्य[1] ने इंगलिश नाटिकल आल्मनाक द्वारा शक १७९१ से यह पञ्चाङ्ग बनाना आरम्भ किया। यह द्रविड़ और तैलंगी दोनों लिपियों में छपता है। इससे ज्ञात होता है कि उन प्रान्तों में इसका विशेष प्रचार है। इसे शिरिय (लघु) कहते हैं। मालूम होता है रघुनाथाचार्य अपने समय में पेरिय (बृहत्) दृग्गणितपञ्चाङ्ग बनाते थे। रघुनाथाचार्य के पुत्र वेंकटाचार्य का बनाया हुआ शक १८१८ (वर्तमान कलि ४९९८) का द्रविड़ लिपि में छपा हुआ शिरिय सौर पञ्चाङ्ग हमारे पास है। उसमें शक १८१९ की मेषसंक्रान्ति रविवार (११ अप्रैल सन् १८९७ ई०) को ५२ घटी ४३ पल पर है। सूर्यसिद्धान्तानुसार स्पष्ट मेषसंक्रान्ति लगभग इसी समय आती है। बहुत थोड़ा अन्तर पड़ता है। इससे सिद्ध होता है कि इसमें सूर्यसिद्धान्तागत स्पष्टरवि और नाटिकल आल्मनाक द्वारा लाये हुए स्पष्ट सायन रवि के अन्तर तुल्य—शक १८१९ के आरम्भ में २२।१५—अयनांश माना है। इसमें अक्षांश और रेखांश मद्रास के होंगे।

बापूदेव शास्त्री का पञ्चाङ्ग—बापूदेव शास्त्री को सायन गणना मान्य है। सन् १८६३ के लगभग सायन गणना की शास्त्रीयता के विषय में उन्होंने इंगलिश में एक निबन्ध लिखा था। वह छपा है। उससे ज्ञात होता है कि उनके मन में सायन पञ्चाङ्ग ही शास्त्रानुकूल है। यद्यपि उन्होंने काशीराज के आश्रय द्वारा शक १७९८ से निरयन पञ्चाङ्ग छपाना आरम्भ किया है तथापि निरयन पञ्चाङ्ग को मानने वाली जनता के केवल सन्तोष के लिए उन्होंने ऐसा किया है, क्योंकि पञ्चाङ्ग की प्रस्तावना में लिखा है—

> महाराजाधिराजद्विजराज श्री ५ मदीश्वरीप्रसादनारायणसिंहबहादुराख्येन श्रीकाशीनरेश.....आदिष्टः पञ्चाङ्गकरणे प्रवृत्तोऽहम्। भवति यद्यप्यत्र सायनगणनैव मुख्या तथाप्यस्मिन भारतवर्षे सर्वत्र निरयनगणनाया एव प्रचारात् सामान्यजन-प्रमोदायेदं....तिथिपत्रं निरयनगणनयैव व्यरचयम्।

---

१. चिन्तामणि रघुनाथाचार्य का उपनाम है। नटेश शास्त्री के लेख से ज्ञात होता है कि वे काञ्ची से ८ मील पूर्व कावांडलम् नामक गाँव में रहते थे।

बापूदेव शास्त्री का पञ्चाङ्ग इंगलिश नाटिकल अल्मनाक से बनता है। उसमें अक्षांश और रेखा काशी के हैं। उन्होंने लिखा है कि सूर्यसिद्धान्तादि ग्रन्थों द्वारा लाये हुए रवि और सूक्ष्म सायन रवि के अन्तर तुल्य इसमें अयनांश माना है। नाटिकल आल्मनाक के सायन रवि और अपने पञ्चाङ्ग के निरयन रवि की तुलना करते हुए इन्होंने शक १८०६ में अयनांश लगभग २२ अंश १ कला माना है। उस वर्ष सूर्यसिद्धान्तानुसार अमान्त चैत्र कृष्ण १ शुक्रवार को काशी के स्पष्ट सूर्योदय से ३० घटी २६ पल पर मेष संक्रान्ति आती है पर बापूदेवशास्त्री के पञ्चाङ्ग में उसी दिन ३१ घटी १२ पल पर, अर्थात् सूर्यसिद्धान्त से वह ४६ पल आगे है। अन्य किसी भी सिद्धान्त से यह काल नहीं आता। इससे सिद्ध होता है कि उन्होंने सूर्य अन्य किसी ग्रन्थ का नहीं बल्कि सूर्यसिद्धान्त का ही लिया है। उसमें ४६ विकला की अशुद्धि होगी। केरोपन्त से बापूदेवशास्त्री का वादविवाद हुआ था, उस सम्बन्ध में उन्होंने पूना के ज्ञानप्रकाश पत्र के १४ जून सन् १८८० के अंक में एक लेख दिया था। उसमें लिखा था कि सूर्य सूर्यसिद्धान्त का ही लेना चाहिए परन्तु मध्यम। उपर्युक्त सूर्यसिद्धान्तागत मेषसंक्रान्तिकाल में नाटिकल आल्मनाक द्वारा सायन रवि २२।०।३१ आता है, अतः अयनांश इतना ही मानना चाहिए, पर शास्त्रीजी ने २२।१।० माना है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने पञ्चाङ्ग में मध्यम रवि का नहीं बल्कि स्पष्ट रवि का ही अन्तर स्वीकार किया है। बापूदेव शास्त्री के बाद उनके शिष्यों ने पञ्चाङ्ग बनाने का काम जारी रखा है।

अन्य पञ्चाङ्गों से बापूदेवशास्त्री के पञ्चाङ्ग में भिन्नता केवल इसी एक बात की है कि वह नाटिकल आल्मनाक से बनाया जाता है, इस कारण उसकी ग्रहगतिस्थिति शुद्ध अर्थात् दृक्प्रत्ययद होती है। अयनांश में थोड़ा अन्तर है पर वह नहीं के बराबर है। सूर्यसिद्धान्तार्गत रवि और नाटिकल आल्मनाक के रवि के अन्तर तुल्य अयनांश मानने से वर्षमान सूर्यसिद्धान्तीय मानने सरीखा ही होता है। आगे पञ्चाङ्गशोधन-विचार में इस पञ्चाङ्ग का विस्तृत विवेचन किया है।

अन्य सूक्ष्म निरयन पञ्चाङ्ग

इंगलिश नाटिकल आल्मनाक द्वारा बनने वाले मैंने दो और सूक्ष्म निरयन पञ्चाङ्ग देखे हैं। तंजौर प्रान्त के तिरुवादि स्थाननिवासी सुन्दरेश्वर श्रौती और वेंकटेश्वर दीक्षित शक १७९८ से तमिल लिपि में एक सूक्ष्म सौर पञ्चाङ्ग बनाते हैं। उसमें शक १८१५ के आरम्भ में अयनांश २२।१० अर्थात् लगभग रघुनाथाचार्य के पञ्चाङ्ग तुल्य ही माना है। उस वर्ष मेषसंक्रान्ति भौमवार को ५१ घटी ३१ पल पर लगी है।

मालूम होता है तिरुवादि में ज्योतिस्तन्त्रसभा नाम की कोई सभा स्थापित हुई थी। उसके अध्यक्ष चदम्बरम् ऐयर ने सन् १८८३ ई० में (Hindu Zodiac) नामक एक छोटा सा ग्रन्थ लिखा है। उसमें उन्होंने लिखा है कि उपर्युक्त पञ्चाङ्ग कुंभकोणस्थ शंकराचार्य की आज्ञानुसार बनता है।

राजपूताने में खेतड़ी नाम की रियासत है। वहाँ के राजा अजितसिंह की आज्ञा से रूड़मल्ल नामक ज्योतिषी का बनाया हुआ अजितप्रकाश नामक शक १८१८ का पञ्चाङ्ग मैंने देखा है। मालूम होता है, यह इसी वर्ष से बनने लगा है। इसमें वर्ष के आरम्भ में अयनांश २२।११ माना है। यह नाटिकल आल्मनाक द्वारा बनाया जाता है। इसमें अक्षांश और रेखा खेतड़ी के हैं। अक्षांश २८ और कालात्मक देशान्तर उज्जयिनी से पश्चिम ३ पल दिया है।

सायन पञ्चाङ्ग

जिस दिन से दिनमान घटने या बढ़ने लगता है वस्तुतः उसी दिन से क्रमशः उत्तरायण और दक्षिणायन आरम्भ होता है और यह बात आकाश में भी प्रत्यक्ष दिखाई देने लगती है। पर ऐसा होते हुए भी हमारे देश में प्रचलित आजकल के पञ्चाङ्गों में अयनप्रवृत्ति उस दिन नहीं लिखी रहती। हमारे पञ्चाङ्गकार मकर और कर्क संक्रान्तियाँ लगभग २२ दिन बाद लिखते हैं। साधारण मनुष्य को भी शंका होगी कि वास्तविक परिस्थिति के विपरीत ऐसा क्यों किया जाता है। इस शंका की उत्पत्ति और उसके समाधानार्थ किये हुए संशोधन का फल आधुनिक सायन पञ्चाङ्ग है। इसके जन्मदाता तीन हैं। लेले, जनार्दन बालाजी मोडक और मैं। इन प्रत्येक के मन में सायन पञ्चाङ्ग की कल्पना स्वयं उद्भूत हुई। इनमें से आधुनिक सायन पञ्चाङ्ग के मुख्य उत्पादक विसाजी रघुनाथ लेले हैं। जब कि केरोपन्त छत्रे ने आबासाहब पटवर्धन की सहायता से पञ्चाङ्ग के सुधार का कार्य और उसे छपाना आरम्भ किया उस समय लेले ने यह सोचकर कि पञ्चाङ्ग में आधे की अपेक्षा पूर्ण सुधार करना उत्तम है और यह कार्य केरोपन्त द्वारा होने योग्य है, शक १७९४ से इन्दुप्रकाश नामक समाचारपत्र द्वारा केरोपन्ती पञ्चाङ्ग पर आक्षेप करना आरम्भ किया। पहिले उन्होंने गोविन्दराव सखाराम द्वारा इन्दुप्रकाश में—यदि पञ्चाङ्ग का सुधार करना है तो वर्षमान सायन लेना चाहिए इत्यादि—सूचना दिलाई। केरोपन्त ने उसका उत्तर यह दिया कि निरयन पञ्चाङ्ग को माननेवाला मैं अकेला नहीं हूँ। काशी से रामेश्वर तक उसका प्रचार है अतः आपको आक्षेपों का उत्तर अवश्य मिलेगा। यदि किसी ने नहीं दिया तो मैं स्वयं उत्तर दूँगा। इसके बाद कई वर्ष तक उन्होंने उत्तर नहीं दिया। तब भी लेले स्फुटवक्ता

अभियोगी नाम धारण कर समाचारपत्रों द्वारा बार-बार उसकी चर्चा करते ही रहे। उन्हें आशा थी कि केरोपन्त या मुँह से सायन गणना को शास्त्रीय कहने वाले बापूदेव शास्त्री में से कोई सायन पञ्चाङ्ग बनाना आरम्भ करेगा। उनकी प्रबल इच्छा थी कि वे यह श्रेय ग्रहण करें पर उसके विपरीत बापूदेव का निरयन पञ्चाङ्ग छपने लगा। सन् १८८० के लगभग ज्ञानप्रकाश पत्र द्वारा बापूदेव शास्त्री और केरोपन्त का इस विषय पर शास्त्रार्थ हुआ कि निरयन पञ्चाङ्ग में वर्षमान और अयनांश कितना लेना चाहिए। उस समय लेले ने दोनों से सायन पञ्चाङ्ग स्वीकार करने की प्रार्थना की पर वह व्यर्थ हुई। केरोपन्त ने उन्हें यह उत्तर दिया कि ऋतुओं के विषय में सायन गणना ठीक है पर मुझे सायन पञ्चाङ्ग बनाना पसन्द नहीं। केरोपन्त अपने पञ्चाङ्ग की प्रस्तावना में लिखते हैं कि मैंने पटवर्धनी पञ्चाङ्ग इस उद्देश्य से आरम्भ किया जिसमे धर्मशास्त्रोक्त कर्म ठीक समय पर हों, लेकिन लेले को दिये हुए उपर्युक्त उत्तर में उनके कुछ ऐसे उद्गार निकले हैं जिससे धर्मशास्त्र का तिरस्कार सा होता है। इस कारण लेले ने उनसे शास्त्रार्थ करना छोड़ दिया। उस समय और उसके बाद भी लेले, मोडक और मैंने थाना के अरुणोदय नामक समाचारपत्र में सायन पञ्चाङ्ग सम्बन्धी अनेक लेख लिखे। उस पत्र का आश्रय मिल जाने से शक १८०४ और १८०५ में उस पत्र के साथ सायन पञ्चाङ्ग का एक-एक पक्ष प्रकाशित हुआ। उसके बाद कृष्णराव रघुनाथ भिडे के प्रयत्न से तुकोजी राव होलकर का आश्रय प्राप्त हुआ और शक १८०६ से स्वतन्त्र सायन पञ्चाङ्ग छपने लगा। पर शक १८०८ में तुकोजी महाराज का स्वर्गवास हो जाने के कारण वह आश्रय चार ही वर्ष रहा और उस समुदाय में भिडे-जैसा प्रयत्नशील अन्य कोई व्यक्ति न होने के कारण दूसरा भी आश्रय नहीं मिला। फिर भी लेलें ने शक १८-१० से आरम्भ कर तीन चार साल प्रायः अपने व्यय से पञ्चाङ्ग छपाया। शक १८१३ से आरम्भ कर इधर चार वर्षों से मैं प्रायः स्वकीय व्यय से छपा रहा हूँ। शक १८११ के अन्त में जनार्दन बालाजी मोडक का और शक १८१७ में लेले का देहावसान हुआ। शक १८१८ से पञ्चाङ्ग के पक्ष थाना के अरुणोदय पत्र के कर्ता उसके साथ साथ छपाते हैं। इस पञ्चाङ्ग का गणित प्रथम वर्ष लेले ने किया। शक १८०५ का गणित तीनों ने मिल कर किया और उसके बाद १३ वर्षों से गणित तथा उस पञ्चाङ्ग सम्बन्धी अन्य सब कार्य मैं करता हूँ। पटवर्धनी पञ्चाङ्ग की तरह इसके गणित का पारिश्रमिक कोई नहीं देता। इतना ही नहीं, पञ्चाङ्ग की बिक्री कम होने के कारण उसे छपाने के व्यय की व्यवस्था भी हमीं को करनी पड़ती है।

द्वारका के शारदामठ के अधिपति श्री जगद्गुरु शंकराचार्य शक १८१५ में ग्वालियर आये थे। उस समय विसाजी रघुनाथ लेले ने उन्हें ग्रहलाघवीय, पटवर्धनी,

बापूदेवकृत और सायन पञ्चाङ्ग दिखाये और उनसे यह निर्णय करने की प्रार्थना की कि इनमें से कौन सा ग्राह्य है। जगद्गुरु ने साधक-बाधक सब बातों का विचार करके भारतीय सम्पूर्ण जनता को सायन पञ्चाङ्ग ग्रहण करने की आज्ञा दी। उस आज्ञापत्र को यहाँ उद्धृत करते हैं।

श्रीशारदाम्बा विजयतेतराम्



श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य — पदवाक्यप्रमाणपारावारपारीण — यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाध्यष्टांगयोगानुष्ठाननिष्ठ — तपश्चर्याचरणचक्रवर्त्यनाद्यविच्छिन्नगुरुपरम्पराप्राप्तपण्मतस्थापनाचार्यसांख्यत्रयप्रतिपदकवैदिकमार्ग — प्रवर्तकनिखिलनिगमागमसारहृदयश्रीमत्सुधन्वनःसाम्राज्यप्रतिष्ठापनाचार्य — श्रीमद्राजाधिराजगुरुभूमण्डलाचार्य — चातुर्वर्ण्यशिक्षकगोमतीतीरवासश्रीमद्द्वारकापुरवराधीश्वरपश्चिमाम्नायश्रीमच्छारदापीठाधीश्वर — श्रीमत्केशवाश्रमस्वामिदेशिकवरकरकमलसञ्जातश्रीशारदापीठाधीश्वर—श्रीमद्राजराजेश्वरशंकराश्रमस्वामिभिः शिष्यकोटिप्रविष्टान् निरवद्यवैदिकराद्धान्तश्रद्धानचेतः—साम्राज्यसमलंकृतानशेषभरतखण्डसदायतनविद्वद्वरान् प्रति प्रत्यग्ब्रह्मैक्यानुसंधाननियतनारायणस्मरणसंसूचिताशिषस्समुल्लसन्तुतराम्। जगद्गुरूणां महेश्वरापरावतारश्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादाचार्याणामादिमैकान्तिकास्थानद्वारकास्थ—श्रीमच्छारदापीठगोचरा भक्तिरनवधिकश्रेयोनिदानमिति सार्वजनीनमेतत्। साम्प्रतं भगवत्याः शारदाया लश्करनगरी ग्वालियरसन्निहितांत्रीजनपदसमावेशवासरविशेषमुपक्रम्याप्रस्थितेर्लश्करप्रस्थात् प्रज्ञापितसायननिरयनभेदभिन्नप्रक्रियातिशयसमास्पदीभूतप्रक्रमैभरबुभुत्सापरायत्तस्वान्तेन लेले इत्युपाभिधानविसाजीरघुनाथशर्मणा तन्नगरीनिकेतनेनानुपदमभ्यर्हितामभ्यर्थनामुररीकृत्य वर्णैर्विगानविशेषपरामृष्टप्रत्ययसन्धानैरिदमत्रास्माभिरवधार्यते। तथा हि—

दर्शनसामान्यस्यावान्तरमहातात्पर्यविशेषानुगृहीतविग्रहवत्तयोपक्रमपरामर्शोपसंहारानन‍ु-गम्यापि चरमामेव तयोस्तात्पर्यमहाभूमिमभ्युदितफलाभिधेयप्रसविश्रीमाचक्षाणास्सम्मीयन्ते तीर्थकाराः।

अवान्तरतात्पर्येति कर्तव्यताप्रयुक्तप्रसक्तिनिर्वहणाय आभ्यन्तरपदार्थपरिशीलनौ-पयिकप्रयत्नातिशयस्यार्थवत्त्वेऽपि तथात्वमेव तस्यावक्लृप्तमवसितं भवत्युपसर्जन-मुद्रयाकिलाशेषश्च।

महातात्पर्यकथासुधात्वविकृतवस्तुभेदप्रग्रहमेव प्रत्यस्तमितसातिशयविधाविधान-मपूर्वतरमनुभावयन्ती प्रतर्पयन्ती च निरूढार्थप्रघट्टिकामसाधरणीं तां चकास्त्येव सर्वशः सरणिरेषा सर्वास्वपि दर्शनस्थितिषु सत्येव साधारणी प्रतिष्ठापयत्यर्थतत्त्वमिति वस्तुस्थितिः।

प्रकृते हि सायननिरयनतन्त्रयोरितरेतरप्रत्यनीकभावभावितयोरप्यन्योन्यस्वरूप-विशेषसमर्पणकृते कृताकांक्षयोरस्ति हि वैषम्यं भूयस्तच्च परिगणितानेकपदार्थविभाग-भागपि ज्योतिःशास्त्रमहातात्पर्यविषयीभूतकालावयवयाथात्म्यमनुभावयमानं विहित-समस्तश्रौतस्मार्तक्रिया कलापनियतकालविभ्रमापनोदनिर्भरमनुकूलीकृताशेषशेषभूतव-स्तुव्यवस्थाकमपरामृष्टविपर्ययप्रतीतिजननमविपर्यस्तावाधितासंदिग्धदृक्प्रतीतिपर्याप्तमेवपरि-समाप्यते स्वाभावभावितमर्थत इत्यादरगोचरं भवत्येव सायनतन्त्रगतं तदेतत्।

निरयनतन्त्रायत्तं तदिदं यथाभूतक्रियाकलापकालनिर्देशनिर्वर्तनासमर्थसत्तदुप-जीवकतामेवाविवादमश्नुत इति स एष सायनपक्षः सर्वैरपि 'श्रीमता विसाजीरघुनाथशर्मणा समर्थितस्सदसद्विचारणापुरःसरमाद्रियतां महाशयैरशेषवर्णाश्रमिभिरित स्थितम्। अनादिसिद्धश्रीमज्जगद्गुरुसंस्थानाज्ञापरिपालनैकपरंपराकेषु किमधिकं ब्रह्मक्षत्रादि-शिष्यवरेष्विति शिवम्।

श्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादाचार्याणामवतारशकाब्दाः ।२३६२ फाल्गुन—कृष्णा-ष्टम्यां ८ स्थिरे संवत् १९४९ शके १८१४ (सवारी मु० धवलपुरम्) श्रीः॥

(वार अंक २२९)

लेले के नाम से भी एक आज्ञापत्र आया है। उसका सारांश यह है—"आपने सायननिरयन पञ्चाङ्गसम्बन्धी विस्तृत प्रार्थनापत्र भेजा। उसके सभी प्रमाणों का विचार करने से निश्चित हुआ कि निरयन पञ्चाङ्ग श्रुतिस्मृतिपुराणविहित कालदर्शक न होने के कारण अत्यन्त विचारास्पद हो गये हैं, और आपका सायन पञ्चाङ्ग उक्त कालदर्शक होने से प्रमाणभूत है। सभी धर्मकृत्यों में उसका ग्रहण करने की श्री

जगद्गुरुसंस्थान की ओर से अभ्यनुज्ञा है। श्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादाचार्याणामवतार-शकाब्दा: २३६२ मिति फाल्गुन शुक्ल २ स्थिरवार संवत् १९४९ मु० लश्कर ग्वालियर।" (दोनों आज्ञापत्रों की मूल प्रतियाँ लेले के पास हैं)

प्राचीन पञ्चाङ्ग और सायनपञ्चाङ्गों में अन्तर दो बातों का है। पहिली बात तो यह है कि सायन पञ्चाङ्ग का वर्षमान भिन्न रहता है और उसमें अयनांश सदा शून्य रहता है। दूसरे वह इंगलिश नाटिकल आल्मनाक द्वारा अथवा Connaissance des Temps (काल-ज्ञान) नामक फ्रेन्च पञ्चाङ्ग के आधार पर बनाया जाता है, इस कारण उसकी ग्रहस्थिति दृक्प्रत्ययद होती है। इसमें अक्षांश और रेखा उज्जयिनी के हैं।

पञ्चाङ्ग शोधन विचार

सम्प्रति इस देश के प्राय: सभी प्रान्तों में प्रचलित ग्रहलाघवीय इत्यादि पञ्चाङ्गों के ग्रहगति-स्थिति प्रभृति पदार्थ अनुभवविरुद्ध होते हैं, अत: उन पञ्चाङ्गों का संशोधन आवश्यक है। गत ३० वर्षों में जो ६ नये सूक्ष्म पञ्चांङ्ग निकले हैं, जिनका वर्णन अभी किया गया है, उनमें एक सायन और पाँच निरयन हैं। सब निरयन पञ्चाङ्गों के अयनांश समान नहीं हैं। मेरा मत यह है कि पञ्चाङ्ग निरयन नहीं बल्कि सायनपद्धति का बनना चाहिए। यहाँ इस बात का विवेचन करेंगे।

लक्षण

नाक्षत्र (निरयन) वर्ष और साम्पातिक (सायन) वर्ष की परिभाषा ऊपर लिख चुके हैं। साम्पातिक सौरवर्ष की अपेक्षा नाक्षत्र सौरवर्ष लगभग ५१ पल अधिक होता है, परन्तु हमारे सब ज्योतिष ग्रन्थों में वर्णित वर्ष साम्पातिक वर्ष से लगभग ६० पल बड़ा है। आकाश में ग्रहों की स्थिति बताने के लिए एक आरम्भस्थान मानना आवश्यक है। हमारे ज्योतिषग्रन्थों का आरम्भस्थान शक ४४४ के लगभग वसन्त-सम्पात में था। हमारे ग्रन्थों का वर्षमान सायन वर्षमान से लगभग ६० पल अधिक होने के कारण वह आरम्भस्थान वसन्तसम्पात से प्रतिवर्ष लगभग ६० विकला[1] आगे जा रहा है। सम्पात से उस आरम्भस्थान तक के अन्तर को अयनांश कहते हैं। सम्पात-गति का ज्ञान प्रथम अयनचलन द्वारा हुआ। जितना अंश अयनचलन हुआ होगा उसी

---

१. सूर्यसिद्धान्तीय वर्षमान के अनुसार सूक्ष्म विचार करने से ज्ञात होता है कि ५८ विकला आगे जा रहा है। पीछे अयनचलन में इसका विस्तृत विवेचन किया है।

को अयनचलनांश किंवा अयनांश कहा होगा। उस अयनचलन को ही बाद में सम्पात-चलन कहने लगे। सम्पात को आरम्भस्थान मानकर वहाँ से ग्रहस्थिति की गणना करने से अयनांश भी उसके भीतर आ जाते हैं, अतः वह ग्रहस्थिति सायन कही जाती है और हमारे ज्योतिषग्रन्थों में बताये हुए आरम्भस्थान से परिगणित ग्रहस्थिति में अयनांश नहीं आते, अतः उसे निरयन (अयनांश-विरहित) कहते हैं।

अयनांशविचार

ग्रहलाघवानुसार शक १८०९ में अयनांश २२।४५ आता है। ब्राह्मपक्ष के राज-मृगांक इत्यादि ग्रन्थों से और आर्यपक्षीय करणप्रकाश से २२।४४ आता है। सूर्य-सिद्धान्तानुसार २०।४९।१२ आता है। मकरन्दी और बङ्गाल के पञ्चाङ्गों में भी अनुमानतः इतना ही मानते हैं। पूर्ववर्णित तैलङ्गी सिद्धान्तपञ्चाङ्ग में सब सायन संक्रान्तियाँ लिखी रहती हैं। उनके आधार पर गणित करने से ज्ञात होता है कि उसमें भी प्रायः इतना ही माना है, परन्तु २२।४४ या २२।४५ मानने में जो अशुद्धि है, उसकी अपेक्षा इसमें अधिक है। मद्रास प्रान्त के मलयाली और तामिल भागों में ग्रहलाघव तुल्य ही अयनांश माने जाते हैं। पञ्चाङ्गकौतुकादि ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि कश्मीर में भी लगभग ग्रहलाघव तुल्य ही मानते हैं। मेषसंक्रान्ति से सौरवर्ष आरम्भ होता है, अतः जैसा कि पहले अयनचलनविचार में आया है, किसी भी ग्रन्थ से जिस समय स्पष्ट निरयन मेषसंक्रान्ति आती है, उस समय वेध द्वारा जो स्पष्ट सायन रवि आता है, उस ग्रन्थ द्वारा बनाये हुये निरयन पञ्चाङ्ग में उतना ही अयनांश मानना चाहिए। ऐसा करने से अयन और विषुव दृक्प्रत्ययद होंगे। भिन्न-भिन्न ग्रन्थों द्वारा लाये हुए शक १८०९ के स्पष्ट मेषसंक्रान्तिकाल पहले लिख चुके हैं। उन समयों में फ्रेञ्च आल्मनाक या इंगलिश नाटिकल आल्मनाक द्वारा सायन रवि लाने से ज्ञात हुआ कि उन ग्रन्थों के वर्षमान लेने हैं तो अयनांश निम्नलिखित मानने चाहिए।[1]

१. यदि रवि मध्यम लेना है तो शक १८०९ में वर्तमान सूर्यसिद्धान्तीयअयनांश २२।१८।४४ मानना चाहिए और तदनुसार औरों का अधिक मानाना चाहिए।

शक १८०९ के अयनांश—	अंश	कला	विकला
मूल सूर्यसिद्धान्त	२२	१	२७.६
वर्तमान सूर्यसिद्धान्त	२२	३	२१.३
प्रथम आर्यसिद्धान्त, करणप्रकाश	२१	५५	४७.८
द्वितीय आर्यसिद्धान्त	२१	५८	३८.२
राजमृगांक, करणकुतूहल	२१	५८	५७.८

ग्रहलाघव में वर्षमान सूर्यसिद्धान्त का रहते हुए शक १८०९ में अयनांश २२।४५ आता है, परन्तु वह—जैसा कि ऊपर लिखा है—२२।३ होना चाहिए, अर्थात् उसमें लगभग ४२ कला की अशुद्धि है। उस मान से ग्रहलाघवीय सायन रवि और नाटिकल आल्मनाक द्वारा लाये हुए सायन रवि में अन्तर पड़ता है।[1]

वापूदेव शास्त्री नाटिकल आल्मनाक से पञ्चाङ्ग बनाते हैं और वे भास्कराचार्यादि कथित पद्धति के अनुसार मेषसंक्रातिकालीन सिद्धान्तगत रवि और सायन रवि के अन्तरतुल्य अयनांश मानते हैं। तदनुसार शक १८०९ के उनके पञ्चाङ्ग का अयनांश —जिस प्रकार मैंने ऊपर रखा है—सूक्ष्म अर्थात् लगभग २२।४ है। केरोपन्त ने सम्पात से रेवती तारे तक के अन्तर को अयनांश माना है। उनके पञ्चाङ्ग में अयनांश तदनुसार शक १८०९ में १८।१८ है। सायन पञ्चाङ्ग में सम्पात को ही आरम्भस्थान मानते हैं, अतः उसमें अयनांश की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। उपर्युक्त ६ सूक्ष्म पञ्चाङ्गों में से शेष तीन में शक १८०९ में अयनांश लगभग २२।३ है और वह ठीक ही है।

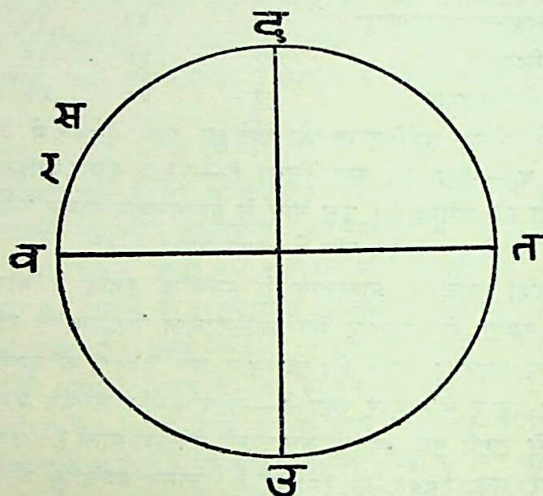
सायन और निरयन पञ्चाङ्गों का स्वरूप

अग्रिम वृत्त क्रान्तिवृत्त है। इसमें व वसन्तसम्पात में और तुलासम्पात या शारदसम्पात है। र रेवती तारे का वर्तमान (लगभग शक १८१८ का) स्थान है। यह व से लगभग १८ अंश २६ कला दूर है। र बिन्दु स्थिर है। उ और द उत्तरायण तथा दक्षिणायन

---

१. पहले अयन विचार में बता चुके हैं कि सूर्यसिद्धान्तीय वर्ष और सायन वर्ष के अन्तर तुल्य काल में सायन रवि की गति ५८.८ होती है, अतः अयनगति ५८.८ या ५८.६ विकला माननी चाहिए। यह सूक्ष्म है। ५८.७ गति मानकर उपर्युक्त शक १८०९ के अयनांश द्वारा विलोम गणित करने से सूर्यसिद्धान्त का शून्यायनांश वर्ष शक ४५७ आता है। पहले ४५० लाया गया है। उसका कारण यह है कि कालान्तर संस्कार और फलसंस्कार में समयानुसार अन्तर पड़ता रहता है।

के आरम्भविन्दु हैं। सम्पात और अयनविन्दु उलटे चलते हैं। ये चारों विन्दु प्रतिवर्ष लगभग ५० विकला पीछे खिसक जाया करते हैं। हमारे ग्रन्थों का वर्षमान यदि शुद्ध



नाक्षत्रसौरवर्ष तुल्य होता तो स्पष्ट मेषसंक्रान्ति के समय प्रतिवर्ष सूर्य र विन्दु में आ जाया करता, पर हमारा वर्षमान ८.६ पल बड़ा है, अतः वर्षारम्भस्थान र विन्दु से प्रतिवर्ष लगभग ८.५ विकला आगे बढ़ता रहता है। स बिन्दु सूर्यसिद्धान्तादि ग्रन्थों की स्पष्ट मेषसंक्रान्ति के समय के सूर्य का वर्तमान (लगभग शक १८१८ का) स्थान है। यह शक १८१८ के आरम्भ में व से २२ अंश १२ कला दूर है। यह विन्दु स्थिर नहीं है। सारांश यह कि व विन्दु र से ५०.२ विकला प्रतिवर्ष पीछे हटता रहता है और स बिन्दु ८.५ विकला आगे बढ़ता है।

सम्पात को आरम्भस्थान मानकर क्रान्तिवृत्त के जो १२ समान भाग किये जाते हैं, उन्हें सायन राशि और जो समान २७ विभाग किये जाते हैं उन्हें नक्षत्र कहते हैं।[1]

---

१. कुछ लोगों का आक्षेप है कि राशि, नक्षत्र, मास और पञ्चाङ्ग में सायन विशेषण लगाना अनुचित है। परन्तु ग्रहों (ग्रहस्थिति) में सायन विशेषण लगाया जाता है, भास्कराचार्य इत्यादिकों ने भी लगाया है। अतः सायन ग्रहस्थिति सम्बन्धी राशि-नक्षत्रों को भी सायन कहने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इसी प्रकार सायन गणना

सम्पात चल होने के कारण सायन राशि और नक्षत्र चल हैं। रेवती या किसी अन्य तारे को आरम्भ स्थान मानकर क्रान्तिवृत्त के जो १२ भाग किये जाते हैं, उन्हें स्थिर या निरयन राशि और जो २७ भाग किये जाते हैं, उन्हें स्थिर या निरयन नक्षत्र कहते हैं (ये स्थिर-चर संज्ञाएँ हमारे ग्रन्थों में हैं)। इससे सायन-निरयन पञ्चाङ्ग के लक्षण और स्वरूप का ज्ञान होगा। केरोपन्तीय पञ्चाङ्ग शुद्ध निरयन है। वापूदेव शास्त्री के पञ्चाङ्ग और हमारे ज्योतिष ग्रन्थों द्वारा वनाये हुए अन्य पञ्चाङ्गों के वर्षमान वास्तव निरयनवर्ष तुल्य नहीं हैं, परन्तु उनमें अयनांश वर्षमान के अनुसार माने गये हैं। इस कारण उनकी ग्रहस्थिति अयनांशविरहित ही रहती है, अतः उन्हें निरयन पञ्चाङ्ग और उनके राशि नक्षत्रों को निरयन राशिनक्षत्र कह सकते हैं। उनका वर्षमान वास्तव नाक्षत्रवर्ष से किञ्चित् अधिक होने के कारण उनका आरम्भ स्थान स्थिर नहीं रहता, परन्तु सब सिद्धान्तों को उसका स्थिर होना ही अभिलषित है, क्योंकि उनमें नक्षत्र-भोग स्थिर माने हैं। उनमें कभी परिवर्तन नहीं होता। अतः हमारे सिद्धान्तग्रन्था-भिमत आरम्भस्थान से जो १२ और २७ भाग माने गये हैं वे भी स्थिर राशि और नक्षत्र हैं।

प्रत्येक पद्धति से शुद्ध ग्रहस्थिति लायी जा सकती है

उपर्युक्त ६ सूक्ष्म पञ्चाङ्गों में प्राचीन पञ्चाङ्गों से एक भिन्नत्व यह है कि इनकी ग्रहगतिस्थिति दृक्प्रत्ययद होती है। पहिले इसी का विचार करेंगे। पञ्चाङ्ग चाहे जिस पद्धति का हो, वह ग्राह्य तभी होगा जबकि उसमें लिखे हुए ग्रहणकाल, दो ग्रहों के युतिकाल, ग्रहनक्षत्रयुतिकाल एवं ग्रहस्थान अर्थात् अमुक ग्रह अमुक समय नलिका द्वारा अमुक स्थान में दिखाई देगा इत्यादि पदार्थ कथित प्रकार से आकाश में दिखाई दें। इनका यथार्थ अनुभव होने के लिए पञ्चाङ्गगणित में दो बातें विलकुल शुद्ध होनी चाहिए। यदि हमें मालूम है कि अमुक मनुष्य अमुक समय पूना में था और वह अमुक गति से बम्बई की ओर जा रहा है, तो हम वता सकेंगे कि वह अमुक समय बम्बई पहुँचा रहेगा और हमारे कथन का ठीक अनुभव होगा। इसी प्रकार यदि किसी ग्रह का किसी

अथवा सायन ग्रहों के आधार पर विरचित पञ्चाङ्ग को भी लाघवार्थ सायन पञ्चाङ्ग कहना कभी भी आक्षेपार्ह नहीं हो सकता। यह एक पारिभाषिक शब्द है। सायन पञ्चाङ्ग के सम्बन्ध में इन्दौर में एक बार शास्त्रार्थ हुआ था। उसमें एक तर्क यह भी निकला था कि सायन बहुव्रीहि समास अर्थात् गौण है अतः सायन पञ्चाङ्ग भी गौण है। सायन पञ्चाङ्ग शब्द को अशुद्ध कहना भी वैसा ही है।

समय का निश्चित स्थान और उसकी वास्तविक गति मालूम हो तो हम ठीक-ठीक बता सकेंगे कि वह अमुक समय अमुक स्थान में रहेगा, उसके प्रथम स्थान की गणना चाहे जहाँ से की गयी हो। पिछले वृत्त में मान लीजिये व विन्दु से र विन्दु १८ अंश पर, स विन्दु २२ अंश पर और द विन्दु ९० अंश पर है। सूर्य किसी दिन प्रातःकाल व विन्दु में था। वह प्रतिदिन १ अंश की गति से द विन्दु की ओर जा रहा है, तो वह व से चलकर ९० दिन में और र से ७२ दिन में तथा स से ६८ दिन में द विन्दु पर पहुँचेगा। इसमें किसी प्रकार की अशुद्धि नहीं हो सकती। व को आरम्भस्थान और जिस समय सूर्य व विन्दु में आये उसे वर्षारम्भ-काल मानें तो कहना पड़ेगा कि वह वर्षारम्भ से ९० दिनों में द स्थान पर पहुँचेगा । र को आरम्भस्थान मानें तो वर्षारम्भ से ७२ दिनों में और स को आरम्भस्थान मानने से ६८ दिनों में वह द पर पहुँचेगा। यद्यपि यहाँ आरम्भस्थान और उनमें आने के काल भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं, तथापि द विन्दु की भाँति सूर्य किसी भी अभीष्ट स्थान में तीनों पद्धतियों से एक ही समय पहुँचेगा। यहाँ व विन्दु सायन मान का आरम्भस्थान है। र केरोपन्तीय शुद्ध निरयन और स विन्दु परम्परागत निरयन मान का आरम्भस्थान है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पञ्चाङ्ग चाहे जिस पद्धति का हो, जिस ग्रन्थ से वह बनाया जाता है, उसकी ग्रहगति और आरम्भकालीन ग्रहस्थिति शुद्ध रहने पर उस पञ्चाङ्ग द्वारा सर्वदा दृक्प्रत्ययद स्थिति आयेगी । आरम्भस्थान में परिवर्तन न करते हुए, हमारे ग्रन्थों की ग्रहगतिस्थितियाँ शुद्ध नहीं हैं। उन्हें शुद्ध करने के लिए हमारे ज्योतिषी तैयार होंगे और हैं। उन्हें कम से कम इतनी ग्रन्थशुद्धि अवश्य करनी होगी, इसे प्रत्येक मनुष्य सम्भवतः स्वीकार करेगा। ग्रहण, ग्रहयुति, ग्रहास्तोदय आकाशस्थ दो पदार्थों के अन्तर पर अवलम्बित हैं, अतः आरम्भस्थान कोई हो, यदि ग्रहगति-स्थिति शुद्ध है, तो ये पदार्थ अवश्य दृक्प्रत्ययद होंगे। बहुत से लोग समझते हैं और इस विषय का यथार्थ ज्ञान होने के पूर्व मैं भी समझता था कि केरोपन्ती पञ्चाङ्ग का ग्रहण आकाश में यथोक्त समय पर दिखाई देता है, अतः वह शुद्ध है। उस पञ्चाङ्ग का ग्राह्यत्व सिद्ध करने के लिए यही मुख्य प्रमाण आगे रखा जाता है (उस पञ्चाङ्ग की प्रस्तावना देखिए)। अज्ञों को बहकाने का यह अच्छा साधन है। सायन पञ्चाङ्गकार इस बात को विशेष महत्व नहीं देते। उनका कथन है, जैसा कि शक १८०७ के सायन-पञ्चाङ्ग की भूमिका में लिखा है कि निरयनपद्धति अशास्त्रीय और सायनपद्धति शास्त्र-विहित है, अतः सायन ही पञ्चाङ्ग मानना चाहिए। सूक्ष्म ग्रहस्थिति लाने का साधन न हो तो कम से कम ग्रहलाघव से ही सायन पञ्चाङ्ग बनाना चाहिए। लोगों का एक कथन यह है कि केरोपन्ती पञ्चाङ्ग से नक्षत्रों की ठीक संगति लगती है पर यह सर्वथा सत्य नहीं

है। सम्प्रति प्रचलित पञ्चाङ्गों के आरम्भ स्थान को भी स्थिर मानकर नक्षत्रों की सङ्गति लगाने की व्यवस्था की जा सकती है। इसका विशेष विवेचन आगे करेंगे। यहाँ इतना ही कहना है कि आरम्भस्थान चाहे जो हो, ग्रहगति यदि शुद्ध होगी, तो ग्रहस्थिति भी दृक्प्रत्ययद् होगी। प्राचीन पञ्चाङ्गों से नवीन पञ्चाङ्गों में जो ग्रह-गतिस्थिति-शुद्धता नामक भिन्नत्व है वह सभी के मत में ग्राह्य है।

ग्रहलाघवीय इत्यादि पञ्चाङ्गों की वास्तविक अशुद्धि

हमारे देश में प्रचलित ग्रहलाघवीय इत्यादि पञ्चाङ्गों के तिथ्यादि और ग्रहों में वास्तविक अशुद्धि कितनी रहती है, यह जानना आवश्यक है। यहाँ उसी का विवेचन करेंगे। उपर्युक्त केरोपन्ती इत्यादि पाँच सूक्ष्म निरयन पञ्चाङ्ग और सायन पञ्चाङ्ग सम्प्रति इंगलिश नाटिकल आल्मनाक या फ्रेंच कानेडिटेम (कालज्ञान) से बनाये जाते हैं। परन्तु उनमें से प्रत्येक का आरम्भस्थान एक दूसरे से और ग्रहलाघव के आरम्भस्थान से भिन्न है, अतः ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग की वास्तविक त्रुटि का ज्ञान केवल उनसे तुलना करने से नहीं होगा. यह वात उपर्युक्त वृत्त-सम्वन्धी वर्णन से स्पष्ट हो जाती है। शक १८०८ के सायनपञ्चाङ्ग में ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग भी जोड़ दिया है और उसी में सूक्ष्म निरयन पञ्चाङ्ग नामक एक तीसरा पञ्चाङ्ग भी दिया है। उनमें से ग्रहलाघवीय और सूक्ष्म निरयन पञ्चाङ्गों का फाल्गुन शुक्ल पक्ष इस पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट में उद्धृत किया है। सूक्ष्म निरयन पञ्चाङ्ग में अयनांश ग्रहलाघव इतना ही (शक १८०८ में २२।४४) लिया है। ग्रहलाघव में वर्षमान सूर्यसिद्धान्त का है। उस वर्षमान के अनुकूल—जैसा कि पहले वता चुके हैं—शक १८०८ में अयनांश २२।२ माना होता तो ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग की वास्तविक त्रुटि का ठीक-ठीक पता लगता., तथापि परिशिष्ट में दिये हुए पञ्चाङ्ग से भी प्रायः वास्तविक अशुद्धि का ठीक ज्ञान किया जा सकता है।

तिथि की तुलना करने से ज्ञात हुआ कि ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग में फाल्गुन शुक्ल ९ शुक्रवार को नवमी तिथि सूक्ष्म निरयन पञ्चाङ्ग की नवमी से १३ घटी ४५ पल कम है। कृष्ण पक्ष यद्यपि परिशिष्ट में नहीं दिया है तो भी उसमें षष्ठी १३ घटी ५९ पल अधिक है। ग्रहलाघवीय पंचाङ्ग में शुक्ल नवमी को मृगशिरा नक्षत्र १५ घटी २४ पल कम है और प्रीति योग १७ घटी २३ पल कम है। तिथि, नक्षत्र और योग के घटी-पलों में प्रायः इससे अधिक अशुद्धि नहीं होती, क्योंकि शुक्ल या कृष्ण अष्टमी के लगभग ही प्रायः अधिक अन्तर पड़ता है। अमावास्या और पूर्णिमा के लगभग वहुत कम अशुद्धि रहती है। इसका कारण यह है कि हमारे ग्रन्थों के पर्वान्तकालीन

चन्द्रमा का फल-संस्कार अधिक अशुद्ध नहीं है। बीच में हमारा चन्द्रमा कभी २ अंश और कभी ३ अंश तक अशुद्ध रहता है। इसी कारण बीच में तिथि, नक्षत्र और योग के घटी-पलों में इतना अन्तर पड़ता है। हमारे ग्रन्थों में रवि परमफल लगभग २ अंश १० कला है। यूरोपियन कोष्ठकों में सम्प्रति १।५५ है । इस कारण रवि कभी शुद्ध आता है और कभी १५ कला पर्यन्त अशुद्ध रहता है। हमारे ग्रन्थानुसार तिथि का लघुतम मान लगभग ५४ घटी और महत्तम मान लगभग ६६ घटी है, परन्तु नाटिकल आल्मनाक के अनुसार ये मान क्रमशः ५० और ६६ घटी हैं (चन्द्रमा के सान्तर होने के कारण ही इतना अन्तर पड़ता है)। इस कारण नाटिकल आल्मनाक द्वारा बनाये हुए पञ्चाङ्गों में तिथि-नक्षत्र के क्षय और वृद्धियाँ कुछ अधिक होती हैं। शक १८०९ के सायन और केरोपन्ती दोनों पञ्चाङ्गों में तिथिक्षय सब १६ और तिथि-वृद्धियाँ १० थीं। ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग में क्षय १३ और वृद्धियाँ ७ थीं। शक १८०८ के सूक्ष्म निरयन पञ्चाङ्ग में नक्षत्रों के क्षय १० तथा वृद्धियाँ १३ थीं और ग्रहलाघवींय पञ्चाङ्ग में क्षय ९ तथा वृद्धियाँ १२ थीं। , ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग के परिशिष्ट में दिये हुए फाल्गुन शुक्ल में मङ्गल में लगभग १ अंश १ कला, गुरु में ३।२६, शुक्र में १।६, शनि में २।४० और राहु में ४१ कला अशुद्धि है। कृष्ण पक्ष के बुध में ३।३१ अशुद्धि है। कभी-कभी वह ९ अंश तक पायी गयी है। इस अन्तर का मुख्य कारण यह है कि दोनोंके मध्यम ग्रहों में अन्तर पड़ता है। मन्दफल और शीघ्रफल के भिन्नत्व के कारण भी कुछ अन्तर पड़ता है। मन्दफल सम्बन्धी अन्तर का विवेचन पहले किया जा चुका है।

जिन विषयों में सायनपञ्चाङ्ग और ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग का अन्तर आकाश में ग्रहण दिखाई देता है, उनमें से ।ुति, अस्त, उदय, इत्यादि कुछ बातें परिशिष्ट में दिये हुए पक्ष के शास्त्रार्थ सम्बन्धी कोष्ठक में लिखी हैं। प्रतिवर्ष के सायनपञ्चाङ्ग में ऐसी घटनाओं की एक सूची दी रहती है। बहुतों ने इस बात का अनुभव किया है कि इस विषय में सायनपञ्चाङ्ग का गणित आकाश से ठीक मिलता है और ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग का अशुद्ध ठहरता है। शक १८०८ का सूचीपत्र परिशिष्ट में है। उसका अनुभव हुआ है। शक १८०६ के ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग में चैत्र में चन्द्रग्रहण नहीं था पर सायन और केरोपन्ती इत्यादि सूक्ष्म निरयन पञ्चाङ्गों में वह ग्रस्तोदित था। शक १८१४ के ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्गानुसार वैशाख में चन्द्रग्रहण का सूर्योदय के पूर्व ही मोक्ष हो जाता था, पर सायन इत्यादि सूक्ष्म पञ्चाङ्गों में वह ग्रस्तास्त था। इन दोनों प्रसङ्गों में सायन इत्यादि सूक्ष्म पञ्चाङ्ग ही सत्य सिद्ध हुए।

दृक्प्रत्यय सम्बन्धी जो अशुद्धियाँ ग्रहलाघव में हैं वे ही अन्य प्रान्तों में प्रचलित मकरन्द इत्यादि ग्रन्थों द्वारा निर्मित पञ्चाङ्गों में भी हैं।

सारांश यह कि इस देश में सर्वत्र प्रचलित सांप्रतिक पञ्चाङ्ग आकाश से नहीं मिलते, अत: उनकी ग्रहगतिस्थितियाँ शुद्ध की जानी चाहिए, अर्थात् पञ्चाङ्ग बनाने के लिए नवीन ग्रन्थों का निर्माण होना चाहिए । पूर्वलिखित ज्योतिष ग्रन्थों का इतिहास स्पष्ट बता रहा है कि हमारे ज्योतिषी गणितानुसार प्रत्यक्ष अनुभव होने के लिए सदा प्राचीन ग्रन्थों में बीजसंस्कार देकर नवीन ग्रन्थ बनाते रहे हैं। हमें भी इस समय ऐसा ही करना चाहिए। यह बात प्राचीन ज्योतिषियों को भी मान्य है।

सायन और निरयन मानों का ग्राह्याग्राह्यत्व

प्राचीन और नवीन पञ्चाङ्गों में दूसरा भिन्नत्व वर्षमान और अयनांश का है। अब यहाँ इसी का विचार करना है। इस विषय में दो पक्ष हैं। सायन पञ्चाङ्ग एक पक्ष में तथा प्राचीन निरयन पञ्चाङ्ग और केरोपन्ती इत्यादि नवीन सूक्ष्म निरयन पञ्चाङ्ग दूसरे पक्ष में समाविष्ट होते हैं। अब यहाँ विचार यह करना है कि इन सायन और निरयन दो मानों में से ग्राह्य कौन-सा है । यह विवेचन तार्किक, ऐतिहासिक, धर्मशास्त्रीय और व्यावहारिक, इन चार दृष्टियों से किया जा सकता है।

विषयप्रवेश

विषय का साधारण ज्ञान होने के लिए यहाँ आरम्भ में दो एक बातें बतानी आवश्यक हैं। जिस दिन दिवस और रात्रि के मान समान रहते हैं अर्थात् सूर्य सम्पात में अर्थात् पूर्वोक्त वृत्त के व या त बिन्दु में आता है उस दिन को विषुवदिन कहते हैं और जब वह सम्पात से तीन राशि पर अर्थात् उ और द स्थानों में जाता है उस समय क्रमशः उत्तरायण और दक्षिणायन लगते हैं। इन चारों बिन्दुओं में समान अर्थात् सम्पात-तुल्य गति है। सारांश यह कि विषुव, अयन और दिनमान सायन रवि पर अवलम्बित हैं। सूर्य वसन्तसम्पात में आने के बाद जब तक तुलासम्पात में जाता है, उत्तर गोलार्ध में रहता है। उस समय हमारे देश में दिनमान ३० घटी से अधिक रहता है और गरमी अर्थात् वसन्त का कुछ भाग, ग्रीष्म, वर्षा और शरद् का कुछ भाग, ये ऋतुएँ रहती हैं। विशिष्ट स्थानों में कुछ अन्य कारणों से ऋतुओं का आद्यन्त कुछ आगे पीछे भी हो जाता है, यह दूसरी बात है, परन्तु सामान्य नियम उपर्युक्त ही है, अर्थात् ऋतुएँ भी सूर्य की सायन स्थिति पर ही अवलम्बित हैं । सूर्य जब वसन्तसम्पात में रहेगा उस समय हमारे देश में वसन्त ऋतु रहेगी और दक्षिणायन के आरम्भ में वर्षा का आरम्भ हुआ रहेगा, उस समय सूर्य चाहे जिस तारात्मक नक्षत्र में हो।

शक ४४४ के लगभग निरयन अश्विनी और मेष का आरम्भस्थान वसन्तसम्पात

में था। उसके बाद से वह क्रमशः पूर्व की ओर बढ़ता चला जा रहा है। सम्प्रति प्रचलित निरयन मान का अश्विन्यारम्भ या मेषारम्भस्थान सम्पात से लगभग २२ अंश पूर्व है और केरोपन्तीय आरम्भस्थान १८ अंश पूर्व है। अर्वाचीन अन्वेषण से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि सम्पात का नक्षत्रमण्डल में पूर्ण भ्रमण होता है, अतः निरयन मेषारम्भ कुछ दिनों में बढ़ते-बढ़ते सम्पात से ३ राशि दूर दक्षिणायनारम्भ विन्दु द में पहुँच जायगा। ऊपर बता चुके हैं कि वहाँ सूर्य के रहने पर वर्षा ऋतु रहेगी, यह निश्चित सिद्धान्त है और मेषारम्भ स्थान भी वहाँ पहुँच गया है, इसलिए मेष-संक्रान्ति भी उसी समय होगी। जिस चान्द्रमास में मेषसंक्रान्ति होती है, उसे चैत्र कहते हैं, यह हमारी निश्चित परिभाषा है, अतः इस परिभाषा के अनुसार उस चान्द्रमास का नाम चैत्र होगा। इससे सिद्ध होता है कि निरयन मान से कुछ दिनों में चैत्र में वर्षा ऋतु आ जायगी। सम्प्रति निरयन मेष, कर्क, तुला, और मकर संक्रान्तियों के लगभग २२ दिन पूर्व अर्थात् अयनांशतुल्य दिन पूर्व विषुव-अयन होते हैं। यह बात आकाश में प्रत्यक्ष दिखाई देती है और सिद्धान्तग्रन्थों में इसका वर्णन भी है। भास्कराचार्य ने लिखा है—

क्रियतुलाधरसंक्रमपूर्वतोऽयनलवोत्थदिनैर्विषुवद्दिनम्।
मकरकर्कटसंक्रमतोऽयनं......... ॥४५॥

सिद्धान्तशिरोमणि, स्पष्टाधिकार

पर जिनका अध्ययन ग्रहलाघव तक ही है, ऐसे ज्योतिषी यह बात नहीं जानते। इसे समझने वाले अन्य लोग भी बहुत थोड़े हैं। इस प्रान्त के सभी ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्गों में मकर-कर्क संक्रान्ति के दिन ही उत्तरायण-दक्षिणायन लिखा रहता है, २२ दिन पूर्व नहीं लिखा रहता। अत्यन्त आश्चर्य यह है कि सम्प्रति केरोपन्ती पञ्चाङ्ग में भी उस पञ्चाङ्ग की मकर-कर्क संक्रान्ति के दिन ही अर्थात् आकाश में प्रत्यक्ष दिखाई देने के १८ दिन बाद उत्तर-दक्षिण अयन लिखा रहता है। और बापूदेव तो अयन लिखते ही नहीं। यह भी कम आश्चर्य नहीं है। चण्डूपञ्चाङ्ग में वास्तविक अयन लिखे रहते हैं। यह बात औरों के लिए लज्जास्पद है। उसमें १२ सायन संक्रान्तियाँ भी लिखी रहती हैं। शक १८०६ का एक चण्डूपञ्चाङ्ग मेरे पास है। उसमें निरयन संक्रान्तियाँ 'मेषेर्कः', 'वृषेर्कः' इस प्रकार और सायन संक्रान्तियाँ 'मेषेभानुः' इस प्रकार लिखी हैं। मद्रासी सिद्धान्ती-पञ्चाङ्ग में 'मेषायनम्', 'वृषायनम्' इस रीति से सब सायन संक्रान्तियाँ लिखी हैं। शक १७५८ का बीजापुर का एक हस्तलिखित पञ्चाङ्ग मैंने देखा, उसमें १२ सायन संक्रान्तियाँ 'मेषायन' इस ढंग से लिखी थीं।

सायनपद्धति

सायनपञ्चाङ्गकार (लेले, मोडक और मैं) सायनपञ्चाङ्ग जिस पद्धति से बनाते हैं वह यह है—सम्पात से आरम्भ कर क्रान्तिवृत्त के तुल्य २७ भाग करके उन्हें अश्विन्यादि नक्षत्र और तुल्य १२ भागों को मेषादि राशि कहा है, अर्थात् अश्विनी नक्षत्र और मेष राशि को सम्पात से आरम्भ किया है, वहाँ तारात्मक नक्षत्र चाहे जो हो। इसी प्रकार सायन राशियों में सूर्य के प्रवेश को संक्रान्ति कहा है और उसी के अनुसार चान्द्रमासों के नाम रखे हैं। जिस चान्द्रमास में सायन मेषसंक्रान्ति होती है अर्थात् वसन्तसम्पात में सूर्य जाता है, उसे चैत्र कहा है। इसी प्रकार वैशाखादिकों की भी व्यवस्था की है। इस पद्धति से चैत्र में सर्वदा वसन्त रहेगा, आर्द्रा नक्षत्र में वर्षा आरम्भ होगी और इसी प्रकार सब ऋतुएँ नियमित मासों में होंगी।

तार्किक दृष्टया विवेचन

सायन और निरयन मानों के ग्राह्याग्राह्यत्व का विचार पहिले तार्किक दृष्टि से करेंगे। जैसे दिन की गणना का प्राकृतिक साधन सूर्योदय और मासगणना का प्राकृतिक साधन चन्द्रमा का पूर्ण या अदृश्य होना है, उसी प्रकार वर्षगणना का स्वाभाविक साधन ऋतुओं की एक परिक्रमा है। ऋतुएँ उत्पन्न न हुई होतीं तो वर्ष एक कालमान न बना होता, पर ऋतुओं की उत्पत्ति का कारण सूर्य है, अतः वर्ष सौर मानना चाहिए और चूंकि ऋतुएँ सायन रवि के अनुसार होती हैं अतः वर्ष भी सायन सौरमान का मानना चाहिए। दूसरे यह कि १२ चान्द्रमासों में ऋतुओं का एक पूर्ण पर्यय नहीं होता, इसलिए बीच में अधिमास डालना पड़ता है। यदि अधिमास का प्रक्षेपण न किया जाय तो जैसे मुसलमानों का मुहर्रम ३३ वर्षों में सब ऋतुओं में घूम आता है, उसी प्रकार ३३ वर्षों में चैत्र में क्रमशः सब ऋतुएँ आ जाया करेंगी। अतः सिद्ध है कि अधिमास मानने का केवल यही एक उद्देश्य है कि किसी भी मास में सर्वदा एक ही ऋतु रहे। चूंकि ऋतुएँ सायन मान पर अवलम्बित हैं, अतः अधिकमास का अवलम्बन करना तत्त्वतः सायन मान स्वीकार करने के समान ही है। जैसे अधिमास न मानने से ३३ वर्षों में प्रत्येक मास में सभी ऋतुएँ क्रमशः घूम जाती हैं, उसी प्रकार नाक्षत्र (निरयण) सौरवर्ष मानने से लगभग २६००० वर्षों में एक ही मास में क्रमशः सब ऋतुएँ आ जायेंगी, अर्थात् चैत्र में आज यदि वसन्त है तो सवा चार सहस्र वर्षों में ग्रीष्म, साढ़े आठ सहस्र वर्षों में वर्षा और १७ सहस्र वर्षों के बाद हेमन्त ऋतु होने लगेगी। ३३ वर्षों में होनेवाले ऋतु-मास-विपर्यय को दूर करने के लिए यदि हम अधिक मास मानते हैं, तो बहुत दिनों में

ही क्यों न आये ! परन्तु जिसका आना निश्चित है उस ऋतुमास-विपर्यय को हटाने के लिए सायन सौरवर्ष स्वीकार करना भी अत्यन्त आवश्यक है।

ऐतिहासिक विवेचन

सायन मान का ग्राहत्व सिद्ध करने के लिए उपर्युक्त दो ही प्रमाण पर्याप्त हैं तथापि यहाँ परम्परा का भी विचार करेंगे। सायन वर्षमान नैसर्गिक है अतः सृष्टि उत्पन्न होने के बाद जब से वर्ष शब्द का व्यवहार होने लगा है तभी से उसका प्रचार होना चाहिए और वस्तुतः वह तभी से प्रचलित है। प्रायः वेदकाल में उसी का प्रचार था। प्रथम भाग के उपसंहार में इसका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया है। मधु, माधव इत्यादि संज्ञाओं का प्रचार होने के पहिले अधिकमास का प्रक्षेपण कर ऋतुओं के पर्यय द्वारा वर्ष मानते रहे होंगे अर्थात् उस समय कुछ स्थूल सायन ही वर्ष प्रचलित रहा होगा। उसके बाद मध्वादि नामों का प्रचार हुआ। उस समय सायनवर्ष के मान में बहुत सूक्ष्मत्व आ गया था। उसके सैकड़ों वर्ष बाद चैत्रादि नाम प्रचलित हुए, तब तक सायन मान का ही प्रचार था शकपूर्व २००० वर्ष के लगभग चैत्रादि संज्ञाएँ प्रचलित हुई और निरयन मान की नींव पड़ी. वेदाङ्गज्योतिष में धनिष्ठारम्भ से वर्षारम्भ माना है। यह निरयन मान है। परन्तु वेदाङ्गज्योतिष में उत्तरायणारम्भ से भी वर्षारम्भ माना है। सूर्य के पास के नक्षत्र दिखाई नहीं देते, इससे धनिष्ठा के आरम्भ में सूर्य के आने के काल को जानने की अपेक्षा उत्तरायणारम्भ काल जानना एक अज्ञ के लिए भी सुगम होता है, अतः वस्तुतः अयनारम्भ से ही वर्ष का आरम्भ मानते रहे होंगे। पहले बता चुके हैं कि वेदाङ्गज्योतिष की पद्धति बड़ी अशुद्ध है, अतः उस समय ९५ वर्षों में ३८ के स्थान में ३५ अधिमास मानकर उत्तरायणारम्भ में वर्षारम्भ मानने की पद्धति का प्रचलित रहना ही अधिक सम्भवनीय ज्ञात होता है। सारांश यह कि उस समय सायन वर्ष ही प्रचलित था। वेदाङ्गकालीन अधिकांश ग्रन्थों में वसन्त के आरम्भ में वर्षारम्भ का वर्णन है अतः उस समय प्रत्यक्षतः अथवा कम से कम हेतुतः सायन वर्ष ही ग्राह्य माना जाता था।

अब ज्योतिषसिद्धान्तकालीन पद्धति का विचार करेंगे। सूर्यसिद्धान्त के मानाध्याय में लिखा है—

> भचक्रनाभौ विषुवद्द्वितयं समसूत्रगम्।
> अयनद्वितयञ्चैव चतस्रः प्रथितास्तु ताः ॥७॥
> तदन्तरेषु संक्रान्तिद्वितयं द्वितयं पुनः।
> नैरन्तर्यात्तु संक्रान्तेर्ज्ञेयं विष्णुपदीद्वयम् ॥८॥

भानोर्मकरसंक्रान्तेः षण्मासा उत्तरायणम् ।
कर्कादेस्तु तथैव स्यात् षण्मासा दक्षिणायनम् ॥९॥ मानाध्याय

इस श्लोक में कथित कर्क-मकर इत्यादि संक्रान्तियाँ सायन ही होनी चाहिए, अन्यथा 'सूर्य की मकरसंक्रान्ति से उत्तरायण होता है' वाक्य की संगति नहीं लगेगी। यहाँ शंका हो सकती है कि ये वाक्य उस समय के हैं जब कि अयनचलन का ज्ञान नहीं था, परन्तु उपर्युक्त श्लोक में यह अर्थ गर्भित है कि दो अयनों का वर्ष होता है और इसी के आगे का श्लोक है—

द्विराशिनाथा ऋतवस्ततोऽपि शिशिरादयः ।
मेषादयो द्वादशैते मासास्तैरेव वत्सरः ॥१०॥

इसमें बताया है कि उस (मकर) से आरम्भ कर दो-दो राशियों की शिशिरादि ऋतुएँ-होती हैं। ये ही मेषादि १२ मास हैं और इन्हीं से वर्ष बनता है, अर्थात् यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि १२ मासों का एक ऋतुपर्यय होता है और वही वर्ष है। अतः उपर्युक्त शंका को स्वीकार कर लेने पर भी यह बात सिद्ध हो जाती है कि सूर्यसिद्धान्त को तत्त्वतः सायनमान ही अभीष्ट है। हम ब्रह्मगुप्त के वर्णन में सिद्ध कर चुके हैं कि वे विषुवदिन से सौरवर्ष का आरम्भ मानते थे अर्थात् उन्हें भी सायन ही वर्ष मान्य था। दूसरी बात यह है कि हमारे ज्योतिषग्रन्थों का वर्षमान वास्तविक नाक्षत्र-सौर वर्ष के मान से लगभग ८ पल अधिक है, अतः निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह नाक्षत्रसौर ही है। सूर्य जिस नक्षत्र में रहता है वह नक्षत्र दिखाई नहीं देता, अतः नाक्षत्र सौरवर्ष का मान निश्चित करने की अपेक्षा सायन सौरवर्ष के मान निश्चित करना सरल है। ब्रह्मगुप्त ने विषुवदिन के आधार पर वर्षमान-निश्चित किया है अतः उनसे पहिले के ज्योतिषियों ने भी उसी प्रकार उसी दृष्टि से वर्षमान का निश्चय किया होगा, इसकी अधिक सम्भावना है। इससे ज्ञात होता है कि उन्हें वस्तुतः सायन वर्षमान ही अभीष्ट था। यद्यपि वेदकाल के अन्त से सम्पातगति का ज्ञान होने के काल पर्यन्त चैत्रादि नामों का प्रचार होने के कारण तथा प्राचीनों द्वारा स्वीकृत वर्षमान सायन वर्ष की अपेक्षा निरयन वर्ष के अधिक निकट होने के कारण परिणाम निरयनवर्ष अथवा लगभग उसके तुल्य वर्षमान मानने सरीखा हुआ, तथापि उनका उद्देश्य सायन वर्ष मानने का ही था, इसमें कोई सन्देह नहीं है और ऐसा ही होना स्वाभाविक भी है। चैत्र में वर्षाऋतु रहे, इसे भला कौन स्वीकार करेगा।

शककाल की सातवीं शताब्दी के लगभग हमारे देश में अयनचलन का सूक्ष्म ज्ञान हुआ। उसके बाद हमारे यहाँ भास्कराचार्य सदृश अच्छे अच्छे ज्योतिषी हुए जो निरयन

मान के परिणाम को समझ सकते थे, पर उन्होंने भी उसका परित्याग नहीं किया। मालूम होता है, परम्परागत पद्धति का विरोध एवं व्यवहार में अव्यवस्था होने के भय मात्र से उन्हें वैसा करने का साहस नहीं हुआ। उनमें से अधिकांश ज्योतिषी सम्पात का पूर्ण भ्रमण नहीं बल्कि आन्दोलन मानते थे और उस समय ऋतुओं में भी अन्तर नहीं पड़ा था। कदाचित् इसी कारण उन्होंने सायन मान स्वीकार न किया हो, फिर भी अयन और विषुव का वास्तविक काल उन्होंने लिख ही दिया है।

यूरोपियन ज्योतिष के विज्ञ सम्प्रति यह जानते हैं कि सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा होती है, अतः देखना है, हमारे देश के आधुनिक ज्योतिषियों का इस विषय में क्या मत है। इस समय के प्रसिद्ध ज्योतिषी बापूदेव शास्त्री का कथन है कि वस्तुतः सायन गणना ही ठीक है, परतु इस देश में सर्वत्र निरयन गणना का प्रचार होने के कारण मैं भी निरयनपञ्चाङ्ग ही बनाता हूँ। उनका एक यह भी उद्गार प्रकट हुआ है कि सात आठ सौ वर्ष के बाद के ज्योतिषी इसका अधिक विचार करेंगे। इस समय के दूसरे प्रख्यात ज्योतिषी केरोपन्त से सन् १८८३ ई० में थाना के अरुणोदय नामक समाचारपत्र द्वारा इस विषय पर सायनवादियों का शास्त्रार्थ हुआ था। उस प्रसङ्ग में ४ नवम्बर सन् १८८३ के अंक में केरोपन्त ने लिखा था—"मेरा स्वकीय मत तो यह है कि गतिविशिष्ट पदार्थों की गणना किसी स्थिर स्थान से करना प्रशस्त है। चल स्थान से चल पदार्थ की गति का मापन करना अप्रशस्त है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, सम्पात इत्यादि पदार्थ चल हैं। उनकी गति स्थिर पदार्थ तारागण से ही नापनी चाहिए। सौकर्य के लिए अथवा किसी विशिष्ट स्थान में कोई अड़चन दिखाई देने पर इस पद्धति को छोड़ गतिमान् स्थान से भी गतिमान् पदार्थ की गति नापी जा सकती है। जैसे स्थिर नक्षत्रों के रहते हुए भी. . . .दिन का आरम्भ करने के लिए मध्यम मान से चलनेवाले एक सूर्य की कल्पना करनी पड़ती है, परन्तु सर्वत्र ऐसा करना ठीक नहीं है। ऋतुएँ सायन सम्पात पर अवलम्बित हैं, अतः मुझे भी सम्पात के सम्बन्ध से ही वर्षारम्भ मानना अच्छा मालूम होता है, परन्तु 'यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयं नो करणीयम्' वाक्य के मान्यत्व में अभी न्यूनता नहीं पायी जा रही है। इन मानों में से कौन सा शुद्ध है, कौन सुगम है, कौन दुर्गम है, कौन शास्त्रसम्मत है, कौन शास्त्रविरुद्ध है—इन बातों का किसने कब विचार किया है? जिस समय जैसा प्रसङ्ग आता है हम तदनुसार तत्तत् मानों को स्वीकार करते हैं।" यहाँ केरोपन्त का यह कथन—ऋतुएँ सम्पात पर अर्थात् सूर्य की सायन स्थिति पर अवलम्बित है, परन्तु सायन वर्ष मानने में 'यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं' एक ही अड़चन है—बड़े महत्व का है।

सन् १८९३ में पूना के केसरी नामक पत्र के दो अंकों में सायन-निरयनवाद

सम्बन्धी एक लेख छपा था। उसका कुछ अंश यहाँ उद्धृत करता हूँ। केसरीकार लोकमान्य तिलक लिखते हैं—"ऋतुएँ सम्पातविन्दु पर अवलम्बित हैं. . . .सूर्य के अश्विनी नक्षत्र में रहने पर वसन्त का आरम्भ मानने से उस समय. . . .चैत्रमास रहना चाहिए। . . . .दो सहस्र वर्षों में वह (वसन्तारम्भ) फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा को और चार सहस्र वर्षों में माघ शुक्ल प्रतिपदा को होने लगेगा।

वर्तमान निरयन पद्धति को मानते रहने से कुछ दिनों में चैत्र में वर्षा ऋतु आ जायगी, यह बात गणित से सिद्ध हो चुकी है। इसमें सन्देह का स्थान नहीं है तथापि जिन्हें गणित के प्रपञ्च में पड़ने का अवकाश नहीं है अथवा जिन्हें इसका विशेष ज्ञान नहीं है, उन लोगों को इस बात का विश्वास दिलाने के लिए मैंने यहाँ केरोपन्त और तिलक प्रभृति गणित-विशेषज्ञों के मत प्रदर्शित किये। केरोपन्त और तिलक का मत यह है कि पञ्चाङ्ग की पद्धति निरयन ही रहनी चाहिए, परन्तु उसमें कुछ संशोधन आवश्यक है। अतः ऋतुसम्बंधी सायनपञ्चाङ्गकारों के कथन के विषय में उनकी मान्यता विशेष महत्त्व का पदार्थ है। केरोपन्त और तिलक ने निरयन पद्धति को ही स्थिर रखने का एक मार्ग बताया है, पर वह ग्राह्य नहीं है। उसका विवेचन आगे करेंगे।

वर्षा का प्रथम नक्षत्र आर्द्रा

कुछ लोग समझते हैं कि वर्ष का आरम्भ सदा मृगशिरा नक्षत्र से ही होता रहेगा, अश्विनी से होना असम्भव है, परन्तु आज से १४०० वर्ष पूर्व वर्षा का आरम्भ-नक्षत्र मृग नहीं था। हमारे ग्रन्थों में आर्द्रा को वर्षा का प्रथम नक्षत्र कहा है। पञ्चाङ्गों में जो संवत्सरफल लिखा रहता है, उसमें वर्षासम्बन्धी फल आर्द्रा नक्षत्र में सूर्य के प्रवेश-काल के आधार पर लिखते हैं। इतना ही नहीं, जिस दिन सूर्य आर्द्रा में प्रवेश करता है, उसे मेघों का स्वामी मानते हैं। इससे ज्ञात होता है कि पहिले आर्द्रा ही वर्षारम्भ नक्षत्र माना जाता था, मृगशिरा उसके बाद माना जाने लगा है। इसी प्रकार कुछ दिनों बाद रोहिणी में, उसके बाद कृत्तिका में और तदनन्तर कुछ दिनों में अश्विनी में अर्थात् चैत्र में वर्षा आरम्भ होने लगेगी, परन्तु नक्षत्र सायन मानने से ऐसी अव्यवस्था नहीं होगी।

मृगशिरारम्भ की तारीख

जून की पाँचवीं तारीख को मृगशिरा लगता है। कुछ लोगों की धारणा है कि यह नियम कभी भी अशुद्ध नहीं होगा और तदनुसार वर्ष में भी गड़बड़ी नहीं होगी,

परन्तु इंगलिश वर्ष सायन होता है, अतः निरयन सूर्यनक्षत्र सर्वदा एक ही तारीख से नहीं आरम्भ होगा। लगभग शक १७०७ के पहिले मृगशिरा जन की चौथी या पाँचवीं तारीख को लगता था; उसके बाद पाँचवीं या छठी को लगने लगा, शक १८१९ के बाद वह छठी या सातवीं तारीख को लगेगा, पाँचवीं को कभी नहीं लगेगा। परन्तु सायन-पद्धति में ऐसी गड़बड़ नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि परम्परा सायनपद्धति के ही अनुकूल है।

धर्मशास्त्रदृष्ट्या विचार

उपर्युक्त विवेचन में और इसके पहिले इस विषय पर धर्मशास्त्र की दृष्टि से बहुत कुछ लिख चुके हैं। यहाँ कुछ विस्तारपूर्वक इसका विवेचन करेंगे।

मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृत....।

तै० सं० ४।४।११

इत्यादि वेदवाक्य, जिनमें छहों ऋतुओं के मास बताये हैं, पिछले पृष्ठों में लिख चुके हैं। तदनुसार मधु माधव मासों में सर्वदा वसन्त ऋतु रहनी चाहिए।

अश्वयुज्यामाश्वयुजीकर्म ।।१।। आहिताग्नेराग्रयणस्थालीपाकः ।।४।।

आश्वलायनगृह्यसूत्र, अध्याय २, खण्ड २

यहाँ सूत्रकार ने आश्विन की पूर्णिमा को आग्रयणस्थालीपाक करने को कहा है। उसके लिए नवीन अन्न की आवश्यकता पड़ती है, यह बात प्रसिद्ध है।

मार्गशीर्ष्यां प्रत्यवरोहणं चतुर्दश्याम् ।।१।। पौर्णमास्यां वा ।।२।।
.....हेमन्तं मनसा ध्यायेत् ।।५।।

आश्व० गृ० सूत्र २।३

प्रत्यवरोहण कर्म मार्गशीर्ष में होता है। यह हेमन्तदेवताक है, अतः मार्गशीर्ष में हेमन्त ऋतु रहनी चाहिए।

अथातोध्यायोपाकरणम् ।।१।। ओषधीनां प्रादुर्भावे श्रवणेन श्रावणस्य ।।२।।

आश्वलायनगृह्यसूत्र ३।५

यहाँ बताया है कि श्रावण में, जब कि ओषधियों का प्रादुर्भाव होता है, उपाकर्म करना चाहिए अर्थात् श्रावण में वर्षाकाल रहना आवश्यक है। भिन्न-भिन्न सूत्रों में इसी प्रकार के और भी अनेक वचन हैं, जिनसे यह अर्थ प्रकट होता है कि अमुक मास

में अमुक ऋतु रहनी चाहिए। अब अमुक मास में अमुक ऋतु में अमुक कर्म करना चाहिए, इस अर्थ में द्योतक पुराणादिकों के कुछ वचन यहाँ उद्धृत करते हैं।

अशोककलिकाश्चाष्टौ ये पिबन्ति पुनर्वसौ।
चैत्रे मासि सितेऽष्टम्यां न ते शोकमवाप्नुयुः॥

प्राशनमन्त्रः—त्वमशोकवराभीष्टं मधुमाससमुद्भव॥ लिङ्गपुराण

यहाँ वसन्त में उत्पन्न अशोककलिका का प्राशन चैत्र में करने को कहा है।

अतीते फाल्गुने मासि प्राप्ते चैत्र महोत्सवे।
पुण्येहनि विप्रकथिते प्रपादानं समाचरेत्॥
प्रपा कार्या च वैशाखे देवे देया गलन्तिका।
उपानद्व्यजनच्छत्रसूक्ष्मवासांसि चन्दनम्॥१॥
जलपात्राणि देयानि तथा पुष्पगृहाणि च।
पानकानि विचित्राणि द्राक्षारम्भाफलानि च॥२॥ मदनरत्न

इससे सिद्ध होता है कि चैत्र, वैशाख में सदा उष्णकाल रहना चाहिए।

शरत्काले महापूजा क्रियते या च वार्षिकी॥
आश्विने मासि मेघान्ते... देवीपुराण

इससे ज्ञात होता है कि आश्विन में सदा शरद् ऋतु रहनी चाहिए।

मेषादौ च तुलादौ च मैत्रेय विषुवस्थितः।
तदा तुल्यमहोरात्रं करोति तिमिरापहः।
अयनस्योत्तरस्यादौ मकरं याति भास्करः।

विष्णुपुराण

इससे सिद्ध होता है कि विषुवदिन में मेष और तुला संक्रातियाँ तथा उत्तरायणारम्भ के दिन मकरसंक्रान्ति होनी चाहिए, पर संक्रान्ति सायन मान बिना ऐसा नहीं हो सकता।

उपर्युक्त श्रुति, सूत्र और पुराण वाक्यों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि मध्वादि अर्थात् चैत्रादि मासों में सर्वदा वसन्तादि ऋतुएँ रहनी चाहिए, पर सायन मान माने बिना ऐसा होना सर्वथा असम्भव है।

यद्यपि इन वचनों के बाद ज्योतिषग्रन्थों के अथवा ज्योतिषविषयक अन्य प्रमाण

देने की आवश्यकता नहीं रह जाती तथापि धर्मशास्त्रग्रन्थों में इन वचनों को भी प्रमाण माना है, अतः यहाँ कुछ वचन उद्धृत करता हूँ।[1]

यस्मिन्दिने निरंशः स्यात् संस्कृतोऽर्कोऽयनांशकैः।
तद्दिनं च महापुण्यं रहस्यं मुनिभिः स्मृतम्॥

ज्योतिर्निबन्धे वसिष्ठ

यहाँ विषुवदिन का पुण्यत्व बताया है।

अयनांशसंस्कृतो भानुर्गोले चरति सर्वदा।
अमुख्या राशिसंक्रान्तिस्तुल्यः कालविधिस्तयोः॥
स्नानदानजपश्राद्धव्रतहोमादिकर्मभिः।
सुकृतं चलसंक्रान्तावक्षयं पुरुषोऽश्नुते॥

पुलस्त्य

चलसंस्कृततिग्मांशोः संक्रमो यः स संक्रमः।
अजागलस्तन इव राशिसंक्रान्तिरुच्यते॥
पुण्यदां राशिसंक्रान्ति केचिदाहुर्मनीषिणः।
नैतन्मम मतं यस्मान्न स्पृशेत् क्रान्तिकक्षया॥

वसिष्ठ

संस्कृतायनभागार्कसंक्रान्तिस्त्वयनं किल।
स्नानदानादिषु श्रेष्ठा मध्यमः स्थानसंक्रमः॥

सोमसिद्धान्त

अयनांशसंस्कृतार्कस्य मुख्या संक्रान्तिरुच्यते।
अमुख्या राशिसंक्रान्तिस्तुल्यः कालावधिस्तयोः॥४७॥

रोमशसिद्धान्त, स्पष्टाधिकार

चलसंस्कृततिग्मांशोः संक्रमो यः स संक्रमः।
नान्योऽन्यत्र च तत्क्षेत्रं नैति तत् क्रान्तिकक्षया॥६२॥

शाकल्यसंहिता, तृतीयाध्याय

यहाँ कुछ वचनों में राशिसंक्रान्ति अर्थात् निरयन संक्रान्ति को त्याज्य तथा चल सायन संक्रान्ति को ग्राह्य और कुछ वचनों में सायन की अपेक्षा निरयन को गौण

---

१. इनमें से अधिकांश वचन मुहूर्तचिन्तामणि की पीयूषधारा टीका के हैं।

कहा है। कुछ ग्रन्थकारों ने इनमें से कुछ वचनों को प्रशंसापरक कहा है, परन्तु विषुव और अयन का पुण्यत्व पुराणादि अनेक ग्रन्थों में वर्णित होने के कारण वे उनका त्याग नहीं कर सके हैं। निरयन संक्रान्ति के पुण्यकाल इत्यादि का वर्णन करते समय उन्हें 'एवं अयनेषु' लिखना पड़ा है और एक ज्योतिषशास्त्रानभिज्ञ धर्मशास्त्रग्रन्थकार ने तो मेषादि संक्रान्तियों की तरह 'मेषायनं' इत्यादि १२ अयनों की कल्पना कर डाली है। कई निरयन पञ्चाङ्गों में भी सायन संक्रान्ति का निर्देश इसी प्रकार अथवा दूसरे शब्दों द्वारा किया है, यह पहले लिख चुके हैं। हमारे बम्बई और पूना के पञ्चाङ्गकार महाराष्ट्रनिवासियों को इतना भी लाभ नहीं होने देते, तथापि धर्मशास्त्र के एतद्देशीय उत्तम विद्वान् यह बात जानते हैं कि सायन संक्रान्ति पर भी स्नानदानादि कर्म विहित हैं।[1] 'षण्णवतिश्राद्ध' अर्थात् वर्ष में जो ९६ श्राद्ध बताये हैं, उनमें संक्रान्तिश्राद्ध १२ ही है, २४ नहीं। इसी प्रकार अन्य कर्मों में भी संक्रान्तियाँ १२ ही माननी चाहिए।

सारांश यह कि सायन पञ्चाङ्ग श्रुतिस्मृतिपुराण-विहित काल का प्रदर्शक है, अतः उसी को मानना चाहिए।

शंकासमाधान

अब व्यावहारिक दृष्टि से विवेचन करने के पहिले सायन पद्धति पर किये जाने-वाले आक्षेपों का विचार करेंगे।

सम्पात चल है। दृश्य तारों से वह क्रमशः पीछे हटता जा रहा है। वहाँ चाहे जो तारा आ सकता है। कुछ वर्ष पहिले वह रेवती में था, आज उत्तराभाद्रपदा के पास है, कुछ दिनों बाद पूर्वाभाद्रपदा में चला जायगा। सायनगणना मानने से पूर्वाभाद्रपदा में सम्पात रहते हुए भी उस स्थान को अश्विनी कहना पड़ेगा। पूर्वाफाल्गुनी को सायन चित्रा कहना पड़ेगा। सायन पञ्चाङ्ग में सम्प्रति ऐसा ही हो भी रहा है। उसमें तारा-चन्द्र-युतियाँ दी रहती हैं। उन्हें देखने से ज्ञात होगा कि पञ्चाङ्ग में चन्द्रमा की युति उत्तराफाल्गुनी से लिखी है और दिननक्षत्र अर्थात् चन्द्रनक्षत्र चित्रा है। इस प्रकार ग्रह एक तारात्मक नक्षत्र के पास रहते हुए हमें उसे दूसरे नक्षत्र में बताना पड़ेगा, अर्थात् सायनगणना से तारात्मक (दृश्य) नक्षत्र प्रतिकूल हो जायँगे। नक्षत्रों के नाम तारों के आधार पर रखे गये हैं। मृगशीर्ष, हस्त इत्यादि नामों से ज्ञात होता है कि किसी

---

१. सन् १८८४ में पूना के वसन्तोत्सव में सायनवाद के समय प्रख्यात धर्मशास्त्रज्ञ वेदशास्त्रसम्पन्न श्री गंगाधर शास्त्री दातार ने यह स्वीकार किया था कि पञ्चाङ्गों में सायन संक्रांतियां लिखनी चाहिए।

स्थानविशेष के—वहाँ तारा चाहे जो रहे—अश्विनी इत्यादि नाम नहीं रखे हैं। वेदों में ही तारों की संख्या के अनुसार कुछ नक्षत्रों के नाम एकवचनान्त, कुछ के द्विवचनान्त और कुछ के बहुवचनान्त हैं, यह प्रथम भाग में लिख चुके हैं। अतः यह सिद्ध है कि नक्षत्रों के अश्विन्यादि नाम तारों के ही आधार पर रखे गये हैं। परन्तु वर्ष सायन मानने से नक्षत्रों का उनके तारों से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। चैत्रादि मासों के नाम भी तारात्मक नक्षत्रों के ही आधार पर पड़े हैं, परन्तु सायन मान को ग्रहण करने से उनका उन तारों से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। उदाहरणार्थ मान लीजिए, सम्पात तारात्मक पूर्वाभाद्रपदा में है और सूर्य भी उसी के पास है, चन्द्रमा उस समय पूर्ण हो रहा है। वह वहाँ से १३½ नक्षत्र पर अर्थात् लगभग तारात्मक पूर्वाफाल्गुनी में है. अतः इस मास का अन्वर्थक नाम फाल्गुन हुआ। परन्तु सायनपद्धति से सूर्य अश्विनी में है, क्योंकि सम्पात के पास है, मेष की संक्रान्ति लगी है, और चन्द्रमा सायन चित्रा में है, अतः इस मास का नाम सायन चैत्र हुआ। इस प्रकार सायन-पद्धति स्वीकार करने से मास भी अशुद्ध हो जाते हैं।

दोनों पक्षों की सदोषावस्था में उपाय

सायन मान स्वीकार करने से ऋतुओं में विसंवाद नहीं होगा, अर्थात् चैत्र-वैशाख में सदा वसन्त ऋतु रहेगी, परन्तु तारात्मक नक्षत्र अशुद्ध ठहर जायँगे, सम्पातस्थित प्रत्येक तारे को अश्विनी कहना पड़ेगा।[1] प्रारम्भ से यौगिक रहते हुए भी चैत्रादि संज्ञाओं को केवल पारिभाषिक एवं रूढ़ कहना पड़ेगा और नक्षत्रप्रयुक्त फाल्गुनादि मासों को उत्तरोत्तर चैत्र इत्यादि कहना पड़ेगा। मासों के चैत्रादि नामों का त्याग कर ऋतु-दर्शक केवल मध्वादि नाम ही रखे तो शब्ददोष दूर हो सकता है, परन्तु चैत्रादि नाम इतने बद्धमूल हो गये हैं कि अब उन्हें छोड़ देना असम्भव है, और दूसरी बात यह है कि मासों के ऋतुदर्शक मध्वादि नामों की भाँति नक्षत्रों के ऋतुदर्शक दूसरे नाम नहीं हैं। मेषादि नाम आरम्भ से विभागात्मक ही हैं। न हों तो भी हमारे ग्रन्थों में २००० वर्षों से वे विभागात्मक अर्थ में प्रयुक्त होते आ रहे हैं, अतः सायन राशियों में उनका प्रयोग अनुचित नहीं होगा। निरयन मान ग्रहण करने से ऋतुओं में अव्यवस्था होगी, चैत्र में ग्रीष्म, वर्षा इत्यादि ऋतुएँ आने लगेंगी, फिर भी उसे मधु ही कहना पड़ेगा। इतना ही नहीं, उपनयन, विवाहादि कर्म—जिनका व्यवहार से निकट सम्बन्ध है—

---

१. सायन-निरयन नक्षत्रों का परमान्तर १३½ नक्षत्र होगा। १२ सहस्र वर्षों के बाद चित्रा में सम्पात रहने पर उस नक्षत्र को अश्विनी कहना पड़ेगा।

माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, मासों में किये जाते हैं, पर उस समय वर्षाकाल रहने से उन्हें करने में कठिनाई होगी और आषाढ़ादि मास उनके लिए अनुकूल हो जायँगे। परन्तु धर्मशास्त्र में वे वर्जित हैं, अतः व्यवहार में बड़ी अड़चन होगी। अब प्रश्न यह होता है कि दोनों पक्षों की संदोषावस्था में यहाँ मार्ग कौन-सा निकाला जाय। ऋतुएँ यथोक्त मासों में होती रहें और तारात्मक नक्षत्रों का स्थिरत्व भी ज्यों का त्यों बना रहे, ऐसी कोई युक्ति दिखाई नहीं देती। सम्पात का पूर्ण भ्रमण यदि सत्य है, तो ये दोनों बातें नहीं हो सकतीं, अतः इनमें से किसी एक का त्याग करने के अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं है। अब यहाँ इसी का विवेचन करेंगे कि इनमें से किसे छोड़ना न्याय्य है।

निरयन नक्षत्रों में भी तारे छूट जाते हैं

सब नक्षत्रों के तारे समान अन्तर पर नहीं हैं, अतः निरयन पञ्चाङ्ग में भी क्रान्तिवृत्त के २७ समान भाग कर प्रत्येक को नक्षत्र मानना पड़ता है। प्रत्येक नक्षत्रप्रदेश का मान १३ अंश २० कला है। इनमें कहीं-कहीं एक ही नक्षत्रप्रदेश में दो नक्षत्रों के योगतारे आ जाते हैं और किसी में एक भी नहीं आता। इस बात को अंकों द्वारा स्पष्ट दिखाने के लिए आगे कोष्ठक बनाया है। इसमें पहिले विभागात्मक नक्षत्रप्रदेशों की अन्तिम सीमाएँ उन नक्षत्रों के नामों के सामने लिखी हैं। यह एक प्रकार से १३।२० का पहाड़ा है। इसका अर्थ यह है कि रेवती योगतारे से इतने अन्तर पर उस नक्षत्रप्रदेश की समाप्ति होती है। इसके आगे नक्षत्रों के योगतारों के सूक्ष्म निरयन भोग अर्थात् रेवती योगतारे से उनके वास्तविक अन्तर लिखे हैं।[1] उसके आगे ग्रहलाघवीय नक्षत्रध्रुवक हैं। पहले बता चुके हैं कि हमारे सिद्धान्तों का आरम्भस्थान चल है। सूर्यसिद्धान्तानुसार शक १७७२ में वह सम्पात से २१ अंश २७ कला ९.८ विकला पूर्व ओर था। उस स्थान से नक्षत्रों के योगतारों के अन्तर भी कोष्ठक में लिखे हैं। नक्षत्रों के जो योगतारे अपने प्रदेश से आगे या पीछे हैं उनका भी निर्देश कर दिया है।

---

१. केरोपन्तकृत ग्रहसाधन कोष्ठक नामक ग्रन्थ के ३२४-२५ पृष्ठ में योगतारों के शक १७७२ के सायनभोग लिखे हैं। मैंने यहाँ उनमें से रेवती का भोग घटाकर वास्तविक निरयन भोग लिखे हैं। केरोपन्त ने रेवती भोग १७ अंश ४६ कला लिखा है पर सूक्ष्म गणित से शक १७७२ में वह १७।४६।४४ आता है अतः मैंने १७।४७ माना है और उन्होंने अश्विनी, ज्येष्ठा, पूर्वाषाढ़ा, श्रवण, धनिष्ठा के भोग कुछ अशुद्ध लिखे हैं पर मैंने उन्हें शुद्ध करके कोष्ठक में लिखा है। योगतारे मैंने वे ही लिये हैं जो केरोपन्त के हैं।

नक्षत्र		विभागात्मक नक्षत्रप्रदेशों की अन्तिम सीमाएँ		नक्षत्रों के योगतारों के स्थान							
				सूक्ष्म निरयन (केरोपन्ती)			ग्रहलाघवीय		सूर्यसिद्धान्तीय (शक १७७२)		
		अंश	कला	अंश	कला	विभागके	अंश	विभागके	अंश	कला	विभागके
१	अश्विनी	१३	२०	१४	६	आगे	८		१०	२६	
२	भरणी	२६	४०	२७	४	आगे	२१		२३	२४	
३	कृत्तिका	४०	०	४०	७	आगे	३२		३६	२७	
४	रोहिणी	५३	२०	४९	५५		४९		४६	१५	
५	मृगशिरा	६६	४०	६२	१८		६२		५८	३८	
६	आर्द्रा	८०	०	६७	६		६६	पीछे	६३	२६	पीछे
७	पुनर्वसु	९३	२०	९३	२२	आगे	९४	आगे	८९	४२	
८	पुष्य.	१०६	४०	१०८	५०	आगे	१०६		१०५	१०	
९	आश्लेषा	१२०	०	१११	०		१०७		१०७	२०	
१०	मघा	१३३	२०	१२९	५८		१२९		१२६	१८	
११	पूफा०	१४६	४०	१४३	३२		१४८	आगे	१३९	५२	
१२	उफा०	१६०	०	१५१	४५		१५५		१४८	५	
१३	हस्त	१७३	२०	१७३	३५	आगे	१७०		१६९	५५	
१४	चित्रा	१८६	४०	१८३	५८		१८३		१८०	१८	
१५	स्वाती	२००	०	१८४	२२	पीछे	१९८		१८०	४२	पीछे
१६	विशाखा	२१३	२०	२११	८		२१२		२०७	२८	
१७	अनुराधा	२२६	४०	२२३	१९		२२४		२१९	३९	
१८	ज्येष्ठा	२४०	०	२२९	५३		२३०		२२६	१३	पीछे
१९	मूल	२५३	२०	२४३	२६		२४२		२३९	४६	पीछे
२०	पूषा०	२६६	४०	२५४	४२		२५५		२५०	२	पीछे
२१	उषा०	२८०	०	२६०	१८	पीछे	२६१	पीछे	२५७	३८	पीछे
२२	श्रवण	२९३	२०	२८१	५२		२७५	पीछे	२७८	१२	पीछे
२३	धनिष्ठा	३०६	४०	२९७	३०		२८६	पीछे	२९३	५९	
२४	शत०	३२०	०	३२१	४२	आगे	३२०		३१८	२	
२५	पूभा०	३३३	२०	३३३	३६	आगे	३२५		३२०	५६	
२६	उभा०	३४६	४०	३५४	१३	आगे	३३७		३५०	३३	आगे
२७	रेवती	०	०	०	०		३६०		३५६	२	

इस कोष्ठक को देखने से ज्ञात होगा कि केरोपन्ती सूक्ष्म मान अर्थात् वास्तविक निरयनमान में भी ९ नक्षत्र अपने विभागात्मक प्रदेश से आगे और २ पीछे हैं अर्थात् २७ में से ११ नक्षत्र अशुद्ध हैं। दिननक्षत्र अश्विनी रहने पर चन्द्रमा का समागम किसी भी नक्षत्र से नहीं होता और चित्रा रहने पर हस्त, चित्रा, स्वाती तीन नक्षत्रों के योगतारों से होता है। इतना अवश्य है कि वास्तव वर्षमान और वास्तव अयनगति ग्रहण करने से यह अशुद्धि सदा एक सी रहेगी, इससे अधिक नहीं होगी। परन्तु यदि सूक्ष्म और शुद्ध निरयन पद्धति में भी २७ में से ११ नक्षत्र सदा अशुद्ध रहते हैं तो इस निरयन से क्या लाभ? ग्रहलाघव में दिये हुए नक्षत्रभोग सम्प्रति शुद्ध नहीं हैं पर उन्हें शुद्ध मान लें तो भी ६ नक्षत्रों में त्रुटि आती है। इस कोष्ठक से ज्ञात होगा कि वर्तमान सूर्यसिद्धान्तागत आरम्भस्थान से—हमारे ग्रन्थों का आरम्भस्थान रेवती-योगतारे से प्रतिवर्ष ८.२ विकला आगे जा रहा है—जो २७ विभाग किये गये हैं, उनमें से ७ नक्षत्रों के योगतारे अपने विभाग से पीछे हैं, अर्थात् दिननक्षत्र मृगशिरा रहते हुए चन्द्रमा का समागम मृगशिरा और आर्द्रा दो तारों से होता है। यहीं स्थिति सातों की है। पाँच सहस्र वर्षों के वाद उत्तराभाद्रपदा को छोड़ अन्य सब तारे अपने विभाग से पीछे हट जायँगे, अर्थात् दिननक्षत्र अश्विनी रहने पर चन्द्रमा का समागम भरणी से होगा। यह स्थिति २६ नक्षत्रों की रहेगी। ७४०० वर्षों में उत्तराभाद्रपदा तारे की भी यही परिस्थिति हो जायगी। सारांश यह कि वर्तमान निरयन पद्धति में भी नक्षत्रों की अवस्था सायन नक्षत्रों सदृश ही है।

यदि युति का यह लक्षण करते हैं कि आकाशस्थ दो पदार्थों के भोग समान होने पर उनकी युति होती है, तो इसे भोगयुति कहेंगे और यदि दोनों के विषुवांशतुल्यत्व को युति मानते हैं तो इसे विषुवयुति कहेंगे। सायन पञ्चाङ्ग में विषुवयुतियाँ दी रहती हैं। परिशिष्टस्थ सूक्ष्म निरयन पञ्चाङ्ग में भी विषुवयुतियाँ ही दी हैं। ग्रहलाघवीय अयनांश लेकर वह पञ्चाङ्ग नाटिकल आल्मनाक से बनाया गया है। उसमें आर्द्रा, आश्लेषा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढ़ा, उत्तराषाढ़ा, श्रवण और धनिष्ठा, इन आठ दिननक्षत्रों के लगने के पूर्व ही उनके योगतारों से चन्द्रमा की युति हो जाती है। उस पञ्चाङ्ग की ताराचन्द्र-युतियों को केरोपन्ती पञ्चाङ्ग से मिलाकर देखते हैं तो केरोपन्ती पञ्चाङ्ग में उत्तराषाढ़ा, श्रवण, धनिष्ठा नक्षत्र लगने के पूर्व और पुनर्वसु, पुष्य, पूर्वाफाल्गुनी और शतभिषा नक्षत्र लगने के पश्चात् चन्द्रमा से (अन्यों से भी) उनकी विषुवयुतियाँ होती हैं। सारांश यह कि कैसा भी सूक्ष्म निरयन मान लीजिए, नक्षत्रों में यह दोष आये बिना नहीं रहेगा।

चैत्रादि संज्ञाएँ यौगिक नहीं हैं

अब मासों का विचार करेंगे। यद्यपि यह सत्य है कि सायन मास मानने से 'जिस मास में चन्द्रमा तारात्मक चित्रा नक्षत्र में पूर्ण होता है वह चैत्र है' यह परिभाषा व्यर्थ हो जायगी[1], परन्तु हमें यह देखना है कि इस समय अवस्था क्या है? जिस नक्षत्र में चन्द्रमा पूर्ण होता है, उसके नाम के अनुसार मास का नाम रखने के नियम का प्रत्यक्ष व्यवहार छूटे कम से कम वेदाङ्गज्योतिषकाल तुल्य अर्थात् ३३०० वर्ष होते हैं। इसके और कितने पहले से यह प्रथा छूटी है, इसका पता नहीं है। चैत्रादि नाम पड़े तो इसी नियम के अनुसार, परन्तु यह देखकर कि चैत्र में चन्द्रमा सदा चित्रा के ही पास पूर्ण नहीं होता, कुछ महीनों को दो दो और कुछ को तीन तीन नक्षत्र बाँटे गये, परन्तु योगतारे समान अन्तर पर न होने के कारण बाद में विभागात्मक नक्षत्र मानने पड़े। वेदाङ्गज्योतिष में विभागात्मक सूक्ष्म नक्षत्र हैं। वर्तमान ज्योतिषग्रन्थों के निर्माणकाल से विभागात्मक सूक्ष्म नक्षत्रों का पूर्ण प्रचार हुआ और यह परिभाषा बनायी गयी कि 'जिन मासों में मेषादि संक्रान्तियाँ होती हैं, उनके नाम क्रमशः चैत्रादि हैं।' आजकल भी इसी का प्रचार है। पिछले पृष्ठों में इसका विस्तृत विवेचन किया है।

शक १८०४–७ और १८१० के केरोपन्ती पञ्चाङ्गों में प्रत्येक मास की पूर्णिमा को कौन-कौन से नक्षत्र थे, यह नीचे के कोष्ठक में दिखाया है। शक १८०५, १८०७ और १८१० में उस पञ्चाङ्ग के अनुसार क्रमशः चैत्र, श्रावण और आषाढ अधिकमास आते हैं।

---

१. सायन चैत्र की पूर्णिमा को सायन चित्रा अथवा उसके आगे या पीछे के नक्षत्र, इन्हीं तीन में से एक रहता है।

	पूर्णिमान्तकालीन नक्षत्र				
मास	शक १८०४	१८०५	१८०६	१८०७	१८१०
चैत्र	चित्रा	स्वाती	चित्रा	हस्त	हस्त
वैशाख	विशाखा	अनुराधा	विशाखा	विशाखा	स्वाती
ज्येष्ठ	ज्येष्ठा	मूल	मूल	ज्येष्ठा	अनुराधा
आषाढ़	पूषा	उषा.	उषा.	पूषा.	श्रवण
श्रावण	श्रवण	शत.	धनिष्ठा	शत.	शत.
भाद्रपद	शत.	उभा.	पूभा,	उभा.	उभा.
आश्विन	उभा.	अश्विनी	रेवती	अश्विनी	अश्विनी
कार्तिक	भरणी	कृत्तिका	भरणी	रोहिणी	कृत्तिका
मार्गशीर्ष	रोहिणी	मृग.	रोहिणी	आर्द्रा	आर्द्रा
पौष	आर्द्रा	पुष्य	पुनर्वसु	पुष्य	पुष्य
माघ	पुष्य	मघा	आश्लेषा	मघा	मघा
फाल्गुन	पूफा-	उफा.	पूफा.	हस्त	उफा.

इस कोष्ठक से ज्ञात होगा कि प्रति मास की पूर्णिमा को उस मास के नाम से सम्बन्धित एवं उसके आगे और पीछे वाले, नक्षत्रों में से कोई भी एक आ सकता है, पर विचित्र बात यह है कि शक १८०४ के आश्विन और माघ के पूर्णिमान्त में उत्तराभाद्रपदा और पुष्य नक्षत्र हैं। नक्षत्रों के अनुसार नाम रखते हैं तो इन्हें क्रमशः भाद्रपद और पौष कहना पड़ेगा। इसी प्रकार शक १८१० के आषाढ़ की पूर्णिमा को श्रवण नक्षत्र है, अतः उसे श्रावण कहना चाहिए। यही स्थिति ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग की भी है। सारांश यह कि पूर्णिमान्तकालीन नक्षत्रों के अनुसार मासनाम रखने में सूक्ष्म अथवा कोई भी निरयन मान लें, बहुत से मास अशुद्ध हो जायेंगे। इसी लिये प्राचीनों ने बाध्य होकर यह पद्धति छोड़ दी।

चैत्रादि नाम ज्योतिषियों के मतानुसार तो यौगिक नहीं ही हैं, रूढ़ हैं, पर स्वयं पाणिनि और स्मृतिकार भी उन्हें यौगिक नहीं मानते। इस विषय में कालतत्त्व-विवेचनकार ने लिखा है—

चैत्रादयः स्वतन्त्रता एव रूढा राजवत्।... चैत्रादिशब्दा... न नक्षत्रयोगानिमित्ताः। व्याकरणस्मृतिस्तु विपर्ययप्रतिपादिका स्वरार्थ्या। तदुक्त वार्तिके— 'यत्रार्थस्य विसंवादः प्रत्यक्षेणोपलभ्यते। स्वरसंस्कारमात्रार्था तत्र व्याकरणस्मृतिरिति।' पाणिनिरपि सास्मिन् पौर्णमासीति संज्ञायामिति चैत्रादिशब्दानां संज्ञात्वं वदन् योग-

स्यापारमार्थिकत्वं दर्शयति। स्पष्टञ्च योगव्यभिचारे योगः प्रत्याख्यातः।...विष्णुरपि नक्षत्रयोगनिमित्तत्वासम्भव पौर्णमासीनां द्योतयति...तथा च तत्स्मरणं...पौषी चेत पौषयुक्ता...।

अतः सायनमान ग्रहण करने से चैत्रादि नाम अन्वर्थ नही होंगे, इस शंका का विचार ही नहीं करना चाहिए। यह तो सायन और निरयन दोनों पद्धतियों में समान रूप से लागू है ।

हमारे ज्योतिषसिद्धान्तों का निरयन मान यदि प्रचलित रहा तो निरयनपद्धति में भी सायन की ही भाँति नक्षत्र चल रहेंगे। अन्तर इतना ही रहेगा कि निरयन नक्षत्र सायन के विपरीत क्रम से और मन्द गति से चलेंगे । सायनपद्धति के अनुसार सायन अश्विनी नक्षत्र प्रति सहस्र वर्ष में एक-एक नक्षत्र पीछे हटता है, अर्थात् वह क्रमशः तारात्मक रेवती, उत्तराभाद्रपदा इत्यादि में जाता है, सूर्यसिद्धान्तादिकों के अनुसार अश्विनी लगभग प्रति ६ सहस्र वर्षों में एक नक्षत्र आगे जायगा अर्थात् भरणी कृत्तिका इत्यादि की ओर बढ़ता रहेगा। यही स्थिति मासों की भी होगी। सूक्ष्म निरयन मान ग्रहण करने पर भी नक्षत्रों और मासों में अशुद्धि होगी। यद्यपि वह सदा एक-सी रहेगी, पर रहेगी अवश्य। इसके अतिरिक्त निरयनपद्धति में एक और महान दोष ऋतुविपर्यय है जो कि सायनपद्धति में नहीं है। अब यहाँ विचार करने से ऋतुओं और तारात्मक नक्षत्रों, इन दोनों में से तारात्मक नक्षत्रों को ही छोड़ना उचित प्रतीत होता है। उन्हें छोड़ने का अर्थ इतना ही है कि उनके अनुसार मासों के नाम नहीं रखे जायेंगे और ग्रहस्थिति सायन नक्षत्रों के अनुसार बतायी जायगी। ग्रहयुतियों का अवलोकन किया जाता है, उनके समय भी निकाल लिये जाते हैं, उसी प्रकार ग्रहनक्षत्रयुतियों के भी समय निकाले जा सकेंगे और वे पञ्चाङ्ग में लिख दिये जायेंगे।

सायनपद्धति से कोई भी बात प्रत्यक्षविरुद्ध नहीं आती।[1] सम्प्रति यूरोपियन ज्योतिषशास्त्र का सम्पूर्ण गणित सायनपद्धति से ही किया जाता है। केरोपन्त का कथन है कि सूर्य, चन्द्र, सम्पात इत्यादि चल पदार्थों को स्थिर तारागण से ही नापना चाहिए । उनका यह कथन वेध के विषय में उचित है, वेध में स्थिर तारा लेना ही आवश्यक है, पर पञ्चाङ्ग सायनमान से बनाने में गणितादि किसी प्रकार की भी अड़चन नहीं है। यूरोपियन ज्योतिषी वेध में तारों का उपयोग करते हैं, परन्तु उनके

---

१. गोविन्द दैवज्ञ ने मुहुर्तचिन्तामणि की पीयूषधारा टीका में एक उदाहरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ग्रहण वस्तुतः रहते हुए भी सायनपद्धति से नहीं आता पर सायनपद्धति की यदि ठीक योजना की होती तो उन्हें यह संशय ही न होता।

नाटिकल आल्मनाक इत्यादि सब पञ्चाङ्गों का गणित सायन ही रहता है। स्वयं केरोपन्त ने भी अपने ग्रहसाधन कोष्टक में सम्पूर्ण ग्रहगतिस्थितियाँ सायन ही लिखी हैं और उस ग्रन्थ से सायन ही ग्रह आते हैं। दूसरी बात यह है कि नलिकाबन्ध की रीति और वेधप्रकरणोक्त यन्त्रों का वर्णन देखने से ज्ञात होता है कि हमारे ज्योतिषग्रन्थों की वेध पद्धति में भी तारों की अपेक्षा सायनमान का ही अधिक उपयोग किया गया है।

कुछ और शंका-समाधान

रोहिण्यामग्निमादधीत। न पूर्वयोः फल्गुन्योरग्निमादधीत।
पुनर्वस्वोरग्निमादधीत। कृत्तिकाभ्यः स्वाहा।
...रोहिण्यै स्वाहा। ...स्वाहा पुनर्वसुभ्याम्।
रेवत्यामरवन्त। अश्वयुजोरयुञ्जत। अपभरणीष्वपावहन्।

इन[1] वाक्यों में आये हुए एकवचनान्त, द्विवचनान्त, बहुवचनान्त प्रयोगों से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि नक्षत्र तारात्मक ही हैं। ये वाक्य सायन नक्षत्रों में लागू नहीं हो सकते अर्थात् तारात्मक नक्षत्र ही श्रुतिसम्मत हैं, परन्तु मधुमाधव अर्थात् चैत्र-वैशाख मासों में सर्वदा वसन्त ऋतु रहती है, यह श्रुतिसम्मत बात निरयन मान से कभी भी सिद्ध नहीं हो सकती।

धर्मशास्त्र ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न कर्मों के लिए जो नक्षत्र विहित हैं, उनके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वे तारात्मक ही हैं, क्योंकि सम्प्रति व्यवहार में उनका परीक्षण कहीं भी नहीं किया जाता। पञ्चाङ्ग खोला, यदि वह नक्षत्र इष्ट समय में मिला तो हम कार्य आरम्भ कर देते हैं, उस समय आकाश में चाहे जो नक्षत्र हो। आज ही ऐसा हो रहा है, यह बात नहीं है। यह रूढ़ि पुरानी है और इसका निवारण होना भी असम्भव है, क्योंकि सब नक्षत्र समान अन्तर न होने के कारण कभी एक ही दिन में चन्द्रमा की दो नक्षत्रों से युति होती है और कभी एक से भी नहीं। सूक्ष्म नक्षत्रानयन भी बताया है पर उसे सम्प्रति कोई नहीं करता।[2] उसे सूक्ष्म नक्षत्रानयन करने पर और सूक्ष्मतम निरयन मान लेने पर भी यह बात सब अंशों में साध्य नहीं है। इसके अति-

---

१. इनमें से अधिकतर वाक्य प्रथम भाग में आ चुके हैं, यहाँ तैत्तिरीय श्रुति से कुछ और लिये हैं।

२. थोड़े ही दिनों की बात है, पूना के ज्योतिषी वासुदेव शास्त्री दाण्डेकर कहते थे कि पैठण के एक ज्योतिषी ने सूक्ष्म नक्षत्र लाकर तदनुसार एक जगह विवाह कराया परन्तु यहाँ के और पूना के लोगों ने उलटे उनका बहिष्कार किया।

रिवत गणित में भी अशुद्धि रहती है, जिससे इनमें और भी अन्तर पड़ जाता है, पर इन त्रुटियों को दूर करने पर भी धर्मशास्त्र के ये विधान कि अमुकामुक नक्षत्रों में अमुक-अमुक कर्म करने चाहिए, निरयनवादियों के लिए असाध्य ही हैं।

दोनों पक्षों के प्रमाणों की संख्या की तुलना करने से सायनपक्ष ही प्रबल पड़ता है वर्षमान निसर्गत: ही ऋतुपर्ययात्मक है और अधिकमास की कल्पना केवल इसी लिए की गयी है कि ऋतुएँ नियमित चान्द्रमासों में होती रहें, इन दो बातों का तो निरयन-वादियों के पास कोई उत्तर ही नहीं है। ये सायन मान से ही साध्य हैं और ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर भी यही ज्ञात होता है कि आरम्भ से शकपूर्व २००० वर्ष तक सायन मान ही प्रचलित था। इससे यह बात निर्विकल्प सिद्ध होती है कि सायन मान ही ग्राह्य है।

यहाँ तक सायन-निरयन का विवेचन सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा मानकर किया गया। हमारे कुछ ज्योतिषग्रन्थों मे लिखा है कि सम्पात का पूर्ण भ्रमण नहीं होता, आन्दोलन होता है। यदि कोई कहे कि वह सत्य है और तदनुसार निरयन मान से भी ऋतुविपर्यय नहीं होता, तो उसका उत्तर यह है—

पञ्चाङ्गशोधन का विवेचन मुख्यत: इसी विवेचन से किया जा रहा है कि पञ्चाङ्ग धर्मशास्त्रानुकूल बनें। धर्मशास्त्र हमें बताता है कि अमुक समय अर्थात् अमुक ऋतु, मास, तिथि, नक्षत्र इत्यादि में अमुक कर्म करना चाहिए अथवा नहीं करना चहिए।[1] उसका विषय इतना ही है। उस काल का निश्चय ज्योतिष द्वारा होता है। इसी प्रकार सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा होती है या नहीं, इसका निर्णय करना धर्मशास्त्र का काम नहीं है, इसे ज्योतिष बतायेगा। ऋतुमाससाहचर्यानुकूल कालगणना-पद्धति की स्थापना ज्योतिष ही करेगा,। वह ज्योतिष प्रत्यक्षप्रमाण शास्त्र है। कालवशात् ग्रहगतिस्थिति में पड़े हुए अन्तर का निरास कर उसे प्रत्यक्ष अनुभव के अनुरूप बनाना उसका मुख्य धर्म है। वर्तमान सूर्यसिद्धान्त में ही ग्रहगतिस्थितियाँ प्राचीन सूर्यसिद्धान्त से भिन्न हैं। उसमें लिखा भी है—

शास्त्रमाद्यं तदेवेदं यत्पूर्वं प्राह भास्कर:।
युगानां परिवर्तेन कालभेदोऽत्र केवलम् ।।९।।

मध्यमाधिकार

---

१. ज्योतिष शास्त्र के मुहुर्तस्कन्ध में अनेक कर्मों के समय लिखे रहते हैं अतः इस दृष्टि से वह भी धर्मशास्त्र का एक अङ्ग है।

इसकी टीका में रङ्गनाथ ने लिखा है—

> कालवशेन ग्रहचारे किञ्चिद्वैलक्षण्यं भवतीति तत्तदन्तरं ग्रहचारे प्रसाध्य तत्तत्कालस्थितलोक-व्यवहारार्थं शास्त्रान्तरमिव कृपालुः (भास्करः) उक्तवान्।

भास्कराचार्य ने गोलबन्धाधिकार में लिखा है—"अत्र गणितस्कन्धे उपपत्तिमानेवागमः प्रमाणम्।' केशव दैवज्ञ का भी यही अभिप्राय है। वसिष्ठसंहिता के निम्नलिखित श्लोक में भी यह बात कही है कि तिथ्यादिकों का निर्णय उसी पक्ष से करना चाहिए जिसके गणित की आकाश से एकवाक्यता होती हो।

> यस्मिन् देशे यत्र काले येन दृग्गणितैक्यकम्।
> दृश्यते तेन पक्षेण कुर्यात्तिथ्यादिनिर्णयम्॥

सम्प्रति पाश्चात्य गणकों ने विश्वरचना के नियमों के आधार पर निश्चयपूर्वक यह सिद्ध कर दिखाया है कि सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा होती है[1] अतः हमें उसे मानने

---

१. सम्पात भ्रमण का स्वरूप यहाँ थोड़े में लिखते हैं। लड़के लट्टू नचाते हैं, उस पर ध्यान दीजिए। पहले वह सीधा खड़ा रहकर बड़े वेग से घूमता है। उस समय उसका अक्ष पृथ्वी पर लम्ब रहता है। वेग कम होने पर उसका ऊपरी भाग भारी होने के कारण नीचे की ओर लटकने लगता है, उस समय अक्ष पृथ्वी पर लम्ब नहीं रहता और ऊपरी भाग चक्कर काटने लगता है। इसी प्रकार पृथ्वी के अक्ष के अग्र भाग क्रान्तिवृत्त के कदम्ब के चारों ओर सदा चक्कर लगाते रहते हैं। पृथ्वी अपने अक्ष पर घूमती रहती है। इस स्थिति में उसका अक्ष उसकी कक्षा के धरातल पर लम्ब नहीं रहता। अक्ष-भ्रमण की उसकी गति सदा एक सी रहती है, वह प्रायः न्यूनाधिक नहीं होती अतः यदि वह पूर्ण गोल होती तो उसके अक्ष का झुकाव सर्वदा एक-सा रहता पर वह ध्रुवों के पास चिपटी और विषुववृत्त की ओर गोल है। इस कारण विषुववृत्त की ओर उस पर सूर्य-चन्द्रमा का आकर्षण अधिक पड़ता है, जिससे वह वृत्त कक्षा के धरातल से मिल जाना चाहता है परन्तु अक्ष-भ्रमण लगातार होते रहने के कारण दोनों धरातलों के मिल जाने की अर्थात् कक्षा पर अक्ष के लम्ब होने की सम्भावना नहीं होती। परन्तु पृथ्वी का अक्ष क्रान्तिवृत्त के अक्ष के चारों ओर चक्कर लगाता रहता है, इस कारण विषुववृत्त का ध्रुव क्रान्तिवृत्त के ध्रुव की प्रदक्षिणा करता रहता है और विषुववृत्त क्रान्तिवृत्त पर सरकता रहता है। यही अयनचलन है। चन्द्रसूर्य का आकर्षण पृथ्वी के विषुववृत्त पर अधिक है, इस बात की सूक्ष्म प्रतीति होती है। चन्द्रकक्षा के पात

में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए । हमारे देश के भी मुंजालादिकों का यही मत है । शतपथ ब्राह्मण का कृत्तिकाओं की स्थिति का दर्शक वाक्य पहले लिख चुके हैं । गणित से ज्ञात होता है कि वह स्थिति शक पूर्व ३१०० के आसपास थी। तब से अब तक अर्थात् लगभग ४९०० वर्षों में सम्पात की गति ६८ अंश हुई है । आन्दोलन हमारे यहाँ ५४ अंश ही माना है। उससे यह अधिक है, अतः हमारे ही ग्रन्थों के प्रमाण से यह सिद्ध हो जाता है कि सम्पात का आन्दोलन नहीं होता, पूर्ण भ्रमण होता है । इस स्थिति में ज्योतिषशास्त्र के निर्णयानुसार धर्मशास्त्र को ऋतुमाससाहचर्यसाधक सायनपद्धति ही स्वीकार करनी चाहिए और पञ्चाङ्ग भी सायन ही बनना चाहिए ।

वर्षारम्भ एक-एक मास पहले लाने की युक्ति

वर्तमान निरयन मान से उत्पन्न उपयुक्त ऋतुसम्बन्धी प्रतिकूलता को निरयन मान रखते हुए दूर करने की एक युक्ति कुछ लोग बताते हैं। उनका कथन है कि वर्षमान शुद्ध निरयन लीजिए, नक्षत्र, राशि और संक्रान्तियाँ भी निरयन ही लीजिए, निरयन मेषादि संक्रान्तियाँ जिन चान्द्रमासों में हों उन्हें वर्तमान पद्धति के ही अनुसार चैत्रादि कहिए. परन्तु जब अयनांश ३० हो जाते हैं और सम्पात निरयन मीनारम्भ में चला जाता है, उस समय वर्षारम्भ निरयन मीनारम्भ से अर्थात् निरयन फाल्गुन से कीजिए। मधुमाधवादि ऋतु संबंधी जो नाम सम्प्रति चैत्र से आरम्भ किये जाते हैं, उन्हें फाल्गुन से आरम्भ कीजिए और चैत्रादि मासों के धर्मकृत्य एक मास इधर हटाकर फाल्गुनादि में कीजिए। इसी प्रकार और कुछ दिनों बाद वसन्तारम्भ माघ में होने लगे, तो उसे ही मधु कहिए और वसन्त ऋतु में विहित कर्म चैत्र में न करके माघ में कीजिए। ऐसा करने से जो कर्म जिस ऋतु में विहित हैं उसी में होते रहेंगे और तारात्मक रेवती, उत्तरा-भाद्रपदा इत्यादि नक्षत्रों के स्थानों को अश्विनी नहीं कहना पड़ेगा। यह मत केरोपन्त छत्रे और कृष्णशास्त्री गोडबोले का था। सम्प्रति लोकमान्य तिलक और बेंकटेश बापूजी केतकर का भी यही कथन है।[1]

---

१८ $\frac{1}{2}$ वर्ष में एक प्रदक्षिणा करते हैं । उतने समय में चन्द्रमा विषुववृत्त से कभी २८ अंश और कभी १८ अंश तक उत्तर जाता है । तदनुसार विषुववृत्त के पूर्ण गोल भाग पर अकर्षण न्यूनाधिक होने के कारण ध्रुव के भ्रमण में अन्तर पड़ता है । प्रति १८ $\frac{1}{2}$ वर्ष में वह अपनी पूर्वस्थिति में आ जाता है । पृथ्वी का मध्य भाग ध्रुवस्थान की तरह चिपटा नहीं है यह स्थिति कभी भी--कम से कम लाखों वर्ष--बदलने की सम्भावना नहीं है, अतः सम्पात का पूर्ण भ्रमण ही होगा ।

1. केरोपन्त का मत सन् १८८३ के ७ अक्टूबर और ४ नवम्बर के अरुणोदय पत्र

आपाततः यह मार्ग उत्तम ज्ञात होता है, पर वस्तुतः ग्राह्य नहीं है। इनमें से कुछ लोगों का मत है कि इसे स्वीकार करने में परम्परा का भी आधार है। उनका कथन है कि उत्तरायण निरयन फाल्गुन, माघ, पौष और मार्गशीर्ष मासों में अर्थात् उत्तरोत्तर एक-एक मास पहले होता आया है और वेद में उत्तरायणारम्भ में वर्षारम्भ करने को कहा है, अतः फाल्गुन, माघ इत्यादि मासों में वर्षारम्भ किया जा सकता है। इस विषय में केरोपन्त का मुख्य प्रमाण सांख्यायन ब्राह्मण का 'या वैषा फाल्गुनी पौर्णमासी संवत्सरस्य प्रथमा रात्रिः' यह वचन था। तिलक ने संवत्सरसत्र के अनुवाक के आधार पर उत्तरायणारम्भ मासों की मालिका में चैत्र को भी जोड़ दिया है।

छत्रे और तिलक के दिये हुए प्रमाणों का उत्तरायण से कोई सम्बन्ध नहीं है, यह हम पहले सिद्ध कर चुके हैं। वेदों में कहीं भी उदगयनारम्भ में वर्षारम्भ का वर्णन नहीं है। यह कथन मेरा ही नहीं है, सायणाचार्य ने भी इस वाक्य का अर्थ उत्तरायण-परक नहीं किया है। माधवाचार्य ने भी कालमाधव में अनेक वेदवाक्यों के आधार पर संवत्सरारम्भ का विवेचन करते हुए अन्त में वसन्त के आरम्भ में चैत्र में वर्षारम्भ निश्चित किया है। उन्हें वेदों में उद्गयनारम्भ में वर्षारम्भ का बोधक एक भी वचन नहीं मिला। इतना ही नहीं, उन्होंने यह भी निर्णय नहीं किया है कि वर्षारम्भ चैत्र, फाल्गुन, माघ इत्यादि मासों में अर्थात् क्रमशः पूर्व हटता आ रहा है।

वेदाङ्गज्योतिष में माघ में उत्तरायण माना है, यह बात सत्य है। महाभारत में भी वह पद्धति दो एक स्थानों में मिलती है। वेदाङ्ग को छोड़ अन्य सब ज्योतिषग्रन्थों में उत्तरायण पौष में माना है, पर इससे मास का नाम माघ, पौष इत्यादि क्रम से पहले लाने की परम्परा नहीं सिद्ध होती। अब यहाँ वेदाङ्गज्योतिष में माघ में बताया हुआ उत्तरायण पौष में चला आने का कारण बतायेंगे।[1] वेदों में मधु माधव वसन्त के मास

में प्रकाशित हुआ था। केतकर का मत उसी पत्र में लगभग सन् १८८४ में आया था। तिलक का मत उनके 'ओरायन' ग्रन्थ में और मुख्यतः सन् १८९३ के केसरी में छपा था। गोडबोले से प्रत्यक्ष वार्त्तालाप द्वारा मुझे उनका मत ज्ञात हुआ है। बापूदेव शास्त्री का मत यह नहीं था। वह पिछले पृष्ठों में लिखा ही है।

१. निरयन मान के अनुसार मासों का नाम रखने से उत्तरायण माघ, पौष, मार्गशीर्ष इत्यादि क्रम से पहले अवश्य आयेगा परन्तु उत्तरायण जिस मास में होता है उसे फाल्गुन, माघ, पौष इत्यादि मानने की अर्थात् निरयन पद्धति के अनुसार मासों के नाम रखकर प्रति दो सहस्र वर्ष में वर्षारम्भ एक मास पूर्व लाने की परम्परा है या नहीं, इसी का विचार करना है और मैं यह सिद्ध कर रहा हूँ कि ऐसी परम्परा नहीं है।

और मधु वर्ष का आरम्भ मास माना गया है। जिस समय चैत्रादि संज्ञाएँ प्रचलित हुईं, वसन्त चैत्र में होता था, अतः धर्मशास्त्रकारों ने वेदकालीन पद्धति के अनुसार चैत्र-वैशाख को वसन्त के मास और चैत्र को संवत्सर का आरम्भमास मान लिया। वेदाङ्ग-ज्योतिषकाल में माघ में उत्तरायण होता था तो भी उसके कारण इस पद्धति में कोई बाधा नहीं पड़ी, पर जब आगे चलकर मेषादि संज्ञाएँ प्रचलित हुईं उस समय चैत्र में मेष संक्रान्ति होती थी और चैत्र में संवत्सर आरम्भ किया ही जाता था, अतः ज्योतिषियों ने मासों का नाम रखने की 'मेषादिस्थे सवितरि' परिभाषा बनायी। वेदाङ्गज्योतिकाल में यह नहीं थी। ज्योतिषियों द्वारा निर्मित नवीन परिभाषा धर्मशास्त्रकारों ने भी मान ली। इस प्रकार मकरसंक्रान्ति पौष में आ गयी और फिर माघ में होने वाले उत्तरायणारम्भ को भी पौष में ही मानना पड़ा। धर्मशास्त्रकारों ने इसका विरोध नहीं किया। वेदाङ्गज्योतिषपद्धति निजरूप में बहुत दिनों तक सर्वत्र प्रचलित नहीं थी, यह बात वेदाङ्गज्योतिषविचार में सिद्ध कर चुके हैं। इससे माघ में उत्तरायण मानने की पद्धति का त्याग कर पौष में सर्वदा उत्तरायणारम्भ मानने की पद्धति स्थापित करने में कोई असुविधा नहीं हुई, परन्तु अब वह परिभाषा बदली नहीं जा सकती। सम्प्रति कभी कभी उत्तरायणारम्भ मार्गशीर्ष में होता है, पर धर्मशास्त्र को यह बात ज्ञात नहीं है, अतः मान्य भी नहीं है। सूर्यसिद्धान्त के उपर्युक्त श्लोकों से सिद्ध होता है कि उसे भी यह बात मान्य नहीं है। ज्योतिष को जो मान्य नहीं है, उसे धर्मशास्त्र भी नहीं मानता। सरांश यह कि सम्प्रति कभी-कभी मार्गशीर्ष में भी उत्तरायण होता है, पर धर्मशास्त्र ने उसे मान्य नहीं किया है और प्रति दो सहस्र वर्ष में वर्षारम्भ एक मास पहिले लाने की परम्परा भी धर्मशास्त्र में नहीं है। ये दोनों बातें धर्मशास्त्र के किसी भी ग्रंथ में नहीं मिलेंगी।

संवत्सरसत्र के अनुवाक में चित्रापूर्णमास, फल्गुनीपूर्णमास और एकाष्टका (माघ कृष्ण ८) को संवत्सरसत्र आरम्भ करने का विचार किया है। इस आधार पर यदि कोई कहे कि भिन्न-भिन्न कालों में उन दिनों से उदगयनारम्भ और वर्षारम्भ क्रमशः न होता रहा हो तो भी वसन्तारम्भ और वर्षारम्भ अवश्य होता रहा होगा और इससे वर्षारम्भ एक-एक मास पूर्व लाने की परम्परा सिद्ध होती है, तो भी यह असम्भव है, क्योंकि संवत्सरसत्र का अनुवाक तैत्तिरीयसंहिता और ताण्ड्यब्राह्मण में है और ये दोनों ग्रन्थ शकपूर्व २००० वर्ष, अधिकाधिक शकपूर्व १५०० से नवीन नहीं हैं, यह बात तिलक को भी स्वीकार करनी चाहिए, अतः उस समय माघ में वसन्तारम्भ की सम्भावना ही नहीं है अर्थात् एकाष्टका को संवत्सरारम्भ मानने का कोई दूसरा कारण होगा और वह गौण होगा, यह पहिले बता चुके हैं। अब रह गये चित्रापूर्ण-

मास और फल्गुनीपूर्णमास। प्रत्येक सूर्यसंक्रान्ति चान्द्रमास के सम्बन्ध से २९ दिन आगे पीछे होती है, यह प्रसिद्ध है। मेषसंक्रान्ति चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से चैत्र कृष्ण-अमावास्या पर्यन्त चाहे जिस दिन हो सकती है। इसी प्रकार प्रत्येक ऋतु के आरम्भ-काल में इतना अन्तर पड़ सकता है, अतः वसन्तारम्भ एक ही काल में किसी वर्ष फाल्गुनी-पूर्णिमा को और किसी वर्ष चैत्रीपूर्णिमा को हो सकता है। पूर्णिमान्त मान से मास की समाप्ति पूर्णिमा को होती है, अतः वर्षारम्भ के नियम सूक्ष्मतया निश्चित होने के पूर्वकाल में वसन्त में इन दोनों तिथियों से वर्षारम्भ की कल्पना होना स्वाभाविक है। सायणाचार्य ने इस अनुवाक का अर्थ इसी दृष्टि से किया है। माधवकृत कालनिर्णय में भी इसी अर्थ की पुष्टि की गयी है।[1] वर्षारम्भ के भिन्न-भिन्न मास पहिले लिख चुके हैं, उनमें भी वर्षारम्भ एक-एक मास पूर्व लाने की परम्परा नहीं है।

धर्मशास्त्र-परिवर्तन असम्भव

वर्षारम्भ एक-एक मास पहिले लाना और चैत्र के धर्मकृत्यों को फाल्गुन में करना धर्मशास्त्र बदलने के समान ही है। इस मत का समाचारपत्रों तक ही रह जाना ठीक है। मालूम होता है, विद्वानों और साधारण जनता में इसका कितना उपहास होगा, इसकी इसके उत्पादकों और अनुयायियों को कल्पना भी नहीं हुई। मुंजाल ने सम्पात का पूर्ण भ्रमण माना है। मरीचि टीकाकार मुनीश्वर ने उनके इस मत को नास्तिकमत, यवनमत इत्यादि कहा है, क्योंकि पूर्ण भ्रमण मानने से ऋतुओं के विषय में श्रुति का विरोध आता है। ऋतुमासव्यत्यय के कारण का केवल कथन भी उन्हें अनुचित प्रतीत हुआ तो फिर ऐसे धर्मशास्त्री चैत्र के धार्मिक कर्मों को फाल्गुन में करना कब स्वीकार करेंगे?

इस पद्धति को मान लेने पर भी ऋतु की अशुद्धि दूर नहीं होगी, क्योंकि सम्पात सदा चलता रहता है। जिस समय वह निरयन मीनारम्भ में आयेगा, हम वहीं से

---

१. लोकमान्य तिलक का ग्रन्थ प्रकाशित होने के पूर्व ही सन् १८८७ ई० में मैंने यह ग्रन्थ लिखना प्रारम्भ कर दिया था और उसी समय संवत्सरसत्र के अनुवाक के संवत्सरारम्भ सम्बन्धी वाक्यों का विवेचन किया था। उनकी संगति जैसी यहां पहले लगायी गयी है वैसी ही उस समय भी लगायी थी। सन् १८९५ ई० में Indian Antiquary में तिलक के ग्रन्थ पर प्रो० थीबो का अभिमत प्रकाशित हुआ है। उन्होंने भी इन वाक्यों का अर्थ मेरी तरह ही लगाया है। केरोपन्त के आधारभूत वाक्य का अर्थ भी इसमें आ गया है।

वर्षारम्भ कर देंगे पर वह सर्वदा पहिले आता रहेगा और हमारा वर्षारम्भ स्थिर रहेगा। इस प्रकार उसमें तब तक अशुद्धि बढ़ती जायगी, जब तक सम्पात कुम्भारम्भ में नहीं आ जायगा। कुम्भारम्भ में आने पर हम वर्षारम्भ वहीं से करेंगे और फिर अशुद्धि होने लगेगी। वह ३० दिन पर्यन्त जायगी।

अनिवार्य कठिनाई

जिन कर्मों का सम्बन्ध ऋतु-मास-तिथि से ही है, वे कदाचित् एक एक मास पहिले लाये जा सकते हैं, पर पूर्वोक्त मार्ग स्वीकार करने में सबसे बड़ी अड़चन यह है कि कुछ कर्म ऋतु, मास, तिथि और साथ ही साथ नक्षत्र से भी सम्बन्ध रखते हैं। जैसे विजया-दशमी शरदऋतु में आश्विन शुक्ल दशमी को आती है। उसमें श्रवण नक्षत्र का योग भी अपेक्षित है। पर भाद्रपद की शुक्ल दशमी को श्रवण नक्षत्र कभी नहीं आयेगा। उस मास में द्वादशी को आता है और श्रावण की शुक्ल चतुर्दशी को आता है, अतः श्रावण में विजयादशमी यदि दशमी को मानेंगे तो श्रवण नक्षत्र नहीं मिलेगा और श्रवण नक्षत्र लेंगे तो दशमी तिथि नहीं मिलेगी। उस समय दशहरा या दशमी शब्द भी उसमें लागू नहीं हो सकेगा।

नया धर्मशास्त्र मान्य कैसे हो

यदि पूर्वोक्त पद्धति धर्मशास्त्रसम्मत न होते हुए भी प्रचलित करनी है तो नवीन धर्मशास्त्र बनाना पड़ेगा, पर धर्मशास्त्रग्रन्थों और लोकस्थिति का विचार करने से यह कार्य दुष्कर प्रतीत होता है। विद्वानों की समिति द्वारा नवीन धर्मशास्त्रग्रन्थ बन-वाया जा सकता है, पर उसका मान्य होना अत्यन्त कठिन है। शंकराचार्य की सम्मति मिल जाय, इतना ही नहीं, उसे कानून का रूप देकर पास करा लिया जाय तो भी उसका प्रचार होना कठिन है। हमारे देश में धर्मशास्त्र के सहस्रों ग्रन्थ और उनकी लाखों प्रतियाँ विद्यमान हैं। उन सबों को नष्ट करना होगा। उनका त्याग करने पर भी अन्य विषयों के ग्रन्थ लुप्त नहीं किये जा सकते। उन सहस्रों ग्रन्थों में वर्णित तथा करोड़ों मनुष्यों के हृदयपट पर अंकित पद्धति को बदलना असम्भव है। उत्तरायण पहिले धनिष्ठारम्भ में होता था, बाद में उत्तराषाढ़ा में होने लगा, फिर भी दो तीन ग्रन्थों में धनिष्ठादि गणना मिलती है। यद्यपि वह कुछ ही प्रान्तों में कुछ ही काल तक प्रचलित थी, तथापि वराहमिहिर सरीखे विद्वानों को भी उसके कारण भ्रम हो गया था। अतः सहस्रों ग्रन्थों में लिखित एवं दीर्घकाल तक सारे देश में प्रचलित वर्तमान पद्धति को बदलने से सामान्य जनता में बड़ी खलबली मच जायगी। आश्विन की विजयादशमी भाद्रपद की द्वादशी को मानने की आज्ञा देने पर अज्ञ जनता में बड़ा बुद्धिभेद उत्पन्न

होगा। उस परिस्थिति में क्या-क्या उपद्रव खड़े होंगे, इसका वर्णन करें तो दस-बीस पृष्ठ लग जायँगे। सारांश यह है कि चाहे जिस दृष्टि से विचार कीजिए, चैत्र के वर्षारम्भ और अन्य कर्मों को फाल्गुन, माघ इत्यादि पहिले मासों में लाना त्याज्य सिद्ध होता है।

व्यावहारिक दृष्टि से विचार

अब व्यावहारिक दृष्टि से सायन-निरयन का विचार किया जाय। सायन के बिना व्यवहार में कोई बड़ी कठिनाई आवेगी, यह बात नहीं। जिन्हें व्यवहार में पञ्चाङ्ग की आवश्यकता नहीं होती, उनके सम्बन्ध में विचार करना ही अनावश्यक है। विचार करना है उन्हीं के सम्बन्ध में जिन्हें पञ्चाङ्ग की आवश्यकता पड़ती है। शक ४४४ के करीब आर्द्रा सूर्य नक्षत्र लगभग आधा बीतने पर वर्षा का आरम्भ होता था। सम्प्रति यह मृग के आरम्भ में होता है। आजकल बार्शी, सोलापुर जिलों की जनता के मुख्य अनाज ज्वार की बुआई हस्तनक्षत्र के आधे के करीब होती है। शक ४४४ के करीब यह स्वाती के आरम्भ में होती रही होगी, यह स्पष्ट है। किन्तु पहिले स्वाती में बुआई होती थी, इसकी कल्पना लोगों को स्वप्न में भी नहीं हो सकती। लोग समझते हैं कि हस्त में ही बुवाई होने का नियम सृष्टि की उत्पत्ति के समय से चला आ रहा है। निरयनमान ऐसा ही रहा तो कुछ काल के बाद बुवाई उत्तरा में करनी होगी। किन्तु यह फेरफार इतनी मन्दगति से होने वाला है कि किसी व्यक्ति के जीवनकाल में ही नहीं, तीन चार पीढ़ियों में भी उसके समझ में आने की सम्भावना नहीं, अतः वह बिना परिलक्षित हुए सहज ही होता रहेगा। इस प्रकार अधिकांश व्यवहार के लिए सायनमान न होने पर भी कोई बाधा न पड़ेगी।

किन्तु विवाह कार्य का व्यवहार से निकट सम्बन्ध है और धर्मशास्त्र से भी है। इसमें निरयन मान से बाधा पड़ेगी ऐसा पहिले ही बताया गया है। यह बाधा बहुत दिनों में आयेगी, यह सच है किन्तु वह आयेगी अवश्य, इसमें कोई सन्देह नहीं। आजकल भी ज्येष्ठ का महीना कभी-कभी वर्षा शुरू हो जाने के कारण विवाह के लिए अनुपयुक्त होने लगा है। इसके विपरीत सायनमान स्वीकार करने से वर्तमान व्यवहार में बाधा पड़ेगी या नहीं, यह देखा जाय। हमारे महीने चान्द्र हैं, इसलिए हमें अधिक मास मानना पड़ता है। यह बात सायनमान शुरू होने में बहुत अनुकूल है। जूलियस सीजर के समय वर्ष के दिन एक बार बढ़ाने पड़े थे। पोप ग्रेगरी के समय तथा ईसवी सन् १७५२ में इंग्लैंड में कानून बनाकर आज अमुक तारीख है तो कल १०।१२ तारीखें छोड़कर अगली तारीख निश्चित करनी पड़ी थी। यह बात लोगों को कुछ विचित्र लगी होगी।

कानून से तो वह कर लिया गया, किन्तु हमें ऐसा नहीं करना चाहिये। एक वर्ष पुराने पञ्चाङ्ग के अनुसार अधिक मास आने पर उसे बिल्कुल न मानकर आगे सायन पञ्चाङ्ग स्वीकार कर उसके हिसाब से अधिक मास मानने से ही काम चल जायगा। यदि सभी पञ्चाङ्ग बनाने वाले ऐसा करने का विचार करें तो लोगों को पता लगे विना ही यह फेरफार अनायास हो जायगा। यह उपाय मान लेने में आसानी है, यह ठीक है। फिर भी निरयन मृग नक्षत्र के आरम्भ में सायन आर्द्रा नक्षत्र सम्प्रति होता है और तब वर्षा शुरू होती है, इसलिए मृग के आरम्भ में होने वाली वर्षा आर्द्रा नक्षत्र आधा होने पर भी क्यों नहीं होती, यह बात लोगों की समझ में न आयेगी। वर्षा प्रारम्भ होने के समय निरयन मृग के आरम्भ में करने के कार्य सायन मृग के आरम्भ में लोग सम्भवतः करने लगेंगे। इस प्रकार व्यवहार में बाधा पड़ेगी। धीरे-धीरे परिवर्तन हुआ तो उससे व्यवहार में बाधा न पड़ेगी। किन्तु सभी संक्रान्तियाँ तथा सूर्यनक्षत्र २२ दिन पहले लाना बहुत ही दुष्कर होगा। गुरु कब बदला, चन्द्रमा कौन-सी राशि में है, आदि बातों में यदि फेरफार हुआ तो लोगों को उसका विशेष पता न चलेगा, किन्तु हस्त में की जानेवाली बुवाई स्वाती में की जाय, यह बात उन्हें विचित्र लगेगी। नक्षत्र, सूर्य-क्रान्ति ये बातें हम लोगों में बद्धमूल होने के कारण तारीखों में १०-१२ दिन का फरक पड़ने से यूरोपियनों को व्यवहार में जितनी कठिनाई हुई होगी, उससे कहीं अधिक कठिनाई हम लोगों को होगी। सायन पञ्चाङ्ग स्वीकार करने के लिए कुछ लोग तैयार हो जायँ तो सभी उसे स्वीकार कर लेंगे, ऐसा नहीं कहा जा सकता। ऐसी स्थिति में पुराना पञ्चाङ्ग चालू रहने पर उस पञ्चाङ्ग से फाल्गुन को सायन चैत्र कहना पड़े तो यह अनायास लोगों की समझ में आ जायगा। ब्रह्मगुप्त की संक्रान्ति एक दिन पहिले थी। वह प्रचार में भी आ गयी थी, किन्तु अन्त में वह रह नहीं पायी। केरोपन्ती पञ्चाङ्ग की संक्रान्ति चार दिन पहले है, फिर भी उस पञ्चाङ्ग के प्रचार में न आने का कारण भी वही है। सायनमान की संक्रान्तियाँ तो २२ दिन पहिले आती हैं, इसलिए ऐसा पञ्चाङ्ग प्रचार में आने में तो बहुत कठिनाई होगी। इस प्रकार इसमें कई बाधाएँ हैं किन्तु उन्हें दूर करने के प्रश्न पर आगे विचार किया गया है।

जातकस्कन्ध की दृष्टि से विचार

सायनमान ग्राह्य है, ऐसा विचार अब तक मुख्यतः गणित और मुहूर्त इन स्कन्धों की दृष्टि से किया गया। इन दोनों को जो मान्य हो, वह जातक स्कन्धों को मान्य होना चाहिए। कौन-से मान से पत्रिका बनाने पर वह अनुभव पर खरी उतरेगी, इस पर ही बहुत कुछ इस बात का निर्णय निर्भर है, इसमें सन्देह नहीं। सायनमान से पत्रिका खरी

उतरती है, ऐसा सायनवादी ज्योतिषी माधव, ब्रह्माजी तथा जीवनराव त्र्यम्बक चिटणीस कहते हैं।[1] यूरोप के वर्तमान प्रसिद्ध ज्योतिषी जडकिल और रफील सायन मान से ही पत्रिका बनाते हैं। हमारे देश में इस समय सर्वत्र निरयन मान से पत्रिका बनाते हैं तथापि जातकोत्तम ग्रन्थ के ज्योतिर्निबन्ध में ऐसा वचन है——

उच्चतः सप्तमं नीचं प्रोक्तांशे परिनीचता।
इह कार्यः सायनांशखचरैः फल निर्णयः॥

इससे जातक प्रकरण में सायनमान ग्राह्य है, ऐसा हमारे ग्रन्थकारों का भी मत है। सायन-निरयन के आरम्भस्थान में जब बहुत अन्तर नहीं था तभी जातक के अधिकांश ग्रन्थ लिखे गये थे। इसलिए वे सायन के अनुसार होंगे, ऐसा लगता है,। इस सम्बन्ध में अधिक विवेचन आगे जातकस्कन्ध में किया गया है। सायनमान से पत्रिका ठीक सिद्ध कर दो तो हम सायनमान स्वीकार करेंगे, ऐसा कहने वाले मुझे कई मिले हैं, किन्तु मुझे लगता है कि किसी भी मान से वह सर्वांश से साध्य नहीं।

उत्तम ग्राह्य मार्ग

पहले तर्क की दृष्टि से जो विचार किया गया, वह सभी काल में सबको मान्य होने लायक है। इसलिये इस विचार के अनुसार सायन मान स्वीकार करना सबसे उत्तम मार्ग है। ऐतिहासिक दृष्टि और धार्मिक दृष्टि से भी वही मार्ग ग्राह्य है, यह ऊपर दिखाया ही जा चुका है। इस मार्ग से व्यवहार में पहले कुछ कठिनाई होगी। किन्तु जूलियस सीजर ने ईसवी सन् के पूर्व ४६वें वर्ष में जब पञ्चाङ्ग शुद्ध किया, तब वर्षारम्भ ६७ दिन एकाएक आगे बढ़ा देने से उस समय लोगों में जो भ्रम फैला होगा और जो असुविधा हुई होगी, उसके मुकाबले हमारे यहाँ वर्षारम्भ २२ दिन पहले हटाने से होनेवाली असुविधा कुछ भी नहीं। इसके अलावा अधिकमास के कारण किस प्रकार सुविधा होती है, यह अभी अभी बता ही चुके हैं। जिस वर्ष ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग से अधिकमास है और सायन से नहीं है, ऐसे वर्ष में सायन पञ्चाङ्ग शुरू करने से सब ठीक हो जायगा। तिथि दोनों की एक ही है। कृषि के सम्बन्ध में कुछ वर्ष तक कठि-

---

१. माधवराव ब्रह्माजी ने 'संवत्सर भविष्य माला' नाम की शक १८०६ के भविष्य की पुस्तक प्रकाशित की थी। उसमें भविष्य सायन मान से दिये गये थे। चिटणीस ईसवी सन् १८९५ की मई से 'ज्योतिर्माला' नाम की जो मासिक पत्रिका बम्बई से प्रकाशित करते हैं, उसमें फलज्योतिष का विचार सायनमान से किया जाता है।

नाई होगी किन्तु पहले अमुक सूर्यनक्षत्र में खेती के जो काम होते हों वे अब अमुक नक्षत्र में किये जायँ ऐसे नियम पञ्चाङ्गों में कुछ दिन लिख देने और कुछ वर्ष कार्यान्वित होने पर उनमें कभी बाधा पैदा न होगी और न किसी प्रकार की कठिनाई होगी। आवश्यकता केवल ऐसा ग्रन्थ तैयार करने की है जिसके आधार पर सायन पञ्चाङ्ग बनाया जा सके।

दूसरा मार्ग

उपर्युक्त मार्ग से प्रतिदिन के तिथि-नक्षत्रों में कोई कठिनाई न होगी, किन्तु वर्षा आदि के सूर्यनक्षत्र २२ दिन पूर्व होने के कारण खेती के काम में थोड़ा भ्रम पैदा होगा। तारात्मक नक्षत्रों में एकदम करीब पौने दो नक्षत्रों का अन्तर पड़ने से वह कुछ भ्रामक होगा। इसलिए यदि यह मार्ग कुछ परेशानी का प्रतीत हो तो एक दूसरा मार्ग भी है; यह इस प्रकार है––अयनांश सम्प्रति सूर्यसिद्धान्तादि के अनुसार मानने का निश्चय किया जाय (शक १८०५ में २२); और वर्षमान शुद्ध सायन रखा जाय। इसमें अयनगति अनायास ही शून्य होगी। ऐसा करने से वर्तमान ऋतु में २२ दिन का जो फरक पड़ता है वह उतना ही रहेगा, उससे अधिक न होगा। इस मार्ग का ग्रन्थ तैयार होने पर इसके प्रचलित होने में किसी प्रकार की कठिनाई न होगी। न राजाज्ञा की और न शंकराचार्य की आज्ञा या सहायता की आवश्यकता होगी। जब छापाखाने थे, उस समय जैसे ग्रहलाघव ग्रन्थ सर्वत्र कुछ ही वर्षों में फैल गया, वैसे ही इस मार्ग का ग्रन्थ और पञ्चाङ्ग भी सहज ही सर्वत्र शीघ्र प्रचलित हो जायगा।

निरयनमान ग्राह्य नहीं, ऐसा ऊपर सिद्ध किया गया है, तथापि सायनमार्ग स्वीकार करना दुष्कर प्रतीत हो, निरयन ही ग्रहण करना हो तो ग्रहलाघवादि का, केरोपन्ती एवं बापूदेव आदि इन तीनों में से कोई एक लिया जाय अथवा नया ही ग्रहण किया जाय, इस पर विचार करना चाहिए। सूर्यसिद्धान्तादिकों का निरयन वर्षमान चालू रहा तो क्या परिणाम होगा, यह तार्किक दृष्टि से ऊपर दिखा ही चुके हैं। अतः वह वर्षमान छोड़कर शुद्ध नाक्षत्र सौर वर्षमान ग्रहण किया जाना चाहिए यह हमें मानना होगा। सूर्यसिद्धान्त का वर्ष लिया जाय तथा शुद्ध ग्रहगतिस्थिति लेकर पञ्चाङ्ग तैयार किया जाय, ऐसा बापूदेव का कहना है। रघुनाथाचार्य का भी ऐसा ही कहना है। इसका उद्देश्य इतना ही है कि सूर्यसिद्धान्त का वर्षारम्भ मानने से अयनांश में पड़ने वाला फरक इतना कम होगा कि लोगों का ध्यान उधर न जायगा। इस प्रकार सूर्य-संक्रान्तियाँ और अधिमास पूर्व के समान ही आयेंगे और सामान्य लोगों को तथा ज्योतिषियों को भी यह पञ्चाङ्ग मान लेने में आपत्ति न होगी। उनका उद्देश्य इससे अधिक नहीं

दिखाई देता। किन्तु यदि इसे साधकर भी शुद्ध वर्षमान स्वीकार किया जा सके, तो वह मार्ग किसी को भी मान्य हो सकेगा। अब केरोपन्त का मत तो यह है कि शुद्ध नाक्षत्र (निरयन) सौरवर्ष ही ग्रहण किया जाय। किन्तु उनकी राय है कि ज़ीटा-पीशियम तारे को आरम्भस्थान मान लिया जाय। ऐसा करने पर सूर्यसंक्रमण में चार दिन का अन्तर पड़ता है तथा अधिकमास भिन्न होता है। इसी लिए केरोपंती पञ्चाङ्ग मान्य नहीं होता। ज़ीटापीशियम तारा शक ४४४ के करीब आरम्भस्थान के पास था, यह सही है, फिर भी सूर्यसिद्धान्त के रेवतीभोग शून्य नहीं; ३५९।५० अर्थात् १० कला कम है। लल्ल ने रेवतीभोग ३५९।० माना है, अर्थात् यह एक अंश कम है। ब्रह्मगुप्त ने और उसके बाद के ज्योतिषियों ने रेवतीभोग शून्य माना है। फिर भी उनके अथवा हमारे किसी भी ग्रन्थ के आरंभस्थान में ज़ीटापीशियम या कोई भी तारा सर्वदा रह नहीं सकता, ऐसा मैं अयनचलन विचार में स्पष्ट बता चुका हूँ। आरम्भ-स्थान में रेवती तारा होना चाहिए, ऐसा ब्रह्मगुप्त तथा उनके बाद के ज्योतिषियों का कहना सही है। रेवती नक्षत्र के ३२ तारे हैं। उनमें से कोई ऐसा तारा मिले कि जिसका सम्पात से सम्प्रति अन्तर, सभी ग्रन्थों से प्राप्त होने वाले वर्तमान अयनांशों के लगभग हो, तो उसे आरम्भ स्थान में मानकर शुद्ध नाक्षत्र सौरवर्ष मानने के लिए ब्रह्मगुप्त आदि सब ज्योतिषी, यदि वे आज जीवित होते, खुशी से तैयार हो जाते। केरोपन्त ने हमारे सभी ग्रन्थों में अयनचलन का इतिहास देखा था, ऐसा नहीं मालूम होता। अयनांश कम मानने से संक्रमण यदि पहल आता है तो वह लोकप्रिय होगा या नहीं, इसका विचार पञ्चाङ्ग प्रारम्भ करते समय उन्होंने नहीं किया और यह विचार उस समय उत्पन्न होने का कोई कारण भी नहीं था। इसी कारण शुद्ध निरयन वर्ष मानने पर भी अन्तर लोगों की समझ में न आये, ऐसा करने का कोई मार्ग है या नहीं, इस पर सम्भवतः उन्होंने विचार नहीं किया। ऐसा मार्ग है, यह मुझे ज्ञात हुआ है। रेवती के तारों की मृदङ्गा-कृति हमारे ग्रन्थों में वर्णित है। उसका एक तारा शक १८०९ के आरम्भ में सम्पात से २१ अंश ३२ कला ५७ विकला अन्तर पर है, इसलिए हमारे सिद्धान्त का आरम्भ-स्थान वर्तमान ज़ीटापीशियम से भी उसके लिए अधिक समीप होगा। हमारे अलग-अलग सिद्धान्तों के वर्षमान के अनुरूप शक १८०९ में अयनांश कितने माने जायँ, यह पहले लिख चुके हैं। वे २१ अंश ५६ कला से २२ अंश ३ कला तक हैं। मध्यम रवि माना जाय तो वे २२।४ से २२।१८ तक होंगे। इसी प्रकार हमारे देश के वर्तमान प्रचलन को देखा जाय तो शक १८०९ में अयनांश कहीं २२।४५, कहीं २२।४४ और कहीं २०।४९ हैं, यह भी लिखा जा चुका है। ऐसी स्थिति में ऊपर मैंने जो तारा बताया है, उसे आरम्भ स्थान में मानने पर शक १८०९ में अयनांश २१।३३ मानना

पड़ेगा। यह ऊपर के सब तारों से अधिक नजदीक है। तेजस्विता के सम्बन्ध में ज़ीटा-पीशियम तारा वेध के लिए अथवा केवल देखने के लिए जितना उपयोगी है, उतना ही यह तारा भी उपयोगी है। ज़ीटापीशियम को आरम्भस्थान मानने से ११ नक्षत्रों में गड़बड़ी होती है, किन्तु इसे मानने पर ७ में[1] ही गड़बड़ी होगी, यही इसकी सुविधा है। इसी लिए इस तारे को आरम्भस्थान में माना जाय, उसके सम्पात से जो अन्तर हो, उसे अयनांश माना जाय। तात्पर्य यह है कि चित्रा तारा वेध के लिए बहुत उपयोगी है। सूर्यसिद्धान्त में उसका भोग १८० अंश है। इसके आधार पर उसके साथ वेधों की तुलना कर प्राचीन ज्योतिषी ग्रहगतिस्थिति साधते होंगे, ऐसा अनुमान होता है। तो अब चित्रा तारे का भोग १८० अंश मानकर वहाँ से १८० अंश पर आरम्भस्थान माना जाय। चित्रा तारे का सायन भोग शक १८०९ में ६ राशि २२ अंश १६ कला है, इसलिए शक १८०९ में अयनांश २२।१६ माना जाय। यही ऊपर स्पष्ट की गयी बातों से बहुत निकट है। आरम्भस्थान इस प्रकार मानने पर केवल ७–८ नक्षत्रों में गड़बड़ी होगी। सारांश, शक १८०९ में २१।३३ अथवा २२।१६ अयनांश माना जाय।[2]

तीसरा मार्ग

अयन-वर्षगति वास्तविक अर्थात् ५५$\frac{२}{१०}$ विकला मानी जाय और वर्षमान शुद्ध नाक्षत्र सौर अर्थात् ३६५ दिन १५ घड़ी २२ पल ५३ विपल माना जाय। यह मार्ग प्रचलित सभी पञ्चाङ्गों, उसी प्रकार केरोपन्ती, बापूदेव तथा रघुनाथाचार्य आदि के पञ्चाङ्गों से सर्वाधिक उत्तम है। सायन मान के जो दो मार्ग ऊपर बताये गये हैं, वे यदि प्रचलित न हों तो यह तीसरा मार्ग ग्रहण किया जाय, यह उचित ही होगा। इसमें प्रचलित ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग से सूर्यसंक्रमण में केवल कुछ घड़ियों का ही अन्तर पड़ेगा तथा अधिक मास सब व्यवस्थित होंगे। सामान्यतः अन्तर बिलकुल न पड़ेगा। इसी से स्पष्ट है कि उपर्युक्त मार्ग सहज ही प्रचलित हो सकेगा। इसी प्रकार इस मान का नया संस्कृत ग्रन्थ तथा उसके अनुसार तिथि चिन्तामणि जैसी सारणियाँ तैयार

---

१. पहले हम योगतारा-भोग सूक्ष्म (केरोपन्ती) दे चुके हैं, वे ज़ीटापीशियम से दूरी पर हैं। ज़ीटापीशियम से यह तारा लगभग ३ अंश १५ कला आगे है, इस कारण जिनके सामने 'आगे' लिखा है वे उत्तराभाद्रपदा के सिवा सब तारे अपने-अपने प्रदेश में आवेंगे। जिन सात में गड़बड़ी पड़ेगी उनमें ज्येष्ठा तारा केवल २ कला पीछे रहेगा।

२. इस ग्रन्थ का यह भाग पहले-पहल शक १८१० में लिखा गया था, इसलिए इसमें १८०६ के गणित का उल्लेख है।

होने पर यह मार्ग बहुत जल्द प्रचलित हो सकेगा, इसका मुझे विश्वास है। यदि केरोपन्त के सामने यह मार्ग कोई प्रस्तुत करता तो वे उसे तत्काल मान लेते, क्योंकि पटवर्द्धनी पञ्चाङ्ग में उन्होंने जो मार्ग स्वीकार किया है उसकी अपेक्षा जीटापीशियम के स्थान पर दूसरा तारा मानना, मात्र इतना ही दोनों में अन्तर है। बापूदेव तथा रघुनाथाचार्य आदि का उद्देश्य इससे सिद्ध हो जाने से उनके अनुयायियों को भी यह मार्ग पसन्द आयेगा।

उपर्युक्त दूसरे और तीसरे मार्ग में वर्षमान तथा ग्रहस्थिति शुद्ध लेना, इतना ही पुराने पञ्चाङ्ग से इसमें अन्तर होगा। इस पद्धति का पञ्चाङ्ग किसी भी समझदार मनुष्य के हाथ में देने पर उसकी समझ में न आने लायक कोई बात उसमें न मिलेगी। पञ्चाङ्ग बदल गया, ऐसा भी उसे न प्रतीत होगा। सारांश इन दोनों में से कोई भी मार्ग प्रचलित होने में जरा भी कठिनाई नहीं है।

इन तीन मार्गों की चर्चा से तथा ग्रहादिकों में ग्रहलाघव से आनेवाला अन्तर जो पहले बताया जा चुका है, उससे स्पष्ट है कि ऐसे नवीन ग्रन्थ की आवश्यकता है, जिससे ग्रहगति-स्थिति शुद्ध प्राप्त हो सके। केरोपन्त के ग्रहसाधनकोष्ठक ग्रन्थ में ग्रहगति-स्थिति उतनी शुद्ध तो नहीं है, जितनी इंग्लिश नाटिकल आल्मनाक ग्रन्थ के आधार पर प्राप्त होती है, फिर भी कामचलाऊ दृष्टि से वह पर्याप्त शुद्ध है। उसमें वर्षमान सूर्यसिद्धान्त का लिया गया है और उसके आधार पर ग्रहसायन निकलते हैं। इस कारण वह व्यवहारतः उपर्युक्त तीनों में से किसी भी मार्ग के लिए उपयोगी नहीं, फिर भी यदि कोई नया ग्रन्थ निर्माण किया जाय तो उसमें इस ग्रन्थ से पर्याप्त सहायता मिलेगी। जिन ग्रन्थों के आधार पर इंग्लिश अथवा फ्रेंच नाटिकल आल्मनाक तैयार किया जाता है उन्हीं की सहायता से नया ग्रन्थ तैयार होना चाहिए। वे ग्रन्थ फ्रेंच भाषा में हैं। उन पर से ग्रह सायन निकलते हैं तथा उनकी वर्षमानपद्धति हमसे भिन्न है, इस कारण पर्याप्त कठिनाई होगी, फिर भी प्रयत्न करने पर ग्रन्थ तैयार किया जा सकता है। यह ग्रन्थ संस्कृत में पद्यात्मक होना चाहिए। उसमें गणित के लिए कोष्ठक तैयार हो जाने से ग्रहलाघव के आधार पर ग्रह लाने में जितना परिश्रम करना पड़ता है, उतना अथवा उससे भी कम परिश्रम करने पर ग्रह लाये जा सकेंगे। इसके सिवा तिथि नक्षत्र योग के घड़ी पल निकालने में गणेश दैवज्ञ कृत तिथिचिन्तामणि जैसे कोष्ठक तैयार होने चाहिए। ये भी तैयार किये जा सकते हैं। ये दो ग्रन्थ तैयार होने पर उपर्युक्त तीनों में से, और उनमें भी विशेष कर अन्तिम दोनों में कोई मार्ग प्रचलित होने में बहुत सहायता मिलेगी। केरोपन्ती पञ्चाङ्ग जैसा पञ्चाङ्ग जिसके आधार पर तैयार किया जा सके, ऐसा ग्रन्थ वेंकटेश बापूजी केतकर ने तैयार किया है, ऐसा ज्ञात हुआ है, किन्तु उसमें अयनांश

जीटापीशियम से गिने गये हैं, इसी लिए उसका प्रचलित होना कठिन प्रतीत होता है: बाबाजी विट्ठल कुलकर्णी ने[1] ग्रहलाघव के अनुसार ग्रन्थ लिखा है, किन्तु उसमें वर्षमान सूर्यसिद्धान्त का है और उसके आधार पर ग्रह सायन आते हैं, ऐसा ज्ञात हुआ। अर्थात् वह वस्तुतः किसी भी मार्ग के लिए उपयोगी नहीं और उसका प्रचलित होना भी कठिन है। सुना जाता है कि बापूदेव ने अथवा उनके शिष्यों में से किसी ने उपर्युक्त ढंग का ग्रन्थ तैयार किया है। रघुनाथाचार्य ने भी एक ग्रन्थ लिखा है किन्तु उसमें वर्षमान कौन-सा है, उसके आधार पर उपर्युक्त तीनों में से किसी एक प्रकार का पञ्चाङ्ग तैयार किया जा सकता है या नहीं, यह ज्ञात नहीं हो सका। सारांश, जैसा चाहिए वैसा उपर्युक्त ग्रन्थ अभी नहीं है। ऐसा ग्रन्थ लिखने की मेरी इच्छा है और मैं प्रयत्न भी कर रहा हूँ। यदि ईश्वर की इच्छा होगी तो उसमें मुझे सफलता मिलेगी।

(३) त्रिप्रश्नाधिकार

इसमें दिक्, देश और काल सम्बन्धी प्रश्नों का विचार किया जाता है, इसलिए इसे त्रिप्रश्नाधिकार कहते हैं। इसमें दिक्साधन कई प्रकार से किया जाता है। इष्टकाल द्वारा लग्न और लग्न द्वारा इष्टकाल का आनयन होता है। छायादिकों द्वारा भी कालसाधन किया जाता है। उज्जयिनी से देशान्तर का विचार प्रायः मध्यमाधिकार में रहता है इसलिए वह इसमें नहीं रहता, पर विषुववृत्त से किसी स्थान का अन्तर (अक्षांश) लाने की रीतियाँ दी रहती हैं। इसमें छाया का विचार अधिक रहता है। छायासाधन द्वादशाङ्गुल-शंकु द्वारा किया जाता है। उसमें अभीष्टकाल में ग्रह चाहे जिस दिशा में हो, शंकुच्छाया कितनी होगी और वह किस दिशा में पड़ेगी इत्यादि बातों, का वर्णन रहता है,। भास्कराचार्य से पहिले के आचार्यों ने शंकु की केवल पूर्वापर, दक्षिणोत्तर और कोणछायाएँ लाने की विधियाँ लिखी हैं, परन्तु भास्कराचार्य ने प्रत्येक दिशा का छायासाधन किया है। उसके विषय में उन्होंने अभिमानपूर्वक लिखा है :—

---

१. कुलकर्णी ने 'करणशिरोमणि' तथा 'ग्रह-ज्योत्स्ना' नामक ग्रन्थ लिखे हैं। मैंने उन्हें पढ़ा नहीं है अतः उनकी विशेष जानकारी मुझे नहीं है। ये ग्रन्थ छपे नहीं हैं। इनके सम्बन्ध में केरोपन्त की राय अच्छी है। कुलकर्णी का जन्म शक १७६७ में मालवण में हुआ था और शक १८१५ में उनकी मृत्यु हुई। वे रत्नागिरि जिले में सन् १८६५ से १८७५ ईसवी तक शिक्षा विभाग में और फिर अन्त तक मुल्की विभाग में नौकर थे। उनके द्वारा रचित तारकादर्श पुस्तक १८८६ ईसवी में छपी है।

याम्योदक्समकोणभाः किल कृताः पूर्वैः पृथक्साधनै—
र्यास्तद्दिग्विवरान्तरान्तरगता याः प्रच्छकेच्छावशात्।
ता एकानयनेन चानयति यो मन्ये तमन्यं भुवि।
ज्योतिर्विद्विदनारविन्दमुकुलप्रोल्लासने भास्करम्।।४४।।
सिद्धान्तशिरोमणि, त्रिप्रश्नाधिकार

छाया द्वारा कालसाधन करते हैं, परन्तु उसका मुख्य उपयोग वेधार्थ नलिकाबन्ध में होता है। नलिका द्वारा वेध करने का मुख्य स्वरूप यह है—इष्टकाल में सूर्य (या किसी भी ग्रह) के प्रकाश में खड़े किये हुए शंकु की छाया कितनी और किस दिशा में पड़ेगी, इसको ग्रन्थोक्त गणित द्वारा लाकर तदनुसार नलिका लगाकर उसमें से ग्रह देखा जाता है। इष्टकाल में उसके दिखाई देने पर ग्रन्थागत ग्रहस्थिति शुद्ध समझी जाती है।

विषुवदिन द्वादशांगुल शंकु की छाया उस स्थान की पलभा कही जाती है। यहाँ एक समकोण त्रिभुज बनता है, जिसमें पलभा भुज, शंकु कोटि और शंक्वग्र तथा छायाग्र को मिलाने वाली रेखा कर्ण होती है। इसे अक्षक्षेत्र कहते हैं। हमारे ज्योतिष में इस अक्षक्षेत्र का बड़ा महत्त्व है। इसके सजातीय क्षेत्र बनाकर उनके द्वारा प्रसंङ्गानुसार अनेक मान लाये जाते हैं। इस अधिकार में उन क्षेत्रों का अधिक विचार किया जाता है।

सिद्धान्ततत्त्वविवेककार-लिखित कुछ नगरों के अक्षांश और रेखांश पहले लिख आये हैं। यन्त्रराज के टीकाकार मलयेन्दुसूरि ने ७५ नगरों के अक्षांश लिखे हैं। वह ग्रन्थ छपा है। पहले के किसी पृष्ठ की टिप्पणी में वर्णित सखाराम जोशी[1] के यन्त्र पर कुछ नगरों के अक्षांश लिखे हैं। उन्हें यहाँ उद्धृत करते हैं।

---

१. प्रतोदतन्त्र की सखारामकृत एक टीका है। उसमें उदाहरण में अक्षांश १७।४१।५० लिये हैं। सखाराम जोशी कोडोलीकर ने सतारा के अक्षांश ये ही लिखे हैं और वह टीका की पुस्तक मुझे सतारा जिले में ही आष्टे में मिली है अतः वह टीका इन्हीं की होगी।

	अं०	क०		अं०	क०
श्रीरंगपट्टन	१५	२७	अहमदाबाद	२३	०
बीजापुर	१६	४२	वाराणसी	२५	३६
करवीर	१७	२१	मथुरा	२६	३६
सप्तर्षि (सतारा)	१७	४२	मडव	२७	०
नन्दिग्राम	१८	२६	इन्द्रप्रस्थ	२८	४०
जनस्थान (नासिक)	२०	१२	कुरुक्षेत्र	३०	०
ब्रघ्नपुर (बरारपुर)	२१	०	कश्मीर	३५	०
उज्जयिनी	२२	३७			

सम्प्रति वर्तमान सरकार ने हमारे देश के सहस्रों स्थानों के अत्यन्त सूक्ष्म अक्षांश और रेखांश प्रसिद्ध कराये हैं, अतः उपर्युक्त अक्षांश-रेखांशों की कोई आवश्यकता नहीं है, तथापि उनसे यह ज्ञात होता है कि हमारे देशवासी भी इस विषय में प्रयत्नशील थे और तुलना करने से यह भी ज्ञात होगा कि इस प्रयत्न में वे कहाँ तक सफल हुए हैं।

(४, ५) चन्द्रसूर्य—ग्रहणाधिकार

चन्द्रसूर्य-ग्रहणों का कारण राहु नामक दैत्य नहीं है, बल्कि चन्द्रग्रहण का कारण भूछाया और सूर्यग्रहण का कारण चन्द्रमा है, यह बात सबसे प्राचीन पौरुषग्रन्थकार वराहमिहिर और आर्यभट के समय से ही ज्ञात है। ब्रह्मगुप्त ने श्रुति-स्मृति और ज्योतिषसंहिताओं की ज्योतिषसिद्धान्त से एकवाक्यता दिखाते हुए लिखा है[1] कि राहु चन्द्रग्रहण के समय भूछाया में और सूर्यग्रहण के समय चन्द्रमा में प्रवेश करके चन्द्रमा और सूर्य को आच्छादित करता है। भास्कराचार्य ने भी ऐसा ही लिखा है।[2]

लम्बन

सूर्यग्रहण में चन्द्रलम्बन का विचार करना पड़ता है। हमारे ग्रन्थों में परम लम्बन ग्रहगति के पञ्चदशांश तुल्य माना है, अर्थात् चन्द्रमा का परम मध्यम लम्बन ५२ कला ४२ विकला और सूर्य का ३ कला ५६ विकला है। आधुनिक मत की दृष्टि से यहाँ चन्द्रलम्बन में बहुत थोड़ी पर सूर्य के लम्बन में अधिक अशुद्धि है। आधुनिक सूक्ष्म शोध के अनुसार चन्द्रमा का विषुववृत्तक्षितिजस्थ परम लम्बन ५७ कला १ विकला

---

१. ब्रह्मसिद्धान्त, गोलाध्याय की आर्याएँ ३४-४८ देखिए।

२. सिद्धान्तशिरोमणि, ग्रहणवासना के श्लोक ७-१० देखिए।

और सूर्य का ८.६ विकला ३। हिपार्कस ने चन्द्रलम्बन ५७ कला और सूर्यलम्बन ३ कला तथा टालमी ने चन्द्रलम्बन ५८।१४ और सूर्यलम्बन २।५१ निश्चित किया था।[1] इससे सिद्ध होता है कि हमारे ज्योतिषियों ने लम्बमान इन दोनों से नहीं लिये हैं।

भास्कराचार्य ने लिखा है कि सूर्यबिम्ब द्वादशांश तक ग्रस्त हो जाने पर भी अपने तेज के कारण दिखाई नहीं देता और चन्द्रबिम्ब का षोडशांश ग्रहण भी दिखाई देता है, अतः गणित द्वारा इससे कम ग्रास आने पर ग्रहण नहीं मानना चाहिए। इसी प्रकार अन्य भी अनेक आचार्यों ने इससे किञ्चित् न्यून या अधिक ग्रहण को अदृश्य कहा है। परन्तु १९ अगस्त सन् १८८७ के सूर्यग्रहण को जिसमें ग्वालियर में विम्ब के $\frac{७}{१००}$ भाग अर्थात् लगभग चतुर्दशांश का ग्रहण हुआ था—विसाजी रघुनाथ लेले ने केवल नेत्रों से और शीशे में काजल लगाकर, दो प्रकार से देखा था और वह ठीक दिखाई पड़ा था। लेले का कथन है कि इतना अल्प ग्रास केवल नेत्रों से देखना भयावह है। इसमें नेत्रों को अत्यधिक हानि पहुँचने की सम्भावना रहती है।

(६) छायाधिकार

कुछ करणग्रन्थों में यह अधिकार पृथक् नहीं रहता पर ग्रहलाघव में है। इसमें सूर्यातिरिक्त ग्रहो के नित्योदयास्तकाल, दिनमान (क्षितिज से ऊपर रहने का काल), इष्टकालीन छाया और वेध इत्यादि का गणित रहता है।

(७) उदयास्त (दर्शनादर्शन)

ग्रहों का उदयास्त हमारे देश में एक महत्व का विषय समझा जाता है। गुरु और शुक्र के अस्त में विवाहादि धार्मिक कर्म नहीं किये जाते। मुख्यतः इसी कारण इसको इतना महत्व मिला है। ज्योतिषग्रथों के अनुसार दृक्प्रतीति होती है या नहीं, इसकी परीक्षा का लोग इसे एक साधन समझने लगे हैं।

ग्रह और तारे जिस समय सूर्य के पास रहते हैं, सूर्योदय के पूर्व और सूर्यास्त के बाद क्षितिज के ऊपर रहते हुए भी दिखाई नहीं देते, यद्यपि उस समय सूर्य क्षितिज के नीचे रहता है। इस प्रकार वे कुछ दिन या कुछ मास तक अदृश्य रहते हैं। कोई भी दृश्य

---

१. बर्जेशकृत सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद का पृष्ठ १२७ देखिए। ह्विटने का कथन है कि ये मान हिन्दुओं के मानों के बहुत सन्निकट हैं अतः हिन्दुओं ने ये ग्रीकों से लिये होंगे परन्तु ऐसा कहना सरासर पक्षपात है। ऐसे स्थानों में थोड़ी-सी कलाओं का अन्तर भी बहुत है, इसे प्रत्येक विचारशील मनुष्य स्वीकार करेगा।

तारा या ग्रह क्रमशः सूर्य के पास जाते-जाते जिस दिन अदृश्य हो जाता है उस दिन उसका अस्त कहा जाता है और अस्त ग्रह या तारा क्रमशः सूर्य से दूर हटते-हटते जिस दिन दिखाई देने लगता है, उस दिन उसका उदय माना जाता है। तारों और ग्रहों के प्रतिदिन क्षितिज के ऊपर आने और नीचे जाने की क्रिया को भी उदयास्त ही कहा जाता है अर्थात् उदयास्त शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है। परन्तु यह ठीक नहीं है। अच्छा होता कि दोनों के भिन्न-भिन्न दो नाम होते। चन्द्रमा के विषय में दो नाम हैं भी। कृष्ण पक्ष में चन्द्रमा क्रमशः सूर्य के पास जाते-जाते अमावास्या के लगभग अदृश्य हो जाता है और उसके बाद शुक्ल प्रतिपदा या द्वितीया को पश्चिम में दिखाई देने लगता है। उस समय 'चन्द्रमा का दर्शन हुआ' यह कहते हैं, उसे चन्द्रोदय नहीं कहते। इसी प्रकार तारों और अन्य ग्रहों की भी सूर्यसान्निध्य के कारण प्रथमतः दिखाई देने और न देने की क्रियाओं को दर्शन-अदर्शन कहना चाहिए, परन्तु हमारे ज्योतिषियों ने उन्हें उदयास्त कहा है और सम्प्रति इसी का प्रचार भी है। चन्द्रमा के नित्योदयास्त और सूर्यसान्निध्य के कारण होने वाले दर्शनादर्शन; दोनों की व्यवहार में आवश्यकता पड़ती है, अतः लोग उनसे अधिक परिचित रहे हैं और इसी कारण उन दोनों के पृथक्-पृथक् दो नाम रखे हैं, पर अन्य ग्रहों और नक्षत्रों के नित्योदयास्त का प्रायः कोई विचार नहीं करता। सम्भवतः इसी कारण उनके दर्शनादर्शन को भी उदयास्त ही कहा जाता है।

जिस समय गुरु और शुक्र अस्त रहते हैं, उपनयन, विवाह इत्यादि संस्कार और व्रत, वास्तुप्रतिष्ठा इत्यादि कर्म नहीं किये जाते। इसके विषय में लिखा है—

नीचस्थे वक्रसंस्थेऽप्यतिचरणगते बालवृद्धास्तगे वा
संन्यासो देवयात्राव्रतनियमविधिः कर्णवेधस्तु दीक्षा।
मौंजीबन्धोंऽगनानां परिणयनविधिर्वास्तुदेवप्रतिष्ठा
वर्ज्याः सद्भिः प्रयत्नात् त्रिदशपतिगुरौ सिंहराशिस्थिते वा॥

लल्ल०

बाले वा यदि वा वृद्धे शुक्रे वास्तंगते गुरौ।
मलमास इवैतानि वर्जयेद्देवदर्शनम्॥

बृहस्पति०

धर्मशास्त्रनिबन्धकारों ने इसी प्रकार के और भी अनेक वचन लिखे हैं। सम्प्रति गुरुशुक्रास्त के समय तो विवाहादि शुभ कर्म नहीं किये जाते, परन्तु उनकी नीचस्थता,

वक्रत्व और अतिचार का विचार कोई नहीं करता। ग्रह और नक्षत्रों में केवल गुरु और शुक्र का ही अस्त धर्मकृत्यों में प्रतिकूल समझा जाता है। ये दोनों औरों की अपेक्षा तेजस्वी हैं। कुछ न कुछ नक्षत्र सदा अस्त रहते हैं, बुध वर्ष में लगभग ६ बार अस्त होता है और मंगल का अस्त अधिक समय में होता है, परन्तु अस्त होने के बाद पाँच मास तक वह दिखाई नहीं देता, अतः बुध, मंगल और नक्षत्रों के अस्त को धर्मकृत्यों में प्रतिकूल न मानना धर्मशास्त्र का व्यवहारानुकूलत्व सिद्ध करता है। शनि के अस्त का ग्रहण करने से व्यवहार में कोई अड़चन नहीं आती, परन्तु धर्मशास्त्रकारों ने उसका विचार नहीं किया है। सम्भवतः पापग्रह होने के कारण उन्होंने उसके अस्त को त्याज्य नहीं माना है।

ग्रह और सूर्य के नित्योदयकाल में एक नियमित समय से—जिसका परिमाण हमारे प्राचीन आचार्यों ने प्रत्येक ग्रह के लिए पृथक्-पृथक् निश्चित कर दिया है—अधिक अन्तर पड़ने पर पूर्व में उसका उदय और न्यून अन्तर पड़ने पर अस्त होता है। इसी प्रकार सूर्य और ग्रह के नित्यास्तकालों में उस नियमित समय से न्यूनाधिक अन्तर पड़ने पर पश्चिम में उसका अस्तोदय होता है। उदाहरणार्थ, गुरु और सूर्य के नित्योदयास्त में ११० पल अन्तर पड़ने पर गुरु का उदयास्त होता है। ग्रहादिक अपने दैनन्दिन भ्रमण में प्रति दस पल में एक अंश चलते हैं, क्योंकि अहोरात्र में उनकी एक प्रदक्षिणा पूरी होती है, अतः गुरु ११० पलों में ११ अंश चलेगा। ये अंश कालसम्बन्धी हैं, अतः इन्हें कालांश कहते हैं। सारांश यह कि सूर्य और गुरु में ११ अंश अन्तर पड़ने पर उसका उदय या अस्त होगा। भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में बताये हुए ग्रहों के कालांश ये हैं—

	मूल सूर्य सिद्धान्त	वर्तमान सूर्य, रोमश शा ब्रह्म सोम सिद्धान्त	प्रथम आर्य सिद्धान्त	ब्रह्मगुप्त, सिद्धान्त शिरो०	लल्ल, करण कुतूहल	द्वितीय आर्य सिद्धान्त	करण प्रकाश	ग्रहलाघव	केरोपंती	टालमी	स्वानुभूत
चन्द्र	१२	१२	१२	१२	१२	१२	१२	१२	१२		१२$\frac{1}{4}$
मंगल	१७	१७	१७	१७	१७	१७	१७	१७	१७	१४$\frac{1}{2}$	१७
बुध	१३	१४	१३	१४	१३	१३	१३	१३	१३	११$\frac{1}{2}$	१३
बुधवक्री		१२		१२	१२	१२$\frac{1}{2}$		१२			
गुरु	११	११	११	११	११	१२	१२	११	११	१२$\frac{3}{4}$	११
शुक्र	९	१०	९	१०	९	८	९	७	९	५$\frac{2}{3}$	८
शुक्रवक्री		८		८	८	७$\frac{1}{2}$		६			
शनि	१५	१५	१५	१५	१५	१५	१५	१५	१५	१४	१५

इसमें टालमी के कालांश उस समय के हैं जब कि ग्रह कर्कराशि में रहते हैं और बुध-शुक्र के कालांश पश्चिमास्त सम्बन्धी हैं (बर्जेसकृत सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद का पृष्ठ २२३ देखिए)।

केरोपन्त ने अपने ग्रहसाधनकोष्ठक में अनुभूत कालांश नहीं लिखे हैं क्योंकि तदनुसार अनुभव नहीं होता। वे प्रथम आर्यसिद्धान्त के सर्वथा तुल्य हैं।

गणपत कृष्णाजी और निर्णयसागर के पञ्चाङ्गों में केवल शुक्र के उदयास्त ग्रहलाघवीय कालांश द्वारा लाते हैं। शेष उदयास्त तथा अन्य ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्गों के सभी उदयास्त ग्रहलाघव की एक स्थूल रीति द्वारा लाये जाते हैं। इस देश के अन्य पञ्चाङ्ग जिन ग्रन्थों द्वारा बनाये जाते हैं, उन्हीं के कालांशों द्वारा उनमें उदयास्त लाते होंगे। नाटिकल आल्मनाक द्वारा बनने वाले केरोपन्ती अथवा पटवर्धनी, बापूदेवकृत,, अपने सायनपञ्चाङ्ग इत्यादि नवीन पञ्चाङ्गों में भी हमारे ही किसी ग्रन्थ के कालांशों द्वारा उदयास्त साधन किया जाता है। इस प्रकार लाये हुए किसी भी पञ्चाङ्ग के सब उदयास्तकाल सदा शुद्ध नहीं होते। उनके अनुसार किसी समय ठीक अनुभव होता है और कभी-कभी वे अशुद्ध ठहर जाते हैं। इतना अवश्य है कि नवीन पञ्चाङ्गों में उतनी अशुद्धि नहीं होती जितनी प्राचीनों में थी। कुछ लोग 'नवीन पञ्चाङ्गों के उदयास्त में अशुद्धि क्यों होती है' इसका विचार किये बिना ही 'उनके कुछ उदयास्त अशुद्ध होते हैं', केवल इसी आधार पर यह सिद्ध करने लगते हैं कि ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्गों की भाँति नवीन पञ्चाङ्गों का गणित भी कभी-कभी अशुद्ध हो जाता है। वे यह नहीं समझते कि नवीन पञ्चाङ्ग के उदयास्त में कभी-कभी अशुद्धि हो जाने के कारण उसका गणित अशुद्ध नहीं कहा जा सकता। उन पञ्चाङ्गों के गणित की सत्यता अन्य अनेक प्रमाणों से सिद्ध होती है। उदयास्त कथित समय पर न होने के कारण दूसरे हैं। उनमें कालांशसम्बन्धी त्रुटि मुख्य है। ग्रहलाघव के ग्रहगणित में सम्प्रति सदा थोड़ी बहुत अशुद्धि रहती है। उसके उदयास्त का यथार्थ अनुभव हुआ तो भी उसे काकतालीय न्याय ही समझना चाहिए। कालांश निश्चित करते समय ग्रह और सूर्य के नित्योदयास्तकालों के अन्तर का या तो प्रत्यक्ष अवलोकन करना चाहिए अथवा उस समय की उनकी गणितागत स्थिति द्वारा उसे गणित करके लाना चाहिए। परन्तु सूर्य और ग्रह के नित्योदयास्त कालों के अन्तर का प्रत्यक्ष अवलोकन करने में कठिनाई यह है कि सूर्य तो क्षितिज में आते ही दिखाई देने लगता है, पर अन्य ग्रह उस समय जब कि हम उनके उदय और अस्त का निरीक्षण करने जा रहे हैं, क्षितिज में आने पर दिखाई नहीं देते। उनका दर्शन तब होता है जब वे क्षितिज से कुछ ऊपर आ जाते हैं। इसका कारण यह है कि जब वे क्षितिज में आते हैं उस समय अर्थात् सूर्योदय के कुछ पहिले अथवा सूर्यास्त के कुछ समय बाद सूर्य

क्षितिज से थोड़ा ही नीचे रहता है। वह सन्धिप्रकाश का समय रहता है। उस स्थिति में भी यदि दोनों के उदयास्तकालों का वास्तविक अन्तर जानने का कोई उपाय हो तो भी तदुपयुक्त काल और कोण का सूक्ष्म मान नापने के आजकल सरीखे उत्कृष्ट साधन प्राचीन काल में रहे होंगे, इसकी सम्भावना नहीं है। इसी प्रकार ग्रहों की उदयास्तकालीन स्थिति के आधार पर नित्योदयास्त का अन्तर लाने में भी उनकी शुद्ध स्थिति ज्ञात होनी चाहिए, अन्यथा शुद्ध काल नहीं आयेगा। परन्तु प्राचीनकाल में जिस समय कालांश निश्चित किये गये, ग्रहगणित का सूक्ष्म ज्ञान नित्योदयास्तकाल में एक पल की भी अशुद्धि न होने योग्य था, इसका मुझे विश्वास नहीं है, अतः उस समय निश्चित किये हुए कालांश में अशुद्धि की सम्भावना है। जिसके आधार पर उदयास्त लाना है वह कालांश ही यदि अशुद्ध है तो उदयास्त कैसे शुद्ध हो सकता है ? हम सायन पञ्चाङ्ग में गुरु का कालांश ११ मानते हैं, अतः उसमें जिस दिन गुरु का अस्त लिखा रहता है, उसी दिन के सूर्य-गुरु के नित्यास्त में ११० पल से कम अन्तर पड़ने लगता है, यह हम निश्चयपूर्वक कहेंगे और उसके सत्यत्व की परीक्षा अन्य प्रमाणों से भी की जा सकती है, परन्तु गुरु उसी दिन अस्त होता है, यह हम नहीं कह सकते, क्योंकि नित्योदयास्तकाल में ११० पल से कम अन्तर पड़ने पर गुरु का अस्त उसी दिन होना या न होना दूसरा विषय है। सम्भव है, वह एक दो दिन आगे या पीछे अस्त हो। पर ऐसा होने पर यह कहना अनुचित होगा कि पञ्चाङ्ग का गणित अशुद्ध है। इससे केवल इतना ही सिद्ध किया जा सकता है कि गुरु का कालांश ११ से न्यून या अधिक मानना चाहिए।

सम्प्रति ग्रहस्थिति की शुद्धता का परीक्षण करने के साधन उपलब्ध हैं और कालसाधन भी है। ऐसे समय में कालांश निश्चित करने चाहिए। मैंने शक १८११ पर्यन्त छः-सात वर्ष इसका प्रयत्न किया पर बाद में समय न मिल सका। यद्यपि दृष्टि धीरे-धीरे मन्द होती जा रही है तो भी स्वयं और सूक्ष्मदृष्टि शिष्यों की सहायता से कुछ अनुभव कर रहा हूँ।[1] हमारे सायनपञ्चाङ्ग-मण्डल में गोपाल बल्लाल भिडे[2] नाम के एक सज्जन

---

१. बम्बई से सृष्टिज्ञान नामक एक मासिकपत्र निकलता था। सन् १८८५ के उसके मई, जून और जुलाई के अंकों में ग्रहों के उदयास्त के विषय यें एक विस्तृत निबन्ध लिखा है। उसके अतिरिक्त मेरे ज्योतिर्विलास का भी यह प्रकरण अवलोकनीय है।

२. गोपाल बल्लाल भिडे को आकाशीय चमत्कारों के अवलोकन में बड़ी रुचि थी। शक १७७८ में रत्नागिरि जिले के निर्वेड़ी नामक स्थान में उनका जन्म और शक १८१२ में देहान्त हुआ। सन् १८७४ से मरणपर्यन्त वे उस जिले में स्कूल विभाग में नौकर थे। उन्होंने ग्रहों के उदयास्त सम्बन्धी अनेक अनुभव लिख रखे हैं और नक्षत्र-

थे। उन्होंने इस काम में बड़ा परिश्रम किया था । अपने सब अनुभवों का एकीकरण करते हुए उसके आधार पर उदयास्त सम्बन्धी नियमों के निर्माण का कार्य अभी समाप्त नहीं हुआ है। शक १८११ के पूर्व पाँच वर्षों में शनि के उदयास्त प्राय: वर्षाकाल अथवा उसकी सन्धि में हुए थे अत: उनका निरीक्षण करने का अवसर नहीं मिला। मंगल का उदयास्त देखने का प्रसङ्ग भी दो-एक बार ही आया। पाठकों में से यदि किसी को स्फूर्ति हो और वे अनुभव करके मुझे बतायें तो ज्योतिषशास्त्र पर उनका बड़ा उपकार होगा। ग्रीष्म ऋतु में भी कभी-कभी आकाश बादलों से ढका रहता है, उदयास्तकाल की सन्धि में ग्रह क्षितिज के बिलकुल पास रहते हैं और आकाश का अन्य भाग स्वच्छ रहने पर भी क्षितिज के पास प्राय: बादल रहते हैं। अनुभव करने में इस प्रकार की अनेक अड़चनें आती हैं तथापि सतत अवलोकन से मुझे अनुभव हुआ है कि हमारे ग्रन्थों के कालांश प्राय: सूक्ष्म हैं । यद्यपि यह सत्य हैं कि बुध-शुक्र जिस समय वक्री रहते हैं, अधिक तेजस्वी दिखाई देते हैं, तथापि हमारे कुछ ग्रन्थों में उनकी सरल और वक्र स्थिति के कालांशों में जितना अन्तर बताया है, वस्तुत: उतना नहीं है। बल्कि अन्तर है ही नहीं, यह कहने में भी कोई आपत्ति नहीं है ।

विशेषता

उदयास्त के विषय में मैंने एक ऐसी बात का पता लगाया है जो हमारे किसी भी ग्रन्थकार के ध्यान में नहीं आयी थी। उदय और अस्त के समय ग्रह सूर्य के पास रहते हैं। उनका दिखाई देने लगना उनकी तेजस्विता पर अवलम्बित है और तेजस्विता उनके न्यूनाधिक उन्नतांश के अनुसार न्यूनाधिक होती है। पृथ्वी पर भिन्न-भिन्न स्थानों में किसी ग्रह का नित्योदय हुए समान काल व्यतीत हुआ हो तो भी उसके उन्नतांश भिन्न-भिन्न होंगे। १५ उत्तर अक्षांश वाले स्थान में उसके उन्नतांश जितने होंगे उनकी अपेक्षा २५ उत्तर अक्षांश वाले स्थान में कम होंगे और तदनुसार तेज भी कम होगा। १५ अक्षांश वाले प्रदेश की अपेक्षा २५ अक्षांश वाले प्रदेश में उसका उदय बाद में और अस्त पहिले होगा। सूर्योदय के पूर्व नित्योदय और सूर्यास्त के बाद नित्यास्त होने के काल या कालांश के समान होने पर भी स्थलभेद के अनुसार उन्नतांश में और उसके कारण अस्तोदय में अन्तर पड़ेगा, यह बात क्षेत्र बनाकर सिद्ध की जा सकती है पर ग्रन्थ-विस्तार होने के भय से मैं यहाँ उसे सिद्ध नहीं करता।आगे के वर्णन से वह स्वयं स्पष्ट

योगतारों के भी कुछ उदयास्तों का निरीक्षण किया है। यदि वे दीर्घायु होते तो हमारे ज्योतिषशास्त्र की ज्ञानवृद्धि में उनका बड़ा उपयोग होता।

हो जायगी। हमारे देश की अपेक्षा इंग्लैंण्ड में सन्धिप्रकाश अधिक समय तक रहता है। इस कारण हमारे देश में किसी दिन यदि शुक्र का नित्योदय सूर्य से ३२ मिनट पूर्व हुआ है (अर्थात् उस दिन उसके कालांश ८ हैं) तो उस दिन उसका उदय अर्थात् दर्शन होगा, परन्तु इंग्लैण्ड में सूर्य से ३२ मिनट पूर्व शुक्र का उदय होने पर भी उसका दर्शन नहीं होगा, वह कई दिन बाद दिखाई देगा। शुक्रक्रान्ति उत्तर रहने पर इस देश में यदि उसका नित्योदय सूर्य से ३२ मिनट पूर्व होता है तो इंग्लैण्ड में उस दिन ३२ से अधिक मिनट पूर्व होगा, अतः यदि केवल कालांश का विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि इंग्लैण्ड में उसका उदय कुछ दिन पूर्व होना चाहिए, पर अनुभव इसके विपरीत होता है। एक ही स्थान में भी कालांश समान रहने पर दक्षिणोत्तर क्रान्ति के अनुसार उन्नतांश न्यूनाधिक होने पर उनमें अधिक अन्तर नहीं पड़ेगा। सारांश यह है कि स्थान विषुववृत्त से ज्यों-ज्यों उत्तर बढ़ता जाय त्यों-त्यों उदयास्त के कालांशों को भी बढ़ाते जाना चाहिए और उदयास्त के नियमों का निर्माण कालांश द्वारा न करके उन्नतांश के आधार पर करना चाहिए।

उन्नतांश सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचना और बार्शी (अक्षांश १८।१३) में किये हुए अपने अनुभव से मुझे निश्चित ज्ञात होता है कि हमारे ग्रन्थों के कालांश हमारे ही देश में निश्चित किये गये हैं। टालमी के कालांशों को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि हमारे कालांशों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है, बल्कि टालमी के विषय में हम कह सकते हैं कि उन्होंने कालांश स्वकीय अनुभव के आधार पर नहीं लिखे हैं और यदि स्वानुभव द्वारा लिखे हैं तो उनकी ग्रहस्थिति अशुद्ध रही होगी अथवा उनकी पद्धति में अन्य कोई दोष रहा होगा। १८ अक्षांश वाले प्रदेश में मंगल, बुध और शुक्र के कालांश १६, १२, ८ से कम नहीं आते अतः अलेक्जंड्रिया (अक्षांश ३१।१३) में इनसे अधिक होने चाहिए, पर टालमी ने $१४\frac{१}{२}$, $११\frac{१}{२}$, $५\frac{२}{३}$ लिखे हैं अतः वे बहुत अशुद्ध हैं। स्थल विशेष के सूक्ष्म कालांश या उन्नतांश निश्चित कर लेने पर भी चन्द्रप्रकाश, क्षितिज के पास दिखाई देने वाली रक्तिमा, द्रष्टा की मन्द-सूक्ष्मदृष्टि[1] इत्यादि के कारण उनमें अन्तर पड़ जाया करता है। मेघ भी प्रतिबंधक हो जाया करते हैं। इसी लिए हमारे धर्मशास्त्रकारों ने गणितागत उदयास्त दिवस के पश्चात् और पूर्व ग्रहों की बाल-वृद्धावस्था के कुछ दिन छोड़ देने की व्यवस्था की है जो कि सर्वथा उचित है।

---

१. सूक्ष्मदृष्टि मनुष्य को उदय दिखाई देने के तीन चार-दिन बाद तक भी मन्ददृष्टि को दिखाई नहीं देता, ऐसा अनुभव हुआ है। ग्रह और सूर्य की गति का अन्तर थोड़ा रहने पर उदयास्त में अधिक अशुद्धि होती है।

सम्प्रति सायनपञ्चाङ्ग में व्यवहृत स्वानुभूत कालांश मैंने ऊपर लिख दिये हैं। गोपाल वल्लाल भिडे का हेदवी (अक्षांश १७।२०) का अनुभव है कि बुध, गुरु और शुक्र के उदयास्त कभी-कभी ११, १० और ७ कालांशों में भी होते हैं।

(८) शृंगोन्नति

कृष्णपक्ष के उत्तरार्थ और शुक्लपक्ष के पूर्वार्ध में चन्द्रमा का कुछ ही भाग प्रकाशित दिखाई देता है। इस प्रकाशित भाग की कोरों को शृङ्ग कहते हैं। शुक्लपक्ष में सूर्यास्त और कृष्णपक्ष में सूर्योदय के लगभग और उसमें भी विशेषतः शुक्ल प्रतिपदा या द्वितीया को चन्द्रमा का दर्शन होता है। उस समय चन्द्रमा का कितना भाग प्रकाशित रहेगा और उसका किस दिशा का शृंग ऊंचा दिखाई देगा; शृंगोन्नति अधिकार में इसका आनयन किया रहता है। संहिताग्रन्थों में चन्द्रशृंगोन्नति के आधार पर बहुत सा फल लिखा रहता है। वस्तुतः चन्द्रमा सूर्य द्वारा प्रकाशित होता है अतः सूर्य उसके जिस पार्श्व में रहेगा तदनुसार शृङ्ग की उन्नति दिखाई देगी अर्थात् पृथ्वी पर होने वाली शुभाशुभ घटनाओं का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु वास्तविक कारण का ज्ञान होने के पूर्व ऐसी धारणा होना स्वाभाविक है।

(९) ग्रहयुति

ग्रहों के अत्यन्त सान्निध्य को युति या योग कहते हैं। युति के समय ग्रहों में पूर्व-पश्चिम अन्तर नहीं रहना चाहिए पर दक्षिणोत्तर अन्तर रह सकता है। वह उनके शर के अनुसार न्यूनाधिक रहेगा। युतिकाल में ग्रहों की किरणों का मिश्रण होने पर अथवा दक्षिणोत्तर अन्तर एक अंश से कम होने पर उनका युद्ध कहा जाता है। एक अंश से अधिक अन्तर रहने पर समागम कहते हैं। ग्रहबिम्बों के केवल स्पर्श को उल्लेख और परस्पर मिल जाने को भेद कहते हैं। संहिता ग्रन्थों में भेदादिकों के फल विस्तारपूर्वक लिखे रहते हैं। भेद का लक्षण और उसका गणित हमारे ग्रन्थों में लिखा है पर इसका पता नहीं लगता कि शुक्र कभी-कभी सूर्यबिम्ब का भेद करता है—यह बात हमारे आचार्य जानते थे या नहीं।

(१०) भग्रहयुति

इस अधिकार में नक्षत्र योगतारों और ग्रहों की युति का गणित रहता है इसलिए योगतारों और कुछ अन्य तारों के ध्रुव (भोग) और शर लिखे रहते हैं। ये भोग अधिकांश ग्रन्थों में आयन-दृक्कर्मसंस्कृत रहते हैं, अर्थात् तारे से विषुववृत्त पर डाला हुआ लम्ब क्रान्तिवृत्त को जहाँ काटता है, आरम्भ स्थान में उस बिन्दु तक का अन्तर भोग और तारे से उस बिन्दु तक का अन्तर शर माना जाता है। इस शर और भोग को

ध्रुवाभिमुख कहेंगे। कुछ ग्रन्थों में तारे से क्रान्तिवृत्त पर डाले हुए लम्ब को शर और वह क्रान्तिवृत्त को जहाँ काटता है उस विन्दु से आरम्भस्थान तक के अन्तर को भोग माना है। क्रान्ति-वृत्त के केन्द्र का नाम कदम्ब है अतः उस शर और भोग को कदम्बाभिमुख कहेंगे। अगले कोष्ठक में ६ ग्रन्थों के ध्रुवाभिमुख शर-भोग लिखे हैं। मैंने स्वयं नक्षत्रों के जो योगतारे निश्चित किये हैं, उनके भी ध्रुवाभिमुख शर-भोग वहीं लिखे दिये हैं। अयनगति के कारण आयन-दृक्कर्म संस्कार में सर्वदा थोड़ा-थोड़ा अन्तर पड़ता रहता है अतः ध्रुवाभिमुख नक्षत्रध्रुव सदा एक सा नहीं रहता। कोष्ठक में दिये हुए भिन्न-भिन्न ग्रन्थों के नक्षत्रध्रुवों में जो थोड़ा-थोड़ा अन्तर है वह सम्भवतः कुछ अंश में इस कारण भी होगा। योगतारों के भिन्नत्व के कारण भी कुछ अन्तर पड़ा होगा। सूर्यसिद्धान्त, ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त और लल्लतन्त्र के ध्रुव उस समय के हैं जब अयनांश बहुत थोड़े थे। इसके विषय में भास्कराचार्य ने लिखा है—

इत्यभावेशनांशानां कृतदृक्कर्मका ध्रुवाः।
कथिताश्च स्फुटा बाणा सुखार्थं पूर्वसूरिभिः ।।१७।।

सिद्धान्तशिरोमणि, भग्रहयुति

ब्रह्मगुप्त और लल्ल के ग्रन्थों में अयनगति का उल्लेख नहीं है और सूर्यसिद्धान्त में है, परन्तु उसके नक्षत्रध्रुव ब्रह्मगुप्त और लल्ल के ध्रुवों के लगभग समान हैं अतः भास्कराचार्य का कथन तीनों पर लागू होता है। सुन्दरसिद्धान्त की मेरे पास की प्रति बड़ी अशुद्ध थी। उसके कुछ अकों का निश्चय नहीं हो सका अतः वे मैंने यहाँ नहीं लिखे हैं।

मैंने जो योगतारे माने हैं उनके सन् १८८७ के आरम्भ के मध्यम विषुवांश और क्रान्तियाँ फ्रेंच कालज्ञानपुस्तक से लेकर उनके द्वारा ध्रुवाभिमुख शर और सायनभोग लाये गये हैं। उसमें चित्रा का भोग २०१।२६।१६.३ आया। उसे १८० अंश मान कर सब तारों के भोगों में से २१।२६।१६.३ अयनांश घटा दिये। इस प्रकार लाये हुए भोग कोष्ठक में मन्मतवाले घर में लिये हैं। ये शक १८०९ के हैं अर्थात् शर भी उसी वर्ष के हैं। भोग निरयन हैं अतः कालान्तर में इनमें बहुत थोड़ा अन्तर पड़ेगा। म्यूपीशियम तारे को आरम्भस्थान मानना हो तो मन्मतीय भोगों में से १ अंश २० कला और घटा देना चाहिए।

---

१. मैं शक १८१५ से सायन पञ्चाङ्ग में युतियाँ इन्हीं तारों के आधार पर लिखता हूँ। भिन्न-भिन्न अन्वेषकों के अभिमत योगतारों के यूरोपियन नाम आगे कोष्ठक में लिखे हैं।

सूर्यसिद्धान्त और ब्रह्मगुप्तसिद्धान्तोक्त[1] ध्रुवाभिमुख भोग और शरों द्वारा लाये हुए कदम्बाभिमुख भोग-शर तृतीय और चतुर्थ कोष्ठकों में लिखे हैं। द्वितीय आर्य-सिन्द्धात के भोग-शर कदम्बाभिमुख ज्ञात होते हैं अतः वे भी वहीं लिख दिये हैं। सिद्धान्त सार्वभौम के भोग-शर कदम्बाभिमुख हैं, यह उसी में स्पष्ट लिखा है अतः वे भी उसी कोष्ठक में लिखे हैं। केतकर के और मेरे कदाम्बाभिमुख भोग-शर फ्रेंच या इंगलिश नाटिकल आल्मनाक द्वारा लाये हुए हैं। केतकर के और मेरे निरयन भोगों में अन्तर केवल इतना ही है कि उन्होंने ज़ीटापीशियम को आरम्भस्थान माना है और मैंने चित्रा का भोग १८० अंश अर्थात् चित्रा के सामने वाले विन्दु ,को आरम्भस्थान माना है, परन्तु मेरे सात योगतारे केतकर से भिन्न हैं अतः उनके भोगों में भिन्नता है। मैंने रेवती के भोग में दो-दो अंक लिखे हैं। उनमें प्रथम ज़ीटापीशियम के और द्वितीय म्यूपीशियम के हैं। म्यूपीशियम को आरम्भस्थान मानना हो तो मन्मतीय प्रत्येक भोग में ४३ कला जोड़ देनी चाहिए ।

पञ्चसिद्धान्तिका में मूल सूर्यसिद्धान्त के नक्षत्रध्रुव नहीं लिखे हैं । मालूम होता है, वे मूलग्रन्थ में नहीं थे। प्रथम आर्यभट ने नक्षत्रयोगतारों के विषय में कुछ नहीं लिखा है। भास्कराचार्य ने ब्रह्मगुप्त के ही भोग और शर लिये हैं। बेरुनी ने ब्रह्मगुप्त के जो भोग और शर लिखे हैं उनमें कुछ मेरे लिखे हुए भोग-शरों से भिन्न हैं। उन्होंने उत्तराभाद्रपदा का भोग ३३६, मार्गशीर्ष का शर ५, आश्लेषा का ६ और मूल का ९½ लिखा है। बेरुनी के मूलग्रन्थ में ही यह त्रुटि रही होगी अथवा बाद के लेखकों के प्रमाद से ऐसा हुआ होगा। मैंने भोग-शरों की मूलग्रन्थोक्त आर्याविद्ध और शब्दबद्ध संख्याएँ लिखी हैं और वे ब्रह्मगुप्त सिद्धान्त तथा खण्डखाद्य दोनों में ही एक ही हैं। मैंने ये संख्याएँ दोनों ग्रन्थों की भिन्न-भिन्न चार प्रतियों के आधार पर लिखी हैं अतः इसमें संशय नहीं है। ब्रह्मगुप्त ने कृत्तिका, रोहिणी, चित्रा, विशाखा, अनुराधा और ज्येष्ठा नक्षत्रों के शर पहिले क्रमशः ५, ५, २, १½, ३ और ४ लिखे हैं। बेरुनी ने भी अपने ग्रन्थ में इतने ही लिखे हैं, परन्तु ब्रह्मगुप्त ने बाद में तुरन्त ही उपर्युक्त शरों में से कुछ कलाए' घटाने को कहा है, तदनुसार घटाकर मैंने शरों के यथोक्त मान लिखे हैं पर बेरुनी ने ऐसा नहीं किया है। मूल का शर ब्रह्मगुप्त ने 'अर्धनवम' लिखा है। बेरुनी ने उसका अर्थ ९½ किया है पर उसका वास्तविक अर्थ ८½ है।

---

१. सूर्यसिद्धान्त के कदम्बाभिमुख भोग और शर उसमें बतलायी हुई रीति से ह्विटने ने निकाले हैं। मैंने यहाँ वे ही लिखे हैं और बेंटली द्वारा लाये हुए ब्रह्मसिद्धान्तीय भोग-शर उनके ग्रन्थों से उद्धृत किये हैं।

नक्षत्रयोगतारों और कुछ अन्य तारों के ध्रुवाभिमुख भोग

	तारा	वर्तमान सूर्यसिद्धान्त		ब्रह्मगुप्त सिद्धान्त		लल्लतन्त्र		दामोदरीय भटतुल्य		सुन्दर सिद्धान्त	ग्रहलाघव	मन्मत	
		अं०	क०	अं०	क०	अं०	क०	अं०	क०	अं०	अं०	अं०	क०
१	अश्विनी	८		८		८		८	३०	८	८	७	४३
२	भरणी	२०		२०		२०		२१	१५	२०	२१	२१	५१
३	कृत्तिका	३७	३०	३७	२८	३६		३७	४५	३८	३८	३६	२
४	रोहिणी	४९	३०	४९	२८	४९		४९		५०	४९	४७	३७
५	मृगशिरा	६३		६३		६२		६२		६३	६२	६१	२६
६	आर्द्रा	६७	२०	६७		७०		६६		६७	६६	७५	४३
७	पुनर्वसु	९३		९३		९२		९२	४५	९३	९४	९१	२१
८	पुष्य	१०६		१०६		१०५		१०६		१०६	१०६	१०५	४३
९	आश्लेषा	१०९		१०८		११४		१०७	१५	१०८	१०६	१०८	२८
१०	मघा	१२९		१२९		१२८		१२९		१२९	१२९	१२६	५९
११	पूफा.	१४४		१४७		१३९	२०	१४८			१४८	१४४	३१
१२	उफा.	१५५		१५५		१५४		१५५	३०	१५५	१५५	१५४	१
१३	हस्त	१७०		१७०		१७३		१७०			१७०	१६५	६
१४	चित्रा	१८०		१८३		१८४	२०	१८३		१८३	१८३	१८०	
१५	स्वाती	१९९		१९९		१९७		१९८	३०	१९९	१९८	१९३	२८
१६	विशाखा	२१३		२१२	५	२१२		२१२	१५	२१२	२१२	२०२	११
१७	अनुराधा	२२४		२२४	५	२२२		२२४	१५		२२४	२१९	८

		वर्तमान सूर्यसिद्धान्त		ब्रह्मगुप्त सिद्धान्त		लल्लतन्त्र		दामोदरीय भटतुल्य		सुन्दर सिद्धान्त	ग्रहलाघव	मन्मत	
		अं०	क०	अं०	क०	अं०	क०	अं०	क०	अं०	अं०	अं०	क०
१८	ज्येष्ठा	२२९		२२९	५	२२८		२२९	३०	२२९	२३०	२२५	५९
१९	मूल	२४१		२४१		२४१		२४२			२४२	२४०	४५
२०	पूषा०	२५४		२५४		२५४		२५५	३०	२५४	२५५	२५३	२३
२१	उषा०	२६०		२६०		२६७	२०	२६०		२६०	२६१	२६३	५
	अभिजित्	२६६	४०	२६५		२६७		२५९	४५		२५८	२५६	१०
२२	श्रवण	२८०		२७८		२८३	१०	२७५	१५	२७८	२७५	२७२	५८
२३	धनिष्ठा	२९०		२९०		२९६	२०	२८७	३०	२९०	२८६	२८४	४७
२४	शत०	३२०		३२०		३१३	२०	३२०		३२०	३२०	३१८	४३
२५	पू.भा	३२६		३२६		३२७		३२५		३२६	३२५	३२२	३
२६	उ.भा	३३७		३३७		३३५	२०	३३७		३३७	३३७	३४०	३५
२७	रेवती	३५९	५०	०		३५९	०	०		०	०	३५९/१ }	५७/२० }
	अगस्त्य	९०		८७		८७				८७	८०		
	व्याध	८०		८६		८६				८६	८१		
	अग्नि	५२								५२	५३		
	ब्रह्मा	५२								५७	५५		
	प्रजापति	५७								५७	६१		
	अपांवत्स	१८०									१८३		
	आप:	१८०											

नक्षत्र-योगतारों तथा कुछ अन्य तारों के ध्रुवाभिमुख शर—

	तारा	वर्तमान सूर्यसिद्धान्त		ब्रह्मगुप्त सिद्धान्त		लल्ल तंत्र		भटतुल्य दामोदरीय		सुंदर सिद्धा	हलाघव	मन्मत		शर-दिशा
		अं.	क.	अं.	क.	अं.	क.	अं.	क.	अं.	क.	अं.	क.	
१	अश्विनी	१०		१०		१०		१०		१०	१०	९	५	उ
२	भरणी	१२		१२		१२		१२	१५	१२	१२	१०	५७	उ
३	कृत्तिका	५		४	३१	५		४	३०	५	५	४	९	उ
४	रोहिणी	५		४	३३	५		४	३०	४॥	५	५	३२	द
५	मृग	१०		१०		१०		१०		१०	१०	१३	२४	द
६	आर्द्रा	९		११		११		११		११	११	६	४६	द
७	पुनर्वसु	६		६		६		६		६	६	६	४६	उ
८	पुष्य	०		०		०		०		०	०	०	५	उ
९	आश्लेषा	७		७		७		७		७	७	११	२४	द
१०	मघा	०		०		०		०		०	०	०	२९	उ
११	पूफा.	१२		१२		१२		११	४५		१२	१०	३१	उ
१२	उफा.	१३		१३		१३		१२	४५		१३	१३	२४	उ
१३	हस्त	११		११		८		११		११	११	१३	१७	द
१४	चित्रा	२		१	४५	२		१	४५	१॥।	२	२	१२	द
१५	स्वाती	३७		३७		३७		३७	१५		३७	३२	५६	उ
१६	विशाखा	१	३०	१	२३	१	३०	१	१५		१	०	२२	द
१७	अनुराधा	३	०	१	४४	३		१	४५		२	२	१	द
१८	ज्येष्ठा	४		३	३०	४		३	३०		३	४	३७	द
१९	मूल	९		८	०	८	३०	८	३०		८	१३	४८	द
२०	पू. षा.	५	३०	५	२०	५	२०	५	३०		५	२	७	द
२१	उषा.	५		५		५		५			५द	१	२०	उ
	अभि०	६०		६२		६३		६२		६२	६२	६१	५५	उ
२२	श्रवण	३०		३०		३०		२९	३०	३०	३०	२९	४९	उ
२३	धनिष्ठा	३६		३६		३६		२५	३०	३६	३६	३४	१५	उ
२४	शत०	०	३०	०	१८	०	२०	०	१५	१/३	०	०	२५	द
२५	पूभा.	२४		२४		२४		२३	४५		२४	२१	६	उ
२६	उभा.	२६		२६		२६		२६			२७	१३	४५	उ
२७	रेवती	०		०		०		०			०	०/३	१४/१८	द
	अगस्त्य	८०		७७		८०				७७	७६			द
	व्याध	४०		४०		४०				४०	४०			द
	अग्नि	८								८	८			उ
	ब्रह्मा	३०								३०	३०			उ
	प्रजापति	३८								३८	३९			उ
	अपांवत्स	३									३			उ
	आप	६												उ

नक्षत्र-योगतारों के कदम्बाभिमुख भोग

	तारे	सूर्य सिद्धान्त		ब्रह्मगुप्त सिद्धान्त		द्वितीय आर्य०		सार्वभौम सिद्धान्त		वें० वा० केतकर		मन्मत	
		अं.	क.	अं.	क.	अं.	क.	अं.	क.	अं.	क.	अं.	क.
१	अश्विनी	११	५९	१२	५	१२	०	१२	४०	१४	६	१०	८
२	भरणी	२४	३५	२४	४१	२४	२३	२५	८	२८	२०	२४	२२
३	कृत्तिका	३९	८	३८	५८	३८	३३	३९	२	४०	७	३६	९
४	रोहिणी	४८	९	४८	११	४७	३३	४८	९	४९	५५	४५	५७
५	मृग	६१	३	६१	०	६१	३	६१	१	६३	५०	५९	५१
६	आर्द्रा	६५	५०	६५	५	६८	२३	६५	८	६८	५३	७५	१६
७	पुनर्वसु	९२	५२	९२	५२	९२	५३	९२	५३	९३	२२	८९	२४
८	पुष्य	१०६	०	१०६	०	१०६	०	१०६	०	१०८	५१	१०४	५३
९	आश्लेषा	१०९	५९	१०८	५८	१११	०	१०८	५६	११३	४६	११०	४४
१०	मघा	१२९	०	१२९	०	१२९	०	१२९	०	१२९	५८	१२६	०
११	पूफा.	१३९	५८	१४२	४५	१४०	२३	१४२	४८	१४३	३२	१३९	३४
१२	उफा.	१५०	१०	१५०	४	१५०	२३	१४९	४०	१५१	४५	१४७	४७
१३	हस्त	१७४	२२	१७४	२८	१७४	३	१७५	१३	१७३	३५	१६९	३७
१४	चित्रा	१८०	४८	१८३	४९	१८२	५३	१८३	५०	१८३	५८	१८०	०
१५	स्वाती	१८३	२	१८२	४१	१८४	०	१८२	२४	१८४	२२	१८०	२४
१६	विशाखा	२१३	३५	२१२	३४	२१२	५३	२१२	३६	२११	८	२०१	१४
१७	अनुराधा	२२४	५४	२२३	३३	२२४	५३	२२४	३८	२२२	४२	२१८	४४
१८	ज्येष्ठा	२३०	७	२३०	४	२३०	३	२३०	५	२२९	५४	२२५	५६
१९	मूल	२४२	५२	२४२	४८	२४२	४४	२४२	१६	२४३	०	२४०	४४
२०	पूषा.	२५४	३९	२५४	०	२५४	३३	२५४	३४	२५४	४२	२५२	२८
२१	उषा.	२६०	२३	२५९	३७	२६०	२३	२६०	२१	२६२	४७	२६२	२४
	अभि.	२६४	१०	२६०	४६	२६३	०	२६२	१०	२६५	२६	२६१	२८
२२	श्रवण	२८२	२९	२८०	३	२८०	३	२८०	३	२८१	५३	२७७	५५
२३	धनिष्ठा	२९६	५	२९६	१५	२९५	३३	२९४	१२	२९७	३१	२९३	३३
२४	शत	३१९	५०	३१९	५४	३१९	५३	३१९	५४	३२१	४२	३१७	४४
२५	पूभा.	३३४	२५	३३४	४६	३३४	५३	३३६	८	३३४	४०	३३०	४२
२६	उभा.	३४७	१६	३४७	२९	३४७	०	३४८	४४	३५४	२६	३४५	१९
२७	रेवती	३५९	५०	०	०	०	०	३५९	५०	०	०	३५६	२ }
												३५९	१७ }

नक्षत्र-योगतारों के कदम्बाभिमुख शर

	तारे	शरदिशा	सूर्य सिद्धान्त		ब्रह्मगुप्त सिद्धान्त		द्वितीय आर्य सिद्धान्त		सार्वभौम सिद्धान्त		वें० बा० केतकर		मन्मत	
			अं.	क.	अं.	क.	अं.	क.	अं.	क.	अं.	क.	अं.	क.
१	अश्विनी	उ	९	११	९	८	१०	०	१०	५५	८	२९	८	२९
२	भरणी	उ	११	६	११	११	१२	०	१२	५६	१०	२६	१०	२६
३	कृत्तिका	उ	४	४४	४	१५	५	०	४	४४	४	२	४	२
४	रोहिणी	द	४	४९	४	३८	५	०	४	४०	५	२८	५	२८
५	मृग	द	९	४९	९	४८	१०	०	१०	१३	१३	२३	१३	२३
६	आर्द्रा	द	८	५३	१०	५०	११	०	११	७	१६	३	६	४५
७	पुनर्वसु	उ	६	०	६	०	६	०	६	०	६	४०	६	४०
८	पुष्य	उ	०	०	०	०	०	०	०	०	०	४	०	४
९	आश्लेषा	द	६	५६	६	५६	७	०	७	४	५	५	१०	५९
१०	मघा	उ	०	०	०	०	०	०	०	०	०	२८	०	२८
११	पूफा.	उ	११	१९	११	१४	१२	०	१२	४२	९	४२	९	४२
१२	उफा.	उ	१२	५	१२	२	१३	०	१३	५५	१२	१६	१२	१६
१३	हस्त	द	१०	६	१०	४	१०	०	१२	४	१२	११	१२	११
१४	चित्रा	द	१	५०	१	५०	२	०	१	५२	२	३	२	३
१५	स्वाती	उ	३३	५०	३३	४१	३७	०	४१	५	३०	४९	३०	४९
१६	विशाखा	द	१	२५	१	१८	१	३०	१	२५	१	४८		
१७	अनुराधा	द	२	५२	१	३९	३	०	१	५०	१	५८	१	५८
१८	ज्येष्ठा	द	३	५०	३	२२	४	०	३	३७	४	३३	४	३३
१९	मूल	द	८	४८	८	१९	९	०	८	४०	६	३६		
२०	पूषा	द	५	२८	५	१८	५	२०	५	२२	६	२७	२	७
२१	उषा.	द	४	५९	४	५९	५	०	५	१	३	२७	उ१	२७
	अभि.	उ	५९	५८	६१	५६	६३	०	६२	१४	६१	४४	६१	४४
२२	श्रवण	उ	२९	५४	२९	५६	३०	०	३०	५	२९	१८	२९	१८
२३	धनिष्ठा	उ	३५	३३	३५	३२	३०	०	२६	२५	३३	२	३३	२
२४	शत	द	०	२८	०	१७	०	२०	०	२०	०	२३	०	२३
२५	पूभा.	उ	२२	३०	२२	२६	२४	०	२६	३	१९	२३	१९	२३
२६	उभा.	उ	२४	१	२३	५६	२६	०	२८	२८	२५	४१	१२	३६
२७	रेवती	द	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१३	०	१३ }
													३	४ }

ऊपर जो ध्रुव दिये गये हैं वे वर्तमान सूर्य सिद्धान्त के हैं। उसमें आर्द्रा के ध्रुव के विषय में मतभेद है। सूर्यसिद्धान्त टीकाकार रङ्गनाथ के लेख से ऐसा मालूम होता है कि आर्द्राभोग नार्मद मत ७३।४७ और पर्वत मत से ७३।१० है। रङ्गनाथ का यह भी कहना है कि सर्वजनाभिमत ध्रुव ७४।५० है। परन्तु रङ्गनाथ ने शाकल्य-संहितोक्त आर्द्राध्रुव ६७।२० को ही ठीक मानकर उसी को ग्रहण किया है।[1] सिद्धान्त-तत्वविवेककार कमलाकर ने सब भोग-शर सूर्यसिद्धान्त से लिये हैं। परन्तु उनमें आर्द्रा भोग ७४।५० दिया है। वर्तमान रोमश, सोम और शाकल्योक्त ब्रह्मसिद्धान्त सूर्यसिद्धान्त के अनुयायी हैं। इसलिए सूर्यसिद्धान्त के भोग-शर इनमें भी दिये हुए हैं। परन्तु इनमें भी आर्द्रा के विषम में मतभेद है। शाकल्योक्त ब्रह्मसिद्धान्त के भोग-शर पूर्ण रूप से उपर्युक्त सूर्यसिद्धान्त के समान है। सोमसिद्धान्त में आर्द्राभोग ७४।५० हैं। शेष सब भोग और शर सूर्यसिद्धान्त के समान हैं। रोमश सिद्धान्त की दो प्रतियों को मैंने मिलाकर देखा तो कुछ ध्रुवों में अन्तर दिखाई दिया, परन्तु यह भेद लेखकों के प्रमाद से होना सम्भव है। सारांश रोमश-सिद्धान्त के भोग-शर सूर्यसिद्धान्तानुसारी हैं, यह कहने में कोई आपत्ति नहीं है।

सूर्यसिद्धान्त में नक्षत्र-योगतारों के भोग-शर ९ श्लोकों में (अधिकार ८) देने के बाद अगले तीन श्लोकों में अगस्त्य, व्याध, अग्नि और ब्रह्मा के भोग-शर बतलाये हैं। इसके बाद तुरन्त प्रजापति, अपांवत्स, आपः इनके भोग-शर न देकर बीच ही में सात श्लोकों में विषयान्तर कर अन्त में २०-२१ श्लोकों में प्रजापति इत्यादि तीन तारों के भोग-शर दिये हैं। इससे यह अनुमान होता है कि ये दो श्लोक प्रक्षिप्त होंगे। नवम अध्याय में अमुक तारा कभी अस्त नहीं होता, ऐसा लिखा है। उसमें ब्रह्महृदय तारे का उल्लेख है। इन तारों में प्रजापति का परिगणन आवश्यक था, क्योंकि ब्रह्महृदय से प्रजापति का शर ८ अंश उत्तर है, अतएव यह अनुमान होता है कि ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं। तथापि इन तारों में अपांवत्स तारे का उल्लेख बृहत्संहिता में भी है।[2] इससे यह सिद्ध होता है कि इन तीनों तारों का ज्ञान शक ४२७ में भी वर्तमान था। प्रो०

---

१. वर्तमान सूर्य, रोमश, शाकल्य, ब्रह्म, सोम सिद्धान्तों में जो नक्षत्रध्रुव दिये हैं वे उस नक्षत्र प्रदेश के आरम्भ से उस तारे तक जितनी कलाएँ होती हैं उनके दशांश के रूप में दिये हुए हैं। सूर्यसिद्धान्त में आर्द्राभोग "अब्धयः (४)" इस शब्द से सूचित किया है। इस स्थान पर "गोब्धयः ४९", "गोग्नयः ३९" ऐसे भी पाठभेद मिलते हैं।

२. सममुत्तरेण तारा चित्रायाः कीर्त्यते ह्यापांवत्सः।

बृहत्संहिता, अध्याय २५, पद्य४

ह्विटने का कहना है कि प्रजापति, अपांवत्स और आपः शाकल्योक्त ब्रह्म० में नहीं दिये हैं,[1] परन्तु यह उनकी भूल है। शाकल्य-ब्रह्म, रोमश और सोम इन तीनों सिद्धान्तों में उनका उल्लेख है। ग्रहलाघव में इनमें से केवल 'आपः' का उल्लेख नहीं है। शाकल्य-ब्रह्मसिद्धान्त में सप्तर्षि के शर-भोग दिये हुए हैं। वे और किसी दूसरे सिद्धान्त में नहीं हैं। यन्त्रराज नामक ग्रन्थ में १२ तारों के सायन भोग-शर दिये हुए हैं, सिद्धान्त राज ग्रन्थ में ८४ तारों के भोग-शर दिये गये हैं।

नक्षत्र-तारासंख्या

कुछ नक्षत्रों में एक ही तारा है। किन्हीं में एक से अधिक होते हैं। अनेक तारों में योगतारा किस दिशा में है, यह सूर्यादि चार सिद्धान्तों में लिखा हुआ है। इस विषय में चारों में प्रायः मतभेद नहीं है। परन्तु इससे योगतारे के विषय में सम्यक् बोध नहीं होता। शाकल्य-ब्रह्मसिद्धान्त में किस नक्षत्र में कितने तारे हैं, यह बतलाया है, दूसरों में नहीं। तारों की संख्या न देकर केवल दिशा बतलाने से योगतारे का ठीक-ठीक बोध होना कठिन है। शाकल्य-ब्रह्मसिद्धान्त को छोड़कर केवल खण्डखाद्य में नक्षत्र-योगतारों की संख्या दी है। कुछ संहिताग्रथों में भी वह मिलती है। नक्षत्र के तारों के विषय में मतभेद है। अगले पृष्ठों में दिये हुए अलग-अलग ग्रन्थों के आधार पर तारासंख्याएं दी हैं। अगले पृष्ठों में दिये हुए कोष्ठक के प्रथम स्तम्भ में तैत्तिरीय श्रुति से निश्चय रूप से ज्ञात होने वाली संख्या दी हुई है। नक्षत्रकल्प[2] अथर्ववेद का परिशिष्ट है। श्रीपति कृत रत्नमाला के टीकाकार माधव ने जो लल्लोक्त नक्षत्र-सख्याएँ दी हैं, वही मैंने लिखी हैं। वे सम्भवतः रत्नकोश से ली गयी हैं।

नक्षत्र-तारा संख्याओं के विषय में मतभेद होने पर भी आकाश में इष्ट नक्षत्र-पुन्ज कौन-कौन हैं, इसमें मतभेद नहीं है; यह बात सब दृष्टियों से विचार करने पर स्पष्ट हो जाती है। शतभिषक् शब्द से इस नक्षत्र में १०० तारे होंगे, यह भ्रम होने के कारण इस नक्षत्र का नाम शततारा रख लिया गया होगा। परन्तु यह भूल वराहमिहिर के

---

१. बर्जेस कृत सूर्यसिद्धान्त का अनुवाद, पृष्ठ २१८

२. नक्षत्रकल्प और बृहत् गर्गसंहिता आज तक मैंने नहीं देखी है। Indian Antiquary, Vol XIV, pp. 43-45 में थीबो द्वारा लिखे हुए लेख के आधार पर मैंने ये संख्याएँ दी हैं। प्रो० थीबो ने बृहत् गर्गसंहिता और खण्डखाद्य के मूल वचन उद्धृत किये हैं। उनमें रेवती और अश्विनी के सम्बन्ध में जो भूल हुई है उसे मैंने शुद्ध कर दिया है।

समय से ही है। इसी प्रकार रेवती तारे का शर सब मतों में शून्य है, भोग भी शून्य के लगभग है, इसलिए रेवती योगतारे के विषय में मतभेद नहीं है। उसके आसपास मृदङ्गाकार में अनेक तारे हैं। उनकी संख्या ३२ ही मानी गयी है। इन्हें ३२ ही क्यों माना गया, यह स्पष्ट नहीं हुआ। परन्तु यह भूल भी वराह के समय से है। शेष सब नक्षत्रों को ध्यानपूर्वक देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक नक्षत्र की मानी हुई संख्या का कुछ न कुछ आधार अवश्य है। अतएव सब की संख्याएँ सयुक्तिक मालूम पड़ती हैं।

अनुक्रमांक	नक्षत्र नाम	तैत्तिरीयश्रुति	नक्षत्रकल्प	बृहद्गार्गीय संहिता	नारद संहिता	वराहमिहिर	खण्डखाद्यक	लल्लकृतरत्नकोश	शाकल्यब्रह्मसिद्धान्त	श्रीपतिकृतरत्नमाला	मुहूर्ततत्त्व	मुहूर्तचिन्तामणि
१	अश्विनी	२	२	२	३	३	२	३	२	३	३	३
२	भरणी		३		३	३	३	३	३	३	३	३
३	कृत्तिका	७	६	३	६	६	६	६	६	६	६	६
४	रोहिणी	१		६	५	५	५	५	५	५	५	५
५	मृग		३	५	३	३	३	३	३	३	३	३
६	आर्द्रा १ या	२	१	३	१	१	१	१	१	१	१	१
७	पुनर्वसु	२	२	२१	४	५	२	४	२	४	४	४
८	पुष्य	१	१	१	३	३	१	३	३	३	३	३
९	आश्लेषा		६	६	५	५	६	५	५	५	५	५
१०	मघा		६	६	५	५	६	५	५	५	५	५
११	पूर्वाफाल्गुनी	२	२	२	२	८	२	२	२	२	२	२
१२	उत्तराफाल्गुनी	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२
१३	हस्त		५	५	५	५	५	५	५	५	५	५
१४	चित्रा	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
१५	स्वाती	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
१६	विशाखा	२	२	२	२	५	२	४	२	४	४	४
१७	अनुराधा		४	४	४	४	४	३	३	४	४	४
१८	ज्येष्ठा	१		३	३	३	३	३	३	३	३	३
१९	मूल १ या	२		६	११	११	२	११	९	११	११	११
२०	पूर्वाषाढ़ा		४	४	४	२	४	२	४	४	४	२
२१	उत्तराषाढ़ा		४	४	२	८	४	२	४	४	३	२
	अभिजित्	१		३			३	३	३	३	३	३
२२	श्रवण	१	३	३		३	३	३	३	३	३	३
२३	धनिष्ठा	४	५	४		५	५	४	५	४	४	४
२४	शतभिषक्	१	१	१	१००	१००	१	१००	१००	१००	१००	१००
२५	पूर्वाभाद्रपदा		२	२	२	२	२	२	२	२	२	२
२६	उत्तराभाद्रपदा	४	२	२	२	८	२	२	२	२	२	२
२७	रेवती	१	१	४	३२	३२	१	३२	३२	३२	३२	३२

योगतारा

गत दो-तीन शताब्दियों की अवधि में कई यूरोपियन ज्योतिषियों ने आँख से साधारणतः दीखने वाले तारों की तालिकाएँ बनायी हैं। उन्होंने तारों का नाम करण भी किया है और उनके विषुवांश और क्रान्तियों का सूक्ष्मतः निश्चय किया है। इनमें हमारे नक्षत्रों के योगतारे कौन से हैं, इस विषय में भिन्न-भिन्न शोधकों के मत संलग्न कोष्ठक में दिये गये हैं।

नक्षत्र-योगतारा

क्रमांक	तारा	कोलब्रुक	वेंटली, केरोपन्त	ह्विटने, बर्जेस	बापूदेव	वें० बा० केतकर	मन्मतीय
१	अश्विनी	आल्फा एरैटिस	बीटा एरैटि	बीटा एरै०	आल्फा एरै०	बीटा एरै०	बीटा एरैटि
२	भरणी	म्यूया ३५ एरैटिस	३५ एरैटिस	३५ एरै	३५ एरै	४१ एरै	४१ एरैटिस
३	कृत्तिका	ईटाटारी	ईटाटारी	ईटाटारी	ईटाटारी	ईटाटारी	ईटाटारी
४	रोहिणी	आल्डिबरान	आल्डिब०	आल्डि०	आल्डि०	आल्डिब०	आल्डिबरान
५	मृग	लांबडा ओरायन	११६ टारि०	लांबडा ओरा	लांब० ओरा	लांब० ओरा०	लांब० ओराय०
६	आर्द्रा	आल्फा ओरायन	१३३ टारि	आल्फा ओरा	आल्फा ओरा	आल्फा ओ	गामा जेमिनि
७	पुनर्वसु	पोलक्स	पोलक्स	पोलक्स	पोलक्स	पोलक्स	पोलक्स
८	पुष्य	डेल्टाकांक्री	डे० कांक्री	डे० क्रांकी	डे० क्रांकी	डे० क्रांकी	डे० क्रांकी
९	आश्लेषा	आल्फा क्रांकी	४९ कांक्री	एपसिलान हैड्री	आ० कांक्री	आल्फा कां०	जीटा हैड्रा०
१०	मघा	रेग्युलस	रेग्युलस	रेग्युलस	रेग्युलस	रेग्युलस	रेग्युलस
११	पूर्वाफा०	डेल्टालिवानिस	थीटालिआनिस	डेल्टालिओनिस	डेल्टालिआ	थीटालिआ	थीटालिआनिस
१२	उत्तराफा०	डेनिबोला	डेनिबोला	डेनिबोला	डेनि०	डेनिबोला	डेनिबोला
१३	हस्त	गामा या डेल्टा कार्व्हि	डेल्टा कार्व्हि	डेल्टा कार्व्हि	गामा या डे० कार्व्हि	डेल्टा कार्व्हि	डेल्टा कार्व्हि
१४	चित्रा	स्पायका	स्पायका	स्पाय०	स्पायका	स्पायका	स्पायका
१५	स्वाती	स्आर्कट्यूरस	आर्कट्यूरस	आर्कट्यू०	आर्कट्यू०	आर्कट्यरस	आर्कट्यूरस

क्रमांक	तारा	कोलब्रुक	बेंटली, केरोपन्त	ह्विटने बर्जेस	बापूदेव	वें० बा० केतकर	मन्मतीग
१६	विशाखा	आल्फा या कपा लिब्रा	२४ लिब्रा	२४ लिब्रा	आल्फा या कपा लिब्रा	२४ लिब्रा	आल्फा लिब्रा
१७	अनुराधा	डेल्टा स्कार्पिआन	वीटास्कार्पि	डेल्टा स्कार्पि	डेल्टा स्कार्पि	डे० स्कार्पि	डेल्टा स्कार्पि
१८	ज्येष्ठा	अण्टारिस	अण्टारिस	अण्टारि	अण्टारिस	अण्टारिस	अण्टारिस
१९	मूल	न्यूस्कार्पि या ३४ स्कार्पि	३४ स्कार्पि	लांबडा स्का०	३४ स्कार्पि	४५ ओफि०	लांबडा स्कार्पि०
२०	पूर्वाषाढ़ा	डेल्टासाजिटेरिअस	डे०साजि	डे०साजि	डे० साजि	डेल्टा साजि०	लांबडा साजिटे०
२१	उत्तराषा०	टोसाजिटेरि	फै० साजि	सिग्मासाजि	टो० साजि	सिग्मासाजि०	पाय साजि०
	अभिजित्	व्हीगा	व्हीगा	व्हीगा	व्हीगा	व्हीगा०	व्हीगा०
२२	श्रवण	आल्टेर	आल्टेर	आल्टेर	आल्टेर	आल्टेर	आल्टेर
२३	धनिष्ठा	आल्फा डे०	आल्फा डे०	वीटा डेल्फि०	आल्फा डे०	आल्फा डे०	आल्फा डे०
२४	शतभिषक्	लांबडाआक्वे-रिअस	लांब० आक्वे०	लांब० आक्वे०	लांब आक्वे०	लांब० आक्वे०	लांब० आक्वे०
२५	पूर्वभाद्रप०	मार्का ब०	मार्का ब०	मार्का० ब०	मार्का ब०	मार्का ब०	मार्का ब०
२६	उत्तराभा०	आल्फेराट	आल्जेनिब आल्फेराट	आल्जेनिब आल्फेराट	आल्फेरा०	आल्फेरा०	आल्जेनिब
७२	रेवती	जीटापीशियम	जीटापीशि	जीटापीशि	जी० पी०	जी० पी०	जीटा या म्यू पीशि०

हमारी नक्षत्र पद्धति तथा अरब लोगों की नक्षत्र पद्धति की तुलना और हमारे योगतारों के यूरोपियन पद्धति के अनुसार नाम और स्थान कौन से हैं, इस विषय में विस्तारपूर्वक विचार कोलब्रुक ने किया है। इसके पहिले विलियम जोन्स ने (ई० स० १७९० में) भी विचार किया था परन्तु वह अपूर्ण ही रहा। कोलब्रुक का निबन्ध Asiatic Researches, Vol. IX 1807 A. D. में प्रकाशित हुआ है। इसी के आधार पर मैंने कोलब्रूक के द्वारा सम्मत तारों के नाम ऊपर के कोष्ठक में दिये हैं। बेंटली कृत A Historical View of Indian Astronomy नामक पुस्तक ई० स० १८२३ में कलकत्ते में प्रकाशित हुई थी। इसमें उसने ब्रह्मगुप्तोक्त शर-भोगों द्वारा तारों का विचार किया है। इसी पर से ऊपर वाले कोष्ठक में उसके द्वारा सम्मत योगतारों के नाम दिये हैं। इनमें उत्तराभाद्रपदा का तारा केवल अल्जेनिब उसने दिया है। केरोपन्त ने इसको स्वीकार न कर आल्फेराट का परिगणन किया है। इसके अतिरिक्त केरोपन्त ने सब तारे बेण्टली के अनुसार दिये हैं।[1] इनके अतिरिक्त बेण्टली ने जो विकल्पात्मक दूसरे तारों के नाम लिखे हैं वे इस प्रकार हैं—अश्विनी गामा एरिस, मृग ११३, ११७ टारी, आश्लेषा ५० कांक्री, पूर्वाफाल्गुनी ७१ लिओ, हस्त ८ कार्वी, मूल ३५ स्कार्पिओ। व्हिटने ने इस विषय पर विस्तारपूर्वक विचार किया है।[2] और योगतारों को बहुत विवेक-पूर्वक निश्चय किया है। बापूदेव शास्त्री ने अपने सूर्यसिद्धान्त के अंग्रेजी अनुवाद में योगतारों के नाम दिये हैं।[3] ये सब कोलब्रुक के अनुसार ही हैं। परन्तु अपने पञ्चाङ्ग में ७ तारों में उन्होंने भेद किया है। अश्विनी, आश्लेषा, विशाखा, मूल, उत्तराषाढ़ा, धनिष्ठा, उत्तराभाद्रपदा इनके पहिले तारे को छोड़कर उनके स्थान पर बीटा एरैटिस, एपसिलान हैड्री, २४ (आयोटा) लिब्रा, लांबा स्कार्पि, सिग्मा साजिटेरी, बीटा डेल्फिनी, गामा पिगासी ये तारे लिये हैं। यह सब परिवर्तन व्हिटने के मतानुसार हैं, यह स्पष्ट है। वेंकटेश बापूजी केतकर ने अपने मतानुसार जो तारे मुझे विदित किये उनका भी सन्निवेश मैंने ऊपर के कोष्ठक में कर दिया है। कोलब्रुक इत्यादि के माने हुए योगतारों के शर-भोग हमारे ग्रन्थों में दिये हुए शर-भोगों से कहाँ तक मिलते हैं इस पर उन्होंने विशेष ध्यान दिया है, परन्तु मैंने इस बात के अतिरिक्त इस बात

---

१. ग्रहसाधनकोष्ठक पृष्ठ ३२४-५

२. सूर्यसिद्धान्त, अनुवाद पृष्ठ १७५-२२०

३. Bibliothica Indica New Series 1860 A. D. इसमें भरणी के लिए मस्का कहा है, परन्तु अपने पञ्चाङ्ग में वे ३५ एरैटिस लेते हैं अतएव मैंने कोष्ठक में वही दी है।

पर भी ध्यान दिया है कि योगतारों में १३ अं० २० कला या लगभग उतना अन्तर अवश्य रहना चाहिये। आर्द्रा नक्षत्र का तारा मृगपुञ्ज में मानना ठीक नहीं है।

आर्द्रया रुद्रः पथमान एति।

तै० ब्रा० ३-१-१

इस वाक्य का, आर्द्रा के साथ रुद्र आता है, यह अर्थ है। व्याध तारा ही रुद्र है। जो आर्द्रा मैंने माना है वह व्याध के पहिले केवल ९ मिनिट मध्याह्न में आती है। इसके सिवाय व्याध के पास दूसरा कोई तेजस्वी तारा इस प्रदेश में नहीं दिखाई देता।

ऊपर के कोष्ठक से स्पष्ट है कि कृत्तिका, रोहिणी, पुनर्वसु, पुष्य, मघा, उत्तरा, फाल्गुनी, चित्रा, स्वाती, ज्येष्ठा, अभिजित्, श्रवण, शतभिषक्, पूर्वाभाद्रपदा, रेवती इन १४ तारों के विषय में सबका एक मत है। इनके अतिरिक्त शेष नक्षत्रों के विषय में मतभेद है। इनमें कौन-सा मत ठीक है, यह निश्चय करना व्यर्थ है, क्योंकि हमारे ग्रन्थों में जो शर-भोग दिये हैं वे ऊपर वाले कोष्ठक में दिये हुए किसी तारे से अंशतः या पूर्णतः नहीं मिलते। वे शर-भोग सूक्ष्म रीति से नहीं निकाले गये हैं इसलिये नहीं मिलते तो इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिये। इसके अतिरिक्त वे किस काल से सम्बन्धित हैं, यह भी मालूम नहीं है। यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि प्राचीन काल के शर-भोगों को निकालने की जो पद्धति अपनायी गयी है वह भी सूक्ष्म है या नहीं, इसलिये उनका न मिलना ठीक ही है। वास्तव में वे मिलते भी नहीं हैं। इसलिए जिन तारों के साथ वे प्रायः मिल जाते हैं उन्हीं को योगतारा समझना चाहिए। यदि किसी नक्षत्र में २–३ तारे हैं और उनमें से एक तारे का शर प्रायः मिल जाता है तो भोग नहीं मिलता, यदि दूसरे तारे का भोग मिलता है तो शर नहीं मिलता, इसीलिए किसी ने शर मिलाने की ओर अधिक ध्यान दिया है और किसी ने भोग की ओर। किसी ने केवल दिशा की ही ओर ध्यान दिया है। अतएव प्रत्येक के मत का आधार तो अवश्य ही है। अमुक नक्षत्र को वर्तमान समय में अमुक पुञ्ज कहते हैं, उदाहरणार्थ भरणी नक्षत्र मस्का ही है; यह निश्चित हो जाने पर भी उसका योगतारा कौन-सा है इस विषय में मतभेद होना स्वाभाविक है। परन्तु यदि कोई उस पुञ्ज के बाहर के किसी तारे को योगतारा मान ले और इसके लिए कोई आधार न हो तो इसे अवश्य ही भूल समझना चाहिए। उदाहरणार्थ मृग और उसका शीर्ष मिलकर जो तारापुञ्ज दीखता है या माना जाता है, उसके शीर्ष में जो तीन तारे हैं उनमें एक को योगतारा मानना उचित है, परन्तु केरोपन्त ने उनसे बाहर किसी तारे को माना है, यह उनकी भूल है। मूल नक्षत्र की आकृति

सब ग्रन्थों में सिंहपुच्छ के समान मानी है। केतकर का योग तारा उसके बाहर का है अतः वह ठीक नहीं। केरोपन्त के ग्रहसाधन में मूल की क्रान्ति ३७ अंश के स्थान पर भूल से २७ अंश लिख गयी है इसी से यह भूल हो गयी है। जो हो, प्रत्येक का मत ठीक ही है।

तारा-स्थिति-पत्रक

तारों के वेध लेकर उनके भोग-शरों के पत्रक (क्याटेलाग) यूरोप में प्रथम हिपार्कस (ई० स० पू० १५०) ने तैयार किये। वे इस समय उपलब्ध नहीं हैं। परन्तु ई० स० १३८ में टालमी ने केवल अयन गति का संस्कार देकर उन्हें फिर से तैयार किया। ये उसके सिंटाक्सिस नामक ग्रंथ में उपलब्ध हैं। इस पत्रक में १०२२ तारे हैं, उनको ४८ भागों में बाँटा है। इसके पश्चात् दूसरा पत्रक तैमूर लंग के पौत्र उलूगबेग ने, जो समरकन्द का बादशाह था, ईसवी सन् १४३७ में बनाया। इसमें १०१९ तारे हैं। इसके बाद का पत्रक टाइको ब्राहे का ई० स० १६०० का है जिसमें ७७७ तारे हैं। इसके बाद यूरोप में बहुत से पत्रक बने हैं जो इनसे सूक्ष्म हैं। हमारे देश में किसी ने वेध लेकर पत्रक बनाये हों ऐसा मालूम नहीं पड़ता। महेन्द्र सूरि के यन्त्रराज ग्रन्थ में ३२ तारों के ध्रुवक और शर यवनागम से लेकर लिखे हुए हैं। इस ग्रन्थ के टीकाकार मलयेन्दु सूरि कहते हैं—

शकमतेन नक्षत्रगोले नक्षत्राणां द्वाविंशत्यधिकसहस्रम् १०२२ उक्तमस्ति । तन्मध्ये ग्रन्थकारेण नक्षत्रगोलं सम्यग् बुद्ध्वा यन्त्रोपयोगीनिद्वा विंशति नक्षत्राणि गृहीतानि।

अध्याय १ श्लोक २१-३८ टीका

इसमें लिखे हुए नक्षत्रपत्रक की १०२२ नक्षत्र-संख्या के कारण और ग्रन्थकार तथा टीकाकार के कालनिर्णय से यह मालूम होता है कि वह टालमी का है। इससे यह मालूम होता है कि वह मुसलमानों के द्वारा इस देश में लाया गया परन्तु आगे जाकर किसी ने उसका उपयोग नहीं किया।

नक्षत्रों का परिचय

इस समय हमारे देश में नक्षत्रों के योगतारों को तो छोड़ ही दीजिए, नक्षत्रों को भी पहचाननेवाले ज्योतिषी प्रायः नहीं मिलते। कोलब्रुक कहता है कि कुछ नक्षत्रों को हिन्दू ज्योतिषियों ने मुझे दिखलाया परन्तु कई को वे न बतला सके। बेरुनी[1] कहता

---

१. India II p. 83.

है कि मैंने इस विषय में बहुत परिश्रम किया परन्तु नक्षत्रों के योगतारों को आँख से देखकर दिखानेवाला एक भी ज्योतिषी मुझे नहीं मिला। आजकल भी योगतारे दिखलाने वाला ज्योतिषी शायद ही कहीं मिले। अधिकांश ज्योतिषी ऐसे हैं जिन्हें केवल नक्षत्रपुंजों से भी परिचय नहीं। कुण्डली निर्माण और मुहूर्त्त देखने में अत्यन्त निपुण ऐसा एक ज्योतिषी मुझे मिला, जिसे यह भी मालूम नहीं था कि अश्विन्यादि नक्षत्र पश्चिम से पूर्व की ओर क्रम से स्थित हैं, पूर्व से पश्चिम की ओर नहीं। तथापि नक्षत्र दिखनेवाले ज्योतिषी भी प्रायः मिल जाते हैं। कुलावा जिले के चौल ग्राम का 'फके' नाम का एक वैदिक ब्राह्मण मुझे मिला था, उसको सब नक्षत्र मालूम थे। उसने मध्याह्नवृत्त पर कौन-सा नक्षत्र आया हुआ है यह देखकर रात्रिमान निकालने के लिए एक श्लोक मुझे बतलाया था। वह बहुत उपयोगी है इसलिए यहाँ देता हूँ :—

खौ ख जा त्री गु चु गै चो छो भू १ युक्॥
१०२ ११२ १२८ १४० १५३ १५६ १८३ १९६ १९७
छ खि त्री कु चू छे को द्वि २ युक्॥
२१७ २३२ २४० २५१ २६६ २७७ २९१
ङौ ख छा ङी कु घु त्रि ३ युक्॥
३०५ ३१२ ३२७ ३४५ ३५१ ३५४
ख जा कु चू घे घो॥
१२ २८ ५१ ६४ ७४ ९४

अश्विनी नक्षत्र मध्याह्नवृत्त पर आने से लग्न १०२ अंश रहता है (अर्थात् कर्क लग्न के १२ अंश व्यतीत हुए रहते हैं)। इसी प्रकार २८ नक्षत्रों के प्राग्लग्न के अंश उपर्युक्त श्लोकों में दिये हुए हैं। लग्न से इष्ट काल लाने की रीति से काल का आनयन करना चाहिए। इस वचन में द्वितीय आर्यसिद्धान्त के कटपयादि संख्या-संकेत हैं और साथ साथ अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ यह संकेत १ से ९ तक अंक तथा ० के वाचक हैं। इसी वचन के समानार्थक तीन श्लोक गणेश दैवज्ञ कृत मुहूर्तसिन्धु में भी दिये हुए हैं।[1] इनमें अंशों की संख्याएँ साधारण नियम के अनुसार हैं और जिस स्थान की ४ पलभा हो वहीं के ये लग्नांश हैं, इतरत्र कुछ न्यूनाधिक होंगे ऐसा भी कहा

---

१. इन श्लोकों में चित्रा अंश २६३ और शततारका के ६१ हैं। ऊपर के वचन में चू और कु ये अक्षर हैं परन्तु उनके स्थान पर यदि गू और कू ये दो अक्षर हों तो दोनों की संगति बैठ जाती है।

है। इस बात से और चौलग्राम गणेश दैवज्ञ के नांदगांव से निकट होने के कारण "खौ" इत्यादि वचन और पूर्वोक्त वैदिक को ज्ञात नक्षत्र गणेश दैवज्ञ से परम्परा से प्राप्त मालूम होते हैं।

[उक्त वैदिक ने जो नक्षत्र दिखलाये थे उनमें रेवती और विशाखा में भूल थी। रत्नागिरी के एक ज्योतिषी ने जा० बा० मोडक को जो रेवती तारा दिखलाया था वह इससे मिलता है। धुलिया के एक अच्छे ज्योतिषी ने भी इसी तारे को रेवती नक्षत्र कहा था। परस्पर कोई सम्बन्ध न होने पर भी तीनों को यह समान भ्रम कैसे हुआ यह कहना कठिन है। परन्तु यह सम्भव नहीं है कि यह भल मूल में गणेश दैवज्ञ की ही थी। मैंने अपनी ज्योतिर्विलास पुस्तक में नक्षत्रों का वर्णन दिया है। उसकी सहायता से कोई भी नक्षत्रों का परिचय प्राप्त कर सकता है।]

नक्षत्रपद्धति का मूल

चीनी, पारसी और अरब लोगों में नक्षत्र पद्धति थी। अतएव नक्षत्र पद्धति हिन्दुओं ने स्वतंत्र रूप से ही आविष्कृत की अथवा दूसरे राष्ट्रों से ली, इस विषय को यूरोपियन विद्वान्, विशेष महत्त्व देते हैं। परन्तु मुझे इस वाद में कोई विशेष सार दृष्टिगत नहीं होता, क्योंकि सम्पूर्ण ज्योतिर्गणित पद्धति भारतीयों ने स्वयम् आविष्कृत की या दूसरों से ली, इस बात का निर्णय केवल 'नक्षत्रपद्धति किसने निकाली' इससे नहीं हो सकता। आज नक्षत्र ज्ञान होते ही कल ग्रह ज्ञान अवश्य होना चाहिए। एक राष्ट्र ने नक्षत्रपद्धति स्थापित की तो ग्रहगति पद्धति भी उसी राष्ट्र के द्वारा स्थापित होनी चाहिए अथवा एक राष्ट्र ने किसी दूसरे राष्ट्र से नक्षत्रपद्धति ली हो तो उसे ग्रह-गति-ज्ञान स्वयं नहीं हो सकता, यह कहना युक्तिसङ्गत नहीं है। नक्षत्रपद्धति मूलतः हिन्दुओं की नहीं है वह वेबर नामक जर्मन विद्वान् का कहना है। एम बायो नामक फ्रेंच विद्वान् ने आग्रहपूर्वक प्रतिपादन किया है कि नक्षत्रपद्धति मूलतः चीनियों की थी और उन्हीं से हिन्दुओं ने उसे प्राप्त किया। परन्तु यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि चीनी लोगों को जो मूल में नक्षत्रज्ञान था उससे अधिक नक्षत्रज्ञान उनको कभी प्राप्त नहीं हुआ। ग्रहगति और अयनचलन इन महत्त्व के विषयों का विचार उन्होंने कभी नहीं किया। यह बात ह्विटने और बायो दोनों स्वीकार करते हैं।[१] भारतीयों ने नक्षत्रपद्धति स्वयं स्थापित की है, सम्भवतः चीनी लोगों ने भी उसे ढूंढ़ निकाला हो

---

१. इस विषय में बायो और ह्विटने के मतों का जो उल्लेख किया है वह बर्जेस के सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद पृष्ठ १८०-२०० से लेकर २०६ और ३०४ पृष्ठ पर आधारित है।

परन्तु यह निश्चय है कि हम लोगों ने उसे उनसे प्राप्त नहीं किया। इस विषय में हम पहिले ही विवेचन कर चुके हैं, यहाँ उसकी पुनरुक्ति करने की आवश्यकता नहीं, किन्तु उक्त यूरोपियनों के कथन का संक्षेप में विचार किया जाता है। बायो ने Journal des Savants नामक पत्रिका में चीनी नक्षत्रपद्धति तथा हिन्दू नक्षत्रपद्धति का विस्तारपूर्वक विचार किया है।[1] उसके कहने का तात्पर्य नीचे दिया जाता है—

"चीनी लोगों के वेध-यन्त्र और वेधपद्धति अच्छी थी और उनका वर्त्तमान यूरोपियन पद्धति से साम्य है। उनके पास याम्योत्तरलंघन यन्त्र और कालसाधनार्थ घटिका (Clepsydra) ये दो यन्त्र थे। उन्होंने तारों के याम्योत्तर-लंघन वेध करके उनके विषुवांश और क्रान्तियों को ठहराया था और इसके लिए और वेध लेने में काल के सम्वन्ध में कोई भूल न रह जाय इसलिए ई० स० पूर्व २३५७ के आसपास सम्भावित भूल को शुद्ध करने के लिए विपुववृत्त के निकट २४ तारों का उन्होंने परिगणन किया था। ऐसा करने में विषुववृत्त के सान्निध्य की ओर उन्होंने विशेष ध्यान दिया था।' चाहे वे तेजस्वी हों या न हों, दिखाई देने मात्र से उन्होंने उनको अपनी गणना में ले लिया था। वे ऐसे प्रत्येक तारे को सियू (Sieu) कहते हैं। च्यूकांग राजा के समय (ई० स० पू० ११०० में) पूर्वोक्त २४ तारों में मघा, विशाखा, श्रवण और भरणी के चार तारे और जोड़े गये।" बायो ने चीनियों के नक्षत्रों का जितना विवेचन किया है उतना हिन्दुओं के नक्षत्रों का नहीं। ह्विटने ने चीनी, अरबी और हिन्दू तीनों पद्धतियों की तुलना की है। तीनों पद्धतियों में कुछ बातों में साम्य है, कुछ विषमता भी। इसलिए ह्विटने ने प्रथमतः यही निष्कर्ष निकाला कि तीनों पद्धतियों में एक भी ऐसी नहीं जिसको तीनों का मूल कहा जा सके। ऐसा होने पर भी वह आगे कहता है कि "ई० स० ११०० पूर्व या उसके लगभग चीनी नक्षत्रपद्धति पश्चिम एशिया में पहुँची और उसको सेमिटिक या ईरानियों ने अपना लिया। उसमें उन्होंने अच्छी शास्त्रीय रीति से या विशेष कुशलतापूर्वक नहीं परन्तु वेध लेकर कुछ परिवर्तन किया। ग्रहगति के अनुसार क्रान्तिवृत्त के प्रदेश में चीनी 'सू' एक तारा के स्थान पर उन्होंने नक्षत्रपुंजों की कल्पना की और कुछ नक्षत्रों के स्थान बदले। ऐसी अवस्था में यह पद्धति और ग्रह-ज्ञान भारत में आया। इन्हीं सेमिटिक या ईरानी लोगों से कालान्तर में अरब के लोगों ने यह ज्ञान प्राप्त किया।" ध्यान देने योग्य बात है कि हिन्दुओं की नक्षत्रपद्धति दृष्टिवेध से सिद्ध की हुई है, चीनियों की यन्त्रवेध से सिद्ध की गयी थी। हमारे नक्षत्रों में से रोहिणी,

---

१. Journal des Savants 1840, 1845 and 1859.

पुनर्वसु, मघा, पूर्वोत्तर फाल्गुनी, स्वाती, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, अभिजित् और श्रवण का योगतारा देखने में स्पष्ट अर्थात् प्रथम या द्वितीय और क्वचित् तृतीय परिमाण का है, परन्तु चीनी लोगों ने उनको ग्रहण न कर उन्हीं नक्षत्रों में कम तेजस्वी तारों को ग्रहण किया है,[1] इसका कारण यह है कि वे तारे उनको वेधोपयोगी मालूम हुए। इतना होने पर भी यद्यपि ह्विटने को यह कहने का साहस नहीं हुआ कि हिन्दुओं ने चीनी पद्धति को अविकल वैसा का वैसा उठा लिया है तथापि उसने एक ऐसी सेमिटिक अथवा ईरानी पद्धति की कल्पना की जिसका कहीं पता नहीं लगता। फिर इस सेमिटिक अथवा ईरानी पद्धति को चीनी पद्धति का हीन स्वरूप देकर उसे हिन्दुओं के माथे मढ़ दिया। यह सृष्टि में क्रमोन्नति के सिद्धान्त का विपर्यास तो है ही, साथ ही साथ ह्विटने के दुराग्रह का द्योतक है। ईरानियों में नक्षत्रपद्धति थी परन्तु उसके विषय में ह्विटने स्वयं कहता है—"जेन्दावेस्ता में उसका अस्तित्व अब तक किसी ने नहीं दिखाया है। बुन्देहेश नामक ग्रन्थ में नक्षत्रों की संख्या २८ और उनके नाम मात्र दिए हुए हैं। यह ग्रन्थ भी बहुत प्राचीन नहीं है। ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी में सासनियन राजाओं के समय ईरान स्वतन्त्र हुआ था। उसी समय का यह ग्रन्थ होना सम्भव है।" खाल्डियन लोगों में नक्षत्रपद्धति थी या नहीं इस विषय में वह लिखता है—"वेबर का कथन है कि बाइबल के मज्जलॉथ (Mazzaloth) और मजरॉथ (Mazzaroth) ये दो शब्द (Job 38, 32 kings 23-5) अरबी के नक्षत्रवाचक शब्द मंजिल (Manzil) के समान हैं। अतएव इससे सिद्ध होता है कि पाश्चात्य सेमिटिक लोगों में नक्षत्र-पद्धति वर्तमान थी और उसे खाल्डियन लोगों ने निकाला होगा।" उपर्युक्त बात इतनी अप्रसिद्ध और संशयग्रस्त है कि नक्षत्रपद्धति के अस्तित्व के विषय में प्रमाणभूत नहीं मानी जा सकती। तद्व्यतिरिक्त यदि यह पद्धति इतने प्राचीन काल में और इतने पश्चिम में वर्तमान थी तो ग्रीक लोगों ने इसके विषय में नितान्त मौन क्यों धारण किया? यह बात विश्वसनीय नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि जिन सेमिटिक अथवा ईरानियों के द्वारा ह्विटने के कथनानुसार यह पद्धति भारत में आयी वे खाल्डि-यन या पारसी नहीं थें। इनके सिवाय कोई दूसरी सेमिटिक अथवा ईरानी जातियाँ, जिनमें यह पद्धति परम्परा रूप से प्रचलित थी, इतिहास को अवगत नहीं। इसी से यह सिद्ध होता है कि तथाकथित मध्यस्थ सेमिटिक अथवा ईरानी जातियाँ जिनका भारत ऋणी हो सकता है केवल कपोलकल्पित हैं।

ई० स० ११०० पूर्व चीनी पद्धति में केवल २४ तारे थे इसलिये बायो अथवा

---

१. बर्जेस कृत सूर्यसिद्धान्त का अनुवाद, पृष्ठ २२४ देखिए।

ह्विटने यह नहीं कह सकते कि इसके पहले यह पद्धति भारत में आयी। हिन्दू पद्धति में अभिजित् नक्षत्र था वह ई० स० ९७२ में निकाल दिया गया, ऐसा बायो का कथन है। इससे वह सिद्ध करना चाहता है कि तब तक चीनियों के २८ नक्षत्र भारत में चालू थे। परन्तु इसके पूर्व दीर्घकाल से हिन्दुओं ने गणित में २७ नक्षत्र ही लिये हैं। ह्विटने ने तैत्तिरीय संहिता का उल्लेख कर बायो का खण्डन किया है, क्योंकि इस संहिता में केवल २७ नक्षत्र ही परिगणित हैं। उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध हो जाता है कि बायो और ह्विटने का यह कथन कि हम लोगों ने नक्षत्र-पद्धति चीनियों से ग्रहण की, सर्वथा त्याज्य है। वेबर भी कहता है कि 'यह मान्य नहीं है कि हिन्दुओं ने चीनियों से नक्षत्र-पद्धति सीखी थी।'[१]

सर विलियम जोन्स ने हिन्दू और अरब नक्षत्र-पद्धति की तुलना की है[२] परन्तु ह्विटने का कहना है कि वह अपूर्ण और स्थूल है अतएव विश्वसनीय नहीं।[३] यह तुलना जोन्स ने केवल नक्षत्रों के सम्बन्ध मेंनहीं की है, नक्षत्रों की राशि के सम्बन्ध में की है। उसका मत है कि हिन्दुओं ने नक्षत्र-पद्धति खाल्डियन लोगों से न लेकर नक्षत्र-राशि पद्धति ग्रीक लोगों से ली है। ह्विटने का यह कथन कि नक्षत्रपद्धति खाल्डियन लोगों में नहीं थी हम ऊपर ही लिख चुके हैं। हिंन्दू और अरब पद्धति की तुलना कोलब्रुक ने विस्तारपूर्वक की है परन्तु हिन्दुओं ने अरबों से यह पद्धति ली, यह वह या और कोई भी विद्वान् नहीं कहता। तद्विपरीत कोलब्रुक का यह कहना है कि अरबों ने ही हिन्दुओं से यह सीखी।[४] इस बात का विवेचन हम पहिले भी कर चुके हैं। मैक्समूलर का कथन है कि नक्षत्र-पद्धति बैबिलोनिया से सर्वत्र प्रसृत हुई।[५] वेबर का भी कहना है कि हिन्दुओं ने उसे बैबिलोनियन अथवा खाल्डियन लोगों से लिया, परन्तु मैक्समूलर ने इस विषय पर कोई सप्रमाण और विस्तृत विवेचन नहीं किया है अतएव यह मत सर्वथा अग्राह्य है, यह ह्विटने ने भी स्वीकार किया है। सारांश नक्षत्र-पद्धति भारतीयों ही का स्वतन्त्र अविष्कार है, यह पूर्णतः सिद्ध हो जाता है।

---

१ History of Indian Literature, p. 247.

२ Asiatic Researches, p. 2 (1790).

३. सूर्यसिद्धान्त अनुवाद, पृष्ठ १८०,

४ Algebra, Introduction, p. xxii.

५ History of Indian Literature, p, 2. Note 2 and p. 247.

(११) महापात

चन्द्र-सूर्य से क्रान्तिसाम्य को महापात कहते हैं। सायन रविचन्द्र का योग जब ६ अथवा १२ राशि होता है उसके आसपास क्रान्तिसाम्य होता है। पहिले को व्यतीपात और दूसरे को वैधृति कहते हैं। इन क्रान्तिसाम्यों के समय शुभ कर्म वर्जित किये गये हैं। इसलिए प्रत्येक गणितग्रन्थ में इनका गणित रहता है। गणेश दैवज्ञ ने ग्रहलाघव में इनका गणित देकर भी सुलभ रीति से इसका समय निकालने के लिए पात सारणी नामक एक छोटा सा अलग ग्रन्थ लिखा है।

यहाँ तक गणित स्कन्ध का विचार हुआ, अब दूसरे स्कन्धों का विचार करें।

२. संहितास्कन्ध

ज्योतिष की सब शाखाओं के विवेचन से युक्त ग्रन्थ को पहिले संहिता कहते थे, परन्तु वराहमिहिर के समय गणित और होरा से भिन्न तृतीय शाखा को ही संहिता कहने लगे थे। कुछ दिनों बाद शीघ्र ही वाराहीसंहिता में वर्णित विषयों की चर्चा लुप्त हो गयी और मुहूर्त ही तृतीय स्कन्ध बन बैठा। इसका विवेचन आगे करेंगे। संहिता शाखा के स्वरूप का ज्ञान होने के लिए यहाँ पहिले यह बतायेंगे कि वराह की संहिता में किन-किन विषयों का वर्णन किया गया है।

संहिताविषय

संहिताग्रन्थों में राष्ट्रविषयक शुभाशुभ फल जानने की विधि लिखी रहती है, व्यक्तिविषयक नहीं। वाराहीसंहिता के आरम्भ के ११ अध्यायों में सूर्य, चन्द्र, राहु और अन्य ग्रह तथा केतु के चार (गमन) और नक्षत्रमण्डल में उनके गमन से संसार को होनेवाले शुभाशुभ फलों का वर्णन है। १२वें और १३वें अध्यायों में अगस्त्य और सप्तर्षियों में उदयादि के फल हैं। १४वें अध्याय का नाम कूर्माध्याय है। उसमें भारतवर्ष के ९ विभाग मान कर उन विभागों और तदन्तर्गत देशों पर अमुकामुक नक्षत्रों का आधिपत्य है—इत्यादि बातें बतायी हैं। इसके बाद नक्षत्रव्यूह तथा ग्रहों के युद्ध और समागम के फल हैं। इसके बाद वर्षफलविचार है। वह कुछ इस ढंग का है, जैसा कि आजकल पञ्चाङ्गों में संवत्सरफल लिखा जाता है। इसके बाद ग्रह-शृङ्गाटक प्रकरण है। उसमें सूर्य या किसी नक्षत्र के पास एक ही समय सब या कुछ ग्रहों के एकत्रित होने से जो धनुष या शृङ्गादि सदृश आकृतियाँ बनती हैं, उनके फल बताये हैं। इसके बाद पर्जन्यगर्भलक्षण, गर्भधारण और वर्षण विषय हैं। उनमें मार्गशीर्षादि मासों में पर्जन्य के गर्भधारण और तदनुसार पर्जन्यवृष्टि इत्यादि का विवेचन है। आजकल भी कुछ लोग इसका विचार करते हैं। लोग कहते हैं कि गर्भ-धारण द्वारा वृष्टि की बिलकुल ठीक स्थिति बतानेवाले कुछ लोग इस समय भी हैं। इस प्रकरण में बरसा हुआ पानी नापने के लिए कहा है और उसे नापने की रीति बतायी है। इसके बाद चन्द्रमा से रोहिणी, स्वाती, आषाढ़ा और भाद्रपदा के योग के फल लिखे

हैं। तदनन्तर सद्योवर्षण, कुसुमफललक्षण, सन्ध्या (प्रातः और सायंकालीन आकाश की लालिमा इत्यादि), दिग्दाह, भूकम्प, उल्का, परिवेष (मण्डल), इन्द्रधनुष, गन्धर्वनगर,[1] (आकाश में दिखाई देने वाला नगर), प्रतिसूर्य और निर्घात—इन सृष्टिचमत्कारों का वर्णन है। उसके बाद धान्यादिकों के मूल्य, इन्द्रध्वज और नीराजन का वर्णन है। इसके बाद खञ्जन नामक पक्षी के दर्शनादिकों के फल हैं और दिव्य, भौम तथा अन्तरिक्ष उत्पातों का वर्णन है। इसके बाद मयूरचित्रक प्रकरण है। आगे राजोपयोगी पुष्यस्नान, पट्टलक्षण और खड्गलक्षण हैं। इसके बाद वास्तु-प्रकरण है। यह बड़ा विस्तृत है। इसमें गृह बनाने के लिए स्थान कैसा होना चाहिए, काष्ठ कैसे होने चाहिए, भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए किस-किस प्रकार के गृह बनाने चाहिए, इत्यादि उपयुक्त बातें बतायी हैं। इसकी टीका में भटोत्पल ने ५ नक्शे दिये हैं। इसके बाद उदकार्गल प्रकरण है। उसमें मुख्यतः यह बताया है कि भूमि में पानी कितने नीचे मिलेगा। प्रसङ्गवशात् उसमें भूस्तरविद्या सम्बन्धी भी कुछ बातें आयी हैं। लोग कहते हैं कि आजकल भी कुछ ऐसे मनुष्य हैं जो बताते हैं कि अमुक स्थान में कुआँ खोदने से पानी शीघ्र मिलेगा। इसके बाद वृक्षायुर्वेद, प्रासादलक्षण और वज्र लेप प्रकरण हैं। वज्रलेप एक प्रकार का पलस्तर है। इसके विषय में लिखा है कि यह मयकथित है। इसके बाद देवप्रतिमाविचार, वास्तुप्रतिष्ठा, गौ, कुक्कुर, कुक्कुट, कूर्म, अज, मनुष्य पद्मराग इत्यादिकों की परीक्षा, दीप लक्षण, दन्तधावन और शकुन का विचार है। इसके बाद श्वान और शृगाल के शब्द से होने वाले शुभाशुभ का और मृग, हाथी इत्यादिकों का वर्णन है। इसके बाद तिथि, नक्षत्र, करण और गोचर ग्रहों के फल हैं।

मैंने अधिक संहिताग्रन्थ नहीं देखे हैं, तथापि वराह के पहिले की गर्गादि सभी संहिताओं में अनुमानतः ये ही अथवा इनमें से कुछ विषय होंगे। विवाहादि कर्मोपयोगी शुभकाल (मुहूर्त) का विचार सम्भवतः संहिताग्रन्थों में ही रहता है। किन्तु वराह ने यात्रा और विवाह विषयक दो ग्रन्थ पृथक् बनाये हैं, मालूम होता है इसी कारण उन्होंने अपनी संहिता में ये विषय नहीं लिखे हैं। वराह ने अनेक स्थानों पर लिखा है कि अमुक ऋषि के कथनानुसार अमुक विषय का वर्णन कर रहा हूँ। इस प्रकार उन्होंने गर्ग, पराशर, असित, देवल, वृद्धवर्ग, कश्यप, भृगु, वसिष्ठ, बृहस्पति, मनु, मय, सारस्वत

---

१. न्यूहालैण्ड से कुछ मील दूर समुद्रस्थित एक जहाज के मनुष्यों ने न्यूहालैण्ड का एक नगर आकाश में देखा था। यह समाचार सन् १८८७ के लगभग प्रकाशित हुआ था। इससे ज्ञात होता है कि गन्धर्वनगर बिलकुल असत्य पदार्थ नहीं है।

और ऋषिपुत्र के नाम दिये हैं।[1] इससे ज्ञात होता है कि उस समय इतनी संहिताएँ उपलब्ध थीं। कुछ और भी रही होंगी, क्योंकि उन्होंने कहीं-कहीं "अन्यान् बहून्" लिखा है। टीकाकार ने टीका में इन सब संहिताओं के अतिरिक्त व्यास, भानुभट्ट विष्णुगुप्त, विष्णुचन्द्र, यवन, रोम, सिद्धासन, नन्दी और नग्नजित् इत्यादिकों के तथा भद्रबाहु नामक ग्रन्थ के वचन दिये हैं। इनमें से कुछ ग्रन्थकार वराह से प्राचीन और कुछ अर्वाचीन होंगे। वास्तुप्रकरण में किरणाख्य तन्त्रावली और मय के वचन दिये हैं।

उपर्युक्त विषयों में आधुनिक अनेक शास्त्र भी हैं। उनका सम्बन्ध केवल ज्योतिष-शास्त्र से ही नहीं है, उनमें आकाश और पृथ्वी सम्बन्धी अनेक सृष्टिचमत्कार तथा व्यावहारिक विषय भी आये हैं। मालूम होता है, इनमें से कुछ विषयों का विचार वराहमिहिर के बहुत पहिले ही हो चुका था और कुछ का प्राचीनकाल से वराहमिहिर के समय तक होता आया। अनेक स्थानों में वराहमिहिर ने स्वकीय मतों का ही उल्लेख किया है। सारस्वतमुनिकथित उदकार्गल प्रकरण लिखने के बाद 'मानवं वक्ष्ये' कह कर उन्होंने अनेक बातें लिखी हैं। वाराहीसंहिता में वर्णित विषयों की शोध बाद में भी होती रहती तो बड़ा लाभ होता। वराह के बाद एक भी ऐसा ग्रन्थ नहीं बना, जिसमें उनकी संहिता के सभी अथवा कुछ विषयों का विवेचन हो। मुहूर्ततत्त्व में संक्षेपतः बहुत से विषय आये हैं और ज्योतिषदर्पण में ग्रहचार का वर्णन है तथापि यह कथन अनुचित नहीं है कि वराह के बाद वे विषय सर्वथा लुप्त हो गये। गर्भावली (पर्जन्य-गर्भ) इत्यादि दो-तीन प्रकरणों का विचार आजकल भी कुछ लोग करते हैं और उनका संक्षिप्त वर्णन कुछ ग्रन्थों में मिलता है। तथापि उनमें महत्व की बातें बहुत कम हैं। वास्तुप्रकरण आधुनिक सभी मुहूर्तग्रन्थों में है, उसमें कुछ उपयुक्त बातें भी हैं तथापि मूलहेतु ग्रन्थकारों को प्रायः विस्मृत हो गया है और उसमें लिखी हुई बातों का प्रत्यक्ष उपयोग प्रायः कम होता है। घर की लम्बाई-चौड़ाई के योग इत्यादि में अमुक संख्या का भाग देने से अमुक शेष रहे तो शुभ और अमुक रहे तो अशुभ फल होता है—इत्यादि नियमों को तो कोई नहीं ही पूछता,[2] पर इनके साथ-साथ उपयुक्त बातें भी लोगों ने छोड़ दी हैं।

---

१. सारस्वत का नाम उदकार्गल प्रकरण में और मय का केवल वास्तु और तत्सदृश प्रकरणों में ही आया है।

२. नक्षत्र सम्बन्धी शुभत्वाशुभत्व के अनुसार लम्बाई-चौड़ाई के विषय में कुछ नियम बताये गये हैं और उनमें ज्योतिषियों ने बड़ी चतुराई दिखाई है। मुहूर्तमार्तण्ड के वास्तु प्रकरण में क्षेत्रफलादिकों का बहुत विचार किया है। मैंने एक बार एक ज्योतिषी को

मुहूर्तग्रन्थ और उनके विषय

गर्भाधानादि संस्कार, प्रयाण तथा अन्य व्यावहारिक अनेक कार्य अमुकामुक समयों में करने से लाभप्रद होते हैं—इसके अनेक नियम बनाये गये हैं। उन नियमों के अनुसार निश्चित किए हुए समय का नाम मुहूर्त है। मुहूर्तविचार प्राचीनकाल में संहिताग्रन्थों का एक अङ्ग था, परन्तु बाद में संहितोक्त अन्य विषयों का लोप और मुहूर्त का प्राधान्य हो गया और मुहूर्तविषयक ग्रन्थों को लोग मुहूर्तग्रन्थ ही कहने लगे। मुहूर्तग्रन्थों में मुख्यतः ये विषय रहते हैं—प्रायः सभी मुहूर्तग्रन्थों में त्याज्यप्रकरण नामक एक सामान्य प्रकरण रहता है। उसमें प्रत्येक शुभकार्य में वर्जित तिथिनक्षत्रादि लिखे रहते हैं। उसके बाद, तिथि, वार, नक्षत्र, योग और संक्रान्ति के शुभाशुभत्व का वर्णन रहता है। उसके बाद गर्भाधानादि १५ संस्कारों के मुहूर्त का विचार रहता है। विवाह में वधू-वर की कुण्डलियाँ मिलाने के विषय में एक विस्तृत प्रकरण रहता है। इनके अतिरिक्त वास्तु, यात्रा, राज्याभिषेक और कुछ अन्य फुटकर प्रकरण रहते हैं। नक्षत्रप्रकरण में कुछ ग्रन्थों में दुष्टनक्षत्र-जननशान्ति इत्यादि शान्तियाँ भी रहती हैं।[1]

मुहूर्तग्रन्थों के ये ही विषय श्रीपति की रत्नमाला में भी हैं, अन्य विषय नहीं हैं, पर श्रीपति ने अपने विषय का नाम मुहूर्तग्रन्थ नहीं रखा है। इस प्रकार के ग्रन्थों के नाम मुहूर्तमार्तण्ड इत्यादि बाद में पड़ने लगे। श्रीपति ने रत्नमाला लल्ल के रत्नकोश के आधार पर बनायी है, अतः लल्ल के ग्रन्थ में भी मुहूर्तव्यतिरिक्त विषय नहीं होंगे और वराह के बाद उनकी संहिता सरीखा अन्य ग्रन्थ नहीं बना, इससे ज्ञात होता है कि शक ५०० या ६०० से मुहूर्त ही तृतीय स्कन्ध हो गया।

शुभत्वाशुभत्व का बीज

नक्षत्रों के नाम और उनके देवता, अश्विन्यादि नक्षत्रों की अश्वादि कल्पित-योनियाँ[2] और स्थिरचरादि संज्ञाएँ, राशियों की मेषादि संज्ञाओं से बोधित होने

वह समझा दिया, उससे मुझे ज्ञात हुआ कि उस विषय को बहुत कम ज्योतिषी समझते होंगे। रेखागणित इत्यादि बिलकुल न जानने वालों को इसे समझाना भी बड़ा कठिन है।

१. मुहूर्तविचार में जन्मलग्नकुण्डली और इष्टकालीन लग्नकुण्डलियों में से एक का अथवा दोनों का विचार अनेक स्थानों में किया गया है। कुण्डली का विवेचन आगे किया जायगा। विवाहादिक मुहूर्तों में षड्वर्ग का भी विचार किया गया है।

२. योनि के विषय में रत्नमालाटीकाकार माधव ने नक्षत्र प्रकरण में लिखा है—एता योनयः आगमसिद्धा एव दम्पत्यादियोगार्थं पूर्वाचार्यैः कल्पिता न पारमार्थिकाः।

वाले मेषादि प्राणी को राशियों के भौमादि स्वामी, तिथियों की नन्दादि संज्ञाएँ और तिथियों के स्वामी—इत्यादि बातों के आधार पर भिन्न-भिन्न कर्मों के नक्षत्रों का शुभत्वाशुभत्व माना गया है। जैसे—चर नक्षत्रों में स्थिर कर्म करना अशुभ है, वधूवर के नक्षत्र रोहिणी और उत्तराषाढ़ा हों तो उनकी सर्प और नकुल योनियों में परस्पर शत्रुत्व होने के कारण यह विवाह अशुभ माना गया है। इसी प्रकार और भी बहुत-सी बातें हैं।

मूहूर्त की आवश्यकता

मुहूर्तों का लोकव्यवहार से निकट का सम्बन्ध है, इस ग्रन्थ के प्रथम भाग के अनेक स्थानों के विवेचन से ज्ञात होता है कि ये अनादिकाल से चले आ रहेहैं। सम्प्रति विवाहादि संस्कार तो मुहूर्त बिना होते ही नहीं। गृहारम्भ, गृहप्रवेश, बोआई, कटाई, दँवाई इत्यादि कर्म भी मुहूर्त बिना नहीं होते। अन्य भी अनेक व्यावहारिक कार्य अनेक मनुष्य मुहूर्तानुसार करते हैं। केवल वैदिकधर्मी ही नहीं, लिंगायत और जैन भी पद-पद पर मुहूर्त पूछते हैं। पारसी और मुसलमानों के भी कुछ कार्य मुहूर्तानुसार होते हैं। हमें थोड़ा सा ज्योतिषज्ञान होने के बाद उसकी क्रमशः वृद्धि होने का और आज तक उसका अस्तित्व रहने का एक मुख्य कारण मुहूर्त की आवश्यकता है।

मूहूर्तग्रन्थों का इतिहास

मुहूर्तग्रन्थ और उनके कर्ताओं का थोड़ा-सा इतिहास लिख-कर यह स्कन्ध समाप्त करेंगे। आगे लिखे हुए स्वल्प इतिहास से ज्ञात होगा कि मुहूर्तविषयक ग्रन्थ अनेक है। उनमें से जिनका प्रत्यक्ष या परम्परया थोड़ा-बहुत परिचय है, उन्हीं का वर्णन यहाँ करेंगे।

रत्नकोश (लगभग शक ५६०)—यह ग्रन्थ लल्ल का है। इसे मैंने नहीं देखा है। श्रीपति ने रत्नमाला इसी के आधार पर बनायी है, अतः वह आधुनिक मुहूर्तग्रन्थों सदृश ही होगा।

रत्नमाला (लगभग शक ९६१)—यह ग्रन्थ श्रीपतिकृत है। इसमें केवल उपर्युक्त मुहूर्तग्रन्थोक्त ही विषय हैं।[1] इस पर माधव की टीका है। माधव का काल शक ११८५ है। इन्होंने टीका में अनेक ग्रन्थों के वचन दिये हैं। उनमें से यहाँ मुहूर्तस्कन्ध-सम्बन्धी ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के वे नाम लिखते हैं जिनके विषय में इसके पूर्व या पश्चात्

---

१. तथापि टीकाकार ने लिखा है कि—संहितार्थमभिधातुमिच्छुराह।

कुछ भी नहीं लिखा गया है। ग्रन्थकारों के नाम[1]—ब्रह्मशम्भु, योगेश्वर (ये दोनों नाम वास्तुप्रकरण में आये हैं) और श्रीधर। ग्रन्थों के नाम—भास्करव्यवहार, भीमपराक्रम, दैवज्ञवल्लभ, आचारसार (यह कदाचित् आचारविषयक ग्रन्थ होगा), त्रिविक्रमशत, केशवव्यवहार, तिलकव्यवहार, योगयात्रा, विद्याधारी विलास, विवाहपटल, विश्वकर्मशास्त्र (यह नाम वास्तुप्रकरण में आया है)। इनके अतिरिक्त जातकग्रन्थ लघुजातक, यवनजातक, वृद्धजातक, शकुनग्रन्थ नरपतिजयचर्या और प्रश्नग्रन्थ विद्वज्जनवल्लभ के भी वचन दिये हैं। टीका में वारप्रकरण में इन्होंने लिखा है—इह आनन्दपुरे विषुवच्छाया ५।२० विषुवत्कर्णः १३।८। इससे ज्ञात होता है कि इनका स्थान आनन्दपुर है और उसका अक्षांश २४ है।

राजमार्तण्ड—यह ग्रन्थ भोजकृत है। यह शक ९६४ के लगभग बना होगा।

विद्वज्जनवल्लभ—तंजोर के महाराष्ट्र राजकीय[2] पुस्तकालय की सूची में इस ग्रन्थ के विषय में लिखा है—यह ग्रन्थ भोजकृत (अर्थात् शक ९६४ के आसपास का) है। इसमें १८ प्रकरण और सब लगभग १८५ श्लोक हैं। प्रकरणों के नाम क्रमशः लाभालाभ, शत्रुगमागम, गमागम, प्रेषितागम, यात्रा, जयपराजय, सन्धि, आश्रय, बन्धाबन्ध, रोगी, कन्यालाभ, गर्भधारणा, जन्म, वृष्टि, क्षिप्तधन (१६वाँ प्रकरण खण्डित है), मिश्र और चिन्ता हैं। भोजकृत संहितास्कन्धीय एक ग्रन्थ राजमार्तण्ड के रहते हुए उनका यह दूसरा ग्रन्थ बनाना शंकास्पद है। दूसरे का हो तो भी यह निश्चित

---

१. माधव ने प्रसंगवशात् अन्य विषयों के ग्रन्थकारों के भी वचन दिये हैं। चूंकि वे उपयोगी हैं इसलिए यहाँ उन ग्रन्थों या ग्रन्थकारों नाम लिखते हैं—न्यायकिरणावली, कणादसूत्र, प्रशस्तकरभाष्य, भविष्योत्तरपुराण, मत्स्यपुराण, शिवरहस्य, बोधायन, गृहस्थधर्म-समुच्चय, स्मृतिमञ्जरी, सौरधर्मोत्तर, स्कन्दपुराण, विष्णुधर्मोत्तर, विश्वरूप, विज्ञानेश्वर, पुराणसमुच्चय, वाग्भट, याज्ञवल्क्यस्मृति, दुर्गसिंह, गरुड़ पुराण, विश्वादर्शभाष्य, वैद्यनिघण्टु, सुश्रुतचिकित्सित।

२. शिवाजी के भाई वेंकोजी (एकोजी) और उनके वंशजों ने तञ्जौर प्रान्त में राज्य किया था। तञ्जौर के राजाओं के बाड़े में पुस्तक संग्रह बड़ा अच्छा है। मद्रास सरकार की आज्ञानुसार ए० सी० बर्नेल की बनायी हुई उसकी सूची सन् १८७९ में छपी है। इस वंश के तुलाजी नामक राजा सन् १७६५ से १७८८ तक गद्दी पर थे उनके बनाये (या बनवाये) हुए ग्रन्थ उस पुस्तकालय में हैं। यह संग्रह प्रायः उन्हीं के समय हुआ होगा।

है कि यह शक ११८५ के पहिले का है, क्योंकि माधवकृत रत्नमाला की टीका में इसका नाम है।

अद्भुतसागर--मिथिला के राजा लक्ष्मणसेन के पुत्र महाराजाधिराज बल्लालसेन ने यह ग्रन्थ बनाया है। इसमें लिखा है कि बल्लालसेन शक १०८२ में गद्दी पर बैठे और उन्होंने शक १०९० में यह ग्रन्थ बनाया। इसमें वाराहीसंहिता सदृश विषय हैं। उसकी अपेक्षा कुछ नवीन भी हैं या नहीं--यह मैंने नहीं देखा है। तथापि सुधाकर ने लिखा है कि ग्रन्थ देखने योग्य है। इसमें अध्यायों को आवर्त कहा है। ग्रहणविषयक आवर्त में लिखा है कि बुधभार्गवाच्छादन के विना यदि सूर्य में छिद्र दिखाई दें तो परचक्र आता है। इससे सिद्ध होता है कि उन्हें बुधशुक्रकृत सूर्यविम्बभेद और सूर्य के धब्बों का ज्ञान था, क्योंकि विम्बभेद के बिना दिखाई देने वाले छिद्र सूर्य के धब्बे ही हैं। इन्होंने लिखा है कि दोनों अयन कब होते हैं, इसे मैंने ठीक देखा है (और उसके द्वारा अयनांश निश्चित किये हैं)। इससे इनकी अन्वेषकता व्यक्त होती है। इस ग्रन्थ में अनेक ग्रन्थकारादिकों के नाम आये हैं। उनमें वसन्तराज और प्रभाकर तथा वटकणिका, विष्णुधर्मोत्तर और भागवत ग्रन्थ हैं।

व्यवहारप्रदीप--इस नाम का संहितामुहूर्त स्कन्ध का एक उत्तम ग्रन्थ पद्मनाभकृत है। यमुनापुर नगर के निवासी शिवदास नामक ब्राह्मण के पुत्र गंगादास थे। उनके पुत्र कृष्णदास पद्मनाभ के पिता थे। इनके ग्रन्थ में भीमपराक्रम, श्रीपतिकृत रत्नमाला, दीपिका रूपनारायण, राजमार्तण्ड, सारसागर, रत्नावली, ज्योतिस्तन्त्र (गणितग्रन्थ), व्यवहारचण्डेश्वर और मुक्तावली के वचन आये हैं। सुधाकर ने लिखा है कि भास्करकथित बीजगणितग्रन्थकार पद्नाभ ये ही हैं, परन्तु बात ऐसी नहीं है। बीजगणित ग्रन्थकार पद्मनाभ शक ७०० के पहिले के हैं और व्यवहारप्रदीप शक ९६४ के बाद का है, क्योंकि इसमें रत्नमाला और राजमार्तण्ड का उल्लेख है। पद्मनाभ के ग्रन्थ में लिखे हुए सूर्यसिद्धान्त और वाराहीसंहिता इत्यादिकों के वचन उन ग्रन्थों में मिलते हैं, परन्तु उसका एक श्लोक और उसमें शौनकसंहिता, वसिष्ठसंहिता और ज्योतिस्तन्त्र के नाम पर उद्धृत किये हुए एक-एक श्लोक अर्थात् सब चार श्लोक सिद्धान्तशिरोमणि में हैं।[1] सुधाकर ने लिखा है कि भास्कराचार्य ने ये श्लोक उन ग्रन्थों से लिये हैं, परन्तु उन श्लोकों के स्वरूप से मुझे पद्म नाभ का ही लेख अविश्वसनीय प्रतीत होता है और यह ग्रन्थ शक १०७२ के बाद का ज्ञात होता है।

---

१. 'तुष्यन्तु' गणिताध्याय मध्यमाधिकार श्लोक ५। 'दिव्यं ज्ञानं' गोल छेद्यक श्लोक ९। 'यो वेद' गो० श्लोक ८। 'असंक्रान्ति' मध्यमाधि० श्लोक ६।

ज्योतिर्विदाभरण—यह मुहूर्तग्रन्थ है। इसमें लिखा है कि इसे रघुवंशादि काव्यों के रचयिता कालिदास ने गतकलि ३०६८ में बनाया है, पर यह कथन मिथ्या है। इसमें ऐन्द्रयोग का तृतीय अंश व्यतीत होने पर सूर्य-चन्द्रमा का क्रान्तिसाम्य बताया है, इससे इसका रचनाकाल लगभग शक ११६४ निश्चित होता है। यदि इसके रचयिता कालिदास ही हैं तो निश्चित है कि वे रघुवंशकार कालिदास से भिन्न हैं।

विवाहवृन्दावन (लगभग शक ११६५)—मुहूर्तग्रन्थों में एक प्रकरण विवाह के विषय में केशव नामक ज्योतिषी ने यह ग्रन्थ बनाया है। इसका वर्णन ऊपर कर चुके हैं। रत्नमालाटीकाकार माधव की शक ११८५ की टीका में केशव का नाम आया है, वे केशव अनुमानतः विवाहवृन्दावनकार ही होंगे, अतः इस ग्रन्थ का काल लगभग शक ११६५ अधिक सयुक्तिक ज्ञात होता है। माधव की टीका में केशव-व्यवहार नामक एक ग्रन्थ का उल्लेख है। वह भी इन्हीं का होगा।

विवाहपटल (शार्ङ्गधरकृत)—यह विवाहविषयक मुहूर्तग्रन्थ है। इसमें हेमाद्रि और माधव के नाम आये हैं और पीताम्बरकृत विवाहपटल की शक १४४६ की टीका में इसका उल्लेख है, अतः इसका रचनाकाल शक १४०० के आसपास होगा। मालूम होता है, इसका एक नाम सारसमुच्चय भी है। गणेशकृत मुहूर्ततत्त्व की टीका (लगभग शक १४५०) में शार्ङ्गधर और सारसमुच्चय के नाम आये हैं। इससे भी सिद्ध होता है कि शार्ङ्गधर का काल शक १४०० से अर्वाचीन नहीं है। अब यहाँ इसमें आये हुए उन ग्रन्थकारादिकों के नाम लिखते हैं, जिनके विषय में इसके पूर्व कुछ भी नहीं लिखा गया है। ग्रन्थकार—हरि, गदाधर, मुकुन्द, भार्गव, पवनेश्वर, लक्ष्मीधरभट्ट। ग्रन्थ-मुक्तावली, लक्ष्मीधरपटल, गदाधरपटल, रत्नोज्ज्वलसंहिता। ये सब ग्रन्थ और ग्रन्थ-कार प्रायः मुहूर्तस्कन्ध के हैं।

मुहूर्ततत्त्व—यह ग्रन्थ नन्दिग्रामस्थ केशव का है। अतः इसका काल लगभग शक १४२० होगा। इसमें आरम्भ में मुहूर्त ग्रन्थों के उपर्युक्त विषय तो हैं ही, पर उनके आगे "मुहूर्तखण्डः समाप्तः अथ संहिताखण्डः) लिखकर ग्रहचार, ग्रहयुद्ध इत्यादि वाराहीसंहिता के बहुत-से विषयों का संक्षिप्त वर्णन किया है, तथापि उस समय इन विषयों का प्रत्यक्ष उपयोग होता रहा होगा—यह शंङ्कास्पद है। इस ग्रन्थ में नौकाविषयक एक विशिष्ट प्रकरण है। यह यात्रा के बाद है। उसमें नौका बनाने, उसे पानी में छोड़ने, उससे यात्रा करने इत्यादि के मुहूर्त लिखे हैं। अन्य किसी भी मुहूर्तग्रन्थ में यह प्रकरण नहीं है। इसकी टीका में पूर्वाचार्यों के आधारभूत वचन बिलकुल नहीं दिये हैं। श्लोकों में नाल और सुकाण शब्दों का प्रयोग किया गया है। इनके विषय में टीकाकार गणेशदैवज्ञ ने लिखा है—"लौकिकाविमौ प्रयोगौ गृहीतौ अभिधानादिष्व-

दृष्टत्वात्।' समुद्रतटवासी होने के कारण मल्लाह इनसे नौका सम्बन्धी मुहूर्त पूछते रहे होंगे, अतः यह नवीन प्रकरण इन्होंने स्वयं बनाया होगा। नावप्रदीप नामक इनका एक स्वतन्त्र ग्रन्थ (डे० का० सं० नं० ३३२, सन् १८८२-८३) भी है। मुहूर्ततत्त्व सम्प्रति प्रचलित है। उस पर ग्रन्थकार के पुत्र गणेशदैवज्ञ की टीका है। वह लगभग शक १४५० की होगी। वह छप चुकी है। उसमें आये हुए मुहूर्तग्रन्थकारों और ग्रन्थों के वे नाम यहाँ लिखते हैं जिनके विषय में अब तक कुछ नहीं लिखा गया है। ग्रन्थकार—वसन्तराज, भूपाल, नृसिंह। ग्रन्थ—विवाहपटल, ज्योतिःसार, शान्तिपटल, संहितादीपक संग्रह, मुहूर्तसंग्रह, अर्णव, विधिरत्न, श्रीधरीय, ज्योतिषार्क, भूपाल, वल्लभ, ज्योतिषप्रकाश।[1]

विवाहपटल (पीताम्बरकृत)—यह ग्रन्थ शक १४४४ का है। इसमें ५२श्लोक हैं। इस पर ग्रन्थकार की ही शक १४४६ की निर्णयामृत नाम की विस्तृत टीका है। पीताम्बर के पिता का नाम राम और पितामह का नाम जगन्नाथ था। वे महानदी-मुखस्थ स्तम्भतीर्थ (खंभात) के निवासी गौड़ ब्राह्मण थे। अब यहाँ इस ग्रन्थ की टीका में आये हुए ज्योतिष-ग्रन्थादिकों के वे नाम लिखते हैं, जिनके विषय में इसके पूर्व कुछ नहीं लिखा है।[2] ग्रन्थकार—प्रभाकर, वैद्यनाथ, मधुसूदन, वसन्तराज, सुरेश्वर, वामन, भागुरि, आशाधर, अनन्तभट्ट, मदन भूपालवल्लभ। ग्रन्थ—चिन्तामणि, विवाहकौमुदी, वैद्यनाथकृत विवाहपटल, व्यवहारतत्त्वशत, रूपनारायणग्रन्थ, ज्योतिषप्रकाश, संहिताप्रदीप, चूड़ारत्न, संहितासार, मौंजीपटल, धर्मतत्त्वकलानिधि संग्रह, त्रिविक्रमभाष्य, ज्योतिःसार, ज्योतिर्निबन्ध, सन्देहदोषौषध, सज्जनवल्लभ, ज्योतिश्चिन्तामणि, ज्योतिर्विवरण, ज्योतिर्विवेक, फलप्रदीप, गोरजपटल, कालविवेक। ये सब ग्रन्थकार और ग्रन्थ प्रायः मुहूर्तस्कन्ध के हैं। इनके अतिरिक्त ताजिकतिलक और समुद्रतिलक के नाम आये हैं। अन्य विषयों के ग्रन्थों में शब्द रत्नाकर नामक कोश का नाम है।

ज्योतिर्निबन्ध—यह शिवदासविरचित धर्मशास्त्रीय मुहूर्तग्रन्थ है। पीताम्बरकृत विवाहपटल की टीका में इसका उल्लेख है, अतः यह शक १४४६ के पहिले का है।

---

१. अन्य विषयों के ग्रन्थों के नाम—भागवत, आश्वलायन गृह्यकारिका, पद्मपुराण, स्मृत्यर्थसार, स्मृतिरत्नावली, नैषधकाव्य, नृसिंहप्रबन्ध।

२. मुहूर्ततत्व की टीका लगभग इस टीका के समय की ही है पर उसका निश्चित शक ज्ञात नहीं है और इसका ज्ञात है इसलिए उसमें आये हुए ग्रन्थादिकों के नाम यहाँ पुनः लिखे हैं।

ज्योतिषदर्पण—यह ग्रन्थ गद्यपद्यात्मक है। इसे कञ्चपल्लु नामक ज्योतिषी ने शक १४७९ में बनाया है। मैंने इसकी अपूर्ण प्रति देखी है। ग्रन्थकार की शाखा काण्व, गोत्र वत्स और निवास ग्राम कोंडपल्ली था। उन्होंने वहाँ की विषुवच्छाया ३।३६ और देशान्तरयोजन ४० पूर्व लिखा है। उनका कथन है कि मेरा पञ्चाङ्ग काञ्ची पर्यन्त चलता है। नरगिरि के नृसिंह उनके कुलदेवता थे। उन्होंने पैलुभटीय नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है।

मुहूर्तमार्तण्ड (शक १४९३)—इस ग्रन्थ का सम्प्रति बड़ा प्रचार है। इसके कर्ता नारायण का वृत्त ऊपर लिख चुके हैं। मालूम होता है उन्होंने अपने पिता से ही अध्ययन किया था। उन्होंने स्वयं इस ग्रन्थ की टीका की है। इसमें भिन्न-भिन्न छन्दों के १६० श्लोक हैं। बहुत-से लोग काव्यग्रन्थ की भाँति इसका अध्ययन करते हैं। इसमें ऊपर बताये हुए मुहूर्तग्रन्थों के ही विषय हैं, परन्तु ग्रन्थकार ने टीका के आरम्भ में लिखा है—संहितास्कन्ध चिकीर्षुराह। टीका में अनेक ग्रन्थकारों के वचन दिये हैं। उनमें से उन मुहूर्तग्रन्थकारों और ग्रन्थों के नाम यहाँ लिखते हैं, जिनके विषय में इसके पूर्व कुछ नहीं लिखा है। ग्रन्थकार—गोपीराज, मेंगनाथ, म्हालुगी (ये नाम वास्तुप्रकरण में हैं)। ग्रन्थ—उद्वाहतत्त्व, मुहूर्तदर्पण, कश्यपपटल, संहितासारावली, व्यवहारसार, शिल्पशास्त्र, वृहद्वास्तुपद्धति, समरांगण, व्यवहारसारस्वत (इसमें के अन्तिम ६ नाम वास्तुप्रकरण में हैं), रत्नावली। इनके अतिरिक्त गणितग्रन्थ स्फुटकरण और जातकग्रन्थ जातकोत्तम के भी नाम आये हैं।[1] यह ग्रन्थ टीकासहित छपा है।

तोडरानन्द—यह बड़ा विस्तृत ग्रन्थ है। इसे नीलकण्ठ ने शक १५०९ के लगभग बनाया है। मैंने इसका कुछ भाग देखा है। उसमें चण्डेश्वर, यवनेश्वर, दुर्गादित्य ग्रन्थकार और दैवज्ञमनोहर, व्यवहारोच्चय, कल्पलता इत्यादि ग्रन्थों के अनेकों वचन दिये हैं।

मुहूर्तचिन्तामणि—यह बड़ा प्रचलित ग्रन्थ है। रामभट नामक ज्योतिषी ने इसे शक १५२२ में बनाया है। रामभट का वृत्तान्त ऊपर लिख चुके हैं। इसमें मुहूर्तग्रन्थों के उपर्युक्त ही विषय हैं। इस पर ग्रन्थकार की प्रमिताक्षरा और उनके भतीजे गोविन्द की पीयूषधारा नाम्नी प्रसिद्ध टीका है। ये दोनों टीकाएँ छप चुकी

---

१. अन्य विषयों के ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के नाम—ब्रह्मपुराण, कात्यायनगृह्यकारिका, कात्यायनगृह्ये हरिहरमिश्रव्याख्या, कालनिर्णयदीपिका, विवरणसंहिता मार्कण्डेयपुराण, धनञ्जय (कोश), अनेकार्थध्वनिमञ्जरी (कोश), स्मृतिसारावली, शुल्वसूत्र, हलायुधकोश, धर्मप्रदीप, तीर्थखण्ड, पितृखण्ड, प्रेममञ्जरी, आदित्यपुराण।

हैं। पीयूषधारा टीका (शक १५२५) में आये हुए ज्योतिषग्रन्थों के वे नाम जिनके विषय में अब तक कुछ नहीं लिखा गया है, ये हैं—जगन्मोहन और ज्योतिषरत्नसंग्रह।

मुहूर्तचूड़ामणि—इसे शिव नामक ज्योतिषी ने बनाया है। शिव का कुलवृत्तान्त ऊपर लिख चुके हैं। इस ग्रन्थ का रचनाकाल लगभग शक १५४० होगा।

मुहूर्तकल्पद्रुम—कृष्णात्रिगोत्रीय विठ्ठलदीक्षित ने यह ग्रन्थ बनाया है। इस पर उन्हीं की शक १५४९ की मुहूर्तकल्पद्रुममञ्जरी नाम की टीका है।

मुहूर्तमाला—इसे विक्रमसंवत् १७१७ (शक १५८२, सन् १६६०) में रघुनाथ नामक ज्योतिषी ने काशी में बनाया है। रघुनाथ शाण्डिल्य गोत्रीय महाराष्ट्र चित्पावन ब्राह्मण थे। इनके पूर्वज दक्षिण कोंकण में दाभोल के दक्षिण पालशेत में रहते थे। इनके पितामह का नाम केशव था। इनके पिता नृसिंह काशी में जाकर रहने लगे थे। वे अकबर बादशाह के मान्य थे। अकबर ने जब आसेरी का किला जीता, उस समय नृसिंह को ज्योतिर्वित्सरस पदवी मिली। यह ग्रन्थ छप चुका है। ग्रन्थकार ने लिखा है :—

जित्वा दाराशाहं सूजाशाहं मुरादशाहञ्च।
अवरंगजेबशाहे शासत्यवनीं ममायमुद्योगः॥

मुहूर्तदीपक—इसे भुज (कच्छ) निवासी महादेव नामक ज्योतिषी ने शक १५८३ में बनाया है। उनके पिता का नाम कान्हजी था। उन्होंने अपने पिता को रैवतकराजपूजितपद कहा है। ग्रन्थकार ने स्वयं इसकी टीका की है। आफ्रेच के कथनानुसार उसमें अमृतकुम्भ, लक्षणसमुच्चय और सारसंग्रह ग्रन्थों के भी नाम आये हैं। ग्रन्थकार ने लिखा है कि मैं अमुकामुक ग्रन्थ बना रहा हूँ। उसमें इसके पहिले न आये हुए नाम व्यवहारप्रकाश और राजवल्लभ हैं। यह ग्रन्थ छप चुका है।

मुहूर्तगणपति—विक्रमसंवत् १७४२ (शक १६०७) में गणपति नामक ज्योतिषी ने इसे बनाया है। इन्होंने अपने वृत्तान्त में लिखा है :—

गौडोर्वीशशिरोविभूषणमणिर्गोपालदासोऽभवन-
मान्धातेत्यभिरक्षिताद् व्यलभते ख्याति स दिल्लीश्वरात् (यह औरंगजेब होगा)।
तत्पुत्रो विजयी मनोहरनृपो विद्योतते सर्वदा॥

इस मनोहर राजा को ग्रन्थकार ने 'गौडान्वयकुमुदगणानन्दिचंद्र' भी कहा है। मनोहर के पुत्र युवराज राम की इच्छानुसार उन्होंने यह ग्रन्थ बनाया है। ये भारद्वाज गोत्रीय औदीच्य गुर्जर ब्राह्मण थे। इनका उपनाम रावल मालूम होता है। इनके

पिता इत्यादिकों के नाम क्रमशः हरिशंकर, रामदास, यशोधर और ब्रह्मर्षि थे। यह ग्रन्थ छप चुका है।

मुहूर्तसिन्धु—पूनानिवासी वेदशास्त्रसम्पन्न गंगाधरशास्त्री दातार (जन्मशक १७४४, समाधिशक १८१०) ने मुहूर्तसिन्धु नामक संस्कृत मराठी ग्रन्थ शक १८०५ में बनाया है। इसमें भिन्न-भिन्न लगभग ३८ ग्रन्थों के आधार पर मुहूर्तादिक और उनके अपवाद-प्रत्यपवादों का विस्तृत विवेचन किया है। यह ग्रन्थ छप चुका है।

जिनके काल के विषय में कुछ बातें ज्ञात थीं, उन ग्रन्थों का वर्णन यहाँ तक किया गया। इनके अतिरिक्त और भी बहुत-से मुहुर्तग्रन्थ हैं।

सम्प्रति इस (महाराष्ट्र) प्रान्त के पञ्चाङ्गों में संवत्सरफल प्रायः कल्पलता नामक ग्रन्थ द्वारा लिखा जाता है। इसे जलदग्रामवासी रुद्रभटात्मज सोमदैवज्ञ ने शक १५६४ में बनाया है। कोई-कोई राजावली ग्रन्थ से भी फल लिखते हैं। कुछ अन्य प्रान्तों में जगन्मोहन, नरेन्द्रवल्ली और समयसिद्धांजन इत्यादिकों द्वारा लिखते हैं।

शकुन

संहितास्कन्ध का ही एक अङ्ग शकुन है। इस पर नरपतिकृत नरपतिजयचर्या नामक एक बड़ा प्राचीन अर्थात् विक्रम संवत् १२३२ (शक १०९७) का ग्रन्थ है। नरपति जैन मालूम होते हैं। इसे उन्होंने अन्हिलपट्टन में बनाया था। इनके पिता आम्र-देव धारा नगरी में रहते थे। वे बहुत बड़े विद्वान् थे। इस ग्रन्थ में स्वर द्वारा मुख्यतः राजाओं के लिए शुभाशुभफल बताये हैं। ग्रन्थकार ने इसकी ग्रन्थसंख्या ४५०० लिखी है। मालूम होता है इसे स्वरोदय और सारोद्धार भी कहते हैं। जिन ग्रन्थों के आधार पर यह बना है उनके नाम ग्रन्थकार ने आरम्भ में इस प्रकार लिखे हैं—

> श्रुत्वादौ यामलान् सप्त तथा युद्धजयार्णवम्। कौमारीकौशलञ्चैव योगिनां योगसम्भवम्।।४।। रक्तत्रिमूर्तिकं (रक्ताक्षं तन्त्रमुख्यं) च स्वरसिंहं स्वरार्णवम्। भूवलं गारुडं नाम लम्पटं स्वरभैरवम्।।५।। तन्त्रबलञ्च तार्क्ष्यं (तन्त्रं रुणांगं दाक्षं) च सिद्धान्तं जयपद्धतिम्। पुस्त-केन्द्रं पटौकश्रीदर्पणं ज्योतिषार्णवम् ।।६।। सारोद्धारं प्रवक्ष्यामि · · ·

इनके अतिरिक्त इसमें वसन्तराज ग्रन्थकार तथा चूणामणि[1] और गणितसार ग्रन्थों के नाम भी आये हैं, अतः ये सब शक १०९७ के पहिले के हैं। इस पर हरिवंशकृत

---

१. राजमार्तण्ड में चूड़ामणि का उल्लेख है अतः यह ग्रन्थ शक ९६४ के पहले का है।

जयलक्ष्मी नाम्नी तथा नरहरि, भूधर और रामनाथ की टीकाएँ हैं।[1] नैमिषक्षेत्रवासी सूरदास के पुत्र राम वाजपेयी[2] का स्वरशास्त्र पर समरसार नामक ग्रन्थ है। उस पर उनके भाई भरत की टीका है। यह स्वरशास्त्र मुख्यतः नासिका से निकले हुए वायु के आधार पर बनाया गया है। इस विषय के अन्य भी बहुत-से ग्रन्थ हैं।

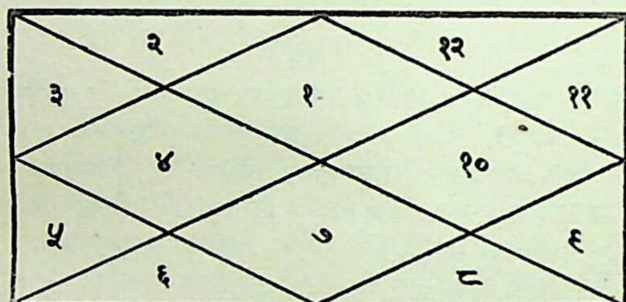
---

१. नरपतिजयचर्या के विषय में यहाँ लिखी हुई बातें भिन्न-भिन्न ५ ग्रन्थों से ली गयी हैं। नरपति ने लिखा है कि मैंने ज्योतिषकल्पवृक्ष नामक ग्रन्थ में सम्पूर्ण ज्योतिषगणित लिखा है।

२. राम के लेख से ज्ञात होता है कि उनका करणचिन्तामणि नामक एक करण ग्रन्थ है। उनका एक और ग्रन्थ कुण्डविषयक है। वह शक १३७१ का है।

३. जातकस्कन्ध

मनुष्य की जन्मकालीन ग्रहस्थिति या तिथि - नक्षत्रादिकों द्वारा उसके जीवन के सुख-दु:खादिकों का निर्णय जिस शास्त्र द्वारा किया जाता है, उसे होराशास्त्र या जातक कहते हैं। ज्योतिषशास्त्र के इसी स्कन्ध में से ताजिक नाम की एक शाखा बाद में निकली। उसका विवेचन आगे करेंगे। यहाँ पहिले जातक का संक्षिप्त स्वरूप दिखाते हैं।



इस क्षेत्र को कुण्डली कहते हैं। इसमें जहाँ १ लिखा है उस घर में जन्मकालीन लग्न की राशि का अंक लिखते हैं। जैसे यदि सिंह लग्न में जन्म हुआ है तो यहाँ ५ लिखेंगे। इसे प्रथम स्थान कहते हैं। इसके बाद के घरों में क्रमश: आगे की राशियाँ लिखी जाती हैं। जन्म के समय ग्रह जिन राशियों में रहते हैं वे राशियाँ कुण्डली के जिन घरों में रहती हैं, उन्हीं में वे ग्रह भी लिखे जाते हैं। जन्मलग्न उस राशि को कहते हैं जो जन्म के समय क्षितिज के पूर्व भाग में लगी रहती है। लग्नकुण्डली को भूमि पर क्रान्तिवृत्त के धरातल में इस प्रकार खड़ी करिए जिसमें लग्न पूर्व की ओर और सप्तम स्थान पश्चिम ओर पड़े। बस, यही जन्मकालीन आकाशस्थिति है। इसमें कुण्डली के ऊपर वाले आधे भाग को क्षितिज के ऊपर का आकाशार्ध, नीचे वाले आधे को क्षितिजाध: स्थित आकाशार्ध, दशम स्थान को खमध्य और चतुर्थ को बिल्कुल नीचे वाला पातालस्थान समझिए। कुण्डली के जिन घरों में २, ३ इत्यादि अंक लिखे हैं, उन्हें

द्वितीयस्थान, तृतीयस्थान इत्यादि कहते हैं, उनमें राशि चाहे जो हो। इन १२ स्थानों के क्रमशः तनु, धन, सहज, सुहृद, सुत, रिपु, जाया, मृत्यु, धर्म, कर्म, आय और व्यय ये १२ नाम हैं। इन नामों से सम्बोधित होने वाले तथा तत्सम्बन्धी अन्य सभी पदार्थों का विचार उन स्थानों में स्थित ग्रहों द्वारा तथा अन्य स्थानों में स्थित ग्रहों के दृष्ट्यादि सम्बन्ध द्वारा किया जाता है। उदाहरणार्थ—पत्नी सम्बन्धी सब फलों का विचार सप्तम स्थान से किया जाता है। इन १२ स्थानों के अन्य भी बहुत से नाम हैं। मनुष्यों के सुख-दुःख का सम्बन्ध इन १२ के अतिरिक्त अन्य भी अनेक बातों से रहता है पर ये सामान्य नाम हैं। विचारणीय सभी विषयों का समावेश इनमें से किसी न किसी में कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ—राजा से सम्बन्ध रखनेवाली अधिकांश बातों का विचार दशम स्थान से किया जाता है। फलादेश अधिकतर इस लग्नकुण्डली द्वारा और कभी-कभी राशिकुण्डली द्वारा किया जाता है। राशिकुण्डली उसे कहते हैं जिसमें प्रथम घर में चन्द्रराशि लिखी रहती है और शेष बातें जन्मकुण्डली के समान ही रहती हैं। कुछ अन्य प्रकार की कुण्डलियाँ भी कल्पित की गयी हैं। इस पद्धति में स्वगृह और उच्च की भी एक कल्पना की गयी है। कर्क और सिंह राशियाँ क्रमशः चन्द्रमा और सूर्य के गृह और इनके दोनों ओर की मिथुन और कन्या बुध-गृह मानी गयी हैं। इसी प्रकार वृष और तुला शुक्र के, मेष-वृश्चिक मंगल के, मीन और धनु गुरु के, कुंभ और मकर शनि के गृह माने गये हैं। उच्चों में यह क्रम नहीं है। जातक के उच्च गणित के उच्चों से भिन्न हैं। गणित सम्बन्धी सूर्य का उच्च सम्प्रति निरयन मिथुन और सायन कर्क में है पर जातक में सूर्य का उच्च मेष है। पता नहीं चलता, इन उच्चों की कल्पना किस आधार पर की गयी है। सायन उच्चों की गति है। कुछ लोगों का कथन है कि जातक में उच्चों की कल्पना उस समय की गयी जब कि कक्षान्तर्गत उच्चों के सायन मान जातकोक्त उच्चों के तुल्य थे। निरयनमतवादियों को तो यह बात मान्य नहीं होगी पर समय का विचार करने से मुझे भी ऐसा होना असम्भव मालूम होता है, क्योंकि सूर्य का उच्च सायन मेष में शकपूर्व लगभग ४१०० से २३०० तक था। मंगल का जातकोक्त उच्च मकर है। उसकी कक्षा का उच्च सायन मकर में शक पूर्व ११५०० से ९७०० तक था। इसके बाद कभी भी नहीं था, इसमें कोई सन्देह नहीं है। इतने प्राचीन काल में जातकशास्त्र का होना ही सन्देहग्रस्त है तो फिर उपर्युक्त कल्पना का क्या ठिकाना! ऐसा कहने वाले भी कुछ लोग हैं कि उस समय मेषादि संज्ञाएँ थीं, ग्रहों का ज्ञान था, इतना ही नहीं ज्योतिषगणित और जातक का उत्तम ज्ञान था, पर मुझे यह सब असम्भव मालूम होता है। जातक में ग्रहों का परस्पर मित्रत्व, शत्रुत्व इत्यादि माना गया है। ग्रह अपने गृह या उच्च में रहने पर अच्छा फल

देते हैं, शत्रुगृह या नीच में रहने पर अथवा वक्री होने पर उनके फल भिन्न प्रकार के होते हैं, ग्रहों की दृष्टि के अनुसार फलों का न्यूनत्व, अधिकत्व और शुभाशुभत्व होता है--इस प्रकार की बहुत सी कल्पनाएँ की गयी हैं। उनमें से कुछ तो व्यवहार के अनुसार हैं पर कुछ ऐसी हैं जिनके आधार का पता नहीं लगता। फलादिकों के विषय में सब ग्रन्थों का मतैक्य नहीं है। उनमें बहुत से भेद हैं। यूरोप में आजकल सायन राशियों द्वारा फलादेश किया जाता है। माधवराव ब्रह्माजी और जीवनराव त्र्यम्बकराव चिटणीस[1] इत्यादिकों का कथन है कि हमारे ग्रन्थों के फल निरयन की अपेक्षा सायन मान से अधिक घटते हैं।

ग्रहों से मनुष्यों का सम्बन्ध

मनुष्य के जीवन से आकाशस्थ ग्रहों का सम्बन्ध होने में बहुतों को सन्देह होता है और ऐसा होना स्वाभाविक है, परन्तु मेरा यह निश्चित मत है कि वह सम्बन्ध है। यद्यपि इस समय इसके सूक्ष्म हेतु नहीं बतलाये जा सकते पर सम्बन्ध होने में सन्देह नहीं है। मनुष्यों के शरीरलक्षणों द्वारा जन्मलग्न बताने वाले ज्योतिषी पटवर्धन के निम्नलिखित जीवनचरित्र से इसका स्पष्टीकरण हो जायगा।

बाबाजी काशीनाथ पटवर्धन

इनकी महाडकर नाम से विशेष प्रसिद्धि है। इनका जन्म शक १७८७ वैशाख कृष्ण १४ को धनु लग्न में चिपलूण के पास पाचेरी सड़ा उर्फ मोभार नामक स्थान में हुआ। उन्होंने जातकशास्त्र का यह अश्रुतपूर्व ज्ञान प्रायः स्वयं सम्पादित किया है। जब ये १३ वर्ष के थे, इनके पिता का देहावसान हो गया। इनका मराठी-शिक्षण प्रथम सन् १८७७ में गणपति पुले में, सन् १८७८ से १८८० तक मालगुण्ड में और इसके बाद १८८२ तक थाना में हुआ। सन् १८८३ में इन्हें अलीबाग जिले में कोर्ट की नौकरी मिली। वहाँ १८८६ तक रहे। इसके बाद कुछ दिनों तक महाड के कोर्ट में थे इसी लिए इन्हें महाडकर कहते हैं। सन् १८९३ से ये नौकरी छोड़कर इचलकरंजी और मुख्यतः कोल्हापुर में वकालत करते हैं। इनका अधिक समय अन्य व्यवसाय में व्यतीत होता है।

सन् १८८२ में इन्हें एक द्रविड़ ब्राह्मण ज्योतिषी ने, जो कि विक्षिप्त था--मनुष्य के शरीर-लक्षणों द्वारा जन्मलग्न जानने के कुछ मूलतत्व बताये। उसके बाद इन्होंने अनेक ग्रन्थ देखकर, जहाँ तक हो सका उनमें बतलाये हुए लक्षणों की एकवाक्यता

---

१. सम्प्रति ये दोनों बम्बई में रहते हैं।

तथा स्वयं सैकड़ों मनुष्यों की आकृतियों का निरीक्षण करते हुए अपना ज्ञान बढ़ाया। सन् १८९१ से इनके इस ज्ञान की प्रसिद्धि हुई। मुखचर्या देखकर कुण्डली बनाने में इनकी बुद्धि बड़ी तीव्र है। मनुष्य पर दृष्टि पड़ते ही थोड़े से समय में ये उसकी कुण्डली बना लेते हैं। यह कार्य ये मुख्यतः मुखचर्या के आधार पर करते हैं और कभी-कभी जीभ तथा हस्ततल भी देखते हैं। ये शरीरलक्षणों द्वारा जन्मकालीन लग्न और ग्रहों की राशियाँ ही नहीं, ग्रहों के अंश तक बताते हैं। अंशों में औसत एक या दो से अधिक अन्तर नहीं पड़ता, इसका मैंने स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव किया है। सर्वदा अंश नहीं बताते, अधिकतर केवल राशियाँ ही बताते हैं।

गुरु किसी राशि से चलकर १२ वर्षों में पुनः उसी राशि में आ जाता है। शनि ३० वर्षों में आता है। सूर्य चैत्रादि मासों में मेषादि राशियों में रहता है। सूर्य और चन्द्रमा के अन्तर द्वारा तिथि लायी जाती है। इन नियमों द्वारा ज्योतिषगणित जानने वाला कोई भी मनुष्य लग्नकुण्डली देखकर यदि मनुष्य सामने हो तो उसका जन्मकाल बता सकता है। जन्मकाल ज्ञात होने पर तो ज्योतिषगणित द्वारा तत्कालीन लग्न और ग्रहों का ज्ञान हो ही जाता है, पर पटवर्धन ये बातें शरीरलक्षणों द्वारा बताते हैं अर्थात् शरीर-लक्षणों से वे यह जान लेते हैं कि जन्म के समय अमुक राशि का उदय हो रहा था और अमुक ग्रह आकाश में अमुक स्थान में था। कुण्डली में उनकी स्थापना करने पर उपर्युक्त रीति से जन्मकाल बताया जा सकता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि जन्मकालीन आकाशस्थ ग्रहस्थिति और लग्न के अनुसार मनुष्यों के शरीर में कुछ लक्षण उत्पन्न होते हैं अर्थात् ग्रहों का मनुष्यों से सम्बन्ध है। इस विषय में अनेक शंकाएँ हो सकती हैं पर यहाँ उन सबों का समाधान करने की आवश्यकता नहीं है। पटवर्धन की विद्या जाने बिना इस विषय का पूर्ण विवेचन नहीं किया जा सकता। फिर भी सम्भवनीय शंकाओं का यथाशक्ति विचार कर लेने के बाद ही मैंने अपना उपर्युक्त मत निश्चित किया है। पटवर्धन प्रत्येक शंका का उत्तर देने के लिए तैयार हैं और इस काम की फीस वे कुछ भी नहीं लेते—यह सर्वत्र प्रसिद्ध है।

पटवर्धन केवल जन्मकाल और थोड़ा सा फल बताते हैं। बहुत से लोग उनकी जन्मकाल बताने की प्रक्रिया न जानने के कारण उनकी विद्या का महत्व नहीं समझ पाते। कुछ लोग तो ऐसा भी समझते हैं कि ये बातें मन्त्रसिद्धि के बल पर बताते हैं परन्तु यह उनका भ्रम है। शरीरलक्षणों द्वारा जन्मलग्न इत्यादि बताने वाली विद्या को सामुद्रिक कह सकते हैं पर पटवर्धन के सामुद्रिक का ज्योतिष से निकट सम्बन्ध है। वे मनुष्यों का थोड़ा सा भूत-भविष्य भी बताते हैं। मैंने देखा है, उनमें से बहुत

सी बातें ठीक होती हैं, पर उनकी इस शाखा ने अभी पूर्णत्व नहीं प्राप्त किया है। सैंकड़ों अनुभवों द्वारा इसके नये-नये नियम बनाने होंगे। शरीरलक्षणों द्वारा जन्मकालीन ग्रहस्थिति बतलाना पटवर्धन का मुख्य विषय है। कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जिनमें जन्मलग्न संशयित रह जाता है पर उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। यद्यपि गुरु एक राशि में वर्ष भर रहता है पर उसकी राशि सदा वर्षारम्भ में नहीं बदलती। वर्ष के मध्य में राशि बदलने से उसकी एक ही राशि का सम्बन्ध दो वर्षों से हो जाता है, जैसे कि शक १८१८ और १८१९ दोनों में वह कुछ दिनों तक सिंहस्थ था। इसी प्रकार सूर्य की प्रत्येक राशि का सम्बन्ध प्रायः दो मासों मे रहता है अर्थात् यदि जन्म कालीन सूर्य मेष का है तो केवल राशि द्वारा निश्चित रूप से यह नहीं बताया जा सकता कि जन्म के समय चैत्र था या वैशाख। इसी प्रकार चन्द्रमा एक राशि में सवा दो दिन तक रहता है। इस कारण केवल राशि द्वारा जन्मकाल बताने में कभी-कभी एक वर्ष, एक मास या एक दिन का अन्तर पड़ जाता है, पर पटवर्धन राशियों के अंश भी जान लेते हैं, इसलिए यदि वे सन्दिग्ध वर्ष का पञ्चाङ्ग देखकर बतायेंगे तो अशुद्धि कभी न होगी। मुझे इस बात का पूर्ण विश्वास है कि यदि वे पञ्चाङ्ग देखकर ध्यानपूर्वक बतायेंगे तो दस में से कम से कम आठ कुण्डलियाँ बिलकुल ठीक-ठीक मिलेंगी।

मनुष्य का मनुष्य से सम्बन्ध

पिता के शरीरलक्षणों द्वारा पुत्र की जन्मकुण्डली बनाते हुए भी मैंने पटवर्धन को कई बार देखा है। एक बार रा० ब० नारायण भाई दांडेकर की मुखाकृति देखकर उन्होंने १५-२० मिनट में उनके गणेश नामक पुत्र की प्रायः सभी ग्रहों से युक्त जन्म-कुण्डली मेरे सामने बनायी। यह विधि किसी भी ग्रन्थ में नहीं लिखी है। पट-वर्धन ने इसका अभ्यास स्वयं किया है। जातकशास्त्र द्वारा क्या-क्या विलक्षण बातें निष्पन्न हो सकती हैं, यह बतलाना कठिन है। अनुभव द्वारा इस शास्त्र को बढ़ाना चाहिए। मैं समझता हूँ, ऐसा करने से आधुनिक अन्य शास्त्रों की भाँति जातक भी अनुभवालम्बी एक उत्कृष्ट शास्त्र बन जायगा।

जातकशास्त्र

कुंभकोण में गोविन्द चेट्टी नाम का एक शूद्र है। उसकी विद्या पटवर्धन से भी विचित्र है। वह केवल जन्मकाल ही नहीं, मनुष्य के मन का किसी भी भाषा का प्रश्न और उसका उत्तर बतलाता है—ऐसा लोग कहते हैं। वह ये बातें ज्योतिषशास्त्र की सहायता से बताता है या किसी अन्य विद्या द्वारा, इसका पता नहीं लगा है। अभी तक उसका इस विषय का कोई ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ है। पटवर्धन ने भी अभी तक कोई

ग्रन्थ नहीं लिखा है। यदि लिखेंगे तो संसार को कुछ स्थायी लाभ होगा अन्यथा जैसा कि बहुत से ज्योतिषियों के विषय में लोग कहा करते हैं कि वे बड़े अच्छे थे, उनका भविष्य ठीक मिलता था और कुछ दिनों बाद उनका नाम तक लुप्त हो जाता है, वही स्थिति इनकी भी होगी। शरीरलक्षणों द्वारा जन्मलग्न जानने के कुछ प्रकार जातक-ग्रन्थों में मिलते हैं परन्तु पटवर्धन और गोविन्द चेट्टी ने जो विद्या सिद्ध की है उसके ग्रन्थ नहीं हैं। हों तो भी वे सबको प्राप्त नहीं हैं परन्तु इस विद्या के मूलतत्त्व परम्परागत हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

अमुक लग्न में उत्पन्न मनुष्य के अमुक लक्षण होंगे, मनुष्य के शरीर का विचार कुण्डली के प्रथम स्थान से, पत्नी का सप्तम से, सम्पत्ति का अमुक से करना चाहिए, हाथ में अमुक रेखा अमुक प्रकार की हो तो जन्म के समय सूर्य अमुक राशि में रहा होगा---इत्यादि नियमों और जातकशास्त्र के मूलतत्त्वों को जिन्होंने सर्वप्रथम निश्चित किया वे पुरुष धन्य हैं। इस समय हम इतना निःसंकोच कह सकते हैं कि जातकशास्त्र की रचना किसी न किसी आधार पर हुई है और मनुष्य का ग्रहों से सम्बन्ध है।[1]

---

१. जातक के विषय में सायन मान नैसर्गिक है या निरयन---पटवर्धन की विद्या के आधार पर इसका निर्णय करने के उद्देश्य से मैंने शक १८१५ से बड़ा परिश्रम किया, पर सम्प्रति इसमें सफलता प्राप्त होने की आशा नहीं दिखाई देती। शरीरलक्षणों द्वारा पटवर्धन को ज्ञात होने वाले कुछ ग्रह सापेक्ष रहते हैं। जैसे—अमुक मनुष्य के जन्मकाल में सूर्य और बुध में २ अंश का अन्तर था, अमुक ग्रह लग्न से अमुक स्थान में था। इससे सायन-निरयन का निर्णय नहीं हो पाता। दूसरी बात मुख्य यह है कि पटवर्धन ने इन लक्षणों का अभ्यास पटवर्धनी पञ्चाङ्ग से किया है। एक ही लक्षण कई मनुष्यों में दिखाई देने पर उन्होंने उन मनुष्यों के जन्मकालीन लग्न और ग्रहपटवर्धनी पञ्चाङ्ग से निश्चित किये। उनमें से कुछ बातें मिलती-जुलती देखकर एक नियम बनाया और बार-बार उसका अनुभव होने पर उन्होंने यह निश्चित किया कि यह लक्षण होने पर अमुक लग्न या ग्रह के इतने अंश बीते होंगे। ये सिद्धान्त सायनपञ्चाङ्ग द्वारा भी बनाये जा सकते थे। सायन और निरयन ग्रहों के अन्तर पाँच-छः सौ वर्षों में सात-आठ अंश बढ़ जाते हैं। सायन-निरयन का भेद और पटवर्धन की विद्या, दोनों बातों के अच्छे ज्ञाता इतने दिनों तक अनुभव करें तो इसका निर्णय हो सकता है। पटवर्धन सम्प्रति मुखचर्यादिकों द्वारा ग्रहों के जो राश्यंश लाते हैं वे सायन राश्यंस से लगभग १८ अंश न्यून रहते हैं। ६०० वर्षों के बाद पटवर्धन के नियमानुसार मुखचर्या द्वारा निश्चित ग्रह और गणितागत सायन ग्रह में १८ अंश का ही अन्तर रहे तो जातक के विषय में सायन मान

जातक ग्रन्थों के पूर्ण स्वरूप का थोड़े में वर्णन करना कठिन है अतः यहाँ जातक-स्कन्ध का केवल संक्षिप्त इतिहास लिखते हैं।

वर्तमान जातक पद्धति का आरम्भकाल

जातकस्कन्ध के सम्प्रति उपलब्ध दैवी ग्रन्थ गौरीजातक और कालचक्रजातक अथवा कालजातक और अपौरुषेय या आर्ष ग्रन्थ पाराशरी, जैमिनिसूत्र और भृगुसंहिता मुझे मालूम हैं। पाराशरी के बृहत् और लघु दो भेद हैं। जातकस्कन्ध का उपलब्ध सबसे प्राचीन पौरुषेय ग्रन्थ वराहमिहिर का बृहज्जातक है। उसके अन्त में लिखा है—

मुनिमतान्यवलोक्य सम्यग्घोरां वराहमिहिरो रुचिरां चकार ।।

उपसंहाराध्याय

बीच में भी एक जगह (अध्याय ६ श्लोक १०) 'मुनिगदितं' लिखा है। पराशर का नाम दो जगह आया है। बृहत्संहिता के ग्रहगोचराध्याय में माण्डव्य का उल्लेख है। बृहज्जातकटीकाकार भटोत्पल ने गार्गी, बादरायण, याज्ञवल्क्य और माण्डव्य के जातकसम्बन्धी वचन दिये हैं, उनमें गार्गी के वचन तो अनेक हैं। इनका ग्रन्थ वराह के पहिले का होगा। इससे ज्ञात होता है कि वराह के पूर्व जातक के कम से कम पाँच आर्ष ग्रन्थ अवश्य रहे होंगे।[1] इनके अतिरिक्त वराह ने सत्य, मय, यवन, मणित्थ, जीवशर्मा और विष्णुगुप्त आचार्यों का भी उल्लेख किया है।[2] उनमें सत्य का नाम ६ बार आया है और "एके, केचित्, अन्ये, पूर्वशास्त्रं, आद्याः" इत्यादि अस्पष्ट उल्लेख तो अनेक हैं। इससे सिद्ध होता है कि वराह के पहिले पौरुषग्रन्थकार भी बहुत से थे।

और यदि लगभग २६ अंश का अन्तर रहे तो शुद्ध नाक्षत्र (निरयन) मान नैसर्गिक सिद्ध होगा। पटवर्धन फलादेश में ग्रहों के उच्च, क्षेत्र, उनकी राशियाँ और लग्नादि निरयन लेते हैं तथापि केवल इतने से ही अभी कोई निर्णय नहीं किया जा सकता।

१. इनके अतिरिक्त गर्ग, वसिष्ठ, भारद्वाज, शौनक और अत्रि ऋषि के वचन अन्य ग्रन्थों में मिलते हैं। वरुणसंहिता नामक एक और ग्रन्थ सुनने में आता है।

२. इनके अतिरिक्त सप्तम अध्याय के ७-८ श्लोकों में देवस्वामी और सिद्धसेन के नाम आये हैं परन्तु उत्पल ने लिखा है कि ये दोनों श्लोक वराह के नहीं हैं। इनके अतिरिक्त शक्ति और भदन्त अथवा भदत्त क नाम आये हैं। उत्पल ने शक्ति का पराशर और भदन्त का सत्य अर्थ किया है।

छः के तो उन्होंने नाम ही लिख दिये हैं। सारांश यह कि वराह के पूर्व इस विषय के १०-१२ लोकमान्य ग्रन्थ थे और उनमें से पाँच तो ऋषिप्रणीत माने जाते थे। यह बात सौ-पचास वर्षों में नहीं हो सकती, इसमें कम से कम चार सौ वर्ष लगे होंगे। उत्पल ने लिखा है कि (बृ० जा० ७।७ टीका) वराहकथित विष्णुगुप्त चाणक्य हैं, अतः ये चन्द्रगुप्त के मन्त्री चाणक्य विष्णुगुप्त ही होंगे। इसमें सन्देह होने का कोई हेतु नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि वराहमिहिर के ८०० वर्ष पूर्व जातकस्कन्ध के ग्रन्थ प्रचलित थे अर्थात् हमें वर्तमान जातकशास्त्र का ज्ञान शककाल के चार-पाँच सौ वर्ष पूर्व भी था। वह आरम्भ से ही वराहकालीन जातक सदृश न रहा हो तो भी क्रमशः वैसा बनता आया होगा। शकपूर्व ५०० के लगभग मेषादि संज्ञाएँ प्रचलित थीं। उसी समय वर्तमान जातकपद्धति का प्रचार हुआ होगा। इसके पूर्व अथर्वज्योतिष की जातकपद्धति थी ही।

शकपूर्व चार-पाँच सौ वर्ष के लगभग जातकज्ञान था अतः गणितस्कन्ध भी उतना ही प्राचीन होगा, क्योंकि ग्रहस्थिति का ज्ञान हुए बिना जातकविचार नहीं हो सकता। इतने प्राचीन काल में गणितस्कन्ध का पूर्ण ज्ञान नहीं रहा होगा—यह भी नहीं कहा जा सकता। इसका विवेचन पहिले कर चुके हैं और शकपूर्व ५०० वर्ष के पूर्व गणितस्कन्ध का पूर्ण ज्ञान अर्थात् ग्रहस्पष्टगति का ज्ञान न रहा हो तो भी मध्यम गतिस्थिति का और सामान्यतः ग्रहों की राशियाँ जानने योग्य ज्ञान होने में सन्देह बिलकुल नहीं है। गणित द्वारा शुद्ध ग्रहस्पष्टगति लाने का ज्ञान न होने पर भी केवल नेत्रों से ग्रहस्थान, उनके वक्री, मार्गी, उदित और अस्त होने के काल जाने जा सकते हैं और केवल इतने से जातकपद्धति का आरम्भ हो सकता है। सारांश यह कि हमारे देश में इतने प्राचीन काल में पूर्ण गणित का ज्ञान नहीं रहा होगा अतः वर्तमान जातकपद्धति इतनी प्राचीन नहीं हो सकती—यह कथन अनुचित है। हमारे देश में ग्रहगति का विचार हुआ और गणितस्कन्ध (हमारे ग्रन्थ जितने पूर्ण हैं उतने ही) पूर्णत्व को प्राप्त होकर आज तक टिका है—इसका एक मुख्य कारण ग्रहचार द्वारा होने वाले परिणाम का विचार है। संहिताग्रन्थों में बताये हुए ग्रहचार के फलों को समझने की इच्छा, यज्ञ अथवा अन्य कार्यों के लिए मुहूर्त की आवश्यकता और ग्रहचार का प्रत्येक व्यक्ति पर होने वाला परिणाम—इन्हीं तीन कारणों से हमारे देश में ग्रहगणित उत्पन्न हुआ, बहुत कुछ पूर्ण हुआ और आज तक है (यूरोप में वर्तमान पूर्णावस्था को पहुँचने का मुख्य कारण नौकागमन है तथापि वहाँ भी हमारे इतना पूर्णत्व प्राप्त होने के मुख्य कारण ये ही तीन हैं)। अतः स्पष्ट है कि गणित की पूर्णावस्था आने के पहिले अर्थात् ग्रहगतिस्थिति का उत्तम ज्ञान होने के पूर्व ही वर्तमान जातकपद्धति की

स्थापना हुई होगी। इससे सिद्ध हुआ कि शककाल के चार-पाँच सौ वर्ष पूर्व हमारे देश में वर्तमान जातकपद्धति स्थापित हुई—इस कथन में अविश्वास का स्थान बिलकुल नहीं है।

जातकग्रन्थों का इतिहास

जातकस्कन्ध हमने पाश्चात्यों से लिया है अथवा नहीं, इसका विवेचन उपसंहार में करेंगे। जातक के सैकड़ों ग्रन्थ हैं। उन सबों का अवलोकन करना कठिन है। मुझे जिन थोड़े से ग्रन्थों का प्रत्यक्ष या परम्परया कुछ ज्ञान है और जिनके काल के विषय में कुछ बातें ज्ञात हुई हैं उन्हीं का यहाँ संक्षिप्त इतिहास लिखा है। ये ग्रन्थ जातकसागर के एक कणतुल्य हैं।

पाराशरी

पाराशरी का नाम ज्योतिषियों में बड़ा प्रसिद्ध है। इसके बृहत् और लघु दो भेद हैं। लघुपाराशरी उपलब्ध है और वह बड़ी प्रचलित है। उसकी बहुत सी टीकाएँ भी हो चुकी हैं। बृहत्पाराशरी नामक एक ग्रन्थ बम्बई के ज्ञानसागर प्रेस में श्रीधर शिवलाल ने शक १८१४ में छपाया है। इसके पूर्व और उत्तर दो खण्ड हैं। पूर्वखण्ड में ८० अध्याय हैं। उस पुस्तक में लिखा है कि इनमें से ५१ अध्याय भिन्न-भिन्न स्थानों में बहुत प्रयत्न करने पर मिले और वे भी खण्डित थे, जटाशंकरसुत श्रीधर ने इन्हें पूर्ण करके छपाया। पूर्वखण्ड में ४१९६ श्लोक हैं। इनमें से कितने मूलग्रन्थ के हैं और कितने श्रीधर अथवा मुद्रक ने अन्य ग्रन्थों से लिये हैं, इसे जानने का कोई उपाय नहीं है। एक जगह अयनांश लाने के लिए ग्रहलाघव का श्लोक दिया है पर वहाँ यह नहीं लिखा है कि यह श्लोक ग्रहलाघव का है। सारांश यह कि इसके पूर्वखण्ड को पराशरकृत कहना व्यर्थ है। उत्तर खण्ड में २० अध्याय हैं। उनमें अधिकतर अनुष्टुप् छन्द के ८१२ श्लोक हैं। इसमें न लिखी हुई बातें गर्गकृत होराशास्त्र में देखने को कहा है। कहीं-कहीं कुछ कार्य सायन ग्रहों द्वारा करने को कहे हैं। इससे अनुमान होता है कि शक ५०० के बाद इसमें कुछ मिश्रण हुआ होगा। तंजौर के राजकीय पुस्तकालय में पाराशरी का पूर्वार्ध है। उसकी ग्रन्थसंख्या १६५० है। उसके प्रथम अध्याय में राशिस्वरूप का वर्णन है। उसके आरम्भ के दो श्लोक ये हैं—

मनोहरदाय दृष्टि (?) मन्दहासलसन्मुखः।
मंगलाय ······ सर्वमंगलाजानिरस्तु नः ॥१॥

मेषोक्षनरयुक्कर्किसिंहकन्यातुलादयः ।
धनुर्नक्रघटी ······इति द्वादश राशयः ।।२।।

बम्बई की छपी हुई प्रति में यह अध्याय और ये श्लोक नहीं हैं। उसके तृतीय अध्याय में राशिस्वरूप बताया है पर उसमें भी ये श्लोक नहीं हैं। तंजौर की प्रति में अरिष्टाध्याय अन्त में है और इसमें पाँचवाँ है। पता नहीं, वराह के पहिले की पाराशरी अपने वास्तव रूप में कहीं उपलब्ध है या नहीं। भटोत्पल ने बृहज्जातक के सप्तम अध्याय के नवें श्लोक की टीका में लिखा है—

पाराशरीया संहिता केवलमस्माभिर्दृष्टा न जातकम्। श्रुयते स्कन्धत्रयं पराशरस्येति। तदर्थं वराहमिहिरः शक्तिपूर्वैरित्याह।

अर्थात् "पराशर के तीन स्कन्ध सुनने में आते हैं, इसी लिए वराहमिहिर ने शक्ति (पराशर) का उल्लेख किया है (अध्याय ७ श्लोक १), पर मैंने वराह की केवल संहिता देखी है, उसका जातक नहीं देखा है।" भटोत्पल के समय (शक ८८८) भी पाराशरी उपलब्ध नहीं थी तो फिर इस समय कहाँ मिलेगी! लघु पाराशरी मिलती है पर उसकी भी यही अवस्था होगी। उसका एक दूसरा नाम उडुदायप्रदीप है। उसके आरम्भ में लिखा है कि पाराशरी होरा के अनुसार दैवज्ञों के सन्तोषार्थ उडुदायप्रदीप बना रहे हैं। केवल इतने से ही यह बात सिद्ध हो जाती है कि वह वराह के पहिले की नहीं है।

जैमिनिसूत्र

जैमिनिसूत्र नाम का एक छोटा सा चार अध्यायों का गद्यात्मक सूत्ररूप ग्रन्थ सम्प्रति बहुत प्रचलित है। उसकी बहुत सी टीकाएँ हो चुकी हैं। उसमें रिफ्फ और आर ये यावनी भाषा के शब्द आये हैं। वराहमिहिर और भटोत्पल के ग्रन्थों में जैमिनिसूत्र का उल्लेख नहीं है अतः जैमिनिसूत्र नामक आर्ष ग्रन्थ यदि है तो वह आज भी अपने आरंभिक रूप में ही है—इसमें सन्देह है। बर्नेल ने लिखा है कि मलाबार में जैमिनिसूत्र का बड़ा प्रचार है।

भृगुसंहिता—यह बड़ा प्रसिद्ध ग्रन्थ है। नाम से तो यह आर्ष मालूम होता है परन्तु वराहमिहिर और भटोत्पल ने इसका उल्लेख नहीं किया है अतः यह उनसे प्राचीन होगा, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। लोग कहते हैं कि इसमें प्रत्येक मनुष्य की जन्मकुण्डली रहती है। यदि यह सत्य है तो भिन्न-भिन्न लग्नों और भिन्न-भिन्न स्थानस्थित ग्रहों के भेदानुसार इसमें ७४६४९६०० कुण्डलियाँ और प्रत्येक कुण्डली

का फल यदि १० श्लोकों में लिखा हो तो ७५ कोटि श्लोक होने चाहिए। भृगुसंहितोक्त कुछ ऐसी पत्रिकाएँ मिलती हैं जिनमें एक लग्न के भिन्न भिन्न अंशो की भिन्न-भिन्न कुण्डलियाँ बनायी रहती हैं। इतनी कुण्डलियाँ मानने से उनकी संख्या बहुत बढ़ जायगी। इतना बड़ा ग्रन्थ होना असम्भव है। पूना में एक मारवाड़ी ज्योतिषी के पास भृगुसंहिता का कुछ छपा हुआ भाग मैंने देखा है। उसमें लगभग २०० कुण्डलियां हैं। प्रत्येक का फल लगभग ७० श्लोकों में लिखा है और इस प्रकार उसकी ग्रन्थसंख्या १४००० है। वह ग्रन्थ बड़ा अशुद्ध है और उसमें लग्नों का कोई क्रम नहीं है। कश्मीर में जम्बू के सरकारी पुस्तकालय में भृगुसंहिता है। उस पुस्तकालय का सूचीपत्र छपा है, उससे ज्ञात होता है कि वहाँ की भृगुसंहिता में लग्नों का क्रम है और उसकी ग्रन्थसंख्या लगभग १६०००० है। प्रत्येक कुण्डली का फल यदि ७० श्लोकों में लिखा होगा तो उसमें लगभग २३०० पत्रिकाएँ होंगी। भृगुसंहिता का कुछ भाग जिनके पास है वे प्रसंग-वशात् कुछ धूर्तता करते होंगे। किसी की नवीन पत्रिका बनाकर उसे वे भृगु-संहितोक्त कहकर देते होंगे, फिर भी भृगुसंहिता ग्रन्थ है—इसमें सन्देह नहीं है। भृगुसंहितोक्त कुछ पत्रिकाएँ मैंने देखी हैं, उनके अधिकतर फल ठीक होते हैं—यह मेरा मत है।

आनन्दाश्रम में भृगुसंहिता सरीखा ही भृगूक्त जातककल्पलता नाम का एक ग्रन्थ है। उसकी ग्रन्थसंख्या १८०० है और उसमें २०० कुण्डलियों का विचार है।

नाड़ीग्रन्थ—चिदम्बरम् ऐयर बी० ए० ने The Hindu Zodiac में लिखा है कि "नाड़ीग्रन्थ में सभी भूत, वर्तमान और भविष्य मनुष्यों की जन्मकुण्डलियाँ हैं। मैंने स्वयं पाँच नाड़ीग्रन्थ देखे हैं और पाँच सुने हैं। सत्याचार्यकृत ध्रुवनाड़ीग्रन्थ सर्वोत्तम है। उसके लगभग ७० भाग दक्षिण भारत में भिन्न-भिन्न मनुष्यों के पास हैं। उनमें प्रत्येक मनुष्य के जन्मकालीन निरयन स्पष्ट ग्रह लिखे हैं। उनमें और (नाटिकल आल्मनाक द्वारा लाये हुए) सूक्ष्म सायन ग्रहों में सन् १८८३ के आरम्भ में २०।२३'। ८" से २०।२५'।२२" पर्यन्त अन्तर है। अतः मैंने उस वर्ष का अयनांश २०।२४।१५ निश्चित किया है।" इस लेख में दो बातें बड़े महत्व की हैं। एक यह कि मद्रास प्रांत में भृगुसंहिता सदृश बड़े-बड़े ग्रन्थ हैं और दूसरी यह कि उनके और नाटिकल आल्मनाक के ग्रहों में केवल सवा दो कला का अन्तर है (अयनांश का सान्तर होना अशुद्धि नहीं है)। चिदम्बरम् के लेख से वे तज्ज्ञ और विश्वसनीय पुरुष ज्ञात होते हैं। नाड़ीग्रन्थ की ग्रहस्थिति बड़ी सूक्ष्म है, यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है।

यवनाचार्य—वराहमिहिर ने यवनाचार्य का उल्लेख किया है। बृहज्जातक के सप्तम अध्याय के नवें श्लोक की टीका में भटोत्पल ने लिखा है कि "यवनेश्वर स्फुजि-

ध्वज ने शककालारम्भ के बाद दूसरा शास्त्र बनाया। वराहमिहिर ने उनके पहिले के यवनाचार्य के मत लिखे हैं। मैंने उस यवनाचार्य का ग्रन्थ नहीं देखा है पर स्फुजिध्वज का देखा है। स्फुजिध्वज ने अपने ग्रन्थ में लिखा है—"यवना ऊचुः।" इससे ज्ञात होता है कि वराह के पूर्व एक या अनेक ऐसे यवन ग्रन्थकार हो चुके थे जिनके ग्रन्थ भटोत्पल के समय उपलब्ध नहीं थे। उत्पल के मतानुसार वे शककाल से प्राचीन ज्ञात होते हैं। यवन शब्द का बहुवचनान्त प्रयोग होने का एक कारण यह भी हो सकता है कि वराह के समय यवनों का ग्रन्थ एक ही रहा होगा पर उसे मानने वाले यवन अनेक रहे होंगे। भटोत्पल ने स्फुजिध्वज को ही यवनेश्वर कहा है और उन्होंने यवनों के नाम पर जो वचन उद्धृत किये हैं वे उन्हीं के ग्रन्थ से लिये हैं (वह ग्रन्थ संस्कृत में है)। सम्प्रति मीनराजजातक नाम का एक ग्रन्थ उपलब्ध है। उसे वृद्धयवनजातक अथवा यवनजातक भी कहते हैं। उसके आरम्भ में लिखा है कि पूर्वमुनि ने मय को जो एक लक्ष होराशास्त्र बताया था उसे मीनराज ने आठ सहस्र किया। भटोत्पललिखित (बृहज्जातक अध्याय १ श्लोक ५ की टीका) राशिस्वरूप सम्बन्धी यवनाचाय के १२ श्लोक तो मीनराजजातक में हैं पर अन्य बहुत से नहीं हैं। इससे ज्ञात होता है कि स्फुजिध्वज का ग्रन्थ मीनराजजातक से भिन्न है और वराह के पहिले के यवनाचार्य इन दोनों के कर्ताओं से भिन्न तृतीय व्यक्ति हैं। प्राचीन ग्रन्थों को संक्षिप्त अथवा विस्तृत करके उनके बाद के ग्रन्थ बने होंगे परन्तु तीनों का मत सम्भवतः एक ही होगा।

वराहमिहिर का बृहज्जातक और लघुजातक और उनके पुत्र पृथुयशा की षट्पंचाशिका सम्प्रति प्रचलित है। इन तीनों पर उत्पल की टीका है। लघुजातक पर ग्रहलाघवकार गणेशदैवज्ञ के भाई अनन्त की शक १४५६ की एक टीका है। बृहज्जातक पर बलभद्र की टीका थी। उसके अतिरिक्त महीदास और महीधर की टीकाएँ हैं। ये दोनों और लीलावतीटीकाकार महीदास और महीधर एक ही होंगे। तंजौरराजसंग्रह में बृहज्जातक की सुबोधिनी नाम की एक और टीका है। आफ्रेचसूची में इनके अतिरिक्त और ५-६ टीकाएँ लिखी हैं।

मीनराजजातक में लल्ल का एक वचन दिया है। जातकसार ग्रन्थ के रचयिता नृहरि ने भी जातकग्रन्थकारों में लल्ल का नाम लिखा है, अतः लल्ल का जातकविषयक भी एक ग्रन्थ रहा होगा।

भटोत्पल ने बृहज्जातक की टीका में सारावली नामक ग्रन्थ के बहुत से वचन लिखे हैं और उनमें एक स्थान पर (अ० ७ श्लो० १३ की टीका) वराहमिहिर का नाम आया है, अतः सारावली ग्रन्थ वराह के बाद का और शक ८८८ के पहिले का है। सारावली नामक एक ग्रन्थ मैंने देखा है, उसमें उत्पलोद्धृत वचन नहीं हैं। उसके कर्ता का

नाम कल्याण वर्मा है। उन्होंने अपने को वटेश्वर भी कहा है। वराहमिहिर, यवननरेन्द्र इत्यादिकों के ग्रन्थों का सार लेकर उन्होंने यह ग्रन्थ बनाया है। वटेश्वर नाम के एक ज्योतिषी शक ८२१ के लगभग थे अतः उत्पलोद्धृत सारावली ही वटेश्वर या कल्याण वर्मा कृत सारावली है और उसका रचनाकाल लगभग शक ८२१ है।[1] उत्पल की टीका में देवकीर्ति (१।१९) और श्रुतकीर्ति (१।७,८।९) के भी नाम आये हैं।

श्रीपति का जातकपद्धति नामक एक ग्रन्थ है। मुझे ये श्रीपति और रत्नमालाकार श्रीपति एक ही मालूम होते हैं क्योंकि इन दोनों ग्रन्थों पर माधव की टीका है। रत्नमाला की माधवकृत टीका में वद्धजातक नामक जातकग्रन्थ का उल्लेख है अतः वह शक ११८५ के पहिले का होगा। नन्दिग्रामस्थ केशव (लगभग शक १४१८) ने अपनी जातकपद्धति की टीका में श्रीधरपद्धति म्हालुगिपद्धति, दामोधर, रामकृष्णपद्धति, केशव मिश्र, वल्लयुपद्धति, होरामकरन्द और लघुपद्धति इन ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का उल्लेख किया है। इनमें से आरम्भ के चार नाम विश्वनाथी टीका में भी हैं। ये सब शक १४१८ के पहिले के हैं। नन्दिग्रामस्थ केशव ने श्रीपतिपद्धतिकार, भास्कराचार्य ने वीजगणितग्रन्थकार, रत्नमालाटीकाकार माधव ने मुहूर्तग्रन्थकार और कोलब्रुक ने गणितसारकार श्रीधर का उल्लेख किया है। ये चारों कदाचित् एक ही होंगे। भटतुल्यकरणकार (शक १३३९) ही दामोधर होंगे। भावनिर्णय नामक एक छोटा-सा जातकग्रन्थ विद्यारण्यकृत है। नन्दिग्रामस्थ केशव का जातकपद्धति नामक एक छोटा सा ४० श्लोकों का ग्रन्थ है परन्तु वह बड़ा प्रसिद्ध है। उसे केशवी ही कहते हैं। उस पर विश्वनाथ का उदाहरण और ग्रन्थकार, नारायण तथा दिवाकर की टीकाएँ हैं। आफ्रेचसूची में उसकी ७ और टीकाएँ लिखी हैं। जातकाभरण नामक एक प्रसिद्ध ग्रन्थ ढुण्ढिराजकृत है। वह लगभग शक १४६० में बना है। उसमें फल क्रमशः लिखे हैं अतः कुण्डली बनाने वाले उसका अधिक उपयोग करते हैं। अनन्तकृत जातकपद्धति नामक एक ग्रन्थ शक १४८० के आसपास का है। मुहूर्तमार्तण्ड की टीका में जातकोत्तम का उल्लेख है अतः वह ग्रन्थ शक १४९३ के पहिले का है। केशवीय जातकपद्धति की विश्वनाथकृत टीका में शिवदासकृत जातकमुक्तावली नामक ग्रन्थ का उल्लेख है।

---

१. सुधाकर ने लिखा है कि उसमें मन्दिल, देवकीर्ति और कनकाचार्य के नाम आये हैं। उनके मतानुसार वह ब्रह्मगुप्तकालीन है पर इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता।

वीरसिंह नामक राजा ने रामपुत्र विश्वनाथ पण्डित द्वारा होरास्कन्धनिरूपण नामक एक विस्तृत ग्रन्थ बनवाया है। इसे वीरसिंहोदयजातकखण्ड भी कहते हैं। इस ग्रन्थ का काल ज्ञात नहीं है, परन्तु इसमें जातकभरण के वचन दिये हैं। अतः यह शक १४६० के बाद शक १५०० के आसपास बना होगा। इसमें अनेक प्राचीन ग्रन्थों के वचन देकर फल क्रमशः लिखे हैं, अतः कुण्डली बनाने वालों के लिए यह बड़ा उपयोगी है। यह अभी तक छपा नहीं है, पर छपाने योग्य है। इसमें शौनक और गुणाकर ग्रन्थकार तथा समुद्रजातक, होराप्रदीप और जन्मप्रदीप प्राचीन ग्रन्थों के नाम आये हैं।

जातकसार नामक एक विस्तृत ग्रन्थ नृहरिकृत है। ग्रन्थकार ने उसके आरम्भ में लिखा है—वसिष्ठ, गर्ग, अत्रि, पराशर, वराह, लल्ल इत्यादिकों ने होराशास्त्र बनाया है, पर उन्होंने फल क्रमशः नहीं लिखे हैं; अतः जन्मपत्रिका में क्रमशः फल लिखने के लिए मैं सारावली, होराप्रदीप, जन्मप्रदीप इत्यादि ग्रन्थों की सहायता से यह ग्रन्थ बना रहा हूँ। जातकालंकार नामक एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ गणेशकृत है। गणेश के पितामह कान्हजी भारद्वाजगोत्रीय ब्राह्मण थे। वे गुर्जराधिपति की सभा के भूषणीभूत थे। उनके सूर्यदास, गोपाल और रामकृष्ण तीन पुत्र थे। गोपाल के पुत्र गणेश ने ब्रघ्नपुर में शक १५३५ में जातकालंकार बनाया है। इसमें ६ अध्याय हैं। गणेश के गुरु का नाम शिवदास था। एक ग्रन्थ में ब्रघ्नपुर का अर्थ बरारपुर किया है, पर उसका निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। इस ग्रन्थ पर शुक्लोपनामक कृष्णपुत्र हरभानु की टीका है। टीकाकार ने ब्रघ्नपुर का अर्थ सूर्यपुर किया है।

दिवाकर का पद्मजातक नामक १०४ श्लोकों का ग्रन्थ शक १५४७ का है। पद्धतिभूषण नामक एक ग्रन्थ शक १५५९ में जलदग्रामवासी ऋग्वेदी रुद्रभटात्मज सोमदैवज्ञ ने बनाया है। जलदग्राम खानदेश का जलगाँव होगा। पद्धतिभूषण पर दिवाकरकृत टीका है। उसमें उदाहरणार्थ शक १७२९ लिया है। ये दिनकर और दूसरे भाग के शुरू में वर्णित दिनकर एक ही हैं या भिन्न-भिन्न, इसका निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। होरारत्न नामक ग्रन्थ दामोदरसुत बलभद्र ने बनाया है। वह शक १५७७ के आसपास का होगा। होराकौस्तुभ नामक एक ग्रन्थ नरहरिसुत गोविन्द ने शक १६०० के लगभग बनाया है। नारायणकृत दो ग्रन्थ होरासारसुधानिधि और नरजातकव्याख्या शक १६६० के आसपास के हैं। सुधाकर ने लिखा है कि परमानन्द पाठककृत प्रश्नमाणिक्यमाला नामक एक उत्तम जातकग्रन्थ है। उसके चार भाग हैं। परमानन्द सारस्वत ब्राह्मण थे। वे काशीराज बलवन्तसिंह के मुख्य गणक थे। उनका काल शक १६७० के लगभग है। पद्धतिचन्द्रिका नामक एक ग्रन्थ राघवकृत है। सुधाकर ने लिखा है कि काशी में गोविन्दाचारी नामक एक उत्तम ज्योतिषी थे। वे

मारण, मोहनादिक मन्त्र-तन्त्र कृत्यों में प्रवीण थे। बाद में वे विन्ध्यवासिनी के सन्निकट रहने लगे थे। उन्होंने शक १७७५ के बाद साधनसुबोध, योगिनीदशा इत्यादि दो-तीन ग्रन्थ बनाये हैं। शक १७८५ में उनका देहान्त हुआ। सोलापुरवासी अनन्ताचार्य म्हालगी नामक ज्योतिषी ने अनन्तफलदर्पण और आपाभटी जातक नामक दो ग्रन्थ बनाये हैं। पहिला शक १७९८ का है। उसमें जातक और ताजिक दोनों विषय हैं। अनन्ताचार्य के गुरु का नाम आपा जोशी भाण्डारकवठेकर था (शक १७८८ के लगभग उनका देहान्त हुआ)। शक १८०६ में अनन्ताचार्य ने मुझसे कहा था कि उनके बताये हुए सभी फल बिलकुल ठीक होते थे और उन्होंने प्राचीन ग्रन्थों के नियमों में कहीं-कहीं परिवर्तन करके नये नियम बनाये थे। वे नियम इस ग्रन्थ में हैं।

केरलमत

जातक में एक केरलमत है। इसके नियम अन्य जातकग्रन्थों से कुछ भिन्न मालूम होते हैं। केरलमत के ग्रन्थ अनेक हैं।

प्रश्न

अमुक कार्य होगा या नहीं, किस प्रकार होगा इत्यादि अनेक प्रश्न लोग ज्योतिषियों से पूछते हैं। प्रश्न बताने की बहुत-सी रीतियाँ हैं। कुछ लोग प्रश्नकालीन लग्न के अनुसार फल बताते हैं, इसलिए प्रश्न होरास्कन्ध का एक अङ्ग कहा जा सकता है पर कुछ रीतियाँ ऐसी हैं जिनका ज्योतिष से कोई सम्बन्ध नहीं हैं। फिर भी लोगों की यह धारणा है कि ज्योतिषी सब प्रकार का भविष्य बताते हैं, इसलिए हर प्रकार का प्रश्न ज्योतिष का विषय समझा जाता है और सब प्रश्नग्रन्थों की गणना ज्योतिषग्रन्थों में की जाती है। प्रश्न के बहुत से ग्रन्थ हैं।

प्रश्ननारदी नामक एक छोटा-सा ३२ श्लोकों का आर्ष ग्रन्थ है। वह नारदसंहितान्तर्गत कहा गया है, पर इस समय की उपलब्ध नारदसंहिता बृहत्संहिता सरीखी है और उसमें यह प्रकरण नहीं है। उपलब्ध पौरुषेय ग्रन्थों में भटोत्पलकृत ७२ आर्याओं का प्रश्नज्ञान या प्रश्नसमाप्ति नामक ग्रन्थ ही प्राचीन मालूम होता है।

रमल

पासों पर कुछ चिह्न बनाये रहते हैं। उन्हें फेंकने पर चिह्नों की जो स्थिति बनती है उसके अनुसार हर एक प्रश्न का उत्तर बताने की एक प्रश्नविद्या है, उसे पाशकविद्या या रमल कहते हैं। रमल शब्द अरबी भाषा का है और इस समय संस्कृत में इस विषय के जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमें पारिभाषिक शब्द प्रायः अरबी के ही हैं, इससे आपाततः

यह विद्या मुसलमानों की प्रतीत होती है, पर बात ऐसी नहीं है। बावर नामक एक यूरोपियन को प्राचीन गुप्त राजाओं के समय की लिपि में भोपपत्र पर लिखी हुई एक पुस्तक मिली है। उसमें भिन्न-भिन्न तीन विषयों का वर्णन है। वह सन् ३५० और ५०० के मध्य लिखी गयी है—यह सिद्ध हो चुका है। उसमें[1] आधुनिक रमल सरीखी पद्धति है, परन्तु पारिभाषिक नाम अधिकतर संस्कृत और कुछ प्राकृत हैं। तंजौर के राजकीय पुस्तकालय में गर्गसंहिता की एक प्रति है। उसमें पाशकावलि नामक २३५ श्लोकों का एक प्रकरण है। मैंने देखा[2], उसके एक श्लोक में दुन्दुभि शब्द आया है जो कि उपर्युक्त पुस्तक में भी है। इससे सिद्ध होता है कि रमल विद्या इसी देश की है। बावर की पुस्तक की पाशकावलि की भाषा से अनुमान होता है कि वह शककाल के तीन-चार सौ वर्ष पहिले की होगी[3], इससे सिद्ध होता है कि उस समय हमारे देश में यह विद्या थी। बाद में इसके मूल संस्कृत ग्रन्थ लुप्त हो गये और उसके बाद अरबी ग्रन्थों के आधार पर संस्कृत में ग्रन्थ बनने लगे। वे कब से बनने लगे, इसका निश्चित समय ज्ञात नहीं है। आफ्रेचसूची में भटोत्पल और श्रीपति का एक-एक रमलग्रन्थ लिखा है। शक १६६७ के रमलामृत ग्रन्थ में श्रीपति और भोज के रमलग्रन्थों का उल्लेख है। शक ७०० के लगभग सिन्ध प्रान्त के ज्योतिषी अरब गये थे। पता नहीं, वे अपने साथ रमल लाये थे या नहीं। उपर्युक्त दोनों पाशकावलियों और रमल की पद्धति पूर्णतया एक है या भिन्न, इसे मैंने नहीं देखा है। इसे देखने पर निर्णय हो सकता है कि मुसलमानों ने रमल का स्वयं आविष्कार किया है या उनके यहाँ प्राचीन काल में वह भारत से ही गया है।

रमल के ग्रन्थ अनेक हैं। रमलचिन्तामणि नामक एक ग्रन्थ चिन्तामणि नामक ज्योतिषी ने बनाया है। उसकी ग्रन्थसंख्या लगभग ७०० है। आनन्दाश्रम में शक

---

१. उस पुस्तक का इतिहास, उसका कुछ भाग और उसके लेखनकाल का निर्णय इत्यादि विषयक लेख बंगाल एशियाटिक सोसायटी के १८९० नवम्बर और १८९१ अप्रैल के मासिकों में और इण्डियन ऐंटिक्वेरी की सन् १८९२ की पुस्तक में छपे हैं। इस समय डॉ० रूडोल्फ होरनल इस पुस्तक को छपा रहे हैं।

२. Burnell's Catalogue

३. बावर की पुस्तक में मन्त्रशास्त्र का एक ग्रन्थ है। उसे देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उसे किसी बौद्ध ने बनाया है। उसकी पाशकावलि की भाषा शुद्ध संस्कृति नहीं है। बौद्ध लोग अपने ग्रन्थ अधिकतर प्राकृत भाषा में बनाते थे अतः पाशकावलि चन्द्रगुप्त के समय की होगी।

१६५३ की लिखी हुई उसकी एक प्रति है, अतः वह ग्रन्थ लगभग शक १६०० के पहिले का होगा। रमलामृत ग्रन्थ खानदेश के प्रकाश नामक स्थान के निवासी जयराम नामक औदीच्य ब्राह्मण ने सूरत में संवत् १८०२ (शक १६६७) में बनाया है। उसकी ग्रन्थ-संख्या लगभग ८०० है।

स्वप्नादि

स्वप्न और पल्लीपतन संहिता तथा होरा दोनों के अङ्ग कहे जा सकते हैं। इनके कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ मिलते हैं।

ताजिक

जिस समय मनुष्य के जन्मकालीन सूर्य तुल्य सूर्य होता है अर्थात् जब उसकी आयु का कोई भी सौरवर्ष समाप्त होकर दूसरा सौरवर्ष लगता है, उस समय के लग्न और ग्रहस्थिति द्वारा मनुष्य को उस वर्ष में होने वाले सुख-दुःख का निर्णय जिस पद्धति द्वारा किया जाता है उसे ताजिक कहते हैं। दामोदरसुत बलभद्रकृत[1] हायन-रत्न नामक एक ताजिकग्रन्थ है। उसमें लिखा है—

यवनाचार्येण पारसीकभाषया प्रणीतं ज्योतिषशास्त्रैकदेशरूपं वार्षिकादिनानाविध-फलादेशफलकशास्त्रं ताजिकशब्दवाच्यं तदनन्तरभूतैः समरसिंहादिभिः. . .ब्राह्मणैस्त-

---

१. बलभद्र भागीरथीतटवर्ती कान्यकुब्जनगर के निवासी भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके गुरु का नाम राम था। इनके लेख से ज्ञात होता है कि इन्होंने यह ग्रन्थ उस समय बनाया जब ये बादशाह शाहशुजा के साथ राजमहल में रहते थे। इनके पितामह लाल ज्योतिषी थे। उनके पुत्र देवीदास, क्षेमङ्कर, (क्षेमकर्ण?), नारायण, चतुर्भुज मिश्र और दामोदर सभी विद्वान् थे। देवीदास ने व्यक्तगणित और श्रीपति-पद्धति की टीकाएँ की हैं। दामोदर ने भास्करकृत करणकुतुहल की टीका की है। बलभद्र के लघुभ्राता हरि नामक थे। हायनरत्न में यह सम्पूर्ण वृत्तान्त लिखा है। इस ग्रन्थ के काल के विषय में लिखा है—

योगो मासकृतेः समः करह (ह) तो योगस्थितिः स्यात्तिथिस्त्रिघ्ना वारमितिरतदर्ध-
(? दूर्ध्व)
सदृशं (दशं) भं सर्वयोगो युतः। भूबाणाक्षकुभि १५५१ र्भवेच्छकमितिर्ग्रन्थस्य॥

इसमें कई संशयग्रस्त स्थल हैं। भिन्न-भिन्न वर्ष और मास मानकर गणित करने का अवकाश इस समय नहीं है। सुधाकर ने इस श्लोक द्वारा शक १५६४ निश्चित किया है पर वह अशुद्ध है। आफ्रेचसूची में इसका काल सन् १६५६ लिखा है।

देव शास्त्रं संस्कृतशब्दोपनिबद्धं ताजिकशब्दवाच्यम्। अतएव तैस्ता एव इक्कवालादयो यावन्य: संज्ञा उपनिबद्धा: ।।

इसमें भी मुख्यत: ताजिक का उपर्युक्त ही लक्षण है। इस उद्धरण से यह भी सिद्ध होता है कि ताजिक शाखा यवनों से ली गयी है। पार्थपुरस्थ ढुण्ढिराजात्मज गणेश का लगभग शक १४८० का ताजिकभूषणपद्धति नामक ग्रन्थ है। उसमें लिखा है—

"गर्गाद्यैर्यवनैश्च रोमकमुखैः सत्यादिभिः कीर्तितं शास्त्रं ताजिकसंज्ञकम्...।"

इससे भी ज्ञात होता है कि ताजिक यवनों से लिया गया है। दैवज्ञालंकृति नामक तेजसिंहकृत एक ताजिकग्रन्थ है। प्रो० भाण्डारकरकृत विवेचन[1] से उसका काल लगभग सन् १३०० ज्ञात होता है। समरसिंहकृत ताजिकतन्त्रसार नामक एक ग्रन्थ है। डेक्कन-कालेजसंग्रह की उसकी प्रति[2] संवत् १४९१ (शक २३५६) की लिखी है, अत: उसकी रचना इसके बहुत पहिले हुई होगी। हायनरत्नकारकथित समरसिंह ये ही होंगे।

इससे ज्ञात होता है कि शक १२०० के बाद अर्थात् इस देश में मुसलमानी राज्य होने पर हमारे यहाँ ताजिक शाखा आयी है। बहुत-से ग्रन्थों में ताजिक को तार्तीयक कहा है पर ताजिक शब्द द्वारा उसका यह संस्कृत रूप बनाया हुआ ज्ञात होता है। ताजिक को ताजक भी कहते हैं।

ताजिकशाखा यवनों से ली गयी, इसका अर्थ केवल इतना ही है कि वर्षप्रवेशकालीन लग्न द्वारा फलादेश करने की कल्पना और कुछ पारिभाषिक नाम यवनों से लिये गये। लग्नकुण्डली और उसके फल के नियम ताजिक में प्राय: जातक सदृश ही हैं और वे हमारे ही हैं।

ताजिक के और भी अनेक ग्रन्थ हैं। नन्दिग्रामस्थ केशव का ताजिकपद्धति नामक ग्रन्थ है। उस पर मल्लारि और विश्वनाथ की टीकाएँ हैं। हरिभट्टकृत ताजकसार नामक एक ग्रन्थ शक १४४५ के लगभग का है। ज्ञानराज के पुत्र सूर्य का ताजकालंकार नामक एक ग्रन्थ है। नीलकण्ठकृत ताजिकनीलकण्ठी नामक ग्रन्थ शक १५०९ का है। उस पर ग्रन्थकार के पुत्र गोविन्द की शक १५४४ की रसाला नाम्नी टीका है। वह छप चुकी है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थकार के पौत्र माधव की शक १५५५ की और विश्वनाथ की टीका है। इस ग्रन्थ का सम्प्रति बड़ा प्रचार है। ताप्ती

---

१. पुस्तक संग्रह की सन् १८८२–८३ की रिपोर्ट देखिए।

२. डेक्कन कालेज संग्रह नं० ३२२ सन् १८८२-८३ में ग्रन्थलेखनकाल 'मार्गशीर्ष वदि १० गुरौ' लिखा है। शक १३५६ के अमान्त मार्गशीर्ष की वदी १० को गुरुवार था अत: उसमें लिखा हुआ १४९१ विक्रम संवत् होगा।

के उत्तरतटस्थ प्रकाश नामक स्थान के निवासी याज्ञवल्क्यगोत्रीय बालकृष्ण ने ताजिककौस्तुभ नामक ग्रन्थ शक १५७१ में बनाया है। बालकृष्ण के पिता इत्यादिकों के नाम क्रमशः यादव, रामकृष्ण, नारायण और राम थे। नारायणकृत ताजकसुधानिधि नामक शक १६६० के आसपास का एक विस्तृत ग्रन्थ है।

उपसंहार

भारतीय ज्योतिषशास्त्र का विस्तारपूर्वक विवेचन यहाँ तक किया गया। ज्योतिःसिद्धान्तकाल के पूर्व वैदिककाल तथा वेदाङ्गकाल में ज्योतिष शास्त्र की क्या अवस्था थी, इसका विचार प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम भाग में किया गया है, और सिद्धान्त-काल में उसकी प्रगति कहाँ तक हुई थी इसका विवरण दूसरे भाग में दिया गया है। दूसरे भाग में गणित,[1] संहिता तथा जातक, इन तीनों स्कन्धों का अलग-अलग विवेचन किया गया है। अब प्रस्तुत अध्याय में इन सब बातों का साकल्येन उपसंहार किया जाता है।

अधिकांश यूरोपियन विद्वानों का मत है कि भारतीयों ने ज्योतिष शास्त्र, विशेष करके उसका गणित और जातक भाग, खाल्डी या बैबिलोनी लोगों से अथवा मिस्र या अलक्ज़ैण्ड्रिया के ग्रीक लोगों से सीखा। प्रसङ्गवश इस बात का विचार ऊपर हो ही चुका है, परन्तु यहाँ और भी विस्तारपूर्वक विवेचन करते हुए उपसंहार में कुछ नयी बातें भी बतायी जायँगी।

नक्षत्रपद्धति बैबिलोन की नहीं

नक्षत्र-पद्धति मूलतः किसने निकाली यह विचार उतने महत्व का नहीं है। ग्रहों की मध्यम और स्पष्टगति का गणित विशेष महत्व का है। यह बात पिछले प्रकरणों में बतायी जा चुकी है। तथापि नक्षत्रों के विषय में एक महत्वपूर्ण लेख अभी देखने को मिला, जिसका सारांश नीचे लिखा जाता है। इस महत्व के लेख को डॉ० थीबो ने सन् १८९४ में एशियाटिक सोसायटी जर्नल के ६३वें भाग में प्रकाशित किया है। बैबिलोनिया के बहुत से उत्कीर्ण लेख हाल ही में खोद कर निकाले गये हैं। फादर स्ट्रासमेयर ने फादर एपिंग की सहायता से बहुत परिश्रम से उनमें ज्योतिष सम्बन्धी जो

---

१. प्रस्तुत ग्रन्थ के अधिकांश भाग लिखे जाने के बाद जो और नयी बातें मालूम हुई हैं वे-- J. Burgess द्वारा लिखित Notes on the Hindu Astronomy 1895 के आधार पर पृ० ४०५-०६ पर दी जा चुकी हैं।

बातें उपलब्ध हुई उनको सन् १८८९ में (Astronomisches aus Babylon) नामक ग्रन्थ में प्रकाशित किया है। प्राप्त उत्कीर्ण लेखों में बहुत से वेध लिखे हुए हैं। उदाहरणार्थ, सेल्यूकिडन काल के १८९वें अर्थात् ई० स० पूर्व १२४।२३ वर्ष में एरु (अप्रैल-मई) मास की बीसवीं रात्रि को शुक्र पूर्वाकाश में दिखाई दिया था या दिखाई देने वाला था।[1] उसके ४ गज ऊपर मेष राशि के मस्तक प्रदेश का पश्चिम तारा दिखाई दिया। उसी वर्ष अबू (जुलाई-अगस्त) मास में २६वीं रात्रि को मंगल आकाश के पूर्व भाग में दिखाई दिया। उसके ऊपर मिथुन के मुख का पश्चिम तारा ८ इंच दूरी पर था। फिर उसी वर्ष एरु मास के चौथे दिन सन्ध्या समय बुध का अस्त वृषभ राशि में हुआ। सेल्यू० वर्ष २०१ में तिश्रितु महीने की आठवीं रात्रि में तुला राशि में मंगल का उदय हुआ। इन सब बातों का विचार करके थीबो ने ऐसा निर्णय किया है कि बैबिलोन के ज्योतिषी ग्रह-स्थिति राशियों के अनुसार बनाते थे। क्रान्तिवृत्त के २७ या २८ नक्षत्ररूप विभाग उनको मालूम नहीं थे। इसलिए यह कहने का बिल्कुल ही अवसर नहीं रह जाता कि भारतीयों ने क्रान्तिवृत्त का नक्षत्ररूप विभाग बैबिलोनियन लोगों से लिया होगा। अतएव यह मत सर्वथा त्याज्य है।[2]

---

१. इस लेख में यह निर्णय नहीं हुआ कि इन बातों को प्रत्यक्ष देखकर लिखा गया है या होने वाली बातें लिखी हैं। भविष्य में होने वाली घटनाओं के ज्ञान के लिए ग्रहगणित का ज्ञान होना आवश्यक है। यह ज्ञान बैबिलोनियन लोगों में प्रचलित था या नहीं यह अब तक अनिर्णीत ही है।

२. इसी सम्बन्ध में लिखते हुए थीबो ने कहा है कि चीनी लोगों में पहले २४नक्षत्र थे। आगे जाकर सन् ११०० के आसपास उनकी संख्या २८ हुई। इस कथन का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। हिन्दू, चीनी और अरब नक्षत्र पद्धतियों में बहुत कुछ साम्य है, यह उपर्युक्त लेख में लिखते हुए थीबो ने कोई प्रमाण नहीं दिया है। परन्तु इस विषय में तारीख ५ सितम्बर १८९६ के एक निजी पत्र में उन्होंने मुझे लिखा है कि चीनी, अरब हिन्दू नक्षत्र पद्धतियों में जो साम्य है उसकी समाधानकारक उपपत्ति अभी उनके विचार में नहीं आयी है। यदि कोई दो मनुष्य, जिनका आपस में कोई सम्बन्ध नहीं है, चन्द्र-मार्ग के नक्षत्रों को परिगणित करने लगें तो रोहणी, पुनर्वसु, मघा, चित्रा, ज्येष्ठा ये बड़े तारे सहज ही में दिखाई देंगे। अश्विनी इत्यादि उनसे छोटे तारे भी उसी प्रकार दोनों को दृग्गोचर होंगे। यह बात थीबो को भी मान्य है और सभी के मानने के योग्य है। परन्तु मार्गशीर्ष, मूल, पूर्वोत्तर, भाद्रपदा, भरणी तीनों में समान हैं। पूर्वोत्तर फाल्गुनी हिन्दू और अरबों में समान हैं। आश्लेषा हिन्दू और

अब ग्रहगति और जातक के विषय में यूरोपियन विद्वानों के मतों का परीक्षण करना है। हम लोगों में से बहुतों को ऐसा विश्वास है कि यूरोपियनों का मत, चाहे उनकी योग्यता कुछ भी हो, वेद-वाक्यवत् मान्य है। आश्चर्य तो तब होता है जब हम देखते हैं कि हमारे कुछ विद्वान् भी इसी मत के हैं, परन्तु जब तक इस बात का निर्णय नहीं होता कि मत देने वालों का या स्वयं विचार करने वाले का कितना अधिकार है, तब तक इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। बड़े-बड़े विद्वानों के कथन पर दूसरे लोगों का स्वभावतः ही विश्वास होता है, इसलिए विद्वानों को बहुत समझ-बूझ कर अपना मत देना चाहिए। ज्योतिष के गणित स्कन्ध के विषय में अपना अभिप्राय देने के लिए यह आवश्यक है कि उन विद्वानों को हमारे ज्योतिष का करण-भाग (Practical Astronomy) तथा उपपत्तिभाग (Theoretical Astronomy) अच्छी तरह अवगत हो और साथ ही साथ उन्हें एतद्विषयक यूरोपियन ज्योतिष का पूर्ण ज्ञान हो। ऐसा ही व्यक्ति दोनों ओर के ग्रन्थों की तुलना करके यह कहने का अधिकारी होगा कि अमुक देश से अमुक देश ने यह बात सीखी है। वैसे ही जातक के सम्बन्ध में मत प्रकट करने के पहले यह आवश्यक है कि उनको ऊपर लिखे हुए ज्ञान के साथ-साथ जातक-स्कन्ध के मूल तत्त्वों का सम्यक् ज्ञान हो। इसके अतिरिक्त अपना मन्तव्य व्यक्त करते समय उनके पास पूरे साधनों का होना आवश्यक है। भारतीय ज्योतिष के अध्ययन करने के साधन उत्तरोत्तर बढ़ते जा रहे हैं। इन साधनों की अधिकता या न्यूनता के अनुसार मत देने वाले का अधिकार अधिक या न्यून होगा। आज जो साधन उपलब्ध हैं वे दस वर्ष पूर्व उपलब्ध नहीं थे। गणित-स्कन्ध के विषय में कोलब्रुक, ह्विटने, ई० बर्जेस और थीबो ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। मुझे स्वयं ग्रीक ज्योतिष के विषय में बिलकुल ही जानकारी नहीं है। इसका ज्ञान मुझे इन्हीं लेखकों के लेखों से प्राप्त हुआ है। इसलिए इनके लेखों का सारांश में अक्षरशः नीचे दे रहा हूँ।

चीनियों में समान है। इससे थीबो का यह विचार है कि इन तीनों का मूल एक ही है। परन्तु १०।१२ वर्ष तक या एक ही वर्ष में चन्द्र का नक्षत्रों में संक्रमण देखा जाय और भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का नक्षत्रज्ञान एक ही प्रकार का हो जाय तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। किंबहुना, पक्षपात-विहीन सभी व्यक्तियों को इस बात पर विश्वास हो जायगा कि भारतीयों ने इस सताईस नक्षत्रों की कल्पना स्वयं ही की होगी। १०।१२ वर्ष तक नक्षत्र-चन्द्रसमागम देखकर मुझे तो पूर्ण विश्वास हो गया है कि भारतीयों ने स्वयं ही नक्षत्र विभाग की कल्पना की है। चीनियों के सब नक्षत्र भारतीयों से नहीं मिलते इसलिए यह सम्भव है कि चीनियों ने अपने नक्षत्र-पद्धति स्वतन्त्र रूप से स्थापित की हो।

टालमी से पूर्व के ज्योतिषियों का ज्ञान इन विद्वानों को भी नहीं है। यह बात स्वयं थीवो ने स्वीकार की है। कोलब्रुक ने अपना मन्तव्य १८०७ से १८१७ तक प्रकाशित किया है। बर्जेस तथा ह्विटने ने अपने विचार १८६० में व्यक्त किये हैं और थीवो का लेख १८८९ में प्रकाशित हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ में जो बातें आयी हैं उनमें से बहुत-सी बातें कोलब्रुक को मालूम नहीं थीं। बर्जेस और ह्विटने के समय में भी उसमें की अधिकांश सामग्री उनको उपलब्ध नहीं थी। थीवो को उनमें से अधिकांश ग्रन्थ प्राप्त हुए थे पर कुछ नहीं मिले। परन्तु यदि साधनों के न्यूनाधिक्य का विचार छोड़ दिया जाय तो कहना पड़ेगा कि उपर्युक्त चारों विद्वान् अपना-अपना मत व्यक्त करने के पूर्ण अधिकारी थे, चाहे उनके मत हमारे प्रतिकूल ही क्यों न हों। बर्जेस और ह्विटने को जो सामग्री मिली थी वह एक होने पर भी उनकी राय अलग-अलग है। बेंटली के ग्रन्थ में ज्योतिष शास्त्र मूलतः किसका था इस विषय पर विशेष विचार नहीं किया गया है। डॉ० कर्न ने बृहत्संहिता के उपोद्घात में (सन् १८६५ में) तथा जेम्स बर्जेस (James B: rgess) ने सन् १८९३ में इस विषय पर अपने विचार प्रकट किये हैं। इन दोनों का मत है कि गणित और जातक ये दोनों हिन्दुओं ने ग्रीकों से लिये हैं। परन्तु इस विषय पर विचारपूर्वक स्वतन्त्र लेख न लिखने के कारण इनका विवेचन पूर्ण और सप्रमाण नहीं माना जा सकता। इसलिए इनके मतों का परीक्षण यहाँ नहीं किया जायगा। प्रसंगवश इसका कुछ विचार मैं आगे करूँगा। इन विद्वानों को छोड़कर और किसी यूरोपियन विद्वान् का अंग्रेजी में लिखा हुआ लेख मुझे देखने को नहीं मिला। किसी भारतीय विद्वान् का लेख भी इस विषय पर प्राप्त नहीं हुआ। आगे जो विचार किया जा रहा है उसमें भारतीयों के ज्योतिष के विषय में कुछ नयी बातें मालूम होंगी। कोलब्रुक[1] ने अपने विवेचन में गणित और जातक इन दोनों विषयों का विचार किया है।

---

१. हेनरी टामस कोलब्रुक का जन्म सन् १७६५ में हुआ था। वह भारतवर्ष में सन् १७८२ में आया। सन् १८०१ में वह कलकत्ते में सदर दीवानी अदालत का जज नियुक्त हुआ। उसने संस्कृत की हस्तलिखित पुस्तकें क्रय करने में एक लाख रुपये खर्च किये थे। उसके लेख Asiatic Researches, Vol. 9 (1807) Vol. 12 (1816) में और पाटीगणित तथा बीजगणित के अनुवाद सन् १८१७ में प्रकाशित हुए थे। उनका एक साथ संकलन करके वे सब सन् १८७२ में Miscellaneous Essays by Colebrooke Vol. 11 में छपा दिये गये हैं। ऊपर जो उदाहरण दिये गये हैं वे सब इसी ग्रन्थ से लिये गये हैं और जो पृष्ठसंख्या दी गयी है वह इसी पुस्तक की है।

उसी प्रकार अरब ज्योतिष के विषय में उसने अपने विचार लिखे हैं। एक समय कई लोगों की ऐसी धारणा थी कि हिन्दुओं ने अरब लोगों से ज्योतिष सीखा। परन्तु अब इस विषय में जो सामग्री उपलब्ध हुई है उससे स्पष्ट हो गया है कि अरब लोगों को ही हिन्दुओं से यह ज्ञान प्राप्त हुआ था और इस बात में अब कोई संशय नहीं रह गया है। ताजिक मुसलमानों के साथ इस देश में आया यह हम पहले ही बता चुके हैं।

कोलब्रुक का मत

कोलब्रुक ने (सन् १८०७ में) लिखा है कि "मुझे ऐसा मालूम होता है कि हिन्दुओं में प्रचलित क्रान्तिवृत्त की द्वादश विभाग वाली पद्धति अरबों ने कुछ हेर-फेर कर ग्रहण कर ली थी" (पृ० ३२३)। पृ० ३४४ में वह लिखता है कि "हिन्दू लोग क्रान्तिवृत्त के बारह भाग करते हैं। उनका आरम्भ-स्थान ग्रीक लोगों के आरम्भ-स्थान से कुछ अंश पश्चिम की ओर है। यह विभागपद्धति हिन्दुओं को ग्रीक पद्धति के अनुसार सूझी होगी यह बात बिलकुल असम्भव नहीं मालूम होती। यह बात यदि सच भी हो तब भी हिन्दुओं ने ग्रीक पद्धति को पूर्ण रूप से अविकल वैसे का वैसा ग्रहण कर लिया होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। उन्होंने अपने प्राचीन सत्ताईस नक्षत्र विभाग के अनुसार उसका मेल बैठा लिया है।" "गोल यन्त्र की कल्पना या तो हिन्दुओं ने ग्रीक लोगों से सीखी या ग्रीक लोगों ने हिन्दुओं से ली। यदि हिन्दुओं ने ग्रीक लोगों से ली भी हो तो भी उन्होंने टालमी की नकल नहीं की है। दोनों की रचना में बड़ा अन्तर है।" "अलमजेस्ट का अरबी अनुवाद सन् ८२७ में अलहसन बिन यूसुफ ने पहले पहल किया। दूसरे अनुवाद इसके पश्चात् किये गये हैं।" मिस्री तथा बैबिलोनियन लोगों के समान हिन्दू ज्योतिषी भी राशि के तीन विभाग करते हैं। इसी को द्रेष्काण कहते हैं, द्रेष्काण पद्धति खाल्डियन, मिस्री और पर्शियन लोगों की एक समान है। हिन्दुओं की ठीक वैसी नहीं है, कुछ भिन्न है।" "हिन्दुओं ने द्रेष्काण पद्धति विदेशियों से ली है, यह बात निःसंशय मालूम होती है।" "यह कल्पना मिस्र के राजा नेकेपसो की है ऐसा परमिकुस कहता है। सेलस (Psellus) ने तेउसर नामक बैबिलोनी ग्रन्थकार का एतद्विषयक वचन उद्धृत किया है। उस ग्रन्थकार का उल्लेख पोरफिरियस ने भी किया है। द्रेष्काण शब्द मूलतः संस्कृत का नहीं मालूम पड़ता। इससे यह शंका होती है कि हिन्दुओं का फल-ज्योतिष विदेशियों से लिया गया होगा। कुण्डली देखकर फल बताने की पद्धति हिन्दुओं में बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है। परन्तु यह भी सम्भव है कि उसे इन लोगों ने मिस्र, खाल्डिया अथवा कदाचित् ग्रीक लोगों से लिया हो।[1] यदि यह बात सच हो

---

१. फलज्योतिष हिन्दुओं ने ग्रीक लोगों से लिया है, यह कोलब्रुक ने सन् १८१७ में एक बार फिर कहा है।

तो ज्योतिषगणित का दिग्दर्शन भी हिन्दुओं को उसी समय मिला होगा। हिन्दुओं का ज्योतिषगणित फल-ज्योतिष के लिए ही है। परन्तु फल-ज्योतिष का दिग्दर्शन हो जाने पर उसको पक्व दशा में लाने का श्रेय हिन्दुओं को मिलना चाहिए। यवनाचार्य के उल्लेख मात्र से कोई निर्णय नहीं हो सकता। उसके ग्रन्थ से लिये हुए सब आधारों से ग्रीक ग्रन्थों की तुलना कर किस ग्रन्थ का उसने आधार लिया था यह ढूंढ़ निकालना आवश्यक है। ग्रह समान परन्तु विलोम गति से नीचोच्च अधिवृत्त में घूमते हैं। उस अधिवृत्त के मध्यस्थित वृत्ताकार कक्षा की परिधि पर वे मध्यम गति से घूमते हैं।[1] पाँच ग्रहों की अनियमित गति की उपपत्ति हिन्दू ज्योतिषी इस प्रकार करते हैं—

केन्द्रच्युत वृत्त की परिधि पर जिसका मध्य है ऐसे अधिवृत्त में अनुलोम गति से ग्रह घूमते हैं। '(बुध-शुक्र की उस केन्द्रच्युत वृत्त में प्रदक्षिणा सूर्य की प्रदक्षिणा के समान काल में होती है, इसलिए अधिवृत्त की प्रदक्षिणा उसकी कक्षा की वास्तविक प्रदक्षिणा है। बहिर्वर्ती तीन ग्रहों की अधिवृत्त की प्रदक्षिणा सूर्य की प्रदक्षिणा के समान काल में होती है। और केन्द्रच्युत वृत्त की प्रदक्षिणा वस्तुतः ग्रहों की वास्तविक प्रदक्षिणा है।) हिन्दू ज्योतिष और टालमी की पद्धति में इतना साम्य है कि अपोलोनियस द्वारा कल्पित और हिपार्कस द्वारा प्रयुक्त केन्द्रच्युत कक्षा का स्मरण पाठकों को हुए बिना नहीं रह सकता। तथापि पञ्च ग्रहों की गति स्पष्ट करने के लिए टालमी ने केन्द्रच्युत कक्षा से द्विगुणित जिसकी कक्षा है ऐसे वृत्त की जो कल्पना की है तथा चन्द्र के च्युति-संस्कार को निकालने के लिए केन्द्रच्युत वृत्त के मध्य के वृत्त के अधिवृत्त की जो कल्पना उसने की है, ये दोनों बातें हिन्दू पद्धति में नहीं पायी जातीं। वैसे ही बुध-गति में दृष्ट अन्तर निकालने के लिए केन्द्रच्युत के केन्द्रवृत्त की कल्पना (Circle of anamoly) हिन्दू ज्योतिष में नहीं पायी जाती है, यह ध्यान में आये बिना नहीं रहता। ग्रहों के अधिवृत्त (मन्दनीचोच्च वृत्त) और केन्द्रच्युत अधिवृत्त (शीघ्र नीचोच्च वृत्त) को भारतीय ज्योतिषियों ने चपटा माना है। आर्यभट (प्रथम) और सूर्यसिद्धान्तकार ने इन अधिवृत्तों को चपटा माना है। इसमें गुरु और शनि के वास्तव अधिवृत्त के लघ्वक्ष शीघ्रोच्च रेखा में अर्थात् मध्यमयुति रेखा में माने हैं (?)। ब्रह्मगुप्त और भास्कर ने केवल मंगल और शुक्र के अधिवृत्तों को चपटा माना है। केन्द्र-च्युति वृत्त और अधिवृत्त (नीचोच्च वृत्तों) इत्यादि के विषय में भारतीय तथा ग्रीक कल्पनाओं में इतना साम्य है कि यह साम्य काकतालीय न्याय से हो गया है, यह कल्पना क्लिष्ट

---

१. Epicycles को कोई-कोई प्रतिवृत्त कहते हैं। परन्तु प्रतिवृत्त का कुछ भिन्न अर्थ है। इसलिए यहाँ अधिवृत्त शब्द का प्रयोग किया गया है।

मालूम पड़ती है। भारतीय ज्योतिष में यवनाचार्य और रोमकसिद्धान्त का उल्लेख होने के कारण यदि कोई कल्पना करे कि भारतीयों ने ग्रीक लोगों से ज्योतिष का ज्ञान प्राप्त कर अपने मूल अपूर्ण ज्ञान को बढ़ाया तो मेरे विचार की दिशा के यह विरुद्ध नहीं है।" दूसरे एक लेख में कोलब्रुक कहता है कि "हिन्दुओं की प्रतिवृत्त और नीच्चोच्चवृत्त पद्धति से टालमी और कदाचित् हिपार्कस की पद्धति में यद्यपि सर्वथा ऐक्य नहीं है, तथापि साम्य अवश्य है, इसलिए इसमें संशय नहीं रहता कि हिन्दुओं ने ग्रीक लोगों से कुछ बातें अवश्य ली होंगी।"

ह्विटने का मत

अब मैं ह्विटने और बर्जेस के मन्तव्यों का सारांश देता हूँ। प्रथम ह्विटने ने सूर्यसिद्धान्त के अंग्रेजी अनुवाद के स्पष्टाधिकार में हिन्दू और ग्रीक ज्योतिष के ग्रहस्पष्ट-गति-स्थिति प्रमेय की जो तुलना की है वह देता हूँ। वह कहता है—"प्रथमतः दोनों पद्धतियों को स्थूलतः देखने से दोनों की मूल विचारधारा एक ही है, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। ग्रहस्पष्टगति की अनियतता के जो दो कारण हैं उन्हें दोनों ने ढूंढ़ निकालने में सफलता प्राप्त की है। उस अनियतता के स्वरूप और उसके गणित करने की रीति दोनों की एक है। ग्रहों की दीर्घवृत्त कक्षा के स्थान पर दोनों ने प्रतिवृत्तों की कल्पना की है। सूर्य की जितनी बड़ी कक्षा है और सूर्य की जो मध्यम गति है उतनी ही बुध-शुक्र की दोनों ने मानी है। आधुनिक पद्धति के अनुसार बुध-शुक्र की जो वास्तविक कक्षा है उनके शीघ्र दोनों ने माने हैं और दोनों ने उन शीघ्रकक्षाओं के मध्य में स्पष्ट सूर्य को न मानकर मध्यम सूर्य को माना है। दोनों ने मध्यम सूर्य के लिए कक्षा-च्युति संस्कार की योजना की है। दोनों ने वहिर्वर्ती ग्रहों के मध्य में सूर्य को न मानकर पृथ्वी मानी है। उन ग्रहों के लिए, पृथ्वी-कक्षा के समान, प्रतिवृत्त की कल्पना की है। यह प्रतिवृत्त दीर्घवृत्त न होकर वृत्ताकार ही है। दोनों ने यहाँ भी प्रतिवृत्त का मध्य स्पष्ट सूर्य से न निकालकर मध्यम सूर्य से निकाला है।...... दोनों पद्धतियों में भेद बहुत ही कम हैं। टालमी ने जो चन्द्र के च्युतिसंस्कार को ढूंढ़ निकाला था उसका ज्ञान भारतीयों को नहीं था। इन ग्रहों के स्पष्टीकरण में जो उसने दूसरे एक नये प्रकार की कल्पना की थी, वह भी हिन्दुओं को मालूम नहीं थी। टालमी पूरा मन्दफल-संस्कार एक बार देकर फिर शीघ्रफल संस्कार भी एक बार दे देता है। हिन्दू दोनों संस्कार दो-दो बार देते हैं। हिन्दुओं की मन्द-शीघ्र परिधियाँ ओज-युग्म पद में भिन्न-भिन्न हैं, वैसा ग्रीक लोगों में नहीं है।"

अपने अन्तिम मत में वह कहता है—"सूर्यसिद्धान्त में जिस बीज-संस्कार की

कल्पना की है, उसमें मुसलमानी ज्योतिष का कुछ न कुछ अंश अवश्य होगा, क्योंकि इस प्रकार के फेरफार करने के लिए हिन्दुओं के पास वेध करने के साधन थे या नहीं, और यदि थे तो भी उनसे इष्ट अनुमान निकालने का ज्ञान उन्हें था या नहीं, इस बात का निर्णय अब तक नहीं हो सका है।[1].....हिन्दू पद्धति नैसर्गिक नहीं है पूर्णतः कृत्रिम है। स्वच्छन्द रीति से गृहीत बातों से, किंबहुना, सृष्टि में जिनका बिल्कुल आधार नहीं है, ऐसी असम्बद्ध बातों (Abrsurdities) से वह भरी हुई है। ऐसी कल्पनाएँ चाहे जो कर सकता है। (१) युग पद्धति, (२) कलियुगारम्भ के समय सब ग्रह एकत्र थे या परस्पर निकट थे और उस समय से गणित का आरम्भ, (३) काल के व्यवधान से सब ग्रह एकत्र आयेंगे यह कल्पना कर युगभगण संख्या मानना, (४) जीटापीशियम को आरम्भ स्थान मानना, (५) मन्दोच्च और पातों की भगण-संख्या उपवृत्त (परिधि) ओज-युग्म पद में भिन्न-भिन्न होना और (६) ग्रहकक्षा के मान इस बात के उदाहरण हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि हिन्दू ज्योतिःशास्त्र एक ही पुरुष से उत्पन्न न हुआ हो तो एक ही काल में एक ही वर्ग के लोगों से इसकी उत्पत्ति हुई है। उस पुरुष को या उस वर्ग को अपने स्वभाव विशेष का प्रभाव सारे राष्ट्र पर लादने का सामर्थ्य था। इसी लिए सर्व सिद्धान्तों में समान यह पद्धति कहाँ, कब और किसके प्रभाव से उत्पन्न हुई इसके निर्णय करने का कोई महत्व नहीं रह जाता।[2] हमारा मत है, ईसवी सन् के आरम्भ होने के बाद थोड़े ही दिनों में हिन्दू ज्योतिःशास्त्र ग्रीकशास्त्र से उत्पन्न हुआ और ईसवी सन् की पाँचवीं अथवा छठी शताब्दी में यह पूर्णता को प्राप्त हुआ। इस बात की पुष्टि में ये प्रमाण दिये जाते हैं—हिन्दुओं का स्वभाव और विचार करने का प्रकार जो हमको मालूम है उससे, जिसमें सत्य की मात्रा विशेष है ऐसे ज्योतिःशास्त्र की उत्पत्ति स्वतन्त्र रूप से उन लोगों में हुई होगी यह अपेक्षा करना ही निर्मूल मालूम होता है। अवलोकन करना (Observation), वस्तुभूत बातों (Facts) का संग्रह करना, उनको लिख रखना और उन पर पूर्ण विचार करके उनमें से अनुमान निकालना, इन बातों की ओर उनका ध्यान ही नहीं होता और इन बातों की पात्रता ही उनमें नहीं है, यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है।

---

१. ह्विटने के कहने का यह आशय मालूम होता है कि हिन्दुओं के पास वेध लेने के साधन नहीं थे। लेकिन इस विषय में पुष्ट प्रमाण न होने पर भी जब वह यह कहता है कि हिन्दुओं ने बीज-संस्कार मुसलमानों से लिया है, तब उसकी विचार-सरणी का भाव स्पष्ट हो जाता है।

२. सूर्यसिद्धान्त के कालनिर्णय के विषय में यह कहा गया है।

......मानस शास्त्र, व्याकरण और कदाचित् अङ्कगणित और बीजगणित में अवश्य उनको सफलता प्राप्त हुई है।..... प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में तारों का उल्लेख बहुत कम आता है। ग्रहों क उल्लेख अर्वाचीन है, इसलिए यह स्पष्ट होता है कि खगोल-स्थित पिण्डों का अवलोकन करने की ओर उनकी प्रवृत्ति थी ही नहीं। क्रान्ति-वृत्त के नियमित विभाग दूसरों से प्राप्त होने पर चन्द्र-सूर्य की गति तथा सौर-चान्द्र मासों का सामञ्जस्य स्थापन करने की ओर उनका ध्यान अवश्य गया था। परन्तु उससे अर्वाचीन काल में सूर्यमण्डल के समस्त ग्रहों के पूर्ण विवेचनात्मक ग्रन्थ जो सहसा उनमें दृष्टिगत होते हैं वे उन्हें कहाँ से प्राप्त हुए यह शंका मन में सहज ही उत्पन्न होती है। सूक्ष्म रीति से परीक्षण करने पर यह पद्धति मूल में हिन्दुओं की थी यह बात मन में आती ही नहीं। एक मात्र जिसमें सत्य सिद्धान्त है और दूसरे पक्ष में जिसमें असम्भवनीय पौराणिक बातें भरी पड़ी हैं, ऐसी परस्पर विरुद्ध बातों का संग्रह एक साथ कैसे हुआ? शास्त्रीय खोजों से संस्कृत मन में सत्य के साथ असम्भव बातों का प्रवेश कैसे हो सकता है? हिन्दू पद्धति यदि मूलतः उनकी ही थी तो बहुत दिन तक लिए गये वेधों के आधार पर स्थापित हुई होगी और यदि यह बात ठीक है तो वेधों के आधारों को बिलकुल न दिखाते हुए यह कहना कि आगे उसमें सुधार हो ही नहीं सकता और उनका यह शास्त्र सनातन है और सत्य है; यह कहाँ तक युक्तिसंगत है? हिंदू ग्रन्थों में वेध लेने का एक भी उल्लेख नहीं है। क़िसी स्थानविशेष के अक्षांश और देशान्तर लेने की छोटी-छोटी बातें छोड़कर वेध लेने का प्रकार कहीं दिया हुआ नहीं है। ग्रन्थ ही ज्ञान के आधार हैं, वेधों की कोई आवश्यकता नहीं, इसी प्रकार की विचार-सरणी से ये ग्रन्थ लिखे हुए हैं। यह सम्भव है कि ग्रन्थों में जो पद्धति मिलती है उस पद्धति का मूल जिस पीढ़ी में वह ग्रथित हुई थी उस पीढ़ी से भिन्न किसी प्राचीन पीढ़ी से आया हो अथवा वह किसी भिन्न राष्ट्र से आया हो; यही दो बातें सम्भव मालूम होती हैं। उन मूल शोधकों का अवलोकन करने और वेध लेने का अभ्यास तथा इन पर आधारित अनुमान करने की बुद्धि और उनको अपने ग्रन्थों में लिख रखने की प्रवृत्ति भारतीय ग्रन्थकारों में थी ही नहीं। यदि रही भी हो तो वह विस्मृत हो गयी होगी। जिनके उद्योग के फल को उनसे अर्वाचीन वंशजों ने अपनी पुस्तकों में ग्रथित किया वे लोग भारतवर्ष में हुए होंगे ऐसा उनके ग्रन्थों से मालूम तो नहीं पड़ता। इससे यही सम्भव प्रतीत होता है कि यह ज्ञान दूसरे देशों से ही यहाँ आया है।" ह्विटने के कथनानुसार भारतीय ग्रन्थों में युगपद्धति इत्यादि असम्भव बातें भरी पड़ी हैं। परन्तु हम लोगों में परम्परा से युगपद्धति इतनी बद्ध-मूल हो गयी थी कि उसको छोड़ देने से ब्रह्मगुप्त केकथनानुसार हम लोगों को रोमकसिद्धान्त के समान वेदबाह्य कहलाने का दोष

लगता। अतएव यह हमारे ज्योतिषी न कर सके। यूरोपियन दृष्टि से यह एक दोष हो सकता है, परन्तु हमारी दृष्टि में यह दोष नहीं है। उलटे हमारे ज्योतिषियों ने युगपद्धति से इसका मेल बैठा दिया. इसी से उनका चातुर्य प्रकट होता है। पञ्चसिद्धान्तिका से आरम्भ करके राजमृगाङ्क ग्रन्थ तक मैंने ज्योतिष का इतिहास दिया है। उस पर से तथा अयनचलन के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि वेधों से फेरफार करने की जो आवश्यकता प्रतीत हुई तदनुसार वे सब इन ग्रन्थों में समय-समय पर किये गये थे। इतना ही नहीं आगे भी आवश्यकतानुसार उनके बाद के ग्रन्थों में वे किये गये

आगे चलकर ह्विटने कहता है कि "अब हम इस बात का विचार करेंगे कि हिन्दुओं ने अपना शास्त्र ग्रीक लोगों से सीखा या नहीं। प्रतिवृत्त पद्धति दोनों में समान है। यद्यपि यह बात सच है कि प्रतिवृत्त कुछ अंशों में स्वाभाविक है, तथापि इस पद्धति में बहुत-सा भाग इतना कृत्रिम और मनःकल्पित है कि इन दोनों देशों ने स्वतन्त्र रूप से इसे ढूंढ़ निकाला हो यह बात असम्भव-सी मालूम पड़ती है। ग्रीक लोगों ने इस पद्धति का आविष्कार किया और धीरे-धीरे उसमें सुधार किया और टालमी ने पूर्ण रूप से उसको ग्रथित किया, ऐसा मानने के प्रमाण मिलते हैं। मिस्री और खाल्डियन लोगों से क्या मिला वह ग्रीक स्पष्टतः स्वीकार करते हैं। प्रतिवृत्त कल्पना का मूल और उसके आधार-भूत वेध, उनको सिद्धान्तरूप देने की संयोगीकरण और पृथक्करण पद्धति, यह सब ग्रीक ग्रन्थों में मिलती है। हिन्दू पद्धति को देखा जाय तो उसके लिए वेध इत्यादि किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं। वह साक्षात् ईश्वर से अपने पूर्ण रूप में भारतीयों को मिली। दोनों में गति इत्यादि की संख्या में काफी मेल है, इस बात को मैं विशेष महत्त्व नहीं देता, क्योंकि एक ही तत्व के अन्वेषण में यदि दोनों में परस्पर या प्रकृति से मेल बैठ जाय तो यह असम्भव नहीं है।"

प्रतिवृत्त पद्धति दोनों की स्वतन्त्र नहीं है और दोनों में सम्बन्ध होना सम्भव मालूम पड़ता है। परन्तु यद्यपि दोनों की संख्याएँ एक नहीं हैं और दोनों के प्रयत्न की दिशा भी अलग अलग है तथापि ह्विटने इस स्पष्ट बात को स्वीकार नहीं करता। परन्तु जब वह कहता है कि ये दोनों राष्ट्र अपनी-अपनी खोज में अलग-अलग प्रवृत्त हुए तब यह प्रायः मान लेना ही है कि हिन्दुओं ने अपने अनुसन्धान स्वतन्त्र रूप से किये थे। यह शोध दो-चार दिन में समाप्त कर तुरन्त ग्रन्थों में लिख दी गयी, यह बात कोई नहीं कह सकता। हमारे प्राचीन वेध लिखकर क्यों नहीं रखे गये इसके कारण पहले बताये गये हैं। आगे वह लिखता है—"क्रान्तिवृत्त के अंशादि विभाग दोनों में एक ही हैं। परन्तु ग्रीक विभाग तारकापुञ्जों के अनुसार किये गये हैं और हिन्दुओं के विभाग में उन तारकाओं से कुछ सम्बन्ध नहीं है। आरम्भ-स्थान से तीस अंशों तक को वे मेष कहते हैं। अतः

उन्होंने उसको दूसरों से लिया और उसका उद्देश्य भूल गये अथवा उसकी ओर ध्यान नहीं दिया।" मेषादि नामों के मूल कारण की ओर ध्यान न देकर इन संज्ञाओं को उन्होंने विभागात्मक बना लिया, इसी बात को मैं विशेष महत्व देता हूँ। केवल मेषादि संज्ञाओं का कोई महत्व नहीं है। इसलिये यदि उन्होंने इसे दूसरे से लिया हो तो हिपार्कस से पूर्व खाल्डियन लोगों से लिया, यह मैं आगे जाकर सिद्ध करूँगा। ह्विटने फिर आगे लिखता है—"लिप्ता शब्द ग्रीक है। इसी तरह वार की कल्पना हिन्दुओं ने की। वह जिस पद्धति से निकली है उसके मूल में होरा शब्द है, जो ग्रीक भाषा का है। ग्रह स्पष्टीकरण में मुख्य उपकरण केन्द्र शब्द है जो ग्रीक है। तीनों शब्द किसी कोने में छिपे पड़े नहीं हैं, वे हिन्दू ज्योतिःशास्त्र रूपी किले के मध्य भाग में स्थित हैं। हिन्दू पद्धति वास्तव में ग्रीक लोगों से ली गयी है, इस विषय में इन प्रमाणों का तथा अन्य भी प्रमाणों का खण्डन नहीं हो सकता। इसके सिवा हिन्दू ग्रन्थों में यवन, यवनाचार्य इत्यादि का बार-बार उल्लेख होने के कारण और कुछ सिद्धान्त रोमक यानी रोम-नगर में ईश्वर से प्राप्त हुए इस आशय की जो दन्तकथाएँ मिलती हैं, उनसे उपर्युक्त बात की पुष्टि हो जाती है। इनसे सूक्ष्म प्रमाण मैं नहीं देता।" वारों का विचार पहले आ चुका है। होरा तथा वार यद्यपि हमारे नहीं हैं तब भी उनका ग्रह-स्पष्टगति ज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं है। केन्द्र, लिप्ता आदि शब्दों का विचार आगे किया जायगा। ह्विटने फिर कहता है—"अब हम विचार करेंगे कि ग्रीस से हिन्दुस्तान में ग्रीक ज्योतिषशास्त्र कब और कैसे आया। इस विषय में केवल अन्दाज किया जा सकता है। ईसवी सन् के आरम्भ में रोम के व्यापारिक बन्दर अलेक्जेण्ड्रिया से हिन्दुस्तान के पश्चिमी किनारे का व्यापार चलता था। इस व्यापार के कारण ज्योतिःशास्त्र हिन्दुस्तान में आया और उज्जयिनी उसका केन्द्र बना। सीरिया, पर्शिया या बैक्ट्रिया के मार्ग से यदि वह आया होता तो उज्जयिनी उसका केन्द्र न बना होता और हिन्दू ग्रन्थों में रोम का इतना महत्व न होता। टालमी ने ग्रीक ज्योतिष में जो सुधार किये थे, वे हिन्दू ज्योतिष में नहीं हैं। इस पर से और सिंटाक्सिस में दी हुई गत्यादि संख्या हिन्दू ग्रन्थों में दी हुई संख्या से नहीं मिलती, इसलिए यह मानना पड़ता है कि टालमी से पूर्व ही ग्रीक ज्योतिष का ज्ञान हिन्दुओं को प्राप्त हुआ। जो हिन्दू भूमध्यसागर में जाते थे, उनके द्वारा या ग्रीक विद्वान् जो भारत का पर्यटन करते थे उनके द्वारा अथवा ग्रीक ग्रन्थों के अनुवादों के द्वारा या दूसरी किसी रीति से यह ज्ञान हिन्दुस्तान को प्राप्त हुआ होगा। निश्चित रूप से अब यह निर्णय करना कठिन है। यह ज्ञान उन्हें ईसवी सन् के आरम्भ की किसी शताब्दी में मिला होगा, परन्तु पाँचवीं या छठी शताब्दी में जब हिन्दुओं का आरम्भ-स्थान सम्पात पर था,

उसी समय के आसपास यह ज्ञान वर्तमान रूप को प्राप्त हुआ। ऐसा होने के लिए पर्याप्त समय लगा होगा। इस बीच जो महत्त्व के फेरफार हुए उनमें ज्यार्धों का उपयोग बहुत महत्व का है। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि रेखागणित के स्थान पर अंकगणित का उपयोग होने लगा। हिन्दू पद्धति में रेखागणित का उपयोग बहुत थोड़ा है। समकोण त्रिभुज के कर्ण का वर्ग दूसरी भुजाओं के वर्ग के योग के तुल्य है, सरूप समकोण त्रिभुजों की तुलना और त्रैराशिक यही तीन बातें सूर्यसिद्धान्त में मिलती हैं। दूसरे सिद्धान्तों में अंकगणित और बीजगणित का अधिक ज्ञान मिलता है, परन्तु इस बात का विवेचन यहाँ नहीं किया जायगा।" उपर्युक्त मन्तव्य में ह्विटने ने हमारी जो थोड़ी स्तुति की है उसे हम अपना सौभाग्य समझते हैं। परन्तु ह्विटने की पक्षपात-बुद्धि का एक उदाहरण यहाँ दिये बिना मैं नहीं रह सकता। टालमी के ग्रन्थ से हिन्दुओं ने कुछ नहीं लिया, यह बार-बार कहते हुए भी, टालमी अथवा हिपार्कस की ज्या की कल्पना से हिन्दुओं को ज्यार्धों की कल्पना सूझी होगी इस निराधार मत का उल्लेख करने से वह अपने को वंचित न रख सका। ह्विटने की साधारण विचारधारा के दूसरे उदाहरण उच्चपात के विवेचन में पहिले ही दिखा चुका हूँ।

बर्जेस का मत

अब रेवरेंड बर्जेस का मत दिया जाता है। वह हिन्दुस्तान में बहुत दिनों तक रहा। उसको हमारे आचार विचारों का अच्छा ज्ञान था। ह्विटने अमेरिका में रहता था (देखो, सूर्यसिद्धान्त अनुवाद पृ० २८४), उसे इस विषय में पूर्ण अज्ञान था, इसलिए ह्विटने की अपेक्षा बर्जेस को इस विषय में अपना मत देने का अधिक अधिकार था, यह मानना पड़ता है। वह कहता है—"हिन्दू ज्योतिष पर मैंने एक विस्तृत लेख लिखा था लेकिन उसके लिए यहाँ स्थान नहीं है, परन्तु ह्विटने ने अपनी टिप्पणियों में जो मत दिये हैं उनसे मेरे मत भिन्न हैं, इसलिये संक्षेप में मैं अपने विचार देता हूँ। ह्विटने का कहना है कि हिन्दुओं ने अपने ज्योतिष गणित और जातक मूल रूप में ग्रीकों से लिये और उनका कुछ अंश अरबियन, खाल्डियन और चीनियों से लिया। मेरी समझ में वह हिन्दुओं के साथ न्याय नहीं कर रहा है और वह उचित मात्रा से अधिक ग्रीक लोगों को मान दे रहा है। यह सच है कि ग्रीक लोगों ने इस शास्त्र में आगे जाकर बहुत कुछ सुधार किये थे, तथापि इसके मूल तत्त्व और उसमें के बहुत से सुधार हिन्दुओं के थे और उन्हीं से ग्रीकों ने यह शास्त्र लिया, यह बात मुझे स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है।" इस विषय पर उसने जो प्रमाण दिये हैं उनका विवेचन आगे किया जाता

है: (१)––क्रांतिवृत्त के २७ या २८ विभाग थोड़े भेद से हिन्दू, अरब और चीनियों में मिलते हैं। (२) क्रान्तिवृत्त के १२ विभाग और उनके नाम दोनों में समानार्थक हैं। यह सच है कि विभाग-कल्पना तथा उनके नाम मूलतः एक ही थे। (३) ग्रहों की गति और स्पष्ट स्थिति निकालने की प्रतिवृत्त की प्रक्रिया दोनों की समान है। कम से कम उनमें इतना साम्य है कि इन दोनों राष्ट्रों ने इनको पृथक् पृथक् ढूंढ़ निकाला होगा, यह सम्भव मालूम नहीं होता। (४) हिन्दू, अरब और ग्रीक जातकपद्धति में साम्य है बल्कि कई भागों में वे एक ही हैं, इसलिए उनका मूल एक ही होना चाहिए। (५) प्राचीन लोगों को ज्ञात पाँच ग्रह और उनके नाम और उन पर आधारित वार-पद्धति समान हैं। इन पाँचों बातों के विषय में मेरा मत यह है कि––"पहिली बात तो यह है कि ऊपर की पाँचों बातों के मूल कल्पक या शोधक होने के हिन्दुओं के पक्ष में जितने प्रमाण हैं उनमें और उससे अच्छे किसी दूसरे राष्ट्र के पक्ष में नहीं हैं।

दूसरी बात यह है कि पाँचों में प्रायः सभी के सम्बन्ध में मूल कल्पना हिन्दुओं की थी। इसके अनुकूल प्रमाण इतने पुष्ट हैं कि उनको मानना ही पड़ता है और विशेष महत्व के स्थानों पर तो वे इतने दृढ़ हैं कि उनको कोई काट नहीं सकता।"

अब मैं संक्षेप में उपर्युक्त बातों का विवेचन करता हूँ। (१) क्रांतिवृत्त के सत्ताईस या अट्ठाईस विभाग अपने विस्तृत रूप से हिन्दू लोगों में अति प्राचीन काल से आ रहे हैं। दूसरे राष्ट्रों में इसका प्रमाण नहीं के बराबर है या अत्यल्प है। इससे यह स्पष्ट है कि यह पद्धति शुद्ध हिन्दुओं की है। बायो इत्यादि लोगों ने इसके विपक्ष में जो मत दिये हैं उनसे मेरा मत नहीं बदलता। (२) ह्विटने के ध्यान में यह बात नहीं आयी कि क्रांतिवृत्त के १२ विभाग, उनके उपयोग और उनके नाम दूसरे देशों में जितने प्राचीन काल से हैं उतने ही प्राचीन काल में वे भारतवर्ष में विद्यमान थे, ऐसा सिद्ध किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त इस बात के भी प्रमाण हैं कि दूसरे देशों में जितने प्राचीन काल में द्वादश विभाग प्रचलित थे उनसे कई शताब्दी पहले वे हिन्दुस्तान में प्रचलित थे, पर ये प्रमाण उतने पुष्ट नहीं हैं। इस विषय में ऐडलर और लिप्सियस ने जो प्रमाण दिये हैं उनके विषय में हंबोल्ट का मत मैं यहाँ देता हूँ। ऐडलर कहता है कि प्राच्य लोगों में द्वादश विभाग के नाम थे परन्तु तारकापुञ्ज नहीं थे। लिप्सियस कहता है कि तारकापुञ्ज जिनके कारण द्वादश विभागों का नामकरण किया गया था ग्रीक लोगों ने खाल्डियन लोगों से लिये थे, परन्तु प्राच्य शब्द से यदि ऐडलर का अभिप्राय खाल्डियन इत्यादि किसी दूसरे राष्ट्र से हो तो मालूम नहीं पर इस शब्द का संकेत यदि हिन्दुओं की ओर हो तो यह बात उनकी द्वादश विभाग पद्धति के कारण अधिक उपयुक्त मालूम होती है। हंबोल्ट का कहना है कि ग्रीक लोगों ने बारह विभाग और उनके

नाम खाल्डियन लोगों से लिये, परन्तु मेरा विश्वास है इस पद्धति का मूल खाल्डियनों से और पूर्व की ओर के देशों में ढूंढ़ना चाहिए। (३) प्रतिवृत्त के प्रमेय दोनों राष्ट्रों में भिन्न रीति से परिणत होते गये अतएव किसी एक राष्ट्र से दूसरे को सूचना मात्र मिली होगी, इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। यदि इस सूचना का विवेचन किया जाय तो ग्रीक लोगों से हिन्दुओं को यह प्राप्त हुई यह कहने का जितना आधार मिलता है उतने ही आधार के बल पर यह भी कहा जा सकता है कि ग्रीक लोगों को ही हिन्दुओं से इसका ज्ञान प्राप्त हुआ होगा। परन्तु इस बात के अधिक प्रमाण हैं कि हिन्दुओं से ही ग्रीक लोगों को इस पद्धति का पूर्वरूप प्राप्त हुआ था। (४) जातकों की कल्पना तथा उसके सुधार के विषय में किसी राष्ट्र विशेष की प्रतिष्ठा नहीं है परन्तु इन दोनों देशों की पद्धति में जो साम्य है उससे स्पष्ट होता है कि इनकी उत्पत्ति अलग-अलग होना सम्भव नहीं। परन्तु इसकी मूल कल्पना किस की थी यह वाद हिन्दू और खाल्डियन लोगों के बीच में है, ऐसा मैं समझता हूँ। यदि व्यापक दृष्टि से विचार किया जाय तो हिन्दुओं के पक्ष में अधिक अनुकूल प्रमाण मिलते हैं। हिन्दू ग्रन्थों में जो तीन-चार अरबी या ग्रीक संज्ञाएँ हैं वे अर्वाचीन हैं। कुछ ग्रीक शब्द हिन्दू ग्रन्थों में मिलते हैं परन्तु ग्रीक और संस्कृत में ऐसे बहुत से साधारण शब्द हैं और दोनों भाषाओं की सुप्-तिङन्त पद्धति समान है। इससे यह कोई निष्कर्ष नहीं निकलता कि ग्रीक भाषा संस्कृत की जननी है। अतएव यदि दोनों भाषाओं में शब्दों की समानता है तो वह उपर्युक्त कारण से ही है। वे शब्द एक ही उद्‌गम स्थान से आये होंगे या अति प्राचीन काल में संस्कृत भाषा से ग्रीक भाषा में लिये गये होंगे। (५) हिरोडोटस कहता है कि ग्रीक देवताओं के नाम मिस्र देश से ग्रीस देश में आये। यहाँ देवता शब्द से ग्रह समझना चाहिए। इस उक्ति से ग्रहों के विषय में ग्रीक लोगों की जो धारणा थी वह स्पष्ट हो जाती है। ग्रहों के नामों से वारों के नाम प्रथम किसने रखे यह कहना अत्यन्त कठिन है। इस विषय में प्रो० एच० एच० विल्सन कहते हैं कि यह पद्धति ग्रीक लोगों को मालूम नहीं थी और रोमन लोगों ने भी बहुत अर्वाचीन काल तक उसको स्वीकार नहीं किया था। लोग साधारणतः ऐसा कहते हैं कि यह पद्धति मिस्री और बैबिलोनियन लोगों की थी, परन्तु इस बात का कोई आधार नहीं। इसलिए इस बात की कल्पना करने का श्रेय जितना दूसरे लोगों को दिया जाता है उतना हिन्दुओं को भी मिलना चाहिए।

अरब लोग स्वयं ऐसा नहीं कहते कि ज्योतिषशास्त्र के मूल कल्पक वे हैं। उनको ग्रीक ज्योतिष का ज्ञान होने के पहिले वे भारतीय ज्योतिष से विशेष रूप से प्रभावित हो चुके थे। इसके बाद उन्होंने टालमी के सिंटाक्सिस का अनुवाद किया और अरबी

से लैटिन में अनूदित होने के बाद उसका ज्ञान यूरोप को प्राप्त हुआ। लैटिन अनुवाद में राहु को "नोडस कैपिटिअस" (मस्तक सम्बन्धी पात) कहा है और केतू को "नोडस काडी" (पुच्छपात) कहा है। इस बात से यह स्पष्ट हो जाता है कि अरब लोगों पर हिन्दू ज्योतिष का कितना प्रभाव था। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि क्रान्ति-वृत्त के २७ विभाग की कल्पना अरबों ने की होगी।

ग्रहों की स्पष्ट गति निकालने की प्रक्रिया हिन्दू और ग्रीक पद्धति में समान है। इस विषय में मेरा मत है कि दोनों राष्ट्रों को एक दूसरे से कुछ न कुछ दिग्दर्शन अवश्य हुआ है और वह भी अति प्राचीन काल में, क्योंकि हिन्दुओं ने ग्रीक लोगों से क्या लिया यह इस समय निश्चयपूर्वक कहना असम्भव है। दोनों की संख्याएँ बिलकुल नहीं मिलतीं। अयनचलन का वर्षमान, पृथ्वी की तुलना में सूर्य और चन्द्र के आकारमान, सूर्य का परमफल इत्यादि महत्व के विषयों में ग्रीक लोगों से हिन्दुओं के मान अधिक शुद्ध हैं और हिन्दुओं के भगणकाल भी बहुत शुद्ध हैं। हिन्दू और ग्रीक लोगों ने एक दूसरे से बहुत ही स्वल्प सामग्री ली है और कोलब्रुक के मत के विरुद्ध यह कहने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि इस विषय की विचारधारा पश्चिम से पूर्व की ओर न बहकर पूर्व से पश्चिम की ओर बही होगी। दर्शन और धर्म के सम्बन्ध में और विशेषत: जन्मान्तर के सम्बन्ध में ग्रीक और हिन्दू शास्त्रों में इतना साम्य है कि कोलब्रुक के कथनानुसार इन विषयों में हिन्दू शिष्य न होकर शिक्षक थे। उसी प्रकार मैं कहता हूँ कि ज्योतिषशास्त्र के विषय में भी यह असंभवनीय नहीं मालूम होता।

थीबो का मत

पंचसिद्धान्तिका के उपोद्घात में थीबो लिखता है—"पञ्चसिद्धान्तिका में दिये हुए पाँच सिद्धान्तों से यह मालूम होता है कि हिन्दू ज्योतिष को अपने प्राचीन रूप से नया शास्त्रीय रूप कैसे प्राप्त हुआ। पैतामहसिद्धान्त में हिन्दू ज्योतिष का प्राचीन रूप दृष्टिगत होता है। वशिष्ठसिद्धान्त में ज्योतिष सिद्धान्त कुछ अधिक परिणत हुआ है तथापि शास्त्रीय सिद्धान्त की अपेक्षा वह कम योग्यता का है। बिलकुल देशी पद्धति के सिद्धान्त और ग्रीक पद्धति की नींव पर खड़े किये हुए नये सिद्धान्तों के मध्यवर्ती काल में वशिष्ठसिद्धान्त की रचना हुई होगी। शेष तीन सिद्धान्तों में वे आपस में कितने भी भिन्न क्यों न हों, ग्रीक पद्धति का पूर्ण प्राबल्य होने पर ज्योतिष को जो स्वरूप प्राप्त हुआ, वह स्वरूप उनमें विद्यमान है। वह स्वरूप प्रसिद्ध है इस कारण मैं उसका वर्णन नहीं करता। रोमन और पौलिश सिद्धान्तों में अंशतः साम्य है। कुछ बातों में सूर्यसिद्धान्त से उनका साम्य है।

सूर्यसिद्धान्त में अर्वाचीन हिन्दू ज्योतिष का पूर्ण स्वरूप स्थापित हुआ दिखाई देता है।....ग्रीक ज्योतिष और हिन्दू ज्योतिष में जो साम्य है उसका कारण यह है कि ज्योतिष के मूल तत्त्व हिन्दुस्तान में ग्रीकों से प्राप्त हुए इस विषय में अब किसी को शंका नहीं है। पश्चिम की ओर से जो ज्ञान मिला उसको रोमक और पौलिश सिद्धान्त में ग्रथित किया गया है। रोमकसिद्धान्त में यवनपुर के सूर्यास्त से अहर्गण साधा गया है और वर्ष सायन है और पौलिशसिद्धान्त में यवनपुर से उज्जयिनी का देशान्तर[1] बतलाया गया है।

यह बात काकतालीय न्याय से उपर्युक्त ग्रन्थ में आ गयी होगी, यह नहीं कहा जा सकता। हिन्दू ज्योतिष का मूल कहाँ है इस प्रश्न का उत्तर उपर की बातों से स्पष्ट हो जाता है, परन्तु हिन्दू सिद्धान्तों का ज्योतिष किस ग्रीक ग्रन्थ से लिया गया और कब लिया गया, इस विषय का विचार करते ही शंका उत्पन्न हो जाती है। टालमी ने जो ग्रीक ज्योतिष में सुधार किया था वह हिन्दू ज्योतिष में नहीं है अतएव ह्विटने कहता है कि टालमी के पूर्व जो ग्रीक ज्योतिष का स्वरूप था वह भारत में आया। दोनों में कई बातों में अन्तर है अतएव हमें मानना पड़ता है कि हिन्दू पद्धति टालमी के ग्रन्थ से निकली होगी, यह मत अग्राह्य है। परिधि-मान दोनों के भिन्न हैं, वैसे ही दूसरी बातों में भी बहुत अन्तर है। यदि यह माना जाय कि हिन्दुओं को टालमी के ग्रन्थ का ज्ञान था तो भिन्नता का कारण नहीं बतलाया जा सकता। तथापि यह कहना कि हिन्दू ज्योतिष का आरम्भ टालमी के पहिले हुआ था युक्तिसङ्गत नहीं है। टालमी के पूर्व ग्रीक ज्योतिशास्त्र की क्या अवस्था थी, इस विषय में हमारा ज्ञान सर्वथा अपूर्ण है। इसलिए इस प्रश्न का निर्णयात्मक उत्तर देना असम्भव हो गया है, तथापि इस विषय में जो दो-चार महत्त्व की बातें हैं वह मैं कहता हूँ। सूर्य-चन्द्र की गति की उपपत्ति हिपार्कस ने बैठायी थी, वही टालमी ने ली, यह प्रसिद्ध ही है। इसलिए यह असम्भव नहीं है कि जिन हिन्दू ग्रन्थों में सूर्य-चन्द्र की गति और उनके ग्रहणों का गणित है

---

१. पृष्ठ १६१ में "यवनाच्चरजा" इस आर्या का थीबो की पञ्चसिद्धान्तिका में "यवनान्तरजा" पाठ है और पूर्वापर सम्बन्ध से यही ठीक मालूम होता है। यदि यह पाठ लिया जाय तो यवनपुर से अवन्ती का घट्यादि देशान्तर ७।२० और काशी का ९ होता है। यवनपुर अलेक्जेंड्रिया का नाम है ऐसा प्रतीत होता है। वर्तमान सूक्ष्म गणना के अनुसार अलेक्जेंड्रिया से उज्जैन का देशान्तर ७।३८ और काशी का ८।५१ है। अतएव पञ्चसिद्धान्तिका के अनुसार उज्जयिनी का देशान्तर २ अंश कम और काशी का एक अंश अधिक है।

वह हिपार्कस तथा टालमी के मध्यवर्ती काल में लिया गया होगा। दूसरी बात यह है कि हिपार्कस ने पाँचों ग्रहों की मध्यगति की गणना की थी, उसमें टालमी ने विशेष कोई सुधार नहीं किया। इसके अतिरिक्त हिपार्कस के ध्यान में यह बात आ गई थी कि ग्रहगति की अनियमितता के दो भिन्न कारण मान लेने से उसकी उपपत्ति ठीक बैठ जाती है। परन्तु प्रत्येक ग्रह के मान निश्चित कर गणित करने की रीति उसने नहीं निकाली थी। पञ्च ग्रहों की गतिस्थिति की गणना करने का श्रेय टालमी स्वयं लेता है।

इससे यह अनुमान होता है कि सूर्यसिद्धान्त के समान ग्रन्थ जिनमें मन्द फल और शीघ्र फलरूपी संस्कार दिये गये हैं वे टालमी से अर्वाचीन हैं और इन संस्कारों का गणित टालमी के ग्रन्थ से प्रत्यक्षतः या परम्परया प्राप्त हुआ था। रोमक सिद्धान्त में केवल चन्द्र-सूर्य का गणित है। उसमें ग्रहगणित था या नहीं यह पञ्चसिद्धान्तिका से नहीं मालूम पड़ता। तथापि वह टालमी से प्राचीन है, यह सिद्ध करने के लिए कोई प्रबल प्रमाण नहीं है।

"वासिष्ठ और पौलिश सिद्धान्तों में ग्रहगणित है, ऐसा पञ्चसिद्धान्तिका के अन्तिम अध्याय से दीखता है। उस अध्याय के पूर्वार्ध में जो नियम दिये हुए हैं उनमें मन्द फल और शीघ्र फल इन दोनों का विचार है। परन्तु वह अध्याय अच्छी तरह समझ में नहीं आता, इसलिए इन नियमों का ग्रीक ज्योतिषियों से कितना सम्बन्ध है इस बात का विचार नहीं किया जा सकता। उस अध्याय के उत्तरार्ध के नियमों में केवल शीघ्र फल का ही उल्लेख है, मन्द फल का नहीं, इसलिए यह प्रतीत होता है कि उत्तरार्ध के ये नियम टालमी से पूर्व की अपरिपक्वावस्था के हैं। उनमें की मध्यम गति हिपार्कस और टालमी से सर्वथा भिन्न है, परन्तु यह कहने का कोई सबल कारण नहीं कि टालमी के पूर्व का ज्योतिषज्ञान अलेक्जेंड्रिया से भारत में आया था। हिन्दू ज्योतिष में कुछ बातें टालमी की अपेक्षा अपरिणत अवस्था में अवश्य वर्तमान हैं परन्तु इसका कारण यह है कि हिन्दू ज्योतिषियों का ध्यान प्रत्यक्ष प्रचलित गणित की तरफ था, सूक्ष्मता की ओर नहीं। दूसरा महत्त्व का कारण यह है कि अलेक्जेंड्रिया के अच्छे शास्त्रीय ग्रन्थों का ज्ञान हिन्दुओं के ज्योतिष ग्रन्थों में नहीं आया। बायो के कथनानुसार वह ज्ञान ग्रीक फल-ज्योतिषियों से और मेरे मत में पञ्चाङ्ग तैयार करने वाले साधारण ज्योतिषियों से ही प्राप्त हुआ था। उनका ज्ञान अपूर्ण होना स्वाभाविक है, इसलिए प्रामाणिक सिद्धान्तों से यदि उनके मत भिन्न हों तो आश्चर्य न होना चाहिए। ये नियम उनकी पुस्तकों में दिये होंगे। पौलिशसिद्धान्त में उपपत्ति नहीं दी हुई है, केवल गणितोपयोगी नियम दिये हुए हैं। उसी तरह के नियम उनकी पुस्तकों में रहे होंगे। ऐसा मान लेने से भारत में अलेक्जेंड्रिया से ज्योतिष ज्ञान कैसे आया यह समझ में आ

जाता है। ग्रीक ज्योतिष के अपूर्ण ज्ञान पर हिन्दू ज्योतिष की इमारत खड़ी की गयी है, इसलिए यद्यपि सूर्यसिद्धान्तादि ग्रन्थ मुख्तय: ग्रीक ज्योतिष के अनुयायी हैं तथापि उनमें कई बातों में नयी कल्पनाएँ और खोज हैं और यद्यपि मूल ग्रीक ग्रन्थों की तुलना में ये कल्पनाएँ और खोज कम योग्यता की हैं तथापि कहीं-कहीं उनमें नये प्रकार और युक्तियाँ दी हुई हैं जिससे उनकी योग्यता तथा चातुर्य का पता लगता है। उत्तम हिन्दू ग्रन्थों की पद्धति ग्रीक ग्रन्थों से वैसी की वैसी नहीं ली गयी है और न पूरी तरह से उन पर आधारित ही है। उसमें मिश्रण है और वह सुधारी हुई है और इस दृष्टि से मूल कल्पक होने का श्रेय सूर्यसिद्धान्तकार को मिलना चाहिए।"

मत की समीक्षा

अब इस मत की समीक्षा की जाती है। इससे यह निर्णय हो जायगा कि परदेशीय ज्योतिष से हमारे ज्योतिष का क्या सम्बन्ध है तथा उपसंहार में यह भी बतलाया जायगा कि हमारे ज्योतिष की वृद्धि कैसे होती गयी है। उसमें की महत्त्व की या वादग्रस्त बातों के विषय में मेरे सिद्धान्त क्या हैं, इस बात का भी प्रसंगानुरूप निरुपण किया जायगा। गणितस्कन्ध का विचार करने से यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि ग्रहों की मध्यम गति-स्थिति, स्पष्ट गति, स्पष्ट स्थिति निकालने की रीति, मन्द शीघ्र फलसंस्कारों के मान, अर्थात् वेधों से प्राप्त होनेवाले सब मान मूलतः हमारे ही हैं। ग्रीक ज्योतिष से कहीं हमारा सम्बन्ध आता हो तो इतना ही है कि मन्द शीघ्रोच्च से ग्रह का अन्तर यानी केन्द्र और तदनुसार ग्रहस्थिति में जो फरक पड़ता है यह तत्त्व विदेशियों से प्राप्त हुआ होगा। यह तत्त्व हमें टालमी से पूर्व ही अवगत होने के कारण इसके आगे हमारे ज्योतिष का विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ था। कुछ और छोटी-छोटी बातों का ज्ञान कदाचित् हमें विदेश से मिला हो। जातकस्कंध का विचार करने से यह मानना पड़ता है कि वह हमारे देश का ही है, इसकी उत्पत्ति मूलतः हमारे यहाँ ही हुई है। अब इस विषय में अपने प्रमाण उपस्थित करता हूँ।

प्रथम गणितस्कंध के विषय में विचार किया जाता है। पहिले यह सिद्ध करता हूँ कि पञ्चसिद्धान्तिका के सिद्धान्त टालमी से पूर्व के हैं जिससे दूसरी बातें भी स्वतः ही प्रमाणित हो जायँगी। उपर्युक्त पाँच सिद्धान्त टालमी के पूर्व के हैं यह पहले दिखाया जा चुका है।

थीबो के विचार में वे टालमी से अर्वाचीन ह इसलिए इस पर कुछ विस्तारपूर्वक विवेचन किया जाता है।

पञ्चग्रहों के मन्दफल, शीघ्रफल ये दो संस्कार वासिष्ठ, पौलिश और सौर सिद्धान्तों

में हैं। थीबो का कहना है कि ये संस्कार टालमी के ग्रंथ से प्राप्त हुए थे, इसलिए वे टालमी से अर्वाचीन हैं। मानो टालमी को जो साधन उपलब्ध थे वे दूसरों को प्राप्त होने पर भी उनसे निकलने वाले अनुमानों की कल्पना करने वाला दूसरा कोई व्यक्ति जगतीतल पर उत्पन्न हो ही नहीं सकता था। रोमक सिद्धान्त में पञ्चग्रहों का गणित नहीं है। इस ग्रन्थ से और हिपार्कस के ग्रन्थ से बहुत कुछ साम्य है, परन्तु थीबो का कहना है कि उसको भी टालमी के ग्रन्थ से अर्वाचीन मानना चाहिए। परन्तु थीबो की इस उक्ति के अतिरिक्त इन चार सिद्धान्तों को टालमी से अर्वाचीन मानने के पक्ष में और दूसरा कोई प्रमाण नहीं है।

मैं प्रथम यह दिखाना चाहता हूँ कि रोमक सिद्धान्त से दूसरे चार सिद्धान्त प्राचीन हैं। पैतामह सिद्धान्त रोमक सिद्धान्त से प्राचीन है, इस विषय में मतभेद नहीं है। शेष तीन सिद्धान्त उससे प्राचीन हैं इस विषय में पिछले पृष्ठों में मैंने दो प्रमाण दिये ही हैं। इसके अतिरिक्त वासिष्ठ सिद्धान्त की बातें पञ्चसिद्धान्तिका में हैं और वे रोमक सिद्धान्त की तुलना में इतनी बाल्यदशा में हैं कि वासिष्ठ सिद्धान्त रोमक सिद्धान्त से प्राचीन है, यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है। थीबो को भी यह बात मान्य है, ऐसा उनके उपर्युक्त मत से मालूम पड़ता है। अब पौलिश और सौर के विषय में विचार करना है। वासिष्ठ सिद्धान्त का वर्षमान पञ्चसिद्धान्तिका में नहीं है। यदि हो तो भी न तो डॉ० थीबो की और न मेरी समझ में वह आया। उसमें जो सूर्य स्पष्ट करने की प्रक्रिया है उससे वह मान करीब-करीब ३६५।१४।३२ आता है। वासिष्ठ सिद्धान्त की बातें इतनी बाल्यदशा में हैं कि उसके वर्षमान को आगे के किसी सिद्धान्त ने नहीं माना है। दूसरे सिद्धान्तो में वर्षमान करीब-करीब ३६५।१४।३१ है। पौलिश और सौर सिद्धान्त ही ऐसे हैं जिनमें वर्षमान दिया हुआ है। इन दोनों में यदि एक भी रोमक सिद्धान्त से पूर्व का न होता तो रोमक सिद्धान्त का वर्षमान इन सिद्धान्तों में आया होता; वह दूसरे सिद्धान्तों ने नहीं लिया इससे सिद्ध होता है कि इन दोनों में कम से कम एक रोमक से प्राचीन होना चाहिए। पौलिश और सौर सिद्धान्त में यदि तुलना की जाय तो पौलिश सौर से भी बाल्यावस्था का मालूम होता है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पौलिश रोमक सिद्धान्त से प्राचीन है। सारांश यह है कि पैतामह, वासिष्ठ और पौलिश रोमक से प्राचीन हैं। वासिष्ठ और पौलिश सिद्धान्तों में ग्रहों के मन्दफल और शीघ्रफल ये दो संस्कार दिये हैं इसलिये थीबो के कथनानसार टालमी के अनुयायी होने के कारण वे उससे अर्वाचीन हैं। परन्तु मजे की बात तो यह है कि इन सिद्धान्तों में मन्दफल और शीघ्रफल हैं ही नहीं। पञ्चसिद्धान्तिका के अन्तिम अध्याय में ग्रहों की मध्यम और स्पष्ट स्थिति निकालने के नियम

हैं। उन नियमों का एक नमूना यहाँ दिया जाता है। इससे मेरे कथन की सत्यता सिद्ध हो जायगी। शुक्र संबंधी गणित इस प्रकार है[1]—

"अहर्गण १४७ घटाकर शेष को ५८४ से भाग दीजिए, भागाकार (लब्धि) के जितने शुक्र के उदय होते हैं। इसी समय में शुक्र की (मध्यम) गति वृश्चिक के पाँच अंश (अर्थात् ७ राशि और ५ अंश) और २० कला होती है और शुक्र २६ दिन में (उदय के) कालांश के जितना जाकर पश्चिम में उदय होता है। अहर्गण में उदयसंख्या का ११वाँ अंश मिलाकर उससे शुक्रचार निकालना चाहिए। वह इस प्रकार है—प्रत्येक वार साठ-साठ अहर्गणों में क्रम से ७४, ७३ और ७२ अंश वह जाता है। आगे ८५ दिनों में ७७ अंश और उसकेआगे तीन दिनों में सवा अंश जाता है। फिर वक्री होकर १५ दिन में २ अंश जाता है। इसके बाद पांच दिन में वह पश्चिम में अस्त हो जाता है। इसके बाद २० दिन में वह मार्गी होता है। (इन तीनों बार प्रत्येक भ्रमण में) वह चार अंश जाता है। आगे२३२ दिनों में २५० अंश जाकर पूर्व में अस्त हो जाता है। फिर ६० दिनों में ७५ अंश जाकर पश्चिम में उदय होता है।" इसमें मन्द-शीघ्र-फलों के विषय में कुछ नहीं कहा है। इतना ही नहीं यह इङ्गित भी नहीं किया गया है। आकाश में दीर्घकाल तक शुक्रचार देखकर इन स्थूल नियमों का गणित पञ्चसिद्धान्तिका के अन्तिम अध्याय में दिया है। संहिता ग्रन्थों में ग्रहचार का विचार रहता है। इससे और भारत इत्यादि ग्रन्थों से यह स्पष्ट होता है कि ऐसे अनुभवों को प्राप्त करने की प्रवृत्ति हम लोगों में वर्तमान थी। इस विषय में दूसरा विशेष प्रमाण यह है कि गुरु के उदय से संवत्सरारम्भ करने की पद्धति बहुत प्राचीन काल से हमारे देश में प्रचलित थी। वह नक्षत्रों पर आधारित थी। अर्थात् तथोक्त ग्रीक लोगों से गणित प्राप्त करने के पहिले यह प्रचार में थी। यह पद्धति गणित पर आधारित न होकर केवल आकाश के प्रत्यक्ष अवलोकन द्वारा संवत्सरारम्भ का निर्णय करने की थी। अर्थात् इस पद्धति के लिए गुरु की गत का अनुभव सैकड़ों वर्ष तक करना पड़ा होगा। इसी अनुभव पर, गुरु की मध्यम और स्पष्ट गति के नियम बनाये गये होंगे। इतना ही नहीं, इस पद्धति का पूर्ण विचार करने पर यह निश्चय हो जाता है कि उनको बाध्य होकर ये नियम बनाने पड़े होंगे। उपर्युक्त अध्याय का गणित पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सौर सिद्धान्त के अहर्गणों में नहीं मिलता, ऐसा मुझे प्रत्यक्ष गणित करने पर मालूम हुआ। इसके अतिरिक्त पञ्चसिद्धान्तिका से सौर सिद्धान्त का ग्रह-स्पष्टीकरण बिलकुल भिन्न है। अतएव यह

---

१. थीबो की पञ्चसिद्धान्तिका, अ० १८, श्लोक १-५।

सिद्ध होता है कि इस अन्तिम अध्याय का गणित सूर्यसिद्धान्त का नहीं और वह मन्द-शीघ्रफल के ज्ञान पर आधारित न होकर केवल वेधों के अनुभव पर बैठाया हुआ है। सारांश यह कि पैतामह, वासिष्ठ और पौलिश सिद्धान्त रोमक से प्राचीन हैं।

हम पहिले दिखा चुके हैं कि रोमक सिद्धान्त हिपार्कस के ग्रन्थ के आधार पर रचित हुआ था। हिपार्कस और टालमी का अत्यन्त निकट सम्बन्ध था। अतएव जिस काल में रोमक सिद्धान्त भारत में आया उस समय यदि टालमी के ग्रन्थ की रचना हुई होती तो हिपार्कस के ग्रन्थ के साथ वह भी भारत में आ जाता। वह नहीं आया, अतएव यह सिद्ध होता है कि रोमक सिद्धान्त टालमी से प्राचीन है। अर्थात् पैतामह, वासिष्ठ, पौलिश और रोमक सिद्धान्त टालमी से प्राचीन हैं।

इसके अतिरिक्त इन चारों के और सौर सिद्धान्त के टालमी से प्राचीन होने के और भी दूसरे प्रमाण हैं। वे नीचे दिये जाते हैं।

हिपार्कस और टालमी के वर्षमान एक ही हैं। हम पहिले दिखा चुके हैं कि हम लोगों ने इन दोनों में से किसी का या और तीसरे किसी स्थान का वर्षमान नहीं लिया। वैसे ही ग्रह-मध्यमगति, मन्दोच्च और पात, मन्दकर्ण, विक्षेपमान, अयनचलन, रवि-चन्द्र के परम मन्द फल, पञ्चग्रहों के परम मन्द शीघ्रफल, क्रान्तिवृत्त का तिर्यक्त्व, सूर्य-चन्द्र के लम्बन, उदयास्त कालांश; इनमें की कोई बात टालमी से और हमारे सौरादि पाँच सिद्धान्तों से नहीं मिलती। यह हम तत्तद् विषयों के विवेचन में दिखला ही चुके हैं कि इनमें से किसी बात को हम लोगों ने टालमी से नहीं ग्रहण किया है। इतने पर भी थीबो का यह कहना कि हमारे ग्रन्थ और विशेषकर मन्दशीघ्र फल टालमी के आधार पर ही रचित हैं, आश्चर्य उत्पन्न करता है। दोनों की संख्याएँ नहीं मिलतीं, इसका कारण वह यह देता है कि हिन्दुओं ने सूक्ष्मता की ओर ध्यान नहीं दिया, परन्तु करण ग्रन्थों से जिनका परिचय है वे ऐसा नहीं कह सकते।

हमारे ग्रन्थों में रवि का उच्च ७५, ७८ अथवा ८० अंश है, और टालमी का रव्युच्च ६५$\frac{१}{२}$ अंश है। हिपार्कस का भी इतना ही होना चाहिए। ६५$\frac{१}{२}$ के स्थान पर कोई ६५ या ६६ कर सकता है पर नौ या दस अंश का अन्तर नहीं कर सकता। ज्योतिष-गणित का जिनको थोड़ा भी ज्ञान है वे इस बात से यह मानने के लिए बाध्य होंगे कि थीबो के कथन में कोई सार नहीं है। एक ग्रन्थ से गतिस्थित्यादिकों के अङ्क दूसरे ग्रन्थों में ग्रहण करने के समय हमारे ग्रन्थकार सूक्ष्मता की ओर कितना ध्यान देते थे, यह हमने गणितस्कन्ध के मध्यमाधिकार में, सब ग्रन्थों के परस्पर सम्बन्ध का आलोचना करते हुए, विस्तारपूर्वक दिखाया है। पञ्चसिद्धान्तिका, ब्रह्मगुप्त का खण्डखाद्य और भास्कर का करणकुतूहल इस विषय के स्पष्ट प्रमाण हैं। विकलाओं को न छोड़ने

के विषय में भी हमारे ग्रन्थकार जागरूक हैं। टालमी के ग्रन्थ वाले रवि चन्द्र और पञ्च-ग्रहों के गणित के विशेष प्रकार हमारे ग्रन्थों में नहीं हैं। टालमी के ग्रन्थ में "ज्या" हैं और हमारे ग्रन्थों में "ज्यार्ध" हैं। यह फर्क बहुत महत्व का है। ग्रीक ज्योतिष का पक्षपाती ह्विटने भी कहता है कि टालमी का सूर्यसिद्धान्त से कोई सम्बन्ध नहीं है। सारांश पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सिद्धान्त टालमी से प्राचीन हैं। ई० स० १५० पूर्व से ई० स० १५० तक की कालावधि में, ईसवी सन् के आरम्भकाल में रोमक सिद्धान्त भारतवर्ष में आया होगा। शेष सिद्धान्त उससे प्राचीन हैं। वे शक संवत् से दो-तीन सौ वर्ष पूर्व ही रचे गये होंगे और उनकी रचना के साधन कई शताब्दियों तक संग्रह किये जाते रहे होंगे। इनकी रचना का काल पैतामह, वासिष्ठ, पौलिश, सौर और रोमक इनके पूर्वापरत्व के अनुसार हुआ होगा, ऐसा हम पहिले ही बतला चुके हैं। वासिष्ठ सिद्धान्त में मेषादि विभाग हैं इसलिए उसका ई० स० ५०० से पूर्वकाल का होना सम्भव नहीं। कदाचित् उसकी रचना इसी काल में हुई हो। यदि उसको अपेक्षाकृत अर्वाचीन कहा जाय तब भी वह टालमी से कम से कम ५० वर्ष पूर्व का तो है ही, यह मानना पड़ेगा। इसलिए वह शकारम्भकाल के पूर्व का है। क्योंकि यदि हम मान लें कि रोमक सिद्धान्त टालमी के पूर्व भारत में आया तो मानना पड़ेगा कि वासिष्ठ और पौलिश सिद्धान्त उससे कम से कम ५० वर्ष पूर्व रचित हो गये होंगे। हिपार्कस का रोमक इस देश में आने के पूर्व ही पौलिश सिद्धान्त की रचना हो गयी थी, चाहे ई० स० ५०० वर्ष पूर्व से लगाकर शकारम्भ के काल तक कभी उसकी रचना हुई हो।

अलेक्जेंड्रिया के पौलस (paulus) के नाम पर पौलिश सिद्धान्त का नामकरण हुआ, ऐसा बेरुनी (India, Vol. I p. 153) कहता है। इस पर कई लोग कहते हैं कि पौलिश सिद्धान्त ग्रीक लोगों से हमारे यहाँ आया। परन्तु जिस स्थान पर बेरुनी ने यह बात कही है वहीं पर वह कहता है कि सूर्यसिद्धान्त को लाट ने बनाया, वासिष्ठ सिद्धान्त को विष्णुचन्द्र ने बनाया, रोमक को श्रीषेण ने और ब्राह्म सिद्धान्त को ब्रह्मगुप्त ने बनाया।' पञ्चसिद्धान्तिका के वासिष्ठ, रोमक, ब्राह्म सिद्धान्त क्रमशः विष्णुचन्द्र, श्रीषेण और ब्रह्मगुप्त ने नहीं बनाये हैं यह निर्विवाद है। इससे यह स्पष्ट है कि पञ्चसिद्धान्तिका के ये सिद्धान्त बेरुनी कथित तीन सिद्धान्तों से भिन्न हैं। बेरुनी ने पौलिश सिद्धान्त के जो मान जहाँ-जहाँ दिये हुए हैं वे पञ्च-सिद्धान्तोक्त पौलिश सिद्धान्त के मानों से नहीं मिलते। ब्रह्मगुप्त का जो एक वाक्य मैंने उद्धृत किया है उससे मालूम होता है कि पौलिश और यवन भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे। पुलिश संज्ञा संस्कृत में नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, इसलिए पञ्च-

सिद्धान्तिका के पौलिश से ग्रीकों का कोई सम्बन्ध न होना असम्भव नहीं। उत्पलोद्धत पुलिश सिद्धान्त वराह के समय में नहीं था। ब्रह्मगुप्त ने जिसको यवन कहा है उसी का वह होना चाहिए। अतएव उसका शक ४२७ से ४५० तक किसी समय होना सम्भव है।

मेषादि संज्ञाएँ

अब मेषादि संज्ञा और विभाग के विषय में थोड़ा विचार किया जाता है। मेषादि संज्ञाएँ हमारी नहीं हैं इस विषय में कोई दृढ़ प्रमाण नहीं मिलता। क्रिय, तावुरि इत्यादि ग्रीक संज्ञाएँ वराह के बृहज्जातक में आयी हैं, तथापि इनमें तथा मेषादि संज्ञाओं में मूल संज्ञा कौन सी है यह कैसे कहा जा सकता है? मेषादि संज्ञाओं का अनुवाद क्रिय, तावुरि इत्यादि हो सकता है और तद्विपरीत वे क्रिय, तावुरि इत्यादि शब्दों के भाषान्तर हो सकते हैं। तारका-पुञ्जों को आकृति देने की कल्पना हम लोगों में वर्तमान थी। मृगशीर्ष, हस्त, श्रवण, ये संज्ञाएँ आकृति पर से ही पड़ी हैं। तैत्तिरीय संहिता के नक्षत्रिय प्रजापति के विषय में यह बात हम पहिले ही बता चुके हैं। हस्त और श्रवण प्रदेश बहुत छोटे हैं, यदि ऐसा कोई कहे तो ध्यान में रखना होगा कि व्याध-युक्त सशीर्ष मृग और नक्षत्रिय प्रजापति में तारकापुञ्ज एक राशि से बड़े हैं। महाभारत और पाराशरसंहिता में ब्रह्मराशि शब्द आया है और उसको प्रत्यक्ष राशि की संज्ञा दी गयी है। इसलिए यह निश्चयपूर्वक कैसे कहा जा सकता है कि मेषादि संज्ञा की कल्पना हमारी नहीं थी? तथापि "मत्स्यौ घटी नृमिथुनं सगदं सवीणं" इत्यादि राशि लक्षण वराह ने दिये हैं। उनके आधारभूत दूसरे वचन यवनेश्वर और सत्य के ही दिये हैं, आर्ष वचन नहीं। मेषादि राशि सम्बन्धी कथाएँ पाश्चात्यों में मिलती हैं वैसी हमारे पुराणों में नहीं मिलतीं। और मेषादि राशि क्रान्तिवृत्त के बारह विभाग के रूप में हमारे ग्रन्थों में मिलती हैं, इसलिए केवल इतना ही कहा जा सकता है कि कदाचित् ये संज्ञाएँ मूलतः हमारी नहीं हैं। इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता।

परन्तु ध्यान देने की बात है कि केवल वारपद्धति और मेषादि संज्ञाओं में कोई विशेष महत्व नहीं है। ग्रह की स्पष्ट गति-स्थिति के ज्ञान और उनके प्रमेयों में ज्योतिष शास्त्र का महत्व है। हम लोग पहिले सावन दिन (अथवा तिथि) प्रथम द्वितीय ऐसा गिनते थे। उनकी जगह वारों का प्रयोग किया जाने लगा। अथवा १२ विभागों की षडशीति इत्यादि संज्ञाएँ हम लोगों की थीं, उनको छोड़कर मेषादि संज्ञाएँ ग्रहण कीं, इसमें विशेष कुछ नहीं हुआ। क्रान्तिवृत्त के १२ विभाग हम लोगों में पहिले से ही थे, यह हम वेदाङ्गज्योतिष के विचार से, पारस्करसूत्र तथा महाभारत ग्रन्थ के विचार

में, दिखा चुके हैं। उसी प्रकार वृत्त के ३६० अंश के कलात्मक ६० विभागों की पद्धति मूल में हमारी ही थी, यह हमने वेदाङ्गज्योतिष विचार में दिखाया है। राशिविभागों के अनुसार ग्रहस्थिति बताने की पद्धति मेषादि विभाग प्रचलित होने के बाद उपयोग में आयी, ऐसा प्रतीत होता है।

ग्रहस्पष्ट-गति प्रमेय हम लोगों ने ग्रीकों से लिया हो, यह सम्भव है। परन्तु वह वासिष्ठ सिद्धान्त में नहीं हैं। अर्थात् वासिष्ठ सिद्धान्त इसके पूर्व का है और मेषादि विभाग इस सिद्धान्त में दिये हुए हैं, इसलिए यद्यपि यह सम्भव है कि मेषादि विभाग हमारे यहाँ खाल्डिया या मिस्र से आये हों तथापि यह भी स्पष्ट है कि ग्रहस्पष्ट-गति प्रमेय उनके साथ हमारे यहाँ नहीं आया। आगे जाकर मैंने दिखाया है कि इस प्रमेय का ज्ञान हम लोगों में स्वतन्त्रतापूर्वक उद्भूत हुआ। इसलिए यद्यपि यह मान भी लिया जाय कि मेषादि संज्ञा और विभाग हम लोगों ने खाल्डिया अथवा मिस्र से लिये थे तथापि इससे हम लोगों में कोई न्यूनता नहीं आ जाती। ये संज्ञाएँ ई० स० के ५०० वर्ष पूर्व हमारे यहाँ आयी थीं, यह हम पहिले ही दिखा चुके हैं।

क्या हमने ग्रीकों से कुछ लिया ?

हम लोगों में वेध परम्परा, वेध-कौशल तथा अवलोकन की शक्ति नहीं थी यह आरोप सर्वथा मिथ्या है, यह हम द्वितीय भाग के आरम्भ में, विक्षेपमान-विचार, अयन-चलन-विचार और वेध प्रकरण तथा दूसरे संदर्भों में दिखा चुके हैं। दूसरे देशों में जो प्राचीन वेधों के उल्लेख मिलते हैं वे ई० स० पूर्व ७२० का ग्रहण और ई० स० पू० ४३०वें वर्ष में मेटन द्वारा किया हुआ उदगयनावलोकन, ये हैं। हमारे यहाँ उदगयनावलोकन ई० स० के १४०० वर्ष पूर्व किया गया था। पहिले भाग के उपसंहार में ग्रहगति स्थिति विषय का विवेचन किया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि हम लोगों में ग्रहस्थिति अवलोकन की प्रवृत्ति पहिले से ही थी। वासिष्ठ और पौलिश सिद्धान्तों में ग्रहस्पष्ट-गतिस्थिति का जो विवेचन पहिले किया गया है उससे यह स्पष्ट है कि हमारे पूर्वज खगोलस्थित पिण्डों का अवलोकन कर लिख रखते थे और उन पर से नियम बनाते थे, यह कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। सारांश यह कि वेधसिद्ध बातें भारतीयों को सूझ ही नहीं सकतीं, यह कहना व्यर्थ सिद्ध होता है।

अब हम इस बात का विवेचन करेंगे कि दूसरे देशों से हमने गणितस्कन्ध सम्बन्धी कौन सी बातें लीं। वर्षमान, ग्रह-मध्यमगति, मन्दोच्च और पात, मन्दकर्ण, विक्षेपों के मान, अयनचलन, रविचन्द्र-परममन्दफल, पांचों ग्रहों के परम मन्द और शीघ्रफल,

क्रान्तिवृत्ततिर्यक्त्व, सूर्यचन्द्र लंबन, उदयास्त कालांश; इनमें कोई बातें हम लोगों ने विदेशियों से नहीं सीखीं, यह हम तत्तद् विषयक विवेचन में दिखा चुके हैं। हिपार्कस को केवल रविचन्द्र-स्पष्टीकरण मालूम था, ग्रहस्पष्टीकरण का ज्ञान उसको नहीं था। वह टालमी के पूर्व किसी पाश्चात्य ग्रन्थ में नहीं मिलता, यह बात ग्रांट ने पाश्चात्य ज्योतिष के इतिहास में स्वीकार की है (देखो Grant's History of Astronomy, chapter xviii तथा थीबो की सम्मति)। प्रतिवृत्त कल्पना हिपार्कस की होनी चाहिए यह ह्विटने और कोलब्रुक के रुख से मालूम पड़ता है, परन्तु पञ्चग्रह स्पष्टीकरण पर हिपार्कस का कोई ग्रंथ नहीं है। अतएव यह कहने का अवकाश ही नहीं रह जाता कि हम लोगों ने पञ्चग्रहों के मन्दशीघ्रफल निकालने की रीति हिपार्कस से सीखी होगी। हिपार्कस और टालमी के वर्षमान एक ही हैं। क्रांतिवृत्त तिर्यक्त्व का सिद्धान्त टालमी ने हिपार्कस से लिया, यह ह्विटने भी स्वीकार करता है। सूर्यमन्दोच्च और रविपरमफल टालमी ने हिपार्कस से लिये होंगे ऐसा मैं पहिले दिखा चुका हूँ। इनमें से कोई सिद्धान्त हमारे ग्रन्थों में नहीं है। वैसे ही चन्द्र-सूर्य का परमलम्बन हमारा और हिपार्कस का एक नहीं है। कोलब्रुक ने कहा है कि चान्द्रमास का मान जितना हिन्दुओं का शुद्ध है उतना ग्रीक लोगों का भी नहीं था। वेधप्रकरण में हमने दिखाया है कि वेध लेने के यन्त्रों में भी हम लोगों को ग्रीक लोगों से कुछ नहीं मिला। इसलिए हिपार्कस और टालमी की कृतियों में जो कुछ उपलब्ध है उनसे प्रतिवृत्त कल्पना के अतिरिक्त हम लोगों ने कुछ नहीं पाया। इस विषय में और भी जो महत्व के प्रमाण हैं वह मैं नीचे देता हूँ--

हिपार्कस और टालमी को अयनचलन का ज्ञान था और उन्होंने उसकी गति का वर्षमान ३६ विकला ठहराया था। परन्तु हमारे प्रथम ज्योतिष ग्रन्थों में अयनचलन की कल्पना ही नहीं है। पीछे हम लोगों को स्वतन्त्र रूप से इसका पता लगा और हम लोगों ने इसका वर्षमान ६० विकला निश्चित किया। हमारे ग्रन्थ कभी क्यों न बने हों परन्तु उनके बनने के पूर्व हिपार्कस और टालमी के ग्रन्थों का यदि हमें ज्ञान होता तो उनकी अयनचलन कल्पना तथा उसके मान हमारे ग्रन्थों में आये बिना कैसे रह सकते थे? दूसरी बात यह है कि मन्दोच्च की भी गति होती है यह टालमी को मालूम नहीं था। हमारे ग्रन्थों में इसकी गति मानी है और आधुनिक ज्योतिष से भी यह सिद्ध हुआ है। तीसरी बात यह है कि ग्रीक ज्योतिष में रेखागणित का विशेष प्राबल्य है, हम लोगों में वह बिलकुल नहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि हिपार्कस तथा टालमी के ग्रन्थों में से हमें प्रतिवृत्त पद्धति के अतिरिक्त कुछ नहीं मिला।

यदि हमने ग्रीकों से कुछ प्राप्त किया हो तो वह हिपार्कस और टालमी के पूर्व

प्राप्त किया होगा। परन्तु विचार करने का विषय है कि टालमी और हिपार्कस के पहिले ग्रीकों के पास क्या था ? रविचन्द्र स्पष्टीकरण और पञ्चग्रह स्पष्टीकरण ये दो ज्योतिष में महत्व के विषय हैं। इनका ज्ञान हिपार्कस के पहिले पाश्चात्यों को था ही नहीं, यह सभी यूरोपियन ग्रन्थकार स्वीकार करते हैं। मन्द-फल-संस्कारपूर्वक चन्द्रसूर्य-स्पष्टीकरण करने की प्रक्रिया रोमक सिद्धान्त के यहाँ आने के पूर्व रचित पुलिश सिद्धान्त में दी हुई है। इस पर से यह स्पष्ट अवगत होता है कि वह हिपार्कस के पूर्व सिद्ध की गयी थी। अतः यह प्रश्न अनुत्तरित रह जाता है कि हमने ग्रीक लोगों से क्या लिया ?

म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।

इस श्लोक से यह परिणाम निकाला जाता है कि हम लोगों ने यवनों यानी ग्रीक लोगों से ज्योतिषशास्त्र सीखा। परन्तु स्मरण रखने की बात है कि इस वचन का सम्बन्ध मुख्यतः जातक से है, यह हम जातक विचार में दिखलायेंगे। ब्रह्मगुप्त के लेखानुसार यवनों का कोई गणित ग्रन्थ अवश्य था परन्तु वह उत्पलोद्धृत पुलिश सिद्धान्त था, जो वराह के बाद शक ४२७ से ५५० तक कभी रचा गया होगा, यह हम पहले दिखा चुके हैं। हमारा ज्योतिषशास्त्र मूल सूर्यसिद्धान्त में वराह से पहिले ही उत्तमावस्था को प्राप्त हो गया था। परन्तु पञ्चसिद्धान्तिका में एक स्थान पर यवनपुर से उज्जयिनी का देशान्तर दिया हुआ है। रोमक नगर में म्लेच्छावतार का रूप लेकर मैं तुम्हें ज्योतिष के ज्ञान का उपदेश करूँगा, यह सूर्य ने मय से कहा है। इस आशय का एक श्लोक सूर्यसिद्धान्त में मिलता है। वैसे ही—

भूमि-कक्षा-द्वादशांशे लंकायाः प्राक् च शालमले।
मयाय प्रथमप्रश्ने सौरवाक्यमिदम् भवेत्॥

शाकल्यब्रह्मसिद्धान्त अ० १

यह वाक्य[1] शाकल्यब्रह्मसिद्धान्त में है। आज तक किसी यूरोपियन के ध्यान में यह श्लोक आया हुआ नहीं मालूम होता, परन्तु इसका विचार निष्पक्ष रूप से किया जाना चाहिए। पृथ्वी के द्वादशांश पर यानी लंका से ३० अंश पूर्व मय और सूर्य का संवाद हुआ था यह इससे सूचित होता है।

---

१. यह वाक्य मुझे वें बा० केतकर न बतलाया। मुझे शाकल्य ब्रह्मसिद्धान्त की तीन प्रतियों में प्रथम अध्याय के १११ श्लोक तक का ही खण्ड मिला है, परन्तु केतकर की प्रति में इसके आगे भी कुछ श्लोक हैं जिनमें उपर्युक्त श्लोक भी सम्मिलित हैं।

भारतीयों को ज्योतिष ज्ञान प्राप्त होने के लिए लंका से ३० अंश पूर्व ऐसा कोई उपयुक्त स्थान नहीं है। अतः यह श्लोक विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। परन्तु सूर्यसिद्धान्त की कथा को इस वाक्य से समर्थन प्राप्त होता है और यवनों से हमारे ज्योतिष गणित का कुछ सम्बन्ध अवश्य है ऐसा प्रतीत होता है। दोनों की प्रतिवृत्तादि पद्धति कुछ अंशों में समान है इसलिए इस अनुमान को आधार मिलता है। परन्तु हमने उनके कोई मान ग्रहण नहीं किये हैं, यह भी स्पष्ट कर दिया गया है। अतएव पूर्ण विचार करने के बाद वर्जेस के कथनानुसार यही अनुमान करना पड़ता है कि दोनों राष्ट्रों को एक दूसरे से कुछ दिग्दर्शन अवश्य हुआ था और वह भी बहुत ही प्राचीन काल में हुआ था (मेरे मत में हिपार्कस के पहिले), क्योंकि अर्वाचीन काल में हिन्दुओं ने कुछ लिया यह यदि हम मान लें तो क्या लिया यह कहना कठिन है, क्योंकि दोनों की संख्याएँ बिलकुल नहीं मिलतीं।

अतएव दिग्दर्शन किसको किससे हुआ इसका विचार करना है। 'केन्द्र' संज्ञा बहुत महत्त्व की है मन्दशीघ्रोच्च से ग्रहों का जो अन्तर होता है उसको केन्द्र कहते हैं। और तदनुसार मन्दशीघ्रफल उत्पन्न होते हैं। केन्द्र शब्द ग्रीक या दूसरी किसी भाषा का होना चाहिए। वह संस्कृत का नहीं मालूम पड़ता। इससे यह प्रतीत होता है कि "केन्द्रानुसार ग्रहों की मध्यमस्थिति में अन्तर पड़ता है" यह तत्व यवनों से हमें प्राप्त हुआ। यह तत्व पहिले पहल पुलिश सिद्धान्त में दृष्तिगत होता है और जैसा कि हम बता चुके हैं यह सिद्धान्त हिपार्कस के ग्रन्थ के भारतवर्ष में आने के पहिले रचित हो चुका था। प्रतिवृत्त-पद्धति और उस पर आधारित गणित का उपयोग, ग्रहों की मध्यम स्थिति का निर्णय करने के लिए हिपार्कस के पहिले किसी ने नहीं किया था, ऐसा कोलब्रुक इत्यादि विद्वानों के अभिमतों से स्पष्ट है। परन्तु कोलब्रुक का कहना है कि हिपार्कस के पहिले प्रतिवृत्त की कल्पना अपोलोनियस ने की थी। इसी लिए अपोलोनियस या दूसरे किसी कल्पक के द्वारा साक्षात् या परंपरा से यह पद्धति भारत में आयी, परन्तु उस समय वह अपूर्ण स्थिति में थी। यही कारण है कि यद्यपि भारतीय तथा ग्रीक प्रतिवृत्त पद्धति में साम्य है तथापि वैषम्य काफी है। पुलिशसिद्धान्त का यवन-ज्योतिष से बस इतना ही सम्बन्ध है। पुलिश में भुजज्या का प्रयोग किया गया है, इसे हम लोगों ने यवनों से नहीं लिया है क्योंकि टालमी के ग्रन्थ में भी भुजज्या नहीं है। सारांश यह है कि यदि परकीयों से हम लोगों को कुछ मिला भी हो तो ग्रीक अथवा बैबिलोनियन लोगों से हमें उपर्युक्त नियम का दिग्दर्शन मात्र हुआ था, दूसरा कुछ नहीं मिला। वेधप्राप्त बातों इत्यादि का कोई क्रमबद्ध ज्ञान हमें प्राप्त नहीं हुआ। जितना कि यूरोपियन लोग समझते हैं उतने हम परकीयों के मुखापेक्षी नहीं रहे हैं।

प्राचीन काल में एक दूसरे से सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करने के मार्ग में कितनी अड़चनें थीं इसका विचार ह्विटने इत्यादि किसी ने नहीं किया। वर्तमान काल में हमारा और यूरोपियन लोगों का सम्बन्ध प्राय: ३०० वर्ष से है। इसमें ७५ वर्ष से तो इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है जिसका सहस्रांश भी प्राचीन काल में सम्भव नहीं था। इस अवधि में हम लोगों ने यूरोपियनों से कितना ज्योतिष सीखा है? पृथ्वी और दूसरे ग्रह सूर्य के चारों ओर घूमते हैं, इतना ही साधारण तत्त्व लोगों को अवगत होगा। परन्तु केवल वे लोग जिन्हें उच्च शिक्षा प्राप्त हुई है और जिन्होंने ग्रहों की गति के विषय में आधुनिक उपपत्तियों का सम्यक् अध्ययन किया है, इस तत्व को समझ सकते हैं। साधारण लोगों को इस विषय का कुछ भी ज्ञान नहीं। आधुनिक ज्योतिष की ग्रहस्पष्ट-गत्युपपत्ति में जितनी क्लिष्टता है उससे कहीं अधिक हमारे और ग्रीक गणित की उपपत्ति में थी। जिन लोगों को उपपत्ति समझ में आती भी हो उनमें कितने ग्रह-गणित करते हैं? यह सत्य है कि जो लोग उपपत्ति समझते हैं वे ग्रहगणित भी समझ सकते हैं और तदनुसार गणना भी कर सकते हैं। परन्तु इस काल में भी यूरोपियन ग्रन्थों की सहायता से ज्योतिष गणना करने वाले दस-पन्द्रह से अधिक विद्वान् हमारे देश में नहीं हैं! आज तक यूरोपियन ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया ज्योतिष गणित का भारतीय भाषाओं में केवल एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है और वह केरोपंत नाना का है। यदि इस समय ऐसी अवस्था है तो प्राचीन काल में जब ज्योतिषशास्त्र जाननेवाले विद्वानों से भेंट होना प्राय: असम्भव सा था और भेट हो भी गयी तो भाषान्तररूपी अड़-चन का उल्लंघन करना तो सम्भाव्य बातों के परे था, तब कुछ स्थूल विषयों को छोड़ कर एक दूसरे से शास्त्रीय सूचनामात्र मिलने के अतिरिक्त और क्या हो सकता था?

हमारा स्वतन्त्र प्रयत्न

रविचन्द्र-मध्यगति का विचार हम लोग वेदांगज्योतिषकाल में अर्थात् ई० स० के १४०० वर्ष पूर्व करने लगे थे। बार्हस्पत्य द्वादश-संवत्सरचक्र कश्यपादिकों के वचनों में है और वह नक्षत्रों पर आधारित है अत: उसका ग्रीकों से कोई सम्बन्ध नहीं। इसके अनुसार गुरु-भगण में सामान्यत: १२ वर्ष लगते हैं, यह बात हमें अति प्राचीन काल में ही ज्ञात हो गयी थी। इसी प्रकार अन्य ग्रहों के विषय में भी होना सम्भव है। यह सब ज्ञान हमें स्वतन्त्र रूप से ही प्राप्त हुआ था, जो पौलिश और वासिष्ठ सिद्धान्तों के ग्रहगणित से सिद्ध है। वृत्त के अंश-कलादि विभाग की कल्पना मूलत: हमारी ही है, यह हम वेदाङ्गज्यो-तिष का विवेचन करते समय तथा और अन्य कई प्रसंगों में दिखला चुके हैं। मूल वासिष्ठ सिद्धान्त का ग्रीकों से कोई सम्बन्ध नहीं। उसमें अंश कला विकला आदि विभाग

दिये हुए हैं। जिस काल में ग्रीक लोगों से हमारा परिचय होना सम्भव नहीं था उस काल में ही हम लोग ग्रहों की स्थिति, उनके वक्रमार्गित्व, उनकी युति इत्यादि विषयों का विचार करने लगे थे; यह बात हमने महाभारत के विवेचन में और प्रथम भाग के उपसंहार में स्पष्ट कर दी है। ग्रह उदित होने के बाद इतने दिनों में अस्त होगा, अन्यथा मार्गी या वक्री होगा इसके स्थूल नियम पञ्चसिद्धान्तिका में दिये हुए हैं। आजकल के ग्रन्थों में भी नियम दिये रहते हैं परन्तु उनको विशेष महत्व नहीं दिया जाता। पञ्चसिद्धान्तिका और खण्डखाद्य में इन नियमों को बड़ा महत्त्व दिया गया है। यह स्पष्ट है कि ये बातें पूर्व परम्परा के अनुसार लिखी गयी हैं, क्योंकि ग्रहस्पष्टगति की उपपत्ति को समझने से पूर्व ऐसे नियम बनाने के प्रयत्न स्वभावतः हमारे यहाँ किये गये होंगे। ऐसा सचमुच हुआ भी था, यह महाभारत में बार-बार आये हुए उल्लेखों से और पञ्चसिद्धान्तिका में दिये हुए तत्सम्बन्धी नियमों से स्पष्ट हो जाता है। सारांश यह कि अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि रविचन्द्र-स्पष्टीकरण और ग्रहस्पष्टीकरण के साधन तैयार करने के हमारे प्रयत्न स्वतन्त्र रूप से होते रहे। उन प्रयत्नों को केन्द्रानुसारी फलसंस्कार के तत्त्व की सहायता मिलते ही हिपार्कस और टालमी के समान यहाँ भी स्वतन्त्र विचार होकर मूल पुलिश और मूल सूर्यसिद्धान्त के रूप में वे प्रकट हुए। केन्द्रानुसारी फलसंस्कार के दिग्दर्शन के अतिरिक्त ग्रीक लोगों से हम लोगों को कुछ नहीं मिला, यह मान लेने से ही भारतीय और ग्रीक ज्योतिष में जो भिन्नता है वह स्पष्ट हो जाती है। यदि केन्द्र शब्द संस्कृत होता और मय-सूर्यसंवाद तथा यवनपुर के देशान्तर न दिये रहते तो बर्जेस के समान हमारा भी यही मत होता कि ज्योतिष गणित का दिग्दर्शन ग्रीक लोगों को भारतीयों से प्राप्त हुआ। यवनों से हमें जो सूचनाएँ मिलीं वे अवश्य महत्त्व की हैं और इसलिए हम लोगों ने उनकी उपयोगिता मानी है और मुक्त कंठ से इसे स्वीकार किया है। जिन भारतीयों ने उस दिग्दर्शन के आधार पर भारतीय ज्योतिष-मन्दिर की स्थापना की यह बात उनके लिए भूषणास्पद ही है।

टालमी के ग्रन्थ में अंश के ६० भाग और प्रत्येक भाग के ६० विभाग दिये हुए हैं। इस आधार पर बर्जेस ने यह कहने का साहस किया है कि टालमी से ही हिन्दुओं को ज्योतिष का सर्वस्व मिला है। परन्तु टालमी से पूर्व के वासिष्ठ सिद्धान्त में ये विभाग हैं और यह बात निर्विवाद है कि उनका मूल दिन के घटी-पलादि के साठ-साठ विभाग में पाया जाता है जो हमारा है। ग्रीकों में टालमी के अतिरिक्त कोई ६०।६० विभाग नहीं करता, इसलिए यह स्पष्ट है कि ये विभाग टालमी को भारतीयों से मिले थे।

ग्रहस्थिति-गणना का आरम्भस्थान मूल में रेवती नहीं था। वह शक ४४४ के

लगभग प्रचार में आया। ई० स० के प्राय: ५७९ वर्ष पूर्व वसन्त-संपात अश्विनी नक्षत्र में था यह हम पहले दिखा चुके हैं। अतः पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सिद्धान्तों के आरम्भ-स्थान अथवा अश्विन्यादि स्थान, तत्तत् सिद्धान्तों के रचनाकाल से शक ४४४ तक, स्थिर नहीं थे परन्तु वसन्तसंपात का यही स्थान था, ऐसा थीबो का कथन है। वासिष्ठ सिद्धान्त के सम्बन्ध में तो यह स्पष्ट ही है। पौलिश सिद्धान्त का आरम्भ-स्थान कौन सा था यह स्पष्ट नहीं है। परन्तु उसका वर्षमान निरयन वर्षमान के आसपास है इसलिए उसका आरम्भस्थान विषुवायनांश से मिलता हो ऐसा ही होना चाहिए। उस वर्षमान के बहुत दिन तक प्रचलित न रहने के कारण उस वर्षमान से उसमें कोई बाधा नहीं उत्पन्न हुई। सूर्यसिद्धान्त में गणितारम्भ कलियुगारम्भ से है। इसे और इसके वर्षमान को मान लेने से सायन मेष में मेषसंक्रमण होने का काल लगभग शक ४५१वें वर्ष में आता है। वराह-संहिता के अनुसार मूल सूर्यसिद्धान्त का रचनाकाल इतना अर्वाचीन नहीं है। यह काल जितना पीछे की ओर जायगा उसमें प्रति ६० वर्ष में एक अंश के हिसाब से भूल होगी। इससे यह अनुमान होता है कि वर्ष का मान या वर्तमान कलियुगारम्भ से गणित का आरम्भ मानना इन दोनों बातों में कोई एक बात मूलसूर्यसिद्धान्त में वराह के समय से भिन्न थी। और वराह ने जो-जो बातें दी हैं उनका वराह से पूर्व सौ दो सौ वर्षों में किसी ने प्रचार किया होगा। कुछ भी हो, टालमी के ग्रन्थ के कोई भी मान सूर्यसिद्धान्त में नहीं हैं और टालमी का सिद्धान्त कम से कम शक ५०० तक हमारे देश में नहीं आया था।[1] मूल सूर्यसिद्धान्त कभी का क्यों न हो उसमें भारतीय ज्योतिष का जो स्वरूप दृष्टिगत होता है वह उसको ग्रीक सहायता के विना प्राप्त हुआ था। केन्द्रानुसारी फलसंस्कार के व्यतिरिक्त और दूसरे कोई महत्त्व के सिद्धान्त हम लोगों ने ग्रीक लोगों से लिये थे, इसका एक भी प्रमाण आजतक किसी ने नहीं दिया है।

सिद्धान्त-स्थापना काल

हिपार्कस के पूर्व ई० सन् से दूसरी या तीसरी शताब्दी पहिले, जब ग्रीक लोग भारत में अधिक मात्रा में आते-जाते थे, उस समय यह तत्त्व भारत में आया होगा। उस तत्त्व का ज्ञान होने के पहिले ही इस देश में ग्रह-गति-स्थिति निकालने की पर्याप्त सामग्री संगृहीत हो गयी थी। उसके आते ही पुलिश-सिद्धान्त रचा गया होगा। इसके बाद रोमक सिद्धान्त तैयार हुआ। तत्पश्चात् हमारे ज्योतिष का मूल सूर्यसिद्धान्त में जो

---

१. आगे राजा जयसिंह तक हमारे देश में उसके आने का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

रूप प्राप्त है वह सम्पन्न हुआ, परन्तु यह कहना कठिन है कि यह शकारम्भ के पूर्व हुआ या उसके कुछ वर्ष बाद।

संहिता

संहिता-स्कन्ध के विषय में कोई झगड़ा नहीं है। उसमें पदार्थविज्ञान शास्त्र की बहुत सी शाखाएँ हैं। तीनों स्कन्धों में हमारा ध्यान इस स्कन्ध की ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ था, यह बात इस स्कन्ध का साधारण अवलोकन करने से ही दृष्टिगत होती है। यह स्कन्ध हमारा है यह बात जितनी सत्य है उतनी भषणास्पद भी है।

जातक स्कन्ध

अब यह विचार करना है कि क्या जातक-स्कन्ध हम लोगों ने पाश्चात्यों से लिया था? इस विषय का समाधानकारक विवेचन व्हिश और वेबर ने किया है,[1] ऐसा ह्विटने लिखता है। यह लेख मैंने स्वयं नहीं देखा है। इसलिए इस विषय में इन विद्वानों को विचार करने का कितना अधिकार था, उसके सामने कौन से साधन उपस्थित थे और उनके तर्क क्या हैं यह मुझे ज्ञात नहीं, परन्तु इस विषय में साधक-बाधक प्रमाण जो मुझे मिले हैं उन्हीं के आधार पर नीचे विचार किया गया है।

जैकोबी[2] ने लिखा है कि द्वादश घरों की जन्मकुण्डली से फल बताने की जातक पद्धति फारमीकस मैटरनस (ई० स० ३३५-३५४) के ग्रन्थ में मिलती है। इसके पश्चात् यदि वह भारत में आयी हो तो उसको आने में कोई ५० वर्ष लगे होंगे। तब से वराह तक (ई० स० ५०० तक) ५०-७५ वर्ष की अवधि में इस विषय के ६ आर्य ग्रन्थ-कार और ५ आर्ष ग्रन्थकार होना बिलकुल ही असम्भव मालूम होता है। इसी एक प्रमाण से जातक मूलतः हमारा ही है यह निर्विवाद सिद्ध होता है। टाइट्रा बिब्लास (Titrabiblas) नामक जातक ग्रन्थ टालमी का कहा जाता है और अलमाजेस्ट फलग्रन्थ भी टालमी का है, यह भी कोई-कोई कहते हैं परन्तु यह प्रमाणित नहीं है। इसको यदि सत्य भी माना जाय और यह मान लें कि उसका ग्रन्थ भारत में आया तो उसके समय (ई० स० १५०) से वराह के समय तक ३५० वर्ष होते हैं। परन्तु वराह से पहिले सात-आठ सौ वर्ष पूर्व से जातक पद्धति हमारे देश में थी यह हम ऊपर दिखा चुके हैं। दूसरी बात यह है कि अथर्वज्योतिष में जातक पद्धति

---

१. देखो ह्विटने का लेख Trans. of Literary Society, Madras (1827) और वेबर का लेख (Indische Studien, 11 p. 236)

२. Weeber, History of Indian Literature, p. 251.

के मूलतत्त्व निहित हैं। उसमें १२ के स्थान पर केवल नौ स्थान हैं। नौ में जन्म, संपत्, नैधन अर्थात् पहला, दूसरा तथा सातवाँ स्थान वर्तमान द्वादश स्थानवाली कुण्डली के १।२।८ स्थानों से मिलते हैं। अथर्वज्योतिष में जन्म से १०वाँ नक्षत्र कर्म नक्षत्र है। आधुनिक पद्धति में १०वाँ स्थान कर्म स्थान है। अथर्वज्योतिष के ९ स्थान वर्तमान जातक के १२ स्थानों के किसी न किसी स्थान में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। अथर्व-ज्योतिष की जातक पद्धति भृगुक्त कही जाती है। अथर्व-ज्योतिष मेषादि संज्ञा प्रचार में आने के पहिले यानी शकारम्भ के ५०० वर्ष पूर्व से ही प्रचलित है, यह हम पहिले दिखला चुके हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि जातक पद्धति शकारम्भ से ५०० वर्ष के पहिले से हमारे देश में स्वतन्त्र रूप से प्रचलित थी। मेषादि संज्ञाओं की कल्पना हमारे देश में उद्‌भूत होने के बाद या परदेश से इस देश में आने के बाद सम्प्रति जो जातक पद्धति प्रचलित है उसका प्रचार इस देश में हुआ होगा। अथर्वज्योतिष में जन्मकुण्डली का पहिला स्थान चन्द्र का था, प्रचलित जातक पद्धति में पहिला स्थान लग्न का है, यही कालान्तर में उसमें मुख्य अन्तर हुआ। इस सम्बन्ध में एक बड़े महत्त्व की बात यह भी है कि जातक में लग्न का जो अर्थ है वही अर्थ वासिष्ठ सिद्धान्त में भी है। जन्मकुण्डली बनाने की पद्धति उत्पन्न होने के कारण ही यह शब्द वासिष्ठ सिद्धान्त में आया होगा। अन्यथा इसका और दूसरा कोई कारण नहीं हो सकता। यह पहिले सिद्ध कर चुके हैं कि वासिष्ठ सिद्धान्त शकारम्भ से लगभग ५०० वर्ष पूर्व का है और अन्ततोगत्वा टालमी से ५० वर्ष पूर्व का है। अतः जिस समय ग्रीस में जातक ग्रन्थ नहीं बने थे उस समय हमारे यहाँ जातक का अति महत्त्व का शब्द 'लग्न' प्रचार में आ गया था और जन्मकुण्डली का जातक शास्त्र उत्पन्न हो गया था। वृहत्संहिता के ग्रहचाराध्याय में (अ० १०४) ग्रहगोचर फल दिये हुए हैं। उसमें प्रथम स्थान चन्द्र का है। उस अध्याय में मांडव्य का उल्लेख है। मांडव्य आर्ष ग्रन्थकार था। इस मांडव्य के ग्रन्थ में चन्द्रकुण्डली मुख्य थी अथवा कम से कम चन्द्र की स्थिति पर से विचार किया गया था। मेषादि १२ राशियाँ प्रचार में आने पर अथर्वज्योतिष के ९ स्थानों की चन्द्रकुण्डली के स्थान पर १२ स्थानों वाली राशि-कुण्डली की कल्पना होना स्वाभाविक है। अतः जन्मकुण्डली की पद्धति पराशर, गर्ग आदि किसी ऋषि ने प्रचलित की, यह मानना सयुक्तिक है। हमारी यह पद्धति कालान्तर में पश्चिम की ओर गयी और यवनों ने इस शास्त्र पर ई० सन् के १५० वर्ष बाद अपने ग्रन्थ लिखे। स्मरण रखना चाहिए कि टालमी के पहिले ग्रीस में किसी जातक ग्रन्थ का पता नहीं चलता। यह हो सकता है कि उसने उसे कुछ बढ़ाया हो। तीसरी महत्त्व की बात यह है कि यवनेश्वर और वराह का मतभेद उत्पल ने बहुत से स्थानों में दिखाया है, सत्याचार्य का मत वराह

ने जगह-जगह लिया है। उसी का मत उसको ग्राह्य था, यह बृहज्जातक से सिद्ध होता है। यदि यवन आद्य ग्रन्थकार होते तो इतना मतभेद होना संभव नहीं था और दूसरे ग्रन्थकारों की अपेक्षा उनको अधिक महत्त्व देना पड़ता, परन्तु ऐसा उसने नहीं किया, जिससे यह स्पष्ट है कि यवन आद्यग्रन्थकार नहीं थे।

म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविद्द्विजाः ।।१५।। बृह० सं० अ० २

गर्ग के इस श्लोक को वराह ने उद्धृत किया है। इस श्लोक में यही कहा गया है कि यवनों में भी यह शास्त्र अच्छी अवस्था में है। इस श्लोक से कोई-कोई अनुमान करते हैं कि सारा का सारा ज्योतिष शास्त्र हम लोगों ने यवनों से लिया, परन्तु यह भूल है। इस श्लोक का पूर्वापर सम्बन्ध देखने से यह पता चलता है कि इसका गणित स्कन्ध से कोई सम्बन्ध नहीं और ज्योतिषगणित ही ज्योतिष की सर्वस्व या मुख्य शाखा है यह हमारे शास्त्रज्ञ नहीं मानते, जातक और संहिता को ही मुख्य शाखा मानते हैं। संहिता शाखा का यवनों से कुछ सम्बन्ध है ही नहीं इसलिए उपर्युक्त श्लोक जातक के सम्बन्ध में है, यह उसमें के 'दैववित्' शब्द से स्पष्ट हो जाता है। यवनों में भी यह शास्त्र अच्छी अवस्था में प्रचलित है इसलिए वे म्लेच्छ भी पूजनीय हैं, फिर दैववित् द्विजों की बात ही क्या? यही इस श्लोक का तात्पर्य है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि सारा का सारा जातक शास्त्र हम लोगों ने यवनों से लिया।

यावनी संज्ञाएँ हमारे जातक ग्रन्थों में हैं, इससे बहुत लोग कल्पना करते हैं कि जातक शास्त्र मूल में यवनों का था, परन्तु यह सरासर भूल है। इस विषय पर विचार करना आवश्यक है। बृहज्जातक में ग्रीक भाषा के ३६ शब्द हैं, ऐसा वेबर और कर्न का कथन है। वे शब्द कहाँ-कहाँ हैं और उनके क्या अर्थ हैं, वह नीचे बताया जाता है। अध्याय १ के ८वें श्लोकों में १२ राशियों के ये नाम आये हैं–(१) क्रिय (२) तावुरि (३) जितुम (४) कुलीर (५) लेय (६) पाथेन (पाथोन) (७) जूक (८) कौर्प्य (९) तौक्षिक (१०) आकोकेर (११) हृद्रोग (१२) इत्थम्। इसके अतिरिक्त श्लोक ९ में होरा (राशि का द्वितीयांश), द्रेष्काण (राशि का तृतीयांश), श्लोक १५ में रिफ्फ (कुण्डली का १२वाँ स्थान), श्लोक १६ में द्यून (सातवें स्थान), श्लोक १७ में केन्द्र (१, ४, ७ और १०वें स्थान), श्लोक १८ में पणफर (२, ५, ८ और ११वाँ स्थान), अपोक्लिम (३, ६, ९ और १२वें स्थान), हिबुक (चौथा स्थान), यामित्र (सातवाँ स्थान), त्रिकोण (पाँचवाँ स्थान), मेषूरण (१०वाँ स्थान), श्लोक २० में वेशि (सूर्य जिस स्थान में हो उससे आगे का स्थान), अध्याय २ श्लोक २ में हेलि (सूर्य),

हिम्न अथवा हेम्न (चंद्र), आर (मंगल), कोण (शनि), श्लोक ३ में आस्फुजित् (शुक्र), अध्याय १३ श्लोक ३ में सुनफा, अनफा, दुरुधर, केमद्रुम (रवि के अतिरिक्त शेष कोई ग्रह चन्द्र से दूसरे स्थान पर हो तो सुनफा, द्वादश स्थान में रहने पर अनफा और दोनों स्थान पर दो ग्रह होने पर दुरुधर होता है। तीनों में एक भी योग न हो तो केमद्रुम योग होता है), अध्याय ७ श्लोक १० में लिप्ता (कला) यह गणित का शब्द आया है। ये ३४ शब्द हुए। इनके अतिरिक्त ज्यौ और द्युत ये दो शब्द हैं। द्युत या द्यूत मेरे देखने में नहीं आया। यदि यह शब्द कहीं प्रयुक्त हुआ हो तो यह किसी स्थान का वाचक होगा। वेबर का कहना है कि ज्यौ शब्द अध्याय २ श्लोक ३ में आया है परन्तु वह शब्द उक्त श्लोक में नहीं पाया जाता। ईज्य शब्द है परन्तु वह संस्कृत में गुरू के अर्थ में प्रसिद्ध है। उत्पल ने उसको 'ईज्य' ही पढ़ा है। इत्थम् शब्द को संस्कृत के 'इस प्रकार' के अर्थ में ही उत्पल ने लिया है। कुलीर शब्द संस्कृत है और कर्कट का समानार्थक है। हृद्रोग, त्रिकोण, हेम्न, कोण शब्द ग्रीक ही हैं संस्कृत नहीं, यह कौन कह सकता है? यदि इन सब शब्दों को ग्रीक ही मान लिया जाय तो इससे क्या होता है, मेरी समझ में नहीं आता। बारह घरों की कुण्डली हमारे यहाँ थी ही नहीं, वह हम लोगों ने ग्रीक लोगों से ली, यह इन शब्दों के कारण सिद्ध नहीं होता। कुण्डली की कल्पना हमारे देश में ही उद्भूत हुई यह हम पहिले दिखा चुके हैं और यदि यह बात सत्य है तो कुछ यावनी शब्द हमारे ग्रन्थों में आ गये हों तो इसमें कौन सा महत्त्व है? इससे इतना ही सिद्ध होता है कि जातक स्कन्ध के कुछ यावनी ग्रन्थ हमारे देश में प्रचलित थे। ये ग्रन्थ प्रचलित थे इसलिए ये उपर्युक्त शब्द भी प्रचार में आ गये।

आजकल 'बुक' शब्द मराठी में प्रचलित है। और हो सकता है कि कालान्तर में इस शब्द का प्राबल्य होकर पुस्तक शब्द केवल ग्रन्थों में रह जाय। इससे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि पुस्तक की कल्पना हमारे यहाँ हुई ही नहीं। यही बात उपर्युक्त प्रायः ३६ शब्दों की है। इसके अतिरिक्त यह भी बात है कि एक शब्द के पर्यायवाचक अनेक हों तो कविता में छन्द के अनुरोध से किसी शब्द विशेष का प्रयोग हो जाता है। इस प्रकार इन छत्तीस शब्दों में से अधिकांश शब्द छन्द के सौकर्य के लिए प्रयुक्त हुए हैं। बहुत स्थानों पर उनके संस्कृत पर्याय भी हैं। ३६ शब्दों में १२ तो बारह राशियों के वाचक हैं परन्तु तदर्थवाचक दूसरे संस्कृत शब्द भी हैं ही। हेली इत्यादि छः शब्द ग्रहवाचक हैं, उनके लिए भी संस्कृत शब्द हैं। ग्रहों का ज्ञान हमें स्वतन्त्र रूप से हुआ, यह निर्विवाद है। रिफ्फ, द्यून इत्यादि ११ शब्द कुण्डली के स्थानों के वाचक हैं। किन्तु उनके लिए भी संस्कृत के पर्याय मौजूद हैं। शेष होरा, द्रेष्काण, सुनफ़ा, अनफा, केमद्रुम और दुरुधर इनका विचार रह गया। इनके पर्यायवाचक संस्कृत शब्द नहीं

हैं। सुनफा इत्यादि ४ योग हैं जिनको हमनें ग्रीक ग्रन्थों से लिया होगा। परन्तु यह कोई महत्त्व की बात नहीं है। हमारे ग्रन्थों में सैकड़ों योग हैं; उनके अतिरिक्त ये ४ योग जो हमें उपयोगी मालूम हुए वे यावनी ग्रन्थों से हमने लिये। होरा और द्रेष्काण ये दो शब्द अवश्य ही बड़े महत्त्व के हैं, परन्तु जन्मकुण्डली का सर्वस्व इनमें नहीं भरा पड़ा है। हमारी द्रेष्काणपद्धति खाल्डी और मिस्री पद्धति से कुछ भिन्न है यह कोलब्रुक ने भी स्वीकार किया है। परन्तु इनमें कुछ साम्य अवश्य हैं और द्रेष्काण शब्द संस्कृत का नहीं है इसलिए कोलब्रुक ने इसको महत्त्व देकर जातक हमारा नहीं है, यह मान लिया। पर यह उसकी सरासर भूल है।

होरा और द्रेष्काण की जातक में सर्वत्र आवश्यकता होती है पर उनका बहुत महत्त्व है यह नहीं कहा जा सकता। जिसने जातक का सम्यक् अध्ययन किया है उसे यह बात सहज ही समझ में आ सकती है। इन दोनों का महत्त्व सैकड़े में ५ से भी कम है। अतएव यद्यपि हमारे जातक में यवनों के ३६ शब्द हैं तथापि यह सिद्ध नहीं होता कि हमारा जातक मूलतः हमारा नहीं है।

सारांश यह है कि जातक पद्धति आरम्भ से हमारी ही है। उसमें कुछ यावनी शब्द और विचारपद्धति सम्मिश्रित हो गयीं, बस यही हमारे जातक स्कन्ध का यवनों से सम्बन्ध है।

पूर्वापर विचार

हमारे ज्योतिष शास्त्र की वृद्धि क्रमशः कैसी होती गयी यह हम पहले दिखा चुके हैं। वराहमिहिर के पूर्व के और ब्रह्मगुप्त से राजमृगांक तक के गणित ग्रंथ हमें यदि उपलब्ध होते तो ज्योतिष शास्त्र की अभिवृद्धि का इतिहास अधिक मात्रा में हमें प्राप्त होता। संहिता स्कन्ध में नयी खोज होना वराहमिहिर के बाद थोड़े दिनों ही में बंद हो गया था। गणित स्कन्ध लगभग शक १००० तक वृद्धिगामी था। भास्कराचार्य के ग्रन्थों के कारण दूसरे पूर्व के ग्रन्थों का लोप सा हो गया और तब से भास्कर के ग्रन्थों की उपपत्तियों का ज्ञान ही ज्योतिःशास्त्र के ज्ञान की पराकाष्ठा माना जाने लगा। ग्रहस्थिति दृग्विसंवादी होने लगी, तब सूर्यसिद्धान्त-बीजकल्पक[1] कोई उत्पन्न हुआ, फिर केशव दैवज्ञ तथा गणेश दैवज्ञ उत्पन्न हुए और उन्होंने ग्रहशुद्धि की, परन्तु ज्योतिःशास्त्र को बराबर प्रगतिशील रखने का काम उनसे भी नहीं हुआ।

वेध लिख रखने की परम्परा चालू न होने के कारण जो बीज संस्कार हुए वे तत्तत् काल के लिए ही सीमित रहे। इसके अतिरिक्त वे कहीं-कहीं सूक्ष्म भी नहीं थे। अतएव

---

१. यह व्यक्ति कौन था इसका पता नहीं लगता।

इससे यह बड़ी हानि हुई कि वेध से ग्रहों का जो अंतर दृष्टिगत हुआ वह अंतर कलियुगारम्भ से ही हुआ होगा यह अधिकांश लोगों का मत हो गया। इसलिए वे बीजसंस्कार यद्यपि थोड़े वर्षों के लिए थे तथापि दीर्घ काल में विभाजित किये जाने लगे। अतएव वे दीर्घ कालोपयोगी सिद्ध न हो सके और कहीं-कहीं निरुपयोगी भी सिद्ध हुए। इसका बड़ा उदाहरण यह है कि जो वर्षमान पहिले से आ रहा था उसकी शुद्धता की ही नहीं गयी। इसलिए वर्तमान पञ्चाङ्गशुद्धि के मार्ग में जो सबसे बड़ी समस्या है वह वर्षमान को शुद्ध करने की है। ब्रह्मगुप्त ने प्रथम अनुभव किया कि विषुवदिन पहिले से पीछे हटा है, परन्तु अंतर का मान यद्यपि आर्यभट के समय से अर्थात् केवल १५० वर्ष का था तथापि परम्परागत विश्वास के कारण कलियुगारम्भ से इतना अंतर पड़ा होगा ऐसा समझकर ३७०० वर्षों मे उसको बाँट दिया गया। ऐसा न होता तो ब्रह्मगुप्त ने भी सायन वर्षमान का प्रचार किया होता। और उसने ऐसा कर दिया होता तो आज इसके लिए इतने प्रयास न करने पड़ते। केशव और गणेश दैवज्ञ के वेध भी बहुत उपयोगी सिद्ध नहीं हुए। उनको यदि पिछले वेध उपलब्ध होते तो वे अपने वेधों को जाँच सकते। सारांश यह कि यद्यपि तत्तत् समय के लिए ग्रहशुद्धि की गयी तथापि परवर्ती काल के लिए वे अशुद्ध ही बने रहे।

हमारे प्राचीन ग्रन्थ अपौरुषेय हैं और सर्वाङ्गपूर्ण हैं यह विश्वास ज्योतिष शास्त्र की उन्नति के लिए बड़ा घातक सिद्ध हुआ। वैसे ही यद्यपि आर्यभट तथा ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थ पौरुषेय थे तथापि उनमें अपौरुष ग्रन्थों के समान श्रद्धा हो जाने के कारण इस शास्त्र की क्रमोन्नति के मार्ग में अनुल्लंघनीय बाधाएँ उपस्थित हो गयीं। जब ग्रहस्थिति अनुभव से न मिलने लगी तब उसमें तत्काल मात्र के लिए ही संस्कार किया जाने लगा और वह संस्कार स्वतंत्र रूप से नहीं वरन् मूल ग्रन्थों में बीज के नाम से। फलतः ज्योतिषियों की यह धारणा हो गयी कि इससे अधिक उनका कोई कर्तव्य नहीं है। इस कारण तथा राज्याश्रय से वेध लेने की दीर्घ काल की परम्परा बंद हो जाने के कारण यूरोप खंड में जो नयी-नयी शोध की गयीं वैसी हमारे यहाँ सर्वथा असम्भव हो गयीं। राज्याश्रय बंद होने के कारण ज्योतिषियों को अपने कर्तव्य का ज्ञान नहीं रहा और ज्योतिषियों की इस उदासीनता के कारण राज्याश्रय भी बन्द हो गये। मुसलमानों का प्राबल्य होने के कारण दक्षिण में शक १३०० के बाद और उत्तर खंड में उससे भी पहिले बड़े-बड़े एतद्देशीय राज्य लुप्तप्राय हो गये और देश की शान्ति नष्ट हो गयी। इस अशान्त स्थिति ने ज्योतिःशास्त्र की अभिवृद्धि में ऐसे प्रतिबंध खड़े कर दिये जो दीर्घकाल तक हटाये न जा सके।

इस प्रतिकूल परिस्थिति में भी कोंकण के नांदगाँव, गोदावरी तीर के पार्थपुर,

गोलग्राम इत्यादि छोटे छोटे गाँवों में, काशीस्थ विद्यापीठ में, केशव और गणेश दैवज्ञ के ऐसे वेधकार, कमलाकर के समान उपपत्तिवेत्ता, पद्मनाभ के समान यंत्रकार व्यक्तिशः हो गये, यह हमारे लिए कम भूषणास्पद नहीं है। मराठों और पेशवाओं के राज्यकाल में इस (महाराष्ट्र) प्रान्त में थोड़ी शान्ति स्थापित होने के साथ-साथ चिंतामणि दीक्षित नामक यंत्रकार ने नष्टप्राय वेध-परम्परा को पुनर्जीवित किया और कुछ तो ग्रहलाघव के समान ग्रन्थों के कारण और कुछ दूसरे कई कारणों से नष्टप्राय उपपत्तिज्ञान लघुचिन्तामणि-टीकाकार यज्ञेश्वर के द्वारा पुनः स्थापित होते-होते पेशवाओं की सत्ता नष्ट हो गयी। दिल्ली, उज्जयिनी, जयपुर और काशी में आरम्भ किये हुए प्रयोग राजकीय अव्यवस्था के कारण वंद हो गये। अंगरेजी राज्य स्थापन होने के वाद से देश में शान्ति हो गयी, विद्या को उत्तेजन मिला परन्तु ज्योतिःशास्त्र के गणित और दूसरे गहन तथा मनोरंजक विषयों में नयी खोज के साथ अध्ययन करने के साधनों का अभाव पूरा नहीं हो सका। छापाखानों के कारण एक ऐसा उलटा प्रभाव पड़ा कि जहाँ पहिले प्रत्येक गाँव में पञ्चाङ्गकार ज्योतिषी मिलते थे वहाँ उनकी अव आवश्यकता न रही अतएव उनका लोप होता जा रहा है। ऐसी अवस्था में भास्कर-सिद्धान्त के समान उपपत्ति ग्रंथों का अध्ययन कौन करेगा? मुहूर्तों की आवश्यकता तथा जातकोक्त भविष्य ज्ञान होने की प्रवल इच्छा अव भी पहिले के समान वर्तमान है और आगे भी रहना सम्भव है। इसके लिए ग्रहगणित करने की थोड़ी आवश्यकता ज्योतिषियों को अव भी पड़ती है, इस कारण गणित स्कंध अव भी जीवित है और जातक स्कंध पहिले की तरह नहीं तो भी कुछ अच्छी स्थिति में वर्तमान है। परन्तु यह गौरव के लायक कुछ भी नहीं है।

कोपर्निकस ने अपना ग्रन्थ शक १४६५ में लिखा। इसके पहिले यूरोपीय ज्योतिष और हमारा ज्योतिष समान स्थिति में थे। भेद इतना ही था कि जहाँ यूरोपीय ज्योतिष वर्द्धमान था वहाँ हमारा निश्चेष्ट सा हो गया था। कोपर्निकस से कुछ दिन पहिले हमारे यहाँ केशव और गणेश दैवज्ञ हुए। कोपर्निकस के वाद यूरोपियन ज्योतिष में इतना स्थित्यन्तर हो गया कि जहाँ हम उसके पूर्व के ज्योतिष को एक नवोत्पन्न वटवृक्ष की उपमा दे सकते थे वहाँ अनेक शताब्दियों के वाद उसकी उपमा उस महान् वृक्ष से दी जा सकती है जो उस पौधे से बढ़कर इतना विशाल हो गया है कि उसकी छाया में हजारों जींव आश्रय लेते हैं। खेद है कि तद्विपरीत हमारा ज्योतिष जैसा था वैसा ही अव तक बना हुआ है।[1]

---

१. ज्योतिर्विलास (दूसरी आवृत्ति), पृष्ठ ५१, ५२ देखिए।

यूरोप खंड में ज्योतिष जिस उत्तमावस्था में आज है उसका प्रधान कारण नौकागमन है। हमारे देश में यह कारण विद्यमान नहीं है परन्तु ज्योतिष के अध्ययन के लिए दूसरे कारण वर्तमान हैं। पञ्चांग निर्माण यह प्रथम कारण है। इसमें धर्म-शास्त्र और मुहूर्त का भी अन्तर्भाव होता है। जातक दूसरा कारण और जिज्ञासा तीसरा कारण है। कई लोगों का मत है कि हमारे ज्योतिष शास्त्र में अब कोई सार नहीं, हमारे पञ्चाङ्ग नष्ट हो जायँ तो कोई हानि नहीं। परन्तु थोड़ा विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि हमारे पूर्वजों ने ज्योतिष के संबंध में जितने प्रयत्न किये थे उतने और किसी दूसरे राष्ट्र ने नहीं किये और उनको इस काम में जितनी सफलता मिली उतनी वैद्यकादि अनुभववाले दूसरे शास्त्रों में भी नहीं मिली। देश के छोटे-छोटे गाँवों की परिस्थिति पर ही ध्यान दें तो हमें पता लगेगा कि इनमें ९०।९५ प्रतिशत ऐसे लोग हैं जिन्हें पञ्चाङ्ग की आवश्यकता पड़ती है। नयी दृष्टि के सुशिक्षित लोग यदि पञ्चांगों की उपेक्षा करते हैं तो भी साधारण लोग उसका त्याग नहीं करते। पञ्चांग के समान ज्योतिर्दर्पण की आवश्यकता के कारण ज्योतिषशास्त्र की हमारे यहाँ उत्पत्ति हुई। पञ्चांग को शुद्ध करना आवश्यक है और ज्योतिष के विषय में जो आदर भाव लोगों में वर्तमान है उसे इष्ट दिशा में प्रभावित करने की इच्छा करना उचित है, परन्तु शिक्षित लोग यदि इस सार्वजनिक श्रद्धा की अवहेलना या उसका तिरस्कार करें तो यह कभी उचित नहीं कहा जा सकता।

भविष्य के कर्त्तव्य—पञ्चांग शोधन के विषय में पहले विचार किया ही जा चुका है। शोधन के तीन मार्ग वहां बतलाये गये हैं। उनमें कौन सा मार्ग श्रेयस्कर है, इस विषय में बहुमत से निर्णय किया जाय तो बहुत अच्छा होगा। परन्तु ऐसा होना कठिन है क्योंकि सब लोगों का ध्यान इस विषय की ओर आकर्षित होना असम्भव-सा है। विद्वानों को उचित है कि बहुमत से इस बात का निर्णय करें पर यह भी कठिन है। इस देश की सार्वभौम सरकार परधर्मीय होने के कारण इस काम में हाथ न बटायेगी। इसलिए ज्योतिःशास्त्रज्ञों का तथा इस देश के राजा-महाराजा और धर्म-गुरुओं का यह एक मूल कर्त्तव्य है। इन तीनों ने मिलकर यदि कोई एक मार्ग ठीक कर लिया और उसी के अनुसार नया ग्रन्थ बनवाया तो वह चल निकलेगा। यदि यह ग्रन्थ लोक-सम्मत हो गया अथवा यदि इसको ज्योतिःशास्त्र में पारंगत विद्वानों का समर्थन प्राप्त हो गया तो कालान्तर में ग्रहलाघव के समान यह सर्वत्र प्रचार में आ सकता है। परन्तु इसमें विलम्ब लगेगा। वेधशाला स्थापन करके वेध लेकर और तदनुसार प्राप्त ग्रह-स्थिति के अनुसार यदि ग्रन्थ बनाया जायगा तो यह बात अत्युत्तम होगी। परन्तु इस कार्य के लिए सौ-पचास वर्ष अथवा कम से कम बीस-पच्चीस वर्ष लगेंगे। कहा जाता है

कि संकेश्वर पीठ के जगद्गुरु शंकराचार्य ने वेध लेने के प्रयत्न आरम्भ किये हैं। यह बड़े आनन्द की बात है। वे यदि उचित दिशा में चालू रखे गये तो बड़ी अच्छी बात होगी। परन्तु इस काम में शंकराचार्यादि धर्मगुरुओं के तथा ज्योतिःशास्त्रज्ञों के जो कर्तव्य हैं वे इस प्रकार हैं—

(१) अंग्रेजी नाटिकल आल्मनाक अथवा फ्रेंच कालज्ञान पञ्चांग जिन ग्रन्थों के आधार पर बनाये जाते हैं उन ग्रन्थों के आधार पर भारतीय भाषाओं में ग्रन्थ बनवाना आवश्यक है। वे ग्रन्थ बहुत बड़े हैं परन्तु उनका ज्ञान हुए बिना नये ग्रन्थ की उपपत्ति समझ में नहीं आ सकती। ऐसे ग्रन्थ तैयार होने पर संस्कृत में उनके आधार पर सिद्धान्त ग्रन्थ, करण ग्रन्थ और तदनुसार सारणी हमारी प्रणाली से बनानी चाहिए।

(२) ग्रन्थ तैयार होने पर कुछ विद्यार्थियों को वृत्तियाँ देकर उसे पढ़ाना चाहिए।

(३) उपर्युक्त ग्रन्थ के आधार पर पञ्चांग निर्माण करवाकर सार्वजनिक द्रव्य से छपवाकर उसे प्रचारित करना चाहिए। पञ्चांगशोधन करने के लिए ग्रन्थ तैयार हो जाने से जातक का काम हो ही जायगा। जिसको जातक में रुचि होगी वह इस शाखा का अध्ययन करेगा। तीसरी रही बात जिज्ञासा की, तो इसके बिना सब निष्फल है। ऊपर हम बतला चुके हैं कि ज्योतिष शास्त्र की उन्नति का मुख्य कारण नौकागमन था और वह अब भी है, परन्तु उससे भी महत्त्व का कारण यूरोपियन विद्वानों की ज्ञान-पिपासा थी। मनुष्य को अपनी सच्ची योग्यता का ज्ञान होने के लिए ज्योतिःशास्त्र के समान दूसरा कोई शास्त्र नहीं और हमारा इस शास्त्र का ज्ञान आजकल यूरोपखंड में जो इस विषय के प्रसिद्ध तथा प्रतिष्ठित विद्वान् हैं उनके ज्ञान से किसी तरह न्यून न होना चाहिए। इस विषय में मराठी में कई ग्रन्थ लिखे गये हैं परन्तु ज्योतिष गणित के ग्रन्थों का अभी निर्माण नहीं हुआ। केवल पुस्तकी ज्ञान से ही काम न चलेगा। सम्यक् ज्ञान होने के लिए वेधशालाओं की स्थापना करना आवश्यक है। आजकल जो साधारण शिक्षा मिलती है उसमें ज्योतिष विषयक अल्प ज्ञान कुछ न कुछ सबको हो जाता है। ज्योतिषशास्त्र को प्रोत्साहन मिलना चाहिए, ऐसा बहुत लोगों का विचार है। इन कारणों से राष्ट्र का अन्तःकरण इस विषय के बीज वपन के लिए संस्कृत हो गया है। ऐसे समय में यदि गाँव-गाँव के ज्योतिषियों को यन्त्रों की जानकारी करायी जाय और उनमें वेध लेने की प्रवृत्ति उत्पन्न की जाय तो कितना महत्त्व का काम होगा। व्यक्तिनिष्ठ प्रयत्नों की अपेक्षा मन्द गति से ही क्यों न हो यदि ऊपर दिखाये गये मार्ग से काम किया जाय तो राष्ट्र की वृद्धि जाग्रत होकर उसका फल चिरस्थायी होगा। देश में बड़े-बड़े स्थानों पर हमारे प्राचीन ग्रन्थों और प्राचीन यन्त्रों का संग्रह किया जाना आवश्यक है। प्राचीन और नवीन पद्धति से वेध लेकर तदनुसार प्रयोगा-

त्मक अध्ययन कराया जाय तो हमारे प्राचीन पूर्वजों द्वारा स्थापित ज्योतिःशास्त्र उज्ज्वल स्थिति में ही न बना रहेगा वरन् क्रमशः उज्ज्वलतर होता चला जायगा। पञ्चांग शोधन के विषय में शंकराचार्यादि लोगों के जो तीन कर्तव्य ऊपर बतलाये हैं उनका पालन करने से राष्ट्र में व्याप्त अज्ञानतामूलक रोग अच्छा करने में सहायता मिलेगी। परन्तु तात्कालिक फल प्राप्ति के उपायों की अपेक्षा हमें ऐसा कुछ करना उचित है जिसका फल चिरस्थायी हो। हमारा ज्योतिःशास्त्र-वृक्ष प्राचीन काल में देश की उत्तम भूमि में उत्पन्न होकर बड़े जोर से बढ़ा। उसको समय-समय पर पानी मिलता गया। उसके फलों का स्वाद लेकर लोग तृप्त होते थे। उसके पुष्पों का सौरभ केवल हमारे देश में ही नहीं दूसरे देशों में भी फैल गया। यह सम्भव है कि अति प्राचीन काल में दूसरे देश के गणकरूपी मेघों से उसकी क्यारी में कुछ जलबिन्दु सिंचित हुए हों परन्तु इससे उत्पन्न हुए बीजों ने उन देशों में जाकर नवीन ज्योतिषवृक्षों को उत्पन्न किया या पुराने वृक्षों को पुनर्जीवित किया, यह बात इस शास्त्र के इतिहास से निस्संशय सिद्ध हो जाती है। इस देश में यह वृक्ष आगे जाकर सूख गया, इसका बढ़ना बंद हो गया, इसको पानी न मिल सका और इसकी शाखाओं के कोमल पल्लव म्लान हो गये। प्राचीन काल में मिले हुए पानी से और यदा-कदा प्राप्त जलकणों से किसी तरह यह प्राण धारण किये हुए है और किसी तरह के खट्टे-मीठे फल दे रहा है। दूसरे देशों में यदि देखा जाय तो इसी के बीज से उत्पन्न हुआ अथवा पुनर्जीवित हुआ वृक्ष इतनी तेजी से बढ़ा है और बढ़ रहा है कि उसके नीचे हजारों जीव आश्रय ले रहे हैं। उसका विस्तार देखा जाय तो हमारे ज्योतिषरूपी वृक्ष से उसका कोई संबंध है, यह ध्यान में भी नहीं आता। इतने बड़े अन्तर का कारण यह है कि उसको वेधशालाओं से अनुभव रूपी उदक निरन्तर प्राप्त होता गया। तद्विपरीत हमारा वृक्ष नूतन ज्ञान के अभाव के कारण निर्जीव सा हो गया। अतः यदि इस देश में भी वेधशालाएँ स्थापित हों तो हमारा ज्योतिष भी पुनरुज्जीवित होकर उन्नतिशील हो सकता है तथा क्रमशः पूर्णावस्था को प्राप्त हो सकता है। जैसा कि हम लिख चुके हैं, हमारी राष्ट्रान्तःकरण रूपी भूमि सुसंस्कृत हो गयी है और नवीन बीजारोपण के लिए तैयार है अतएव इसमें नये बीजसंस्कार किये जा सकते हैं। हम जगच्चालक सवितृदेव से प्रार्थना करते हैं कि हमारे देश में ऐसे विद्वान् उत्पन्न हों जो अपने मौलिक ग्रन्थों द्वारा इस शास्त्र में नयी-नयी शोध करते हुए उसके भविष्य को उज्ज्वल से उज्ज्वलतर स्वरूप देते रहें और ज्ञान के क्षेत्र में अपने देश की प्राचीन प्रतिष्ठा को पुनः प्रस्थापित करें।

परिशिष्ट १

सायन पञ्चाङ्ग और ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग के अनुसार वे कतिपय बातें जिनसे दोनों में अन्तर स्पष्ट हो जाता है—

युति इत्यादि	घटना दिवस	
	सायन पञ्चाङ्ग	ग्रहला० पञ्चाङ्ग
शक १८०८	ई० सन्	१८८६
बुधोदय पश्चिम	१० मार्च	१ मार्च
गुरुचन्द्र युति	१६ अप्रैल घ० २७	१६ अ० घ० ६
भौमचन्द्र युति	१२ मई घ० २८	१२ मई घ० १४
गुरुचन्द्र युति	१३ मई घ० ३७	१३ मई घ० ४८
बुधास्त पूर्व	२९ मई	२५ मई
भौमपूर्वायुति	३० मई	१४ जून
चन्द्रानुराधायु०	१४ जून घ० ३७	१५ जून घ० ४
भौमउत्तरायु०	२२ जून	२८ जून
भौमगुरुयु०	२८ जून	६ जुलाई
गुरुचन्द्रयु०	७ जुलाई घ० १५	७ जुलाई घ० ४०
भौमचन्द्रयु०	७ जुलाई घ० ३०	७ जुलाई घ० ४३
शुक्ररोहियु०	७ जुलाई घ० ४२	८ जुलाई घ० २२
बुधास्त पश्चि०	४ अगस्त	१ अगस्त
शुक्रशनियु०	८ अग० घ० ३३	८ अग० घ० ५५
भौमचित्रायु०	८ अगस्त	१४ अगस्त
बुधोदय पूर्व	२३ अगस्त	१६ अगस्त
भौमचन्द्रयु०	२ सित० घ० १३	२ सित० घ० ५६
शुक्रमघायु०	११ सितम्बर	१३ सितम्बर
गुर्वस्त पश्चि०	२१ सितम्बर	२६ सितम्बर
भौमानुरा० युति	८ अक्टूबर	१२ अक्टूबर
भौमज्येष्ठायुति	१६ अक्टूबर	२० अक्टूबर
रोहि० चन्द्रयुति	१६ अक्टूबर घ० ५६	१७ अक्टूबर घ० ७
शुक्रगुरुयुति	२२ अक्टूबर घ० ५०	२४ अक्टूबर घ० ४०
गुरूदय पूर्व	२२ अक्टूबर	२५ अक्टूबर
शुक्रचित्रायु०	२४ अक्टूबर	२७ अक्टूबर
बुधोदय प०	२६ अक्टूबर	२१ अक्टूबर
गुरुचित्रायु०	३१ अक्टूबर	९ नवम्बर
बुधानुराधायु०	४ नवम्बर	६ नवम्बर
गुरुचन्द्रयुति	२२ नव० घ० ५९	२३ नव० घ० ११
बुधास्त पश्चि०	२७ नवम्बर	२३ नवम्बर
रोहि० चन्द्रयुति	१० दिस० घ० ३२	१० दिस० घ० ४५
	ई० स०	१८८७
बुधास्त पूर्व	१५ जनवरी	११ जनवरी
शुक्रभौमयुति	९ फरवरी घ० ५८	१० फरवरी घ० २४

अमांत फाल्गुन शुक्लपक्ष शके १८०८ संवत् १९४३ ईसवी १८८७

ति	वा.	घ.	प.	न.	घ	प	यो	घ	प	क	घ	प	चंद्रराशि	ताराचंद्रयुति. ता	घ	अं.दि	दि.मा.	रविक्रां दक्षिण.		मध्याह्न क.	मि.	मु.चं.	पा.ता.	अं.ता.	शास्त्रार्थादिविशेषाः
१	बु	५८	२०	श	३६	६	शि	११	११	किं	२५	४	कुंभ	श	२१	१ द.	३८/३४	९	५९	०	१४	२९	९	२३	बुधभौमयु. घ. ३८ बुध. ३२ कला उ.
२	गु	६०	०	पू	४३	५२	सि	१३	३४	बा	३१	४०	कुं.२७	×	×	×	३८	९	३८	०	१३	३०	१०	२४	चंद्रद. शुक्रचंद्रयु. घ. ४० शु. १ उ.
२	शु	५	१	उ	५१	३६	सा	१६	२	कौ	५	१	मीन.	उ	२	३१ द	४१	९	१५	०	१३	१	११	२५	अमृत. ५१।३६ नं. जमादिलाखर.
३	श	११	३५	रे	५९	०	शु	१८	२३	ग	११	३५	मी५९	रे	२९	४ द.	४४	८	५३	०	१३	२	१२	२६	भद्रा प्र. ४४।३८ मीनेज्ञः ५।५
४	र	१७	४२	अ	६०	०	शु	२०	२३	भ	१७	४२	मेष	अ	२३	१४ द	४७	८	३१	०	१३	३	१३	२७	विनाय ४ वैधृतिपात प्र. ४५।३२
५	चं	२३	२९	अ	५	४४	ब्र	२१	४५	बा	२३	२९	मेष	भ	२६	१७ द	५१	८	८	०	१३	४	१४	२८	वैधृ. नि. १।२४
६	मं	२७	११	भ	११	२६	ऐं	२२	१५	तै	२७	११	मे २८	कृ	४५	१० द	५४	७	४५	०	१३	५	१५	१	मीनेभौमः १२।११ मार्च
७	बु	२९	४५	कृ	१५	४६	वै	२१	३५	व	२९	४५	वृषभ	रो	४२	० उ.	५७	७	२३	०	१२	६	१६	२	
८	गु	३०	३२	रो	१८	२७	वि	१९	३५	भ	०	८	वृ. ४९	मृ	४०	२ उ.	२९/१	७	०	०	१२	७	१७	३	पू.भा. कः ३४।१२ मृत्यु. १८।२७ नं.
९	शु	२९	२७	मृ	१९	१६	प्री	१६	५	कौ	२९	२७	मिथु.	आ	२	५ उ.	४	६	३७	०	१२	८	१८	४	बुधउ.भा.यु. घ. ८ बु. २७ द.
१०	श	२६	२४	आ	१८	१०	आ	११	४	ग	२६	२४	मिथु	×	×	×	७	६	१४	०	१२	९	१९	५	भद्राप्र. ५३।५५ शनिचंद्रयु. श. ३ उ.
११	र	२१	२६	पु	१५	१५	सौ	४/५२	३४/१०	भ	२१	२६	मि. १	पु	४	१० द	११	५	५१	०	१२	१०	२०	६	आमलकी ११ दग्ध २१।२६ नं.
१२	चं	१४	५२	पु	१०	४१	अ	४७	४८	बा	१४	५२	कर्क	पु	४	२ द	१४	५	२७	०	११	११	२१	७	सोमप्रदोष आश्रेषाचंद्रयु. क्ष. ४
१३	मं	७/५१	२/१५	आ	४/५३	५०/११	सु	३७	५८	तै	७	२	कर्क५	म	२८	० द	१७	५	४	०	११	१२	२२	८	
१५	बु	४९	०	पू.	५०	३९	ध	२७	३०	भ	२३	३८	सिंह	पू	३५	१ द	२१	४	४१	०	११	१३	२३	९	हुताशनी १५ मन्वा.

शुक्ल १५ बुधे मध्यमसूर्योदये स्पष्टाग्रहाः

र	मं.	बु.	गु.	शु.	श.	रा.
१०	११	११	६	११	२	४
२५	६	१२	१२	१८	२२	४
२५	०	४८	४०	१४	५४	९
५१	५६	१३	२	१०	२५	३६
५९	४६	३१	२	७४	०	३
५४	३४	२१	व/५०	३	व/५८	११

रविफलंधनं १।४५।३४

मंबुशु १२ | र ११ के | १० | १ | ९ | २ | ८ | रा ५ चं | ३ श | ४ | गु ७ | ६

सूक्ष्म गणित से निरयन-मान पञ्चाङ्ग

सायन मान द्वारा अमान्त चैत्र शुक्ल पक्ष १८०९

अमांत फाल्गुन शुक्लपक्ष शके १८०८ संवत् १९४३ ईसवी १८८७

ति	वा.	घ.	प.	न.	घ.	प.	यो	घ	प	क	घ	प	चंद्रराशि	ताराचंद्रयुति.			दि. मा.	मु. चं.	पा. ता.	अं. ता.	शास्त्रार्थादिविशेषाः
														ता	घ	अं. दि					
१	बु	५५	१२	श	३०	११	शि	३	२६	किं	२२	४२	कुंभ.	श	३०	१ द.	३८/३४	२१	९	२३	बुधभौमयु. घ. ८ पूर्वाभाद्र. चंद्रयु ध. ५५
२	गु	६०	०	पू	३६	५०	सि	४	४०	बा	२७	४९	कुं.२०	उ	५५	२९ द	३८	३०	१०	२४	वक्रीगुरु चंद्रदर्शनं
२	शु	०	२६	उ	४३	१२	सा	५	५१	कौ	०	२६	मीन.	×	×	×	४१	१	११	२५	अमृत. ४३।१७ नं. जमादिलाखर.
३	श	५	२४	रे	४१	१४	शु	७	८	ग	५	२४	मी४१	रे	४१	३ द	४४	२	१२	२६	भद्रा प्र. ३७।४१ मीनेबुधः ०।५०
४	र	९	५५	अ	५४	३४	शु	७	५४	भ	९	५५	मेष	अ	२८	३४ द	४७	३	१३	२७	मीनभौमः ५५।५५ वैधृ. प्र. २२।४७ नि. ३६।४५
५	चं	१३	३१	भ	५८	३४	ब्र	८	२	बा	१३	३१	मेष	भ	३१	१६ द	५१	४	१४	२८	[शुक्रउत्तराभाद्र. यु. घ. १.
६	मं	१५	५१	कृ	६०	०	ऐं	७	१	तै	१५	५१	मे १४	कृ	५२	९ द	५४	५	१५	१	मार्च
७	बु	१७	१०	कृ	१	३०	वै	५	११	व	१७	१०	वृषभ	रो	४३	१ उ.	५७	६	१६	२	भद्रान्ति. ४७।७ शततारकारवि युति. पूर्वाभाद्र-
८	गु	१७	४	रो	३	१४	वि	२/५६	२७/१५	ब	१७	४	वृ. ३४	मृ	४३	६ उ	२९/१	७	१७	३	मृत्यु ३ नं. दुर्गा ८. [पदांकः ५४।३.
९	शु	१५	४२	मृ	३	५२	आ	५३	५८	कौ	१५	४२	मिथुन	आ	१	७ उ.	४	८	१८	४	
१०	श	१३	८	आ	३	१	सौ	४८	२५	गं	१३	८	मि.४७	×	×	×	७	९	१९	५	भद्राप्र. ४१।२२.
११	र	९	३६	पु	१/५७	१४/१८	शो	४२	९	भ	९	३६	कर्क	पु	४	८ द	११	१०	२०	६	आमल. ११ पुष्य चं.यु. घ. ५६ चं. १द. आश्रे. चं.यु.
१२	चं	५/५४	१०/५०	आ	५५	२५	अ	३५	२२	बा	५	१०	क.५५	×	×	×	१४	११	२१	७	रविपूर्वाभाद्र. यु. घ. ५५ सोमप्रदोष.
१४	मं	५४	२५	म	५१	३५	सु	२८	३	ग	२७	१२	सिंह	म	३३	० उ	१७	१२	२२	८	
१५	बु	४८	२१	पू	४७	३४	धृ	२०	३०	भ	२१	२७	सिंह	पू	५३	१० द	२१	१३	२३	९	हुताशनी १५ मन्वादी.

शुक्र १५ बुधे मध्यमसूर्योदये स्पष्टाग्रहाः

र	मं.	बु.	गु.	शु.	श.	रा.
१०	११	११	६	११	२	४
२६	७	११	१६	१९	२५	४
५	१	२४	६	२०	३४	५०
९	४६	३८	११	१७	४६	३२
६०	४८	४०	३	७४	०	३
२	५०	४४	८व	३२	५५/व	११

अहर्गण १४१६ मध्यमरवि १०।२४।५।३१ रविफलं लग्नं १।५१।३०

शुबुमं १२   २   १०   १   ११ के   ९   २   ८   ३श   चं ५ रा   गु७   ४   ६

चालू पञ्चाङ्ग   लघुतिथिचिंतामणि-ग्रहलाघवगणित से निरयन मान द्वारा

परिशिष्ट २

शक ६५० के पूर्व के अन्य ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों का परिचय

इस ग्रन्थ के लगभग ३०० पृष्ठों के छप जाने के बाद ज्योतिष शास्त्र के ग्रन्थों के सम्बन्ध में जानकारी वाली ऐसी दो-तीन पुस्तकें प्राप्त हुई जो इसके पूर्व मेरे देखने में नहीं आयी थीं। उन ग्रन्थों के अवलोकन से उपलब्ध विशेष जानकारी यहाँ दे रहा हूँ। अबू अल रेहान मुहम्मद बिन अहमद अलबेरुनी नामक मुसलमान विद्वान् को महमूद गजनवी अपने साथ भारत ले आया था। अहमद अलबेरुनी का जन्म ईसवी सन् ९७३ में खीवा नामक स्थान में हुआ था। कालान्तर में अलबेरुनी वहाँ के तत्कालीन शासक का मंत्री बना। अनंतर जब महमूद गजनवी ने खीवा पर अधिकार किया तब अल-बेरुनी नजरबंद बना लिया गया। नजरबंदी की स्थिति में ही महमूद गजनवी उसे भारत ले आया। अलबेरुनी सन् १०१७ से लगभग १०३१ ई० तक भारत में रहा। सन् १०३१-३२ (शक ९५३) के आसपास उसने अरबी भाषा में "इंडिका" नामक ग्रन्थ की रचना की। "इंडिका" नामक ग्रन्थ में भारतवर्ष के अनेक शास्त्र ग्रन्थों का वर्णन है। अलबेरुनी ने संस्कृत भाषा का अध्ययन किया था। संस्कृत भाषा में लिखित अनेक ग्रन्थों का उसने अवलोकन भी किया था। ज्योतिष शास्त्र पर उसका विशेष अधिकार था। उसमें उसकी अत्यधिक रुचि और गति थी। कई ज्योतिष ग्रन्थों का उसने अरबी भाषा में अनुवाद भी किया था। उसके "इंडिका" नामक ग्रन्थ का अनुवाद बर्लिन के प्रोफेसर एडवर्ड सी० साचो ने किया है। इस ग्रन्थ के दो भाग हैं। उसमें मुख्य रूप से शक ९५० के पूर्व ग्रन्थकारों के सम्बन्ध में विशेष जानकारी दी गयी है।

मुसलमानों में हिन्दू ज्योतिष शास्त्र का प्रचार—वर्षों तक सिन्ध प्रान्त बगदाद के खलीफाओं के अधीन था। उनमें खलीफा मंसूर (ई० सन् ७५३ से ७७४ तक) के शासन काल में सिन्ध प्रान्त के तत्कालीन एक शासक के यहाँ से एक दूत सन् ७७१ ई० में उसके दरबार में गया था। उस दूत के साथ कई ज्योतिषी भी बगदाद गये थे। उन ज्योतिषियों के द्वारा संस्कृत के कतिपय ज्योतिष ग्रन्थों का अरबी भाषा में अनुवाद हुआ। खलीफा हारूँ (रशीद) के शासनकाल (ई० सन् ७८६-८०६) में वैद्यक

तथा ज्योतिष विषयक कतिपय ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद हुआ। उस समय ब्रह्मगुप्त के ब्रह्मसिद्धान्त तथा खण्डखाद्य का अरबी भाषा में उल्था हुआ। इतना ही नहीं, संस्कृत भाषा में लिखित ज्योतिष के विविध सिद्धान्त ग्रन्थों के आधार पर अरबी भाषा में स्वतन्त्र ग्रन्थों की भी रचना हुई थी, ऐसा प्रतीत होता है। अल फज़ारी, याकूब बिन तारिक, अबू अल हसन नामक अरबी भाषा के ज्योतिष ग्रन्थकार ईसवी सन् की ८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में वर्तमान थे। ऊपर लिखे हिंदू ज्योतिषियों की सहायता से उन्होंने अरबी भाषा में ज्योतिष शास्त्र के स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे। उपर्युक्त ग्रन्थ आज तक उपलब्ध नहीं हो पाये, पर इतना तो स्पष्ट है कि अल-बेरुनी के संग्रह में उपर्युक्त तीनों लेखकों के ग्रन्थ विद्यमान थे। प्रथम दोनों लेखकों के ग्रन्थों का उल्लेख तो अलबेरुनी ने बार-बार किया है। उन ग्रन्थों में कालमान, महा-युग अथवा कल्प की ग्रह भगणसंख्या, ग्रहकक्षा योजना, मध्यम ग्रह साधन हेतु अहर्गण-प्रक्रिया, भुजज्या, ग्रहों का अस्तोदय, चंद्रदर्शन आदि संस्कृत ग्रन्थों के अनेक प्रकरण समाहित किये गये थे। अरबनिवासियों ने ज्योतिषशास्त्र का सर्वप्रथम ज्ञान भारतीय ज्योतिष ग्रन्थों के आधार पर सम्पादित किया। अनन्तर उन्हें टालमी के ग्रन्थों का पता चला। मुस्लिम जनता को हिंदू ज्योतिष शास्त्र का परिज्ञान सर्वप्रथम अलफज़ारी ने कराया। याकूब ने जब ज्योतिषशास्त्र के ग्रन्थ की रचना की तब खण्डखाद्य का अरबी अनुवाद हो चुका था। वह अनुवाद अलफज़ारी ने किया होगा।

पुलिशसिद्धान्त—अलबेरुनी के पास इस सिद्धान्त की सटीक पुस्तक थी। वह उसका अरबी भाषा में अनुवाद कर रहा था (अल०, भा० २ पृष्ठ ३०५)। महायुगान्त के ग्रह भगण, सावन दिवस इत्यादि के पुलिशसिद्धान्तोक्त मान का उसने उल्लेख किया है। वह उत्पल द्वारा उद्धत पुलिश-मान से पूर्णतः मिलता है। पुलिश के उप-र्युक्त विषय सम्बन्धी निश्चित मानदंड का उल्लेख मैंने इस पुस्तक के पृष्ठ २२७ पर किया है। उसमें चन्द्रोच्च, राहु सम्बन्धी भगण नहीं हैं। इसका उल्लेख अलबेरुनी ने अनुक्रम से ४८८२१९ तथा २३२२२६ दिया है। सूर्योच्च भोग ८० अंश बताया है। पुलिशसिद्धान्त में युगपद्धति स्मृतियों के अनुसार है। परन्तु कल्पांत महा-युग १००८ तथा ७२ युगों का एक एक कर इस प्रकार १४ मनु अर्थात् संधि और सन्ध्यंश उसमें नहीं आया है। उसमें युग का आरम्भ मध्यरात्रि से माना गया है। अलबेरुनी ने अपने ग्रन्थ में उपर्युक्त बातें लिखी हैं। "पुलिश-सिद्धान्त नाम सैंत्र नगर के ग्रीक पौलिस के नाम पर पड़ा है। सैंत्र सिकन्दरिया मुझे प्रतीत होता है", ऐसा अलबेरुनी ने लिखा है (अल०, भाग १ पृष्ठ १५३)। परन्तु यूनानी लोगों में युगपद्धति बिल-

कुल न थी, ऐसा उसने लिखा है (भाग १, पृ० ३७४)। ऐसा प्रतीत होता है कि अल-बेरुनी के समय में उत्पल द्वारा उद्धत पुलिशसिद्धान्त का बहुत अधिक प्रचार था।

आर्यभट पहिला[1]—अबू अलहसन के ग्रन्थ में से ग्रहभगण संख्या बेरुनी ने दी है (भाग २, पृ० १९), उसमें का बहुत सा अंश आर्यभट प्रथम के ग्रन्थ में मिलता है, कुछ अंश नहीं भी मिलता। संभव है लेखक के प्रमाद के कारण उक्त कुछ अंश न मिलता हो। बेरुनी के पास आर्यभट के ग्रन्थ के कुछ भाग व उसका अरबी अनुवाद अवश्य था (भा० १, पृ० २४६ व आर्यभटीय, चतुर्थ पाद, आर्या ११ देखिए)। ये अनुवाद खलीफा मंसूर के शासन काल में हुए थे।

वराहमिहिर—इनका समय बेरुनी ने शक ४२७ दिया है। इनके बृहत्संहिता तथा लघुजातक नामक ग्रन्थों का अनुवाद उसने अरबी भाषा में किया था। बृहज्जातक की बलभद्र कृत टीका का उसने उल्लेख किया है। सुधाकर के लेखानुसार वराह-मिहिर के योगयात्रा तथा विवाहपटल नामक ग्रन्थ काशी में है। उत्पल ने लिखा है कि वराहमिहिर ने समाससंहिता नामक ग्रन्थ भी लिखा था। वह बृहत्संहिता का संक्षिप्त रूप ही रहा होगा।

---

१. कुसुमपुर के आर्यभट और उनसे भी प्राचीन आर्यभट ऐसे दो आर्यभटों का उल्लेख अलबेरुनी ने किया है। पृ० ३२२ पर मैं कह चुका हूँ कि प्राचीन आर्यभट का ग्रन्थ मुझे नहीं मिला। पर प्राचीन आर्यभट का अनुयायी कुसुमपुर का आर्यभट था, ऐसा अलबेरुनी ने लिखा है। इन दोनों आर्यभटों का उल्लेख अलबेरुनी के ग्रन्थों में ३० स्थानों पर आया है। उन स्थलों को देख उनका वर्णन मैंने पिछले पृष्ठ २६३, ३२० में किया है जिसमें पहिले आर्यभट का पूरा विवरण दिया है। ग्रहभगण संख्या इत्यादि में दोनों का मतभेद स्पष्ट दिखाई देगा, ऐसा अलबेरुनी ने लिखा है पर दूसरे आर्यभट के सम्बन्ध में यह बात लागू नहीं होती। साथ ही वह पहिले का अनुयायी भी नहीं था। इससे स्पष्ट है कि अलबेरुनी द्वारा प्रतिपादित दोनों आर्यभट वस्तुतः एक ही थे। मेरा मत है कि प्रो० साचो के ध्यान में भी यह बात नहीं आयी। मैंने जिस दूसरे आर्यभट का उल्लेख किया है वह पहिले ही हो गया था। उसका ग्रन्थ अलबेरुनी के देखने में नहीं आया था, यह स्पष्ट हो जाने पर भी ऐसा प्रतीत होता है कि उसके सुनने में दो आर्यभट होने की बात आयी अवश्य थी पर उसके समझने में ऊपर लिखे अनुसार भूल हुई है, ऐसा प्रतीत होता है और इससे यह निष्कर्ष निकला कि आर्यभट द्वितीय शक ९५० से ५० या १०० वर्ष पूर्व हुआ होगा। इस ग्रन्थ के आरम्भ में मैंने आर्यभट द्वितीय का जो काल निर्णय किया है, वह ठीक जँचता है।

लल्ल—गणक तरंगिणीकार के अनुसार इनका समय शक ४२१ है, पर यह अशुद्ध है जैसा में पृष्ठ ३१४ में सिद्ध कर चुका हूँ। भास्कराचार्य ने गोलाध्याय में लल्ल के वृत्तपृष्ठफलानयन का एक श्लोक उद्धृत कर उसका खण्डन किया है। इससे सिद्ध होता है कि लल्ल ने पाटीगणित ग्रन्थ रचा था। सुधाकर का कथन है कि बीजगणित पर भी उन्होंने ग्रन्थ बनाया था। शक ९५० के पूर्व के प्रसिद्ध ज्योतिषियों का कुछ न कुछ वर्णन बेरुनी के ग्रन्थों में आया है पर उसमें लल्ल का नाम भी नहीं है। इससे स्पष्ट है कि सिन्ध, पंजाब, कश्मीर अथवा उत्तर भारत के अधिकांश भाग में शक ९५० तक लल्ल का ग्रंथ प्रसिद्ध नहीं था। इससे तथा लल्ल-बीजसंस्कृत प्रथमार्य-सिद्धान्त का दक्षिण में प्रचार होने से प्रतीत होता है कि वह दक्षिण का निवासी था।

मुंजाल कृत लघुमानस (शक ८५४)—मुंजाल दाक्षिणात्य थे, जैसा कि पृष्ठ ३१९ पर लिखा जा चुका है। गणकतरंगिणीकार ने लघुमानस का समय कभी ८५४ और कभी ५८४ दिया है: इसमें ५८४ दृष्टिदोष है। यह बात उक्त ग्रन्थ में कृतेष्विभ (८५४) दो बार आने तथा अन्य प्रमाणों से स्पष्ट है।

आर्यभट दूसरा—ये अलबेरुनी के पूर्व हुए होंगे, ऐसा पहिले दिखाया जा चुका है (देखो पृष्ठ ३२२)।

पृथुस्वामी—जैसा कि पृष्ठ ३२५ पर लिखा जा चुका है, इनका काल लगभग शक ८५० से ९०० तक होगा।

भटोत्पल—इनके जिन ग्रन्थों का वर्णन पृष्ठ ३२७ में मैंने किया है, उनके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों का उल्लेख अलबेरुनी ने किया है। वे हैं—राहुन्नाकरण और करणपात। ये दोनों करणग्रन्थ तथा बृहन्मानस ग्रन्थ की टीका हैं। इनमें करण ग्रन्थों का नाम आश्चर्यजनक है। साथ ही एक ही ग्रन्थकार के दो करणग्रन्थ सम्भव भी नहीं जान पड़ते। इससे बेरुनी की समझ में कुछ भूल हुई जान पड़ती है। उसका कथन है कि उत्पल का श्रूधव नामक एक और ग्रन्थ था। इस नाम में भी कुछ भूल जान पड़ती है। इस ग्रन्थ के कालादिक के मान की चर्चा अलबेरुनी ने की है। उसका कहना है कि श्रूधव नामक और भी ग्रन्थ है। उसके विषयों का स्वरूप थोड़ा सा उसने दिया भी है। उससे वह शकुन या प्रश्न ग्रन्थ होगा, ऐसा प्रतीत होता है।

विजयनन्दी कृत करणतिलक—जैसा कि पृष्ठ ३२९ पर लिख आये हैं, वराहमिहिर लिखित विजयनंदी इस विजय-नंदी से बहुत प्राचीन हैं।

अन्य करणग्रन्थ—करणचूड़ामणि, लोकानंद कृत लोकानंदकरण, भट्टिल कृत भट्टिलकरण ये और करणग्रन्थ हैं। यह लिखकर बेरुनी आगे कहता है कि इस प्रकार के असंख्य ग्रन्थ हैं (भा० १, पृष्ठ १५७)। इस ग्रन्थ के पृष्ठ ३४७ में मैंने जो अनुमान

किया था वह अलबेरुनी के लेखों से भी सही उतरता है। देशकाल भेद से ऐसे करण-ग्रन्थ अनेक हुए होंगे, यह सहज संभाव्य है। सम्प्रति वे सब उपलब्ध नहीं हैं। यदि उपलब्ध भी हुए तो उनका प्रत्यक्ष कोई उपयोग नहीं। फिर भी ज्योतिष शास्त्र का एवं सामान्यतः अपने देश का इतिहास समझने में उनका अत्यधिक उपयोग होगा।

शक ६५० के बाद के अन्य ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार

श्रीपति—इनके पाटीगणित और बीजगणित पर ग्रन्थ हैं। मुनीश्वर कृत लीलावती की टीका में इनके ग्रन्थ के जो उद्धरण दिये गये हैं, उनसे उपर्युक्त ग्रन्थों का पता चलता है, जैसा कि पृष्ठ ३३० पर लिख आये हैं।

केशव—विवाहवृन्दावनकार केशव का वर्णन पृष्ठ ३५२ में किया जा चुका है। इनका समय शक ११६५ के लगभग प्रतीत होता है।

महादेव कृत ग्रहसिद्धि—ये गोदा के पास रासिण के रहने वाले थे। वहाँ की पलभा ४।। थी। अहमदनगर के दक्षिण रासिन नामक एक गाँव है। पर वहाँ की पलभा लगभग ४ है तथा वह गोदा के पास नहीं है, भीमा के पास महाराष्ट्र में है।

पृष्ठ ३५३ पर दिये गये कतिपय उल्लेखों से ये गुजराती प्रतीत होते हैं। संभव है कि मूलतः गुजरात के रहनेवाले होते हुए स्वयं ये या इनके कोई पूर्वज महाराष्ट्र देश में आकर बस गये हों।

नृसिंह—ग्रहलाघवकार गणेश दैवज्ञ के भाई राम थे। उनके ये पुत्र थे (पृष्ठ ३६९)। राम गणेश दैवज्ञ के छोटे भाई रहे होंगे। सुधाकर ने लिखा है कि नृसिंह ने शक १४८० में महादेव की ग्रहसिद्धि का अनुसरण कर "मध्यमग्रहसिद्धि" नामक ग्रन्थ लिखा। उसमें मध्यम ग्रह मात्र हैं। स्पष्टग्रह महादेव के ग्रन्थ पर से करना चाहिए। कृष्णशास्त्री गोडबोले की हस्तलिखित मराठी पुस्तक में लिखा है कि "केशव दैवज्ञ के पौत्र राम के पुत्र नृसिंह ने शक १५१० में "ग्रहकौमुदी" ग्रन्थ लिखा। नृसिंह का जन्म शक १४७० है।" यह शक और ऊपर का शक १४८०, इन दोनों में एक गलत होना चाहिए। शक १४८० छोड़कर शेष वर्षगति से गुणा कर ग्रह निकालना चाहिए, ऐसा नृसिंह ने लिखा है। इससे स्पष्ट है कि उक्त शक में भूल होनी संभव नहीं। सम्भवतः शक १४८० के बाद किसी वर्ष नृसिंह ने उक्त ग्रन्थ लिखा होगा।

अनुक्रमणिका

१. ज्योतिषग्रन्थ

क. संस्कृत के

ख—संस्कृतेतर भाषाओं के ज्योतिष ग्रन्थ

२. ज्योतिष-ग्रन्थकार

क—संस्कृत भाषा के

ख अन्य भाषाओं के

३. अन्य ग्रन्थ

क. संस्कृत के

ख. संस्कृतेतर भाषाओं के

४. अन्य ग्रन्थकार

क. संस्कृत भाषा के

ख. अन्य भाषाओं के

